आधुनिक हिन्दी-साहित्य में समालोचना का विकास

राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी०
उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

●

लेखक
डॉ० वेंकट शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग
गवर्नमेंट कॉलिज, अजमेर

●

भूमिका
डॉ० नगेन्द्र
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

आत्माराम एण्ड संस
दिल्ली . नई दिल्ली . जयपुर . जालन्धर . चण्डीगढ़ . मेरठ

ADHUNIK HINDI SAHITYA MEN
SAMALOCHNA KA VIKAS
(Development of Criticism in
Modern Hindi Literature)
by
Dr. Venkat Sharma, M.A., Ph. D.
Rs. 20.00

प्रकाशक
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-6
शाखाएँ
हौज खास, नई दिल्ली
चौड़ा रास्ता, जयपुर
माई हीरां गेट, जालन्धर
बेगमपुल रोड, मेरठ
विश्वविद्यालय क्षेत्र, चण्डीगढ़

मूल्य : बीस रुपए
प्रथम संस्करण : 1962

मुद्रक
सत्यपाल भवन
दी सैण्ट्रल इलैक्ट्रिक प्रेस
80-डी, कमला नगर, दिल्ली-6

विषयानुक्रम

प्रणयशील वासंती

और

चिरंजीव वेद

को

प्रस्तावना

आलोचना आज के हिन्दी साहित्य का कदाचित् सबसे समृद्ध अंग है। कविता और कहानी की ओर से भी इस प्रकार का दावा किया जा सकता है; किन्तु गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से आलोचना की ही समृद्धि अधिक माननी पड़ेगी। लगभग २५ वर्ष पूर्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी-आलोचना को रसशास्त्र तथा मनोविज्ञान के उचित सामंजस्य द्वारा अत्यन्त दृढ़ आधार एवं उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित कर दिया था। भारतीय साहित्य-चिन्तना की मौलिक परम्परा, जो पंडितराज जगन्नाथ के बाद लुप्त हो गयी थी, आचार्य शुक्ल की आलोचना में पुनरुज्जीवित हो उठी—पूर्व और पश्चिम के साहित्य-सिद्धान्त हिन्दी की उर्वरा काव्यभूमि से रस ग्रहण कर शुक्लजी की उक्तियों में नये रूप में ढले और हिन्दी-आलोचना की एक पुष्ट पीठिका का निर्माण हुआ जो परम्परानुमोदित होते हुए भी आधुनिक थी और आधुनिक होते हुए भी भारतीय चिन्ता-धारा से सपुष्ट थी। इस दृष्टि से शुक्लजी को आधुनिक भारतीय आलोचना का प्रवर्तक कहा जा सकता है और अपने क्षेत्र में उनका वही गौरवपूर्ण स्थान माना जा सकता है जो भारतीय काव्य में रवीन्द्रनाथ का। शुक्लोत्तर आलोचना ने अपने रिक्थ का पूर्ण उपयोग करते हुए नवीन ज्ञान-विज्ञान के आलोक में, परवर्ती अनुसन्धान के प्रचुर परिणामों के आधार पर, नयी सरणियों का उद्घाटन तथा प्रचलित सरणियों का विकास किया है। फलतः आधुनिक हिन्दी-आलोचना आज अनेक रूपों में सक्रिय है और उसके प्रायः सभी अंग परिपुष्ट हैं। भारतवर्ष की किसी भी भाषा का आलोचना-साहित्य इतना समृद्ध नहीं है; मराठी-आलोचना का शास्त्रीय अंग जितना परिपूर्ण है प्रायोगिक रूप उतना विकसित नहीं है, बंगला तथा अन्य भाषाओं में सर्जनात्मक साहित्य की सापेक्षतः में आलोचना-साहित्य गुण और परिमाण दोनों में ही बहुत कम है। हिन्दी अनुसन्धान के अत्यधिक विकास और प्रसार से आलोचना को और भी बल प्राप्त हुआ है और विभिन्न साहित्यों के न्यूनाधिक परिचय के आधार पर हम यह विश्वास के साथ कह सकते हैं कि अन्य सभी भाषाओं का आलोचना-साहित्य मिलाकर भी शायद हिन्दी के आलोचना-साहित्य से अधिक नहीं बैठेगा।

ऐसी स्थिति में, यह स्वाभाविक है और उचित भी कि हिन्दी के आलोचना-साहित्य का, उसके उद्गम और विकास का सम्यक् अध्ययन किया जाये। हिन्दी में यह कार्य १५-२० वर्ष से हो रहा है और इस विषय पर कई अच्छे ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जैसे—डा० भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास'; डा० भगवत्स्वरूप मिश्र का 'हिन्दी आलोचना : उद्भव और

विकास'; डा० सुरेशचन्द्र गुप्त का 'आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य-सिद्धान्त', आदि। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध इसी शृंखला की महत्वपूर्ण कड़ी है। इसमें आधुनिक आलोचना-साहित्य का सर्वांगपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने आधुनिक आलोचना के इतिहास को चार कालों में विभक्त किया है: (१) प्रवर्त्तन-काल अथवा भारतेन्दु-युग, (२) संवर्धन-काल या द्विवेदी-युग, (३) विकास-काल या शुक्ल-युग, (४) प्रसार-काल या शुक्लोत्तर-युग और प्रत्येक काल के विशिष्ट आलोचकों एवं आलोचना-प्रवृत्तियों की विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक समीक्षा की है। आरम्भ में आधुनिक हिन्दी-आलोचना को प्रभावित करने वाले भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का विवेचन है, जो मौलिक न होते भी स्वच्छ है और विवेच्य विषय के साथ असंबद्ध नहीं है। लेखक का अध्ययन व्यापक है; संस्कृत-साहित्य और साहित्य-शास्त्र के साथ तो उसका निकट सम्पर्क है ही, पश्चिम के आलोचना-सिद्धान्तों के विषय में भी उसने काफी पढ़ा और सोचा है। अपने मूल विषय से संबद्ध वाङ्मय का उसने प्रत्यक्ष ज्ञानार्जन किया है और छोटे-बड़े आलोचकों की पृथक् आलोचना अत्यन्त सहृदयता के साथ, सँभालकर की है। आधारभूत सिद्धान्तों के विवेचन, हिन्दी-आलोचना के विकास के प्रत्येक चरण की प्रमुख प्रवृत्तियों और उनके प्रतिनिधि लेखकों के विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन के कारण यह ग्रन्थ निश्चय ही आधुनिक आलोचना का सर्वांगपूर्ण और प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत करता है। मुझे विश्वास है कि हिन्दी का विद्वत्समाज इसका समुचित आदर करेगा।

—नगेन्द्र

दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली

आत्म-निवेदन

आधुनिकता अर्थ-विस्तार और कार्य-क्षेत्र की दृष्टि से अत्यन्त व्यापक शब्द है। इसकी काल-सीमा निर्धारित करना सरल कार्य नहीं है। साधारणतया आधुनिकता से यही अभिप्राय लिया जाता है कि उसमें पुरातन के प्रति विद्रोह और नवीन के प्रति आकर्षण रहता है; किन्तु जीवन में इस प्रकार की क्रिया-प्रतिक्रिया तो चिरन्तन काल से चली आ रही है, जो हमारे विचार-पथ में आधुनिकता की काल-रेखा निश्चित करने में व्यवधान उपस्थित करती है। सम्भव है, आज हमें जीवन की जिस प्रणाली में आधुनिकता का आलोक प्रदर्शित हो, वह अनागत के लिए रूढ़ि और पुरातन परम्परा सिद्ध हो जाए। ऐसी स्थिति में आधुनिकता एक सापेक्षिक शब्द सिद्ध होता है। मेरे सामने भी आधुनिकता की सुनिश्चित स्थिति निर्णीत करने में इसी प्रकार की प्रासंगिक कठिनाई रही है, किन्तु अपने वर्तमान इतिहास, राजनीति-विज्ञान और समाज-शास्त्र तथा उनकी साहित्यगत क्रिया प्रतिक्रियाओं के अनुशीलनमूलक आधार पर मैं इतनी तथ्योपलब्धि अवश्य कर सका हूँ कि विश्व के अन्यान्य राष्ट्रों की भाँति हमारे देश में भी उन्नीसवीं शताब्दी के तृतीय चरण से आधुनिकता के निर्माण-सूत्रों का सग्रथन होने लगा था, जब देश का सामूहिक और सांस्कृतिक जीवन जर्जरित रूढ़ियों और जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं में भावी विकास के अनुरूप तत्त्वकण न पाकर किसी नवीन दिशानुसन्धान के लिए विह्वल हो उठा था। भारतीय इतिहास में सन् १८५७ की जन-क्रान्ति के पश्चात् ही इसका वास्तविक अर्थ में प्रवर्तन समझना चाहिए, जब देश का सम्पर्क विशेषतः पश्चिमी जातियों से हुआ और वह भी विकासमान विश्व के ज्ञान-विज्ञान विषयक अभ्युत्थान की भास्वरता में अपने पुरातन अस्तित्व का अनुसन्धान करने लगा। मैंने अपने इस शोध-प्रबन्ध में भी आधुनिकता का समावेश इसी समय से माना है, जिसमें हमारा हिन्दी-साहित्य पद्य की संकीर्ण परिधि से निकलकर उसी के समानान्तर गद्य के विशाल प्रांगण में भी अपना नवीन विकास प्राप्त करने के लिए प्रयाणोन्मुख हुआ है। वस्तुतः उन्नीसवीं शताब्दी का अन्तिम चरण ही आधुनिक हिन्दी-साहित्य के लिए भी एक प्रकार से वरदानस्वरूप है, जिसमें साहित्य की अन्यान्य विधाओं की भाँति समालोचना-साहित्य भी अपने प्रवर्तन के अन्तर्गत भावी विकास के अनेक रहस्यपूर्ण तत्त्व-बिन्दुओं का संयोजन कर क्रमशः पल्लवित और पुष्पित हो सका है। इस प्रकार मेरे इस शोध-प्रबन्ध में भारतेन्दु-युग की साहित्य-चेतना से लेकर अद्यतन युग पर्यन्त प्रायः एक शताब्दी के अन्तर्गत जो कुछ समालोचनागत विकास हुआ है, उसका एक ऐतिहासिक अनुक्रम से धारावाहिक विकास विवेचित हुआ है, जिसे अभिसंचालित करने में तत्त्वाभिनिवेशी समीक्षकों की अपूर्व मेधा-शक्ति ने समय-समय पर विकास-पथ में आए हुए व्यवधानों का निवारण करते हुए अपना जीवन-रस प्रदान किया है। यही कारण है कि मैं समीक्षा

के विकास-पथ की यात्रा मे उनकी उपलब्धियों का विवेचन करने का लोभ-संवरण नहीं कर सका हूँ, जिनकी अन्तर्वर्त्तिनी प्रज्ञा ने समीक्षा-धारा को प्रगति और विकास प्रदान करने में श्रेयस्कर मार्ग-दर्शन कराया है। वस्तुतः यही मेरे दृष्टिकोण का मौलिक अन्तर्सूत्र कहा जा सकता है।

साधारणतया यह समझा जाता है कि शोध-कार्य के लिए जितना अवकाश पुरातन साहित्य में रहता है, उतना आधुनिक साहित्य मे नही, किन्तु मैं इस मान्यता में अधिक विश्वास नहीं रखता। इसका कारण यह है कि यदि हम शोध-कार्य को केवल पुरातन की उपलब्धि तक ही सीमित कर देंगे तो आधुनिक युग के व्यापक दृष्टि-विधान का न तो कोई महत्त्व ही रह जाएगा और न उसका समुचित मूल्यांकन ही हो सकेगा। वास्तविकता तो यह है कि जिस युग मे हम अपना जीवन-संचालन कर रहे हैं, वह प्राचीन की अपेक्षाकृत हमारे वर्तमान के लिए अध्ययन, मनन और चिन्तन का और भी अधिक महत्त्वपूर्ण विषय है, क्योंकि इसकी विविध-क्षेत्रीय चेतना हमें पद-पद पर अनुप्राणित करती चलती है। आज की परिवर्तित परिस्थिति मे व्यष्टि की सत्ता समष्टि से विच्छिन्न की ही नही जा सकती, अतः हमे अपने सम्मुख प्रस्तुत वर्तमान विचारधाराओ और प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर उनसे तथ्यपरक उपलब्धि के लिए भी प्रयास-तत्पर होना ही पडता है। इसके लिए आवश्यक हो जाता है कि हमारी बौद्धिक चेतना अधिक-से-अधिक विकसित और तत्वग्राहिणी हो, अन्यथा आधुनिक युग-दृष्टि के माध्यम से अपनी शोध-विषयक उपलब्धि के मार्ग मे अनेक व्यवधान आ सकते हैं। कहने की आवश्यकता नही कि आधुनिक युग की अन्यान्य प्रक्रियाओ के समानान्तर साहित्य-सृष्टि ने भी विश्व-जीवन के अन्तराल में जो-जो उपलब्धियाँ की हैं, उनका प्रसार इतना अधिक है कि उसका किसी एक ही अनुसन्धाता द्वारा सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत किया जाना असम्भव-सा है। अतः मैंने अपने विषय की परिमिति केवल आधुनिक हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत विकसित होने वाली समालोचना तक ही रखी है।

समालोचना साहित्य की एक प्रमुख विधा है। इसका सम्यक् निर्वाह केवल उन्हीं साहित्यों में सुचारु रूप से हो सकता है, जिनके रचनात्मक पक्ष में समृद्धि और विवेक-निर्वाह की स्फूर्ति होती है। इसका अधिकांश सम्बन्ध हमारी बौद्धिक चेतना और सत्यासत्य-विमर्शिनी क्षमता से है। अतः यह स्पष्ट है कि रचनात्मक साहित्य का विकास तो भले ही किसी भी देश के किसी भी काल के साहित्य में सम्भव हो सके, किन्तु समालोचना के विकास के लिए विशेष प्रकार की परिस्थिति और मानसिक प्रौढ़ता की आवश्यकता रहती है। जब हम आज के युग को समालोचना का युग कहते हैं तो इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि आज के मनुष्य की चिन्तन-शक्ति और विवेक-प्रज्ञा का विकास ऐसे परिपक्व धरातल पर हो चुका है, जिसमे वह अपने जीवन के प्रत्येक विधान को तर्क-बुद्धि और निर्णयात्मक प्रवृत्ति के आधार पर परखता हुआ चलना चाहता है। ज्ञान-विज्ञान की अभिवृद्धि ने उसके दृष्टिकोण मे एक ऐसा परिवर्तन ला दिया है, जिसके कारण वह अन्ध-आस्थाओ और परम्परागत रूढ़ियों मे कुछ भी विश्वास नही करता और बडे-से-बड़े सत्य का परीक्षण भी केवल विवेक-तुला पर करने के पश्चात् ही उसे ग्रहण करना समीचीन समझता है। आज साहित्य के प्रति उसका वह एकमात्र भावप्रवण दृष्टिकोण नही रहा है, जो किसी समय समालोचना के शैशवकाल में था। उसने उसमें भी बौद्धिकता के अंश पर्याप्त मात्रा मे समाविष्ट कर दिए हैं, जिनके कारण साहित्य केवल विशुद्ध संवेदनात्मक सृष्टि न रहकर हमारे राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन की भी पर्याप्त अभिव्यक्ति करता हुआ चलता है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि आधुनिक युग की परिभाषा में साहित्य केवल स्निग्ध कल्पनाओं और भाव-प्रवण मधुरिमाओं का ही अविरल स्रोत नहीं, अपितु कर्तव्य की कठोर भूमि का भी नियन्ता है, जिसमें जीवन के संघर्ष और उत्पीड़न भी पर्याप्त अंश में सम्मिलित हैं। यहाँ तक कि रचनात्मक

साहित्य की सृष्टि मे भी समालोचनात्मक दृष्टि का अन्तर्न्यास है, जिसे युग की समीक्षण-प्रवृत्ति के प्राधान्य के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ?

रचनात्मक साहित्य की अपेक्षा समालोचनात्मक साहित्य की ओर अधिक रुचि होने तथा आधुनिक साहित्य का उसे एक महत्त्वपूर्ण अंग मानने के कारण ही मैने उसको अपनी शोध का विषय बनाया है। इसको आधुनिक हिन्दी-साहित्य के परिवेश मे मैने मुख्य रूप से विवेचित किया है, जिसका प्रमुख आशय यही है कि साहित्य के इस वर्तमान काल मे उसके विकास के जितने अनुकूल अवसर रहे है, उतने प्राचीन और मध्यकाल मे सम्भव नही थे। आज की युग-चेतना ने जिस प्रकार हमारे जीवन के आदर्शों और प्रतिमानो मे एक अभूतपूर्व क्रान्ति का उन्मेष किया है, उसी प्रकार उससे साहित्य का रचनात्मक और विचारात्मक पक्ष भी प्रभावित हुआ है। यही कारण है कि अब हमे साहित्य का स्वरूप केवल परम्परागत शास्त्रीय विधान मे ही नही मिलता, अपितु वह अनेक प्रकार की नवीन उद्भावनाओ और शिल्पविधियो मे सलग्न होकर उपलब्ध होता है। इसके व्यापक विधान का एक प्रबल पक्ष समालोचना-साहित्य भी है, अतः सभी दृष्टियो से उसका क्रमबद्ध विश्लेषण करना साहित्याभिवृद्धि के लिए भी उपादेय है। अतः इसे भी मेरे विषय-चयन की एक प्रमुख प्रेरणा कहा जा सकता है।

जिस समय मैंने प्रस्तुत विषय का चयन अपने शोध-प्रबन्ध के लिए किया, इस ओर अनुशीलक वर्ग का ध्यान बहुत कम गया था। हिन्दी नाटक और काव्य-साहित्य के उद्भव और विकास पर तो उस समय पर्यन्त कुछ महत्वपूर्ण कार्य हो भी चुके थे, किन्तु समालोचना का अग अस्पृष्ट-सा था। यद्यपि उस समय भी आधुनिक साहित्य की इस प्रमुख विधा के उद्भव और विकास के अनुशीलन की आवश्यकता का अनुभव प्रायः सभी विद्वान् करते थे, किन्तु इस ओर सम्बमान प्रयास बहुत कम हुए थें। उस समय इस विषय के केवल एक अग से सम्बन्धित डा० भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था, किन्तु उसका क्षेत्र मुख्यतः काव्यशास्त्रीय विवेचन तक ही सीमित था। अतः मैंने अपने अध्ययन और अनुशीलन के लिए आधुनिक काल को प्रधानता देते हुए यही उचित समझा कि उसके अन्तर्गत विकसित होने वाली समालोचना का एक क्रमबद्ध विवेचन उपस्थित किया जाय। सौभाग्यवश मुझे अपने अध्ययन के निरीक्षणार्थ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का पथ-प्रदर्शन प्राप्त हो गया। मैंने उनके अधीक्षण मे अपने अनुशीलन-कार्य की रूपरेखा निश्चित कर उससे सम्बद्ध सामग्री का सचयन करना प्रारम्भ कर दिया। ऐसा करते समय मुझे अनेक प्रकार की नवीन उपलब्धियाँ भी हुई और मेरा इस विषय मे यह दृढ़ विश्वास बनता गया कि जीवन, साहित्य और समालोचना का पूर्वापर घनिष्ठ सम्बन्ध है और उन्हे अविच्छेद्य विधि से स्वाभाविक क्रम मे ही ग्रहण किया जाना समीचीन है। यद्यपि मेरे इस विषय से सम्बन्धित डा० भगवत्स्वरूप मिश्र का शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास' नामक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हो चुका है, किन्तु इससे मेरे अनुशीलन की दिशा मे किसी प्रकार का व्याघात न आकर उसके द्वारा अध्ययन की प्रगति मे प्रेरणा ही मिली है। बात यह है कि डा० मिश्र ने अपनी उक्त रचना मे 'हिन्दी समीक्षा की विविध पद्धतियों' का सामान्यतः सैद्धान्तिक विश्लेषण किया है, किन्तु मैंने अपने शोध-कार्य मे आधुनिक हिन्दी-साहित्य की मूल चेतना को प्राधान्य देते हुए उसके प्रमुख स्रोतो का उल्लेख कर इस विषय का स्पष्टीकरण करने की चेष्टा विशेष रूप से की है कि उसके विकास के स्वाभाविक क्रम मे समालोचना का अग किस प्रकार क्रमशः प्रवर्तित, सवर्धित, विकसित और प्रसारित होकर अपना स्वरूप-सगठन कर सका है। ऐसा करते हुए मैंने औपचारिक दृष्टि से आधुनिक समालोचना के चार चरण निर्धारित कर उसका औपचारिक काल-विभाजन भी किया है, जिससे अध्ययन-कार्य मे व्यावहारिक सुविधा

और वैज्ञानिकता भी आ सकी है ।

यद्यपि मैंने समालोचना-साहित्य का काल-विभाजन करते हुए उसे प्रवर्तन, संवर्धन विकास और प्रसार शीर्षक कालो के अन्तर्गत प्रत्येक को प्रायः दो दशकों मे व्याप्त कर रखा है, किन्तु इन्हें केवल अध्ययन की सुविधा और वैज्ञानिक दृष्टि की अवतारणा के माध्यम से ही ग्रहण किया जाना चाहिए । इनसे यह आशय लेना तो कदाचित् अनुचित होगा कि जो विचारधाराएँ सन् १९२० के आस-पास हमारे समालोचना-साहित्य को प्रभावित किए हुए थीं, वे सन् १९२१ के प्रारम्भ से ही नष्ट हो गई थी । साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में ऐसा होना सम्भव नही है, क्योंकि आज से प्रायः पचास वर्ष पूर्व साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र मे जिस प्रकार की प्रवृत्तियाँ चल रहीं थी, उनका आज भी अन्त नही है । अतः इस काल-विभाजन का मेरा मूलवर्ती दृष्टि-कोण वही रहा है जो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास का काल-विभाग करते समय अभिव्यक्त किया था । इसकी निर्धारित तिथियों और सीमाओं का सामान्य प्रयोजन यही है कि उन तिथियो के आस-पास रचनात्मक साहित्य के समानान्तर समालोचना-साहित्य ने भी नवीन मोड लेने आरम्भ कर दिए थे, जिनमे काल-क्रम से पूर्ववर्ती मान्यताओ का क्रमश. शैथिल्य और नवीन आस्थाओ का प्राबल्य होता गया । इसी प्रकार इन युगों को जिन कारणो से प्रवर्तन, संवर्धन, विकास और प्रसार आदि की जो संज्ञाएँ दी गई हैं, उनके मूलवर्ती कारणो और आधारो का विवेचन भी उन्ही की विवेच्य सामग्री के प्रकरणों मे कर दिया गया है । यद्यपि इन नामों का प्रमुख आधार विकास की विभिन्न दशाओ को दृष्टिगोचर रखते हुए ही लिया गया है, किन्तु मैंने अपने विवेचन के प्रसग मे यथावसर इन कालो के विश्लेषण के साथ-साथ भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, शुक्ल-युग और शुक्लोत्तर-युग आदि शब्दो का भी प्रयोग किया है, जिसका मूल आशय यही है कि इनके निर्माण मे जिन महान् व्यक्तियों का हाथ रहा है, उनका भी उल्लेख होता रहे ।

काल-विभाजन मे जो तिथियाँ दी गई हैं, वे केवल विचारधाराओ के प्रामुख्य की सूचक हैं, न कि रचनाओं के निर्माण-क्रम की । इसी प्रकार जिस काल मे जिस समालोचक का विवेचन और मूल्याकन किया गया है, उसका मूल मन्तव्य भी यही है कि वह उस काल की मान्यताओं और जीवन-दृष्टि के अधिक निकट है । उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि आज की नव्यतम हिन्दी-समालोचना पश्चिमी वादो से प्रभावित होकर अपना बहुमुखी प्रसार कर सकी है, किन्तु अब भी कुछ ऐसे समालोचक है, जिनकी मान्यताएँ पुरातन शास्त्रीयता और रीतिकालीन प्रवृत्तियों के अधिक निकट हैं, अतः मैंने उन समालोचको को उन कालों के साथ सयुक्त करना समीचीन समझा है, जिनकी धारणाओं का उनके व्यक्तित्व के निर्माण मे अधिक प्रभाव पड़ा है । सम्भव है, उन पर कुछ नव्यतर प्रणालियों और विचारधाराओ का प्रभाव भी हो, किन्तु उनकी गौणतावश उन्हे विशिष्ट कालो के साथ ही सयुक्त कर दिया गया है । यह भी प्रस्तुत प्रबन्ध का एक नवीन दृष्टिकोण है, जिसमे तात्विक अनवद्यता न होने पर भी वैज्ञानिक अध्ययन के लिए सुविधा अवश्य है । यह जानते हुए भी कि व्यक्तित्व का इस प्रकार कालगत विभाजन उसकी अखंडता पर आघात करता है, मैंने समालोचना के विकास-क्रम को समझने मे इसकी पर्याप्त उपयोगिता समझी है ।

शोध-कार्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है । उसमें अनुपलब्ध सामग्री का संकलन और उपलब्ध सामग्री का परीक्षण दोनो ही सम्मिलित रहते हैं । मेरा विषय आधुनिक साहित्य के विकास के एक प्रमुख अंग समालोचना से सम्बन्धित है । अतः मुझे पुरातन से सम्बन्धित अनुपलब्ध सामग्री का अनुसन्धान करने के लिए उतना कार्यतत्पर नही होना पड़ा, जितना अधुनातन प्राप्त सामग्री का सम्यक

आयोजन और परीक्षण करने मे। यही कारण है कि इसमें प्राचीन की उपलब्धि उतनी नहीं है, जितनी नवीन विवेचना की समीक्षा की गई है। इसका यह तात्पर्य नही कि मेरे सम्मुख सामग्री का ऐसा सकलन प्रस्तुत था जिससे केवल तथ्यचयन मात्र कर लेना ही मेरा प्रधान कार्य रह गया हो। वास्तविकता तो यह है कि आधुनिक साहित्य के अन्तर्गत भी मुझे ऐसे अनेक स्थल मिले, जिनकी शोध में मुझे विशेष अध्यवसाय करना पड़ा। उदाहरण के लिए भारतेन्दु-युग को लिया जा सकता है, जिसे मैने आधुनिक साहित्य की अन्य विधाओ की भाँति समालोचना का भी प्राचीन काल माना है।

भारतेन्दु-युग के अन्तर्गत समालोचनात्मक प्रवृत्ति का प्रस्फुरण अवश्य हो रहा था, किन्तु रचनात्मक साहित्य के सम्मुख उसकी कोई महत्त्वपूर्ण स्थिति नही थी, अत मैने उस युग के उपलब्ध साहित्य के साथ साथ 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका', 'हिन्दी-प्रदीप', 'आनन्द-कादम्बिनी', 'कवि-वचन-सुधा' और 'ब्राह्मण' आदि पत्रो की पुरानी प्रतियो में उस साहित्य को टटोलने का प्रयास किया, जिसके द्वारा तत्कालीन समालोचना-स्थिति का अवबोध हो सके। उसी के अनुशीलन का यह परिणाम है कि मैं भारतेन्दु-युग के विभिन्न नक्षत्रों मे उनका समालोचक-व्यक्तित्व भी निर्धारित करने का एक आधार प्राप्त कर सका हूँ जो उस प्रवर्तन-काल की विधाओ को देखते हुए किसी भी रूप मे हीन नही है। यद्यपि आज की विकसित सम्वेदना और बौद्धिक चेतना के सम्मुख वह उतना गौरवशाली और महत्त्वपूर्ण नही रहा, जितना उसके प्रवर्तन-काल मे था, तथापि मैंने उस युग के समालोचको का जान-बूझकर कुछ विस्तारपूर्वक विवेचन किया है, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि आधुनिक हिन्दी-समालोचना के प्रारम्भिक युग मे उनकी कैसी मानसिक स्थिति रही थी और उसके अन्तर्गत भावी विकास के सूत्र किस प्रकार सग्रथित हो रहे थे।

प्रस्तुत: प्रबन्ध एकादश अध्यायों मे विभक्त है और उसका प्रत्येक अध्याय मेरी शोध-यात्रा के मार्ग मे अपनी विश्रामस्थली का स्वरूप ग्रहण कर अपना मूलवर्ती अन्तर्न्यास करता हुआ चला है। मैंने इस बात की यथाशक्ति चेष्टा की है कि कहीं पर भी विषयान्तर होने के अवसर न आएँ तो अच्छा है, क्योंकि ऐसा होने पर शोध-प्रबन्ध मे शिथिलता और प्रतिपादन मे अवैज्ञानिकता का समावेश हो जाता है। इसी उद्देश्यवश मैंने विभिन्न अध्यायों का विस्तार उनके अपेक्षित परिमाण मे ही करने का प्रयास किया है, जिससे विवेचन की अपेक्षित परिधि मे सतुलन का निर्वाह हो सके। इसके जो अध्याय बाह्य दृष्टि से स्वतन्त्र और स्फुट प्रतीत हो, उनमे भी विकास-क्रम का विधान अवश्य ही अन्वेषित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रथम अध्याय 'जीवन-साहित्य और समालोचना' है जिसके अन्तर्गत किया गया विवेचन एक स्वतन्त्र निबन्ध का-सा स्वरूप ग्रहण कर उपस्थित हुआ है, किन्तु उसमे भी मेरे प्रस्तुत विषय का प्रमुख धरातल अधिष्ठित है, क्योंकि जब तक जीवन और साहित्य का अविच्छिन्न सम्बन्ध संस्थापित नही किया जाता, तब तक उनसे उद्भूत समालोचना को अपनी सुदृढ स्थिति जमाने का अधिक अवकाश नही मिल सकता। अतः मैंने इस अध्याय मे यथासम्भव सारग्राहिणी प्रवृत्ति का अन्तर्मूलक संयोजन कर इस विषय का स्पष्ट सकेत करने की चेष्टा की है कि आधुनिक हिन्दी समालोचना-विधा के निर्माण मे उनका क्या दाय है और ये तीनो शक्तियाँ किस प्रकार आदान-प्रदान करती हुई चलती रही हैं।

वैसे तो जीवन, साहित्य और समालोचना इतने व्यापक विषय हैं जिन पर भिन्न-भिन्न देश-कालों मे अपनी-अपनी मान्यताओं और आदर्शनिष्ठ अनुभूतियों के आधार पर अनेकानेक मीमांसको ने असंख्य उपलब्धियाँ प्रदान की हैं और उनका व्यापक विश्लेषण स्वत: एक शोधपूर्ण ग्रन्थ की विषय-सामग्री बन सकता है, किन्तु मेरे इस प्रबन्ध में उतने विस्तीर्ण विवेचन के लिए अवकाश न था। अतः मैं उनके विविध प्रकार के ऊहापोहो और उद्धरणियों के वात्याचक्र में न

उलझकर केवल उन्ही तत्वो का विवेचन करने के लिए उद्यत हुआ जो मेरे मानस-लोक और ज्ञान-स्तर के अनुरूप प्रतीत हुए। इसमें कोई सन्देह नही कि मेरी इन मान्यताओ के निर्माण मे इतर विद्वानो की गम्भीर गवेषणाओ और तथ्यपरक चिन्तनाओ का भी पर्याप्त भाग है, किन्तु मैंने इन्हे जिस विधि और प्रणाली मे ग्रहण किया है वह मेरी अपनी अनुभूति है। इस विवेचन मे मेरे सामने संदर्भ-टिप्पणियों का एक वृहत् कोष था और मैं उसका उपयोग भी करना चाहता था, किन्तु ऐसा करते समय मुझे अपनी विचार-राशि बिखरती हुई-सी दृष्टिगोचर हुई और मैं उस अपार रत्नराशि में अंतर्भूत होकर अपना आत्म-निर्णय विस्मृत-सा करने लगा। ऐसी स्थिति मे मुझे यही समीचीन प्रतीत हुआ कि मैं अपने इस विवेचन-क्रम मे केवल उन्ही तथ्यों का निरूपण करूँ जो मुझे चिरन्तन सत्य से अनुप्राणित और जीवन्त सम्वेदना से अभिप्रेरित लगे। सुतराम् इस अध्याय के उपशीर्षक 'जीवन, साहित्य और समालोचना' से सम्बद्ध केवल उन्ही तथ्यो का मूलत: उद्घाटन करते हैं, जिनकी इनके स्वरूप-अवतारण मे अनिवार्य अपेक्षा है तथा जिनका मेरे विवेच्य शोध-विषय से भी परोक्ष रूप से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। ऐसा करते हुए मैंने आधुनिक समालोचना-जगत् मे चलने वाली भिन्न-भिन्न पद्धतियो और प्रणालियो का भी अपेक्षित विवेचन करने का प्रयास किया है, जिनको हिन्दी की आधुनिक समीक्षा ने अधिकाशत: ग्रहण किया है। इस प्रकार यह अध्याय मेरे शोध-विषय का मूलाधार है, जिसके अन्तराल मे आधुनिक हिन्दी-साहित्य में विकसित होने वाली समालोचना का शिलान्यास हो सका है।

प्रस्तुत प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय आधुनिक युग-चेतना और हिन्दी-साहित्य से सम्बन्धित है जिसमे मैंने वर्तमान युग-जीवन की सामान्य प्रवृत्तियों का उल्लेख कर आधुनिक हिन्दी-साहित्य के रचनात्मक पक्ष का विवेचन मुख्य रूप से किया है, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि उसके द्वारा समीक्षा-विकास को किस प्रकार की प्रेरणाएँ अथवा आधारशिलाएँ उपलब्ध हुई है। वस्तुत. आधुनिक साहित्य की रचना-प्रक्रिया और समालोचना-प्रवृत्ति का अन्तर्न्यास प्रस्तुत विवेचन द्वारा उद्घाटित हो सकेगा। इसी प्रकार तृतीय अध्याय के अन्तर्गत आधुनिक हिन्दी-समालोचना के प्रमुख स्रोतों का जो क्रमबद्ध विवेचन किया गया है, वे ऐसे उद्गम-द्वार हैं जिनसे प्रेरणा लेकर समीक्षाधारा अपना स्वरूप-संगठन कर सकी है। इस विवेचन का एक उद्देश्य इस विषय का निरूपण करना भी है कि हमारी आधुनिक हिन्दी-समालोचना का निर्माण-पक्ष किन-किन सात्विक कणों से निर्मित है और उनकी मूल चेतना किस धरातल पर अवस्थित है। अभिप्राय यह है कि प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रारम्भिक तीन अध्याय मेरे शोध-कार्य की पूर्व-पीठिका प्रस्तुत करने और विषय-विवेचन को एक सम्पुष्ट धरातल पर अधिष्ठित करने का प्रमुख दृष्टिकोण लेकर लिखे गए हैं, जिनकी विचारभूमि पर उत्तरवर्ती अध्यायों मे समीक्षा के काल-विभाजन और उसके विकास को तारतम्यपूर्ण विधि से विवेचित करने मे विशेष प्रकार की सुविधा रही है।

यह एक स्पष्ट सत्य है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे समालोचना का विकास जिन रूपो और प्रकारो मे हुआ है उन पर भारतीय साहित्य-शास्त्र की अपेक्षा पाश्चात्य साहित्य (विशेषत: आग्ल साहित्य) का प्रभाव अधिक है, अतः उस साहित्य की अभिव्यंजन-शैली के तन्तुओं से ही उसका अधिकांशतः निर्माण समझा जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी। वस्तुत: हमारे देश मे अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा के प्रचार और प्रसार के उपरान्त ही भारत के अन्य प्रान्तों की भाँति हिन्दी-प्रदेश ने भी विभिन्न साहित्यो से आदान-प्रदान किया है, अतएव उसके भाषा-साहित्य की रक्त-शिराएँ विभिन्न आधार बिन्दुओं से अनुप्राणित हैं। यही कारण है कि हिन्दी के समालोचना-साहित्य का निर्माण और विकास उतने अधिक स्वतन्त्र विधान मे नही हो सका है, जितना अनुकृत स्वरूप में। फिर भी उसका निजी अस्तित्व और वैशिष्ट्य अवश्य है, इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कुछ

विचारकों को हिन्दी-समीक्षा के स्वतन्त्र विधान मे भले ही शंका हो, पर मेरी आस्तिक बुद्धि ऐसा नही मानती। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण तो यही है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रवर्तन-काल भारतेन्दु-युग से लेकर आज तक के प्रसारपूर्ण युग मे साहित्य का विविध विधाओ मे जो विकास हुआ है, वह निश्चय ही गण्यमान कोटि का है। यही कारण है कि साहित्य की विवेकपूर्ण विधा समालोचना मे भी मुझे ऐसा ही मौलिक क्रम मिला है जिसके सृजन और निर्माण मे जिन-जिन समालोचकों ने प्रमुख रूप से भाग लिया है उनके कार्यों का विश्लेषण कर मैं उनके मूल्याकन के प्रसंग मे उनके समुचित संस्तव करने का लोभ भी संवरण न कर सका हूँ। ऐसा करते समय मैंने उनकी मान्यताओ, सैद्धान्तिक विवेचनाओं और मौलिक उद्भावनाओ को भा शोध निकालने की चेष्टा की है और इस प्रकार जो रत्न-कण मुझे हस्तगत हो सके है, उनका विशद विश्लेषण कर प्रसगानुसार उनका समीक्षण भी कर दिया है। संभव है, ऐसा करते समय कुछ गण्यमान समालोचक मेरे विवेच्य विषय मे न आ सके हों, किन्तु उसका कारण उनके प्रति श्रद्धा-भावना की न्यूनता न होकर केवल मेरे शोध-विषयक प्रतिमान की सीमाएँ ही हैं। अत मैंने प्रधान रूप से केवल उन्ही सुधी समालोचकों की मान्यताओं और कृतियो का विशद विवेचन किया है, जिनकी साधना से आधुनिक हिन्दी-समालोचना अपनी पूर्ववर्ती युग-दृष्टि से प्रगतिमान बन सकी है। इतर समालोचको का भी इसमे विवरण है, किन्तु उनके विवेचन में केवल उतनी ही बातें कही गई है जितनी उनकी विशिष्ट कार्यावली की अनुसूचक प्रतीत हुई है। समालोचकों की प्रवृत्तियो और उनके प्रधान अनुयायियो की विचार-सारिणियो पर भी यथाप्रसंग स्वमत्या विवेचन किया गया है, जो मेरी निजी मान्यताओ के अनुरूप है, किसी के निर्धारित दृष्टिकोण का एकान्त अनुकरणमात्र नही।

अपने शोध-प्रबन्ध में मैंने युग की सामान्य प्रवृत्तियाँ और समालोचना की विशेष पद्धतियों का निरूपण करने के साथ-साथ जिन समालोचकों का विशेष विवेचन किया है, उनका युग-निर्माण और मार्ग-दर्शन के रूप में विशेष महत्त्व रहा है। ऐसा करते हुए मैंने उनकी मान्यताओं और आस्थाओ का सैद्धान्तिक निरूपण उनकी कृतियों को अपना समालोच्य विषय बनाकर किया है। पहले मेरा विचार था कि उनके समीक्षा-कार्य का केवल निष्कर्षपूर्ण मूल्यांकन ही करूँ, किन्तु कालान्तर मे मुझे इसमें कठिनाई प्रतीत हुई। अत मैंने उनकी विचारधारा के स्पष्टीकरण के लिए यह आवश्यक समझा कि उनकी समालोचना-कृतियो मे हमे उनकी जो विचारधारा उपलब्ध होती है, उसके मूल आशय को ही हृदयंगम करते हुए अपना निर्णय दिया जाय। ऐसा करते हुए मुझे कुछ स्थलो पर उनके विचारों की उद्धरणी भी करनी पडी है, किन्तु ऐसा करने के लिए मैं विवश था, क्योंकि जब तक किसी समालोचक की मान्यता के केन्द्रवर्ती स्वरूप से हमारा परिचय नही हो पाता, तब तक उसकी विचार-भगिमा का स्पष्ट विवेचन किया ही नही जा सकता। ऐसा करते हुए मैंने जिस तथ्य-ग्रहण की प्रवृत्ति का आश्रय लिया है, वह कुछ स्थलो पर पिष्ट पेषित-सी लगे, किन्तु उसके द्वारा प्रमुख समालोचकों का व्यक्तित्व और कृतित्व निश्चय ही हमारे सम्मुख आ सकेगा, जिनके तत्वकणों का समाहित स्वरूप लेकर आधुनिक हिन्दी-समालोचना विकसित हुई है। इस विश्लेषण का एक उपयोग यह भी है कि इसके द्वारा हमें उनकी विचारधारा का सम्यक् निरूपण एक ही स्थल पर मिल जाता है और उनके मानसिक सस्थान का अन्वेषण करने के लिए इतस्ततः भ्रमित होने की कोई आवश्यकता नही रहती। वैसे तो इन आलोचकों की मान्यताओं का विश्लेषण विभिन्न पद्धतियों के प्रसग में उद्धरण देते हुए भी किया जा सकता था, किन्तु इस ओर अन्य विद्वानों द्वारा कार्य किये जा चुके हैं, अतः मुझे इस पद्धति का अनुगमन ही समीचीन प्रतीत हुआ। ऐसा करते हुए, कुछ समालोचकों पर अधिक परिमाण मे भी विवेचन करना पडा है और कुछ समालोचकों पर न्यून मात्रा में लिखना पड़ा है जिसका प्रमुख कारण उनके मौलिक प्रतिष्ठान और समालोचना-

साहित्य विषयक सामग्री का गौरव ही है।

अपने प्रस्तुत प्रबन्ध मे मैं और भी अनेक समालोचको को लेना चाहता था और पत्र-पात्रकाओ के अनुशीलन तथा ग्रन्थों के आकलन के पश्चात् मैंने उनकी योजना भी निर्मित कर ली थी किन्तु कालान्तर मे मै ऐसा नही कर सका। बात यह हुई कि उन समालोचकों की कृतियों मे मुझे ऐसे स्थल बहुत कम मिले, जिनमे युगीन प्रवृत्तियों को विकसित बनाने की प्रेरणा हो। ऐसा करने पर मेरे प्रबन्ध का कलेवर भी बहुत अधिक बढ जाता और किसी विशेष प्रकार की उपलब्धि भी नही होती। अतः मुझे उनके सम्बन्ध में विवेचन करने का लोभ-संवरण करना पडा। हाँ, इस प्रकार के दृष्टिकोण से सम्भवतः कुछ ऐसे समालोचक भी मेरी कृति मे विशेष स्थान न पा सके हों, जिन्हे अन्य विचारकों की दृष्टि से अधिक प्रश्रय दिया जाना चाहिए, किन्तु यह एक वैयक्तिक मान्यता का विषय है। मैंने एक अनुसन्धाता के रूप मे इस बात का यथाशक्ति प्रयास किया है कि अपनी क्षमता के अनुरूप समालोचना के साहित्य की अभिवृद्धि मे योग देने वाले समस्त साहित्य-साधको का विवरण प्रस्तुत करूँ, किन्तु इसका पूर्ण निर्वाह होना कितना कष्टसाध्य विषय है, यह सुधी जनों से अप्रकट नही है। फिर भी मेरे अज्ञानवश किसी समालोचक का मूल्याकन और उसका विकासगत महत्त्व इस प्रबन्ध मे नही आ सका है तो इसका आशय उसके प्रति सम्मान-भावना की न्यूनता न होकर मेरी सीमागत विवशता ही है। यह बात अवश्य है कि आधुनिक हिन्दी-समालोचना के विकास-कार्य मे जिन-जिन साहित्य-महारथियों का हाथ रहा है उन्हे विस्मृत करने का प्रमाद मुझसे कदाचित् नही हुआ है। संभव है, मेरे विवेचन मे कतिपय विचारको को उनके महत्त्व-निर्धारण का आतिरेक्य आभासित हो, किन्तु अपने अल्पकाल मे हिन्दी-समालोचना ने आधुनिक प्रक्रिया से जो कुछ विकास किया है, वह उन साधकों की तपस्या का सुफल नही तो और क्या है ? अतः मेरे इस विश्लेषण में उनके प्रत्येक कार्य का सस्तव ही न पाकर उनके प्रति यथावसर दी गई अपनी धारणा का भी ध्यान रखा जाना वाछनीय है, जो मेरे मानस मे उनके अध्ययन की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उद्भूत हुई है।

यद्यपि समालोचना आधुनिक साहित्य का अत्यन्त विकसित अग है, किन्तु उसके विकास-पथ मे ऐसे अनेक व्यवधान भी है, जिनके कारण विभिन्न प्रकार की समस्याओं का प्रादुर्भाव हो गया हैं। इन समस्याओ के मूलवर्ती कारणों का अनुशीलन करते हुए मुझे जिस प्रकार की उपलब्धि हुई है, उसे मैंने दशम अध्याय के प्रारम्भ मे विवेचित करने की चेष्टा की है। संभव है, विवेच्य कारणों के अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी हों, जो मेरे दृष्टि-पथ मे आने से वचित रह गए हो, किन्तु जिन उपशीर्षको मे उन कारणों का विश्लेषण किया गया है, वे कदाचित् इतने व्यापक हैं कि उनके अन्तर्गत अवशिष्ट कारणो का भी समाहार किया जा सकेगा। इन कारणों का सामान्य विश्लेषण कर मैंने अन्त मे ऐसे रचनात्मक और क्रियात्मक परामर्श देने का भी प्रयत्न किया है, जिनसे समालोचना के विकास-पथ की समस्याओ का निराकरण किया जाना सम्भव है। इस प्रकार यह विवेचन स्वतन्त्र होता हुआ भी मेरे शोध-विषय के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है, क्योंकि इसमें विकास-पथ के अवरोधों को दूर करते हुए उसे स्वतन्त्र विधान मे अपनी भावी दिशा के निर्माण करने का रचनात्मक संकेत है। विवेचन के इसी प्रसग मे इस विषय का निवेदन करना भी आवश्यक है कि आजकल समालोचना के मानदड को लेकर भी अनेक प्रकार के वाद-विवाद चल रहे हैं, जिनका मूल उत्स यह है कि साहित्य का स्वरूप-परीक्षण जीवन की अखड एकता के साथ न किया जाकर अपूर्ण विचारों से किया जाने लगा है। हिन्दी-समालोचना के स्वतन्त्र अस्तित्व और मानदड पर तो आज भी अनेक विद्वानों की शकाएँ है। अतः मैंने प्रस्तुत प्रबन्ध के इसी अध्याय के अन्तर्गत समालोचना के स्वतन्त्र मानदंड का स्वरूप-विवेचन करते हुए यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि उसका हिन्दी समीक्षा-क्षेत्र में किन-किन युगो मे कैसा-कैसा विकास हुआ है। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि हिन्दी-समालोचना

का स्वतन्त्र मानदंड एक स्वतन्त्र शोध का विषय भी हो सकता है। हमारे भावी अध्येताओं को इसके अनुशीलन का प्रयत्न अवश्यमेव करना चाहिए।

अन्त में उपसंहार के अन्तर्गत मैंने आधुनिक हिन्दी-समालोचना की उपलब्धि और आवश्यकता का सारभूत विश्लेषण करने का प्रयास किया है, जिसके द्वारा यह स्पष्ट हो सके कि हमारा विवेच्य विषय आज किस धरातल पर अवस्थित है और उसे किस प्रकार प्रौढ और विकासमान बनाया जा सकता है। अपने अनुशीलन के आधार पर मैं इसी निर्णय पर पहुँचा हूँ कि साहित्य के अन्यान्य अंगों की भाँति आधुनिक हिन्दी-समालोचना ने भी प्राय. एक शताब्दी में जो कुछ विकास किया है, वह यथेष्ट सन्तोषप्रद है और उसमे क्रमश. युगानुरूप परिवर्तन और परिवर्द्धन होता गया है। यद्यपि आज के प्रसार-काल में उसकी कतिपय विचारधाराएँ अपने वैशिष्ट्य का दुन्दुभिनाद करती हुई अनेक स्थलो पर स्वय को पूर्ण और अनवद्य मानने की प्रमादजन्य परिस्थिति से भी संत्रस्त है, किन्तु इस प्रकार की एकांगी प्रवृत्ति की दोषोद्भावनाएँ भी साहित्य-मनीषियो के सम्मुख दिन प्रतिदिन आने लगी हैं जिनके निराकरण के लिए वे सचेष्ट हो गये है। आशा की जाती है कि निकट भविष्य मे ही साहित्य-समीक्षण का कोई ऐसा विधान अवश्यमेव अन्वेषित किया जा सकेगा, जिसमें देश की सास्कृतिक चेतना को प्राधान्य देते हुए समालोचना को ऐसे विकासपूर्ण प्रतिमान उपलब्ध होंगे, जिनके द्वारा केवल हिन्दी-साहित्य ही नही, अपितु विश्व-साहित्य की परीक्षा भी उसकी न्याय-तुला पर की जा सकेगी। इसके लिए आवश्यक है कि हमारे साहित्य मीमासिक अधिकाधिक उदारमना होकर चलें और जीवन, साहित्य और समालोचना के त्रिवेणी सगम से ऐसे रत्नकणों का संचयन करें, जिनमे चिरतन संवेदनाओ का प्राधान्य हो किन्तु युगीन भावनाओ की भी अवहेलना न हो। इस प्रकार के प्रयत्नों के फलस्वरूप हमारा जो भावी समालोचना-शास्त्र निर्मित होगा, उसमें पूर्व और पश्चिम अथवा प्राचीन और नवीन के एकागी मानदण्ड न होकर ऐसे प्रतिमानों का भी सयोजन होगा जो हमे देश-काल की सीमाओं से ऊँचा उठाकर विश्वजनीन दृष्टिकोण दे सकेगा।

यहाँ इसी प्रसंग में, एक यह निवेदन करना भी आवश्यक है कि कुछ विद्वानो के विचार मे शोध और समालोचना दो भिन्न कोटि की साहित्य-प्रक्रियाएँ है, जिनमें समन्वय की स्थापना नही की जा सकती, किन्तु तत्व-दृष्टि में यह धारणा एकागितापूर्ण है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि जो शोधकर्ता की मूल मनोभूमि समीक्षक से कुछ भिन्न कोटि की होती है और उसमें तथ्य-ग्रहण और सामग्री-संचयन की प्रवृत्ति अधिक रहती है, किन्तु ऐसी तो कोई बात नहीं कि शोधकर्ता के लिए समीक्षक-दृष्टि का होना अनिवार्य नही है; क्योकि ऐसा न होने पर वह अपनी शोधकृति का मूल्यांकन और परीक्षण विवेक-वृत्ति और न्याय-भावना से कदाचित् ही कर सके। ससार के अनेक सम्पन्न साहित्यों के शोधकर्त्ता अपने विवेच्य कृतिकारो और उनकी रचनाओ को शोधपूर्ण दृष्टि से अन्वेषित कर उन्हे जिस धरातल पर प्रतिष्ठित कर सके है, वह समालोचना का ही क्षेत्र बना है। अतः आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे विकसित होने वाली समालोचना का एक महत्त्वपूर्ण अंग उसका शोध और अनुसन्धान विषयक कार्य समझा जाय तो सर्वथा समीचीन ही होगा। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि आधुनिक युग-चेतना की स्फुट प्रवृत्ति को समालोचनागत व्यापक प्रबन्धात्मकता प्रदान करने मे शोध-कार्य का महत्त्वपूर्ण हाथ है और आधुनिक हिन्दी-समीक्षा का तो यह एक विशिष्ट अंग बनने का गौरव प्राप्त कर सका है। अत. मेरे इस प्रबन्ध के अन्तर्गत शोध-कार्य द्वारा समालोचना-वृद्धि का विवरण भी यथास्थान मिलेगा। मेरा तो ऐसा दृढ़ विश्वास है कि वर्तमान हिन्दी-समालोचना का एक प्रमुख अग उसका शोध-कार्य ही है, जिसके अनुशीलक विभिन्न दृष्टियों से अपने अधिकृत विषयो का व्यापक और गम्भीर विश्लेषण करने का प्रयत्न करते रहते हैं। पहले मेरा विचार शोध-कार्य और हिन्दी-समालोचना शीर्षक से अपने प्रस्तुत प्रबन्ध

मे एक स्वतन्त्र प्रकरण जोडने का था, किन्तु ऐसा करते हुए मुझे कई स्थलो पर विचारों की पुनरावृत्ति भी करनी पडती तथा विषय की परिमिति के कारण मैं उसमे शोध-कृतियो का केवल सामान्य परिचयमात्र ही दे पाता, अत: मैंने उपसहार के अन्तर्गत यथाप्रसंग उनका विशेष उल्लेख करना ही पर्याप्त समझा है। यदि कोई नवीन अनुसन्धाता 'शोध-कार्य द्वारा समालोचना-वृद्धि' विषय पर उसका समुचित मूल्यांकन करते हुए अपना अध्ययन प्रस्तुत कर सके तो यह भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य हो सकेगा, क्योंकि आज की शोध-कृतियो के सम्यक् परीक्षण की आवश्यकता सर्वत्र अनुभव की जा रही है।

अपने विषय-निर्वाचन, सामग्री-सचयन और तथ्य-प्रतिपादन आदि के सम्बन्ध में मैंने इस भूमिका के रूप मे जो आत्म-निवेदन किया है, उसके आधार पर प्रस्तुत प्रबन्ध की मूल दृष्टि का अनुमान लगाया जा सकता है। वैसे तो आधुनिक साहित्य की विकासमान प्रगति के सम्मुख मौलिकता का दावा करना दम्भमात्र है, किन्तु फिर भी मैंने इस बात का यथाशक्ति प्रयत्न किया है कि मैं अपने कार्य-क्षेत्र की परिधि मे उन तथ्यों का उद्घाटन कर सकूं जिनका आधुनिक हिन्दी-समालोचना के विकास से पूर्वापर-विधि मे अन्तरंग और बहिरंग सम्बन्ध रहा है। यदि इस प्रबन्ध में समीक्षा-विकास के अन्तर्गत कुछ बातें छूट भी गई हैं तो उसका प्रमुख कारण मेरी सीमित शक्ति के साथ-साथ उनकी वैशिष्ट्य-विहीन साधारण स्थिति भी है। इसी प्रकार समालोचना की प्रमुख प्रवृत्तियों और उनके अनुयायी समालोचकों की मान्यताओं के ऊहापोहों में अधिक न उलझकर मैंने केवल उनकी प्रमुख विचारधाराओं का ही विवेचन करते हुए यथावसर अपना अभिमत प्रकट कर दिया है। इससे अधिक विवेचन का अवकाश मेरे शोध-प्रबन्धों में हो ही नहीं सकता था, क्योंकि यदि मैं मूल्यांकन और विचार-विमर्श के विस्तृत वाग्जाल मे उलझ जाता तो मेरे विवेच्य विषय के विकासानुक्रम मे एक बहुत बडा व्यवधान उपस्थित हो जाता। ऐसी परिस्थिति में यदि युग-प्रवृत्तियों और समालोचको के विश्लेषण में उनकी विवेचना के कुछ प्रसंग अनालोचित रह गये हों तो उन्हें मेरे शोध-विषय की सीमा को दृष्टिगत रखते हुए उदार दृष्टि से ही ग्रहण किया जाना समीचीन है।

अपने शोध-प्रबन्ध मे मैंने जिस अभिव्यंजन-प्रणाली को ग्रहण किया है उसे विवेचनात्मक प्रणाली कहा जा सकता है। वस्तुत किसी भी साहित्यांग के प्रवर्तन और विकास को बोधगम्य बनाने के लिए यह प्रणाली अत्यन्त उपादेय सिद्ध होती है। इसके द्वारा हमे विषय का संयोजन, निरूपण और मूल्याकन करने मे विशेष सुविधा रहती है। चूंकि मेरा प्रधान विषय आधुनिक हिन्दी-समालोचना के विकास का विश्लेषण करना था, अत कतिपय स्थलों पर मैंने अपनी मानसिक अभिभूमिका के अनुरूप ऐतिहासिक, तुलनात्मक, प्रभावाभिव्यजक और निर्णायक प्रवृत्तियों का भी प्रयोग किया है किन्तु विवेचन का क्रम भंग न हो इस विषय की मैंने यथामति चेष्टा की है। इसी प्रणाली का अनुगमन करने से ही मैं उस उपलब्ध सामग्री से तथ्य-चयन कर सकता था।

प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रणयन मे मुझे हिन्दी, सस्कृत और अंग्रेजी साहित्य के अनेकानेक ग्रन्थों तथा पत्र-पत्रिकाओं से यथोचित सहायता मिली है, जिनकी सूची परिशिष्ट के अन्तर्गत दी गई है। प्रयाग विश्वविद्यालय के पुस्तकालय और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग के संग्रहालय द्वारा भी मैं अपनी अनुशीलन-विषयक सामग्री का सचयन करने मे यथेष्ट लाभान्वित हुआ हूँ। विभिन्न विश्वविद्यालयो तथा अनुसन्धान-परिषदों द्वारा प्रकाशित शोध-प्रबन्ध भी मेरे अध्ययन में सहायक रहे हैं। साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानो की कृतियो ने भी मेरा अनेक बार पथ-प्रदर्शन किया है; अत: सबके प्रति आभार प्रदर्शित करना मैं अपना प्राथमिक कर्त्तव्य समझता हूँ।

इस अवसर पर मैं अपने प्रारम्भिक शिक्षा-गुरु पं० शम्भूदयालजी त्रिपाठी के प्रति श्रद्धावनत हूँ जिन्होंने मेरे बाल-मानस में साहित्याभिरुचि का अंकुरण किया। प्रयाग-प्रवास के

समय पूजनीया शुभश्री महादेवी वर्मा ने मेरे संघर्षपूर्ण जीवन की गुत्थियो को सुलझाने और मुझे साहित्य-चिन्तन की ओर प्रवृत्त करने मे जिस प्रकार का स्नेह-संबल प्रदान किया; वह मेरी साधना के लिए अक्षय आलोक बन गया है। श्रद्धेय पिताजी और दिवगता जननी के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन का कोई भी शब्द उनके प्रति बनी हुई श्रद्धा-भावना की अभिव्यक्ति करने मे असमर्थ ही माना जाएगा। अपनी सहधर्मिणी वासंती देवी की सेवाओ का आभार मुझ पर कितना अधिक है, यह केवल मेरी आत्मानुभूति का विषय है। अपनी सुख-सुविधाओ को मेरे अभ्युत्थान-हित समर्पित कर उसने मुझे सदैव उल्लसित भाव से प्रगतिशील बनने की प्रेरणा दी है तथा मेरी पारिवारिक दुविधाओ का समस्त दायित्व झेलकर मुझे अध्ययन की दिशा मे उन्मुख रखा है। प्रस्तुत कृति भी उसी के प्रणयानुरोध का साकार निदर्शन है।

मैं श्रद्धेय डॉ० नगेन्द्र, आचार्य तथा अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय का भी अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिन्होने अपने प्राक्कथन द्वारा मेरी कृति का गौरव बढाया है। श्री रामलालजी पुरी, सचालक, आत्माराम एण्ड सस, दिल्ली, भी मेरे साधुवाद के पात्र हैं जिनकी कृपा से प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रकाशन हो सका। सभव है, शीघ्रतावश पुस्तक मे मुद्रण-विषयक कतिपय त्रुटियाँ रह गई हो अथवा विवेचन-क्रम मे कोई महत्त्वपूर्ण विषय अस्पष्ट रह गया हो किन्तु एतदर्थ सुधीजन मुझे अपने परामर्श से उपकृत करें; मै अन्य क्या निवेदन कर सकता हूँ!

—वेंकट शर्मा

गवर्नमेंट कॉलेज
अजमेर

प्रथम अध्याय

जीवन, साहित्य और समालोचना

विषय-प्रवेश

जीवन-चेतना और साहित्य-निर्माण

१. जीवन शब्द चेतना का प्रतीक है। उसके अन्तर्गत उन समस्त तत्वों का समन्वय है, जिनके द्वारा सृष्टि का संचालन होता है। ससार मे न जाने कितने प्रकार की जीव-कोटियो का निवास है, जो अपनी-अपनी सत्ता और क्षमता के कारण पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखती हैं। उन सब के उद्भव और विकास का इतिहास कम रहस्यपूर्ण अथवा अल्प रोचक नही है। जीव-धारियो के कोटि-क्रम मे मानव-जाति की स्थिति प्रारंभ ही से सर्वोत्कृष्ट तथा ज्ञानसम्पन्न रही है। अनादिकाल से यह विश्व-चक्र जिन आवर्त्तन-प्रत्यावर्त्तनों के अतराल में परिभ्रमण और विकास करता हुआ चल रहा है, उसके निर्माण का प्रायः सम्पूर्ण श्रेय मानवीय चेष्टाओ और क्रिया-कलापो को दिया जा सकता है। एक प्रकार से मनुष्य की चेतना ही सृष्टि के अणु-परमाणु मे अपना आत्म-प्रसार करती हुई विभिन्न स्वरूप प्राप्त कर सकी है और ज्ञान-विज्ञान की अनन्त शाखाओ के मूल मे उसी का जीवन-रस अनुप्राणित है। अत यह स्पष्ट है कि जीवन और जगत का इतिहास मानव-मन के वैविध्य-पूर्ण विकास का इतिहास है और उसकी उपेक्षा कर हमारी ज्ञानधारा आगे बढ ही नही सकती।

२. जीवन की चेतना का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। उसने सृष्टि-क्रम की प्रगति एव अभ्युदय मे अनेक प्रकार का योगदान दिया है। मानव-चेतना ने अद्यावधि अपनी बाह्य तथा आभ्यन्तरिक शक्तियो के द्वारा जो कुछ उपलब्धि की है, वह अत्यन्त रहस्यमय और मत्रमुग्धकारी है। मानवीय मनोवृत्तियो की हलचल और बौद्धिक प्रयत्नो का साकार निदर्शन आज के विकासोन्मुख विश्व के रूप मे देखा जा सकता है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन आदि जीव-सामान्य मे अन्तर्निहित नैसर्गिक वृत्तियो का तो उसमे अधिवास है ही, किन्तु इनके अतिरिक्त मानव को जिस विशिष्ट श्रेणी की ज्ञान-चेतना की उपलब्धि हुई है, उसी ने उसके परम्परागत इतिहास का अद्यतन स्वरूप निर्मित किया है। अपने पंचभौतिक शरीर मे अवस्थित आध्यात्मिक चेतना के बल पर उसने ऐसे अनेक विस्मयपूर्ण कार्य किये हैं, जिनके कोटि-क्रम मे किया गया उसका विकास अत्यन्त भव्य और शालीन बन पडा है। वाणी का सुमधुर वरदान तो केवल मनुष्य को ही प्राप्त है। उसने उसके बल पर शब्दो की साधना की है। यह केवल अपनी ही स्वार्थपूर्ण संकुचित वृत्तियो के सकीर्ण परिमण्डल मे ही आबद्ध नही रहा है, प्रत्युत अपने ज्ञान-विज्ञान के विकास के साथ-साथ अपना सामाजिक जीवन भी निर्मित करता चला है। सृष्टि के क्रमागत प्रसार के साहचर्य ने उसे व्यापक दृष्टिकोण प्रदान किया है। वह आत्मविकास की श्रेणी से ऊँचा उठकर सार्वजनिक अभ्युदय के लिए भी प्रयत्नशील रहा है। उसकी कर्म चेतना ने अपनी शारीरिक शक्तियो के द्वारा 'स्व' और 'पर' के क्षेत्र में कार्य-विस्तार किया है तो उसकी भाव-चेतना भी विभिन्न युगो मे सतुलित और रागमयी बनकर कम क्रियमाण नही रही है। उसकी भावाभिव्यक्ति को चाहे उसके मानसिक असंतोष के परिशमन का प्रतिफल समझा जाय अथवा उसकी आत्मानुभूति की सहज संवेदना का परिणाम, किन्तु इसमे कदाचित् ही दो मत हों कि उसके मूल मे उसके मानस-लोक का ऐसा

विधान है जो अपनी सकीर्ण कारा से निकलकर प्राणिमात्र का बनना चाहता है तथा जिसके आत्मप्रसार मे स्वार्थ की सकुचित वृत्ति के लिए कोई अवकाश नही है। उसका यह विकास अनेक युगो की साधना का साकार स्वरूप है और इसे जिस श्रेणी के अन्तर्गत अधिष्ठित किया जाता है, वही 'साहित्य' की सज्ञा से अभिहित है।

साहित्य का स्वरूप और जीवन का प्रसार

३. साहित्य के स्वरूप-विधान को लेकर विभिन्न देशो के विचारको ने अपनी-अपनी सस्कृति और आस्थाओ के अनुरूप विभिन्न कालो मे अनैक्यपूर्ण विवेचनाएँ प्रस्तुत की है। उन सबका तात्त्विक निष्कर्ष यही है कि साहित्य का जीवन से किसी न किसी रूप मे अपरिहार्य सम्बन्ध अवश्य है। जीवन के आदर्श और मानदण्ड परिस्थिति-विशेष के परिवर्तन से भले ही भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण कर ले, किन्तु उनकी आतरिक अखण्डता कभी भी छिन्न-भिन्न नही की जा सकती। किसी भी देश अथवा काल का साहित्यकार जीवन से पराङ्मुख बनकर अपनी भावाभिव्यक्ति कर ही नही सकता। यदि किसी साहित्यकार ने अपने अविवेक अथवा दम्भवश जीवन को पराभूत करने की भावना से उच्छृखल प्रदर्शन किया भी, तो उसे केवल असफलता ही हाथ लगी। इसका मूल कारण यही है कि साहित्य हमारे मानस-लोक की सृष्टि है और उसमे भावनाओ का अनन्त सागर लहराता है, जिसका अमूर्त्त स्वरूप ही अक्षरो के कलेवर मे साकार बन कर अपनी रत्नराशियो से मानव हृदय का प्रसादन करता हुआ चला आ रहा है। ऐसी परिस्थिति मे साहित्य और जीवन का तादात्म्य सम्बन्ध स्वतः स्पष्ट हो जाता है। अपनी इस मान्यता के परीक्षण के निमित्त हम चाहे किसी भी देश के साहित्य को ले, उसके कलेवर मे हमे जीवन का रक्तसंचार अवश्य मिलेगा। हाँ, यह बात दूसरी है कि जीवन-विषयक दृष्टिकोण की अनेकरूपतावश उसके बाह्य-परिवेश मे स्वरूप-वैचित्र्य का समावेश भले ही हो जाय। सुतराम् साहित्य और उसके क्षेत्र की अन्तमूर्त समस्त प्रक्रियाओ का केन्द्रबिन्दु हमारा जीवन ही सिद्ध होता है और यह जीवन अपनी परिव्याप्ति मे जगत के अन्तर्गत समाविष्ट है, जिसका अभिप्राय यह है कि साहित्य मे जीवन की अभिव्यक्ति जगत के परिमडल मे अन्तर्निहित होकर ही होती है।

४. जब हम साहित्य मे जीवन की ही अभिव्यक्ति पाते हैं और जीवन का प्रसार अखिल ब्रह्माण्ड तक परिव्याप्त है तो यह स्वतः सिद्ध है कि साहित्य के विषय-क्षेत्र की भी कोई श्रेणिगत इयत्ता नही हो सकती। यह तो साहित्य-स्रष्टा की प्रातिभिक क्षमता पर निर्भर है कि वह अपने मानस-जगत के औरसजात साहित्य मे जीवन के किन-किन स्वरूपो का दृश्य-विधान करे। यही साहित्यकार की साधना और आत्मानुभूति का प्रश्न आता है। जिन साहित्यकारो मे जीवन-संवेदनाओं का जितना अधिक गम्भीर और तीव्र उद्बोधन होता है, वे उतनी ही कुशलता से उनकी तलस्पर्शी अगाधता को अपनी रचना-प्रक्रिया द्वारा अभिव्यक्त कर सकते हैं। इसी प्रकार जिनकी ग्राहिका-शक्ति अपेक्षाकृत कम सुवेगपूर्ण अथवा अल्प परिपक्व होती हैं, वे उसकी सीमा मे ही संकेन्द्रित होकर अपनी भावानुभूति का अभिव्यजन अपनी साहित्य-कृतियो मे कर पाते हैं। यही पर यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने की है कि अपने मानसिक सस्थान के अनुरूप ही साहित्यकार जीवन-चेतना के द्वारा अपने साहित्य को अनुप्राणित करने मे समर्थ होते है। कुछ साहित्यकार अपनी असाधारण प्रतिभा के बल पर ऐसा अमर और लोकमंगल-विधायक साहित्य निर्मित कर जाते हैं, जो देशकालावच्छिन्न होकर शाश्वत तथा विश्वजनीन बन जाता है और जिसमे अभिव्यक्त अमर भावनाएँ सदैव समादृत होती है। साहित्यकारों की एक श्रेणी वह भी है जो अपनी युगानुरूपिणी शक्ति के आश्रय पर केवल युग-जीवन का ही स्वर-संधान अपनी वाणी मे कर पाती है। अपनी-अपनी सीमाओ और मर्यादाओ मे दोनो प्रकार के साहित्यकारों का सामानुपातिक महत्त्व है

और उसीके अन्तर्गत उनकी वृत्तियाँ अपना वैशिष्ट्यपूर्ण गौरव रखती है। हाँ, कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि साहित्यकार की अतृप्त-कुण्ठा उसे व्यक्तिवाद की कारा मे इतना अधिक अवरुद्ध कर देती है कि उसका अधिमानस न तो विश्वजनीन भावनाओ का ही अभिव्यजन कर पाता है और न युग-धर्म का प्रकटीकरण ही। निश्चय ही यह स्थिति भयावह है और इसमे सग्रस्त होकर साहित्य के प्राण कुठित होने लगते है। अतः साहित्य-निर्माता के लिए अपने निर्माण का कितना अधिक महत्त्वपूर्ण दायित्व है, उसको उपेक्षित कर हम साहित्य के स्वरूप-निर्धारण मे कदापि न्याय-भावना का निर्वाह नही कर सकते।

५. जीवन और साहित्य की इस अपरिहार्य ऐक्य-ससिद्धि के पश्चात् यह प्रश्न ही नही रह जाता कि साहित्य का मूल विवेच्य विषय क्या है और उसकी सीमाएँ कहाँ तक हैं? वास्तव मे जीवन वह प्रकाश-पुंज है, जिससे शक्ति-सचय कर साहित्य गतिशील बनता है और जिसके केन्द्र मे मानव का अतरतम रहस्य तथा वाह्य परिवेश मे उसका भौतिक स्वरूप सगठित होकर उसको परिचालित करते हैं। कहा जा सकता है कि जिस प्रकार शरीर और आत्मा दो भिन्न-भिन्न पदार्थ होते हुए भी अपने अतसूत्र मे सगुम्फित है, उसी प्रकार जीवन और साहित्य भी एक ही प्राण-चेतना से अत स्फूर्त हैं। सच तो यह है कि साहित्य और जीवन की चेतनाएँ दो भिन्न-भिन्न सरणियाँ नही है। साहित्य के रहस्य को समझने का अभिप्राय यही है कि हम जीवन की वास्तविकता से परिचित हो सके। अत साहित्य को चाहे जीवन की गम्भीर और व्यापक विवेचना कहा जाय अथवा उसे जीवन का वास्तविक दर्शन या दर्पण, किन्तु यह एक ध्रुव सत्य है कि उसमे हमारा आत्म-चिंतन अवश्यमेव प्रतिबिम्बित होता है और इसकी सफल साधना इसी मे है कि हम उसके माध्यम से अपने वास्तविक स्वरूप का बोध करे और उसके साथ ही साथ आत्म-विकास के सोपान से उच्चतर बनकर विश्व-रूप तथा विश्व-जीवन मे अपने आपको लय करने अथवा इसमे लय होने की वस्तुस्थिति मे भी हो सकें। वस्तुतः यही साहित्य और जीवन की 'वागर्थाविव सपृक्त' मनो-भूमिका है।

राग और बोधवृत्तियों का साहित्यगत सम्मिलन

६. व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से मनुष्य के क्रिया-कलापो को राग और बोध की विभिन्न वृत्तियो के आधार पर साहित्य तथा विज्ञान की अनेकानेक शाखाओ और उपशाखाओ मे भले ही विभक्त कर दिया जाय, किन्तु इस अखण्ड सत्य की कदापि अवहेलना नही की जा सकती कि मानव-जीवन की एक सम्पूर्ण इकाई है और यह विभाजन वस्तुत औपचारिक मात्र हैं। विज्ञान ने आज हमे विश्लेषण की अत्यन्त व्यापक दृष्टि दी है, किन्तु ऐसे तत्त्वों की अद्यावधि कोई शोध नही की जा सकी जिसके आधार पर यह निर्णय कर दिया जाय कि मनुष्य की रचना-प्रक्रिया मे हृदय और मस्तिष्क के तत्त्वो का सम्मिश्रण किसी निश्चित मात्रा और प्रकार मे खण्डश विवेचित किया जा सकता है। अन्यान्य भौतिक तत्त्वकणो के विभाजन और विश्लेषण के प्रयत्नो के समान यदि कोई वैज्ञानिक इस प्रकार की मानसिक तुला अथवा प्रतिमान की अधिकृति घोषित करे तो उसका यह प्रयास उपहासास्पद दम्भमात्र ही होगा। इसका मूल कारण यह है कि मनुष्य केवल जड-तत्त्वों का ही समवायस्वरूप नही है, अपितु उसमे अनन्त चेतना का ऐसा अखण्ड तत्त्व भी समाविष्ट है जिसका भौतिक तुला पर परीक्षण करना सर्वथा असम्भव-सा है। वस्तुत मनुष्य की जीवन-चेतना मे राग और बोध की विभिन्न वृत्तियो का ऐसा अद्भुत रासायनिक सम्मिश्रण है जिसका पार्थिव मूल्याकन किसी एक सीमा तक ही समीचीन कहा जा सकता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि मानव-मन की इन अनेकमुखी वृत्तियो का उभार विभिन्न कालो मे भिन्न-भिन्न रूपो मे संघटित होता चलता है। कालानुक्रम से कभी बोधवृत्ति का प्राधान्य मनुष्य को अधिक विचारक

और चिन्तनशील बनाकर उसे वैज्ञानिक और दार्शनिक की श्रेणी मे प्रतिष्ठित कर देता है तो कभी भाववृत्ति का प्रामुख्य उसे भावुक और कल्पनाशील बनाकर साहित्यकार और काव्य-रचयिता की कोटि मे ला रखता है। ऐसा भी देखा गया है कि बोध-वृत्ति के विश्लेषक दर्शन और विज्ञान मे भी मानव की भाव-प्रवणता के कतिपय अश अवश्य विद्यमान रहते है और भाववृत्ति के प्रकाशक साहित्य और काव्य मे भी विवेक-शक्ति की तत्त्व-सन्निहिति भी समाहित होती है। इतना ही नही, भाव-जगत के चित्रकार साहित्य मे भी मन की रस-सवेदना उसके रचनात्मक पक्ष-काव्य, नाटक, उपन्यास और कहानी आदि के रूप मे प्रतिफलित होती है तो उसकी भावक शक्ति का प्राधान्य उसके आलोचनात्मक पक्ष मे प्रादुर्भूत होता है। रचना और मीमासा का यह स्वरूप-सगठन सभी देशो के साहित्य मे न्यूनाधिक मात्रा मे समानान्तर गति के साथ विकसित होता हुआ चलता है, जिसका अभिप्राय यह है कि कभी भाव-प्रवणता के आधिक्य का युग उसकी रचनात्मक प्रक्रियाओ मे अभिवृद्धि कर देता है तो कभी विचार-सकुलता का बाहुल्य उसके समालोचनात्मक स्वरूप मे नवीन क्रान्ति के सचार का कारण बनता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रचना और समालोचना की प्रवृत्ति विश्व के समस्त समृद्ध साहित्यो मे प्राय. समानवर्ती रही है जिसे युगपत स्वरूप मे ग्रहण करना ही सर्वतोभावेन समीचीन है। भारत, चीन, ग्रीस, इटली, जर्मनी, फ्रास और इग्लेड आदि पूर्वी तथा पश्चिमी देशो का साहित्य-विधान इस कथन के प्रमाणस्वरूप उपस्थित किया जा सकता है। सुतराम् साहित्य और समालोचना एक ही मानव-मन की दो प्रक्रियाएँ सिद्ध होती है, जिनमे समन्वय की प्रवृत्ति निसर्गत अनुप्राणित समझी जानी चाहिए।

७. साहित्य और समालोचना जब दोनों एक ही मानव-मन की प्रक्रियाओ का अभिव्यजन है तो हमारे सम्मुख एक अन्य प्रश्न उन प्रक्रियाओ के विस्तारक्षेत्र का आता है। इसमे तो कदाचित् ही मतभेद हो कि साहित्य मानव-भावनाओ का रस-सवेद्य उद्गार है, किन्तु इस उद्गार के मूल मे जन-सामान्य-सुलभ साधारणीकरण का तत्त्व समाविष्ट रहने पर भी विभिन्न देशो के सास्कृतिक जीवन का बाह्य प्रभाव भी कम क्रियमाण नही होता। जिस प्रकार साहित्य जीवन से 'जलवीचिवत्' सम्पृक्त है, उसी प्रकार सास्कृतिक चेतना से भी, और सास्कृतिक चेतना के धरातल पर विभिन्न देशो की मान्यताओ मे न्यूनाधिक रीत्या अन्तर होता ही है। यही कारण है कि साहित्य के स्वरूप-निर्माण और समीक्षण प्रतिमान का निर्धारण विभिन्न देशो के मानसिक और सास्कृतिक स्तरो का पर्याप्त प्रभाव ग्रहण करने के उपरान्त ही होता रहा है। इसका एक प्रमाण तो यही है कि साहित्य का पारिभाषिक और लक्षणबद्ध विवेचन विभिन्न देश-कालों मे भिन्न-भिन्न विधियों मे हुआ है और उसकी रचनात्मक विधाएँ भी जीवन की अखड स्रोतस्विनी का अत: सलिल ग्रहण करती हुई भी अनन्त मोड लेकर अपने बाह्य धरातल पर प्रवाहित हुई है। इसका सबसे बडा निदर्शन है साहित्य की मीमासा विषयक उपलब्ध सामग्री। विभिन्न देशो मे ही क्यों, एक ही देश के विभिन्न कालो मे विवेचन का यह बहुरंगी स्वरूप अपना प्रभाव अकित करता हुआ प्रदर्शित हुआ है। इसकी पुष्टि के लिए साहित्य विषयक भारतीय और पाश्चात्य विचारधाराओं का दिग्दर्शनमात्र पर्याप्त होगा।

भारतीय दृष्टि से साहित्य का स्वरूप

८. भारतीय मनीषियो ने अपनी आस्तिकता के कारण साहित्य का स्वरूप-विवेचन करते समय कही उसका सम्बन्ध ईश्वरीय शक्तियों के साथ जोडा है तो कही इसे केवल शब्दार्थ स्वरूप ही माना है। यहाँ की परम्परा मे साहित्य की अपेक्षा काव्य शब्द अधिक ग्राह्य और प्रचलित रहा है और विभिन्न आचार्यों ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथो के प्रारम्भ मे उसका सूत्रबद्ध लक्षण निर्धारित कर कारिका अथवा भाष्य का प्रयोग करते हुए उसकी विवेचना की है। यद्यपि यहाँ के आचार्यों के विश्लेषण मे साहित्य शब्द का भी प्रयोग हुआ है किन्तु वह काव्य की अपेक्षाकृत न्यून रूप में है,

राजशेखर ने अपनी 'काव्य-मीमासा' मे काव्य की रचना और स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है कि "भगवान श्रीकठ शिव ने काव्य-विद्या का सर्वप्रथम उपदेश परमेष्ठी, बैकुण्ठ आदि चौसठ शिष्यो को दिया जिनमे से उनके प्रथम शिष्य स्वयम्भू ब्रह्मदेव ने इस विद्या का दूसरी बार उपदेश अपने मानसजात शिष्यो को दिया। इन्ही शिष्यो मे सरस्वती-पुत्र काव्य-पुरुष भी था, जिसको दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न तथा त्रिकालज्ञ जानकर ब्रह्माजी ने प्रजाहित की भावना से काव्य-विद्या-प्रवर्तन की आज्ञा दी। उसने अठारह अधिकरणो मे काव्य-विद्या का विभाजन कर अलग-अलग शिष्यो से अलग-अलग ग्रथरचना कराई।" इस प्रकार राजशेखर ने काव्य-विद्या का स्वरूप विवेचित कर अपने 'कवि रहस्य के अतर्गत शब्द और अर्थ के सहभाव से निर्मित विद्या को साहित्य-विद्या कहा है।[1] कुतक ने 'वक्रोक्तिजीवित' मे साहित्य का स्वरूप निर्धारित करते हुए बतलाया है कि काव्य की शोभा-शालिता के प्रतिशब्द और अर्थ की न्यून और आधिक्य से रहित कुछ अनिर्वचनीय मनोहर स्थिति ही साहित्य है।[2] इसी प्रकार श्राद्धविवेक,[3] शब्द-शक्ति प्रकाशिका[4] आदि ग्रथो मे भी साहित्य के स्वरूप निर्धारण का प्रयत्न मिलता है। विल्हण ने तो काव्य को साहित्य का अशभूत माना है।[5] मुकुल भट्ट[6] तथा मखक[7] ने साहित्य का विवेचन अपने दृष्टिकोण से किया है। किन्तु सच तो यह है कि कालातर मे काव्य की समता मे साहित्य शब्द अधिक विद्वद्प्रिय नही रहा, अतः साधारणतया काव्य-लक्षण को ही साहित्य का सामान्य लक्षण माना जा सकता है।

९ काव्य के स्वरूप और लक्षण का तो हमारे सस्कृत के आचार्यों ने अपने विभिन्न ग्रथो मे अत्यन्त व्यापक विवेचन किया है, जिनके आधार पर रसवाद, अलकारवाद, ध्वनिवाद, रीतिवाद और वक्रोक्तिवाद आदि साहित्यिक वादो की सृष्टि हुई है। क्षेमेन्द्र ने इन्ही वादो का तत्त्व ग्रहण कर 'औचित्य-विचार-चर्चा' की रचना की है। कहने के लिए तो कुछ विद्वानो की सम्मति मे अन्य वादो की भाँति औचित्य भी एक वाद है। किन्तु तत्त्वदृष्टि से देखा जाय तो वह कोई वाद न होकर काव्य-शास्त्र मे सतुलन लाने का एक सुन्दर विधान है। समीक्षा के इन विभिन्न वादो के विकास का विशेष विवेचन आधुनिक हिन्दी समालोचना के आदि स्रोत सस्कृत समीक्षा का विवेचन करते हुए किया जाएगा। यहाँ तो हमारे कहने का मूल मतव्य यही है कि यहाँ के आचार्यों ने विभिन्न दृष्टि-कोणो से साहित्य अथवा काव्य का विवेचन किया है जिनको आधार बनाकर काव्य-शास्त्र के क्षेत्र मे विभिन्न सिद्धान्तो की सृष्टि हुई है। इन विद्वानो मे जिन विद्वानो ने काव्य के लक्षण निरूपित किए है उनमे आचार्य भामह[8], दण्डी[9], वामन[10], पंडितराज जगन्नाथ[11], विश्वनाथ[12] और मम्मट[13] आदि प्रधान

---

१ 'शब्दार्थयोर्यायावत्सहभावेन पचमी विद्या साहित्य विद्या। साह्चितसृणामपि विद्याना निष्यन्द।'
राजशेखर : काव्य मीमासा, पृष्ठ ४

२ साहित्यमनयो शोभाशालितां प्रतिकाप्यसौ। अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥—कु तक
'वक्रोक्तिजीवित' १।७॥

३ परस्परसापेक्षाणा तुल्यरूपाणा युगपदेव क्रियान्वियित्वं साहित्यम।—रुद्रधर—'श्राद्धविवेक'. पृष्ठ १८।

४. तुल्यवदेक क्रियान्वयित्व वृद्धि विशेष विषयित्वम् साहित्यम्।—'शब्द शक्ति प्रकाशिका॥

५. साहित्यपाथोनिधिमथनोत्थ काव्यामृत रक्षत हे कवीन्द्रा. —विल्हणः 'विक्रमांकदेव चरित' १।११॥

६ व्याकरण मीमासा तर्कसाहित्यात्मकेषु चतुर्षु शास्त्रेषूपयोगात्।—मुकुल भट्ट—'अभिधावृत्ति मात्रिका' पृष्ठ २१।

७ बिना न साहित्यविदा परत्र गुणा कथश्चित् प्रथते कवीना। —मखक. श्रीकठचरित' २।१२॥

८. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् गद्य पद्य चतद्द्विधा
सस्कृत प्राकृत चान्यदपभ्र शे गति त्रिधा॥ भामह-'काव्यालकार' १।१६॥

९. तै.शरीर च काव्यानाम लकाराश्च दर्शिता। शरीर तावदिष्टर्थ व्यवच्छिन्ना पदावली॥ 'काव्यादर्श' १।१६।

१०. अलकार एव काव्यम्। काव्य ग्राह्यमलकारात्॥ 'काव्यालकारसूत्रवृत्ति' ॥ १,१,१॥

११. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्द. काव्यम्। 'रसगगाधर'॥

१२. वाकय रसात्मक काव्यम्॥ विश्वनाथ साहित्य-दर्पण ॥ ;

१३. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृती पुन क्वापि। मम्मटः 'काव्य प्रकाश.'।

हैं। इनके ग्रथों मे काव्य-लक्षण के अतिरिक्त काव्य-भेद, काव्य-साधन, काव्य-हेतु या काव्य-प्रयोजन काव्य-रीति काव्य के अंग, काव्य-रचना और स्वरूप, कवि-प्रतिभा और आलोचक-प्रतिभा, काव्य मे रस, गुण, अलंकार, ध्वनि, रीति और वक्रोक्ति आदि की स्थिति ; काव्य-दोष, शब्द-शक्तियाँ, काव्य-औचित्य और काव्य-वृत्तियाँ आदि विभिन्न विषयो का भी विवेचन हुआ है। संस्कृत वाड्मय के परवर्ती काव्यशास्त्र मे भी काव्य-शास्त्र का व्यापक विवेचन हुआ है, जिसकी परम्परा आधुनिक युग तक चली आई है। यदि उन सबका विश्लेषण किया जाए तो काव्य-लक्षण-निरूपण ही एक महान् ग्रथ का रूप धारण कर सकता है। अत: अपने मूल विषय का ध्यान रखते हुए यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि साहित्य और काव्य का जो भारतीय साहित्य में निरूपण हुआ है वह मूलत. आदर्श-वादी और लोक-कल्याणकारी है और तत्त्व-दृष्टि से "साहित्य के अतर्गत वह सारा वाङ्मय लिया जा सकता है जिसमे अर्थबोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कार-पूर्ण अनुरजन हो तथा जिसमे ऐसे वाड्मय की विचारात्मक समीक्षा या व्याख्या हो[1]।" इस प्रकार साहित्य का एक स्वरूप निर्धा-रित करते हुए भी हम इस तथ्य की उपेक्षा नही कर सकते कि जिस प्रकार उसका स्वरूप विवेचन करते समय विभिन्न आचार्यों के जिस प्रकार के दृष्टिकोण रहे हैं, उसी प्रकार उन्होने अपनी समा-लोचनाओ को भी गतिविधि प्रदान करने की चेष्टा की है।

पाश्चात्य दृष्टि और साहित्य-विवेचन

१०. अंग्रेजी भाषा में साहित्य शब्द का पर्यायवाची शब्द 'लिटरेचर' है। उसका प्रयोग वहाँ सकुचित तथा व्यापक इन रूपों मे किया जाता है। व्यापक अर्थ मे उस भाषा मे 'लिटरेचर' के अन्तर्गत वह सारी सामग्री आ जाती है जो मुद्रित पुस्तकों के रूप मे है। यहाँ तक कि विधि-ग्रन्थो तथा विज्ञान विषयक सामग्री से लेकर औषधियो के पर्चे तक 'लिटरेचर' के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिए जाते हैं।[2] वस्तुतः इस अर्थ से हमारा अभिप्राय सिद्ध नही होता। हाँ, वहाँ साहित्य को संकुचित अर्थ में ग्रहण करने की जो परम्परा है, वह अधिक उपयुक्त है। इस अर्थ मे साहित्य के अन्तर्गत केवल कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध तथा ललित-कलाओ का समावेश किया जाता है।[3] साहित्य शब्द को लेकर वहाँ के विचारको ने भी अत्यन्त व्यापक विवेचन किया है। डी. क्वेसी ने 'ज्ञान का साहित्य' तथा 'शक्ति का साहित्य' नामक साहित्य के जो दो विभाग किए हैं, उनका समाहार राजशेखर द्वारा विवेचित वाड्मय के दो भेदो—शास्त्र और काव्य' के अतर्गत किया जा सकता है। अभिप्राय यह है कि भारत की भाँति पश्चिमी देशो मे भी साहित्य का विवेचन वहाँ के मानसिक और बौद्धिक स्तरो के अनुरूप हुआ है। प्लैटो, अरस्तू, लोजाइनस आदि से लेकर हडसन, मैथ्यूआर्नल्ड, डाक्टर जानसन, रिचर्ड्स, ब्रैडले, जेम्स स्काट आदि साहित्य-मीमासको ने अपनी-अपनी मानसिक उद्धरणी साहित्य विश्लेषण के प्रसग मे दी है। न्यूमैन ने यदि 'साहित्य को मनुष्य के विचारों और उसकी भावनाओ तथा कल्पनाओं का अभिव्यंजन' कहा है तो श्लेजेल उसे 'किसी जाति के मानसिक जीवन का सर्वांगीण सत्व' निर्दिष्ट करता है। इसी प्रकार मनोविश्लेषणवादी फ्रायड के अनुसार 'साहित्य हमारी अभुक्त कामवासनाओ का उदात्तीकृत विस्फोट' है, तो युग के अनुसार वह 'अचेतन मन से आई हुई प्रतिमाओ का चेतन आदर्शों के लिए प्रयोगमात्र है। इतना ही नही, एक ही देश और काल के समालोचको की विचार-धाराओं मे साहित्य के स्वरूप-विवेचन विषयक इतना अधिक वैषम्य मिलता है जिससे कभी-कभी

---

१. प० रामचन्द्र शुक्लः चितामणि दूसरा भाग, तृतीय आवृत्ति संवत् २०१० वि० पृष्ठ १५६.

२ 'द आक्सफर्ड डिक्शनरी, खड ६ पृष्ठ ३४२-४३.

३. 'द न्यू ग्रेसम इनसाइक्लोपीडिया, खड ७, पृष्ठ २१६.

ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वे साहित्य का शल्य-प्रयोग द्वारा स्वैरवादी विश्लेषण करने मे जैसे किसी भी प्रकार की कोई अनिष्ट भावना ही नही पाते। इसका एक दुष्परिणाम कभी-कभी साहित्य के मूल मे विद्यमान सम्मिलित अथवा 'साहित्य भाव' को क्षत-विक्षत करना मात्र भी हो जाता है। ऐसा भी देखा गया है कि अनेक बार राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्थाएँ अपना प्रभुत्व प्राप्त कर साहित्य को ऐसे अनेक दलगत प्रवादो का अभिलक्ष्य बनाने मे किसी प्रकार की कोई आपत्ति नही समझती, जिससे साहित्य के रचनात्मक और आलोचनात्मक क्षेत्रो मे विलक्षण प्रकार की जटिलता और विघटनकारिता का समावेश हो जाता है। निश्चय ही साहित्य के स्वरूप-निर्धारण मे इन विभिन्न लक्षणो का उपयोग अवश्य है, किन्तु जब इनके द्वारा समीक्षा के प्रतिमान भी अनेक प्रकार की रूढियो से सग्रस्त बना दिए जाते है तो समीक्षा-क्षेत्र मे ऐसे अनेक प्रवादो की सृष्टि हो जाती है जिनके द्वारा सत्साहित्य का परित्राण एक जटिल समस्या बन जाती है। साहित्य के अर्थ-ग्रहण का यह वैभिन्न्य समालोचना को भी बहुमुखी मानदण्ड प्रदान करता है और उसकी मूलचेतना अनेक बार परमुखापेक्षी भिक्षुणी की भाति विकलाग होकर विभिन्न प्रवादो के द्वार पर याचना करने लगती है। इस प्रकार की स्थिति साहित्य-समालोचना के विकास-पथ मे एक बहुत बडा व्यवधान है। अत यथासम्भव साहित्य का जीवनगत विशद् स्वरूप लेकर ही उसके निर्माण तथा उद्भावन का प्रयास करना सर्वाशिन शोभनीय है।

साहित्य-समालोचना का विशुद्ध स्वरूप

११ हमारे विवेचन के इसी प्रसग मे एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह आता है कि जब जीवन की जटिलता और सकुलता की भाँति साहित्य-समालोचना का क्षेत्र भी अत्यन्त दुरूह और अगाध है, तो उसे किस रूप मे ग्राह्य समझा जाए? इसका सामान्य उत्तर यही है कि जीवन की ही भाँति साहित्य-समालोचना भी अनन्त और बहुमुखी है, किन्तु यह कोई भयावह और अनिष्टकारी वस्तु नही है। वस्तुत. उसका प्रवाह तो अत्यन्त निर्मल और चिरन्तन है, किन्तु यदाकदा विभिन्न श्रेणी के वाद-प्रवादो के झाड-झखाड अथवा साम्प्रदायिक दलबन्दी के पकिल-स्रोत उसमे जीवन् नाशक कृमि उत्पन्न कर देते हैं। अत यथासम्भव इक सकीर्ण गत्यवरोधो से दूर रह कर ही साहित्य को उसके ऐसे विशुद्ध स्वरूप मे ग्रहण करना श्रेयस्कर है जो हमे आत्मचेतना और जीवन्त शक्ति प्रदान कर सके। जिन देशो ने साहित्य के ऐसे जीवनप्रद स्वरूप को ग्रहण किया है, वे ही अपना वास्तविक अभ्युत्थान कर सके है। सुतराम् यह आवश्यक है कि साहित्य का जीवनगत ग्रहण उसके मानसिक सगठन की दृढता और भावभूमि की व्यापकता के अनुरूप हो और उसका रूपदर्शन कराने वाली समालोचना भी उसी के अनुकूल मानव-सवेदनाओ के अधिकाधिक पवित्र विश्लेषणो और निष्पक्ष निरूपण से प्रवृत होकर चले। किसी देश के साहित्य मे जिस समय ऐसी स्थिति होती है, उस समय वहाँ की साहित्य-समालोचना का जीवनगत महत्त्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है और फिर साहित्य की सकीर्णता अथवा उसके द्वारा विशेष परिस्थितियो मे होने वाले अहित की कोई सम्भावना नही रहती।

१२. यही पर एक अन्य प्रश्न साहित्य और समालोचना के प्रकृत स्वरूप-निर्धारण का आता है। यदि इस विषय मे विद्वानो के तर्क-वितर्क और ऊहापोहो का लेखा-जोखा किया जाय तो उस विषय का एक स्वतत्र ग्रन्थ प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में उसके विवेचन की जटिलता मे न उलझ कर हमारे लिए यही समुचित है कि हम साहित्यिक समालोचना के केवल सर्वग्राह्य अथवा बहुग्राह्य स्वरूप को ही स्वीकार करते हुए चले, जिसकी प्राणधारा प्रत्येक देश और काल के साहित्य मे सदैव विकासोन्मुख रही है। इस प्रकार के विवेचन को प्रतिमान बनाकर ही हम यह समझ सकेंगे कि हिन्दी साहित्य मे भी आधुनिक युग-चेतना के

साथ-साथ समालोचना की जो प्रवृत्ति विकसित हुई है, वह किन-किन अशो मे मौलिक और विश्वजनीन है और उसमे कहाँ-कहाँ ऐसे मोड है, जिन्होने उसे नूतन दिशा की ओर उन्मुख किया है। साथ ही साथ इस विवेचन द्वारा हम यह भी ज्ञात कर सकेगे कि इस विकास मे भारतीय और पश्चिमी प्रभावो की सहिति भी किस प्रकार का आकार-प्रकार धारण कर उद्‌भूत हुई है।

समालोचना का अर्थ और उसका क्षेत्र

१३ समालोचना क्या है और उसका जीवन-दर्शन तथा साहित्य-साधना में क्या महत्त्व है, इसका विश्लेषण प्रत्येक देश और काल के विचारको का अत्यन्त रुचिप्रद विषय रहा है। अपने अपने युग-स्तर और मानसिक सस्थान के अनुरूप उसका स्वरूप-विवेचन प्रत्येक देश के भाषा-साहित्य मे हुआ है जिसमे विशिष्ट विशेषताओ अथवा एकागी न्यूनताओ का भी सम्मिश्रण है। ऐसा भी देखा गया है कि विभिन्न देशो मे स्थान और दूरी का व्यतिक्रम होने पर भी इनके विवेचन मे जीवनोद्‌भूत मौलिक सत्य का अखड एकत्व और मानवीय प्रवृत्तियो का नैसर्गिक प्रस्फुरण भी समान विधि से उच्छलित हुआ है और सभी विचारक एक ही तत्व-बिन्दु की ओर अग्रसर होते हुए चले है। साथ ही साथ देशकाल की परिवर्तनशील भौतिक परिस्थितियो और विचारधाराओ के ऊहापोहो ने अनेक बार विचारको के मस्तिष्क और मान्यताओं मे ऐसे झझावात भी उत्पन्न कर दिए है, जब वे सत्योपलब्धि से दूर हटकर केवल अपना पूर्वाग्रह निभाने के लिए ही विवेचना को मूल उत्स बनाकर चलते रहे है। ऐसी परिस्थिति मे इन विषयो का व्यापक एवम् गम्भीर अध्ययन यदा-कदा हमें एक विचित्र भ्रान्तिपूर्ण जटिलता मे प्रक्षिप्त कर देता है और हमारा मन असंयत बनकर अपना सन्तुलन तक खोने लगता है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि विवेचन के इस अनन्त एव अगाधसागर से हम ऐसे तात्विक रत्न-कणो का सचयन करे जो सार्वभौमिक विधि से जीवन, साहित्य और समालोचना के समन्वय की अभिव्यक्ति कर सकें। अत मैंने इनके स्वरूप को विश्वजनीन व्यापक धारणाओ के अन्तर्गत समाविष्ट कर उसे भारतीय विचारबिन्दुओं के अधिक निकटवर्ती रूप मे देखने का प्रयास किया है, जो जीवन की व्यापक संवेदना और तत्त्वानुभूति को प्राणस्थ कर चला है और जिसमे एकदेशीयता की कृत्रिम परिधि अथवा सीमा का संयोजन नही है।

१४. 'समालोचना' मूलत: सस्कृत भाषा का शब्द है, जो हिन्दी भाषा-साहित्य मे अपने मूल अर्थ के अनुरूप ही तत्सम विधि में ग्रहण किया गया है। इसके मूल मे 'लुच्' धातु है, जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'देखना'। चूकि यह धातु 'नदग्रहपचादि' धातु-समूह के अन्तर्गत है, अतः पाणिनीय व्याकरण के अनुसार उसके आगे 'ल्यु' प्रत्यय लगता है। 'ल्यु' के आदि व्यजन 'ल्' का लोप होने से केवल 'यु' शेष रह जाता है, जिसके स्थान पर 'अन्' आदेश होने से धातु की उपधा का गुण होकर 'लोच्' बनता है, जिसमे 'अन्' जोडने से 'लोचन' शब्द की सिद्धि होती है। 'लोचन' शब्द नेत्रवाची संज्ञा शब्द है, जिसका प्रयोग नेत्रेन्द्रिय के रूप मे बराबर किया जाता रहा है। वस्तुत: 'लोचन' शब्द ज्ञान का भी प्रतीक है और इसमें अत.करण और वाह्यकरण दोनों ही प्रकार की शक्तियो का समन्वय करने की साहित्य-दर्शन के क्षेत्र मे एक सुदीर्घ परम्परा रही है। 'लोचन' के पूर्व जब 'आङ्' उपसर्ग जोड़ दिया जाता हैं तो उससे अभिविधि या मर्यादा का बोध होता है। 'ङ्' का लोप होने से केवल 'आ' वर्ण शेष रहता है, जिसे 'लोचन' के पूर्व जोड़कर 'आलोचन' शब्द की सिद्धि की जाती है। इसी 'आलोचन' शब्द के पूर्व 'सम' उपसर्ग जोडने और अंत मे 'टाप्' प्रत्यय लगाने से 'समालोचना' शब्द बनता है, जिसका व्युत्पत्तिलभ्य शब्दार्थ हुआ 'किसी वस्तु अथवा विषय को सम्यक् प्रकार से विधिपूर्वक देखने की प्रवृत्ति।'

१५. 'समालोचना' शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार तो उसका क्षेत्र अनन्त और अपार है।

उसके अन्तर्गत जीवन और जगत् की परिधि मे आने वाले ब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त समस्त विषयो और वस्तुओ का समावेश किया जा सकता है। इतना ही नही, विशिष्टता की दृष्टि से प्रत्येक चेतना-सम्पन्न व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह अपनी मान्यताओ और आस्थाओ के अनुरूप स्थूल और सूक्ष्म विषयो का विवेचन करे। ज्ञान-विज्ञान और साहित्य-दर्शन की सूक्ष्मतम शाखा-प्रशाखाओ से लेकर भौतिक और अधिमानसिक विचारणाओ का समन्वय देशकालावच्छिन्न बनकर इसमे अन्तर्भूत हो सकता है। इस दृष्टि से तो "समालोचना" शब्द को किसी सीमा मे आबद्ध करना हमारे लिए असम्भव-सा हो जाता है, किन्तु हमारा अभिप्राय उसे इतना व्यापक स्वरूप प्रदान करना नही है। हमारा आशय तो उसे साहित्य के साथ सयुक्त कर केवल यही तथ्य ग्रहण करने से है कि साहित्य की परिधि मे समालोचना-विधि जिन रूपो और प्रकारो मे प्रयुक्त होती रही है, वह क्या है और आधुनिक हिन्दी साहित्य मे उसका जिन अर्थो मे सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विकास हुआ है, वह किस श्रेणी का है ? यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि वैसे तो साहित्य और कला की भाँति समालोचना भी तात्विक दृष्टि से एक अखड अभिव्यक्ति है और उसका श्रेणि-विभाजन अथवा पद्धति-निरूपण केवल औपचारिक मात्र है, किन्तु साथ ही साथ अपने अध्ययन को वैज्ञानिक और सुविधाजनक बनाने के लिए यह भी आवश्यक है कि उसका व्यावहारिक विधि से विभाजन भी कर दिया जाय। इस विभाजन के अनन्तर भी हमे इस तथ्य को कदापि विस्मृत नही करना है कि समालोचना भी रचनात्मक साहित्य की भाँति मानव-मन की एक स्वाभाविक क्रिया है और उसे सदैव जीवन और साहित्य के साथ अपेक्षित सम्मिलन मे ही स्वीकार कर चलना श्रेयस्कर है। ऐसा न करने पर अनेक प्रकार के अपकर्षपूर्ण लक्षणो के सगठन की सम्भावनाएँ सदैव बनी रहती हैं।

साहित्यालोचन के विभिन्न दृष्टिकोण और उनका दायित्व

१६. जब हम साहित्य और समालोचना को अनन्यभाव से सम्बन्धित कहते हैं तो उसका अभिप्राय यही है कि दोनो मे अनेक दृष्टिकोणो से साम्य रहता है। किसी भी साहित्य का समालोचक अपने कार्यक्षेत्र मे प्रविष्ट होने के पूर्व अपनी साहित्य-विषयक धारणा का निर्धारण करता है और तदुपरान्त ही अपने समालोचना-सिद्धान्तो की अवतारणा करते हुए आलोच्य कृति पर अपना मंतव्य प्रकट करता है। यदि किसी समालोचक का दृष्टिकोण साहित्य को नैतिक और शिक्षाप्रद विधान मे ग्रहण करने का होता है, तो वह सर्वत्र उन्ही के आधार-सूत्रों का प्रयोग अपने विवेच्य साहित्य पर अन्वेषित करता हुआ चलता है और यदि वह साहित्य-प्रक्रिया को केवल सौन्दर्यपूर्ण अतिरजना अथवा भावगत मनोहारिता की दृष्टि से ही देखने का अभ्यासी है तो उसे केवल अपनी विवेच्य कृति मे इन्ही तत्त्वो का अनुसधान अभीष्ट होता है। इसी प्रकार कतिपय समालोचक साहित्य को प्रबन्ध, मुक्तक-वृत्ति, भाषा-सौष्ठव और कल्पना-चातुर्य आदि प्रतिमानो से समीक्षित करना अधिक ग्राह्य समझते हैं। इन समस्त दृष्टि-बिन्दुओ के आधार पर ही उनका सैद्धान्तिक और प्रयोगगत साहित्यालोचन चलता है, जिसका अभिप्राय यह है कि यदि उन समालोचको को आलोच्य कृति मे अपने मतानुरूप तत्वोपलब्धि नही होती तो वे उसके विपक्ष मे अपना निर्णय देने मे किसी भी प्रकार का कोई सकोच नही करते। यह स्थिति वस्तुत शोभनीय नही है, क्योकि उसमे सत्य का व्यापक स्वरूप ग्रहण करने की अपेक्षा उसके केवल एक अश को ही ग्रहण करने का मनोभाव अधिकाश मात्रा मे पाया जाता है।

१७ उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जिस प्रकार साहित्य के स्वरूप-विधान को अपने मानसिक सस्थान के अनुसार ग्रहण करने वाले रचनात्मक साहित्यकार अपनी मनोवृत्तियो का उत्कट दायित्व सहेज कर साहित्य-सर्जना मे प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार उसके समालोचक भी अपने दृष्टि-पथ से ही उसका समीक्षण करते है। यदि दोनो के मत-विधान मे किसी प्रकार का वैषम्य न हो तो

परिस्थिति मे अनुकूलता की सम्भावना बनी रहती है, अन्यथा साहित्यकार और समालोचक को भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ वीणापाणि के पुनीत मंदिर मे विचित्र समस्याओ का उन्मेष कर देती है। वस्तुतः इस स्थिति मे समालोचक का दायित्व पूर्ण रूप से निभ नही पाता। इसका यह अभिप्राय भी नही कि कोई समालोचक किसी कृति का मूल्यांकन करते समय उसके प्रभाव से उतना अधिक आक्रान्त हो जाय कि उसमे तथ्यातथ्यग्राहिणी प्रज्ञा का लोप ही हो जाए। इसका मूल मंतव्य तो यही है कि समालोचको मे एक ऐसी अतर्दृष्टि अवश्य रहनी चाहिए जिसके द्वारा वे किसी भी कृति अथवा रचनाकार की समालोचना करते समय उसके मूल दृष्टिकोण और मानसिक सविधान को अवश्य समझ सके और साथ ही साथ समालोच्य विषय के प्रति उनकी सद्भावना अथवा स्वस्थ सहानुभूति भी हो। यदि अपनी अपेक्षित भावक शक्ति की उपेक्षा कर कोई समालोचक किसी कृति के समीक्षण मे छिद्रान्वेषी दृष्टिकोण अथवा द्वेषपूर्ण मनोवृत्ति से प्रस्तुत होगा तो उसके द्वारा उस की वास्तविकता का परीक्षण कदापि नही किया जा सकेगा। ऐसी ही समालोचनाओ को 'पूर्वाग्रह दंशित' समीक्षा-प्रणाली की सज्ञा से अभिहित किया जाता है और इन्ही के प्रसार से साहित्य का प्रतिमान व्यर्थ के दलदल मे फसकर श्रीहीन तक बन जाया करता है।

पाश्चात्य दृष्टि में साहित्य-समीक्षा

१८　भारतीय साहित्य की भाँति पश्चिमी साहित्य शास्त्र मे भी समालोचना के स्वरूप, क्षेत्र, प्रयोग तथा मूल्याकन आदि पक्षो के सम्बन्ध मे विभिन्न विचारको ने अपनी युग-परिस्थिति तथा मान्यताओ के अनुरूप विशद विवेचना की है, जिससे यह सहज ही आभासित हो जाता है कि उन विश्लेषको का इस क्षेत्र मे कितना अधिक अतःप्रवेश था। किसी ने समालोचना को "जीवन अनुभूतियो के विवेचन का प्रयास कह कर उनका मूल्याकन करना उसका प्रधान कार्य"[१] बतलाया है तो किसीने इस बात पर जोर दिया है कि समालोचना का केवल कला-कृति से ही निरपेक्ष सम्बन्ध नही, अपितु वह रचनाकार की प्रेरक शक्तियो और उसकी रचना-प्रक्रियाओ के विविध अगों का भी विश्लेषण[२] करती है। एक विचारक के अनुसार तो उस साहित्यिक समीक्षा का कोई मूल्य नहीं जो जीवन-परिवेश से अलग होकर चले क्योकि उसका वास्तविक कार्य तो लेखक की रचना मे अभिव्यक्त जीवन-सत्य के स्तर तथा गुण का ही परीक्षण करना होता है।[३] समालोचना का साहित्य के विविध अंगों का परीक्षण करने मे किस प्रकार प्रयोग हो, इस पर भी पाश्चत्य विद्वानो ने विवेचन किया है। ऐसा करते समय उनके सामने पाश्चात्य जीवन-दर्शन और साहित्य-ग्रन्थो की वह व्यापक परम्परा और उपलब्धि भी रही है, जिसके मेरुदण्ड पर वहाँ की सस्कृति का निर्माण हुआ है। एक समय था जब इन विचारको ने नैतिक मूल्यो को काव्य-परीक्षण मे बहुत ऊँचा स्थान दिया था, किन्तु शनैः-शनैः वह महत्त्वहीन होता गया। जीवन के परिवर्तित दृष्टिकोण ने स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन के साथ अपना स्वर मिलाकर बौद्धिक चेतना के तर्कपूर्ण विकास द्वारा जहाँ राजनीति और अर्थनीति की भाँति साहित्य-क्षेत्र मे भी प्रभुत्व जमाया अवश्य, किन्तु उससे साहित्य-मूल्याकन के स्वतन्त्र प्रतिमान भी नष्ट नही हुए। कहने की आवश्यकता नही कि इन प्रतिमानो मे नीति-आचार की अपेक्षित सत्ता स्वीकार कर समालोचकों के मूल्याकन के सम्बन्ध को आई० ए० रिचर्डस द्वारा अधिक शालीनता के

---

१ I. A Richards—*Principles of Literary Criticism* 14th Impression, 1955. Preface page 2.

२. Herbert Reed—*Collected Essays in Literary Criticism* Second Edition, 1950; page 17.

३. A. C. Ward—*Twentieth Century Lterature.* Third Edition, 1956; page 212.

साथ व्यक्त किया गया।[1] हाँ, कुछ ऐसे आलोचक भी हुए जिन्होने साहित्य की समाज-सापेक्ष सत्ता सिद्ध कर उसका मानदण्ड केवल सामाजिक-प्रक्रियाओ को प्राथमिकता प्रदान करते हुए निर्धारित किया।[2] इसी प्रकार कलात्मक सौन्दर्य और मनोविश्लेषणवादी तत्वो से भी वहाँ समालोचनाएँ लिखी गईं। वस्तुत. पश्चिम के ये प्रतिमान आधुनिक समालोचना के मूलाधार है और इनका स्वरूप गठन विभिन्न दृष्टिकोणो से हुआ है, अतः आधुनिक समालोचना के परीक्षण मे इनकी उपेक्षा नही की जा सकती।

समालोचना में स्वच्छंद दृष्टि और उसका संतुलन

१६ साहित्य और समालोचना इन दोनो के लिए यह आवश्यक है कि उन पर किसी प्रकार का अवैध नियंत्रण न हो तथा उन्हे जीवन की ही भाँति उन्मुक्त रखकर विकसित होने का पूर्ण अवसर दिया जाय। इस कथन का यह अभिप्राय कदापि नही है कि उनमे मानवोचित भावभूमि को तिलाजलि देकर उच्छृखलता के नाम पर अनर्गल प्रलाप हो, किन्तु जहाँ तक भावो की विशुद्ध सस्थिति का प्रश्न है, वे बिना किसी प्रकार के प्रतिबन्ध अथवा दबाव से निष्पन्न किये जाएँ। बात यह है कि जब साहित्यिक कृतियाँ मनुष्य की उदात्त भावराशि की अभिव्यक्ति मात्र हैं तो उनका पारखी समालोचना-साहित्य भी वैसा ही जीवन्त और रस ग्राही होना चाहिए। काव्य-कला आदि की भाँति जब उसको भी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और साप्रदायिक दलबंदियो मे यन्त्रणाग्रस्त बनाकर पंगु बना दिया जाता है तो उसके मूलभूत जीवन-सत्वों का रस परिशुष्क होने लगता है, जिसके कारण उसकी चेतना जड बन जाती है। अतः यह आवश्यक है कि जीवन के अनुरूप ही साहित्य-समालोचना के विशाल परिवेश मे इस विषय का पर्याप्त अवकाश हो कि वह सिद्धान्तो के शुष्क जाल मे ग्रस्त होकर अपनी जीवन-शक्ति न खो बैठे, अपितु उसके द्वारा सत्साहित्य के नूतन विधान एवम् सृजन की व्यापक प्रेरणा भी प्राप्त हो सके। वस्तुतः समालोचना का निकष देशकाल की परिसीमाओ के कृत्रिम बन्धनो से विमुक्त और मानव-मनोभावो के उच्च धरातल के अधिक अनुकूल रहना चाहिए, जिससे सत्साहित्य की अभिवृद्धि और भावनाओ के रागात्मक प्रसार तथा परिष्कार की अधिकाधिक सभावनाओ के अपेक्षित अवसर रह सके।

२०. वैसे तो समालोचना की प्रक्रिया तथा क्षेत्र के विषय मे सहस्रो वर्षों से भारतीय और पाश्चात्य जगत् मे परम्पराभुक्त विवेचन हुआ है और विचारको की जीवनदृष्टि अनेक रूप-रगो का सयोजन कर साहित्य, काव्य तथा अन्यान्य कला-कृतियो के सम्बन्ध मे विभिन्न मान्यताओ से अपने प्रतिमान निर्धारित करती रही है, किन्तु उनसे जिस सारभूत तत्त्व की उपलब्धि हुई है, वह केवल यही है कि समालोचना भी साहित्य की भाँति जीवन की ही एक अनुभूति है जिस मे बोधपक्ष अधिक उभरा हुआ और रागपक्ष कुछ दबा हुआ रहता है। ऐसा भी देखने मे आया है कि अनेक समालोचक किसी भाव-प्रवण कवि से कम भावुक नही होते और वे किसी भी काव्य-कृति की समीक्षा करते समय स्वयं उसमे आत्मविभोर बनकर एक नवीन भावमय काव्य की सी सृष्टि कर डालते हैं, किन्तु उस प्रवृत्ति को साहित्यालोचन की सर्वग्राह्य पद्धति का अधिकार नहीं दिया जा सकता, भले ही प्रभाववादियो को यह विधान समालोचना का कितना ही सुष्ठु प्रयास क्यों न लगे। बात यह है कि समालोचना को कोई कुछ भी क्यो न कहे, किन्तु है वह विवेचना ही, जिसमे रचना, व्याख्या और निर्णय की प्रवृत्ति रहना परम स्वाभाविक[3] है। यही कारण है कि जीवन की राग और बोधवृत्तियो की भाँति

१ I A. Richards—*Principles of Literary Criticism.* "The critics concern with value' page 34

२ T. S. Eliot—*The use of Poetry and the use of Criticism* page 64

३. W H. Hudson—*An Introduction to the study of Literature,* Second Edition, 1913, page 267.

जब साहित्य और समालोचना भी किसी एक पूर्ण इकाई के दो अविच्छेद्य अग है, तो समालोचक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने समीक्षा-कार्य मे कलाकार के व्यक्तित्व, उसकी जीवन-विषयक अनुभूति, काव्य-कृति के साथ रचयिता के व्यक्तित्व का समाहार, कलाकृति की सार्वजनीन प्रेषणीयता, भावों की चित्रोपमता तथा कलाकृति का उसके मानस-पटल पर पडने वाले प्रभाव आदि अवश्य अंकित करे। स्पष्ट है कि जिस प्रकार काव्यकार आत्मझंकृति का 'उन्मन गुजन' अपनी रचनाओ के रूप मे प्रस्तुत कर आत्मसंतोष-सा पा लेता है, उसी प्रकार उसका भावक समालोचक भी जीवन के व्यापक प्रतिमानो से उसका समालोचन कर अपने दायित्व से मुक्त हो जाता है। अत· यह आवश्यक है कि रचनात्मक साहित्य की भाँति समालोचना का अपेक्षित महत्त्व सत्साहित्य की सवर्धना मे समझा जाय, जिससे उसके समुचित आदर्श का परिपालन हो सके।

समालोचना-क्षेत्र के प्रतिवर्तन और चिरंतन भाव

२१ साहित्य और जीवन की भाँति समालोचना के क्षेत्र मे भी अनेक प्रकार की क्रिया-प्रतिक्रियाएँ चलती रहती है। यदि इनका सतुलित रूप मे निर्वाह होता रहे तब तो फिर भी ठीक है, अन्यथा उनकी एकागिता और अतिरेकता से बहुधा विकास के स्थान पर ह्रास का वातावरण बन जाता है। इसमे तो कोई सदेह नही कि जीवन का घात-प्रतिघात साहित्य और समालोचना मे भी प्रतिबिम्बित होता है और वस्तुतः जीवन की गतिशीलता में उनकी अपेक्षित वाञ्छनीयता भी है, किन्तु जब उन्हे मति-विभ्रम के आवर्तन मे उलझा दिया जाता है, तो वे निश्चय ही अनिष्टकारी बन जाते है। माना कि किसी भी क्रिया की प्रतिक्रिया स्वाभाविक है किन्तु वह ध्वसात्मक प्रवृत्ति के स्थान पर सर्जनशीलता से सम्मिलित होनी चाहिए, अन्यथा वह साहित्यालोचन के लिए भस्मासुर का वरदान ही सिद्ध होगी। उसका सौष्ठवपूर्ण स्वरूप तो इसी में है कि प्रतिक्रियावादी शक्ति सर्वत्र सृजनशील समन्वय की विचारणा लेकर चले और उसमे व्यापकता का अभाव न हो। जब हम काव्य-साहित्य को हमारे अक्षय भावकोष अथवा मानस-लोक की ही सरस अभिव्यक्ति मानते हैं तब तो यह और भी अनिवार्य हो जाता है कि हम इस विषय मे विशेष सतर्कता से काम लें। राजनीति, अर्थशास्त्र और समाज-विज्ञान के क्षेत्र मे क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रतिकूल स्वरूप भले ही कुछ दिन पनप सके, किन्तु साहित्य-विधान मे तो उसके लिए अत्यल्प अवकाश है। अत इस क्षेत्र मे प्रतिगामिता की विरोधी शक्ति अत्यल्प आस्था के साथ ग्रहण की जानी चाहिए, अन्यथा साहित्य और उसके विवेचन का लक्ष्य ही भ्रष्ट हो जायगा। यह स्वाभाविक है कि हम अपने आपको वर्तमान राजनीति और विश्वजनीन क्राति-भावना से तटस्थ नही रख सकते और उनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव हमारे मानस-पटल पर निसर्गतः रहता है, किन्तु उनके आगे साहित्य का वैशिष्ट्य एव व्यक्तित्व हतप्रभ बना दिया जाय, यह कोई शोभनीय बात नहीं है।

२२. उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य और समालोचना में युग-परिस्थितियो की अपेक्षा चिरन्तन प्रवृत्तियो का अधिक महत्त्व है, किन्तु यदि हम केवल सनातन आदर्शों और प्रतिमानों का पल्ला पकड कर ही बैठ जाएँ तो भी अनेक प्रकार की समस्याओ का प्रादुर्भाव हुए बिना नही रहता। इसमे कोई संदेह नही कि जीवन की शाश्वत संवेदनाएँ साहित्यकार के मानस-जगत् मे अवतीर्ण होकर ही उससे साहित्य-निर्माण कराती हैं, किन्तु उन्हे केवल विशुद्ध भावो में ग्रहण करने से ही काम नहीं चलता। बात यह है कि साहित्य के लिए भाव-जगत् का चरम महत्त्व है, किन्तु उसमे उस परिवेश या वातावरण की भी अवहेलना नही की जा सकती, जो विभिन्न देशों और युगों को एक दूसरे से भिन्न सिद्ध करते हैं। यह हो ही नहीं सकता कि युग-विशेष के प्रभाव से परिवर्तित होने वाली जीवन-आस्थाओ मे अतर आने पर साहित्य की शाश्वत वृत्तियो के चित्रण मे भी औपचारिक भिन्नता न आवे। जीवन विषयक यह प्रतिमान भौतिक, अधिमानसिक, नैतिक, बौद्धिक और सास्कृतिक दृष्टियों

के कारण भी परिवर्तित होता रहता है। एतदर्थ यह आवश्यक है कि समालोचन-कार्य मे प्रवृत्त होने के पूर्व हमारी दृष्टि उनकी ओर भी जाय। जो समालोचक केवल स्थायी भावो पर आश्रित साहित्य-शास्त्र की रस-परम्परा को ही अपनाकर चलते है और उसमे आधुनिक मनोविज्ञान की अन्तस्सज्ञा का समावेश नही करते, वे भी आधुनिक साहित्य-समीक्षा के साथ पूर्ण न्याय नही कर पाते। बात यह है कि जीवन की मूल सवेदना को व्यापक तथा युगानुवर्ती बनाकर चलने से ही हमारी समालोचना-दृष्टि मे सतुलन और औदार्य का समावेश हो सकता है।

समालोचक के लिए अपेक्षित गुण और उनका महत्त्व

२३. जीवन की पृष्ठभूमि मे साहित्य और समालोचना का अपेक्षित महत्त्व समझ लेने के पश्चात् दोनो के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न सहज ही सुलझ जाता है। जिस प्रकार समन्वय का दृष्टिकोण जीवन की सफलता के लिए वाछनीय है, उसी प्रकार साहित्य-समालोचना के लिए भी उसकी नितान्त आवश्यकता है। एक सुयोग्य समालोचक मे किन-किन गुणो का सन्निवेश हो, यह अत्यन्त व्यापक और वादग्रस्त विषय है। समालोचना की समालोचना करने वाले विचारको ने उनका विशद विश्लेषण युग, परिस्थिति और जीवन-आस्थाओ के अनुरूप किया है, जिससे इतना निष्कर्ष तो निकाला ही जा सकता है कि समालोचक एक विशिष्ट बौद्धिक चेतना सम्पन्न प्राणी है और उसमे कृतिकार की अपेक्षा अधिक ज्ञान की तत्त्वग्राहिका प्रज्ञा होनी चाहिए। जब हम समालोचना के क्षेत्र को अत्यन्त व्यापक परिधि मे ग्रहण करते है तो समालोचक मे ऐसे अनेक गुण होने चाहिए, जिनसे वह अपने कार्य-क्षेत्र के महान् दायित्व का निर्वाह कर सके। वस्तुत समालोचना-शक्ति किसी भी रचनात्मक प्रवृत्ति से कम महत्त्वशाली नही है क्योकि उसके लिए समालोच्य कृति से सम्बन्धित अनेकानेक विषयो की जानकारी अनिवार्य है। समालोचक मे सब से प्रथम योग्यता तो इस बात की होनी चाहिए कि वह आलोच्य कृति का सर्वागीण अध्ययन कर उसकी मूल भावना को पहचानते हुए उसकी आत्मा मे प्रवेश कर सके। इसके साथ-साथ उसे रचयिता के दृष्टिकोण अथवा उद्देश्य का ज्ञान भी होना चाहिए। यदि ऐसा न होगा तो वह केवल अपनी आस्थाओ के अनुरूप ही कृति का विश्लेषण करने लग जायगा, जिससे अनेक प्रकार के दोषो का आ जाना असभाव्य न होगा। इसका एक प्रमाण यह भी है कि अनेक बार समालोचक केवल दलगत भावनाओ से सग्रस्त होकर अपना समालोचन-कार्य आरम्भ करते है, जिसमे कृति की समीक्षा न हो कर केवल अपने मनोनुकूल भावो का अन्वेषण करने की प्रवृत्ति ही रहती है। ऐसी समालोचना निश्चय ही साहित्य के लिए विघातक सिद्ध होती है। इसी प्रकार कभी-कभी कुछ समालोचक केवल शास्त्रीयता को ही समालोचना का एकमात्र पूर्ण मानदण्ड बनाकर चलते है और उसके लिए कलामीमासा, स्वच्छन्द-वादिता आदि का कोई महत्त्व ही नही रहता। ऐसा होना भी समुचित नही है। बात यह है कि समालोचना अत्यन्त गम्भीर और पवित्र कार्य है जिसका निष्पक्ष निर्वाह करना किसी भी 'असिव्रत' से कम नही। यह एक भ्रमपूर्ण मान्यता है कि बिगडा हुआ रचनाकार ही समालोचक बन सकता है; क्योकि यदि ऐसा होता तो विश्व-साहित्य के अनेक महान् कलाकार अपने विषय मे समीक्षक दृष्टिकोण व्यक्त न करते। हाँ, यह बात अवश्य है कि अनेक बार बिगडे हुए समालोचक साहित्य का समुचित विवेचन और सपोषण न कर उसकी निर्मम हत्या करने लगते है, जिससे सत्साहित्य के निर्माण मे अनावश्यक अवरोध उपस्थित हो जाता है। जिस प्रकार सच्ची और निष्पक्ष समालोचना से साहित्योद्यान की श्रीसम्पन्नता द्विगुणित होती है, उसी प्रकार पक्षपातपूर्ण समालोचना से अनेक प्रकार की अनावश्यक समस्याओ का सृजन हो जाता है। अतः समालोचक को अपने कार्य की महत्ता को समझ कर बडी सावधानी से लेखनी चलानी चाहिए।

२४. आदर्श समालोचक के लिए अपेक्षित गुणो का निर्धारण करते समय इस बात का

भी ध्यान रखना आवश्यक है कि वह केवल शुष्क चिन्तक अथवा बौद्धिक द्रष्टा ही नही होता, अपितु एक सौन्दर्यग्राही चेतना-सम्पन्न पाठक भी होता है। संस्कृत साहित्य मे उसे जिस अर्थ मे 'भावक' की संज्ञा दी है उसका स्पष्टीकरण स्वयम् काव्यमीमासाकार राजशेखर ने कर दिया है जिसके अनुसार उसमे कवि के स्वामी, मित्र, मन्त्री, शिष्य, आचार्य आदि होने की क्षमता होनी चाहिए।[1] विभिन्न देशो के विचारको ने समीक्षको के लिए जिन गुणो की अनिवार्यता निरूपित की है, वे उसे रचनाकार से अधिक गौरव प्रदान करती है। वैसे तो समालोचना की भाँति समालोचक का कार्य-क्षेत्र भी व्यापक है और उसमे राजनीतिज्ञ, समाजशास्त्री, दार्शनिक, इतिहासकार, सुधारक और अर्थशास्त्र-वेत्ता आदि विभिन्न श्रेणी के चिन्तक परिगणित होते हैं, किन्तु हमारा विशेष प्रयोजन यहाँ साहित्य-कृतियो के पारखी से ही है। साधारण प्रयोग मे समालोचक को केवल दोषद्रष्टा के रूप मे ही ग्रहण करने की जो परम्परा है। वह समीचीन नही है सच तो यह है कि समीक्षक नीर-क्षीर-विवेकी प्राणी होता है जिसमे समालोच्य विषय अथवा व्यक्ति के प्रति सौहार्द होना भी आवश्यक है। आचार्य अभिनवगुप्त तथा साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ* ने उसके लिए 'सहृदय' शब्द का प्रयोग किया है।[2] अंग्रेजी साहित्य के विद्वानो ने भी समीक्षक के लिए अनेक गुण निर्दिष्ट किये हैं। उसमे रसग्राही पाठक की जीवक सवेदना, विषय मे अन्त प्रवेश करने की शक्ति तथा मूल्याकन की निर्णायक विधा होनी चाहिए।[3] वैसे तो कुछ विचारको की दृष्टि मे यदि कोई साहित्य-समालोचक काव्यकार भी होता है तो कभी-कभी उसके द्विधात्मक व्यक्तित्व मे सतुलन का अभाव-सा हो जाता है,[4] किन्तु यह कोई आवश्यक नही है कि रचनात्मक प्रतिभावाला व्यक्ति समालोचक हो ही नही सकता। प्राय: ऐसा भी देखा गया है कि अनेक बार अच्छे कवि भी अच्छे समालोचक बन सके है। वस्तुत बात यह है कि समालोचक मे भावयित्री प्रतिभा होनी चाहिए जिसके द्वारा वह अपने व्यापक अध्ययन, गम्भीर जीवन-अनुभूति, सौहार्द-प्रवृत्ति, निष्पक्ष दृष्टि, स्वतन्त्र चिंतना, रसग्राहिता, चारित्रिक महत्ता, नेतृत्व-शक्ति तथा रचनाकार तथा रचना के प्रति सहानुभूति रखकर अपने कार्य मे प्रवृत्त हो सके। वास्तव मे देखा जाय तो भारतीय दृष्टि से कवि और समालोचक मे तत्वतः कोई भेद नही है; क्योकि भावयित्री प्रतिभा कवि की काव्य-लता को सफल बनाती है और उसके बिना कविता निष्फल हो जाती है। भावक कवि कभी भी अध्यदशा को प्राप्त नही होते।[5] महाकवि कालिदास का मत इससे भिन्न है। वे कवि और आलोचक को अलग-अलग व्यक्ति मानते थे, क्योकि एक का काम यदि काव्य-सृजन है तो दूसरे का काम रसास्वादन।[6] महाकवि मंगल ने अरोचकी तथा सतृणाभ्यवहारी नाम से भावक या आलोचक के दो भेद माने है। यायावरीय ने इन दो मे मत्सरी और तत्त्वाभिनिवेशी नामक दो और प्रकार के आलोचक जोडकर उनकी संख्या चार कर दी है।[7] उन्होंने इन समस्त प्रकारों के आलोचको के गुण और दोषों का भी विवेचन किया है, जिससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में भी समालोचना और समालोचको के सम्बन्ध मे कितना अधिक विश्लेषण किया गया था। कहने की आवश्यकता नही कि तत्त्वाभिनिवेशी समालोचकों की श्रेणी सर्वोच्च है।

---

१. स्वामी मित्रं च मन्त्री च शिष्यश्चाचार्य एव च ।
कवेर्भवति हि चित्रं किंहि तद्यन्न भावकः (राजशेखर 'काव्यमीमांसा')

२. येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे ।
वर्णनीयतन्मयी भवन योग्यता ते हृदय सवादभाजः सहृदया.। अभिनवगुप्त-'ध्वन्यालोक' ।
*तस्मादलौकिकः सत्य वेद्यः सहृदयैरयम । प्रमाणं चर्वणैवात्र स्वाभिन्ने विदुषामतम ॥ साहित्यदर्पण ।

३. I. A Richards—*Principles of Literary criticism* 14th. Ed 1956 page 144

४. Herbert Reed—*Collected Essays in criticism*, 2nd Edn. 1950 page 17.

५. राजशेखर : काव्यमीमांसा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना, सन् १९५४ पृष्ठ ३०।

६. वही, पृष्ठ ३२।

७. राजशेखर : काव्यमीमांसा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना, सन् १९५४ पृष्ठ ३३।

२५. समालोचना-कार्य मे सन्तुलित बुद्धि से काम न लेने पर अनेक प्रकार के दोष भी उसमे समविष्ट हो जाते हैं। इसका एक कारण तो यह है कि जब रचनात्मक साहित्यकार और समालोचनात्मक निर्णायक एक दूसरे के प्रति दुर्भावनाएँ रखकर साहित्यक्षेत्र मे अवतीर्ण होते हैं तो वे एक दूसरे के परिपूरक न बनकर केवल दोषारोपण को ही अपना प्रधान लक्ष्य बनाकर चलने लगते है। विश्व-साहित्य मे इन दोनो के द्वन्द्व से ऐसी अनेक परिस्थितियो का उद्भव हुआ है जब साहित्य चेतनाहीन बनकर कुण्ठित हो गया है। उसी प्रकार साहित्य-स्रष्टा के मूल लक्ष्य तक न पहुँचने के कारण तथा अपनी समीक्षण-विधि मे स्पष्ट न होने के कारण भी समालोचक मे बुद्धि विभ्रम उत्पन्न हो जाता है। अतः यथासम्भव दोनो ही श्रेणी के साहित्यकार विवेक-शक्ति से काम लेकर चलते रहे तो निश्चय ही साहित्य-कोष मे महार्घ रत्नो की अभिवृद्धि हो सकती है।

समालोचना के बाह्यपरक भेद और उनकी औपचारिकता

२६. साहित्य और समालोचना के पूर्वापर-सम्बन्ध को लेकर अभी तक जो कुछ विवेचन किया गया है उससे स्पष्ट है कि दोनो का सम्बन्ध मानव-जीवन और भौतिक जगत् के उन रूपो से है जो व्यावहारिक दृष्टि से भिन्न प्रतीत होते है, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से साम्य रखने वाले हैं। साहित्य की विभिन्न विधाओ की भाँति समालोचना की भी जो पद्धतियाँ अथवा प्रणालियाँ है वे किसी न किसी रूप मे जीवन का रस ग्रहण करने के अनन्तर ही अपना स्वरूप-विधान कर सकी हैं। इन प्रणालियो के प्रवर्त्तन मे युग-धर्म और परिस्थिति की भी यथेष्ट प्रेरणा रही है। इसमे कोई सन्देह नही कि इनमें सत्योद्घाटन की चेष्टाओ का प्रयास भी वर्तमान है, किन्तु जिन उपकरणो को आधार-भूत बनाकर इसका अलग-अलग सरणियो मे विभाजन किया जाता है वह इनकी तात्त्विक एकता को खण्डित करने का कारण बनता है। इसी प्रकार सिद्धान्त और प्रयोग अथवा तात्त्विकता और व्यावहारिकता की दृष्टि से भी समालोचना के जो विभेद किये जाते हैं वे भी केवल उपचारमूलक है सच्चे और दूरदर्शी समालोचक इन सब प्रकार के बाह्य मतभेदो से दूर रहकर ही अपना समीक्षण-कार्य करते हैं और उनमे साहित्य को उसके विशुद्ध स्वरूप मे ग्रहण करने की जितनी प्रवृत्ति होती है उतनी उसके विश्लेषक वैज्ञानिक रूप मे निरूपण करने की नही। बात यह है कि साहित्य की मूलोद्भावना उसकी सम्मिलन-दृष्टि से अलग परखी ही नही जा सकती, और इस प्रकार उसके समीक्षा-क्षेत्र में आने वाली प्रवृत्तियो मे भी केवल बाह्यदर्शक शाखा-प्रशाखाओ का ही विधान सिद्ध होती है।

२७. यह एक स्पष्ट सत्य है कि समालोचना की पद्धतियो का विकास भी विचार-धाराओं और मान्यताओं के स्तर के अनुरूप ही हुआ है और उनके मूल मे अनेक प्रकार के दृष्टिबिन्दु संगुम्फित रहे है। विश्व के विभिन्न विचारको ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से उनका वर्गीकरण भी किया है। वह वर्गीकरण भी उसी प्रकार जटिल और वादग्रस्त बन गया है जिस प्रकार समालोचना का स्वरूप-विश्लेषण। ऐसी परिस्थिति मे समालोचना के वर्गीकरण के लिए किस आधार को सर्वग्राह्य निर्णीत किया जाय, यह एक विचारणीय विषय है। तात्त्विक दृष्टि से स्पष्ट है कि रचनात्मक साहित्य की भाँति समालोचना का साध्य भी सांस्कृतिक प्रक्रिया के द्वारा जीवन की रसानुभूति का ही विवेचन है, अत. उस अभीष्ट विषय के लिए भले ही किसी भी पद्धति को साधन बनाया जाय, उसका मूलवर्ती साध्य तो जीवन ही रहेगा। फिर भी व्यावहारिक दृष्टि मे समालोचना का विभाजन भी अनुपादेय नही है। इस विभाजन का प्रमुख आधार विवेचन की वे विभिन्न पद्धतियाँ हैं, जिन्होने इस प्रकार की औपचारिक दृष्टि ग्रहण करने की प्रेरणा दी है। कुछ विचारको ने दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र, व्याकरण, अर्थशास्त्र, समाज-विज्ञान, राजनीति, इतिहास, मनोविज्ञान और साहित्य आदि विभिन्न विषयो के आधार पर समालोचका को दार्शनिक, समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक और

साहित्यिक आदि नामो से भी विभक्त किया है, किन्तु यह प्रयास उसी प्रकार अपूर्ण और एकागी है, जिस प्रकार किसी देश-विशेष के नाम पर उसे भारतीय, यूरोपीय, फ्रेंच तथा रोमी आदि विभागो मे वर्गीकृत करने की चेष्टा। बात यह है कि समालोचना को विषय, प्रक्रिया, कार्य, उद्देश्य, देश और काल आदि विभिन्न दृष्टिकोणों से भले ही विभक्त किया जाय, किन्तु उनके सम्मिलन-भाव की महत्ता सर्वोपरि है। प्रस्तुत प्रबन्ध मे हमारा समालोचना से मूल अभिप्राय उसके साहित्यिक स्वरूप से है, अतः उसको प्रधानता देते हुए अन्य प्रक्रियाएँ केवल उनकी पार्श्वभूमि मे ही ग्रहण की गई हैं। वैसे तो साहित्य-समीक्षा के विषय में भी कहना अत्यन्त कठिन है कि उसका मूल प्रवर्त्तन जिस प्रक्रिया से हुआ वह अपने आदि स्वरूप मे किस आकार-प्रकार की थी, किन्तु यह भी निश्चित है कि विश्व का आदि-कवि यदि किसी रहस्यात्मक मर्मानुभूति से झंकृत होकर अपना हृदयोद्गार किसी अज्ञात प्रेरणा के बल पर अनायास भाव से भाषा के रूप मे अभिव्यक्त कर सका होगा तो उसके आदि समालोचक ने उसकी उद्भावना तादृशी विस्मयजनक विवेक-शक्ति से की होगी। कोई आश्चर्य नही, यदि विश्व का आदि-कवि ही साहित्य का आदि-आलोचक रहा हो[1]। इससे स्पष्ट होता है कि समालोचना की जो प्रथम उद्भूति हुई होगी, वह अनुभूतिजन्य, प्रभावाभिव्यंजक, विचार-प्रधान, और सौष्ठवपूर्ण अवश्य रही होगी। यह बात दूसरी है कि आदि-समालोचक के मस्तिष्क मे इस प्रकार का पद्धति विषयक श्रेणी-विभाजन न रहा हो किन्तु इसमे भी सन्देह का बहुत कम अवकाश है कि उसकी प्रथम समीक्षा मे ये तत्त्व रहे अवश्य थे। आगे चलकर जब समालोचना की भी विवेचना होने लगी तो विचारको का ध्यान उसके वैज्ञानिक विभाजन की ओर गया और उन्होने विविध प्रवृत्तियो को प्राधान्य देते हुए समालोचना की विभिन्न प्रणालियाँ स्थिर की। अनेक बार तो यह विभाजन नाम-परिगणन-पद्धति के रूप मे अनेक प्रकारो मे किया जाता है और विश्लेषण के नाम पर उसके अनेक भेदोपभेद भी गिनाये जाते है, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से यह प्रयास समुचित नही है। सच तो यह है कि जीवन की सकुलता और सश्लेषणात्मकता की भाँति समीक्षा-पद्धतियो मे भी ऐसा आन्तरिक सयोजन है कि उनकी काट-छाँट करने का यान्त्रिक-प्रयत्न अनुचित है। एक ही समालोचना-कृति में विभिन्न पद्धतियो के बहुरगी सूत्रो का संग्रथन उनके बाह्य विभाजन की निरर्थकता का आभास दे देता है। अतः समालोचना का पद्धतिगत विभाजन केवल औपचारिक रूप में ही स्वीकृत किया जाना चाहिए।

२८ समालोचना का विभिन्न प्रणालियो अथवा पद्धतियो मे विभाजन करने के पूर्व इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि जिस प्रकार मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण उसके भिन्न-भिन्न शरीरावयवों और मानसिक सस्थानो का ही समष्टि रूप लेकर होता है, उसी प्रकार समालोचना की विभिन्न पद्धतियो का समन्वय ही उसको भी एक पूर्ण इकाई प्रदान करता है। किन्तु जिस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से शरीरावयवों तथा मानसिक गुणों के भिन्न-भिन्न नामो की वाँछनीयता अनिवार्य है, उसी प्रकार समालोचना के भेद-प्रभेदो का विधान-बोध भी आवश्यक है। आधुनिक युग मे तो उनकी अपेक्षा और भी अधिक है, क्योंकि वर्तमान युग तर्कभित्ति तथा बुद्धिवाद पर अधिकांशतः आश्रित होने के कारण समालोचना का ही युग कहा जाता है, अतः भिन्न-भिन्न मानदण्डो और मान्यताओं से जो-जो विचार-परम्पराएँ अथवा जीवन-आस्थाएँ अपना आकार ग्रहण किए हुए हैं, उनके प्राणों की प्रतिच्छाया मानसोद्भूत साहित्य-कोष पर भी पडनी अस्वाभाविक नही है। इस विश्लेषण के द्वारा हमें यह जानने मे भी सुविधा रहनी है कि आधुनिक युग-चेतना ने अपनी परम्परागत भाव-राशि को समेट कर जिन-जिन विचार प्रक्रियाओं के द्वारा अपना

---

१ पादबद्धः अक्षरसमः तन्त्रीलय समन्वितः।
शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोक भवतुनान्यथा। (वाल्मीकीय रामायण)

अद्यतन स्वरूप धारण किया है वह किन-किन विकास-खण्डो से निर्मित है और आज की विश्व-जनीन साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रक्रिया मे उसका कितना श्रेय है।

प्रक्रिया-पद्धति के अनुसार समालोचना के दो रूप—(अ) सैद्धान्तिक

२९. प्रक्रिया-पद्धति के अनुसार समालोचना को दो रूपो मे विभक्त किया जा सकता है और वे रूप है सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक। सभी देशो के साहित्यालोचन मे इस प्रकार की प्रक्रिया न्यूनाधिक स्वरूप मे मिलती है, किन्तु उसका आदि स्वरूप सामान्यतः सिद्धान्त-विवेचन से ही सम्बद्ध होता है। सिद्धान्त-निरूपण की यह प्रवृत्ति समालोचना को शास्त्रीयता का भी रूप प्रदान करती है और उससे साहित्य-परीक्षण के ऐसे अनेक प्रतिमान बन जाते है, जिन्हे प्रामाणिक मानकर समालोचक अपने कार्य मे प्रवृत्त होते है। सैद्धान्तिक समालोचना का यह स्वरूप जब एक विशेष सीमा मे केन्द्रित कर दिया जाता है तो वह रूढिग्रस्त शास्त्रीय पद्धति का रूप ग्रहण कर लेता है, जिसका विवेचन यथास्थान किया जाएगा। यहाँ तो हमारे कथन का मूल अभिप्राय यही है कि सैद्धान्तिक समालोचना समीक्षा का वह स्वरूप है जो किसी भी राष्ट्र की सास्कृतिक चेतना से उद्भूत उसके जीवनदर्शन का मानदण्ड होती है तथा जिसके द्वारा साहित्य–विवेचन को एक प्रौढ आधार मिलता है। सस्कृत साहित्यशास्त्र मे रस, ध्वनि, अलकार, वक्रोक्ति, रीति तथा औचित्य आदि विविध सम्प्रदायो मे जो सिद्धान्त निरूपण हुआ है, वह हमारे सैद्धान्तिक समीक्षण का मेरुदण्ड है। इसी प्रकार काल-क्रम से पाश्चात्य साहित्य-दर्शन के अध्ययन तथा मूल्याकन-पद्धतियो के आकलन से भी हमारे सैद्धान्तिक समीक्षण मे विकास हुआ है। युग और परिस्थिति से सम्बद्ध राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सास्कृतिक दृष्टियो का भी सैद्धान्तिक समीक्षा के संवर्धन मे योग रहता है और यदि यह कह दिया जाय कि इन सबका मथित नवनीत ही सैद्धान्तिक अवतारणा कराने का कारण बनता है तो विशेष अत्युक्तिपूर्ण कथन न होगा। हमारे देश मे व्यावहारिक समालोचना भले ही कम प्रचलित रही हो, किन्तु सैद्धान्तिक समीक्षण ज्ञान की चरम कोटि तक पहुँच गया था। इसका प्रमाण हमारे साहित्य की विभिन्न मान्यताओ से सम्बन्धित रस, अलकार और ध्वनि आदि सिद्धान्त-शास्त्रो को लेकर लिखे गए अनेकानेक ग्रथ है। उन सैद्धान्तिक विचार-धाराओं के विकास का विशेष विवरण तृतीय अध्याय मे समालोचना के स्रोतो का विश्लेषण करते समय दिया जायगा। यहाँ तो हमारे लिखने का मूल मतव्य यही है सैद्धान्तिक समालोचना समीक्षा-जगत् की अत्यन्त प्रौढ प्रक्रिया है और सस्कृत साहित्य मे जिन्हे लक्षण ग्रन्थ अथवा रीतिशास्त्र कहा जाता है, वे उसी के रूप है, क्योकि उनमें समालोचना सिद्धान्त के मानदण्ड, काव्य के भेदोपभेदो, तत्वो, स्वरूपो, लक्षणो, पद्धतियो तथा शिल्प-विधानो का विवेचन रहता है।

३०. भारतीय साहित्य-शास्त्र मे सैद्धान्तिक समालोचना का सबमे अधिक प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ भरतमुनि का नाट्यशास्त्र है। इसमे नाट्य-रचना के प्रमुख उपकरणो की विवेचना के साथ-साथ जिस रस-तत्व का विश्लेषण किया गया है, वह हमारी सैद्धान्तिक समीक्षा का सत्व अथवा प्राणतत्व कहा जा सकता है। भरतमुनि के विवेचन मे उनका कलासौष्ठवपूर्ण दृष्टिकोण भी अभिव्यक्त है, जिससे अनेक प्रकार के सौन्दर्यमूलक नवीन सिद्धान्तो की भी अवतारणा की जा सकती है। इसके अतिरिक्त सैद्धान्तिक समालोचना के लिए भारतीय साहित्य मे क्रियाकल्प[1] शब्द का भी प्रयोग मिलता है जिसमे कवि के लिए अपेक्षित शास्त्र-ज्ञान का सकेत किया गया है। राजशेखर, क्षेमेन्द्र, वामन और दण्डी आदि विभिन्न आचार्यों ने अपने विवेचन मे व्युत्पत्ति, कवि-शक्ति, बहुज्ञता और विद्वत्ता आदि विषयो पर जो विश्लेषण किया है, वह सैद्धान्तिक समीक्षा के

---

१. क्रियाकल्प इति व्याकरण विधि., काव्यालकार इत्यर्थः।
त्रितयमपि काव्य क्रियागऽपर काव्यावबोधार्थंच—(जयमगल)

अत्यन्त निकट है। पाश्चात्य साहित्य मे 'पोइटिक्स', 'ऐस्थेटिक्स', 'सब्लाइम' आदि विषयो पर जो विश्लेषण हुआ है वह सैद्धान्तिक समीक्षा का ही स्वरूप है। आजकल अँग्रेजी साहित्य मे प्रयुक्त 'स्पेक्यूलेटिव क्रीटिसिज्म' को सैद्धान्तिक समीक्षा का ही पर्याय कहा जा सकता है। वहाँ मुख्यत. इस विवेचन को सैद्धान्तिक समीक्षा कहा जाता है जिसमे काव्य-निर्माण के वादो, दर्शनों और प्रकृतियो आदि को लेकर किसी मानदण्ड की स्थापना की जाती है।[1]

(आ) व्यावहारिक समालोचना

३१. व्यावहारिक समालोचना समीक्षा का वह रूप है जिसमे केवल वैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा साहित्य-सिद्धान्तो का ही निरूपण नही होता, अपितु इनका समीक्ष्यमाण रचना मे प्रयोग भी किया जाता है। आधुनिक युग में जिस रचना-प्रक्रिया मे इसका स्वरूप-गठन हुआ है वैसा प्राचीन काल मे नही था, किन्तु यह बात भी नही कही जा सकती कि उसका हमारे प्राचीन वाङ्मय मे अस्तित्व ही नही था। राजशेखर ने काव्यमीमासा मे 'अनर्भाष्य समीक्षा, अवान्तरार्थं विच्छेदश्च सा'[2] कहकर इस बात की ओर सकेत किया है कि किसी-किसी कृति की समालोचना में उसके बाह्य, आभ्यतरिक, गौण, और प्रधान आदि सभी पक्षो का विवेचन रहना चाहिए।[3] ध्वन्यालोक-लोचन के रचयिता आचार्य अभिनवगुप्त ने भी अपने एक श्लोक द्वारा यही बात कही है कि ध्वन्यालोक पर 'चन्द्रिका' टीका के रहते हुए भी 'लोचन' के अभाव मे उसका ज्ञान असम्भव है, अत उस अभाव की पूर्ति के लिए ध्वन्यालोक-लोचन की रचना की जा रही है।[4] आचार्य के इस कथन का आशय एक प्रकार से व्यावहारिक समालोचना का ही समर्थन है जो कोरी सैद्धान्तिकता तथा शास्त्रीयता से उदात्त और व्यापक है।

३२. वैसे तो व्यावहारिक समालोचना के स्वरूप-निर्धारण के विषय मे कुछ तथ्यों को लेकर आचार्यों मे मतभेद भी है, किन्तु आधुनिक- युग-प्रवृत्ति के अनुसार व्यावहारिक समालोचना उसे कहा जाता है जिसमे समालोच्य रचना के विषय, स्वरूप, जीवन-दृष्टि, उद्देश्य, मौलिकता, देशकाल, प्रभाव, संदेश, प्रसार, रचनाकार की जीवनी और उसके साहित्यिक व्यक्तित्व, काव्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष आदि विविध वैशिष्ट्यों को लेकर उन बातो का सोदाहरण और सप्रमाण विवेचन किया जाय जिससे समालोच्य विषय के गुण-दोषो का क्रियात्मक बोध हो सके। इस प्रकार की समालोचना एक प्रकार से समालोचक की मौलिक और स्वतत्र विचारधारा भी हो सकती है जिसके अन्तर्गत उन सभी परिस्थितियो का भी विचार करने के लिए पर्याप्त अवकाश रहते हैं जो समीक्षक के मस्तिष्क मे कृतियों के अध्ययन से उद्भूत होती है। भारतीय तथा पश्चिमी विद्वानो ने समालोचना के मूल उद्देश्यो और उनकी अन्विति का विश्लेषण करते हुए जो अपना सारभूत निर्णय प्रदान किया है, उससे व्यावहारिक समालोचना का स्वरूप-बोध किया जा सकता है। यद्यपि इस प्रकार की समालोचना के मूल में समालोचक का निजी प्रतिमान अथवा जीवन-दर्शन रहता अवश्य है, किन्तु वह केवल सिद्धान्त-अवतारणा के रूप मे ही न होकर समालोच्य कृति अथवा रचनाकार का भावन करता चलता है। समालोचक को इस बात का अधिकार है कि वह निगमन और आगमन दोनों प्रकार की पद्धतियों का प्रयोग अपनी व्यावहारिक समा-

---

१. Moulton—*Modern Study in English Literature.*

२. राजशेखर—काव्यमीमांसा

३. राजशेखर—काव्यमीमासा

४. 'यत्किंचिदप्यनुकरणन्स्फुटयामि काव्यलोकं स्वलोचन—
नियोजनया जनास्य - अभिनवगुप्त—ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ २.

लोचना मे स्वतंत्रतापूर्वक कर सके। आगमन प्रणाली का अनुकरण करते समय वह किसी विशेष दृष्टि को ग्रहण कर उसके विश्लेषण द्वारा समालोचना के सामान्य सिद्धान्त निरूपित करता है और तदुपरान्त उन्ही सिद्धान्तो को अपना काव्य-निष्कर्ष बनाकर कृतिकार अथवा उसकी रचना के गुण-दोषो का उद्घाटन करता है। इस प्रकार विश्लेषण और संश्लेषण दोनो पद्धतियो का प्रयोग इस पद्धति मे यथा अवसर होता है। समालोचक यथावसर अपनी इस प्रकार की समीक्षाओ को और अधिक पूर्ण और व्यावहारिक बनाने के लिए अपनी अनुभूति, निरीक्षण शक्ति, भावधारा, व्याख्या, तुलना तथा मूल्याकन विधि आदि के आधार पर अपना निर्णय देता है जिससे समालोच्य विषय की विशेषताओ का अधिक से अधिक प्रत्यभिज्ञान हो सके। अभिप्राय यह है कि व्यावहारिक समालोचना समीक्षा-शास्त्र का ऐसा अंग है जिससे समालोचना का भव्य निदर्शन प्रस्तुत किया जाता है और जिसमे व्याख्या की ऐतिहासिक, जीवनचरितमूलक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, प्रभावाभिव्यंजक तथा सौन्दर्यविधायक आदि विविध पद्धतियो के प्रयुक्त किए जाने के यथेष्ट अवसर होते है। आधुनिक युग मे इस प्रकार की पद्धति का महत्त्व सैद्धान्तिक समालोचना से कही अधिक है।

शास्त्रीय (क्लासिक) समालोचना की परम्परा

३३. भारतीय साहित्य-शास्त्र की भाँति पश्चिमी देशो मे भी शास्त्रीय समालोचना की प्राचीन परम्परा रही है, जिसे वहाँ 'क्लासिकल क्रीटिसिज्म' कहा जाता है। प्रारम्भ मे 'क्लासिकल' शब्द का सम्बन्ध रोम की राजकीय व्यवहार नीति से था, जिसके अनुसार वहाँ का समाज अपने आर्थिक स्तर के अनुरूप भिन्न-भिन्न वर्गों (क्लासो) मे विभक्त था। समाज के सामान्य वर्ग की विशिष्टता का द्योतन करने के लिए तो वहाँ उनके साथ प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ आदि विशेषणो का प्रयोग भी किया जाता था, किन्तु समाज की जो प्रथमवर्गीय सर्वोच्च श्रेणी थी, उसके साथ इस प्रकार के विशेषण-प्रयोग करने की कोई आवश्यकता नही समझी जाती थी। साधारणतया वहाँ 'क्लास' कहने का मूल अभिप्राय समाज के सर्वोच्च वर्ग से स्वत ग्रहणकर लिया जाता था। कालान्तर मे सामाजिक जीवन की यह प्रक्रिया जब साहित्य-रचना के क्षेत्र मे भी प्रयुक्त हुई तो सर्वोच्च श्रेणी के लेखक को बिना किसी प्रकार के विशेषण का सयोजन किए 'क्लासिकल' लेखक तथा उसकी कृति को क्लासिकल रचना कहा जाने लगा। चूंकि उस समय यूरोपीय साहित्य तथा सस्कृति के क्षेत्र मे यूनान तथा रोम का सर्वाधिक गौरव और सम्मान था, अत सर्वप्रथम वही की परम्परा के सर्वोच्च लेखक 'क्लासिकल' कहलाने के अधिकारी बने। शनै-शनै इस शब्द की ध्वनि मे अर्थ-विस्तार हुआ और केवल वे ही लेखक 'क्लासिकल' सज्ञा से अभिहित नही किये गये जो यूनानी और रोमी थे, अपितु उन्हे भी क्लासिकल कहा जाने लगा जो उन लेखको की भावधारा और रचना-प्रक्रिया का अनुकरण करते हुए चलते थे। शनैः-शनैः इस वर्ग के अन्तर्गत उन लेखको की भी गणना की जाने लगी, जिनमे साहित्य-शालीनता का प्राचीन गौरव अभिव्यक्त होता था। इस प्रकार के लेखको और उनकी रचनाओ मे मन, बुद्धि, प्रक्रिया, भाषा और शैली की पूर्णता और प्रौढता का होना आवश्यक माना गया क्योकि उनके अभाव मे उनकी रचनाओ में श्रेष्ठता के गुण आ नही सकते थे।[१]

३४. विवेचन के इसी प्रसग मे इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि प्रारंभ मे होमर, सोफोक्लीज, एसकीलीज, वर्जिल और दाँते आदि लेखको की कृतियो को 'क्लासिकल' रचनाएँ कहा गया और उनके काव्य-गुणो का परीक्षण जिस समीक्षा पद्धति मे किया गया उसे शास्त्रीय

---

१. T. S. Eliot—*What is a classic*, First Edition, page 16.

(क्लासिक) समालोचना की सज्ञा मिली। इस प्रकार की समालोचना को विकसित बनाने मे अरस्तू, प्लेटो, हौरेस क्विटीलिहयन और लौजाइनस जैसे विचारको की मान्यताओ का प्रमुख महत्त्व है। इन्ही तत्वचिंतको की विचार-सामग्री को आधार बनाकर यूरोप के पुनरुत्थानकाल के आलोचको ने भी अपना काव्य-समीक्षण प्रस्तुत किया। निश्चित है कि समालोचना की इस पद्धति को विकसित बनाने मे तीन प्रधान कारण थे—"पहला मानव-वाद अथवा प्राचीन उत्कृष्ट कृतियो का अनुकरण, दूसरा अरिस्टाटलवाद अथवा अरिस्टाटल की 'पोइटिक्स' का प्रभाव और तीसरा तर्कप्राधान्यवाद अथवा तर्कप्रमाण का शासन।"[1] इस प्रकार की आलोचना-पद्धति का प्रभाव भी कई रूपो मे दृष्टिगोचर हुआ, जिनमे सर्वप्रथम तो यह था कि समालोचको का अधिकाश ध्यान समालोच्य रचना के कलापक्ष अथवा वाह्य विधान की ओर अधिक गया और समालोचना का विकास रूढिभुक्त शास्त्रीयता से ही किया जाने लगा। कालान्तर मे इस प्रकार की प्रवृत्ति की यह प्रतिक्रिया हुई कि जब शास्त्रीय परम्परा के निर्धारित नियमो के अनुसार पुनरुत्थान-काल की अनेक रचनाएँ समुचित गौरव नही पा सकी, तो उनके विरुद्ध स्वच्छदता-वादी आन्दोलन ने अपना नूतन मार्ग ग्रहण किया।

३५. यह एक विचित्र सत्य है कि पश्चिमी देशो मे जिस प्रकार की शास्त्रीय समालोचना-पद्धति का विकास हुआ है, उसके स्वरूप-सगठन का हमारे देश की परम्पराओ के साथ भी अद्भुत साम्य है। जिस प्रकार हमारे यहा के शास्त्रीय विवेचन के अतर्गत, रस, अलकार, ध्वनि, वक्रोक्ति और छद-योजना आदि का विश्लेषण हुआ है, उसी प्रकार पश्चिमी देशो की इस परम्परा मे भी महाकाव्य, नाटक, रगमच, सकलनत्रय, त्रासद और कामद भावनाएँ, गीति, हास्य, ध्वनि, और औचित्य आदि भी समीक्षण के विषय रहे है। इस प्रकार की समालोचना-पद्धति शेक्सपियर के समय मे भी प्रचलित थी, जिसमे उपर्युक्त सैद्धान्तिक निरूपणो के साथ-साथ इस बात का भी विचार किया जाता था कि युगपरिस्थिति को देखते हुए उन्हे किस प्रकार व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। शास्त्रीयता की इस पद्धति का प्रभाव हमे, ड्राइडन, बेन जॉनसन, पोप, डाक्टर जॉनसन और गिलबर्ट आदि उन्नीसवी शताब्दी के समालोचको पर भी मिलता है और यदि यह कह दिया जाय कि आज भी उसका सर्वथा अभाव नही हुआ है तो अनुचित नही होगा। कहने की आवश्यकता नही कि एडीसन द्वारा 'पैरेडाइज लॉस्ट' की आलोचना अरस्तू की मान्यताओ के अनुरूप की गई है और उसके समीक्षण मे वर्जिल का महाकाव्य ही उसका आदर्श रहा है।

३६ यद्यपि शास्त्रीय समालोचना साहित्य-समीक्षण का प्रौढ पक्ष है और उसका अस्तित्व किसी भी देश की सास्कृतिक निधि मे गौरव का विषय है, किन्तु जब उसे नियमो की रूढि और सकीर्णता मे ग्रस्त बना दिया जाता है तो उसकी विकास-परम्परा रुक जाती है। बात यह है कि इस प्रकार की आलोचना-पद्धति मे पूर्वग्रह के रूप मे पहले से ही यह मान लिया जाता है कि प्राचीन आचार्यों ने साहित्य-शास्त्र के जो मूल्याकन-प्रतिमान निर्धारित किये थे, वे ही वस्तुत आप्तवचन हैं और उन्ही की मर्यादा मे समीक्षण किया जाना चाहिए। इस प्रकार की मान्यता साहित्य-कल्याण की दृष्टि से समुचित नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह है कि जब हम साहित्य को भी जीवन की भाँति चिरतन और गतिशील मानते हैं तो उसकी मूल्याकन-विधि में भी देशकाल का ध्यान रखते हुए समय-समय पर परिवर्द्धन और सशोधन किये जानेके अवसर अवश्य रहने चाहिए। ऐसा करनें से शास्त्रीयता में किसी प्रकार का गत्यवरोध न आकर उसके सिद्धान्त-पक्ष की अभिवृद्धि ही होती है और उसके द्वारा अनागत साहित्य को अधिक व्यापकता में समीक्षित किया जा सकता है।

३७. शास्त्रीय समालोचना को उसके पूर्व निर्धारित रूप की सीमा में ग्रहण करने मे

---

१. लीलाधर गुप्त : पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त, जुलाई सन् १९५२, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १६९.

एक बाधा यह भी आती है कि उसका सम्बन्ध हमारे विकासशील जीवन दर्शन की सरणियो से छूट जाता है। सत्य तो यह है कि शब्दानुशासन की भाँति जब समालोचना भी साहित्य का नियामक पक्ष है तो उसकी भाव-निधि तथा शिल्प-विधि मे साहित्यजगत मे होने वाले परिवर्तनो का प्रभाव उसके मूल्याकन विधान पर भी अवश्य पडना चाहिए। उदाहरणार्थ यदि शास्त्रीयता की परम्परा-भुक्त परिपाटी मे आधुनिक छायावादी काव्यधारा का परीक्षण किया जाय तो उसके प्रतिमान ऐसा करने मे असमर्थ ही होगे, क्योकि उनमे इस प्रकार की सौन्दर्यमयी और स्वच्छन्दतावादी रचनाओ की समीक्षा करने का आधार ही नही है। ऐसी स्थिति मे शास्त्रीयता को किसी राष्ट्र के लिए गौरव का विषय मानता हुआ भी मैं उसके उस रूप से असहमत हूँ जो केवल स्थूल प्रतिमानो से ही साहित्य का मूल्याकन करता हुआ चलता है। अत यह आवश्यक है कि शास्त्रीयता की परम्परा को भी वे युगजीवी जीवन-तत्व अवश्य प्रदान किये जायँ जिनसे वह और पुष्ट बन सके, क्योकि शास्त्रीयता के नाम पर प्राचीन सिद्धान्तो के प्रति केवल अध आस्था किसी काम की नही है।

समालोचना मे स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति का उन्मेष

३८. प्रत्येक देश के साहित्य मे एक ऐसा युग आता है जब वहाँ के समालोचक रूढिग्रस्त शास्त्रीयता का निर्मोक त्याग कर स्वतन्त्र चिंतन मे प्रवृत्त होते हैं और उनकी समीक्षा मे स्वच्छद-तावादी दृष्टि का विकास होने लगता है। आधुनिक युग-चेतना ने हमे जिस प्रकार का जीवन-दर्शन प्रदान किया है, वह पुरातन मान्यताओ से यथेष्ट विकसित और परिवर्तित है, अत उसकी स्वच्छद-वादी प्रवृत्ति का प्रतिबिम्ब साहित्य-समालोचना पर भी आलोकित है। यह परिवर्तन उन-उन देशो मे तो विशेष रूप से आता है जब वहाँ की प्रभुसत्ता अनैसर्गिक विधान मे लोक-जीवन के विकास पर अकुश लगा देती है और जिसके फलस्वरूप उसकी शक्ति कुठित होकर क्राति के सहस्र आविष्कार कर डालती है। भारतीय साहित्य मे, काव्य-शास्त्र के विभिन्न वादो के ऊपर अततो-गत्वा रसवाद की जो मूर्द्धन्य स्थिति हो सकी, उसके मूल मे भी यही स्वतन्त्र चिंतन का स्वच्छन्दता-वादी दृष्टिकोण था। हाँ, यह बात अवश्य है कि इस प्रकार की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का क्षेत्र मुख्यत सैद्धान्तिक समीक्षा ही रहा। स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए यूरोपीय देशो के भाषा-साहित्यो का इतिहास अत्यन्त मनोरंजक और उपयोगी है। किसी समय वहाँ प्लेटो, अरस्तू तथा हॉरेस के बनाए हुए नियम ही साहित्यालोचन के आदर्श समझे जाते थे, किन्तु शनै-शनै उनकी रूढिग्रस्तता के प्रति लोगो का विश्वास हटने लगा और वे नए प्रतिमानो की अवता-रणा के लिए आकुल हो उठे। इसका एक परिणाम यह हुआ कि जिस शेक्सपियर और मिल्टन के साहित्य-सृजन को लेकर किसी समय इंगलैंड के समीक्षको ने उन्हे शास्त्रीय परम्परा की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि के साहित्यकार घोषित किया था, उन्हे उनके साहित्य की महत्ता के प्रति आशका होने लगी। रायमर ने शेक्सपियर के त्रासद नाटको की असंगति सिद्ध कर उसे पागलो की श्रेणी मे रखा तो ड्राइडन ने एलिजाबेथ-युग के नाटकों का विश्लेषण कर उन्हे अरस्तू की नियम-मर्यादा से उन्चतर और स्वतन्त्र-विधान का सिद्ध किया। इसी प्रकार एडीसन ने अरस्तू के विचारो के साथ अपनी असहमति प्रकट करते हुए उसके महाकाव्य सम्बन्धी नियमो को उत्तरवर्ती युग के महाकाव्यो के रचना-विधान का परीक्षण करने मे असमर्थ सिद्ध किया। अभिप्राय यह है कि इस प्रकार की प्रति-क्रिया समीक्षको के स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण की द्योतक थी और उसका मूल मंतव्य यही था कि शास्त्रीयता के रूढिग्रस्त नियम सर्वांगीण और सर्वयुगीन नही है और उन्हे सुव्यवस्थित बनाने के लिए विशेष प्रकार की सौन्दर्य-मूलक स्वच्छन्दतावादी दृष्टि की अपेक्षा है।

३९ समीक्षा मे स्वच्छन्दतावादी दृष्टि को प्रश्रय प्रदान करने मे जर्मनी के विद्वानो का महत्त्वपूर्ण हाथ है। वहाँ के लैसिंग नामक विचारक ने साहित्य और कला का विश्लेषण सौन्दर्य-

परक स्वच्छन्दतावादी दृष्टि से किया और प्रतिभा को सर्वोपरि सत्ता प्रदान की। उसके अनुसार प्रतिभा सब नियमो से परे होती है, अत प्रतिभाशाली लेखक और आलोचक के लिए किसी भी प्रकार के शास्त्रीय बंधन लगाना किसी भी दृष्टि मे न्यायोचित नही हे। लैसिंग की इस ध्वनि को आंग्ल साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र मे वर्ड्स्वर्थ, कालरिज, कारलायल और जानसन ने उदात्तत्व प्रदान किया और उनकी समीक्षात्मक व्याख्याएँ स्वच्छन्द-प्रणाली की ओर अग्रसर होने लगी। इस आन्दोलन को फ्रासीसी साहित्यकारो से तो और भी अधिक बल मिला। सच पूछा जाय तो स्वच्छन्दतावाद (रोमेंटिसिज्म) का मूल शब्द ओल्ड फ्रेंच का 'रोमास' शब्द है जिसका आदि प्रयोग उन कहानियो के लिए होता था जो रोमास भाषा (वर्नाक्यूलर अथवा ग्राम्यलैटिन) मे लिखी जाती थी। चूँकि वे कहानियाँ अधिकांशत शौर्यपूर्ण और साहसिक होती थी, जिनमे काम-वासना और रहस्यमयी वृत्तियो का समावेश भी आवश्यक था, अत शनैः-शनै. जब रोमास अथवा स्वच्छन्द वृत्ति का प्रयोग साहित्य-समालोचना के क्षेत्र मे भी हुआ तो वे ही रचनाएँ रोमाटिक या स्वच्छन्दतावादी कही जाने लगी जिनमे रोमासपूर्ण कहानियो की भाँति कल्पना, सौन्दर्य, रहस्यात्मकता, स्वैरवादिता, अनियमितता, और कामुकता आदि गुणो का समावेश था। निश्चय ही इस प्रकार की प्रवृत्तियो का मर्यादापूर्ण शास्त्रीय दृष्टिकोण से किसी भी प्रकार समन्वय नहीं हो सकता था, अत· साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र मे बंधनहीन आलोचनाएँ स्वच्छन्दतावादी समीक्षाओ के नाम से अभिहित की गई, जिनके लिए व्याख्यात्मकता का होना आवश्यक था। कहने की आवश्यकता नही कि यह व्याख्यात्मकता आधुनिक समालोचना का एक प्रधान अग है जो ऐतिहासिक पद्धति, जीवनचरितमूलक पद्धति, मनोवैज्ञानिक पद्धति, समाजशास्त्रीय पद्धति, तुलनात्मक पद्धति आदि विभिन्न प्रक्रियाओं मे अपना विकास कर रहा है। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है कि वैसे तो स्वच्छन्दता-मूलक दृष्टिकोण ने ही व्याख्या-निर्माण की प्रेरणा दी है, किन्तु व्याख्यात्मक पद्धति का उपर्युक्त प्रक्रियाओ मे सयोजन होने के कारण उसने सौष्ठवपूर्ण विधान में फिर से अपना नव-निर्माण कर लिया है जो व्याख्यात्मक होते हुए भी अपने शिल्प-विधान और विचार-पक्ष मे पूर्णतया निरपेक्ष है। प्रत्येक देश के इतिहास मे शास्त्रीयता और स्वच्छन्दवादिता का यह क्रम क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप मे चलता रहता है, अतः आधुनिक हिन्दी समालोचना के विकास-क्रम को समझने के लिए मैंने इनका सामान्य परिचय देना आवश्यक समझा है।

समालोचना में व्याख्यात्मकता का समावेश

४०. शास्त्रीयता और स्वच्छन्दवादिता के इस विवेचन के साथ इस विषय की जानकारी भी अनिवार्य है कि समालोचना की परम्परा मानस सृष्टि और साहित्य-निर्माण के साथ रही है, किन्तु उसके विकास-क्रम मे अन्तर अवश्य रहा है। एक समय था जब साहित्य-समालोचना मे सूत्र-प्रणाली का ही प्रयोग था, किन्तु शनै-शनै मनुष्य की तर्क-शक्ति को उससे सन्तोष नही मिला और व्याख्यात्मक विवेचना के उपरान्त ही निर्णय-प्राप्ति को समीचीन समझने लगा। फलत साहित्यालोचन के क्षेत्र में भी रूढिग्रस्त सूत्रशैली का प्राधान्य कम होने लगा और उसमे व्याख्यात्मकता का समावेश होता गया। यद्यपि समालोचना के सैद्धान्तिक पक्ष को लेकर भारतीय संस्कृत साहित्य-शास्त्र मे व्याख्या और विवेचना की एक सुनिश्चित प्रणाली सुदीर्घकाल तक प्रचलित रही, किन्तु जिस रूप और विधान मे आज का साहित्यालोचन व्याख्यात हो रहा है यह पाश्चात्य समीक्षा के अन्तर्गठन से अधिक प्रभावित है। पश्चिमी देशों मे समालोचना के अन्तर्गत जिन विचारकों ने व्याख्या को अधिक प्रश्रय दिया, उनमे जर्मन विचारको का प्रमुख हाथ है। कालक्रम में व्याख्या का संयोजन अंग्रेजी साहित्यालोचन में भी होने लगा और प्राय: सभी समालोचक इस निर्णय पर पहुँचने लगे कि साहित्याकार के काव्य-सृजन की मूल प्रेरणा, उद्देश्य-सिद्धि तथा उसके उप-

योगी और कलात्मक पक्ष का स्पष्टीकरण केवल व्याख्या के द्वारा ही किया जा सकता है। वस्तुत: व्याख्याकार समालोचक का यह प्रधान कर्तव्य हो गया कि वह समालोच्य कृति के मूल भावो तक पहुँचने के लिए उसके वास्तविक रूप को देखे और अपने भीतर ऐसी मानसिक स्थिति उत्पन्न करने का प्रयत्न करे जिससे प्रेरित होकर किसी कृतिकार ने किसी कृति-विशेष का सृजन किया है। इसके लिए आवश्यक हो गया कि व्याख्याकार समालोचक मे रचनाकार के आशय और भावो को समझने की उद्भावक शक्ति हो और वह किसी न किसी विधि से उसके मूल उद्देश्य तक पहुँच सके। ऐसा तभी सम्भव था जब व्याख्याकार कृतिकार की प्रतिभा मे अत्यन्त सुरुचिपूर्ण विधि से लीन होने मे सक्षम हो और उसमे ऐसी रसग्राही प्रज्ञा हो जो कृतिकार की रचना को विचारपूर्ण शैली मे सर्वांगीणता के साथ अभिव्यक्त कर दे। स्पष्ट है कि ऐसी शक्ति की प्राप्ति के लिए उसका मानस-लोक अत्यन्त उदार और व्यापक धरातल पर अवस्थित होना चाहिए और जहाँ तक बने उसे उन बातो से दूर रहना चाहिए जो उसके मार्ग मे कृतिकार की मूल चेतना को ग्रहण कराने मे बाधा पहुँचाती है। ऐसा तभी सम्भव है जब व्याख्याकार का निजी व्यक्तित्व भी अत्यन्त पुष्ट और उदात्त हो और उसमे किसी प्रकार का पक्षपात अथवा साम्प्रदायिकता की वाद-यन्त्रणा अशमात्र भी न रहे। यदि ऐसा नहीं हुआ तो वह अपने मूलोद्देश्य से भटक जाएगा और उसकी व्याख्या एकागिता से दूषित हो जाएगी। इसी प्रकार यह समझ लेना भी भूल होगी कि व्याख्या मात्र से ही समालोचना की उद्देश्य-पूर्ति हो जाती है। वास्तविकता तो यह है कि समालोचना के यथार्थ ध्येय की प्राप्ति मे व्याख्या उसका प्रमुख साधन मात्र है जिसके मार्ग से चलकर ही हम गन्तव्य स्थान पर पहुँच सकते है। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि समालोचना की अगभूता व्याख्या को किसी भी प्रणाली अथवा विधि से प्रयुक्त किया जाए, किन्तु उसका उद्देश्य यह अवश्य बना रहे कि वह अपने मूल अर्थ मे कृति अथवा साहित्याकार के बौद्धिक विश्लेषण की सहयोगिनी अवश्य बनती है। ऐसा करने पर ही समालोचना के अन्तर्गत व्याख्या का प्रयोग सफल बनाया जा सकता है।

व्याख्या का स्वरूप—(अ) ऐतिहासिक पद्धति और उसका विवेचन

४१. समालोचना के व्याख्यात्मक स्वरूप का एक प्रमुख अंग उसकी ऐतिहासिक पीठिका है। साहित्य-समीक्षण के क्षेत्र मे इसको महत्त्व देने वाले विचारक साहित्य-निर्माण को उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और भावना मे ग्रहण करते है। उनके मतानुसार साहित्यकार के समाज-निरपेक्ष तथा एकातिक व्यक्तित्व की कल्पना की ही नही जा सकती, क्योकि उसकी मनोभावनाओ के निर्माण मे देश की तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और सास्कृतिक परिस्थितियो तथा वातावरण का यथेष्ट संयोग रहता है। ऐसे विचारको की दृष्टि मे किसी भी साहित्यकार अथवा उसकी कृति का सम्यक् मूल्याकन करने के लिए यह आवश्यक है कि उसके युगीन लोक-धर्म का पूर्वपीठिका के रूप मे ऐसा ज्ञान अनिवार्यत: कर लिया जाय जो उस साहित्यकार की अतर्मुखी और बहिर्मुखी भावनाओ को हृदयगम कराने मे सहायक हो सके। यद्यपि भारतीय काव्यशास्त्र-परम्परा मे इस प्रकार के दृष्टिकोण का महत्त्व नही था, क्योकि यहाँ की सैद्धान्तिक और शास्त्रीय प्रणाली साहित्य को उसके विशुद्ध स्वरूप मे समीक्षित करना ही अपना प्रधान कार्य समझती थी, किन्तु पाश्चात्य देशो की समीक्षा-पद्धतियो मे इसका कालान्तर मे यथेष्ट महत्त्व माना गया है। वहाँ के साहित्य के पुनरुत्थान काल मे इसकी विशेष चर्चा रही है। वैसे तो अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध फ्रेंच इतिहास के लेखक टेन (ताइन) व्याख्यात्मक समीक्षा-पद्धति की इस प्रक्रिया को आधुनिक युग मे सर्वाधिक महत्त्व देने वाले माने जाते है, किन्तु अन्य समीक्षको ने भी व्याख्यात्मकता की इस पद्धति को यथेष्ट महत्त्व दिया है। अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् हॉब्स, कारलायल, बेकन, ड्राइडन, मिल्टन, फ्रेडरिक श्लेजिल और मैथ्यू आर्नल्ड आदि ने अपने साहित्य-विवेचन के प्रसग मे समालोचना के लिए ऐतिहासिक धरातल

की आवश्यकता निर्दिष्ट की है। इन विद्वानो ने प्राचीन तथा नवीन साहित्य का विश्लेषण करते समय उस युग के विभिन्न पक्षो का भी चित्रण किया है जिन्होने साहित्यकार के व्यक्तित्व निर्माण में प्रेरणा प्रदान की थी। इन विचारको मे कुछ विचारक तो समालोचना के लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की अनिवार्यता पर इतना अधिक बल देते हैं कि उसके बिना साहित्यकार का निर्माण समझा ही नही जा सकता।

४२ ऐतिहासिक पद्धति की विवेचना को लेकर पाश्चात्य साहित्य मे पर्याप्त विश्लेषण हुआ है। इस विश्लेषण मे पूर्वग्रहवृत्ति भी कम नही है। होमर ने स्वतन्त्र शासन और प्रजातन्त्रवाद की प्रशसा करते हुए अपनी यह मान्यता स्थापित की है कि केवल वे ही हमारे उदात्त गुणो का विकास करने के मूल कारण होते है। टेसीटस तथा लोजाइनस की धारणाएँ भी कुछ इसी प्रकार की थी। ड्राइडन का कहना था कि प्रतिभा के निर्माण मे देशकाल और वातावरण का भी पर्याप्त हाथ रहता है। मैथ्यू आर्नल्ड ने तो यूनान के पिण्डार, सोफोक्लीज तथा इग्लैण्ड के शेक्सपियर की महत्ता के मूल में उनके युग-जीवन की उदात्तता स्वीकार की थी। श्लेजिल के मत से साहित्यकार के लिए अपेक्षित प्रज्ञा-शक्ति उसके राष्ट्र-धर्म और आर्थिक जीवन का ही सत्व है। अभिप्राय यह है कि इस प्रकार का विवेचन उन विचारको के इस पूर्वग्रह का प्रतीक है कि व्यक्ति के अन्तर्मुखी व्यक्तित्व से उसके बाह्य जीवन का अधिक महत्त्व है और वस्तुत उनकी यही धारणा एक प्रकार से पूर्वग्रह वृत्ति का कारण बन जाती है क्योकि इसके द्वारा साहित्यकार की मूल चेतना पर अर्गला-सी लगा दी जाती है। कहने की आवश्यकता नही कि घोर पराधीनता के युग मे भी ऐसे साहित्यकारो ने जन्म लिया है जिन्होने देश मे अभिनव क्रान्ति करते हुए ऊर्जस्वित साहित्य की सृष्टि की, अत महान् युग का साहित्यकार ही महान् होता है, यह धारणा अधिक समीचीन नही कही जा सकती।

टेन का सिद्धान्त और उसकी प्रमुख उपपत्तियाँ

४३ ऐतिहासिक पद्धति की विवेचना को सब से अधिक महत्त्व फ्रासीसी विद्वान् टेन ने दिया है। उसने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'हिस्ट्री आफ इग्लिश लिटरेचर' की भूमिका मे इस पद्धति के प्रमुख तत्वों का विश्लेषण कर उनकी वैज्ञानिकता निरूपित की है और साहित्य-परीक्षण के लिए उन्हे सर्वग्राह्य प्रतिमान के रूप मे स्वीकार किया है। उसे तो यह पद्धति इतनी अधिक पूर्ण प्रतीत हुई है कि उसके इतिहास की रचना की मूलचेतना भी यही कही जा सकती है। टेन के विवेचन से स्पष्ट है कि वह साहित्य-स्रष्टाओ के कार्यों के मूल्याकन के लिए उनके ऐतिहासिक आकलन और जीवन-चर्या का ज्ञान ही पर्याप्त समझता है, जिसने उनके भाव-पक्ष और कला पक्ष के निर्माण की प्रेरणा दी। उसने ऐसा करते हुए जाति, परिस्थिति और विशिष्ट युग की त्रिधा मे साहित्यकार की चेतना को केन्द्रित कर दिया है जिससे सचालित होकर वे साहित्य-निर्माण करते हैं। टेन की इन तीनो शब्दो की विवेचना अपने ढग की है। 'जाति' शब्द के अन्तर्गत उसने साहित्यकार की उन प्रवृत्तियो का विश्लेषण किया है जो उसके संस्कार के प्राक्तन स्वरूप मे निहित है तथा जिन्हे वह अपनी वश-परम्परा से अपनी रक्तशिराओ मे अन्तर्भूत किये हुए चला आता है। उसने अपने सिद्धान्त की सत्यता को प्रतिष्ठित करने के लिए विभिन्न जातियों के जीवन-विकास और सास्कृतिक धरातल की अनेकरूपिणी सस्थिति का परिचय देकर यही सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जातियो का इस प्रकार का वैभिन्न्यपूर्ण दृष्टिकोण उनके निर्माण की अलग-अलग चेष्टाएँ हैं जो उनके जीवन के मुखर-प्रतिबिम्ब साहित्य में आलोकित होती है। वस्तुतः जाति से सम्बन्धित वे ही हमारी मूल प्रवृत्तियाँ हैं जिनकी उपेक्षा कर साहित्यकार की प्रतिभा का वास्तविक समीक्षण किया ही नही जा सकता।

४४. टेन ने जाति-विषयक विवेचन के पश्चात् परिस्थिति का विश्लेषण किया है। उसके अनुसार परिस्थिति वह पार्थिव भूमिका है जिससे साहित्यकार की जन्मजात प्रवृत्तियाँ प्रभावित होती

है तथा जिसके कारण व्यक्ति की जाति-निर्मित भावनाएँ आन्दोलित हो उठती है। परिस्थिति के अन्तर्गत देश की भौगोलिक अवस्था का भी समावेश हो जाता है जिसका मनुष्य के सास्कृतिक निर्माण मे पर्याप्त हाथ है। कहा जा सकता है कि आर्य जाति तथा यवन जाति की जीवन-विषयक धारणाओ और साहित्यादर्शों मे जो वैभिन्न्य दृष्टिगोचर होता है, वह उनकी भिन्न-भिन्न परिस्थितियो की ही प्रतिक्रिया है। एक प्रकार से भारतीय जीवन-दर्शन की आध्यात्मिक चेतना का श्रेय यहाँ की अद्वितीय एव विशिष्ट परिस्थिति को ही दिया जा सकता है। इसी प्रकार यूनान, इग्लैण्ड तथा रोम आदि के साहित्यो मे जो वैशिष्ट्य उपलब्ध होता है, वह उनके जातिगत और परिस्थितिजन्य तत्वो का ही परिणाम है।

४५ टेन ने अपनी ऐतिहासिक विवेचना की सुग्राह्यता का स्पष्टीकरण करने के लिए युग का भी विश्लेषण किया है। उसकी दृष्टि मे युग, जाति और परिस्थिति के सम्मिलन-भाव का ही प्रतिफल है जिसमे साहित्यकारो की प्रतिभा को किसी विशेष दशा की ओर मोड़ने की शक्ति रहती है। विभिन्न समयो मे साहित्यकारो के रचनाविधान मे जो अन्तर दृष्टिगोचर होता है उसका एक प्रमुख कारण उनकी भिन्न-भिन्न युग-चेतनाएँ ही है। उसका तो यहाँ तक कहना है कि यदि शेक्सपियर एलिजाबेथ के युग मे उत्पन्न न होकर आज के युग मे उत्पन्न होता तो उसकी जाति तथा परिस्थिति इस युग के साथ समाविष्ट होकर उसे ऐसी भाव-भूमि मे ले जाती, जहाँ से उसकी रचना-प्रक्रिया और साहित्य-चेतना ही परिवर्तित हो जाती। इस प्रकार टेन के मत से जाति हमारे जीवन की अन्तश्चेतना, परिस्थिति उसका वाह्य स्वरूप और युग उसका उपलब्ध सवेग है जो मानव-जीवन तथा साहित्यकार की सास्कृतिक पीठिका का निर्माण करते चलते है तथा जिन्हे अपना प्रेरणा-स्रोत बनाकर काव्यकार अपनी सर्जना मे प्रवृत्त होता है। कहने की आवश्यकता नही कि टेन ने यही दृष्टिकोण अपने अग्रेजी साहित्य के इतिहास-लेखन मे चरितार्थ किया है, जिससे वह कई विद्वान् आलोचको की दृष्टि से अपूर्ण और अवैज्ञानिक भी बन गया है।

४६ इसमे कोई सन्देह नही कि टेन की ऐतिहासिक प्रणाली आधुनिक समीक्षा-जगत् मे एक नवीन तथा स्वस्थ परम्परा के सस्थापन मे उपयोगी सिद्ध हुई है, किन्तु उसकी भी कुछ ऐसी विशेष सीमाएँ है जिनका निषेध नही किया जा सकता। ऐतिहासिक विवेचन-पद्धति के अनुसार जब कोई समालोचक किसी साहित्यकार अथवा उसकी कृतियो की व्याख्या करने लगता है तो उसके सम्मुख प्रधान तत्व उस युग का इतिहास आता है जिसमे समालोच्य साहित्य-स्रष्टा ने जन्म लिया था। यदि वह अपने विश्लेषण को और अधिक व्यापक और पूर्ण बनाने का आकाक्षी होता है तो अधिक से अधिक यह कर सकता है कि वह उस पूर्ववर्ती युग का भी इतिहास व्याख्यात कर दे जिसकी परिणति समालोच्य युग मे हुई थी। कहने की आवश्यकता नही कि इस प्रकार का दृष्टिकोण केवल साहित्यकार के जीवन की पार्श्वभूमि समझने मे सहायक हो सकता है, किन्तु उसके द्वारा उसकी वह आत्मचेतना उद्घाटित नही की जा सकती जो उसके रचना-सौरस्य का मूल उत्स होती है। अत. व्याख्यात्मक समीक्षा की यह प्रणाली सर्वांगीण भाव से निर्दोष नही मानी जा सकती। इसको अपूर्ण मानने का एक आधार यह भी है कि इसके द्वारा जाति, परिस्थिति और युग का तो अध्ययन कर लिया जाता है; किन्तु साहित्यकार के व्यक्तित्व और आत्म-चेतना का निरूपण नही हो पाता जो उपर्युक्त तीनो शक्तियो से उच्चतर गुरुता रखते हुए साहित्य-सृजन का मूल कारण होता है। सच तो यह है कि साहित्यकार का व्यक्तित्व और उसकी आत्मानुभूति ही ऐसा तत्व है जिसके कारण उसका मानस-लोक आत्म-स्फुरित होता है। ऐसी परिस्थिति मे जाति, परिस्थिति और युग की त्रिगुणात्मकता ही कुछ नही कर पाती, जब तक साहित्यकार का व्यक्तित्व सृजनशील न हो। इसका एक प्रमाण तो यही है कि एक ही जाति, युग और परिस्थिति मे रहने वाले दो व्यक्तियों मे एक तो अपने विशिष्ट गुण और व्यक्तित्व के कारण महान् साहित्य स्रष्टा बन जाता है और दूसरा इस

क्षेत्र मे कुछ भी नही कर पाता। इससे सिद्ध है कि साहित्यकार के व्यक्तित्व का महत्त्व उपर्युक्त तीनों शक्तियो से अधिक है और केवल वाह्य परिवेश से साहित्यकार के मूल सृजन को नही समझा जा सकता। ताइन ने अपने अंग्रेजी साहित्य के इतिहास मे प्रत्येक काल के जिन लेखको और कृतियो का अनुशीलन किया है उनमे केवल जाति, परिस्थिति और युग का प्रतिनिधित्व मात्र हो सका है, जिसके कारण उसका इतिहास-विवेचन दोषपूर्ण बन गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समालोचना की ऐतिहासिक पद्धति उसका एक महत्त्वपूर्ण अग होते हुए भी अपूर्ण है और तब तक पूर्णतया ग्राह्य नही समझी जा सकती जब तक उसमे साहित्यकार की अमर चेतना की प्राण-शक्ति का सचार नही किया जाता।

व्याख्यात्मकता का द्वितीय स्वरूप : आत्मचरित-पद्धति का विधान

४७ इसमे तो कोई सदेह नही कि ताइन ने जिस ऐतिहासिक पद्धति का अनुगमन किया था, वह वस्तुत समीक्षा-कार्य के लिए किसी निश्चित सीमा तक अवश्य ग्राह्य थी, किन्तु उसमे साहित्य-स्रष्टा के वैयक्तिक स्वरूप का सगठन न होने के कारण उसकी अपूर्णता भी प्रकट हुए बिना न रही। ताइन की समीक्षा पद्धति की इस न्यूनता की ओर उसके समकालीन समालोचको का ध्यान चला गया था। उसके पूर्व भी विचारको की एक श्रेणी यह मानकर चल रही थी कि साहित्यकार के निर्माण मे उसके आत्मचरित या जीवनी का भी योग रहता है। उसके उत्तरवर्ती काल मे तो यह मान लिया गया कि कोरी ऐतिहासिक पद्धति की समालोचना अपूर्ण है और उसे जीवनचरित सबधी व्याख्या पद्धति से सयुक्त बनाकर ही पूर्ण बनाया जा सकता है। डाक्टर जानसन ने 'लाइव्ज आफ दी पोइट्स' नामक अपनी समालोचना कृति मे जिन कवियो का अध्ययन प्रस्तुत किया है, उनके जीवन का निकटतम संबंध उनकी कृतियो के साथ जोडा गया है। उसी के अनुसरण पर आगे आने वाले हैजलिट्, मैकाले, कारलाइल तथा हैलप आदि अन्यान्य समालोचकों ने भी कवियो के जीवन-चरित की व्याख्या उन्ही कृतियो के समीक्षण के प्रसग मे की थी।

सेण्ट ब्यूवका सिद्धान्त और उसका विवेचन

४८. आलोचना के व्याख्यात्मक स्वरूप को पूर्ण बनाने के लिए रचनाकार के जीवन-चरित का सूक्ष्म अध्ययन किया जाना चाहिए, इस ओर सबसे अधिक जिसका आग्रह रहा वह भी फ्रास का एक विचारक ही था, जिसका नाम है सेण्ट ब्यूव। उसने आत्मचरितमूलक पद्धति का अनुगमन उसी दृढता से किया, जिस दृढता से ताइन ने ऐतिहासिक पद्धति का। ब्यूव को अपनी जीवनचरित सम्बन्धी पद्धति को वैज्ञानिक विस्तार देने की सूक्ष्मशास्त्रीय मत के विच्छेद मे हुई। अनेक कृतियो का गम्भीर अध्ययन कर वह इस परिणाम पर पहुँचा कि जिस प्रकार फल पेड़ का जीवनमूलक विस्तार है, उसी प्रकार कृति भी उसके रचयिता की मानसिकता का मूर्त स्वरूप है। इस प्रकार उसकी दृष्टि से जब तक कृतिकार की जीवनी का अध्ययन नही किया जाता, तब तक कृति के समीक्षण मे भी न्याय-भावना का निर्वाह नही हो सकता। उसने विवेचन की सहायता से समालोचना-क्षेत्र मे जीवनचरितमूलक पद्धति को ऐसी महत्ता दी, जिसके द्वारा कृतिकार के जीवन का वह विकास समझा जा सकता है जिसके कारण वह रचना करने मे सफल हो पाता है।

४९. ब्यूव की जीवनचरितमूलक समालोचना पद्धति की प्रथम अवस्था ताइन की ऐतिहासिक पद्धति के बहुत निकट है; क्योकि इसमे भी पहले लेखक की जाति और परिस्थिति का अध्ययन किया जाता है। ब्यूव का कहना है कि इनके द्वारा हमे साहित्यकार की जीवनी को समझने मे सहायता मिलती

है अवश्य; किन्तु उसमे अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यो का अभाव भी बना रहता है। उसने अपनी जीवन-चरितमूलक आलोचना के प्रसग मे यह बात बार-बार दोहराई है कि ऐसा अध्येता समालोचक पहले कृतिकार के वश परिचय, पारिवारिक जीवन और मित्र-समुदाय का अनुशीलन करे और इस बात का पता लगावे कि किसी लेखक ने सर्वप्रथम किस प्रकार की प्रेरणा से प्रवृत्त हो अपनी कृति का निर्माण किया था। उसने लेखक के प्रथम काव्यात्मक और आलोचनात्मक केन्द्र के अध्ययन को आलोचक के लिए ऐसा गर्भाशय माना है जिसमे लेखक अपना रूप धारण करता है। उसके अनुसार व्याख्यात्मक समालोचक के लिए यह भी आवश्यक है कि वह लेखक के जीवनचरित की प्रगति का भी अध्ययन करे और इस बात का पता लगावे कि उसके आत्म-सघर्ष की सफलता अथवा विफलताओ ने उसके जीवन की विचारधारा मे किन-किन समयो मे कौन-कौन-सी उत्क्रांतियाँ की है और उनकी उसकी रचना पर क्या-क्या प्रतिक्रियाएँ हुई है अथवा कैसा-कैसा प्रभाव पडा है? इस प्रकार ब्यूव के अनुसार समालोचक को समालोच्य कृति का पूर्णरूपेण तथ्य ग्रहण करने के लिए उसके रचयिता के जीवन का पद-पद पर सहारा लेना अनिवार्य है और यदि वह ऐसा नही कर पाता तो उसकी समीक्षा मे अनेक प्रकार की एकागिताएँ अथवा दोषोद्भावनाएँ भी आ सकती है।

जीवनचरित प्रणाली की अपूर्णताएँ और उनका विवेचन

५०. स्पष्ट है कि ब्यूव की जीवनचरितमलक व्याख्यात्मक समीक्षा-पद्धति मे समालोचना के मूल रूप को ग्रहण करने की अद्भुत क्षमता थी। उस युग के अनेक आलोचको ने भी उसका अनुगमन किया था। कॉलरिज, मैथ्यू आर्नल्ड और मिडिल्टन मरे आदि अँग्रेजी समालोचको के शेक्सपियर तथा शेली आदि कवियो के अध्ययन मे इस व्याख्यात्मक पद्धति का प्रयोग है और इसके सहारे अनेक तथ्यो का रहस्योद्घाटन हुआ है। यह सब कुछ होते हुए भी ऐतिहासिक पद्धति की भाँति व्याख्या की इस जीवनचरितमूलक पद्धति को भी कृतिकार अथवा कृति के समीक्षण का सर्वांगीण मानदण्ड नही बनाया जा सकता। बात यह है कि इस पद्धति मे भी अनेक प्रकार की अपूर्णताएँ अथवा कठिनाइयाँ हैं। सर्वप्रथम असुविधा तो यही है कि जीवन का वस्तु की भाँति इस प्रकार प्रयोग नही किया जा सकता, क्योकि ऐसा करने के मार्ग मे अनेक व्यवधान हैं। इसका एक प्रमाण तो यही है कि अत्यन्त निम्न स्थिति के घरों मे जन्म लेने वाले व्यक्ति भी समयानुक्रम से ऐसे महान् व्यक्तित्वशाली बने है, जिनकी प्रारम्भ मे कल्पना भी नही जा सकती थी। बात यह है कि प्रतिभा की जाँच का कोई वैज्ञानिक और स्थूल साधन नही हो सकता, अत् जीवनचरित-मूलक व्याख्या-पद्धति का प्रयोग ऐसे लेखको के विषय में प्रायः असफल रहता है जो अपनी वश-परम्परा और जीवन-निर्वाह की विधि से सर्वथा विपरीत मान्यताओ और दृष्टिकोण से अपनी साहित्याभिव्यक्ति करते है। इसी प्रकार जीवनचरितमूलक व्याख्या-पद्धति की एक सीमा यह भी है कि उसके द्वारा उन अतीत कालीन लेखको और रचयिताओ का अध्ययन नही किया जा सकता, जिन्होने अपनी काव्य-कृतियो मे अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे कुछ भी नही लिखा है। कहने का अभिप्राय यह है कि जीवनचरितमूलक समालोचना की व्याख्या-पद्धति से हम कृतिकार की मानसिक चेतना के निकट पहुँचने का आधार अवश्य पाते है, किन्तु इसमे समालोचना का पूर्ण स्वरूप समाहित नही किया जा सकता। हाँ, इसकी उपयोगिता आधुनिक समालोचना जगत मे अवश्य स्वीकार की गई है और अँग्रेजी साहित्य की भाँति आधुनिक भारतीय साहित्यालोचन मे भी इसको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है जिसका हिन्दी साहित्यालोचन भी अपवाद नही कहा जा सकता।

५१. जीवन चरितमूलक समालोचना मे साहित्यकार के व्यक्तिगत जीवन की समानुवर्ती भूमिका पर उसकी कृतियो का विश्लेषण किया जाता है। इसका अनुयायी समालोचक यह मानकर चलता

है कि साहित्य-सृष्टि व्यक्ति की आत्म-चेतना का प्रतिफल है, अत जब तक साहित्यकार की स्वाभाविक मूल मनोवृत्ति को नही समझा जा सकता तब तक उसके निर्माण की प्रकृत दिशाओ का बोध नहीं किया जा सकता । इस श्रेणी के समालोचकों ने इस दिशा मे पर्याप्त प्रयास किए है कि व्यक्ति की आत्मपरक-प्रवृत्ति का प्रभाव उसकी कला कृतियों मे अन्वेषित किया जाय। कहना होगा, उनका यह प्रयत्न एक सीमा तक ही ग्राह्य है। इसमे कोई सन्देह नही कि साहित्य-सृजन का मूल उत्स वैयक्तिकता है, किन्तु उसकी प्रेषणीयता का एक सामाजिक धरातल भी है। यदि व्यक्ति की आत्म-कुठा को ही सर्वस्व मान लिया जाय तो साहित्य-सृष्टि सर्वथा निरकुश बनकर अनेक प्रकार के अनाचारो का सृजन करने लगेगी। अत इस बात की बडी आवश्यकता है कि जीवनचरितमूलक समालोचना को एक विशेष परिधि मे केन्द्रित करते हुए उसका महत्त्व निरूपण हो। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि साहित्य-रचना हमारी आत्म-विभोर स्थिति के विशेष क्षणों की विशेष उद्भावना है, अत. उसे साहित्यकार के दैनिक और व्यावहारिक जीवन की सम्पूर्ण व्यापकता के साथ सम्बद्ध कर नही परखा जा सकता। भौतिकवादी पश्चिमी जगत् की बात तो दूर रही, भारतीय साहित्योदधि मे जो असख्य शृगार-रत्न उपलब्ध होते है, उन्हे यदि काव्यकारो के जीवन के साथ सम्बन्धित कर चलने लगे तो हमारे अनेक तपोपूत साहित्य महर्षि-भी व्यर्थ की वासना के पक मे लिप्त कर दिए जाएँगे। सच तो यह है कि साहित्यकार की प्रतिभा व्यावहारिक जीवन की परिधि मे ही सिमटी नही रहती, अपितु अपना व्यापक आत्म-प्रसार करने की क्षमता भी रखती है। अत उसकी कल्पनाशील प्रवृत्ति को साहित्यकार के व्यक्तिगत जीवन की प्रतिच्छाया-मात्र मानकर चलना कदापि युक्तिसंगत नही कहा जा सकता। जीवनचरितमूलक समालोचना से एक विरोध उन मनोविश्लेषक साहित्य शास्त्रियो का भी है जो एडलर के अनुसार साहित्य को आत्महीनता की क्षतिपूर्ति का साधन-मात्र मानकर चलते है, क्योकि यदि साहित्य साहित्यकार के व्यक्तिगत जीवन का एकमात्र अनुकरण ही हो तो क्षतिपूर्ति का प्रश्न ही नही उठता। इसी प्रकार महर्षि बाल्मीकि, व्यास आदि काव्यकारो की रचनाओ मे जिस सासारिकता का व्यवहारपक्ष चित्रित हुआ है, उसके अनुसार तो उन्हें अत्यन्त ही सासारिक मोहग्रस्त प्राणी होना चाहिए, जबकि ऐसा नही है। इस प्रकार आत्मचरितमूलक समालोचना का दुर्बल पक्ष स्वत ही हमारे सामने आ जाता है।

मनोविश्लेषणवादी पद्धति का स्वरूप

५२. मनोविश्लेषणवाद भी आधुनिक समालोचना का एक प्रमुख अग बनकर प्रस्तुत हो रहा है। कहा जा सकता है कि जैसे ऐतिहासिक प्रणाली से चलकर समालोचक जीवनचरितमूलक समीक्षा तक पहुँचा, वैसे ही वह उसी अनुक्रम का अग्रिम विकास मनोविश्लेषण शास्त्र पर केन्द्रित होकर कर सका। वैसे तो भारतीय साहित्य मे भी रस-निष्पत्ति और भावाभिव्यजन के प्रसंग मे मनोवैज्ञानिकता का विवेचन हुआ है, किन्तु आज का मनोविश्लेषण शास्त्र अपने रूप और प्रक्रिया में उससे बहुत कुछ भिन्न कोटि मे उपस्थित हो रहा है। समालोचकों ने इस शास्त्र के आधार पर कृतिकार और उसके चरित्रो का विश्लेषण कर ऐसी अनेक उपलब्धियाँ की हैं, जिनसे पता चलता है कि उनका मूल प्रयास उस तथ्य को ग्रहण करने की ओर अवश्य रहा है जिससे प्रेरित होकर कृतिकार का मानस अपने मनोनुकूल साहित्य सृष्टि करने में समर्थ होता है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि शेक्सपियर के आलोचक अर्नेस्ट जेम्स ने हैम्लेट की मानसिक अस्तव्यस्ता का कारण उसकी एपीडस नामक ग्रथि की क्रियाशीलता को बतलाया तो डाक्टर समरविल ने अपनी 'मेडनेस इन शेक्सपियरिन ट्रैजेडी' नामक पुस्तक मे उसके प्रत्येक पात्र की कार्यतत्परता मे किसी न किसी मानसिक ग्रन्थि की उलझन का आभास अन्वेषित कर ही लिया है। मनोविश्लेषण का यह आग्रह कई स्थलों पर तो इतना अधिक दुराग्रह-दंशित बन गया कि

समालोचक बात-बात मे रचयिता के मनोविश्लेषण की दुहाई देने लगे जिसमे समालोच्य विषय का प्रयोजन केवल गौण मात्र बनकर रह गया। आजकल तो साहित्यालोचन की वैज्ञानिक पद्धति मे इसका प्रयोग अपरिहार्य बन गया है और पश्चिमी साहित्यालोचन की भाँति ही हिन्दी समालोचना-क्षेत्र मे भी यह अपना व्यापक प्रभाव अकित किए हुए है। इसमे कोई सन्देह नही कि मनोविश्लेषण-शास्त्र ने हमे अवश्यमेव एक नवीन जीवन-दृष्टि देने की चेष्टा की है, किन्तु उसकी वह एकागी अतिरेकता कभी सुग्राह्य नही कही जा सकती है जिसमे उसका समर्थन करने वाला समालोचक प्राचीन और अर्वाचीन सभी प्रकार के साहित्यकारो पर मनोविज्ञान के नाम पर फ्रायडीय विचार-धारा के विकृत प्रयोग करने मे निस्सकोच भाव से आगे बढ जाता है। हिन्दी समालोचना मे इस प्रकार की समीक्षा के तत्त्व किन-किन रूपो और प्रकारो से सगठित होकर आये है, उनका विवेचन यथास्थान दिया जायगा। यहाँ तो इस सकेत का आशय यही है कि मनोविश्लेषण-शास्त्र भी आधुनिक-समालोचना का एक विशिष्ट अग बनकर प्रस्तुत हुआ है और इसकी उपेक्षा कर आधुनिक समालोचना पर विकास-क्रम समझा ही नही जा सकता।

समालोचना की रचनात्मक प्रक्रिया और उसका प्रयोग

५३. साहित्य का स्वरूप-विधान भी समालोचना का एक प्रतिपाद्य विषय रहा है। सभी देशो के साहित्यो मे इसका निरूपण उपलब्ध होता है। इसे साहित्य का रचनात्मक पक्ष कहा जा सकता है, क्योकि इसके अन्तर्गत साहित्य का सृजन, प्रयोजन, तत्व-निर्देश तथा रूप-गठन आदि का विवेचन रहता है। युग और परिस्थिति के अनुसार प्रत्येक देश के साहित्य-मीमासको ने अपने मानसिक स्तर और सास्कृतिक धरातल पर साहित्य का स्वरूप-विधान किया है। इस स्वरूप-विधान मे विभिन्न विचारधाराओ का भी सयोजन रहा है। इस वृत्ति को अपनाकर चलने वाले समीक्षक पहले साहित्य की रचनात्मक प्रक्रिया का विश्लेषण करते है और तदुपरान्त समालोच्यकृति पर उस का सघटन किया जाता है। इस प्रकार रचनात्मक समालोचक समालोच्य रचना अथवा कृतिकार का पुनर्सस्थापन अपनी बौद्धिक प्रक्रिया के द्वारा प्रस्तुत करता है। ऐसा करते समय वह अपनी सौन्दर्य-विधायिनी दृष्टि का भी परिचय देता है। उसका मूल प्रयत्न यही रहता है कि वह समालोच्य कृति का पूर्ण स्पष्टीकरण साहित्य-जगत् के सामने प्रस्तुत करे। कलाकार की भाँति रचनात्मक आलोचक भी साहित्य का समीक्षण स्वतन्त्र दृष्टि से कर इस विषय का तथ्य निरूपण भी करता चलता है कि उसमे जीवन की अभिव्यक्ति किस रूप मे हुई है और उसका रहस्योद्‌घाटन किस मनोवैज्ञानिक विधान से किया जा सकता है।

प्रभावाभिव्यजनवादी समालोचना और उसका स्वरूप

५४. रचनात्मक समालोचना का एक अंग उसकी प्रभावाभिव्यजकता भी है। इस श्रेणी का समालोचक मुख्यत समालोच्य कृति के उन प्रभावो का विवेचन करता है जो उसके मन पर कृति का अध्ययन करते समय अंकित होते है। ऐसा करते समय वह कृतिकार के मानसिक स्तर का विश्लेषण भी लगे हाथो कर देता है। अग्रेजी साहित्य मे शेक्सपियर, कीट्स, बायरन और शेली आदि साहित्यकारो को लेकर विभिन्न समालोचको ने इसी पद्धति मे अपना विवेचन प्रस्तुत किया है। इस श्रेणी के समालोचक के लिए इस बात की कोई आवश्यकता नही रहती कि वह किसी विशेष सिद्धान्त प्रणाली अथवा वाद-विचारणा के आधार-तत्वो पर अपनी समालोचना को प्रतिष्ठित करे। सच तो यह है कि उसकी समालोचना रचनात्मक साहित्य की भाँति एक प्रकार की आह्लाद-पूर्ण रचना ही होती है जिसमे वह स्वतन्त्र दृष्टि से अपने मनोनुकूल प्रसगो पर आत्म-विभोर होकर उनका हार्दिक सस्तव करता है तो प्रतिकूल परिस्थिति मे उनकी कदर्थना करने से भी नही चूकता। उनके मन पर पडने वाला कृतियो का प्रभाव ही उसके साहित्य-समीक्षण का कालान्तर मे मानदंड

बन जाता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि किसी शास्त्रीय प्रतिमान मे उसका वह प्रभाव किसी कृति के अनुकूल सिद्ध होता है तो वह उसे अपना मूलाधार बनाकर साहित्य-विवेचना को सैद्धान्तिक स्वरूप प्रदान कर देता है। निश्चय ही समालोचना की यह भी एक प्रमुख प्रणाली है और इसका युगानुरूप महत्व है, इस सत्य का कदापि निषेध नही किया जा सकता। आधुनिक हिन्दी साहित्य मे जिन समालोचनात्मक प्रवृत्तियो का विकास हुआ है उनमे प्रभाववादी समालोचना भी एक विशिष्ट श्रेणी ही रही है, इसमें कोई सदेह नही।

५५. प्रभाववादी समालोचना का एक लक्षण उसकी व्यक्तिपरकता अथवा विशिष्ट चेतना भी है। वैसे तो प्रत्येक समालोचक मूलत. प्रभाववादी ही होता है, किन्तु जब शास्त्रीयता अथवा परम्परागत सैद्धान्तिकता, अपने समालोचक व्यक्तित्व को आक्रान्त कर देती है तो प्रभाववादी को अपनी शास्त्र-निष्ठा से कतरा कर चलना पडता है। पर यह परिस्थिति सदैव नही बनी रहती। जिस प्रकार रचनात्मक प्रतिभावाला साहित्यकार रूढिग्रस्तता को तोडकर अपनी स्वतन्त्र सौन्दर्यपूर्ण संवेदना से साहित्य-सृष्टि करता है, उसी प्रकार प्रभाववादी समालोचक भी अपनी मानसिक चेतना के स्वच्छन्द विधान से साहित्य का समीक्षण करने के लिए उद्यत होता है। निश्चय ही उसके स्वभाव मे एक प्रकार की असाधारणता भी रहती है। जो रचनाकार की भाति अपने उर्वर मस्तिष्क से साहित्य के नवनीत की अभिव्यजना स्वत आत्मप्रेरित दृष्टि से कर लेती है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रभाववादी समालोचक एक प्रकार से किसी कृति-विशेष के मानसिक प्रभावो का अकन अपनी समीक्षा मे करता है जो किसी कृति के अध्ययन-काल मे उसकी मानसिक संवेदना पर स्वत: पड जाते है। इस से यह भी सिद्ध होता है कि उस श्रेणी के समालोचक के लिए वर्तमान का जितना महत्व होता है, उतना भूत और भविष्य का नही। समालोचना की इस प्रणाली की व्यक्तिवादिता को देखकर ही कुछ विचारको ने इसे आत्मपरक समीक्षा की भी संज्ञा दी है। अनातोले फ्रांस तो इस श्रेणी की समालोचना को सर्वोच्च श्रेणी प्रदान करता है। क्योकि उसके अनुसार अच्छा समालोचक वही है, जो उत्कृष्ट रचनाओ मे अपनी आत्मा का प्रभाव वर्णन करता है। अनातोले के इस कथन मे सत्य का यथेष्ट अंश है, क्योकि समालोचना के विकासक्रम के मूल्य मे भी आत्मपरकता और प्रभावाभिव्यजकता का प्रमुख महत्त्व है और इसी अनुक्रम से ही समालोचना व्याख्या तथा निर्णय की ओर अग्रसर होती है। पाश्चात्य साहित्य जगत् के सभी प्रमुख समालोचकों ने समालोचना की इस प्रणाली का महत्त्व निरूपण किया है।

प्रभावाभिव्यंजनवादी समीक्षा की सीमाएँ

५६. प्रभाववादी समालोचना की जहाँ अनेक विशेषताएँ है, वहाँ उसका दुर्बल पक्ष भी अस्पष्ट नही है। इस प्रकार की प्रणाली के अनुसार समालोचना शास्त्र की अपेक्षा कला की कोटि मे अधिकता से आती है, क्योकि इसका अनुयायी समालोचक अपनी स्वच्छन्दवादी दृष्टि से कला-कृति के प्रभावों का प्रतिचित्रण ही अपनी समालोचना में प्रस्तुत करता है। इस समालोचना का एक दोष यह भी है कि इसके द्वारा अनेक बार साहित्य समीक्षण में अवैध नियन्त्रण भी आ जाता है। बात यह है कि जब इस प्रणाली की समालोचना के अनुसार समालोचना कला कृति के अध्ययन से उद्भूत समालोचक की मानसिक सवेदनाओ का ही प्रतिवर्तन है तो विभिन्न समालोचकों की ग्राहिका शक्ति अपनी अभिरुचि के अनुरूप ही किसी कृति के विषय मे अपना अभिमत प्रकट करती है और इस प्रकार समीक्षा क्षेत्र मे मत-मतान्तरों और दृष्टि भेदो का एक जमघट-सा लग जाता है। अत. जहाँ इस प्रकार की समालोचना की महत्ता है, वहाँ इस विषय में समालोचक का उत्तरदायित्व इस विषय में बहुत अधिक बढ जाता है कि वह बहुत सोच समझ कर अपना ऐसा मानसिक प्रभाव अभिव्यक्त करे जो एक व्यापक रस-संवेदना के धरातल पर प्रतिष्ठित हो। यदि वह ऐसा नहीं कर सका तो समालोचना

क्षेत्र मे एक प्रकार की अराजकता आ जाएगी जिससे सत्साहित्य का स्वरूप-भावन सुचारू-रूप से कदापि नही हो सकेगा।

५७. प्रभाववादी समालोचना के अनुयायी समालोचक यही मान्यता लेकर चलते हैं कि समालोचना का मूल उद्देश्य केवल समालोच्य कृति के मानस-मुकुर पर पडने वाले प्रभाव को बौद्धिक रसानुभूति की विधि से व्यक्त मात्र कर देना है, उसका निर्णय देने से कोई प्रयोजन नही; किन्तु यह उचित नही है। सच तो यह है कि समालोचना किसी कृतिकार अथवा रचना-विशेष की होने वाली मानसिक प्रतिक्रिया का ही उद्भावन नही करती, किन्तु वह व्याख्या और विवेचना के पश्चात् निर्णय भी देती है। अग्रेजी मे इसका पर्याय क्रिटीसिज्म शब्द जिस क्रीटीज नामक ग्रीक धातु से उद्भूत हुआ है, उसका मूल अर्थ निर्णय करना ही है। भारत की भाँति पश्चिमी देशो मे भी समालोचना की जो प्रारम्भिक प्रणालियाँ प्रचलित थी, उनका मूल उद्देश्य भी किसी न किसी नैतिक अथवा सौन्दर्यपूर्ण विधि से निर्णय देना ही होता था। ऐसा करने के पूर्व समालोचक पहले कृति का सहृदयतापूर्वक अध्ययन करता, फिर अपने मानसिक स्तर के अनुसार उसका विश्लेषण करता और तदुपरान्त अपनी विचारात्मक प्रतिक्रिया के पश्चात् अपना निर्णय देता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समालोचना का अन्तिम उद्देश्य निर्णय करना ही होता है। ऐसा करने के लिए समालोचक मे एक गहरी अन्तर्दृष्टि, व्यापक अध्ययन और रसानुभूति की सहज संवेदना का ज्ञान होना आवश्यक है। स्पष्ट है कि जिस समालोचक मे यह शक्ति जितनी अधिक व्यापक और गम्भीर होती है, वह उतना ही अधिक उच्चकोटि का हो सकता है। अत प्रभाववादी समालोचना मे भी इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि वह केवल भावमयी कलात्मक दृष्टि बनकर समालोच्य कृति के व्यक्तित्व मे ही न खो जाय, अपितु अपने नीरक्षीर निर्णय की प्रवृत्ति का भी रहस्योद्घाटन कर सके। किसी भी देश के साहित्य मे जब प्रभाववादी समालोचना का केवल भाव-मुग्धकारी स्वरूप ही प्रकट होता है तो उसका पाठक केवल उसकी कला-माधुरी से ही चमत्कृत होकर रह जाता है और उसके द्वारा कृति के गुण-दोषो और वैशिष्ठ्य को नही समझ पाता। अतः इस प्रणाली का महत्त्व और निर्वाह एक सापेक्षिक सीमा के अन्तर्गत ही मानकर चलना चाहिए।

समालोचना में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

५८ वर्तमान युग की राजनीति और जीवन-आस्थाओ ने साम्राज्यवाद और समाजवाद के वर्गों मे विश्व-मानव की अखडता को विभक्त कर साहित्य के मन भावन प्रदेश मे भी विद्रोह-सा उपस्थित कर दिया है, जिसकी प्रतिच्छाया सर्वत्र आलोकित है। युग की माँग आज समाजवादी विचारधारा की ओर है और यही कारण है कि समालोचना क्षेत्र मे भी समाजवादी विचारधारा पनप रही है जिसके फलस्वरूप मार्क्सवादी पद्धति हमारे समालोचना-क्षेत्र की भी एक प्रमुख प्रवृत्ति बनकर प्रकट हो रही है। इस प्रणाली का साहित्यगत कैसा सदुपयोग अथवा दुरुपयोग हुआ है, इसका विवेचन तो यथा-स्थान किया जायगा, किन्तु यहाँ हमारा अभीष्ट आशय केवल यही स्पष्ट करने का है कि अन्यान्य प्रवृत्तियो की भाँति यह भी आज की समालोचना की प्रमुख प्रणाली है। इसका मूलमत्र मार्क्स की उस मान्यता मे निहित है जिसमे जीवन की परीक्षा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और मूल पार्थिवता से की जाती है। कहना होगा, इस पद्धति द्वारा हमे अपने प्रत्यक्ष जगत को अधिक से अधिक क्रियात्मकता के साथ समझने के अवसर मिले है तथा साहित्य के प्रतिमान भी सौन्दर्य और कल्पना-जगत् की आदर्शनिष्ठ भूमिका को छोडकर यथार्थ और भौतिकता की तुला पर प्रतिष्ठित किए गये हैं। वस्तुत यह भी साहित्य-समीक्षण का एक सुन्दर प्रयोग है जिसे वादमुक्त रखकर देश के सास्कृतिक स्तर के अनुसार ढालने का प्रयत्न किया जाय तो बुरा नही है। इस प्रणाली से हमारे साहित्यालोचन को भी विकास तो मिला ही है इस तथ्य की अवहेलना नही की

जा सकती; किन्तु विचारणीय विषय केवल इतना ही हे कि इसका ग्रहण किन अशो तक अनुकूल और किन मानों तक प्रतिकूल हुआ है। इसका विशेष विवेचन शुक्लोत्तर युग की समालोचना प्रवृत्तियो के अन्तर्गत किया जायगा। यहाँ तो केवल इस प्रणाली का सकेतमात्र देना ही अभीष्ट था।

समालोचना की अन्यान्य पद्धतियाँ

५९. कुछ विद्वानो ने निर्णय, तुलना, क्रिया, कला और सौन्दर्य आदि दृष्टिकोणो से भी समालोचना की अनेक प्रणालिया निर्धारित की है, किन्तु उनमे किसी प्रकार की मौलिक सरणि का समावेश मुझे नही मिलता। इसी प्रकार कतिपय विचारक आगमनात्मक और निगमनात्मक पद्धतियो से भी समालोचना का प्रणालीगत विवेचन करते है, वह भी अधिक ठोस धरातल पर आधारित नही है। आज की विकसित तर्कना ने विभिन्न क्षेत्रीय वाद-प्रवादो के आधार पर भी समालोचना की ओर भी अनेक प्रणालियो को जन्म दिया है। अभिप्राय यह है कि असख्य दृष्टि-कोणो से समालोचना का यह प्रणाली विभाजन किया जाता है जो मेरी दृष्टि मे केवल सख्या-वृद्धि का ही सूचक है। इसमे तो कोई सन्देह नही कि समालोचना मे किसी न किसी मूल दृष्टि-कोण का समावेश उसका अनुयायी समालोचक करता हुआ चलता है, किन्तु वह किसी विशेष प्रकार मे ही दिग्भ्रान्त कर दिया जाय, यह अनुचित है। सच तो यह है कि सच्चे समालोचक इस प्रकार की रूढिगत आस्थाओ को लेकर नही चलते और उनमे किसी कृति अथवा रचयिता के समीक्षण का जितना समन्वयवादी दृष्टिकोण रहता है उतना प्रणाली-परिपालन का नही। ऐसा भी देखा जाता है कि किसी एक साहित्यकार अथवा विषय पर की गई समालोचना मे अनेक बार तुलना, व्याख्या, निर्णय, वैयक्तिकता, सौन्दर्य विधान, जीवनचरितमूलकता, मनोविश्लेषण तथा ऐतिहासिकता के ऐसे तत्व भी सयोजित रहते है, जिनको अलग-अलग श्रेणियो मे विभक्त करने की चेष्टा का अभिप्राय उनकी जीवन-चेतना की हत्या करना है। मेरी दृष्टि मे इस प्रकार का वैज्ञानिक शव-प्रयोग साहित्य समालोचना के क्षेत्र मे करना असमीचीन है, क्योकि ऐसा करने पर जीवन की अखण्ड चेतना खण्ड-खण्ड होकर केवल प्रणालियों का निर्वाह करने मे ही सग्रस्त हो जाती है।

पाठालोचन—समालोचना का वाह्य पक्ष

६०. पाठालोचन या 'शब्दाकार शास्त्र' भी समालोचना का एक बहिरंग पक्ष है, जिसके अन्तर्गत उन ग्रन्थो का शुद्ध या प्रामाणिक पाठ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता है, जिनकी रचना मुद्रण-कला के आविष्कार के पूर्व हुई थी तथा जिनकी विभिन्न प्रतियाँ विविध स्थानो पर भिन्न-भिन्न रूपो मे मिलती हैं। इस दिशा मे अंग्रेजी साहित्य के चॉसर, शेक्सपियर तथा स्पेंसर आदि साहित्यकारो की कृतियो को लेकर विविध समालोचको ने प्रामाणिक पाठ तैयार किये है और हमारे भारतीय साहित्य मे भी इस दिशा में इस प्रकार के समीक्षण की परम्परा चल पड़ी है। यह एक विचित्र बात है कि संस्कृत के प्रमुख ग्रन्थों को लेकर उनका प्रामाणिक पाठालोचन प्रस्तुत करने का प्रयत्न आधुनिक पाश्चात्य विद्वानो ने किया और उन्ही से प्रेरणा लेकर हिन्दी मे भी पाठालो-चन की प्रवृत्ति चली। इसमें कोई सदेह नही कि उन पाश्चात्य विद्वानो के कार्यों में भारतीय विद्वानो का भी पर्याप्त सहयोग था और सम्भवत: वे उसके बिना अपनी कार्य-योजना मे सफलीभूत भी नही बन सकते थे, किन्तु इस क्षेत्र मे मैक्समूलर ने 'ऋग्वेद', पिशेल ने 'अभिज्ञान शाकुतल', हर्टेल तथा एजर्टन ने 'पचतंत्र', स्टेन कोनोव ने 'कर्पूर-मजरी', लर्ड्विग् आल्सडोर्फ ने 'हरिवश पुराण,' और प्रो० जैकोबी तथा डा० रुबैन ने 'वाल्मीकि रामायण' आदि ग्रन्थो को लेकर उपलब्ध प्रतियो के आधार पर जो पाठालोचन किया है, उनकी परम्परा को डा० सुकथाकर ने 'महाभारत'

के आदि-पर्व का सम्पादन कर, डा० पी० एल० वैद्य तथा डा० आर० जी० भण्डारकर ने 'आदि-पुराण', 'मालती-माधव' आदि ग्रथो का प्रामाणिक पाठ प्रस्तुत कर आगे बढाया है। इस दिशा मे डा० ए० एन० उपाध्ये का 'परमात्म प्रकाश' का सम्पादन भी उल्लेखनीय है।

६१. उपर्युक्त विद्वानो से प्रेरणा लेकर हिन्दी साहित्य मे भी पाठालोचन (टेक्सचुअल क्रीटिसिज्म) की परम्परा का विकास हुआ है। इस ओर सर्वप्रथम प्रयास डा० ग्रियर्सन और प० सुधाकर द्विवेदी ने रॉयल एशियाटिक सोसाइटी बगाल से 'बिहारी सतसई' तथा 'पद्मावत' के कुछ अशो का सम्पादन अनेक प्राचीन प्रतियो के आधार पर ही किया। डा० ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित 'रामचरितमानस' का पाठ खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से भी छपा था। इस दिशा मे विशेष कार्य काशीस्थ नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा किए गए, जिसके तत्त्वावधान मे 'रामचरितमानस', 'बिहारी-रत्नाकर', 'मतिराम-ग्रन्थावली', 'तुलसी-ग्रथावली', 'सूरसागर', 'सुन्दर-ग्रन्थावली', 'कबीर ग्रन्थावली', 'ढोला मारू का दोहा' आदि ग्रन्थो का सम्पादन और पाठालोचन हुआ। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने 'गोरखबानी' (स० डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल) तथा हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग ने 'वेलीक्रिसन रुक्मनी री' का प्रकाशन कर इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं। हिन्दी परिषद्-प्रयाग विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान मे नददास के ग्रन्थो तथा सेनापति के 'कवित्त रत्नाकर' को लेकर भी सग्रह प्रकाशित हुए है। इस दिशा मे डॉ० माताप्रसाद गुप्त का प्रयास सर्वाधिक प्रशसनीय है, जिन्होने 'रामचरितमानस का पाठ' (दो जिल्दो मे) तथा 'जायसी-ग्रन्थावली' का पाठालोचन विभिन्न प्रतियो के आधार पर अथक परिश्रम करते हुए किया है। इस दिशा मे अन्य स्थानो पर भी यथासम्भव प्रयत्न किया जा रहा है और वह निश्चय ही हमारे प्राचीन ग्रन्थो का प्रामाणिक तथा शोधपूर्ण स्वरूप उपस्थित करने की दिशा मे सुन्दर प्रयत्न है।

६२. वैसे तो पाठालोचन का काव्य के अंतरग विश्लेषण से कोई सम्बन्ध नही है, और यह एक प्रकार से समालोचना का वाह्य तत्र कहा जा सकता है, फिर भी उसकी महत्ता का निषेध भी नही किया जा सकता। वस्तुतः पाठालोचक के सामने भी अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ होती है जिन्हे झेलकर वह आगे बढता है। सर्वप्रथम तो उसे पाठालोच्य कृति का रचनाकाल स्थिर करना पडता है और इसके लिए उसे अनेक प्रकार से अतर्साक्ष्य तथा बहिर्साक्ष्य जुटाने पडते हैं। अंतर्साक्ष्य के रूप मे उसे वे घटनाएँ भी सहायता करती है जो समालोच्य काव्यकार के जीवन-काल मे घटित हुई हो। वस्तुत उनके आधार पर भी उसे रचना के तिथि-क्रम का निर्धारण करने मे सहायता मिलती है। पाठालोचन के लिए यह कार्य भी आवश्यक है कि उन आधारो का भी पता लगाया जाय जो किसी कृति के मूलभूत प्रेरक रहे हो। वैसे तो यह अत्यन्त शुष्क और परिश्रम-साध्य विषय है, किन्तु इसमे रुचि लेने वालो को वैज्ञानिक शोध करने वालो की भाँति ही आनन्द मिलता है। इसके द्वारा उनके सामने प्राचीन इतिहास के ऐसे अनेक पृष्ठ आ जाते है जिन पर विद्वानो द्वारा अधिक प्रकाश नही पडा है। वस्तुत· पाठालोचन का मूल उद्देश्य यही रहता है कि प्राप्त कृतियो के आधार पर ऐसा पाठ स्थापित किया जा सके, जिसे रचनाकार का मूल पाठ कहा जा सके। ऐसा करने के लिए अनेक प्रकार की विधियाँ भी है जिनका विश्लेषण करने का हमारे शोध प्रबन्ध से कोई सम्बन्ध नही है। अत यहाँ तो इतना उल्लेख करना ही पर्याप्त है कि पाठालोचन भी आधुनिक समीक्षा की एक विधि या पद्धति है जो पाठ-विज्ञान सम्बन्धी अनुसधान के द्वारा कृतियो का वास्तविक स्वरूप प्राप्त करने का प्रयास करती है।

विवेचन का मूल अभिप्राय और निष्कर्ष

६३ अभी तक जीवन, साहित्य और समालोचना को लेकर जो विवेचन किया गया है, उसका मूल उद्देश्य यही है कि हम इन तीनो के पारस्परिक सम्बन्ध-सूत्र की अतर्वर्ती एकता

को जाने और उसके द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ये तीनो किस प्रकार अपना अखड प्रवाह धारण कर विभिन्न देशकालो मे बहुमुखी प्रसार पाते रहे है। इस विवेचन मे हमारा यह भी अभिप्राय है कि इनकी भूमिका मे हमे आधुनिक हिन्दी साहित्य मे विकसित होने वाली समालोचना के स्वरूप-विधान का बोध प्राप्त करने मे भी सहायता मिल सके। आधुनिक हिन्दी साहित्य मे समालोचना का किन-किन विधाओ मे किन-किन प्रेरणा-सूत्रो द्वारा विकास हुआ है, इसका विवेचन तो यथास्थान किया जायगा, किन्तु यहाँ केवल इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि उसके अन्तर्गत पूर्व विश्लेषित विभिन्न पद्धतियो का सन्निवेश भी यथासमय हुआ है और हो रहा है। गद्य का प्रसार, वज्ञानिक उन्नति और तर्कबुद्धि की वृद्धि ने हमारे मस्तिष्क को आज सोचने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय क्षमता प्रदान की है, अत उसका समालोचना-साहित्य पर भी प्रभाव पडना सर्वथा स्वाभाविक है। जीवन की परिवर्तित परिस्थिति की भाँति साहित्य के प्रतिमानो मे भी दिनो-दिन अन्तर आ रहा है और उनके प्रयोगो की विभिन्न दिशाएँ और पद्धतियाँ भी निर्मित हो रही है। अत· आज के अनुसधान के लिए उनकी जानकारी भी अनिवार्य-सी हो गई है। विश्व के अन्यान्य साहित्यो की भाँति हिन्दी समालोचना मे भी रचना, व्याख्या और निर्णय के मूलाधार को लेकर ऐतिहासिक, जीवनचरितमूलक, मनोविश्लेपक, समाजशास्त्रीय, प्रभाववादी तथा सौन्दर्यविधायिनी प्रवृत्तियाँ प्रश्रय प्राप्त किये हुए है, अत: मैंने उनका सामान्य परिचय देना आवश्यक समझा है। मेरे शोध-प्रबन्ध मे मुझे इसकी आवश्यकता भी विशेष रूप से प्रतीत हुई। अत: इस विवेचन को विषय से बहिर्गत असम्बद्ध सामग्री न मानना ही समुचित होगा, क्योकि समालोच्य विषय का यह एक ऐसा आलबाल है जिसमे विकासमान समालोचना-पादप का स्वरूप और उन्नयन अधिक वैज्ञानिकता से समझा जा सकता है। अपने अध्ययन के उपरान्त मुझे तो आज भी यही प्रतीत होता है कि हमारे साहित्य की रचनात्मक प्रवृत्तियो की भाँति समालोचना का भी एक स्वाभाविक विकास-क्रम रहा है और उसमे किसी प्रकार की विशृखलता अथवा उलझन मुझे तो नही मिली।

६४ समालोचना साहित्य का नियामक एवं निर्णायक पक्ष है। इसमे सयत बुद्धि और भावमयता की आपेक्षिक महत्ता है। जिस प्रकार साहित्य जीवन की समालोचना है उसी प्रकार समालोचना साहित्य का निकष है। यह एक ऐसा दर्पण है जो हमारी साहित्यिक प्रवृत्तियो का सम्यक् प्रकाशन अपने विवेक-सम्मत धरातल पर करता है। सत्समालोचना साहित्य के लिए वरदान-स्वरूप है। उसके द्वारा अनेक बार साहित्य क्षेत्र मे मची हुई अराजकता का नाश और व्यवस्था का निर्माण हुआ है। जिस प्रकार व्याकरण को भापा का नेत्र कहा जाता है। उसी प्रकार समालोचना को साहित्य का मार्गदर्शक-काव्यपूर्ण भावुकता का युग किसी भी देश अथवा काल मे सहज संभाव्य है, किन्तु समालोचना का विवेक तो केवल विकसित चेतना वाले भाषा-साहित्यों में ही सभव है। जब हम हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग को समालोचना की दृष्टि से विकसित और प्रौढ मानते हैं तो इसका तात्पर्य यही है कि इस युग ने हमारे बौद्धिक विकास को उन्नयन और सृजन प्रदान किया है। आधुनिक हिन्दी समालोचना में जो पूर्वाग्रहग्रस्त रूढियाँ प्रवेश कर गई हैं, उन्हे दूर करना हमारा प्राथमिक कर्त्तव्य है, अन्यथा समीक्षा का पावन उद्देश्य कलकित हो जायगा और हम समालोचना द्वारा वह मार्ग-दर्शन नही प्राप्त कर सकेगे जिसके द्वारा किसी भी देश अथवा काल के साहित्य को सृजन और विकास की नूतन दिशा अथवा कल्याण-वृत्ति उपलब्ध होती है।

६५. जो समालोचक 'कला कला के लिए' की भाँति 'समालोचना के लिए समालोचना' का दृष्टिकोण ग्रहण कर चलते हैं, वे भूल करते हैं। उसी प्रकार जो समालोचक केवल समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक अथवा ऐतिहासिक प्रणाली मे ही साहित्यालोचन करना एकमात्र 'पूर्ण' दृष्टिकोण' समझते हैं, वे भी प्रमादग्रस्त है। बात यह है कि समालोचना को किसी सीमित इकाई मे अवरुद्ध बनाने की चेष्टा निष्फल है, क्योंकि वह साहित्य के सर्वांगीण पक्ष का विवेचन करने के साथ-साथ ही उस

पृष्ठभूमि का भी आकलन करती चलती है, जिसने साहित्यकार की चेतना को साहित्य-सृजन के क्षेत्र मे अनेक विकासपूर्ण मोड दिए है। ऐसी परिस्थिति मे यह कहने से भी कभी हमारा काम नही चल सकता कि समालोचना केवल व्यक्ति की चेतना पर पडने वाले प्रभावो का ही बौद्धिक विवेचन-मात्र है। सच तो यह है कि समालोचक का कर्त्तव्य अत्यन्त उदात्त है। जीवन की तपस्या मे तप कर ही वह साहित्य-परीक्षण के प्रतिमानो की उपलब्धि करता है। अत यह स्पष्ट है कि उसमे जितनी तीव्र और गम्भीर विवेक-शक्ति अथवा सहानुभूति होगी, वह उतना ही व्यापक धरातल पर सैद्धान्तिक निरूपण कर सकेगा। माना कि युग की परिवर्तित परिस्थितियोवश वह अपने प्रतिमानो मे परिवर्तन भी करेगा, किन्तु यह तो नही हो सकता कि वह उनके सत्व-स्वरूप की ऐसी तत्त्वोपलब्धि न कर सके जो स्थायी साहित्य के स्थायी प्रतिमानो की मूर्ति धारण न कर सके। कोई भी देश अपने युग-विशेष के परिवर्तन मे चाहे कितना ही परिवर्तन अथवा उत्क्रान्तिपूर्ण क्यों न बन जाय, किन्तु उसकी सास्कृतिक निधि को कदापि उपेक्षणीय मान्यता नही दी जा सकती और ऐसी परिस्थिति मे भी भारतीय परम्परा मे भी उसकी सास्कृतिक अक्षय-निधि रहेगी ही। इसको सदैव स्मरण रखकर ही हम अपने विकास का मार्ग पा सकेंगे, अतएव हिन्दी समालोचना के प्रतिमान-सस्थापन मे भी इस दृष्टिकोण का महत्त्व सन्निहित अवश्य ही रहना चाहिए, केवल विदेशी अनुकरण या नवीनता से आक्रान्त होकर साहित्य समीक्षा की परम्परागत अक्षय-निधि की उपेक्षा करना कदापि शोभनीय नही कहा जा सकता।

द्वितीय अध्याय

आधुनिक युग-चेतना और हिन्दी-साहित्य

विवेचन का प्रतिपाद्य विषय और विकास की परम्परा

१. प्रथम अध्याय मे जीवन, साहित्य और समालोचना के पूर्वापर सम्बन्ध को लेकर जो कुछ विवेचन किया गया, उससे यह स्पष्ट है कि इन तीनो के स्वरूप-सगठन मे ऐसे अनेक अतर्सूत्र परिव्याप्त हैं, जिनके कारण इनकी उदात्त सस्थिति पारस्परिक अभिन्नता मे ही सग्रथित रहती है। औपचारिक दृष्टि से भले ही इन्हे एक दूसरे से स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान करते हुए बाह्यमूलक भेदोपभेदो मे विभक्त किया जाय, किन्तु इस चिरंतन सत्य की उपेक्षा नही की जा सकती कि किसी भी अभ्युदयशील देश के साहित्य मे इनकी पावन त्रिवेणी का प्रवाह समरसता मे ही होता है। हमारे विवेचित विषय का यह प्रथम विमर्श समालोच्य शोध-भावना को वैज्ञानिक विधि से हृदयगम कराने का एक मूलाधार है, क्योकि समालोचना के विविध स्वरूपो को आधुनिक हिन्दी साहित्य मे जो क्रमिक विकास प्राप्त हुआ है, उसकी प्रकृत्त भावना को समझने मे इस विवेचन का पर्याप्त महत्त्व है। एक प्रकार से प्रथम अध्यायीय विवेचन हमारे प्रस्तुत विषय का आलवाल बनकर उपस्थित होता है जिसकी पृष्ठभूमि पर अब हमे इस विषय का विश्लेषण करना है कि आधुनिक युग की मूल चेतना क्या है और उसने हिन्दी साहित्य के रचनात्मक पक्ष का विकास करने में कौन-कौन-सी प्रेरणाएँ दी हैं, जिनसे समालोचना-साहित्य के स्वरूप-सगठन मे भी सहयोग मिला है। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी साहित्य का एक सामान्य स्वरूप अकित करना भी प्रस्तुत अध्याय का एक मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

२. विवेचन के प्रस्तुत विषय पर आने के पूर्व इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि जिसे हम विकास कहते है वह "सृष्टि और मानव-जीवन के सघात से उत्पन्न एक अनिवार्य प्रक्रिया है।"[1] वस्तुत वह विश्व का एक ऐसा सामान्य क्रम है जिसके तत्त्व-कण सृष्टि-चक्र के आवर्तन-प्रत्यावर्तन की परिधि मे स्वत अनुस्यूत रहते है। आज मानव-जाति जिस धरातल पर अवस्थित होकर अपना वर्तमान स्वरूप प्राप्त कर सकी है, उसकी एक सुदीर्घ सनातन परम्परा और चिरन्तन सत्ता रही है। वस्तुत: मानव-सभ्यता और सस्कृति का इतिहास अनेक उत्कर्षापकर्षों की सघर्षभूमि मे न जाने कितने परिवर्तनो का सामना कर आज अपने वर्तमान रूप मे प्रतिष्ठित हुआ है। यदि इसका गम्भीर और व्यापक अध्ययन किया जाय तो ऐसी अनेक तत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हो सकती है, जिनके मूल मे विकासवाद का सिद्धान्त अंतर्भूत मिलेगा। तत्त्वत: विकास का यह क्रम विविध क्षेत्रों में अकुरित, प्रस्फुटित, पुष्पित और पल्लवित होकर फलोन्मुख रहा है। इसका अध्ययन प्रत्येक बौद्धिक चेतना-सम्पन्न प्राणी के लिए अल्प आकर्षक अथवा कम मनोरजक नही है।

३. मानव-जाति ने आज तक जो कुछ भी विकास किया है, उसके मूल मे एक मौलिक सत्य है। वह यह कि मानव एक चिरंतन चेतन सत्ता का अश है और उसकी अनादि काल से ही यह चेष्टा रही है कि वह सदैव उस परम तत्त्व को प्राप्त करने के लिए प्रयास-तत्पर बने जिसकी आभा से यह अखिल ब्रह्माड आलोकित है। ससीम से असीम, जड़ से चेतन, असत् से सत्,

---

१. पं० नंददुलारे वाजपेयी, 'नया साहित्य नये प्रश्न', निकष, पृष्ठ २५।

मृत्यु से अमृत, तम से ज्योति तथा अनेकत्व से एकत्व की ओर उसका प्रयाण इसका मूर्तिमान निदर्शन है। अपने उस चरम ध्येय की प्राप्ति मे उसे कितनी अधिक सफलता मिली हैं, यह कहना कठिन है और इस विषय मे विभिन्न मत-मतान्तर भी हो सकते है किन्तु इतना तो निश्चित है कि मानव-सृष्टि की गति का एक विकासोन्मुख क्रम अवश्य रहा है जिसकी मूल-चेतना 'सर्वम् खल्विद ब्रह्म' को अपने मे केन्द्रित कर उसके स्वरूप मे तिरोहित हो जाने की रही है।

साहित्य और जीवन में युग-दृष्टि का महत्त्व

४. मनुष्य को चाहे रागात्मिका वृत्ति से युक्त कहा जाय अथवा बौद्धिक चेतना से सम्पन्न, दोनो ही स्थितियो मे वह चेतन-सत्ता का ही अश सिद्ध होता है। जिस क्षण से उसे वाणी का वरदान् प्राप्त हुआ, वह उसकी अभिव्यक्ति के लिए आकुल हो उठा। अभिव्यक्ति की यह भूख उसकी मूल प्रवृत्ति बनकर प्रकट हुई। शनै-शनै उसने सहजात भाव से इसका विकास करना प्रारम्भ किया। वह अपने हृदय मे सवेदनाओं का सागर समेटे हुए था, अत अवसर पाते ही उसकी वाणी किसी भाव-तरग से टकराकर उद्वेलित हो उठी। उस समय उसके मुख से जिस सरस्वती का प्रस्फुरण हुआ वह आदि-कवि की रचना-शक्ति बन कर अभिव्यक्त हुई। इस सबंध मे विश्व के समग्र साहित्यो मे रोचक विवेचन है और वाणी का यह अक्षर-विधान साहित्य का मूल प्रेरक अथवा उत्स-विधायक है।

५. उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि मानव-सवेदना ने अपनी साधना के बल पर जो सरस भावानुभूति संचित कर लिखित अक्षरो के रूप मे अकित की है, उसका अक्षय कोष ही साहित्य है। साहित्य मे हित का भाव स्वत: अन्तर्भूत है जिसमे कल्याणवृत्ति का समावेश हो ही जाता है। अनादि काल से लेकर आज तक साहित्य के रूप मे जो वाणीविधान होता आया है, वह अत्यधिक मगलमय और कल्याणकारी रहा है। उसमे जब कभी इन तत्त्वो का अभाव हुआ है, साहित्य की सृष्टि बोझिल और अवसादपूर्ण बन गई है। विश्व के समग्र तत्त्वदर्शियो ने साहित्य के सम्बन्ध मे अपनी जो विचार-धाराए प्रस्तुत की है, उनका यह प्रबल सत्य है कि समस्त साहित्य जगत् और जीवन के उभय पुलिनो का संस्पर्श करता हुआ प्रवाहित हुआ है और उसकी विच्छिन्नता साहित्य के विघटन का कारण बनी है। ऐसी स्थिति मे साहित्य और जीवन दो भिन्न आलोकबिन्दु न रह कर एक ही तत्त्व के दो व्यावहारिक रूप है, जिनकी एकता के सम्बन्ध मे कोई सन्देह किया ही नही जा सकता। आज का कलावादी समीक्षक इन दोनो के विषय मे 'कला कला के लिए' का एकागी निरूपण करता हुआ अपनी कुछ भी मान्यता उपस्थित करे, किन्तु जीवन की पृष्ठभूमि से साहित्य को अलग करने का प्रयास उसका निरर्थक दम्भमात्र होगा।

६. साहित्य और जीवन जब अन्योन्याश्रय भाव से घनिष्ठ विधि मे सम्बद्ध है तो उनका अलग-अलग सारणियो मे उत्तोलन कदाचित् ही उचित कहा जाय। एक तत्वान्वेषी के लिए आवश्यक है कि वह इन दोनो की विवेचना करते समय इस विषय को विस्मृत न कर दे कि जीवन-दर्शन और साहित्य-विधि के निर्माण मे देशकाल, परिस्थिति और वातावरण का बहुत बडा सहयोग रहता है और उनकी मानसिक स्थिति का अन्तरग पक्ष भी उन्ही के तानो-बानो से सग्रथित होकर आकार धारण करता है। मानव जब इसी सृष्टि का जीव है तो यह कदापि सम्भव नही कि वह अपनी युग-चेतना से अलग हट कर जीवित रह सके। उसके भौतिक निर्माण मे जड उपादानो का प्रभाव पडना स्वाभाविक है। हाँ, यह बात अवश्य है कि उसके जीवन का केवल यही एकमात्र दृष्टिकोण नही है। उसके अन्तस्तल मे एक ऐसी अनन्त चेतना और आध्यात्मिक शक्ति भी अन्तर्निहित है जो उसे भौतिकता की संकीर्ण परिधि से निकाल कर एक ऐसे लोक मे ले जाना चाहती है जो शाश्वत और चिरतन भावनाओ से ओत-प्रोत है। फिर भी यह एक शाश्वत सत्य है कि मानव की स्थूल सत्ता

भौतिकता की भूमि पर अवलम्बित है और वह अपने पैरो को धरती पर थाम कर ही अनन्त पथ की कल्पना कर सकता है। अत यह स्पष्ट है कि प्रत्येक देश और काल मे साहित्य और सामाजिक जीवन का पूर्वापर सम्बन्ध अल्याधिक रूप मे रहता अवश्य है।

आधुनिक युग-चेतना का प्रसार और हिन्दी-साहित्य की परम्परा

७ आज विश्व के रगमच पर अनेक प्रकार की सभ्यताएँ और सस्कृतियाँ अपने-अपने वैशिष्ट्य की दुन्दुभि का जय-घोष कर रही हैं। न जाने ये कितने युगो की तपस्याओ और महज्जनो की साधनाओ का सुखद प्रतिफल है। इन सब के मूल मे अभिन्नता की एक सूक्ष्म तथा गम्भीर रेखा भले ही प्रतिभासित हो जाय, किन्तु इस समय इनकी जैसी स्थिति है, वह अपने औपचारिक स्वरूप-वैभिन्न्य से अवश्य ही सगुम्फित है। इन सभ्यताओ और संस्कृतियो का इतिहास साहित्य और वाड्मय के रूप मे संचित है और उनका अध्ययन हमे उनके विकास-क्रम को समझने मे बडी सहायता देता है। विद्वानो ने विभिन्न दृष्टियो से उनका अध्ययन प्रस्तुत किया है जो हमारी ज्ञान-वृद्धि के लिए सदैव मार्ग-प्रदर्शक और पथ-प्रेरक रहेगा। वस्तुत साहित्य के माध्यम से विश्व-संस्कृति का एक सामान्य स्वरूप आज हमारे सामने आ सका है जिसकी उपेक्षा कर मानव-जाति के विकास को समझा ही नही जा सकता।

८. हिन्दी साहित्य और उसके विकास का इतिहास प्राय एक सहस्र वर्षों की उद्‌बुद्ध चेतना और भाव-धारा के अविरल स्रोत का इतिहास है। देश की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और सास्कृतिक गतिविधियो के साथ-साथ अपने विकास-क्रम मे असख्य आरोह-अवरोह देख कर वह आज के रूप में अवस्थित हुआ है। उसकी पृष्ठभूमि मे भारतीय जीवन के व्यापक स्वरूप की एक ऐसी सुदीर्घ परम्परा की क्रमबद्ध कहानी है जिसको विदेशी सत्ता के थपेडो ने अनेक व्याघात पहुँचाकर पादाक्रान्त करना चाहा, किन्तु जो सदैव अपना जीवन-स्रोत अखँण्ड गति मे धारण करता रहा। यह बात अवश्य है कि उस पर जो आक्रमण हुए, उन्होने अनेक बार उसके अन्तरंग और बहिरग को अल्पमात्रा मे नही झकझोरा, किन्तु उसके पीछे जो ठोस और गम्भीर परम्परा थी, वह उसे उन्मूलन से सदैव सरक्षण प्रदान करती रही। यही कारण है कि अनेक सास्कृतिक और राजनीतिक उत्क्रान्तियाँ विविध प्रकार के झंझावातो से प्रपीडित हो कर समयानुक्रम से परिशान्त हो गईं; किन्तु उनके द्वारा भारतीय परम्परा की तात्विक एकता मे कुछ भी महत्त्वपूर्ण अन्तर नही लाया जा सका।

अध्ययन का प्रतिपाद्य और आधुनिक युग-चेतना का स्वरूप

९. साहित्य के इतिहासकारो ने अद्यावधि हिन्दी साहित्य के विभिन्न अगों के विकास का जो कुछ अध्ययन प्रस्तुत किया है, वह यथेष्ट रूप मे वैज्ञानिक और तारतमिक है। विद्वानो ने उसके विभिन्न स्वरूपो के सम्बन्ध मे जो कुछ विषय-सामग्री प्रदान की है, वह कदापि उपेक्षणीय नही कही जा सकती। उसके द्वारा हमें अपने साहित्य-कोष के अगणित रत्न-खण्डो और अमूल्य सर्जनाओ का बोध होता है। आज की सबसे बडी आवश्यकता यह है कि अब साहित्य के विशिष्ट अगो का विशद विवेचन किया जाय जिससे उनकी विधाओ और प्रवृत्तियो का अलग-अलग स्वरूप प्रस्तुत किया जा सके। इस ओर हमारे साहित्य-विवेचको ने प्रशसनीय कार्य किये हैं, किन्तु अब भी हमारी गति ऐसी नही कही जा सकती जो विदेशी साहित्यानुसन्धानो की समता मे विशेष महत्त्वपूर्ण हो। प्रस्तुत अध्याय मे साहित्य के प्रमुख अग समालोचना के विकास को उत्प्रेरित करने वाले रचनात्मक साहित्य की एक क्रमबद्ध विवेचना है जिसके द्वारा आधुनिक हिन्दी साहित्य अपनी विभिन्न प्रक्रियाओं में अनेकानेक विकासपूर्ण मोड़ लेकर अद्यतन स्वरूप में अवस्थित हुआ है।

१०. यह एक सर्वमान्य विश्वास है कि आधुनिक काल विश्व-प्रागण मे अपने पूर्ववर्ती युगों से सर्वदा भिन्न स्वरूप लेकर निर्मित हुआ है। वैज्ञानिक आविष्कारों और उनके उत्कर्षके

पूर्व ससार अलग-अलग इकाइयो के रूप मे अवरुद्ध और यत्रणाग्रस्त था, किन्तु आज की परिस्थिति सर्वथा परिवर्तित हो चुकी है। यातायात के साधनो की सुविधा एव विचार-वहन के यत्रो आदि की सुगमता ने आज ससार को एक सम्पूर्ण इकाई बना दिया है। अद्यतन युग मे यह सर्वथा असम्भव है कि एक व्यक्ति अथवा राष्ट्र दूसरे व्यक्तियो तथा राष्ट्रो मे चलने वाले आन्दोलनो और सास्कृतिक तथा राजनीतिक परिवर्तनो से अपने को अस्पृष्ट रख सके। एक प्रकार से आज के मनुष्य का विश्वास अथवा उसकी जीवन-आस्था का दृष्टिकोण इतना अधिक विकसित और व्यापक है कि वह क्रियात्मक जगत से तटस्थ रह कर अपने जीवन दर्शन का निर्माण कर ही नही सकता। अत. यह स्वाभाविक है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य की क्रोड मे जिस समालोचना के विकास का अध्ययन किया जाय, वह विश्व की परिस्थिति और विचार-क्रान्ति से सम्बद्ध बन कर ही चले। इसके लिए आवश्यक है कि आज की युग-चेतना को हम पहले समझे जो सामान्य रूप से अपनी विश्वजनीन व्यापकता लेकर चली है और विशेष रूप से हिन्दी-प्रदेश और उसके साहित्य पर अपने प्रभाव-चिह्न अकित करती हुई विकासोन्मुख बन सकी है।

११ आधुनिक हिन्दी साहित्य का जन्म किस तिथि को हुआ, इसका एक निर्णय करना कठिन है, किन्तु सामान्यत इस विषय मे सभी विद्वान एकमत है कि ईसा की १९वी शताब्दी इसके उद्भव-तन्तुओ के बीज-वपन की कालावधि है। उस समय भारत मे मुगल-शक्ति क्षीण पड गई थी और देश मे सार्वभौम एकतन्त्र साम्राज्य खण्ड-खण्ड होकर नवाबी ठसक और मराठा-सिख-शक्ति के रूप मे छिन्न-भिन्न हो गया था। उस समय देश एक ऐसे संक्रमणशील युग मे श्वासोच्छ्वसित था, जब उसे किसी प्रगति-पथ की सुनिश्चित दिशा नही मिल रही थी और वातावरण की धूमिलता लोगो के जीवन मे उल्लास और विश्वास की जडें हिलाने लगी थी। ऐसे समय मे देश का सम्पर्क यूरोपीय जातियो से दिनो-दिन अधिकता से होने लगा था जो देश की आन्तरिक अवस्था मे शनैः-शनै. प्रवेश पाने मे अत्यन्त कुशल थी। सात समुँद्र पार से आई हुई ये यूरोपीय जातियाँ भला देश की अस्त-व्यस्त अवस्था और अपने अनुकूल अवसर का लाभ प्राप्त करने मे कैसे पश्चात्गामी रह सकती थी? उन्हे इस विषय की अभिज्ञता कर लेने मे अधिक प्रयास नही करना पडा कि मुगल शासन उस वृद्ध गज के समान जीर्ण-शीर्ण और जर्जर हो गया है जिसे अनेक हिसक वनचर (मराठे, सिख, राजपूत आदि) नोचने लगे हैं और एक ही धक्के मे उसे धराशायी किया जा सकता है। उन्होने उस अवसर पर अत्यधिक राजनीतिक दक्षता से काम लिया और भारतीय सत्ताधारियो के मदाध मस्तिष्क को और अधिक विकृत कर इतना विवेकशून्य बना दिया कि उन्होने इनके हाथो मे आत्मसमर्पण करना ही सभी दृष्टियो से अपने लिए हितकर समझा। फलत यूरोपीय जातियो की शक्ति और क्षमता और अधिक व्यापकता मे सुदृढ होने लगी।

यूरोपीय जातियों का संघर्ष और उनका साहित्यगत प्रभाव

१२. यहाँ इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि भारत-आवासित यूरोपीय जातियो मे पारस्परिक मात्सर्य और द्वेष-भाव भी कम न था। एक ही ईसाई मत की अनुगामिनी होने पर भी वे एक दूसरे को नीचा दिखाने और परस्पर छीनाझपटी करने मे किसी से पीछे न थी। भारतीय शासको के साथ अपना गठबंधन कर वे निजी स्वार्थो मे टकराने लगी। परिणाम यह हुआ कि उनकी शक्ति का भी क्रमिक ह्रास होने लगा। इन जातियो मे कुछ तो इतनी अधिक अदूरदर्शी और क्षिप्रनिर्णायक थी कि उनका प्रभुत्व स्वत मिटने लगा और कुछ अपनी आन्तरिक स्थिति की उलझनो मे पड़कर प्रकृत्या क्षीण-बल होने लगी। अन्ततः वह समय आया जब विजय-क्षेत्र केवल पोर्चुगीज, फ्रासीसी और अग्रेजो के हाथो मे ही रह गया। कालान्तर मे पोर्चुगीज शक्ति भारत के पश्चिमी किनारे पर स्थित गोआ, डामन और ड्यू के बदरगाहो की बस्तियो मे ही

सीमित हो गई और फ्रांसीसी पांडिचेरी तथा चन्द्रनगर से आगे का बहुत कम क्षेत्र पा सके। स्पष्ट था कि शेष क्षेत्र अंग्रेजो के हाथ लगता और वस्तुतः हुआ भी ऐसा ही। उन्होने देश की राजनीति से समयोचित लाभ उठाकर अपनी सत्ता का क्रमशः प्रसार करना आरम्भ किया और एक समय वह भी आ पहुँचा, जब वे अपनी सार्वभौम प्रभुता स्थापित कर सके। हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग का इतिहास उन्ही की सत्ता के साथ विकसित होने वाला इतिहास है, जिसके विकास-तनुओ का निर्माण पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के अनेक चित्र-विचित्र रंगो की सूत्र-कणिकाओ को लेकर हुआ है।

१३ आधुनिक हिन्दी-साहित्य की गतिविधि, मूल चेतना और प्रमुख प्रवृत्तियो को लेकर विभिन्न विद्वानो द्वारा यथेष्ट विवेचन किया जा चुका है। उसका मूल तत्त्व यही है कि इसकी पृष्ठ भूमि तर्क-बुद्धि और विज्ञान-भित्ति पर आधारित है। आज का युग अपने वातावरण से जो कुछ सांस्कृतिक रिक्थ पा सका है, वह उसके मूर्तिमान स्वरूप साहित्य मे भी प्रतिबिम्बित है। आज की सबसे बडी आवश्यकता यह है कि हम आधुनिक युग-चेतना की पृष्ठभूमि मे आधुनिक हिन्दी-साहित्य का अध्ययन करे और इस बात का परीक्षण करें कि उसके निर्माण मे कौन-कौन सी प्रेरक शक्तियाँ निमित्त बन कर अवतीर्ण हुई हैं और साहित्य के रचनात्मक और आलोचनात्मक अंगो को किन-किन रूपो और आकारो ने प्रभावित किया है। निश्चय है कि हमारा एतद्विषयक अध्ययन जितना अधिक पूर्ण और वैज्ञानिक होगा, हम अपने साहित्य का अधिकाधिक रहस्योद्घाटन कर सकेंगे और उसकी समालोचनात्मक प्रवृत्ति का भी हमे ऐसा सहज बोध हो सकेगा, जिसके द्वारा हमारी अनेक भ्रांतियो का निराकरण सहज संभाव्य होगा। अतः इसी दृष्टिकोण को ध्येयगत रख कर ही आगे बढ़ना प्रत्येक विचारक के लिए सर्वथा समीचीन है।

आधुनिक युग की सामान्य विशेषताएँ और उनकी साहित्यगत प्रतिक्रिया

१४. आधुनिक युग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह मानव की वैज्ञानिक और सामाजिक महत्ता को स्वीकार कर चला है। औद्योगिक क्रांति के पश्चात् यूरोपीय राष्ट्रो मे जो नई चेतना-लहर प्रवाहित हुई, उसके अणु-परमाणु विश्व के विभिन्न प्रदेशो मे विकीर्ण होकर प्रसारित हुए हैं। इस युग की १९वी शताब्दी प्रकृत्या एक उद्बोधन और बौद्धिक चेतना के तत्त्वकणो से निर्मित होकर प्रतिफलित है, जिसका प्रभाव अल्पाधिक मात्रा मे सभी देशो पर है। इसी समय भारतीय जीवन मे भी नव-जागरण के अंकुर स्फुटित हुए और अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार और प्रसार से राष्ट्र ने शताब्दियो पश्चात् आलस्य-निद्रा को त्याग कर अंगडाई ली। इस कथन से मेरा यह अभि-प्राय नही कि हमारे राष्ट्र की कोई स्वकीय चेतना-निधि न थी। सच तो यह है कि भारत ने इस दिशा मे सहस्रो वर्षों से विश्व का नेतृत्व और पथ-प्रदर्शन किया था, जिसका साक्षी मानव-जाति का इतिहास है, किन्तु इस समय उसे कुछ प्रमाद ने अवश्य घेर रखा था। कहा जा सकता है कि राष्ट्र का हृदय और मस्तिष्क अपनी प्रस्तुत दशा मे विकलांग था और क्रान्ति का अनुभव कर रहा था, किन्तु उसकी दशा ऐसे बालक के समान हो रही थी जो एक बार कुछ आधार पाकर ही अपना आत्मसंचित विकास कर पाता है। स्पष्ट है कि इसी युग मे विश्व के नवीन आलोक ने भारतीय जीवन की दृष्टि मे भी परिवर्तन के बीज-वपन किये और उसके कर्णधारों का समसामयिक गति-विधियों के निरीक्षण से यह प्रतिमान बनने लगा कि हमारी प्राचीन परम्पराओ और रूढियो मे जो अवरोधपूर्ण अंश समाविष्ट हो गये है, उन्हे निराकृत करके ही आज के युग मे विकास किया जा सकता है। उन्होने अपनी परम्परागत संस्कृति के आदर्शों को तो अपनाये रखा, किन्तु उसकी बाह्य विकृतियो का सामान्य उपचार करते हुए उसे ऐसा स्वरूप प्रदान करना चाहा जो युगानुरूप हो तथा जिसके द्वारा आधुनिक भारतीय जीवन प्रगतिशील बन सके। ऐसे ही समय मे हमारे देश मे चेतना की जो नूतन लहर प्रवाहित हुई, उसने 'ब्रह्मसमाज,' 'आर्यसमाज,' थियोसोफी समाज और 'रामकृष्ण-मिशन'

आदि की स्थापना का श्रीगणेश कराया और देश सास्कृतिक और सामाजिक परिवर्तन के स्वप्न देखता हुआ जीवन की व्यापकता को ग्रहण करने की ओर ललक उठा। उसी समय राजनीतिक जीवन मे भी क्राति का विस्फोट हुआ और सन् १८५७ की अवकुठित अग्नि-शिखा जन-स्वातंत्र्य के अधिक व्यापक एवं जाज्वल्यमान स्फुलिंग लेकर राष्ट्रीय महासभा काग्रेस के रूप मे सस्थापित हुई। यद्यपि इस संस्था का प्रारम्भिक उद्देश्य एक विशेष प्रकार की राजनीतिक दृष्टि एव विचारधारा तक ही सीमित था, किन्तु शनै-शनै देश की विकासशील राजनीतिक परिस्थिति और समाज-चेतना ने उसे ऐसा वैशिष्ट्य प्रदान किया, जिसके फलस्वरूप वह अपने संस्थापको के मूल-विधान से अलग हट कर राजनीतिक क्षेत्र के साथ-साथ अन्यान्य क्षेत्रो की गतिविधियो मे भी प्रसार पाने का उद्योग करने लगी। उसे दैव-कृपा से परिस्थितियो की अनुकूलता के साथ-साथ ऐसे-ऐसे सुयोग्य सचालक भी मिलते गए जिनके कुशल नेतृत्व मे वह जो कुछ कर सकी, उसका साक्षी आज के स्वतन्त्र भारत का मुखर और उज्ज्वल इतिहास है।

१५ आधुनिक-हिन्दी साहित्य का आरम्भ उपर्युक्त वातावरण और परिस्थिति के परिवेश मे हुआ है। इससे स्पष्ट है कि निश्चय ही इसकी चेतना नूतन संजीवनी-शक्ति मे आपूरित है। यह वही समय है जब साहित्य-साधको द्वारा वाङ्मय को एकमात्र पद्य की यत्रणा से मुक्त कर उसे गद्य के व्यापक क्षेत्र मे विचरने का अवसर दिया गया है। इसी समय लोगो के सकीर्ण दृष्टिकोण मे राष्ट्रीयता के भाव-सुमनो का प्रफुल्ल विकास होता है और वे देश के व्यापक हित-चिंतन की दृष्टि से सोचने के लिए उद्यत होने लगते है। वस्तुत पुरातन और नूतन की सघर्ष-भूमि भी यही है। इस युग का व्यक्ति एक ऐसी मानसिक संध्यवस्था मे ग्रस्त मिलता है जो एक ओर नवीन आलोक से चमत्कृत होकर उसे पाने के लिए लपकना चाहता है तो दूसरी ओर उसका प्राचीनता से मोहवश पल्ला नही छूट पाता। सचमुच इस युग की अतश्चेतना का विश्लेषण अल्प आकर्षक और कम मधुर नही है। लोगो के मानसिक धरातल और जीवन की झाँकी का एकमात्र प्रधान स्वरूप हमे इस युग के साहित्य मे प्रतिबिम्बित मिलता है, जिसके अध्ययन से हम तत्कालीन राष्ट्रीय-जीवन और हिन्दी-जगत् की मनोभूमि को समझ सकते है। आगे की पक्तियो मे तत्कालीन रचनात्मक साहित्य का सामान्य स्वरूप अंकित कर इस विषय का संकेत किया जायगा कि समालोच्य युग मे किस प्रकार उसके समालोचना-साहित्य को भी परिवर्तित दृष्टि प्रदान की है तथा वह स्वयं किस रूप मे उससे प्रेरणा और गति लेकर सवर्द्धित हुआ है।

रचना और समालोचना का युगपद् सम्बन्ध और समालोच्य काल का क्षेत्र

१६. यह एक सामान्य सिद्धात है कि रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य की गति प्रायः समानान्तर दृष्टि-बिन्दुओ से चलती है। सामान्यतया दोनो यथासमय एक-दूसरे के पूरक और प्रेरक बन कर ही अपना विकास करने का अवसर पाते रहते है। अनेक बार रचनात्मक साहित्य ने समालोचना-साहित्य को गतिमान बनाया है तो कभी-कभी समीक्षा-शास्त्र ने भी रचनात्मक साहित्य को गति प्रदान की है। साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र मे अनेक बार ऐसे स्थल भी आये हैं, जब दोनो एक-दूसरे के विरोधी बन कर प्रतिद्वन्द्वी की भाँति अखाडे मे उतरे है और उस समय साहित्य ऐसे दिग्भ्रात वातावरण मे उलझ गया है जहाँ उसका दम घुटने और उसमे विघटन के तत्त्व जुटने की स्थिति आ गई है, पर ऐसा अत्यल्प काल के लिए हुआ है। वस्तुत वह स्थिति किसी भी देश और काल के लिए अत्यन्त शोचनीय रही है। ऐसे समय विधिवशात् ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्तित्व प्रादुर्भूत हुए है, जिन्होने अपनी कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा के अपूर्व सयोग से दोनो ही प्रकार के साहित्यो को विकासोन्मुख दिशाएँ दिखलाई है। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि रचनात्मक साहित्य ने आलोचनात्मक प्रवृत्ति को दबा दिया है तो कभी आलोचनात्मक प्रतिभा के आगे सृजनात्मक प्रतिभा कुठित हो गई

है। कुछ भी हो, अनुकूल परिस्थिति का वातावरण तो वही कहा जाएगा जब दोनो प्रकार के साहित्य एक-दूसरे के उत्कर्षविधान मे सहायक बन कर अपना स्वतन्त्र विकास करते चले है और दोनो का ध्येय जीवन ही सर्वांगीण अभिव्यक्ति का सुन्दर निदर्शन रहा है।

१७ जब हम उस दृष्टि से आधुनिक हिन्दी-साहित्य का अनुशीलन करते है तो हमे पता चलता है कि इसका कार्यकाल अत्यन्त विशद और व्यापक रहा है। आधुनिक काल ने साहित्य को वासना की सकीर्ण गलियो से निकाल कर ऐसे राज मार्ग पर प्रस्थित कर दिया है जहाँ उसके विविध-क्षेत्रजन्य विकास के अधिकाधिक अवसर आये है। इसी युग मे मुख्यत: गद्य का विकास दिखलाई पडता है और उसमे नाटक, उपन्यास, निबध, आलोचना और जीवनी-साहित्य आदि का समावेश होने लगता है। पत्र-पत्रिकाओ के प्रकाशन का प्रारम्भिक युग भी यही है। कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज ने भी इसी युग मे हिन्दी के अध्ययन, अध्यापन की प्रारम्भिक व्यवस्था की थी। इसी समय ईसाई मिशनरियो द्वारा अपने धर्म-प्रचार के मार्ग मे महात्मा यीशू के आदर्शमय जीवन की कहानियाँ और उपदेश जनसामान्य मे प्रचलित हिन्दी गद्य-भाषा मे लिखे गये तथा इसी समय सनातन-धर्म मे आकर जमी हुई रूढि के विरुद्ध आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज आदि का संगठन हुआ। इस युग मे नवीनता और प्राचीनता को लेकर वाद-विवाद भी खूब हुए तथा महाभारत, रामायण, और भागवत आदि अनेकानेक प्राचीन ग्रन्थो के अनुवाद भी प्रस्तुत किये गये। यही समय था, जब किसी ने मन की मौज मे आकर 'रानी केतकी की कहानी' जैसी प्रेम कहानियाँ लिखी तो किसी ने शिक्षा-विभाग का आदेश पाकर पद्य के साथ-साथ गद्य के सकलन भी प्रस्तुत किये। इतना ही नही, पश्चिमी साहित्य के व्यापक भडार को देख कर इसी समय साहित्य-हितैषी लेखको और रचनाकारो ने हिन्दी-साहित्य को विविध प्रकार के आधुनिक विषयो और अगो से परिपुष्ट देखना चाहा। अभिप्राय यह है कि यह समय सब प्रकार से आधुनिक साहित्य के समुद्भव और बीजारोपण का था और उसने विविध क्षेत्रो मे नूतन उन्मेषो का श्रीगणेश स्वाभाविक विधान मे किया था। पश्चिमी आलोचना के तत्त्वों और उनकी प्रयोगात्मक प्रणाली के ग्रहण के तत्त्व भी हमे इसी समय मिलते है। अत इन परिस्थितियो को दृष्टिगत रखे बिना आधुनिक साहित्य की पृष्ठभूमि और उसके अकुरण को समझना कठिन-सा है।

१८. आधुनिक हिन्दी-साहित्य और उसकी समालोचना के विकास के मूल मे एक ठोस पृष्ठभूमि है। वस्तुत· उसके पीछे ऐसा सबल धरातल है, जिसके मंच पर अवतीर्ण हुई राजनीतिक, सामाजिक और सास्कृतिक परिस्थितियो ने देश के बाह्य एव आभ्यातिरक जीवन में क्रातिकारी वातावरण की सृष्टि करने के अनेक उपकरण जुटा दिये और जिनके कारण देश की चेतना एक नवीन मोड़ लेने के लिए आतुर हो उठी थी। राजनीतिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि इस समय पर्यन्त मुगल शासन तथा नवाबी हकूमत के विलासपूर्ण अकर्मण्य जीवन का अंत हो चला था और शिवाजी, छत्रसाल आदि महान् जातीय वीरों द्वारा अनुप्रेरित स्फुरण शनै-शनै व्यापक बनने लगा था। कालान्तर में यूरोपीय जातियो का सम्पर्क और अग्रेजी शासन का प्रचार देश के मानसलोक को आलोडित-विलोडित करने लगा था और सात समुद्र पार से आई हुई इन जातियो ने यहाँ के वातावरण मे चकाचौध-सी उत्पन्न कर दी थी। इस युग तक आते-आते शताब्दियों से पादाक्रात भारतीय जनता ने पाश्चात्य सभ्यता के प्रसार के साथ अपने उस अस्तित्व को एक बार पुन· टटोलना आरम्भ किया; जिसकी चेतना पर एक प्रकार से प्रश्नवाचक चिन्ह-सा लग चुका था। इसी समय देश मे सुषुप्ति की प्रतिक्रिया के अनेक उपकरण प्रादुर्भूत होने लगे और हमारे जीवन मे राजनीतिक परवशता को उखाड़ फेकने के तत्त्वकण शनैः-शनै पुँजीभूत बनने लगे। सन् १८५७ की क्रान्ति की चिनगारी अपनी जिन दुर्बलताओ के कारण काल-चक्र के गर्भ मे कुछ समय के लिए दब कर रह गई, उसके ज्वलित स्फुलिंगो के पुन: विस्फोट के लक्षण इसी युग में प्रदर्शित होने लगे और देश को

नवीन दृष्टिकोण और मान्यता का साहचर्य मिला। इस प्रकार राजनीतिक क्राति के उपकरणो का प्रभाव जन-मानस पर अकित होना आरम्भ हुआ और उसका मुखर प्रतिबिम्ब साहित्य भी अपने नवीन कायाकल्प का अनुभव करने लगा। फलतः राजनीतिक क्राति की अपेक्षा के साथ-साथ साहित्यिक क्रान्ति का वातावरण भी देश मे बनने लगा और ऐसा प्रतीत हुआ कि हमारे हिन्दी प्रदेश के साहित्य की प्रक्रिया केवल नायिक-नायिका-भेद अथवा रीतिकालीन शृ गारी वृत्तियो की विलासपूर्ण स्थूल भौतिकता तक सिमट कर रह गई है, उसके सकीर्ण घेरे मे साहित्य-पुरुष का दम घुटने लगा है और वह अपनी उस पथबद्ध रूढि-परम्परा से मुक्त होकर देश के स्वतन्त्र वातावरण मे अपनी संजीदगी-पूर्ण चेतना पाने के लिए आकुल है। राजनीतिक दासता के वातावरण ने उसकी जीवन-शक्ति को जिस रूप मे निष्क्रिय बना दिया था, उसकी प्रतिक्रिया के लक्षण उसमे शनै-शनै घटित होने लगे और वे लक्षण सामाजिक और सास्कृतिक जीवन मे भी महान् परिवर्तन करते हुए साहित्य को नवीन दिशा दिखलाने के लिए आकुल से हो उठे। निश्चय ही देश के ऐसे वातावरण मे साहित्य को नवीन दिशा मिली और उसकी पृष्ठभूमि के मूल मे तत्कालीन राजनीतिक स्थिति भी अपने व्यक्तित्व के अमिट चिह्न प्रकट करती हुई अवतीर्ण हुई। अतः आधुनिक साहित्य और उसकी क्रोड़ मे विकसित होने वाली समालोचना का व्यापक ज्ञान करने के लिए इस विवेचित परिस्थिति के संघर्ष का स्मरण रखना परम आवश्यक है।

१९ राजनीतिक परिस्थिति के साथ-साथ देश के सामाजिक जीवन और सास्कृतिक वातावरण का भी आधुनिक युग के निर्माण मे बहुत बडा हाथ है और साहित्य-समालोचना को नूतन आलोक प्रदान करने का उसको महान् श्रेय प्राप्त है। कहा जा सकता है कि इस युग के पूर्व हमारी रूढिग्रस्त सामाजिक परम्परा अपनी सकीर्णता और कुरीतियो के विनाशकारी कीटाणुओ के विषावत प्रभाव से छटपटा रही थी और उसके परित्राण के लिए आवश्यक था कि सामाजिक ढाँचे मे परिवर्तन हो और उसमे जीवन के क्रियाशील मानदण्डो का प्रयोग हो। यही समय था जब देश मे सुधारवादी विचारधारा का प्रभाव बढने लगा और उन जीवन-पद्धतियो के विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया आरम्भ होने लगी जिनकी चेतन-शक्ति का ह्रास हो चला था। देश के सामाजिक ढाँचे के प्राणभूत सास्कृतिक जीवन की हलचल भी इसी समय होने लगी थी और बौद्धिक जागरण ने यहाँ राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि के द्वारा ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज जैसी महिमामय सस्थाओ को जन्म दिलाया था जिनसे देश की धमनियो मे नवीन रक्त का संचार हुआ और उनकी जीवन्त भावना उसके प्रतीक साहित्य मे भी साकार बनने लगी। इसी समय पाश्चात्य सभ्यता और सस्कृति से हमारा शनैः-शनैः सम्पर्क बढता गया और उसी के अनुकरण पर यहाँ के साहित्य की विभिन्न विधाओ मे भी ज्ञान-राशि का सृजन होने लगा। यही समय था जब देश मे नवीन प्रकार की शिक्षा-प्रणाली का आरम्भ हुआ और लोगो मे अंधानुकरण के स्थान पर तर्कबुद्धि और विवेक-शक्ति का प्रसार होने लगा। निश्चय ही यह समय प्राचीन और नवीन अभिसंधि का संक्राति काल था, जिसमे जीवन की दोहरी वृत्तियो के लिए पर्याप्त अवकाश था और ज्ञान-विज्ञान की अभिवृद्धि भी इसी समय आरम्भ हुई, जिनके कारण अनेक नवीन प्रवृत्तियो को प्रश्रय मिला। साराश यह है कि आधुनिक युग का वातावरण अपने पूर्वयुगीन वातावरण से सर्वथा भिन्न कोटि का था और उसका दृष्टिकोण व्यापकता की ओर उन्मुख था। देश के अन्यान्य प्रदेशो के ही समान हिन्दी-क्षेत्र मे उसके भी अकुर प्रस्फुटित होने के लक्षण क्रमशः वृद्धिगत हो रहे थे। ऐसी स्थिति मे ही आधुनिक युग की मूल भावधारा का उदय हुआ जो क्रमश. विभिन्न सोपानो की सीमाओ को पार कर आज अपने नवीन आलोक मे विकीर्ण हो रहा है।

आधुनिक गद्य-साहित्य के पूर्व ब्रजभाषा-गद्य की परम्परा

२०. आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ के पूर्व अधिकाशत ब्रजभाषा पद्य का ही प्रचार था। उस समय यदि किसी लेखक ने गद्य लिखने का प्रयास भी किया तो वह ब्रजभाषा मे था। साहित्य-मनीषियो ने आधुनिक काल के पूर्ववर्ती अनुसधान द्वारा ऐसे अनेक ग्रन्थ खोज निकाले है, जिनमे ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग हुआ है। नाथपंथी सिद्धो, हठयोगी साधको तथा गुरु गोरखनाथ के अब तक जो गद्य-ग्रन्थ उपलब्ध हुए है, उनमे 'पूछिबा' 'कहिबा' आदि प्रयोगो को देख कर पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने उनके रचयिताओ का स्थान राजपूताना माना है।[१] किन्तु यह मत पूर्णतया प्रामाणिक नही माना जा सकता, क्योकि इस प्रकार के प्रयोगो की परम्परा राजस्थानी भाषा और उसकी बोलियो मे कम है। सभव है, इन क्रिया-पदो मे बगाली और बिहारी भाषाओ का स्वरूप अधिक परिलक्षित होने के कारण इनके रचयिता बिहार तथा बगाल प्रान्त के अतर्वर्ती भाग के निवासी हो। इतिहास-वृत्तो तथा जनश्रुतियो के आधार पर भी गोरखपथी साधुओ का प्रभाव भारत के पूर्वी प्रान्तो की ओर ही विशेष था, भले ही कालातर मे वे सारे उत्तरी भारत पर अपना प्रभाव स्थापित कर सके हो। वस्तुत उनकी गद्य भाषा मे विभिन्न प्रान्तो मे प्रयुक्त शब्दो का भी यत्किंचित प्रयोग है, जिससे यही अनुमान होता है कि वे अपने विस्तृत भ्रमण तथा सत्सगति के कारण विविध प्रदेशो के भाषा-शब्दो और क्रिया-पदो को स्वाभाविक विधि मे स्वीकार करने मे कोई सकोच नही करते थे। अत उन्हे राजपूताना का मानना सर्वथा प्रामाणिक मत नही कहा जा सकता। इन नाथो की कृतियो का रचनाकाल चौदहवी शताब्दी है।

२१ नाथपथी साधुओं के पश्चात् हमे वैष्णव भक्तो द्वारा लिखा हुआ ब्रजभाषा गद्य साहित्य मिलता है, जिसमे महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ की 'शृंगार रस मंडन' नामक पुस्तक प्रधान है। इस पुस्तक की भाषा परिमार्जित ब्रजभाषा नही कही जा सकती। इसी काल मे लिखी गई अन्य गद्य पुस्तको मे 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' तथा 'दो सौ वैष्णवन की वार्त्ता' नामक दो प्रसिद्ध कृतियाँ है, जिनके लेखक गोसाईं विट्ठलनाथजी के पुत्र गोसाई गोकुलनाथ जी कहे जाते है किन्तु उनमे स्थान-स्थान पर गोकुलनाथजी का नाम श्रद्धा-भक्ति के साथ उल्लिखित होने के कारण विद्वानो ने गोकुलनाथजी को उनका लेखक मानने मे सदेह किया है।[२] हमारा अनुमान है कि जब तक इस सबन्ध मे कोई प्रामाणिक शोध-कार्य प्रस्तुत नही किया जा सके, तब तक गोसाई गोकुलनाथजी को ही इन पुस्तको का मूल रचयिता मानने मे आपत्ति नही होनी चाहिए, क्योकि सभव है उक्त गोसाई जी ने ही इनकी रचना की हो और कालातर मे उनके किसी शिष्य ने उनके प्रति अपनी भक्ति-भावना व्यक्त करते हुए उनकी वार्त्ता का क्षेपक उनमे जोड दिया हो।

२२. ब्रजभाषा गद्य को विकसित बनाने मे टीका-ग्रन्थो का भी यथेष्ट हाथ है। इन टीका-ग्रन्थो मे हरिचरनदास की 'बिहारी-सतसई' तथा 'कविप्रिया की टीका', प्रियादासजी की 'गोस्वामी हितहरिवंश के चौरासी पदों पर स्फुट पद टीका', रामभजन की 'दृष्टातसागर' की टीका, अयोध्या के महत बाबा रामचरन दास की 'रामचरितमानस की टीका', जानकी प्रसाद की 'रामचन्द्रिका की टीका', लछिमनराव की केशवकृत कवि प्रिया पर 'लछमन चन्द्रिका टीका', लल्लूलालजी की बिहारी सतसई पर 'लालचन्द्रिका टीका', काष्ठजिह्वा स्वामी की 'मानस परिचय टीका', प्रतापसाहि की मतिराम के 'रसराज की टीका', सरदार कवि की 'रसिकप्रिया पर टीका' आदि प्रधान है। इनके अतिरिक्त स्वतत्र ग्रन्थो के रूप मे भक्त नाभादासजी का 'अष्टयाम', वैकुण्ठमणि शुक्ल के 'अगहन माहात्म्य' तथा 'वैशाख

---

१. प० रामचन्द्र शुक्ल : आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, नवा संस्करण संवत् २००६ पृष्ठ ४०३।

२. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, प्रथम सस्करण सन् १९५२, पृष्ठ ३६५।

माहात्म्य' आदि प्रमुख गद्य ग्रंथ है। साथ ही साथ राजस्थानी गद्य मे ख्यात, बात, सनदें और पत्र आदि भी मिले है जिनमे आधुनिक साहित्य के पूर्ववर्ती गद्य स्वरूप का अनुमान लगाया जा सकता है। अभिप्राय यह है कि आधुनिक काल के प्रारम्भ के पूर्व भी हमारे साहित्य मे गद्य-निर्माण का कार्य हुआ था, किन्तु उसमे खडी बोली को स्पष्ट रूप से गद्य-भाषा का स्वरूप नही मिला था। वैसे वह इसके पूर्व भी अस्तित्व मे अवश्य थी, क्योकि भक्त-कवियो की भाषा के बीच-बीच उसके शब्दो का प्रयोग होता था, किन्तु यह प्रयोग उनकी स्वतन्त्र सत्ता का बोध नही कराते। वास्तव मे अकबर के दरबारी कवि गंग ने 'चंद छद बरनन की महिमा' लिखकर उसे यथेष्ट प्राजल रूप देने की चेष्टा की जो कालान्तर मे विकसित हो सका।

खड़ी बोली गद्य का प्रवर्तन और उसके विकास की विभिन्न प्रेरणाएँ

२३ पूर्व पृष्ठो मे जिस ब्रजभाषा-गद्य का परिचय दिया गया है, वह शनै शनैः क्षीण होने लगा था। यद्यपि इस समय भी आधुनिक युग का नवीन जागरण प्रतिष्ठित नही हो सका था, फिर भी खडी बोली गद्य की परम्परा प्रस्फुटित होने लगी थी। फोर्ट विलियम कालेज, कलकत्ता की स्थापना के पूर्व पटियाला राज्य के कथावाचक श्री रामप्रसाद निरंजनी और बसवा (मध्यप्रदेश) के निवासी प० दौलतराम ने क्रमश सन् १७४१ और सन् १७६१ मे 'भाषा योग वासिष्ठ' और 'जैन पद्मपुराण' के अनुवाद प्रस्तुत कर खडी बोली गद्य का एक आदर्श उपस्थित किया था। उनके कुछ समय पश्चात् ही मुन्शी सदासुखलाल 'नियाज' ने स्वातः सुखाय भावना से विष्णुपुराण के कुछ नीति-तथा उपदेशपूर्ण प्रसगो को लेकर खडी बोली गद्य मे एक पुस्तक लिखी थी जो पूर्ण रूप से उपलब्ध नही हुई है। मुशीजी के समकालीन उर्दू के प्रसिद्ध शायर इशा अल्लाखाँ ने सन् १८०० के आस-पास 'उदयभान चरित' या 'रानी केतकी की कहानी' इस प्रतिज्ञा के साथ लिखी थी कि 'उसमे हिन्दवी छुट किसी और बोली का पुट' न मिलेगा। इस प्रकार ये जितने भी लेखक हुए, उन सबने खडी बोली गद्य की रचना किसी राजकीय आदेश अथवा अँग्रेजो की प्रेरणा से नही की, अपितु अपनी आत्माभिव्यक्ति की भावना से की। हाँ, जब फोर्ट विलियम कालेज, कलकत्ता की स्थापना हुई और उसमे हिन्दी-उर्दू के अध्यापक श्री जॉन गिलक्राइस्ट ने सन् १८०३ मे देशी भाषा के अध्ययन-अध्यापन के लिए अपने तत्वावधान मे सर्वश्री लल्लूजीलाल और सदल मिश्र से खडी बोली गद्य मे क्रमश. 'प्रेम सागर' और 'नासिकेतोपाख्यान' नामक ग्रन्थो की रचना कराई तो उनकी रचनाओ मे अग्रेजो की प्रेरणा अवश्य थी। यही समय ईसाई धर्म के प्रचार का भी था। इस धर्म के प्रचारको के प्रधान पादरी श्री विलियम कैरे ने भारत की अन्यान्य भाषाओ के साथ-साथ हिन्दी भाषा मे भी बाइबिल का अनुवाद 'नए धर्म नियम' नाम से कराया और सन् १८१८ के आस-पास ईसाई धर्म की अनेक पुस्तको के हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत किये गये। इन अनुवादो मे जनसाधारण की बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया गया था और उर्दू के शब्दो का बहिष्कार-सा था, क्योकि उन ईसाई पादरियो ने जन-सम्पर्क के आधार पर यह भली-भाँति जान लिया था कि उर्दू का जनता की भाषा से कोई सम्पर्क नही है। ईसाई-धर्म के इस प्रचार कार्य मे सिरामपुर प्रेस का बडा हाथ था और वही से 'दाऊद के गीत' तथा अनेक प्रकार के प्रचारपत्र छपे थे। अधिक नही तो थोडा बहुत इन ईसाई पादरियो का भी हिन्दी गद्य के प्रवर्त्तन मे भाग मानना ही पडेगा, भले ही उनका मूल दृष्टिकोण अपना धर्म-प्रचार ही क्यो न रहा हो।

२४. जब भारत मे अंग्रेजी राज्य की स्थिति सुदृढ हो गई और उसके सम्मुख कोई महत्त्वपूर्ण विरोधी शक्ति नही रही तो उन्होने शनैः-शनै यहीं की शिक्षा-दीक्षा की ओर भी ध्यान दिया। अग्रेजी-पद्धति के स्कूलो और कॉलेजो मे अन्यान्य विषयो के साथ हिन्दी और उर्दू को जब पाठ्यक्रम मे स्थान दिया गया तो उन विषयो के लिए पाठ्य-ग्रन्थो की आवश्यकता अनुभव हुई।

सन् १८३७ के लगभग आगरे की 'स्कूल बुक सोसाइटी' ने इंग्लैण्ड के इतिहास का हिन्दी भाषा मे प्रकाशन कराया और सन् १८३८ के लगभग इसी सोसाइटी से मार्शमैन के प्राचीन इतिहास का अनुवाद 'कथासार' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसी सोसाइटी ने 'भूगोलसार' और 'रसायन प्रकाश' जैसे विज्ञान सम्बन्धी पाठ्य-ग्रन्थों का भी प्रकाशन किया था और उसीके अनुकरण पर और सस्थाओं ने भी इतिहास, भूगोल, गणित, मनोरजक वृत्तात और विज्ञान आदि विषयो से सम्बन्धित कई शिक्षोपयोगी पुस्तकें प्रकाशित की थी, जिनका मूल दृष्टिकोण प्रचार तथा व्यवसाय का होने पर भी उनके द्वारा हिन्दी गद्य को विकसित बनने मे योगदान अवश्य मिला था। कहने की आवश्यकता नही कि इस प्रकार आधुनिक काल के नवीन जागरण की पृष्ठभूमि मे गद्य-साहित्य के ज्योतिष्णक शनै-शनै पुंजीभूत बनने लगे थे जो कालातर मे विशेषरूप से विकासमान बने। यही समय राजा राममोहनराय के ब्रह्मसमाज की स्थापना का था जिन्होने भारतीय उपनिषदो और वेदान्तो को अपना मूल आधार बना कर देश मे सुधार आन्दोलन का सूत्रपात किया और सन् १६१५ मे वेदात सूत्रों के भाष्य का हिन्दी अनुवाद कराया तथा सन् १८१६ ई० मे 'बगदूत' नामक हिन्दी सवादपत्र निकाला। इसके पश्चात् तो देश मे जैसे-जैसे नवीन प्रणाली की शिक्षा का प्रचार बढता गया, हिन्दी भाषा और उसके गद्य को भी विकसित होने के अवसर मिलते रहे। हाँ, आगे चलकर जब शासको की पक्षपातपूर्ण नीति के कारण जनमत की उपेक्षा करते हुए उर्दू की समता मे हिन्दी को बहुत कम महत्त्व दिया गया तो उसके विरुद्ध आन्दोलनो का भी श्रीगणेश हो गया, जिसकी चर्चा आगे की जायगी। यहाँ तो हमारे कहने का मूल अभिप्राय यही है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रथम चरण भारतेन्दु युग के प्रारम्भ होने से पूर्व हमारे हिन्दी-प्रदेश मे एक ऐसा वातावरण बनने लगा था जिसके कारण हिन्दी गद्य को विकसित होने के मार्ग मे अनेक प्रकार की सहायता मिली और जिससे भारतेन्दुजी को एक ऐसा क्षेत्र तैयार मिला, जिसकी रेखाओ मे रग भरने का कार्य उनके जुम्मे रह गया था।

भारतेन्दु युग की पूर्व कालीन साहित्य-परम्परा

२५. भारतेन्दु-युग के हिन्दी साहित्य का सामान्य विश्लेषण करने के पूर्व इस विषय का विवेचन करना भी आवश्यक है कि श्री रामप्रसाद निरजनी और उनके अतर्वर्ती युग के मध्य कुछ ऐसे और व्यक्तित्व भी आते है जिनका आधुनिक हिन्दी साहित्य और गद्य के प्रसार मे हाथ था। उनमे हमारा सर्वप्रथम ध्यान राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' की ओर जाता है, जिन्होने यू० पी० के शिक्षा-विभाग में निरीक्षक पद पर कार्य करते हुए हिन्दी भाषा और साहित्य की सेवा भी की। राजा साहब सन् १८५६-५७ मे स्कूलो के निरीक्षक नियुक्त हुए थे, किन्तु उन्होने हिन्दी-सेवा का व्रत उससे पूर्व से ही ले लिया था। 'राजा भोज का सपना', 'वीरसिंह का वृत्तान्त' तथा 'आलसियो का कोड़ा' उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ हैं। प्रारम्भ में तो उनकी भाषा अत्यन्त सरल और स्वाभाविक होती थी, किन्तु शनैः-शनैः उन पर अधिकारियों की भाषा-विषयक नीति का असर होता गया और वे ठेठ उर्दू जबान के निकट जाकर लिखने लगे। एक बात यह थी कि उस समय शिक्षा-विभाग मे मुसलमानो का विशेष जोर था और वे हिन्दी को गँवारू भाषा समझते थे, जिनके आगे राजा साहब की अधिक न चलने के कारण उन्होंने कदाचित् यही उचित समझा कि अपनी भाषा मे बोलचाल के आमफहम उर्दू के शब्दों का प्रयोग किया जाय, जिससे कम से कम देवनागरी लिपि की सुरक्षा तो हो सके। कहने की आवश्यकता नही कि राजा साहब ने जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग कालान्तर मे किया, उसे देख कर कोई यह नही कह सकता कि 'राजा भोज का सपना' उन्ही का लिखा हुआ है। सच तो यह है कि 'राजा भोज का सपना' मे अत्यन्त सरल और धारावाहिक हिन्दी का प्रयोग है जबकि उनकी परवर्ती रचनाओं मे, आलिम-फाजिल फारसी के शब्दों का।

उनकी भाषा-नीति का विरोध उन्ही के समकालीन राजा लक्ष्मणसिंह ने सन् १८६० मे आगरा से 'प्रजा-हितैषी' नामक पत्र का प्रकाशन करते हुए किया। उनका सन् १८६५ मे कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नामक नाटक का अनुवाद प्रकाशित हुआ था, जिसमे सर्वथा विशुद्ध हिन्दी भाषा का प्रयोग किया गया था। रघुवश के गद्यानुवाद की भूमिका मे उन्होने स्पष्ट लिखा था कि "हमारे मत मे हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारा-न्यारी है।" इन दोनो राजाओ के समकालीन बाबू नवीनचन्द्र राय ने सन् १८६३ से १८८० के बीच पजाब मे हिन्दी-प्रचार का कार्य करते हुए कई गद्य पुस्तके लिखी और दूसरो से भी लिखवाई। उनका मूल दृष्टिकोण शिक्षा-प्रचार, धर्म-सुधार और समाज-कल्याण का था। सन्१८६७ ई० मे नवीन बाबू ने 'ज्ञान-प्रदायिनी' नामक पत्रिका भी निकाली जिसमे शिक्षा और सामान्य ज्ञान-विज्ञान के विषय रहा करते थे। कहा जा सकता है कि जिस प्रकार राजा राममोहनराय ने ब्रह्मसमाज को अपना साधन बना कर हिन्दी का भी प्रचार किया, उसी प्रकार पजाब मे बाबू नवीनचन्द्र राय ने अपना कार्य दिखलाया।

२६. जैसा कि पहले सकेत कर दिया है कि भारतेन्दुजी के साहित्य-क्षेत्र में आने के पूर्व हमारे देश मे नवजागरण का वातावरण बन चुका था। सन् १८७५ ई० मे स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना कर देश के सामाजिक और धार्मिक जीवन मे नवीन सास्कृतिक संचरण उत्पन्न कर दिया, जिसके कारण कट्टर सनातन-धर्मियो और नवीन आर्यसमाजियो मे धार्मिक प्रश्नो पर वाद-विवाद छिड गया। स्वय स्वामीजी ने 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना कर हिन्दी गद्य का विकास करने मे योग दिया और अन्य लेखको को भी हिन्दी मे लिखने की प्रेरणा दी। निश्चय ही उनका प्रभाव अत्यन्त गम्भीर और व्यापक था। उन्ही के समय प० श्रद्धाराम फुल्लौरी ने अपने प्रवचनो और कथाओ के द्वारा आर्य समाज के जीवन मे नई चेतना का सचार किया और 'सत्यामृत प्रवाह' नामक एक अत्यन्त प्रौढ ग्रन्थ लिखा जिसमे वैदिक साहित्य और आर्यसस्कृति का गौरव विवेचित किया गया था। उनकी अन्य कृतियो के नाम 'आत्मचिकित्सा', 'तत्व दीपक', 'धर्म रक्षक' और 'उपदेश सग्रह' आदि है। कहते है कि उन्होने 'भाग्यवती' नामक एक छोटा उपन्यास भी लिखा था। इस प्रकार इन महापुरुषो के प्रयत्न से हिन्दी भाषा और गद्य के प्रसार के लिए यथेष्ट वातावरण बन चुका था। इन महापुरुषो के द्वारा सामाजिक तथा सास्कृतिक क्षेत्र मे जो अंतरग क्रान्ति की गई, उसका हमारे देश के वाह्य जीवन पर भी प्रभाव पडा। नवीन सभ्यता और सस्कृति के परिचय तथा आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के साहचर्य से राजनीतिक चेतना को विकसित होने मे भी सफलता मिली। इस समय तक भारतीय अपने कर्त्तव्य और अधिकारो के प्रति सजग हो गये थे। शनै-शनैः राष्ट्रीयता का प्रचार होने लगा और जब सन् १८८५ मे इडियन नेशनल काग्रेस की स्थापना हुई तो देश मे राजनीतिक जागरण का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। यही समय भारतेन्दुजी के विचारो के प्रौढकाल का था। अभिप्राय यह है कि भारतेन्दु युग की पार्श्वभूमि अत्यन्त सधी हुई थी जिसके परिवेश मे हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य को विकास करने के लिए नैसर्गिक विधान मे वातावरण मिल गया।

भारतेन्दु-युग में साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रवर्तन

२७ भारतेन्दु-युग हमारे आधुनिक साहित्य का प्रवेश-द्वार है। इस युग मे समालोचना साहित्य का जिस रूप और प्रकार मे प्रवर्तन हुआ उसका विवेचन हम इसी शोध-प्रबन्ध के पंचम अध्याय मे करेगे। यहाँ तो हमे केवल उस युग के रचनात्मक साहित्य के सामान्य स्वरूप का ज्ञान करना है जिसके द्वारा यह जाना जा सके कि उस युग मे साहित्य-सृजन की विधाएँ किन-किन रूपो मे वर्तमान थी और रचनात्मक साहित्य का स्तर तथा विधान किस कोटि का था। कहने की आवश्यकता नही कि इस युग के हिन्दी-प्रदेश के प्रमुख प्रतिनिधि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र थे, जिनका

प्रभाव इतर प्रान्तो तक भी व्याप्त था। उनका जन्म सन् १८५० मे हुआ था और मृत्यु सन् १८८४ ई० मे। उनकी मृत्यु के प्राय एक वर्ष पश्चात् भारतीय राष्ट्रीय सभा काग्रेस का जन्म हुआ था। वे सौभाग्यवश और अधिक दिन जीवित रहते तो उनसे हिन्दी भाषा और साहित्य का और अधिक उपकार होता, किन्तु विधि-विडम्बना से यह सम्भव नही हो सका। फिर भी उन्होने अपने अल्प-जीवन मे भी अपनी प्रतिभा के द्वारा साहित्य को एक ऐसे स्थान परला कर उपस्थित कर दिया, जिससे उसे भावी विकास की दिशा दृष्टिगोचर हुई और उसके विविध अगो मे विकास के लक्षण प्रस्फुटित होने लगे। सयोग की बात है कि उन्हे अपने साथी साहित्यकारो की एक ऐसी मडली भी प्राप्त हो गई, जिनके जीवन मे साहित्याराधन और देशोत्थान की नैसर्गिक उमग थी। इस युग मे गद्य और पद्य की विभिन्न शाखाओ और उपशाखाओ मे साहित्य-कोष को सम्पन्न बनाने की पूर्ण चेष्टा की गई। काव्य, नाटक, उपन्यास, निबन्ध, कहानी, समालोचना और पत्र-पत्रिकाएँ आदि अनेक प्रकार की प्रवृत्तियो मे इस युग का साहित्य विकासमान बना। आधुनिक साहित्य का युग-चेतना द्वारा जिस प्रकार का निर्माण अपेक्षित था, वह भारतेन्दु-युग द्वारा किया गया। अब उस युग के रचनात्मक साहित्य का सामान्य स्वरूप विवेचित किया जायगा जिसमे भारतेन्दु युग ने अपना प्रतिभा-कौशल प्रदर्शित किया था।

(अ) पद्य-काव्य और उसके विषय

२८. भारतेन्दु युग के रचनात्मक-साहित्य का सामान्य स्वरूप जानने के पूर्व हमारा ध्यान सर्वप्रथम उसके पद्य भाग की ओर जाता है। उस समय के पूर्व हमारे पद्य-साहित्य मे काव्य-रचना की जो परम्परा प्रचलित थी, वह भक्तिकाल तथा रीतिकाल के धूपछाही रंगो से निर्मित और भक्ति तथा शृ गार-भावनाओ के छन्दो तक सीमित थी। रीतिकाल अपने अवसान के क्षणो मे रिक्थ के रूप मे केवल नायिका-भेद, नखशिख वर्णन तथा प्रणय-भाव के श्रृंगार-चित्रण की परम्परा छोड गया था जिसकी रूढिगत परम्परा से हट कर नवीन मार्ग का अनुसंधान करना काव्यकारो के लिए सम्भव न था। उस समय जितने भी काव्यकार हुए, उन सब पर भक्तिकाल तथा रीतिकाल की काव्य-प्रवृत्तियो का प्रभाव था, यहाँ तक कि स्वयं भारतेन्दुजी तथा उनके मण्डल के अन्य नक्षत्र भी उस प्रभाव से मुक्त नही थे। इसमे कोई सन्देह नही कि भारतेन्दु-युग ने व्रजभाषा को पद्य काव्य की भाषा स्वीकार करके भी उसे समयोचित प्राजल तथा धारावाहिक स्वरूप देने का प्रयास किया, किन्तु उनके काव्य-विषय प्राचीन परम्पराओं को लेकर भी चलते रहे। उस युग मे की जाने वाली समस्या पूर्तियो और कवित्त-सवैयो मे इस प्रकार की प्राचीन काव्य-प्रवृत्तियो की झलक देखी जा सकती है, परन्तु गम्भीरता से विचार करने पर यह पक्ष भारतेन्दु-युग का गौण पक्ष सिद्ध होता है। वास्तव मे इस युग मे पद्य की भाषा व्रजभाषा होने पर भी काव्य-निर्माण के विषय अत्यन्त आधुनिक और नवीन भावधारा की ओर उन्मुख होने लगे थे। भारतेन्दुजी ने जिस प्रकार गद्य की भाषा का स्वरूप स्थिर करके गद्य-साहित्य को देशकाल के अनुसार नए-नए विषयो की ओर उन्मुख किया, उसी प्रकार कविता की धारा को भी नए क्षेत्रो की ओर मोडा। इस नए रंग मे सब से ऊँचा स्वर देशभक्ति की वाणी का था। उसी मे लगे हुए विषय लोकहित, समाज सुधार, मातृभाषा का उद्धार आदि थे।[1] उन्होने काव्य के वर्ण्य पक्ष को अनेक नवीन दिशाएँ दिखलाईं, यहाँ तक कि शृगार, हास्य और वीर-रस के लिए युगानुरूप ऐसे आलम्बन लाकर उपस्थित किये, जिनका नवीन रूप आकर्षक होने के साथ-साथ बहुव्यापी था। उन्होने प्रबन्ध और मुक्तक काव्य के बीच एक ऐसी काव्य-प्रणाली का प्रवर्त्तन किया जिसे पद्य निबन्ध कहा जा सकता है। इस प्रणाली मे न तो केवल प्रगीत-मुक्तक का ही रूप था और न 'साहित्य-दर्पण' मे निर्धारित लक्षणो

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, नवम सस्करण, संवत् २००६ वि० पृष्ठ ५८८.

के अनुसार प्रबन्ध-काव्यो का ही। सच तो यह है कि इस प्रणाली में 'विधि-विडम्बना', 'जगत सचाई सार', 'गौरक्षा तथा बुढापा' आदि विषयो पर वर्णनात्मक पद्य-काव्य लिखे गये, जिनमे वर्ण्य विषय का एक क्रमिक रेखाचित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता था। उन्होने इस प्रकार के वर्णनात्मक पद्यो का प्रयोग अपने नाटको के अतर्गत भी किया है तथा स्वतन्त्र काव्य-रचनाएँ भी लिखी है जिनमे देश के गौरवपूर्ण अतीत, पतनशील वर्तमान और आशापूर्ण भविष्य की झलक भी मिलती है। साथ ही साथ उनका सम्बन्ध माधुर्य भाव की रचनाओ से भी नही छूटा है। वस्तुत उनके भावलोक मे प्राचीन और नवीन युग की अभिसधि का मोहक आकर्षण विद्यमान है जो परिस्थितिजन्य भावनाओ मे अपनी अभिव्यक्ति करने के लिए आकुल हो उठा है। भारतेन्दुजी ही क्यो, उस युग के प्राय सभी साहित्यकारो के पद्य साहित्य मे इस प्रकार की सामान्य प्रवृत्ति मिलती है। प० प्रतापनारायण मिश्र, प० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प० अम्बिकादत्त व्यास और ठाकुर जगमोहनसिंह आदि की रचनाओ मे इस प्रकार की प्रवृत्ति विशेष रूप से मिलती है। इस युग के कवियो मे हास्य-विनोद की प्रवृत्ति के साथ-साथ सहज भावुकता और रसिकता की मात्रा भी कम नही है।

(आ) नाटक-साहित्य की मूल-चेतना

२६. गद्य-साहित्य के क्षेत्र मे भारतेन्दु-युग ने सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य नाटको के क्षेत्र मे किया है। उस युग के नाटककारो मे सर्वश्रेष्ठ और गण्यमान नाटककार तो स्वय भारतेन्दुजी ही है, जिनके नाटको का संग्रह काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'भारतेन्दु ग्रन्थावली' के प्रथम भाग मे हो चुका है। उक्त ग्रन्थावली मे 'विद्यासुन्दर' द्वितीय सस्करण (१८८२ ई०), 'रत्नावली' (१८६८ ई०), 'पाखंड विडम्बन' (सन् १८७३), 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३ ई०), 'धनजय विजय' (१८७३ ई०), मुद्राराक्षस' (१८७५-७७), 'सत्य हरिश्चन्द्र' (१८७५ ई०), 'प्रेम योगिनी' (१८७४ ई०), 'विषस्य विषमौषधम्' (१८७६ ई०), 'कर्पूरमञ्जरी' (सन् १८७६ ई०), 'चन्द्रावली' (१८७६ ई०) 'भारत दुर्दशा' (१८७६ ई०), 'भारत जननी' (१८७७ ई०), 'नील-देवी' (१८८० ई०), 'दुर्लभ बन्धु' (१८८० ई०) 'अंधेर नगरी' (१८८१ ई०) और 'सती प्रताप' (१८८४ ई०), नामक सत्रह नाटक हैं। इन नाटको मे 'विद्यासुदर' नाटक श्री यतीन्द्रमोहन ठाकुर के बंगला नाटक का छायानुवाद है तथा 'रत्नावली', 'धनजय विजय' तथा 'मुद्राराक्षस' सस्कृत से तथा 'कर्पूरमंजरी' प्राकृत से अनूदित है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के सम्बन्ध मे अभी तक कोई मत निश्चित नही हो सका है क्योकि उसका रचना-विधान बहुत कुछ सस्कृत के 'चण्डकौशिक' नाटक पर आधारित है किन्तु कुछ विद्वान् इसे किसी बगला नाटक का रूपान्तर मानते है। सभव है, भारतेन्दुजी ने उक्त दोनो प्रकार के आधारो से काम लेकर अपनी स्वतत्र चिंतना से इसका निर्माण किया हो। शेष नाटक भारतेन्दुजी की मौलिक कृतियाँ हैं।

३०. भारतेन्दुजी के अतिरिक्त जिन व्यक्तियों ने इस युग मे नाटक लिखे, उनमे प्राय वे ही हैं जिनकी गणना भारतेन्दु-मण्डल के अन्तर्गत की जाती है। भारतेन्दुजी के अनन्य मित्र प० प्रतापनारायण मिश्र ने 'भारत-दुर्दशा', 'हठी-हमीर', 'गोसकट', 'कलि-प्रभाव' और 'सगीत शाकुतन्ल' नामक नाटक लिखे, जिनमे 'भारत-दुर्दशा' नाटक मे तो भारतेन्दुजी के इसी नाम के नाटक का पूर्णतया अनुसरण है तथा 'सगीत शाकुन्तल' मे लावनी के ढग पर खडी बोली के पद्य का प्रयोग किया गया है। इनके अतिरिक्त मिश्रजी का लिखा हुआ 'जुआरी खुआरी' नामक एक छोटा-सा प्रहसन भी मिला है। मिश्रजी के अतिरिक्त प० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' ने 'भारत-सौभाग्य' (सन् १८८८) नामक नाटक काग्रेस अधिवेशन मे अभिनीत करने की भावना से लिखा, किन्तु उन्हे उसमे सफलता नही मिली; क्योकि वे उसका वस्तु-सगठन और भाषा-सयोजन ठीक तरह से नही कर पाये।

'प्रयागरामागमन' उनका दूसरा नाटक है, जिसमे कदाचित् संस्कृत नाटको मे स्त्री-पात्रो द्वारा प्रयुक्त प्राकृत भाषा को ध्यान मे रखकर सीता से ब्रजभाषा का प्रयोग कराया है। चौधरीजी ने हमारे समाज की विकृतियो का चित्र अंकित करने की भावना से 'वारागना रहस्य महानाटक' अथवा 'वेश्याविनोद महानाटक' भी लिखा है, किन्तु वह अपूर्ण ही रह गया है। इसी युग मे लाला श्रीनिवासदास ने भी अनेक नाटक लिखे, जिनमे 'प्रह्लाद चरित्र', 'तप्तासवरण', 'रणधीर और प्रेममोहिनी' और 'संयोगिता स्वयम्बर' प्रधान है। इस युग के अन्य नाटको के बाबू तोताराम के 'कीर्तिकेतु' तथा 'केटोकृतान्त' नाटक, पं० राधाचरण गोस्वामी के 'सुदामा', 'सती चन्द्रावली', 'अमरसिंह राठौर', 'तन मन धन, श्री गोसाईंजी के अर्पण', प० अम्बिकादत्त व्यास के 'गोसंकट' नाटक, 'ललित नाटिका' (ब्रजभाषा मे), बाबू काशीनाथ खत्री के 'तीन ऐतिहासिक रूपक' (सिंधुदेश की राजकुमारियाँ, गुन्नौर की रानी, लवजी का स्वप्न), 'ग्राम पाठशाला' और निकृष्ट नौकरी नाटक, तथा 'बाल विधवा सताप' नाटक, राधाकृष्णदास के 'सती प्रताप' (भारतेन्दुजी के अपूर्ण नाटक को पूर्ण करते हुए) 'दुःखिनी बाला', महारानी पद्मावती' अथवा 'मेवाड कमलिनी' और 'महाराणा प्रताप' या 'राजस्थान केशरी' आदि नाटक प्रमुख हैं।

३१. भारतेन्दु-युग मे जितने नाटक लिखे गये उनके इतिवृत्तो पर आधुनिकता की छाप है। उनमे आदर्श और यथार्थ तथा पौराणिकता और स्वच्छदता का भी सुन्दर सामजस्य है। उनकी रचना-प्रणाली मे भारतीय और पाश्चात्य विधा के सम्मिश्रण का भी प्रयत्न किया गया है। चूँकि उस समय समाज-सुधार और नवजागरण की भावनाओ का क्रमश प्रसार होने लगा था, अत. इस युग के नाटको मे उनकी झलक भी यथास्थान मिलती है। इस युग के नाटककारो मे हास्य-व्यग्य की प्रवृत्ति होने के कारण उन्हे प्रहसन लिखने मे यथेष्ठ सफलता मिली है। नाटको के कथानक अधिकाशतः पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक है और उनमे राष्ट्र-भावना के विकास के प्रयत्न भी दृष्टिगोचर होते हैं। नाटक-रचना का वास्तविक आदर्श क्या होना चाहिए, इसका विवेचन भारतेन्दुजी ने अपने 'नाटक' शीर्षक आलोचनात्मक निबध मे विशेष रूप से किया था, जिसका विस्तृत विवेचन हम भारतेन्दुजी की समीक्षाओ का मूल्याकन करते समय करेगे। यहाँ तो हमारे कथन का मूल अभिप्राय: यही है कि भारतेन्दु-युग के रचनात्मक साहित्य के गद्य-भाग के अतर्गत नाटको का विशेष महत्त्व है और यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है कि इस युग मे जिस प्रकार की पुस्तक-परिचयात्मक समालोचना का प्रारम्भ हुआ, वह इसी युग के नाटको के गुण-दोष-कथन से ही संबंधित थी; अतः इस दृष्टि से इस युग का नाटक-साहित्य हमारे लिए और भी-अधिक विवेचना का विषय बन जाता है।

(इ) उपन्यासों और कहानियों का स्वरूप

३२. भारतेन्दु-युग में उपन्यास और कहानियो का विकास अधिक सतोषप्रद रूप मे नहीं हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वय भारतेन्दुजी की भी इस ओर विशेष अभिरुचि नही थी, अन्यथा इस दिशा मे भी वे अपने मंडल के लेखको का पथ-प्रदर्शन कर सकते थे। यों तो उनके पूर्व इंशा-अल्लाखां ने 'रानी केतकी की कहानी' तथा राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' ने 'राजा भोज का सपना' कथा-साहित्य के रूप में ही लिखा था, किन्तु उनकी परम्परा आधुनिक उपन्यास विधा से कुछ भिन्न रूप में थी। ऐसी स्थिति मे हमे लाला श्रीनिवासदास को ही हिन्दी का प्रथम उपन्यासकार मानना पडता है। लालाजी ने 'परीक्षा-गुरु' के नाम से एक शिक्षाप्रद उपन्यास लिखा था जिसमें अंग्रेजी ढंग की वाक्य-रचना का भी प्रयोग था तथा जिसकी भाषा अत्यन्त परिष्कृत और मुहावरेदार भी थी। प० बालकृष्ण भट्ट ने 'सौ अजान और एक सुजान' तथा 'नूतन ब्रह्मचारी' नामक दो छोटे-छोटे उपन्यास लिखे। इस युग के उपन्यासों मे मौलिकता की बहुत कमी थी और ये अंग्रेजी अथवा बगला के अनुकरण पर ही अधिकतर लिखे गये थे जिसका एक कारण यह भी था कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के इस प्रवर्तन काल मे उपन्यास-लेखन की कोई विशिष्ट परम्परा ही न थी। यह एक महत्त्व-

पूर्ण बात है कि इस क्षेत्र मे उस समय बगला-साहित्य यथेष्ट प्रगति कर चुका था, अतः उसके अनुकरण पर इस युग के लेखकों ने उपन्यास लिखने का प्रयत्न किया। इस युग के अन्तिम दशक मे तो बंगला के अनूदित उपन्यासो का क्रम विशेष रूप से चला, जिससे एक ओर जहाँ भाषा मे निखार आया वहाँ दूसरी ओर अनुवादको का बंगला भाषा पर पूर्ण अधिकार न होने के कारण अनुवाद मे ज्यो के त्यो बंगला प्रयोग भी आने से नही बच सका। प० राधाचरण गोस्वामी ने 'बिरजा' 'जावित्री' और 'मृण्मयी' आदि बंगला के कई उपन्यासो के अनुवाद प्रस्तुत किये, किन्तु इस क्षेत्र मे अधिक सफलता बाबू गदाधरसिंह के 'बग विजेता' तथा 'दुर्गेशनन्दिनी' के अनुवादों को मिली। तदनतर बाबू राधाकृष्ण दास ने 'स्वर्णलता', 'मरता क्या न करता' नाम के बगला उपन्यासो के अनुवाद भी किये और 'निस्सहाय हिन्दू' नामक एक मौलिक उपन्यास भी लिखा। इस क्षेत्र मे बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री का कार्य विशेष महत्त्वपूर्ण था जिन्होने 'इला', 'प्रमीला', 'जया' और 'मधुमालती' नामक बगला के कई उपन्यासो के अनुवाद किये जो भारत जीवन प्रेस काशी से प्रकाशित हुए। बा० रामकृष्ण वर्मा के 'ठगवृत्तातमाला', 'पुलिस वृत्तातमाला', 'चित्तौड-चातकी', 'अमल वृत्तात माला' आदि बगला के उपन्यासो के अनुवाद है।

(ई) निबन्ध-साहित्य और पत्र-पत्रिकाएँ

३३. भारतेन्दु-युग के साहित्य का एक प्रधान अंग निबन्ध-साहित्य तथा पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन है। इस युग की समालोचना का प्रधान स्वरूप तो केवल निबन्ध-साहित्य तथा पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित पुस्तकालोचन ही था जिसका विशेष विवरण प्रवर्त्तन-काल के अतर्गत दिय जायगा। यहाँ तो हमे केवल इतना ही कहना अभीष्ट है कि भारतेन्दु-युग में देश में नवीन चेतना का संचार होने के कारण सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सास्कृतिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, वैज्ञानिक तथा चारित्रिक विषयो पर अनेक निबन्ध लिखे गये। चूंकि इस युग के प्रायः सभी निबन्ध-लेखक पत्र-सम्पादक भी थे, अतः उन्होने अपने निबन्धो मे सम्बन्धित विषयों की जानकारी के साथ-साथ सामयिकता का भी विशेष पुट दिया है और यथावसर हास्य तथा व्यंग्यपूर्ण शैली का भी प्रयोग किया है। इस युग के निबन्धकारो मे स्वय भारतेन्दुजी के अतिरिक्त पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, प० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' और ठाकुर जगमोहनसिंह आदि प्रमुख है। भारतेन्दु-युग का निबन्ध-साहित्य इतना अधिक बहुमुखी और व्यापक है कि उसका इस स्थल पर विवेचन करना सम्भव नही है। इस युग के प्राय· सभी साहित्यकारो की रचनाओ की ग्रथावलियाँ प्रकाशित हो चुकी है जिनमे उनका स्वरूप देखा जा सकता है। साथ ही साथ इस युग की पत्र-पत्रिकाओ के विकास तथा विभिन्न लेखकों पर शोध-प्रबन्ध भी प्रकाशित हो चुके है जिनमे इस विषय का विशेष विवरण दिया गया है। हमारा तो इस विषय मे सामान्य उल्लेख करने का प्रमुख प्रयोजन यही है कि समालोचना साहित्य के समवर्ती विधान मे विकसित होने वाले रचनात्मक साहित्य का केवल सिंहावलोकन-मात्र कर लिया जाय जिससे यह स्पष्ट हो सके कि परवर्ती अध्यायो मे जिस समालोचना-साहित्य का क्रमिक विकास विवेचित किया जा रहा है, उसकी पृष्ठभूमि मे आधुनिक साहित्य का रचनात्मक विधान किस कोटि का है, जिसका प्रभाव समालोचना-क्षेत्र पर भी पडा है तथा जिसने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से समालोचना को विकसित होने की प्रेरणा भी प्रदान की है।

प्रचार-कार्य और अन्यान्य प्रवृत्तियाँ

३४. प्रवर्त्तन काल की अन्य साहित्यिक प्रवृत्तियों के अन्तर्गत इस युग के लेखको द्वारा किया गया प्रचार-कार्य प्रमुख है। वस्तुतः उस युग के लेखको मे हिन्दी-भाषा और साहित्य के अभ्युत्थान के प्रति आतरिक उमंग और लगन थी और उन्होने उसी से प्रेरित होकर जिस उल्लास

और उत्साह से कार्य किया था, उसी का सुफल आज हिन्दी-भाषा और साहित्य को उपलब्ध हुआ है। उस समय एक ओर जहाँ ये लेखक हिन्दी को उच्चासन पर अधिष्ठित करने के लिए लालायित थे, वहाँ दूसरी ओर उसके विरोधीजन उसे कोई भाषा ही नही समझते थे। उस समय यदि किसी साधारणजन के मन मे हिन्दी-साहित्य के प्रति प्रेम भी था तो वह आत्महीनता की ग्रन्थि से पीडित होने के कारण उसका खुल कर प्रकाशन करने का साहस नही रखता था। भारतेन्दु काल के लेखको को इस प्रकार की अवरोधपूर्ण परिस्थितियो का सामना करना था। उन्होने स्थान स्थान पर सभाएँ कर 'हिन्दी', 'हिन्दू' और 'हिन्दुस्तान' का मन्त्रोच्चारण किया और स्वय भारतेन्दुजी ने इसी प्रकार का राग अलापा।[1] इसी युग मे बाबू तोताराम ने अलीगढ मे 'भाषासंवर्द्धिनी सभा' की स्थापना की तो प्रयाग के साहित्यकारो ने मिलकर 'हिन्दी उद्धारिणी प्रतिनिधि सभा' को प्रतिष्ठित किया। द्विवेदी-युग के प्रारम्भ मे 'काशीनागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा हिन्दी भाषा को सरकारी कार्यालयो मे स्थान प्रदान कराने तथा उसके साहित्य को शिक्षा-विभाग के पाठ्यक्रम मे उच्च स्थान दिलाने के जो आन्दोलन विशेष रूप से चलाये गये, उनका श्रीगणेश भी भारतेन्दु-युग से हो गया था। भारतेन्दुजी ने केवल वक्तृताएँ देकर ही इस प्रकार के आन्दोलन का सचालन नही किया, अपितु वे स्वय विभिन्न स्थानो पर भ्रमण करते हुए इस सम्बन्ध मे रचनात्मक कार्य भी करते रहे। उन्होने 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक', 'अधेर-नगरी' आदि नाटको के अभिनय जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर हिन्दी-भाषा और साहित्य के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करने की पूर्ण चेष्टा की और देवाक्षर चरित्र (प० रविदत्त शुक्ल लिखित) जैसे प्रहसनो के अभिनय द्वारा उर्दू-लिपि की अवैज्ञानिकता और अपूर्णता बतलाने का प्रयत्न किया। इस युग के अवसान-काल मे प० गौरीदत्तजी सारस्वत का नागरी-प्रचार-सम्बन्धी कार्य तो और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'जय नागरी' का अभिवादन तो एक प्रकार से उन्होंने ही प्रारम्भ किया था तथा सन् १८९४ मे उन्होने राजकीय कार्यालयो मे नागरी का प्रयोग करने के लिए एक समवेत पत्र भी भेजा था। अभिप्राय यह है कि भारतेन्दु-युग हमारे आधुनिक-हिन्दी साहित्य मे उन समस्त विधाओ का प्रवर्तन कर गया जिनका विकास आगे चलकर द्विवेदी-युग मे हुआ है। कहा जा सकता है कि इस युग ने जिस प्रकार की नव-चेतना का सृजन किया, वह हमारे भविष्य-निर्माण का उज्ज्वल प्रतीक बनी। उस युग की सी सजीदगी, जिन्दादिली, मस्ती और उमग हमारा अद्यतन साहित्य किस रूप मे प्राप्त कर रहा है, यह आज भी हमारे लिए मनन और चिंतन का विषय है।

३५. भारतेन्दु-युग की जिन प्रवर्तनकालीन रचनात्मक साहित्य-प्रवृत्तियो का उपर्युक्त अनुच्छेदो मे जो सक्षिप्त परिचय दिया गया, उसका मूल उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य की क्रोड़ मे विकसित होने वाली विभिन्न प्रक्रियाओ के प्रेरणा-सूत्र और विकास-बिन्दु उनमे अतर्निहित हैं, जिनका कालातर मे व्यापक विधान हो सका। द्विवेदी युग और उसके उत्तरवर्ती कालो में रचनात्मक साहित्य ने अपना विविध क्षेत्रीय प्रसार करते हुए साहित्य-कोष मे जिन अद्वितीय रत्नो की अभिवृद्धि की है, उनका परिचय प्राप्त करना हमारे लिए इस दृष्टि से भी आवश्यक हो जाता है कि उनके द्वारा समालोचना-साहित्य को भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से यथोचित सहयोग अवश्य मिला है। सच पूछा जाय तो आधुनिक समालोचना के विकासक्रम में रचनात्मक साहित्य और उसकी प्रमुख विचारधाराओं और प्रवृत्तियो ने जितनी प्रेरणाएँ प्रदान की है, उनकी उपेक्षा करना असम्भव-सा है। कहने की आवश्यकता नही कि रचनात्मक साहित्य के प्रधान अंग काव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी और जीवनी-साहित्य आदि है जिनका भारतेन्दु-युग की परवर्ती दिशा से संघटित होने वाले विकास का क्रमिक स्वरूप बोध करना अपने अध्ययन की वैज्ञानिकता

---

१. निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल॥

के लिए अनिवार्य है। अतः आगे के पृष्ठो मे साहित्य की इन प्रमुख प्रवृत्तियो का क्रमागत विवेचन किया जायगा जिससे आधुनिक समालोचना की पूर्वपीठिका के रूप मे प्रतिष्ठित रचनात्मक साहित्य का हमे स्पष्ट आभास मिल सके। वस्तुतः यह समय १९वी शताब्दी के अन्तिम दशक से प्रारम्भ होकर अद्यावधि अनेक प्रकार की मान्यताओ और विचारधाराओ के सयोग से सगठित होकर निर्मित हुआ है जिसका सिंहावलोकन करना ही हमे अभीष्ट है। वैसे तो साहित्य के इतिहासकारो ने उसके विविध चरण, उत्थान अथवा सोपान निर्धारित कर उनका विवेचन किया है, किन्तु हम यहाँ केवल उनके विकास को क्रमबद्ध परम्परा मे ही निरूपित करेगे जिससे उनका धारावाहिक प्रसार समझा जा सके। आधुनिक साहित्य के प्रवर्तन-काल (भारतेन्द्र-युग) मे साहित्य की इन विभिन्न विधाओं का एक ही स्थल पर खण्ड-खण्ड रूप मे जो उल्लेख किया गया, वह केवल इस दृष्टिकोण से था कि उनका प्रारम्भिक प्रणयन-मात्र समझ लिया जाय। परवर्ती परिच्छेदो मे प्राय पचास वर्षों मे विकसित होने वाले रचनात्मक साहित्य का विहगम दृष्टि से सामान्य विश्लेषण है जिसका कार्यकाल साधारणतया सन् १९०० से १९५० तक निर्धारित किया जा सकता है।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विभिन्न अगों पर विहंगम दृष्टिपात

(अ) आधुनिक काव्य-साहित्य और उसका विकास

३६. आधुनिक हिन्दी-साहित्य के प्रवर्त्तन-काल मे जिस प्रकार की पद्यमय काव्य-प्रवृत्तियो का प्रचलन था, उनका स्वरूप-निरूपण भारतेन्दु-युग की विभिन्न प्रवृत्तियो के अतर्गत किया जा चुका है। भारतेन्दु-युग के अवसान के पश्चात् देश की राजनीतिक, सामाजिक, सास्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियो मे एक विशेष प्रकार का परिवर्तन उपस्थित हुआ, जिसने साहित्य की पद्यमय काव्य-धारा मे उत्क्राति की। स्थूल दृष्टि से यह समय सन् १९०० के आसपास का है, जब 'सरस्वती' पत्रिका द्वारा आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने साहित्य की विभिन्न विधाओ को नवीन दिशाएँ दिखलाई थी। इस समय के काव्य-साहित्य पर तत्कालीन युग जीवन की आदर्शवादिता, समाज-सुधार-भावना और पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति का यथेष्ट प्रभाव है। यद्यपि इस समय अग्रेजी शिक्षा-दीक्षा के प्रचार और प्रसार से पाश्चात्य जीवन और साहित्य की स्वच्छंदतावादी प्रतिक्रियाओ का अतर्प्रवेश हिन्दी-जगत् मे होने लगा था, किन्तु परम्परागत विचारधाराओ के प्रति ऐसा प्रतिवर्त्तन नही हो सका था जो काव्य-साहित्य की दिशा को सर्वथा परिवर्तित कर दे। आचार्य द्विवेदी जी ने सरस्वती के माध्यम से काव्य-सृजन के विषयो के सम्बन्ध मे यथेष्ट उदारता का परिचय देते हुए काव्यकारो को अनेक नवीन विषयो का बोध कराया, किन्तु उनका शास्त्रीय दृष्टिकोण कवि-कल्पनाओ को सर्वथा उन्मुक्त होकर विचरण करने का अवसर नही दे सका। उस समय उन्होने सम्पादकीय टिप्पणियो और स्वतन्त्र-लेखो के रूप मे कवि और काव्य विषय के सम्बन्ध मे जो विचारधाराएँ व्यक्त की थी, वे तत्कालीन काव्यभूमि की मूल प्रवृत्तियाँ थी। 'रसज्ञ रजन' मे मुख्यत तथा अन्य कृतियो मे सामान्यत. उनके एतद् विषयक जिन समीक्षात्मक निबधो के सकलन किये गये है, उनसे द्विवेदी-युगीन काव्यधारा की मूल चेतना का बोध सहज भाव से किया जा सकता है। इस युग के प्रमुख कवियों मे प० श्रीधर पाठक, प० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', बाबू मैथिलीरशरण गुप्त, पं० रामनरेश त्रिपाठी, ठाकुर गोपालशरणसिंह, प० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', प० रामचरित उपाध्याय, प० गिरिधर शर्मा 'नवरत्न', प० लोचनप्रसाद पाण्डेय प्रमुख है। इनके अतिरिक्त राय देवी प्रसाद 'पूर्ण', पं० नाथूराम 'शंकर' शर्मा, प० सत्यनारायण 'कविरत्न', लाला भगवानदीन और प० रूपनारायण पाण्डेय आदि अन्य कवियो ने द्विवेदी-मण्डल की पार्श्वभूमि मे रहकर अपनी रचनाएँ की है, जिन पर भी द्विवेदी-युग की विचारधारा और भावराशि का पर्याप्त प्रभाव है। कहने की आवश्यकता नही कि आचार्य द्विवेदी जी ने कवियो को नूतन विषय सुझाने के साथ-साथ स्वयम् पाडित्य-

पूर्ण विधि में अपनी पद्य-रचनाएँ प्रस्तुत की थी, जो काव्य-कला और भाव-सौष्ठव की दृष्टि से अधिक सफल न होने पर भी पूर्ववर्ती युग से यथेष्ट विकासमान थी। इस युग मे प्रबन्ध-काव्य के अतर्गत महाकाव्य और खंडकाव्य भी लिखे गये तथा मुक्तक रचनाओ को भी प्रश्रय दिया गया। इसी युग में गद्य की भाँति पद्य के लिए भी खडी बोली स्वीकृत की गई तथा उसके भाव-पक्ष और विस्तार के साथ-साथ छंद-योजना, अलंकार-विधान और काव्य-शैली के रूप मे भी नवीनता का समावेश हुआ। वस्तुतः इस युग मे रचित काव्य-साहित्य समीक्षा-प्रतिमान का आदर्श बना जिसका प्रयोग साहित्य-रचना की विविध विधाओ मे भी किया गया।

३७. द्विवेदी युग के काव्यकारो मे हमारा सर्वप्रथम ध्यान पं० श्रीधर पाठक की काव्य-कृतियों की ओर जाता है, जो अपनी स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियो मे अपने युग से यथेष्ट प्रगतिशील एव अग्रणी थी। पाठक जी अपनी स्वतत्र प्रकृति और मौलिक कल्पनाओ के धनी थे और उन्हे काव्य-निर्माण के क्षेत्र मे किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध स्वीकार न था। उनका हिन्दी, अग्रेजी और सस्कृत साहित्य-विषयक व्यापक और गभीर अध्ययन था, जिसका उपयोग उन्होने अपनी रचनाओ मे विशेष कौशल के साथ किया। 'एकान्तवासी योगी', 'श्रात पथिक' (गोल्डस्मिथ के ट्रेवलर का अनुवाद), 'ऊजड ग्राम' (डेजरटेड विलेज का अनुवाद) उनकी प्रमुख काव्य-रचनाएँ हैं जिनसे उनकी सृजनशील कल्पना और अभिनव रचना-विधि का पता चलता है। छद, पदविन्यास, वाक्यविन्यास आदि के सम्बन्ध मे नई-नई बदिशे इन्हे खूब सूझा करती थी। अपनी रुचि के अनुसार कई नए ढाचे के छद उन्होने निकाले जो पढने में बहुत ही मधुर लय पर चलते थे। अन्त्यानुप्रासरहित बेठिकाने समाप्त होने वाले गद्य के से लम्बे वाक्यो के छद भी (जैसे अग्रेजी मे होते हैं) इन्होने लिखे है।[१] साथ ही साथ वे लावनी, रोला और सवैया जैसे छंदो मे भी यथेष्ट सफलता प्राप्त कर सके है। उनका विषय-विधान भी अत्यत व्यापक है, जिसमे समाज-सुधार, शिक्षा-प्रसार, प्रकृति-सौन्दर्य और नारी-जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियो का चित्रण हुआ है। प० रामचन्द्र शुक्ल ने तो उनकी स्वर्गीय वीणा मे परोक्ष दिव्य सगीत की रहस्यपूर्ण ध्वनि के आधार पर उन्हें सच्चे स्वच्छदतावाद का प्रवर्त्तक माना है।[२]

३८. भारतेन्दु-युग के अवसान और द्विवेदी युग के प्रारम्भ की सध्यवस्था मे प० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', एक प्रमुख कवि के रूप मे आते हैं, जिन्होने प्रारम्भ मे उर्दू के छंदों और प्रचलित भाषा मे अनेक नवीन विषयों पर अपनी काव्य-रचनाएँ प्रस्तुत की थी। काल-क्रम से उनके रचना कौशल पर प० महावीरप्रसाद द्विवेदी की विचारधारा का भी प्रभाव पडा और उन्होंने सन् १९१४ मे संस्कृत-भाषा के भिन्न तुकात वर्णवृत्तों मे 'प्रिय-प्रवास' नामक महाकाव्य की रचना की। इस रचना मे उनका लोकसंग्रह और सुधारवाद का दृष्टिकोण भी अभिव्यक्त है, जिसमें राधा और कृष्ण का चरित्र लोक-सेवा और जन-रक्षण की भावनाओ से सम्पृक्त होकर चित्रित हुआ है। इस काव्य मे सस्कृत भाषा के मंजुल और पेशल शब्दों का प्रयोग विषयानुकूल छदों मे जिस सौष्ठवपूर्ण विधान मे हुआ है, वह अभूतपूर्व है और इस दृष्टि मे उपाध्यायजी की सफलता अद्वितीय है। इसके अतिरिक्त हरिऔधजी ने 'बोलचाल', 'चुभते चौपदे', 'चोखे चौपदे' और 'पद्य प्रसून' जैसी फुटकल पद्य-रचनाओं मे मुहावरेदार प्रचलित भाषा का प्रयोग कर इस क्षेत्र मे भी अपनी कुशलता का प्रमाण दिया है। 'वैदेही बनवास' उनका एक अन्य महाकाव्य है जो 'प्रिय प्रवास' की समता में अवर श्रेणी का ही माना जाएगा। हाँ, उनकी काव्य-रचनाओ द्वारा उनके भाषा-विषयक अधिकार का आभास अवश्य लगाया जा सकता है।

३९. बाबू मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी युग के ऐसे लोकप्रिय कवि हैं जो प्रायः पचास वर्षों से काव्य-साधना करते हुए विभिन्न काव्य-प्रवृत्तियों को सहेज कर अद्यतन युग पर्यन्त अपनी प्रतिभा

---

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, परिवर्द्धित सस्करण, पृष्ठ ७३०-३१

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', परिवर्द्धित सस्करण, पृष्ठ ७२९.

का परिचय देते रहे हैं। 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन-कार्य ग्रहण करने के पश्चात् आचार्य द्विवेदीजी द्वारा जिन उदीयमान कवियो को विशेष प्रोत्साहन दिया गया, उनमे गुप्तजी अग्रगण्य है। अब तक उनके जितने प्रबन्ध और मुक्तक काव्यो का प्रकाशन हुआ है, वे गुण और परिमाण की दृष्टि से महिमामय है क्योकि उसमे युग-जीवन की प्राप्ति के साथ-साथ हमारा परम्परागत सास्कृतिक और राष्ट्रीय जीवन भी मुखरित हुआ है। सन् १९०९ मे उन्होने 'रंग मे भग' नामक एक छोटा-सा प्रबध-काव्य लिखा था, जिसकी परम्परा क्रमश: विकसित होकर हमे 'जयद्रथ वध', 'विकट भट', 'प्लासी का युद्ध', 'गुरुकुल', 'सिद्धराज', पंचवटी', 'अनघ', 'द्वापर', 'यशोधरा' और 'साकेत' जैसे श्रेष्ठ काव्य प्रदान कर सकी। उनकी समस्त रचनाओ पर उनके शालीन व्यक्तित्व की छाप है जिसका ज्ञान उनकी कृतियो का अध्ययन कर किया जा सकता है। मुसद्दस हाली की प्रणाली पर रचित उनकी 'भारत-भारती' ने देश की अतीत, वर्तमान और भविष्यकालीन परिस्थितियो का सजीव और स्वाभाविक चित्रण कर किसी समय नवीन जागरण का जो शंख-निनाद किया था, वह हमारे काव्य-साहित्य की एक ऐतिहासिक घटना है। युग-जीवन के साथ पद-सचरण करते हुए प्रगतिशील बने रहने की क्षमता गुप्तजी के मानस मे कितनी अधिक है, इसका प्रमाण उनकी किसी भी रचना से उपलब्ध किया जा सकता है। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है कि जिस समय छायावाद और रहस्यवाद की काव्यधारा का प्रचलन हिन्दी-जगत् मे हुआ, गुप्तजी ने भी उनके साथ अपना स्वर मिला कर 'झकार' की रचना की और जब प्रगतिवाद की ध्वनि साहित्य-संसार मे निनादित होने लगी तो उन्होने 'पृथिवीपुत्र' नामक काव्य लिखा। उनकी काव्य-कृतियो मे भाव-व्यजना और रसात्मकता के साथ-साथ जिस प्रकार का वस्तु-विधान और रचना-कौशल मिलता है, वह अत्यन्त प्रसादपूर्ण और लोकग्राह्य है। उनके काव्य-व्यक्तित्व की यह भी एक प्रधान विशेषता है कि वे प्राचीन कथानको मे भी नवीन उद्भावनाओ का सचार करते चले है। 'साकेत', 'अनघ', 'द्वापर' और 'किसान' आदि रचनाओ मे ऐसे अनेक स्थल है, जहाँ गुप्तजी ने आधुनिक युगीन राजनीतिक, सामाजिक, सास्कृतिक और आर्थिक आन्दोलनो का सम्मिलन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। भाव-पक्ष और कला-पक्ष की दृष्टि से गुप्तजी के काव्यो का पर्याप्त समीक्षण किया जा चुका है, और अभी गत वर्ष डा० नगेन्द्रजी के निरीक्षण मे इनका 'भारतीय सस्कृति के आख्याता कवि' के रूप मे डा० उमाकान्त द्वारा जो शोधपरक विश्लेषण हुआ है वह उनके साहित्य का भव्य स्वरूप विवेचित करने मे यथेष्ट समर्थ है (पं० कमलाकान्त पाठक का शोधप्रबध मैथिलीशरण का व्यक्तित्व और कृतित्व अभी हाल मे प्रकाशित हुआ है)। वस्तुतः उनकी रचनाएँ आधुनिक हिन्दी काव्यधारा का एक ऐसा अपूर्व सगम स्थल है जिसमे हम वर्तमान युग की विभिन्न काव्य-शैलियो और विचार-पद्धतियो का सामंजस्य पा सकते है।

४०. गुप्तजी के अतिरिक्त प० रामचरित उपाध्याय ने द्विवेदी-युग मे जिस प्रकार का काव्य-सृजन किया, उस पर भी तत्कालीन मान्यताओ का यथेष्ट प्रभाव है। उनकी 'राष्ट्र भारती', 'देवदूत', 'भारत-भक्ति', 'विचित्र विवाह' और 'देवदूत' आदि अनेकानेक कविताओ का प्रकाशन जिस समय 'सरस्वती' पत्रिका मे हुआ, काव्य-प्रेमियो का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट होने लगा। उनकी महत्ता का सर्वाधिक कारण इनके द्वारा लिखित 'रामचरित चितामणि', नामक महाकाव्य है, जिसका वस्तु-विधान, चरित्र-चित्रण, भाव, व्यंजना, भाषा-सौष्ठव, कल्पना-सौन्दर्य, छन्द-चयन और सवाद-संयोजन अनेक स्थलो पर अत्यन्त भव्य और मधुर है। इसी समय झालरापाटन के पं० गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' ने भी सरस्वती पत्रिका के विभिन्न अको मे अपने काव्याश प्रकाशित कर द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता मे सहयोग दिया था। इन्होने गोल्डस्मिथ के 'हर्मिट' नामक काव्य-ग्रथ का अनुवाद 'एकातवासी योगी' शीर्षक से सस्कृत श्लोको मे किया और माघ के शिशुपाल बध के दो सर्गों के अनुवाद 'हिन्दी माघ' के नाम सें तथा श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीताजलि' का भी हिन्दी

पद्यो मे रूपान्तर प्रस्तुत किया । इस समय के अन्य लोकप्रिय कवियो मे प० लोचनप्रसाद पाण्डेय के 'कथा-प्रबन्ध' और फुटकल काव्याश भी काव्य क्षेत्र मे विशेष लोकप्रिय रहे । यद्यपि इस समय काव्य के लिए खडी बोली स्वीकृत कर ली गई थी, फिर भी ब्रजभाषा की रचनाएँ भी कम लोकप्रिय नही रही । राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', लाला भगवानदीन और पं० सत्यनारायण कविरत्न के प्राचीन और नवीन ब्रजभाषा और खडी बोली-काव्य के मधुर सयोजन का जो प्रयत्न मिलता है, वह उनके व्यापक व्यक्तित्व का प्रतीक हैं । इस युग की काव्यधारा मे जीवन की गूढ, मार्मिक या रमणीय परिस्थितियाँ झलकाने के लिए नूतन कथा-प्रसगो की कल्पना या उद्भावना की प्रवृत्ति नही दिखलाई पडी । केवल प० रामनरेश त्रिपाठी ने कुछ ध्यान कल्पित-प्रबन्ध की ओर दिया ।[1] 'मिलन', 'पथिक' और 'स्वप्न' नामक तीन खण्ड-काव्यो की रचना कर त्रिपाठीजी ने मानव-जीवन की सहज सवेदना और रसात्मक अनुभूति का जिस स्वच्छदवादिता मे चित्रण किया है, वह अत्यत मधुर और देश-भावनाओ से ओत-प्रोत है । इन खण्ड-काव्यो की पृष्ठभूमि मे प्रकृति के रमणीय चित्रण की कल्पनाओ मे त्रिपाठीजी को पर्याप्त सफलता मिली है। श्री नाथूराम 'शकर' शर्मा की पद्य-रचनाओ मे समसामयिक विषयो, समस्या-पूर्तियो और कवि-सम्मेलनोपयोगी विशेषताओ का उदात्त प्रवाह है जिसमे उनकी सुधारवादी मान्यता प्रकट होती है । प० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने 'रसिकमित्र', 'काव्य सुधानिधि' और 'सुकवि' आदि पत्र-पत्रिकाओ मे अपनी रचनाएँ प्रकाशित कर द्विवेदी युगीन काव्यधारा को विशेष प्रश्रय प्रदान किया है । 'प्रेम-पचीसी', 'कुसुमाजलि' और 'कृषक क्रदन' उनके प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ है, जिनसे उनकी सहज भावुकता और सरसता का अनुमान लगाया जा सकता है । इनके अतिरिक्त लाला भगवानदीन ने भी क्रमागत काव्य-परम्पराओ का निर्वाह करते हुए 'वीर-क्षत्राणी', 'वीर बालक' और 'वीर पचरत्न' नामक वीररस प्रधान काव्य लिखे है । पं० रूपनारायण पाण्डेय की कविताओ का सग्रह 'पराग' के नाम से प्रकाशित हो चुका है । पं० सत्यनारायण कविरत्न के ब्रजभाषा मे लिखे हुए कवित्त, सवैया और पद तो अपनी मधुरता मे अद्वितीय हैं जिनकी सरसता और तल्लीनता की समता करने वाली रचनाएँ हिन्दी-काव्य मे बहुत कम है । उन्होने अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नंददास की रचना-पद्धति पर भ्रमर-गीत की रचना की है जिसमे मथुरा मे बसे हुए श्रीकृष्ण के पास माता यशोदा ने अपना सदेश भेजा है । इस काव्य मे देश की वर्तमान अवस्था का अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण हुआ है । अभिप्राय यह है कि द्विवेदी-युग के ये ही प्रमुख काव्यकार हैं, जिनकी काव्य-प्रवृत्तियो का प्रभाव अन्य साहित्यकारो पर भी है तथा जिनके द्वारा आधुनिक हिन्दी-समालोचना के संवर्धन मे भी यथेष्ट सहयोग मिला है ।

४१. द्विवेदी-युग के पश्चात् काव्य-रचना के क्षेत्र मे जिस काव्य-आन्दोलन ने जन्म लिया उसे छायावाद और रहस्यवाद का आदोलन कहा जाता है । इसका वास्तविक रूप से प्रवर्तन स्वर्गीय बाबू जयशंकर प्रसाद के 'इन्दु' पत्र के प्रकाशन से समझना चाहिए, जिसकी कलाओं और किरणो मे द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता और स्थूलता के प्रति एक प्रकार का विद्रोह-भाव था । इस काव्य-धारा का महत्त्व आधुनिक हिन्दी-समालोचना के विकास क्रम में कितना अधिक है, इसका विवचन हम सप्तम और अष्टम अध्याय के अन्तर्गत करेंगे, किन्तु यहाँ पर इतना सकेत करना आवश्यक है कि प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी आदि काव्यकारो ने विविध साहित्य-धाराओं से प्रेरणा लेकर जिस प्रकार के आत्माभिव्यजक काव्य का प्रणयन किया था; वह अपने भाव-पक्ष और कला-पक्ष मे निश्चय ही अपने पूर्ववर्ती युग से महान् था । यद्यपि पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सर्व-श्री मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पाडे आदि कवियो की कल्पना, चित्रमयता और अन्तर्भाव-व्यजना में छायावाद और रहस्यवाद का आधुनिक प्रवर्त्तन माना है, किन्तु उन्ही के समकालीन समालोचकों

१. प० रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', सशोधित और परिवर्द्धित संस्करण, पृष्ठ ७५१.

और छायावादी कवियो ने अपनी विवेचनाओ के अन्तर्गत उनकी मान्यताओ और सामाओ का खडन किया है। वास्तव मे छायावाद-युग केवल पश्चिम के स्वच्छन्दतावाद का ही एकमात्र अनुकरण न होकर अपनी प्रवृत्तियों मे पर्याप्त भारतीय भी रहा, जिसका कला-सौष्ठव, भाव-माधुर्य और शिल्प-विधान स्तुत्य था। इस प्रकार की काव्यधारा का प्रभाव साहित्य के अन्य अगो पर भी पडा था, जिससे उनके विविध रूपो मे छायामयी शैली की आन्तरिक आभा झलक उठी थी। वस्तुत "युग की उद्बुद्ध चेतना ने वाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की, वह काव्य मे छायावाद के रूप मे अभिव्यत हुई। जिन परिस्थितियो ने हमारी कर्म-वृत्ति को अहिंसा की ओर प्रेरित किया, उन्हीं ने भाववृत्ति को छायावाद की ओर, उसके मूल मे स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह था।"

४२. छायावाद-युग और उसकी सामान्य प्रवृत्तियो के सम्बन्ध मे वैसे तो द्विवेदी-युग के समालोचको से लेकर अद्यावधि अनेक गण्यमान समीक्षको ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विचाराभिव्यजन किया है, किन्तु उनमे आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य पं० नंददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी और छायावाद के प्रमुख कवियो का विवेचन अधिक प्रामाणिक और शास्त्रसम्मत है। उसके व्यापक विश्लेषण मे न जाकर हम यहाँ केवल इतना ही उल्लेख करना पर्याप्त समझते है कि इस प्रकार की काव्यधारा के मूल मे एक ऐसा मनोवैज्ञानिक सत्य है, "जिसमे पिछले महासमर के उपरात (सन् १९१८ के पश्चात्) हमारे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सास्कृतिक जीवन मे एक प्रकार की असतुष्टि और विद्रोह-भावना का सन्निवेश हो गया था जिनके कारण उन्हे बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नही मिलता था; निदान वे अतर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन मे आकर बैठ रही थी और वहाँ से क्षति-पूर्ति के लिए छाया-चित्रो की सृष्टि कर रही थी। आशा के इन स्वप्नो और निराशा के इन छाया चित्रो की काव्यगत समष्टि ही छायावाद कहलाई।"[२] व्यक्तिवाद, शृंगारिकता और प्रकृति पर चेतना का आरोप आदि इस काव्यधारा की प्रमुख विशेषताएँ है, जिनके मूल दर्शन को लेकर विभिन्न विचारको ने अपने-अपने दृष्टिकोण व्यक्त किये है। इस प्रकार की काव्यधारा के विषय मे साहित्य-विवेचको के दृष्टिपथ मे अनेकानेक भ्रान्तियो के भी पर्याप्त अवसर रहे है, जिनका विवेचन हम शुक्लोत्तरयुग की समीक्षा के अतर्गत करेगे। यहाँ तो हमे केवल इतना सकेत करना ही अभीष्ट है कि छायावाद आधुनिक काव्यधारा की प्रमुख प्रवृत्ति है जिसने अपने पूर्ववर्ती युग को विस्तार और परवर्ती युग को प्रेरणा-स्रोत प्रदान किये है। प्रसादजी की 'कामायनी' इस युग की एक ऐसी रचना है जिसमे मानव-जीवन का चिरंतन पक्ष अत्यन्त भव्यता के साथ अभिव्यक्त हुआ है तो इस युग की अन्य कृतियो मे प्रगीत-शैली, सौन्दर्य-सर्जना और स्वच्छन्दतावादी दृष्टि का पक्ष आलोकपूर्ण बन सका है।

४३. आधुनिक हिन्दी-काव्य की छायावादी प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया मे जिस काव्य-आन्दोलन ने जन्म लिया, उसे मार्क्सदर्शन या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विशिष्ट परम्परा मे रूढिग्रस्त बनाकर प्रगतिवाद की सज्ञा दी गई। इस काव्यधारा का मूल दर्शन विभिन्न समालोचको द्वारा विवेचित किया गया है जिसका स्पष्ट आभास शुक्लोत्तर-युग की समीक्षा के विश्लेषण के अन्तर्गत दिया जायगा। इस धारा के प्रमुख कवियो और उनकी अतरग तथा बहिरग विशेषताओ को लेकर जो कुछ समीक्षा की गई है, उससे हमारा समालोचना-साहित्य बहुत अधिक आगे बढा है। प्रगतिवाद के पश्चात् प्रयोग-वादी धारा ने अपना प्रसार किया है। इनके अतिरिक्त राष्ट्र-भावना, प्रकृति-चित्रण और मानव-प्रेम आदि को भी लेकर-काव्य रचनाएँ की जा रही है। प्रबन्ध और मुक्तक के रूप मे भी काव्य-

१. डा० नगेन्द्र . 'विचार और अनुभूति', 'छायावाद की परिभाषा', पृष्ठ ५३.
२. डा० नगेन्द्र : 'विचार और अनुभूति' 'छायावाद की परिभाषा' पृष्ठ ५३

धाराओ का बहुविध प्रसार आधुनिक काल मे हो रहा है। हिन्दी-काव्य के विकास के सम्बन्ध मे अनुसधानकर्त्ताओ द्वारा पर्याप्त शोध-कार्य किया जा चुका है जो हमारे वर्तमान समालोचना-साहित्य का गौरव है। इस प्रसंग में यदि यह कह दिया जाय कि आधुनिक समालोचना मुख्यत काव्य-धाराओ और कवियो की कृतियो के विवेचन को ही लेकर चली है तो कुछ भी अनुचित नही होगा।

(आ) नाटक-साहित्य के विकास की परम्परा

४४. आधुनिक हिन्दी-साहित्य के प्रवर्त्तन-कालीन नाटको के विकास का जो सामान्य स्वरूप विवेचित किया जा चुका है, उससे स्पष्ट है कि उस युग मे आधुनिक हिन्दी नाटको के संवर्धन की वस्तुस्थिति का निर्माण प्रकृत भाव मे होने लगा था। वैसे तो भारतेन्दु-युग के पूर्ववर्ती समय में भी जैन कवि बनारसीदास ने सवत् १६९३ में कुदकुदाचार्य के ग्रथ का रूपान्तर करते हुए 'समयसार' नामक नाटक लिखने की चेष्टा की, किन्तु वह 'केवल जैन धर्म सम्बन्धी सात तत्त्वो का पद्यमय वर्णन तथा नीति कथन' मात्र बन कर रह गया। सवत् १६६७ मे प्राणचद चौहान ने रामचरित्र को लेकर दोहा-चौपाइयो मे 'रामायण महानाटक' लिखा तो व्यासजी के शिष्य देवजी ने उसी समय के आस-पास 'प्रबोध चंद्रोदय' नामक संस्कृत नाटक के आधार पर छ अंको मे 'देवमाया प्रपच नाटक' लिखा। श्री कृष्णदास के पुत्र हृदयराम उपनाम राम द्वारा अनूदित 'हनुमन्नाटक' या 'महानाटक' संवत् १६८० मे लिखा गया और नेवाज कवि ने संवत् १७३७ मे ब्रजभाषा पद्य मे 'शकुन्तला नाटक' लिखा जिसमे नाटक की अपेक्षा श्रव्य काव्य के गुण अधिक है। इसी समय सवत् १७५७ मे रघुराम नागर ने 'सभासार', लछिराम ने 'करुणाभरण', सोमनाथ माथुर ने 'माधवविनोद', लल्लूजीलाल के वशधर हरिराम ने 'जानकी-रामचरित नाटक', लक्ष्मणशरण उपनाम मधुकर ने 'रामलीला विहार', गणेशकवि ने 'कृष्णभक्ति चद्रिका नाटक', महाराज विश्वनाथसिंह ने 'आनंद-रघुनंदन नाटक' और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिता बाबू गोपालचद्र उपनाम गिरिधरदास ने 'नहुष' नामक नाटक (संवत् १८९८ विक्रमी) लिखा, जिसकी प्रस्तावना और प्रथम अक का प्रकाशन 'कविवचनसुधा' के प्रथम अक मे हुआ था। राजा लक्ष्मणसिंह ने सन् १८६३ मे कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुतल' नामक नाटक का अनुवाद खडी बोली गद्य और ब्रजभाषा पद्य मे प्रकाशित किया तो गणेश कवि ने 'प्रद्युम्नविजय' नामक नाटक सात अको मे लिखा। इसी समय भारत के विभिन्न प्रातो मे भी नाटक-साहित्य की रचनाएँ हुईं, जिनमें बगला-साहित्य का हिन्दी पर विशेष प्रभाव पडा। अभिप्राय यह है कि भारतेन्दु-युग के पूर्व भी हिन्दी-नाटको की एक परम्परा अवश्यमेव विकासमान थी, जो कालातर मे आधुनिक युग-चेतना के कारण अपने रूढिग्रस्त स्वरूप का परित्याग कर नवीन विधान मे उपस्थित हुई। भारतेन्दु-युग की नाटक-रचना का सामान्य निरूपण किया जा चुका है, अत: अब समालोचना के संवर्धन-कालीन नाटक-साहित्य से लेकर आधुनिक-युग मे विकसित होने वाली उसकी विभिन्न प्रवृत्तियो और कृतियो का विवेचन किया जायगा।

४५. भारतेन्दु-युग के अवसान और प्रसाद-युग के अंतराल मे हिन्दी-नाटकों के क्षेत्र मे ऐसी प्रवृत्ति बहुत कम रही, जिससे मौलिकता की विशेष अभिवृद्धि हुई हो। "उस समय नाम लेने योग्य अच्छे मौलिक नाटक बहुत दिनों तक दिखाई न पड़े। अनुवादों की परम्परा अलबत्ता चलती रही।"[२] उस समय बाबू रामकृष्ण वर्मा ने 'वीरनारी, 'कृष्णकुमारी; और 'पदमावती' नामक बगला नाटको के अनुवाद प्रस्तुत किये, जिनकी परम्परा को बाबू गोपालराम गहमरी ने 'बनवीर', 'वभ्रुवाहन', 'देशदशा', 'विद्याविनोद' और 'चित्रागदा' के अनुवाद कर सवर्धित किया। पं० रूपनारायण पाडे

१. श्री ब्रजरत्नदास : हिन्दी नाट्य साहित्य, द्वितीय सस्करण, सवत् २००१, पृष्ठ ४५.

२. प० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, सशोधित और परिवर्द्धित सस्करण, सवत् १९९७, पृष्ठ ५९०.

ने इसी समय 'पतिव्रता', 'खानजहाँ', 'अचलायतन', 'उस पार', 'शाहजहाँ', 'दुर्गादास', 'ताराबाई' आदि बगला, नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत किये, और लाला सीताराम बी. ए ने 'नागानद', 'मृच्छकटिक', 'महावीर चरित', 'उत्तररामचरित', 'मालतीमाधव' और 'मालविकाग्निमित्र' आदि संस्कृत नाटको के अनुवाद किये। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र द्वारा अनूदित 'वेणीसहार' और 'अभिज्ञान शाकुतल' और 'रत्नावली' नाटिका तथा पं० सत्यनारायण कविरत्न द्वारा 'उत्तररामचरित' और 'मालतीमाधव' नाटक के अनुवाद भी इस युग की प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। इसी समय जयपुर के पुरोहित श्री गोपीनाथ एम. ए. ने शेक्सपियर के 'रोमियो जुलियट', 'एज यू लाइक इट', 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' के अनुवाद किये और प० मथुराप्रसाद चौधरी ने 'मैकबेथ' का अनुवाद 'साहसेन्द्र-साहस' के नाम से किया। अभिप्राय यह है कि प्रसादजी द्वारा नाटकीय क्षेत्र मे नवीन युग का सूत्रपात करने के पूर्व हिन्दी-नाटको मे अनुवादो की एक सुदीर्घ परम्परा चलती रही जिसके द्वारा नाटक-कोष की वृद्धि मे यथेष्ट सहयोग मिला। इसी समय पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने 'चौपट चपेट' और 'मयक मजरी' नामक दो नाटक लिखे थे जिनमे वस्तु-सगठन और शिल्पतत्र की दृष्टि से कोई उल्लेखनीय विशेषता न थी। प० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'रुक्मिणी परिणय' और 'प्रद्युम्न विजय' नामक दो नाटक लिखे, जिनकी रचना मे उन्हे विशेष सफलता नही मिली।

४६. आधुनिक हिन्दी-नाटक के क्षेत्र मे नवीन उत्क्राति करने और उन्हे उत्कर्षपूर्ण वैभव प्रदान करने मे स्वर्गीय बाबू जयशकर प्रसाद का अत्यधिक महत्त्व है। उनके सभी नाटको का आधार सास्कृतिक है। "आर्य सस्कृति मे उन्हे गहन आस्था थी इसीलिए उनके नाटको का भारत के इतिहास का प्रायः वही परिच्छेद है (चन्द्रगुप्त मौर्य, हर्ष) जिसमे उसकी सस्कृति अपने पूर्ण वैभव पर थी। ब्राह्मण और बौद्ध संस्कृतियो के संघर्ष से जब उसका स्वरूप प्रखर हो उठा था।"[१] प्रसाद के काव्य-साहित्य की भाँति उनके नाटको का भी यथेष्ट विश्लेषण किया जा चुका है और वे हमारी आधुनिक समालोचना के प्रमुख उपकरण बनकर उपस्थित हुए हैं। "उन्होने नाट्य-क्षेत्र मे प्रवेश कर नाटक को नए चरित्र, नई घटनाएँ, नया ऐतिहासिक देशकाल, नया आलाप-सलाप, संक्षेप मे सम्पूर्ण नया समारम्भ दिया। उनके नाटक ऐतिहासिक है इसलिए घटना और चरित्र का स्वतत्र निर्माण और जीवन-समस्याओ या सघर्षों की योजना उनमे इतिहास की पाबदी के भीतर हुई है, पूर्ण स्वतंत्रता के साथ नही।"[२] उनके नाटको का प्रारम्भ सन् १९१० ई० के आस-पास समझना चाहिए जब उन्होने 'इन्दु' पत्रिका की कला २ किरण ८–११ मे 'सज्जन' नामक नाटक का प्रकाशन किया। सन् १९१२ से सन् १९१४ तक उन्होने 'करुणालय','प्रायश्चित' और 'राज्य श्री' नाटक उक्त पत्रिका की विभिन्न कलाओ और किरणों मे प्रकाशित किये। सन् १९२१ मे उनके 'विशाख' नाटक का प्रकाशन हुआ, जिसकी भूमिका मे उन्होने अपने नाटक-निर्माण सम्बन्धी उद्देश्यो का स्पष्टीकरण किया है। सन् १९२२ मे 'अजातशत्रु', सन् १९२६ मे 'जनमेजय का नागयज्ञ', सन् १९२७ मे 'कामना', सन् १९२८ मे 'चन्द्रगुप्त' तथा 'स्कंदगुप्त विक्रमादित्य' और सन् १९२९ ई० मे 'एक घूंट' नामक नाटक लिखकर प्रसादजी ने नाटक-क्षेत्र मे अपना युग स्थापित किया। सन् १९३३ ई० में उनके अंतिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' का प्रकाशन हुआ। अपने अतिम दिनो मे वे 'इन्द्र' के सम्बन्ध मे शोधकार्य करते हुए एक नवीन नाटक-रचना के उपकरण जुटा रहे थे, किन्तु उनके आकस्मिक निधन से वह अपूर्ण ही रह गया।

४७. प्रसादजी के समकालीन जिन नाटककारो ने अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की उनमे प० बदरीनाथ भट्ट, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द', लक्ष्मीनारायण मिश्र, बेचन शर्मा 'उग्र', गोविन्दवल्लभ

---

१ डा० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक, पचम सस्करण, संवत् २०१२, पृष्ठ ७.

प० २. नददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, द्वितीय सस्करण, स० २०१३ भूमिका, पृष्ठ ३९-४०.

पन्त, सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', माखनलाल चतुर्वेदी, सुमित्रानन्दन पन्त, जी पी. श्रीवास्तव, वियोगी हरि, सेठ गोविन्ददास, उदयशकर भट्ट, सत्येन्द्र, चतुरसेन शास्त्री, हरिकृष्ण प्रेमी, 'कुमार हृदय', रूपनारायण पाडे और चन्द्रगुप्त विद्यालकार आदि प्रमुख है। इन नाटककारो मे नाट्य साहित्य की विविध प्रवृत्तियो के दर्शन होते है। आज के नाटक को उत्तराधिकार मे स्वदेश-विदेश दोनो से थोडी बहुत सम्पत्ति मिली है, जिसका स्थूल रूप से विवेचन करते हुए कहा जा सकता है कि उसके वाड्मय मे "सस्कृत के अनूदित नाटक, विदेश का रोमाटिक ड्रामा (विशेषकर शेक्सपियर और मौलियर का साहित्य), द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक, हिन्दी के पारसी रगमच वाले सस्ते नाटक, प्रसाद का नाट्य-साहित्य और पश्चिम के समस्या नाटक"[१] सम्मिलित है। वास्तव मे आधुनिक हिन्दी नाटक की यही पृष्ठभूमि है जिसके आधार पर उसे "सास्कृतिक और नैतिक चेतना के आधार पर कई भागो मे विभक्त किया जा सकता है।" हिन्दी-नाटको के उद्भव और विकास पर विभिन्न शोधकर्त्ताओ ने अपने विवेचन प्रस्तुत किये है, अत. उनका पिष्टपेषण करना समीचीन न समझकर केवल प्रमुख नाटककारो की उन कृतियो और प्रवृत्तियो का ही सामान्य परिचय दिया जायगा जिनमे समालोचना, साहित्य के निर्माण मे यथेष्ट आधार मिल सका है।

४८. जैसा कि पहले सकेत कर दिया गया है कि प्रसाद-युग के नाटककारो मे पं० गोविन्दवल्लभ पन्त का व्यक्तित्व विशिष्ट श्रेणी का है। उन्होने अपने नाटको के कथानक इतिहास, पुराण और वर्तमान जीवन के विविध पक्षो से लिए है जिसमे नाट्यकला का विकास शालीन विधि मे हुआ हे। 'वरमाला' (१९२५) पन्तजी का पौराणिक नाटक है तो 'राजमुकुट' (१९३५) और 'अत पुर का छिद्र' (१९४०) उनके ऐतिहासिक नाटक है। 'अगूर की बेटी' (१९३७) वर्तमान जीवन की सामाजिक घटनाओ पर आधारित नाटकीय रचना है जिसमे मदिरा-पान के द्वारा उद्भूत मानवीय अपराधो का चित्रण किया गया है। उनके अन्य नाटको मे 'सिन्दूर बिन्दी,' 'कजूस की खोपडी' और 'ययाति' प्रमुख है जिनमे रगमचीय अभिनेयता का भी यथेष्ट मात्रा मे सफल निर्वाह हुआ है। नाटकीय तत्वो मे परिगणित होने वाले कथोपकथन, चरित्र-चित्रण और रसोद्भव का सुन्दर सामजस्य उनके नाटको मे मिलता है। "उनकी प्रतिभा मे एक कोमल गीति भावना भी है, जिसमे एक हलका का रोमास सा स्पर्श और उसमे चचल होकर मुस्कराती हुई भाषा, उनके नाटको का सर्वस्व है।"[३]

४९. श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' का व्यक्तित्व काव्यकार की अपेक्षा नाटककार के रूप मे विशेष प्रौढ और व्यापक है। कालक्रम की दृष्टि से सन् १९३० से लेकर आज तक उनके अनेक नाटको का प्रकाशन हो चुका है, जिनमे 'स्वर्ण विहार', 'पाताल-विजय', 'रक्षाबन्धन', 'शिवा-साधना', प्रतिशोध,' 'आहुति', 'स्वप्न-भग, 'छाया', 'बंधन', 'विषय-पान', 'उद्धार' और 'शपथ' प्रमुख है। उनके नाटको की मूल प्रेरणा राष्ट्रीय भावना और सामाजिक-नैतिकता है, जिसमे हिन्दू-मुस्लिम-एकता का भी सद्प्रयत्न है। प्रेमीजी ने ऐतिहासिक कथानको के द्वारा अतीत का चित्रण करते हुए वर्तमान जीवन को सजीव प्रेरणा दी है और अभिनेयता तथा रगमचीय कथोपकथनो की दृष्टि से प्रसाद-युग के नाटककारो मे सर्वाधिक सफलता प्राप्त की है। ऐतिहासिक घटनाओ के बीच समयोचित कल्पना का संयोजन कर प्रेमीजी ने अपने नाटको मे रस-निष्पत्ति के लिए पर्याप्त अवकाश रखा है। गाधीवादी दृष्टिकोण के साथ-साथ प्रेमीजी ने देश-प्रेम का ज्वलत पक्ष अपने पात्रो के कलात्मक चरित्र-चित्रण द्वारा अत्यंत स्वाभाविक क्रम मे चित्रित किया है। राष्ट्र-भावना के बीच मानव-सुलभ आदर्श गुणो की सृष्टि करने मे भी प्रेमीजी ने यथेष्ट सफलता प्राप्त की है।

---

१ और २. डा० नगेन्द्र: आधुनिक हिन्दी नाटक, पचम सस्करण, स० २०१३, पृष्ठ २ और पृष्ठ १७

३ डा० नगेन्द्र: आधुनिक हिन्दी नाटक, पचम संस्करण, पृष्ठ १२०.

५०. प० उदयशकर भट्ट नाटकीय कथानको के मूल मे मुख्यत: पौराणिक और ऐतिहासिक आधारो को लेकर नाटक-रचना करने वाले लेखक है। प्राय: तीस वर्षो से वे नाटक-रचना करते आ रहे है जिन्हे काल-क्रम से विवेचित कर उनके मानसिक विकास को समझा जा सकता है। उनके नाटको मे इतिहास और कल्पना का सुन्दर सामंजस्य है। 'विक्रमादित्य', 'दाहर', अथवा 'सिन्ध पतन', 'अम्बा', 'सागर-विजय', 'मत्स्यगधा', 'विश्वामित्र', 'कमला', 'राधा', 'अतहीन अत', 'मुक्ति-दूत', 'शक-विजय', 'कालिदास', 'मेघदूत' और 'विक्रमोर्वशी' आदि उनके प्रमुख नाटक है, जिनमे बौद्ध-ब्राह्मण-धर्म का सघर्ष और तत्कालीन सामाजिक स्थितियो का निरूपण अत्यत भव्य विधान मे हुआ है। भट्टजी ने एकाकियो की भी रचना की है जिनका विवेचन यथाप्रसग किया जायगा। इनके अतिरिक्त सेठ गोविन्ददास ने भी अनेक नाटक लिखे हैं, जिनमे नाट्यकला का विकास एक विशिष्ट प्रकार मे हुआ है। उनके नाटको के कथानक पौराणिक, ऐतिहासिक और सास्कृतिक है जिनमे अनेक प्रकार की सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओ का भी कलात्मक निरूपण हुआ है। रचनाओ के कालक्रम की दृष्टि से सेठजी के जितने नाटको का अब तक प्रकाशन हुआ है, वह हमारे नाट्य-साहित्य की अद्वितीय निधि है। 'हर्ष', 'प्रकाश', 'अशोक', 'कर्त्तव्य', 'सेवा-पथ', 'कुलीनता', 'विकास', 'शशिगुप्त', 'दु:ख क्यो', 'कर्ण', 'महत्त्व किसे ?' 'बडा पापी कौन', 'दलित कुसुम', 'पतित सुमन', 'हिंसा या अहिसा', 'सतोष कहाँ', 'पाकिस्तान', 'त्याग या ग्रहण', 'नवरस' और 'सिद्धान्त स्वातत्र्य' उनके प्रमुख नाटक हैं। सेठजी के अतिरिक्त इसी युग मे श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने भी अनेक नाटको की रचना की है, जिनमे सामाजिक समस्याओ का पक्ष अधिक उभरा हुआ है। उनके प्रकाशित नाटको मे 'जय पराजय', 'स्वर्ग की झलक', 'कैद', 'उडान', 'छठा बेटा' और 'आदि मार्ग' प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त उन्होने अनेकानेक एकाकियो की रचना भी की है। उनके नाटको की एक विशेषता यह भी है कि उनमे हास्य और व्यंगात्मक शैली का सुन्दर अभिव्यजन है, जिसके द्वारा चरित्र-चित्रण और कथोपकथनो मे विशेष प्रकार की सजीदगी आ गई है, और अभिनय की दृष्टि से कार्य-व्यापार मे सक्रियता का समावेश भी हो सका है।

५१. प० लक्ष्मीनारायण मिश्र इसी युग के एक ऐसे प्रमुख नाटककार है जिन्होने जीवन और समाज की विविधरूपिणी समस्याओ का चित्रण यथातथ्यवाद को आधार बना कर किया है। उनके नाटको का शिल्पतत्र और वस्तु-सगठन सर्वथा नवीन है जिसमे भावुकता, कल्पना और कला-सौष्ठव के लिए अत्यत महत्त्व है। उनके नाटको मे विचारात्मकता और बुद्धिवादिता का ऐसा अद्भुत सम्मिश्रण है जिसमे व्यक्ति और समाज के संघर्ष के निराकरण की नवीन चेष्टा नवीन विधि मे की गई है। अपने नाटको की भूमिकाओ मे उन्होने अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण भी कर दिया है। यो तो उन्होने 'वत्सराज' और 'अशोक' आदि ऐतिहासिक नाटक भी लिखे हैं, किन्तु उनका सर्वाधिक महत्त्व उनके समस्या-नाटको की रचना मे है। 'सन्यासी', 'राक्षस का मदिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग', 'सिन्दूर की होली', 'आधी रात', 'गरुड-ध्वज', 'नारद की वीणा', और 'गुडियो का घर' उनके प्रमुख नाटक है जिनमे बुद्धिवाद का स्वर सर्वत्र मुखरित है। उनके समस्या-मूलक नाटक पर इब्सन और बर्नार्डशा का भी प्रभाव है और वस्तु-पक्ष, शैली-निरूपण और कला-विधान की दृष्टि से उनमे यथेष्ट मौलिकता है। इन सब गुणो के होते हुए भी उनके नाटको के कार्य-व्यापार मे क्रियाशीलता और शृखला मे विशेष तारतम्य नही है, जिसके कारण अभिनय मे शिथिलता का समावेश भी हो जाता है।

५२ आधुनिक युग के अन्य नाटककारो मे प० बेचन शर्मा 'उग्र' का स्थान विशिष्ट श्रेणी का है, जिन्होने 'महात्मा ईसा' (१९२२) और 'गगा का बेटा' (१९४०) नामक नाटक लिख कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। महात्मा ईसा उनका चरित्र-प्रधान नाटक है जिसमे उग्रजी ने देश-भक्ति और राष्ट्र-चेतना के ऊपर भारतीय सस्कृति का रग चढ़ाने की भी चेष्टा की है। 'गगा का

बेटा' पौराणिक नाटक है, जिसकी कथा भीष्म-प्रतिज्ञा मे सबद्ध है। श्री जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' ने सन् १९२८ ई० में 'प्रताप प्रतिज्ञा नाटक' लिखा जो प्रचार और लोक-प्रियता की दृष्टि से यथेष्ट सम्मानित रहा है। उनका दूसरा नाटक 'समर्पण' है जिसका कथानक सामाजिक है और जिसमे उन्होने विवाह-समस्या पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं। श्री चन्द्रगुप्त विद्यालकार ने प्रसादजी की नाट्यशैली का अनुगमन करते हुए 'रेवा' और 'अशोक' नामक दो ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं जिनमे अतीतकालीन संस्कृति का भव्य निरूपण हुआ है। इन नाटककारों के अतिरिक्त श्री माधव शुक्ल, आगा हश्र काश्मीरी, राधेश्याम कथावाचक और नारायणप्रसाद 'बेताब' आदि ऐसे व्यक्ति है जिन्हे रगमचीय नाटककार कहा जा सकता है। इन नाटककारो की कृतियो द्वारा आधुनिक नाटक-साहित्य का सवर्द्धन हुआ है। कहा जा सकता है कि वर्तमान हिन्दी नाटक अपनी विभिन्न चेतनाओ मे यथेष्ट विकासमान है और आजकल रेडियो रूपक, भाव-नाट्य तथा एकाकियो का प्रणयन जिन रूपो मे हो रहा है, वे निश्चिय ही आधुनिक युग-चेतना के नवीन प्रयोग है। इस प्रकार की नाटक रचनाओ ने हमारे समालोचना-साहित्य को विकसित करने मे भी यथेष्ट प्रेरणा प्रदान की है और आधुनिक समालोचना का एक प्रमुख अग आधुनिक नाटक और उसकी विभिन्न प्रवृत्तियो का विवेचन भी है। ऐतिहासिक प्रणाली के समालोचको ने हिन्दी नाटको के उद्भव और विकास का क्रमिक विवेचन करने के साथ प्रमुख नाटककारो का भी विश्लेषण किया है जिससे नाटक-साहित्य के सैद्धन्तिक और व्यावहारिक पक्षो का भी यथेष्ट विकास हुआ है।

(इ) एकांकियों का उद्भव और विकास

५३ वैसे तो शास्त्रीय समालोचकों ने आधुनिक हिन्दी-एकाकियो का मूल सूत्र सस्कृत साहित्य-शास्त्र मे वर्णित रूपक और उपरूपको के अन्तर्गत अन्वेषित करने की चेष्टा की है, किन्तु सच पूछा जाय तो आधुनिक युग मे जिस रूप मे एकाकियो का विकास हुआ है वह पश्चिमी साहित्य मे प्रचलित 'वन ऐक्ट-प्ले' का ही अधिकाशतः आकार-प्रकार लेकर चला है। कहा जा सकता है कि आधुनिक जीवन के सघर्ष और अवकाश की अल्पतावश जिस प्रकार लोग कम से कम समय मे अधिक से अधिक मनोरंजन चाहते हैं, उसी प्रकार वे दृश्य-काव्य के इस लोकप्रिय अग एकाकी को भी अपने मनः प्रसादन का प्रमुख स्रोत बनाकर चलने के प्रबल इच्छुक हैं। साधारणतया एकाकियो मे भी नाटक के तत्त्वो की भाँति कथानक, पात्र, चरित्र-चित्रण, प्रभाव, उद्देश्य और भाषा-शैली आदि का विचार किया जाता है किन्तु उनका स्वरूप-संगठन एक भिन्न प्रणाली मे ही होता है। वस्तुतः जो अन्तर उपन्यास तथा छोटी कहानी मे है, वही अन्तर नाटक और एकाकी मे भी है। साहित्य की अन्यान्य विधाओ की भाति भारतेन्दु-युग को ही एकाकियों के प्रारम्भिक प्रणयन का श्रेय दिया जा सकता है। यद्यपि उस युग मे वर्तमान एकाकियों के शिल्प-तत्र तथा वस्तु विधान का अभाव था, किन्तु उनके अन्तर्गत ऐसे अकुर अवश्य ही उपलब्ध किये जा सकते हैं जिनका कालातर मे नवीन विधि से विकास हुआ। चूंकि भारतेन्दुजी ने अपने अथक प्रयत्नों द्वारा साहित्य को हमारे सामाजिक जीवन के निकट उपस्थित करने की पूर्ण चेष्टा की थी अतः वे श्रव्य काव्यों की भाँति दृश्य काव्यों द्वारा भी इस क्षेत्र मे अद्भुत सफलता प्राप्त कर सके। उस समय की पत्र-पत्रिकाओं मे छोटे-छोटे प्रहसन या नाटक प्रकाशित होते थे, 'वे हिन्दी एकाकियो के प्रारम्भिक स्वरूप कहे जा सकते हैं। उन एकाकियों मे ऐतिहासिक, सामाजिक और पौराणिक जीवन के साथ-साथ सामयिक परिस्थितियो का भी चित्रण रहता था और उस युग के लेखक अपनी नैसर्गिक मनोवृत्ति के अनुरूप उनमें हास्य तथा व्यंग्य का भी प्रयोग करते थे। भारतेन्दु-युग के लेखको का मानसिक सस्थापन उस युग के एकाकियों मे सुचारु रूप से प्रतिष्ठित हुआ है। सच तो यह है कि वह युग प्राचीन और नवीन के क्रमशः अवसान तथा उदय के जिन रंग-बिरंगे सूत्रो से निर्मित था, उसकी झलक साहित्य के प्रत्येक

अग पर प्रकृत भाव से प्रदर्शित थी। आशा-निराशा, वेदना-उत्साह और रूढि तथा स्वच्छन्दता के विरोधी भावो का सुन्दर संग्रथन इस युग के एकाकियो मे भी मिलता है। भारतेन्दुजी ने यद्यपि स्वय अपने 'भारत दुर्दशा' को 'नाट्यरासक', 'धनंजय विजय' को 'व्यायोग' 'अन्धेर नगरी' को 'प्रहसन' तथा 'विषस्य विषमौषधम्' को 'भाण' कहा है, किन्तु वे अपनी रचना-विधि तथा आकार-प्रकार में आधुनिक युग के एकाकियो के निकट उपस्थित किये जा सकते है। हिन्दी-साहित्य के आलोचको ने भारतेन्दुजी के नाटको का अनुशीलन करते हुए उन पर अनेक दृष्टियो से विचार किया हैं, किन्तु हमें अपने प्रस्तुत प्रबन्ध की सीमा का ध्यान रखते हुए उसके विश्लेषण-विषयक विस्तार मे नहीं जाना है। हमारा तो इस सम्बन्ध मे केवल इतना ही निवेदन है कि भारतेन्दुजी के एकाकी भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुरूप अभिहित किये जाने पर भी आधुनिक एकाकियो के प्रणयन के प्रारम्भिक रूप कहे जा सकते है और उनके समकालीन अन्य लेखको ने भी इस दिशा मे जो कार्य किया था, वे भारतेन्दुजी की परम्परा के अनुयायी और स्वर्धक ही थे।

५४. भारतेन्दु-युग मे जिन अन्य लेखको ने एकाकियो के विकास मे सहयोग दिया उनमे प० बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, प० प्रतापनारायण मिश्र, लाला श्रीनिवासदास, श्री किशोरीलाल गोस्वामी, श्री राधाकृष्णदास और पं० बदरीनारायण चौधरी, 'प्रेमघन' आदि प्रमुख है। भट्टजी हिन्दी समालोचना के प्रवर्त्तको मे होने के साथ ही साथ एक कारयित्री प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार भी थे। उन्होने अपने प्रसिद्ध पत्र 'हिन्दी प्रदीप' तथा 'कवि-वचन-सुधा' (भारतेन्दुजी द्वारा सपादित) में 'रेल का विकट खेल', 'बाल विवाह', 'शिक्षादान', 'जैसा काम वैसा परिणाम' तथा 'कलिराज की सभा' आदि जिन छोटे-छोटे रूपको का प्रकाशन किया, वे एकाकियो के ही प्रारम्भिक रूप है। उनकी इन कृतियो मे प्राचीन परम्परा का परित्याग और नवीन पद्धति का ग्रहण भली-भाँति देखा जा सकता है। वे सस्कृत-साहित्य के परम विद्वान होने पर भी अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग भी अपने उक्त नाटको मे बराबर करते चले हैं। श्री राधाचरण गोस्वामी लिखित प्रहसन 'बूढे मुँह मुँहासे', 'तन-मन धन गुँसाईजी के अर्पण' और 'भग की तरग' एकाकी ही कहे जा सकते हैं। मिश्रजी के 'भारत दुर्दशा', 'मन की लहर', 'शृगार विलास', 'जुआरी खुआरी' और 'कलिकौतुक' तथा किशोरीलाल गोस्वामी के 'चौपट चपेट' और 'नाट्य सभव रूपक' एक प्रकार से एकाकी रचनाएँ ही है। श्री राधाकृष्णदास ने 'दुखिनी बाला', 'धर्मालाप'; देवकीनन्दन त्रिपाठी ने 'बाल विवाह', 'गौवध निषेध', 'कलियुगी जनेऊ', 'बैल छ टके का', तथा 'सैकडो मे दस दस'; प्रेमघनजी ने 'प्रयाग रामागमन' तथा 'सयोगिता स्वयवर' की रचना एकाकियो के ढंग से की है। इस युग के अन्य लेखको मे काशीनाथ खत्री, कार्तिक प्रसाद खत्री, जैनेन्द्र किशोर और दामोदर शास्त्री आदि की गणना की जा सकती है जिन्होने समय-समय पर जो छोटे नाटक लिखे, वे एकाकियो के ही पूर्व रूप हैं। इस प्रकार की रचना करने मे भारतेन्दु-युग ने सस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी के नाटक विधानो का भी उपयोग किया है, किन्तु उनका मौलिक प्रतिष्ठान करने मे भी वे पीछे नही रहे हैं। इन एकाकियो पर पारसी रगमच तथा नाटक-प्रणाली का भी प्रभाव है। वस्तुतः वे आधुनिक एकाकी नाटको के प्रारम्भिक स्वरूप है, अत. उनमे एकाकी प्रविधि का व्यवस्थित रूप भले ही न मिले, किन्तु एकाकियों के विकास को ऐतिहासिक अनुक्रम से समझने मे उनकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती।

५५. भारतेन्दु जी के पश्चात् आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे जिसे द्विवेदी-युग ने अपना प्रभाव अकित किया वह साहित्य के अन्यान्य क्षेत्रो की भाँति हिन्दी-एकाकियो के लिए भी संवर्धन-काल था। इस समय देश के राजनीतिक, सामाजिक और सास्कृतिक जीवन मे अनेक प्रकार के परिवर्तन आने लगे थे जिनका प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर पडना नैसर्गिक था। इस युग मे देश मे समाज-सुधार, राजनीतिक चेतना और राष्ट्र-भावना की जो लहर प्रवाहित हुई, उसने हमारे साहित्य

के भाव-पक्ष तथा अभिव्यक्ति-पक्ष मे नवीन प्रकार की उत्क्रान्तियों का सचार किया और आचार्य द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' पत्रिका को अपना अमोघ शस्त्र बनाकर सबका नेतृत्व करने की पूर्ण चेष्टा की। यद्यपि इस युग के नाटककारो का ध्यान अधिकाशत एकाकियो की अपेक्षा पूर्ण नाटक लिखने की ओर अधिक था, किन्तु फिर भी उनसे एकाकियो के विकास मे कोई विशेष बाधा नही पडी। भारतेन्दु-युग के नाटक-साहित्य ने संस्कृत, बगला तथा अग्रेजी नाट्य-रचना की जिन प्रणालियो को ग्रहण किया था, वह हिन्दी-साहित्य की अपनी प्रकृति के अनुरूप सशोधित होकर इस युग मे प्रदर्शित हुआ। इस युग के एकाकियो मे सामाजिक तत्त्वो का प्राधान्य रहा और अधिकाश लेखक प्रहसनो और व्यग्यपूर्ण आख्यानो को लेकर एकाकी-रचना करते रहे। यद्यपि उन लेखको का प्रधान व्यक्तित्व सामाजिक, ऐतिहासिक तथा धार्मिक नाटककारो का था, किन्तु वे समय-समय पर एकाकियो की रचना की ओर भी ध्यान देते रहे। इस युग मे प० हरिशकर शर्मा ने 'बुढऊ का ब्याह' (१९१४) नामक छोटा-सा नाटक सामाजिक रूढियो पर प्रहार करते हुए लिखा तो जी० पी० श्रीवास्तव ने 'गड-बड झाला' (१९१२ ई०) मे समाज की अनैतिकता का चित्रण किया। प० तुलसीदत्त 'शैदा' कृत 'लज्जा' (१९२७ ई०), श्री ज्ञानसिंह वर्मा कृत 'रेशमी रूमाल', श्री प्रेमचन्द कृत 'प्रेम की वेदी', सुदर्शन कृत 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' (१९२६), रामनरेश त्रिपाठी कृत 'सीजन डल है' आदि इस युग के प्रमुख एकाकी कहे जा सकते है। यद्यपि इन एकाकियो मे वर्तमान युग के नवीन शिल्प-विधान को लेकर चलने वाले स्वरूप का सगठन नही है, किन्तु ये उनकी प्रारम्भिक भूमिका तो ग्रहण कर ही सकते है। डा० नगेन्द्र ने प्रसादजी के 'एक घूंट' (१९२९) से हिन्दी एकाकी का वास्तविक प्रारम्भ माना है। उनके मतानुसार "प्रसाद पर सस्कृत का प्रभाव है, इसलिए वे हिन्दी एकाकी के जन्मदाता नही कहे जा सकते, यह बात मान्य नही। एकाकी की 'टेकनक' का 'एक घूंट' में पूरा निर्वाह है उतना ही जितना कमलाकान्त के 'उस पार मे'। हाँ, उसमे प्रसादकत्व का गहरा रंग अवश्य है। 'एक घूट मे' प्रकृति के रूपरंजित पैंटल पर विवाह-समस्या का विवेचन और समाधान किया गया है।"[1]

५६. द्विवेदी-युग के पश्चात् हिन्दी-एकाकियो ने जिस रूप मे विकास किया है, उस पर पाश्चात्य एकाकियो की छाया पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित है। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे इगलैड के साहित्य-क्षेत्र मे जिस प्रकार की क्राति तत्कालीन लेखको ने की थी उसका प्रभाव कालातर मे वहाँ के एकाकीकारो पर भी पडा और वही प्रभाव शनै-शनै: हिन्दी-प्रदेश पर भी अपना रग जमाने लगा। इस युग के नाटककारो का दृष्टिकोण मूलत यथार्थवादी था और वे हमारे वर्तमान जीवन की समस्याओ की झलक अपनी कृतियो मे प्रदर्शित करना चाहते थे, अत उन्हे इस दृष्टि से एकाकियो का क्षेत्र सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ। इस प्रकार की क्रान्ति उपस्थित करने मे बर्नार्डशा, मैटरलिंग, गाल्सवर्दी, चेखव, सिमोनोव, प्रीस्टल और इब्सन आदि साहित्यकारो का प्रमुख हाथ है। इन लेखको की रचनाओ का आधुनिक हिन्दी एकाकियो पर पर्याप्त प्रभाव पडा। यदि यह कह दिया जाय कि हिन्दी के वर्तमान एकाकीकार इनका अत्यधिक आभार लेकर ही अपना रचना-कार्य कर सके हैं तो कोई विशेष अतिशयोक्ति नहीं होगी। वर्तमान युग के एकाकी नाटककारों में डा० रामकुमार वर्मा, बेचन शर्मा 'उग्र', भुवनेश्वरप्रसाद, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, भगवतीचरण वर्मा और हरिकृष्ण प्रेमी प्रमुख हैं जिन्होने विभिन्न दृष्टियो से अपने एकाकियो का निर्माण किया है। इस क्षेत्र मेंराम कुमारजी का महत्त्व सर्वोपरि है। जिस समय आधुनिक पाश्चात्य-प्रणाली के एकाकियो का हिन्दी में विशेष प्रचार नही था, उस समय वर्माजी ने सन् १९३० मे 'बादल की मृत्यु' नामक एकाकी लिखा जिसे 'फैन्टेसी' के निकट रखा जा सकता है।[2] उन्होने अपने

१. डॉ० नगेन्द्र · आधुनिक हिन्दी नाटक, पंचम संस्करण, सवत् २०१२ वि., पृष्ठ १३२.
२. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय हिन्दी साहित्य का इतिहास।

एकाकियो मे चरित्र-चित्रण, वस्तु-संगठन, वातावरण और शिल्प-तंत्र की दृष्टि से अनेक प्रकार की नवीनताओं का उन्मेष करने का प्रयत्न किया है। अपने एकाकियो की भूमिकाओ मे वे अपना दृष्टिकोण भी व्यक्त करते चले है। उनके एकाकियों के अब तक कई संग्रह प्रकाशित हो चुके है जिनमे पृथ्वीराज की आँखे (१९३७), रेशमी टाई (सन् १९४१), चारुमित्रा (सन् १९४३), विभूति (१९४३),सप्तकिरण (सन् १९४७), रूपरग (सन् १९४८), कौमुदी-महोत्सव (सन् १९४६), ऋतु-राज (सन् १९५१), रजत-रश्मि (सन् १९५२), दीपदान (सन् १९५४), कामकन्दला (१९५५), बापू (१९५६), इन्द्रधनुष (१९५७) तथा रिमझिम (१९५७) प्रमुख है। इन संग्रहो मे प्रायः एक सौ एकाकियो का संकलन है, जिनमे अधिकाशत हमारे मध्यवर्गीय जीवन की सामाजिक तथा सास्कृतिक समस्याओ का चित्रण हुआ है। वर्माजी के एकाकियो मे 'चारुमित्रा', 'शिवाजी', 'कौमुदी-महोत्सव' आदि ऐतिहासिक तथा आदर्शपूर्ण एकाकी भी है, जिनमे उन्होने वातावरण की सृष्टि करते हुए तत्कालीन जीवन की झलक देने की सफल चेष्टा की है। स्वभावत. भावुक होने के कारण वर्माजी के एकाकियों मे कवि-हृदय-सुलभ कल्पना और व्यजना का भी समावेश है और आधुनिक मनोविज्ञान के मानस-चित्रो का भी उल्लेख है। उनके एकाकियो का प्रदर्शन प्रयाग विश्वविद्यालय के विभिन्न आयोजनो पर सफलतापूर्वक हुआ है, अत. वे रगमचीय दृष्टि से भी इस क्षेत्र मे अपना महिमामय स्थान रखते हैं।

५७. श्री उदयशकर भट्ट का प्रमुख क्षेत्र एकाकियो की सृष्टि करना नही रहा है, फिर भी वे इस दिशा मे भी पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। उनके एकाकियो मे सामाजिक समस्याओ और सुधारवादी दृष्टिकोण का प्राधान्य है। साथ ही साथ वे पौराणिक, धार्मिक, सास्कृतिक तथा प्रागैतिहासिक काल के घटना-चक्रो को लेकर भी एकाकी लिखते रहे हैं। उनके एकांकियो की एक विशेषता यह भी है कि वे अपनी सहज भावुकतावश प्रतीक-सकेतों तथा भाव-नाट्यों की योजना भी उनके अन्तर्गत करते चलते है। 'आदिम युग' नामक एकाकी सग्रह मे उन्होने प्राणि-विज्ञान, समाज-शास्त्र तथा नृ-विकास-विज्ञान आदि के तत्व संयोजित कर एकाकियों के क्षेत्र मे नवीन दृष्टि दी है। 'विश्वामित्र', 'राधा', 'मत्स्यगधा', 'कालिदास और विक्रमोर्वशी' उनके सुन्दर भाव-नाट्य है। उनके प्रारम्भिक एकाकियो के अन्तर्गत 'एक ही कब्र मे' (सन् १९३६), 'दस हजार' (सन् १९३८) आते हैं जिनकी परम्परा क्रमशः विकसित होती हुई 'वर-निर्वाचन', 'सेठ लाभचन्द', 'स्त्री का हृदय', 'नकली और असली',' बडे आदमी की मृत्यु', 'विष की पुड़िया', 'मुशी अनोखेलाल' तक चली आई है। सन् १९४५ मे प्रकाशित 'आदिम युग', 'प्रथम विवाह', 'मनु और मानव' तथा 'कुमार संभव' मे उन्होने सभ्यता और सस्कृति के विकास को चित्रित करने का सुष्ठु प्रयास किया है। उनके उपरान्त प्रकाशित होने वाले एकाकियो का दृष्टिकोण सामाजिक अधिक है, जिनमे 'गिरती दीवारें,' 'समस्या का अंत' 'पिशाचो का नाच', 'बीमार का इलाज', 'आत्मदान', 'मन्दिर के द्वार पट' आदि की गणना की जा सकती है। उनके एकाकी रंगमचीय अभिनय तथा 'रेडियो रूपक की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है और युग-जीवन के साथ आज भी उनमे विकास की परम्परा के भव्य लक्षण सगुफित है।

५८. भट्टजी के अतिरिक्त श्री अश्क ने भारतीय जीवन के सामाजिक तथा पारिवारिक पक्ष को लेकर ऐसे अनेक एकाकियो की रचना की है जिनमे पाश्चात्य शिल्पविधि तथा रचना-कौशल की छाया भी प्रतिबिम्बित है। उनके निर्माण के मूल मे अश्कजी का मनोवैज्ञानिक तथा समस्यामूलक दृष्टिकोण भी प्रकट हुआ है। अश्क जी अपने एकाकियो के माध्यम से समाज की विषमता और पाषंड-वृत्ति के प्रति भी व्यंग्य करने मे अत्यत पटु हैं। 'अधिकार का रक्षक', 'तूफान से पहले' तथा 'लक्ष्मी का स्वागत' उनके इसी श्रेणी के एकाकी है। 'चरवाहे', 'चुम्बक' 'चिलमन', 'चमत्कार', 'खिड़की' तथा 'सूखी डाली' शीर्षक एकाकियों मे उन्होने पाश्चात्य ढंग की प्रतीकात्मक शैली का

प्रयोग किया है। सन् १९३६ से लेकर आज तक उनके प्रायः चालीस एकाकी प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमे यथास्थान सामाजिक, प्रतीकात्मक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रस्फुटन हुआ है। उनके एकाकियो का एक अश प्रहसन के अन्तर्गत भी समाविष्ट किया जा सकता है। उनके साथ ही साथ सेठ गोविन्ददास का नामोल्लेख करना भी आवश्यक है। सेठजी के अब तक प्राय अस्सी एकाकी प्रकाशित हो चुके है, जिनमे सामाजिक और सास्कृतिक समस्याओ के साथ-साथ ऐतिहासिक कथानको और अग्रेजी-पद्धति के 'मोनो ड्रामो' का भी प्रयोग है। कुछ विदेशी कथाओ के आधार पर रचित एकाकियो के साथ-साथ उन्होने कृषि-यज्ञ जैसे पौराणिक एकाकी भी लिखे है, जिनसे सेठ जी की सुलझी हुई मनोवृत्ति और शालीन व्यक्तित्व-गरिमा का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। भुवनेश्वर प्रसाद के एकाकियों पर शॉ, इब्सन तथा डी० एच० लॉरेन्स की विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव है। वे प्राय. ३५ वर्षों से एकाकियो की रचना करते रहे हैं। अब तक उनके जितने भी एकाकी प्रकाशित हुए है, उनमे सामाजिक रूढियो के प्रति विद्रोह, सैक्स की समस्या और पाश्चात्य जीवन की झलक पर्याप्त मात्रा मे है। वर्तमान काल के अन्य एकाकी-लेखको मे श्री जगदीशचन्द्र माथुर, गणेशप्रसाद, गिरिजाकुमार माथुर, हरिकृष्ण प्रेमी, डा० सत्येन्द्र आदि की गणना की जाती है। इन सब के एकाकियो का पृथक्-पृथक् विवेचन करने का यहाँ अवसर नही है। एकाकियो के इस विकास का सामान्य क्रम विवेचित करने मे हमारा मूल आशय केवल इतना ही है कि आधुनिक युग मे एकाकियो ने अपना स्वतत्र व्यक्तित्व धारण किया है और वे हमारे वर्तमान साहित्य के अत्यत लोकप्रिय अग है। पत्र-पत्रिकाओ के कलेवर तथा 'रेडियो रूपको' की योजना मे उनका स्वरूप मुख्यतया विकासोन्मुख रहा है। उनके निर्माण मे हमारी सामयिक परिस्थितियों का भी पर्याप्त हाथ है। पिछले प्रथम दशक मे तो उन्होने अपनी नवीन विधा धारण की है जिसमें पाश्चात्य प्रणाली के अनेक नूतन प्रयोगो का भी समावेश हो रहा है। उनकी प्रायः तीस वर्षों के अन्तर्गत की गई प्रगति निस्सदेह हमारे लिए गौरव का विषय है। वे हमारे रचनात्मक साहित्य के प्रमुख अग हैं जिनसे समालोचना के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्ष को विकसित होने मे भी पर्याप्त सहयोग मिला है। डा० नगेन्द्र, डा० सत्येन्द्र, डा० रामकुमार वर्मा तथा डा० रामचरण महेन्द्र ने अपनी समालोचनाओ द्वारा उनके क्रमिक विकास तथा उनकी मुख्य प्रवृत्तियो का जो विश्लेषण किया है, वह तथ्यपरक शिल्प-तन्त्र के साथ-साथ उनके हिन्दी-साहित्यगत महत्त्व का भी विश्लेषण करने मे यथेष्ट समर्थ है।

(ई) उपन्यास-साहित्य और उसकी प्रवृत्तियाँ

५९. वैसे तो आधुनिक साहित्य की अन्यान्य विधाओ की भाँति उपन्यास-साहित्य का प्रवर्त्तन भारतेन्दु-युग मे ही हो गया था, किन्तु उसको एक व्यवस्थित और व्यापक स्वरूप प्रदान करने का पर्याप्त श्रेय प्रेमचन्दजी को ही दिया जा सकता है। प्रेमचन्दजी के उपन्यास-क्षेत्र मे प्रविष्ट होने के पूर्व हिन्दी-उपन्यासो की जो परम्परा चल रही थी, उसकी कोई निश्चित प्रणाली अथवा प्रामाणिक रचना-विधि नहीं थी। इसका प्रमुख कारण यह था कि आधुनिक साहित्य के पूर्व हिन्दी भाषा मे गद्य की अन्यान्य विधाओं की भाँति उपन्यासो का भी अभाव-सा था। भारतेन्दु-युग मे यद्यपि उपन्यास-लेखन के प्रयत्न अवश्य किये गये थे, किन्तु उनका क्षेत्र अधिकांशत अग्रेजी तथा बगला के उपन्यासों के हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत करने का ही रहा। उनके कथानकों का प्रमुख प्रयोजन पाठकों का मनोरजन अथवा चित्त-चमत्कार मात्र करना था। भारतेन्दु-युग के अन्तिम चरण (सन् १८८२) से लेकर प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ (सन् १९१४) तक हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में सक्रमणशील परिस्थिति बनी रही। इस युग के अन्तराल मे यद्यपि कई उपन्यासकारो ने अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं, किन्तु उनमे विशेष उल्लेखनीय उपन्यासकार सर्वश्री देवकीनन्दन खत्री,

किशोरीलाल गोस्वामी, गोपालराम गहमरी, हरिकृष्ण जौहर, लज्जाराम शर्मा, बलदेवप्रसाद मिश्र गगाप्रसाद गुप्त, ब्रजनन्दनसहाय और जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी आदि है। खत्रीजी का जीवन-विषयक अनुभव अत्यत व्यापक था। उन्होने सन् १८९८ मे काशी मे निजी 'लहरी प्रेस' खोला था, जहाँ से उनके सारे उपन्यास प्रकाशित हुए थे। उनका प्रथम उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' है जिसकी भूमिका मे उन्होने अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किया है। सन् १८९५ और १८९६ के बीच उन्होने 'चन्द्रकान्ता-सतति' की रचना की जो चौबीस भागो मे समाप्त हुआ है। इस उपन्यास का सब से बड़ी विशेषता यह है कि इसने हिन्दी मे अनेक नये पाठक उत्पन्न किये और जो लोग हिन्दी भाषा से अनभिज्ञ थे, उन्होने भी इस उपन्यास का अध्ययन करने के लिए हिन्दी पढी। इसके अतिरिक्त उन्होने 'नरेन्द्रमोहिनी' दो भाग (सन् १८९३), 'कुसुमकुमारी' चार भाग (सन् १८९८), 'काजर की कोठरी' (सन् १९००), तथा 'नौलखा हार' नामक उपन्यास लिखे। अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे वे 'भूतनाथ' लिखने मे लगे हुए थे जिसके वे केवल छ. भाग ही लिख सके और तभी उनका देहान्त हो गया।

६०. श्री दुर्गाप्रसाद खत्री के उपन्यासो के कथानक अधिकाशत देवकीनन्दनजी के ही अनुरूप थे। उन्होने ऐयारी और जासूसी ढग के अनेक उपन्यासो की रचना की, जिनमे भूत-प्रेतो की कहानियो के साथ-साथ रोमाचकारी घटनाओ का भी योग रहता था। उनकी कल्पना इतनी अधिक उर्वर थी कि इन्होने 'मृत्यु-किरण', 'लुप्त होने वाले हवाई जहाज', बर्मा और हिन्दचीन जैसे देशो के रहस्यमय चित्रण आदि अपने उपन्यासो मे प्रस्तुत किये। 'नखतमडल', 'लाल पजा', 'सफेद शैतान' तथा 'प्रतिशोध' आदि उपन्यासो मे इस प्रकार की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। श्री किशोरीलाल गोस्वामी के मन मे उपन्यास-साहित्य के प्रति इतनी अधिक अभिरुचि थी कि वे अल्पकाल मे ही बहुत से उपन्यास लिख सके। १८९० ई० के लगभग उन्होने 'प्रणयिनी-परिणय' तथा सन् १८९२ मे 'सुख शर्बरी' (बगला) नामक उपन्यासो के हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किये। उनके मौलिक उपन्यासो मे 'प्रेममयी' (सन् १९०१), 'तारा' तीन भाग (सन् १९०२ ई०), और 'चपला' चार भाग (सन् १९०३), 'कटे मूड की दो-दो बाते' या तिलस्मी शीशमहल (१९०४ ई०), 'तरुण तपस्विनी, या 'कुटीरवासिनी' (१९०४ ई०), 'इन्दुमती' या 'वन विहगिनी' (१९०६ ई०), 'पुनर्जन्म' या 'सौतिया डाह' (१९०७) आदि प्रमुख है। उनके उपन्यास भी इस युग के अन्य उपन्यासो की भाति घटना-वैचित्र्य को लिए हुए है जिन्हे तिलस्मी की श्रेणी मे रखा जा सकता है। यद्यपि गोस्वामीजी ने अपने उपन्यासो को ऐतिहासिक तथा सामाजिक धरातल प्रदान करने की चेष्टा भी की है, किन्तु उन्हे इस कार्य मे विशेष सफलता नही मिली है। सच तो यह है कि उनका मन भी अधिकाशत: आश्चर्यमयी घटनाओ का चित्रण करने मे ही अधिक लगा था, अत उनमे जीवन की यथार्थता की झलक बहुत कम आ सकी है। उनका प्रेम-चित्रण भी अत्यन्त वासनामय और विलासपूर्ण है, जिसका सामाजिक और वैयक्तिक पक्ष शालीन नही कहा जा सकता। हाँ, यह बात अवश्य है कि गोस्वामी जी के उपन्यास अपने युग मे कुछ विशेष प्रगतिशील रहे और उनका वस्तु-सगठन तथा रचना-विधान भी अन्य उपन्यासकारों की अपेक्षा विशेष महत्त्वपूर्ण बन सका।

६१. उपन्यास-विकास के इसी प्रसग मे श्री गोपालराम गहमरी का उल्लेख करना आवश्यक है जिन्होने सन् १८९३ के आस-पास अपने उपन्यास-लेखन का कार्य आरम्भ किया था। उनके उपन्यासो मे 'चतुराचचल' (सन् १८९३), 'भानमती' (सन् १८९४), 'नये बाबू, (सन् १८९४), 'घटना घटाटोप' (सन् १९००), 'जमुना का खून' (सन् १९०१), 'जासूस की चोरी' (सन् १९०२), तथा 'दो बहिन' (सन् १९०२), आदि प्रमुख है जिनका वस्तु-सगठन इस युग के अन्य उपन्यासकारो के समान ही था। वस्तुतः इस युग मे उपन्यास-रचना की एक ऐसी परम्परा चल पडी थी, जिसका अनुगमन प्रायः सभी उपन्यास-लेखको ने किया। इसी युग मे श्री हरिकृष्ण जौहर ने प्राय.

पचास उपन्यास लिखे है, जिनमे मौलिक तथा अनूदित दोनो प्रकार के उपन्यास सम्मिलित है। चूँकि जौहरसाहब उर्दू से हिन्दीकी ओर आये थे, अत इनकी भाषा मे एक विशेष प्रकार की जिन्दादिली और चुस्ती मिलती है। 'कमलाकुमारी' (चार भाग), 'कुसुमलता' (चार भाग) 'आश्चर्य-प्रदीप', 'छाती का बुरा डाकू', 'जादूगर'(चार भाग), 'काला बाघ', 'भयानक भेद' और 'गवाह गायब' आदि इनके प्रसिद्ध उपन्यास है। गहमरीजी के 'जासूस' नामक मासिक पत्र की भाँति इन्होने भी 'हिन्दी नाविल' नामक पत्र निकाला था, जिसमे इनके उपन्यासो के साथ-साथ एतद्विषयक अनेक प्रकार की चर्चाएँ रहा करती थी। साराश यह है कि भारतेन्दुजी के पश्चात् और प्रेमचन्दजी के पूर्व हिन्दी का उपन्यास-साहित्य अत्यन्त विस्तृत था जिसपे चाहे कितनी ही एकांगिता क्यों न रही हो, किन्तु सख्या और परिमाण की दृष्टि से वह किसी भी रूप मे हीन नही कहा जा सकता। यदि इस युग के उपन्यासों की तालिका प्रस्तुत की जाय तो उनकी सख्या एक सहस्र तक पहुँच सकती है। श्री ब्रजरत्नदास ने हिन्दी उपन्यास-साहित्य मे ऐसे अनेक उपन्यासकारो के नाम तथा उनकी रचनाओ की सूची दी है जो प्राय दो दशको मे विभाजित की जाने पर स्वतत्र शोध-प्रबन्ध का विषय बन सकती है।[1]

६२ श्री प्रेमचन्द जी के पूर्व आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे जिस प्रकार के उपन्यास लिखे गये उनके मूल मे लेखको की मनोवृत्ति के साथ-साथ तत्कालीन परिस्थितियो का भी योग था। घटना-वैचित्र्य और कौतूहल-सृष्टि उनके प्रमुख उद्देश्य थे, किन्तु कालान्तर मे युग-वातावरण के अनुसार उनमे परिवर्तन आने लगा। कहा जा सकता है कि द्विवेदी-युग की सुधारवादिता तथा राष्ट्रीयता ने हमारे कवियों और लेखको को जो युग-दृष्टि तथा आदर्श-भावना प्रदान की थी, उसका प्रभाव उपन्यास-साहित्य पर भी पडा। इस युग मे साहित्य को जीवन के निकटतर रखने का जो सुष्ठु प्रयास किया गया था, उसके फलस्वरूप हमारे उपन्यासकार भी सामाजिक धरातल पर उतर आये और उन्होने अपनी रचनाओ द्वारा यथार्थ चित्रण को अपना लक्ष्य बनाया। सौभाग्य से प्रेमचन्दजी के समान व्यक्तित्व साहित्य-ससार को मिला जिन्होने कथा-साहित्य के क्षेत्र मे नवीन युग का निर्माण किया। द्विवेदी-युग के प्रारम्भ (सन् १९०१) से ही उन्होने साहित्य-सेवा का अखड व्रत धारण किया, जिसका सम्यक् निर्वाह वे आजीवन करते रहे। प्रारम्भ मे वे उर्दू के लेखक थे और उनकी रचनाएँ 'जमाना' नामक उर्दू पत्र मे 'नवाबराय' के नाम से प्रकाशित होता थी। तदुपरान्त वे 'प्रेमचन्द' के नाम से हिन्दी कथा-साहित्य मे अवतीर्ण हुए। उनके प्राय एक दर्जन उपन्यासो का प्रकाशन हो चुका है जिनमे 'सेवासदन' (सन् १९१४), 'प्रेमाश्रम' (सन् १९२२), 'रगभूमि' (सन् १९२४), 'कायाकल्प' (सन् १९२६), 'गबन' (सन् १९३०), 'कर्मभूमि' (सन् १९३२), और 'गोदान' (सन् १९३४) प्रमुख है। उनका अन्तिम उपन्यास 'मगल-सूत्र' है जो प्रसादजी के 'इरावती' नामक उपन्यास की भाँति अपूर्ण रह गया है। उनके उपन्यासो मे हमे तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सास्कृतिक परिस्थितियो का सजीव चित्र उपलब्ध होता है। उपन्यास के प्रमुख तत्त्वो और रचना-विधान की दृष्टि से उनके उपन्यास इतने अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उनकी गुरुता को दृष्टिगत रखते हुए उनके कार्य-काल को 'प्रेमचन्द युग' का नाम दिया जाता है। मुशीजी उपन्यासकार होने के साथ-साथ स्वय एक अच्छे विचारक भी थे और उन्होने साहित्य तथा जीवन के प्रश्नो को लेकर अपने विचार 'हस' पत्र तथा विविध प्रकार के साहित्यिक आयोजनो मे व्यक्त किये थे, जिनके द्वारा यह स्पष्ट है कि वे आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल तथा महान् साहित्यकार जयशकर प्रसाद की भाँति अपने क्षेत्र मे अद्वितीय व्यक्तित्व रखते थे। उनके उपरान्त हिन्दी का उपन्यास-साहित्य यथेष्ट विकास कर चुका है किन्तु उसके प्रसार मे प्रेमचन्द जैसा मेधावी व्यक्तित्व अनायास भाव से अन्वेषित कर लेना वस्तुत कोई

१. श्री ब्रजरत्नदास : 'हिन्दी उपन्यास-साहित्य' प्र० स० सं०. २०१३ पृष्ठ १७०।

सहज कार्य नही है।

६३ प्रेमचन्दजी के समकालीन कीर्त्तिशेष बाबू जयशकरप्रसाद उपन्यास-क्षेत्र मे अभिनव क्रान्ति का सूत्रपात करते हुए अवतीर्ण हुए। सन् १९२९ मे उनके प्रथम उपन्यास 'ककाल' का प्रकाशन हुआ, जिसमे उन्होने समाज की दुर्बलताओ का चित्रण करते हुए यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। यह उपन्यास प्रसादजी की तीव्र अनुभूति और सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का प्रतीक है। प्रेमचन्दजी ने प्रसादजी की रचनाओ को लक्ष्य कर एक बार जो उन्हे 'गडे मुर्दे उखाडने वाला' कहा था, उसका मानो प्रसादजी ने इस उपन्यास द्वारा प्रत्युत्तर दे दिया है। इसमे वर्तमान समाज के जर्जर ककाल का यथातथ्य चित्रण, बाल-वैधव्य, सतान-लालसा से साधुओं का कुसग तथा धर्म के नाम पर छिपे रूप मे होने वाले अनाचारो का चित्रण अत्यत तीक्ष्ण शब्दो मे किया गया है। उन्होने इस उपन्यास का प्रारम्भ हरद्विार की पावन धर्मभूमि से करते हुए उसके अन्त तक समाज के उन चित्रो का उद्घाटन किया है जो ऊपर से अत्यत मोहक और भव्य लगते है, किन्तु जिनकी जडें खोखली हो चुकी है। प्रेमचन्दोत्तर-साहित्य मे जिस यथार्थवाद के नाम पर अनेक प्रकार की सडी-गली वस्तुएँ भी 'सभी धान पाँच पसेरी' के भाव से लिखी तथा परखी जाती है, उसका एक सयत दृष्टिकोण प्रसादजी ने 'ककाल' मे देने का प्रयास किया है। 'उन्होने छायावाद और यथार्थवाद' शीर्षक निबन्ध मे यथार्थवाद का विश्लेषण करते हुए जिस 'लघुता की ओर प्रयास' का विवेचन किया था, उसके प्राय सभी लक्षण उनके प्रस्तुत उपन्यास मे मिल जाते है। उपन्यास के अत मे 'भारत सघ' नामक सस्था का सस्थापन कर उन्होने सामाजिक जीवन की विकृतियो के परिशमन का एक मार्ग प्रस्तुत कर दिया है जिसमे कर्मों के अनुसार 'वर्ण-व्यवस्था' को मानकर पथ-भ्रष्टों को मार्ग-दर्शन तथा नारियो को उचित सम्मान प्रदान करने की ओर भी सामान्य सकेत है। समालोचको ने इस उपन्यास मे तत्त्व-योजना की दृष्टि से अनेक दोषो का निर्देश भी किया है, किन्तु उनसे प्रसादजी के रचना-गौरव मे कोई कमी नही आती। उन्होने 'तितली' नामक दूसरे उपन्यास मे भारतीय नारीत्व और सतीत्व को मूर्तिमान करके भारतीय दाम्पत्य जीवन के माधुर्य और उसकी स्निग्धता के बडे ही सुन्दर चित्र अकित किये है।[1] इस उपन्यास के पात्रो का चरित्र-चित्रण करने और उनकी कथा-वस्तु के साथ सयोजना करने मे प्रसादजी ने अपनी सहज भावुकता का भी परिचय दिया है। उनका तीसरा उपन्यास 'इरावती' है, जिसकी रचना वे ऐतिहासिक घटनाओ मे काल्पनिक वस्तुओ का यथोचित सयोजन करते हुए कर रहे थे, किन्तु उनके निधन से वह अपूर्ण ही रह गया। अभिप्राय यह है कि प्रसादजी ने यद्यपि काव्य और नाटको की भाँति उपन्यास-रचनाओ मे अधिक समय नही लगाया, किन्तु इस क्षेत्र मे भी उनकी जो उपलब्धि है वह कम महत्त्वपूर्ण नही है।

६४ ऐतिहासिक घटनाचक्रो को आधार बनाकर उपन्यास-रचना करने वाले लेखको में बाबू वृन्दावनलाल वर्मा प्रधान है। उनके उपन्यासो मे देश का मध्ययुगीन सामन्ती जीवन तथा सामाजिक दृष्टिकोण स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति मे चित्रित हुआ है। वे अधिकाशत बुन्देलखड की गाथाओ को अपने उपन्यासो का आधार बनाकर चले है, अत उनमे उक्त प्रदेश की भौगोलिक परि-स्थितियो का सजीव चित्रण करने मे उन्हे अद्भुत सफलता मिली है। वर्माजी प्राय. ३० वर्षों से उपन्यास-रचना कर रहे है और अब तक उनके बीसो उपन्यास प्रकाशित हो चुके है जिनमे 'गढ कुढार', 'विराटा की पद्मिनी', झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई', 'कचनार', 'मृगनयनी' और 'अचल मेरा कोई' प्रमुख है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारो के अतिरिक्त अनेक प्रतिष्ठित सस्थाओ से पुरस्कृत होने का सम्मान भी वर्माजी के उपन्यासो को मिला है। अपने आकार-प्रकार और गुण-परिमाण मे वे इतने अधिक व्यापक है कि उन्हें स्वतन्त्र शोध का विषय बनाया जा सकता है। वर्माजी के अतिरिक्त इसी

---

१. शिवनारायण श्रीवास्तव : 'हिन्दी उपन्यास' प्रथम संस्करण सवत १९९७, पृ० १७१

युग मे चतुरसेन शास्त्री, राजा राधिकारमणप्रसादसिंह,विश्वम्भरनाथ कौशिक, जी० पी० श्रीवास्तव, शिवपूजन सहाय, सियारामशरण गुप्त, राहुल साकृत्यायन, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और बद्रीनाथ भट्ट आदि अनेक उपन्यासकारों ने अपनी लेखन-कला का कौशल विविध उपन्यासो की रचना करते हुए प्रदर्शित किया है। अभिप्राय यह है कि प्रेमचन्द-युग और उसकी समकालीन प्रवृत्ति मे हिन्दी उपन्यास-साहित्य ने आकार और प्रकार मे जो कुछ विकास किया है वह हमारे साहित्य के लिए गौरव का विषय है और उसके द्वारा समालोचना-साहित्य को विकसित बनाने मे यथेष्ट प्रेरणा और हायता मिली है।

६५. प्रेमचन्दजी के पश्चात् हिन्दी उपन्यास-साहित्य के क्षेत्र मे जिस प्रकार का कथा-विधान और रचना-कौशल प्रदर्शित हो रहा है, उस पर पश्चिमी उपन्यासो का भी पर्याप्त प्रभाव है। एक समय था, जब यूरोप मे भी उपन्यासो के अन्तर्गत घटनाओ और जीवन की अतिरजनाओ का आधिक्य था, किन्तु कालक्रम से यह प्रवृत्ति कम होती गई और १८वी शताब्दी के प्रारम्भ मे फ्रास के विक्टर ह्यूगो और स्कॉटलैण्ड के सर वाल्ट स्कॉट ने पुरातनवादी परम्पराओ का विरोध कर उपन्यासो को नवीन सामाजिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। यद्यपि इन उपन्यासो मे ऐतिहासिक तत्त्वो का भी अभाव न था, किन्तु उनमे जीवन की सामयिक परिस्थितियो के चित्रण की चेष्टाएँ भी की जाने लगी थी। इनके अनन्तर डिकेन्स, थेकरे, जार्ज मेरिडिथ, चार्ल्स रीड, थामस हार्डी आदि और भी अनेक उपन्यासकार हुए, जिन्होने उन्नीसवी शताब्दी के मध्य भाग से साहित्य की इस विधा मे अपूर्व क्रान्ति की, किन्तु उसके विश्लेषण से हमारा कोई प्रयोजन नही है। हमे तो केवल यह देखना है कि प्रेमचन्दजी के पश्चात् जिस प्रकार के उपन्यास-साहित्य की सृष्टि हो रही है उसकी मूल चेतना क्या है और साहित्य के इस रचनात्मक पक्ष का ऐसा कौन-सा रूप है, जिसने द्विवेदी-युग की परवर्ती समालोचना को विकसित बनाने मे सक्रिय प्रेरणाएँ प्रदान की है।

६६ प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास-साहित्य मे यथार्थवादी दृष्टि का विस्तार अधिकाशत परिलक्षित होता है जिसके अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक चित्रण और वस्तुपरक भावनाओ का यथेष्ट समावेश है। इस युग के उपन्यासकार आदर्श और कल्पनाओ मे विश्वास नही रखते और मानव-चरित्र को बिना किसी उद्देश्य के उस रूप मे चित्रित करना पर्याप्त समझते है जो प्रस्तुत परिस्थितियो की उपज अथवा वैयक्तिक द्वन्द्व का परिणाम होता है। इन उपन्यासो का एक पक्ष जहाँ एक ओर विशिष्ट श्रेणी के समाजवाद और साम्यवाद के सिद्धान्तो से सम्बद्ध है, वहाँ दूसरी ओर वह वैयक्तिक मनोविश्लेषणवाद की सीमित मान्यताओ से भी मुक्त नही है। इन उपन्यासकारों के आदर्श डास्टोवस्की, डी० एच० लारैन्स, एच० जी० वेल्स और गाल्सवर्दी आदि है, जिनके वस्तुपरक-चित्रण का यथेष्ट अनुकरण करने की चेष्टा हमारे नवीन उपन्यासकार कर रहे हैं। हमे यहाँ इस विवेचन से कोई अभिप्राय नही कि उनका इस प्रकार का प्रयत्न देश की सास्कृतिक चेतना से कहाँ तक सम्बद्ध है; किन्तु इस निर्णय मे दो मत नही हो सकते कि इन नवीन उपन्यासकारो ने हमारी जीवन-दृष्टि को परिवर्तित करने की दिशा मे पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। इन उपन्यासकारो मे सर्वश्री भगवती प्रसाद वाजपेयी, जैनेन्द्र कुमार, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल 'अज्ञेय' और 'अश्क' आदि प्रधान हैं।

६७ श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी के प्रारम्भिक उपन्यासो का अनुशीलन करने से पता चलता है कि वे अपनी रचनाओ के प्रथम चरण मे प्रेमचन्दजी के बहुत निकट थे और उनके औपन्यासिक तत्वों के सगठन मे प्रेमचन्द की कृतियों का यथोचित आभार भी था; किन्तु शनै-शनै. वे प्रेमचन्दजी से दूर हटते गये और उनके उपन्यासों ने नई दिशा का अनुगमन किया। उनके 'सूनी राह' 'विश्वास का बल', 'मीठी चुटकी', 'निमन्त्रण', 'गुप्त धन', 'पतिता की साधना', 'मुस्काने', 'मनुष्य और देवता', 'पिपासा', 'यथार्थ के आगे', 'त्यागमयी', 'चलते-चलते', 'रात और प्रभात', 'पतवार', 'उनसे न

कहना', 'प्रेमपथ' और 'दो बहिनें' आदि जो उपन्यास प्रकाशित हुए है, उनमे इस प्रकार की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। इन उपन्यासो मे कथा का आदर्श-पक्ष क्रमश क्षीण होता चला गया है और सामाजिक परिवेश का स्थान मनोवैज्ञानिक चित्रण ने ले लिया है। उनके उपन्यासो मे इस प्रकार की प्रवृत्ति का आधिक्य ऐसे परिमाण मे होता गया है जिससे वे पात्रो और परिस्थितियो के द्वन्द्व-चित्रण मे ही अधिक उलझते गये है। कई स्थलो पर तो ऐसा भी देखा जाता है कि बाजपेयी जी ने उपन्यासो के वस्तु-सगठन की ओर विशेष ध्यान न देकर नवीन मनोविश्लेषणवादी प्रवृत्ति की प्रतिष्ठा करने के लिए पात्रो की चारित्रिक दुर्बलता अथवा निरर्थक भावुकता को बिना किसी प्रसग के कथानक पर लादने का प्रयास किया है, जिसके कारण उनके उपन्यासो मे व्यक्तिवादी भावना तो पर्याप्त मात्रा मे आ गई है, किन्तु उनका सामाजिक पक्ष दब-सा गया है। उनका इस प्रकार का प्रयास उपन्यास क्षेत्र मे नवीन प्रयोग भले ही मान लिया जाय, किन्तु वह हमे तो अपनी साहित्यिक और सास्कृतिक परम्परा के उच्च धरातल के अनुकूल नही लगता।

६८ श्री जैनेन्द्रकुमार अपनी मान्यताओ और विचारधाराओ मे एक व्यक्तिवादी चिंतक है, जिनका प्रभाव उनके रचनात्मक साहित्य और विवेचनात्मक लेखो मे अन्वेषित किया जा सकता है। यद्यपि उनके मन मे प्रेमचन्दजी के उपन्यास-साहित्य के प्रति पर्याप्त श्रद्धा रही है और उन्होने उनके प्रति इस प्रकार के उद्गार अपनी विभिन्न वार्ताओ मे प्रकट भी किये है, किन्तु उनके उपन्यासो का निर्माण प्रेमचन्दजी के रचना-विधान से सर्वथा भिन्न कोटि मे हुआ है। जैनेन्द्रजी के उपन्यास आकार-प्रकार मे बहुत बडे नही है, किन्तु उनके कथानको मे ऐसी अनेक प्रकार की मनोवैज्ञानिक गुत्थियाँ है जिनके द्वन्द्व से छुटकारा पा सकना साधारण पाठको के बस की बात नही है। अपनी दार्शनिक मान्यताओ की भाँति वे कई स्थलो पर इतने अधिक उलझे हुए और अस्पष्ट लगते हैं, जिससे उनका मनोवैज्ञानिक चित्रण शालीन धरातल पर अधिष्ठित नही हो सका है। वस्तुत उनके उपन्यासो का मूल्याकन करने मे समालोचको के सामने भी बडी कठिनाई रही है। कुछ समालोचक उनके उपन्यासो मे अतृप्त और विकृत कुठाएँ पाते है, तो समालोचको का दूसरा वर्ग उन्हे शरच्चन्द्र और रवीन्द्रनाथ की श्रेणी मे प्रतिष्ठित करने का साहस भी करता है। इस प्रकार की विरोधमूलक विचारधाराओ से यह स्वत स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्रजी के मानसिक सस्थान ने उनके पाठको पर भी अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाएँ अकित की है। उनके उपन्यासो के कथानक मुख्यतः मध्यवर्गीय व्यक्तियो के जीवन तथा उनकी वैयक्तिक तथा सामाजिक समस्याओ से सम्बन्धित है, जिनका क्षेत्र प्रेमचन्दजी की भाँति व्यापक न होकर केवल ऐसे शिक्षित वर्ग के जीवन तक ही सीमित है, जिसके अभाव और दौर्बल्य ने उसे अनेक प्रकार की मानसिक कुठाओ का शिकार बना रखा है। प्रसादजी के नाटको की भाति उनके उपन्यासो मे भी साधारणतया एक दार्शनिक पात्र रहता है जिसे हम जैनेन्द्रजी की विचारधारा का प्रतीक कह सकते है, किन्तु उसका व्यक्तित्व कथानक को वेगवान तथा सक्रिय बनाने मे कोई विशेष रूप मे उपयोगी सिद्ध नही होता। सामान्यत वे उसके द्वारा अहिंसावादी दर्शन की व्याख्या कराते है, जिसे कुछ समालोचको ने 'गाधी-दर्शन' का भी नाम दिया है, किन्तु तत्त्वपूर्ण दृष्टि से विचार करने पर वह एक विचित्र प्रकार का छायामय और धूमिल दर्शन है, जिसके तत्वो को समझने के लिए जैनेन्द्र-दृष्टि की ही आवश्यकता है। उनके उपन्यासो के वस्तु-सगठन, चरित्र-चित्रण, भाषा-विधान और शिल्प-तत्र का स्वरूप अलग ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैनेन्द्र-दर्शन मे नैतिकता, सामाजिकता और जीवन-आस्था का एक अलग ही दृष्टिकोण है, जिसका प्रभाव वे अपने पात्रो पर भी अकित करने मे पीछे नही रहे है। पुरुष-पात्रो की भाँति उनके नारी-पात्र भी न तो आदर्श गृहस्थ का रूप ही धारण कर सके है और न पूर्ण स्वैरचारी ही बन सके है। उनकी कुठाओ पर एक ओर एडलर के मनोविश्लेषणवाद मे निरूपित 'हीनता-ग्रन्थि' का बोझ है तो दूसरी ओर वे फ्रायड की अतृप्त काम-कुठाओ की सैद्धान्तिक विवेचना को ढोते हुए चलते

है। 'त्याग-पत्र' की मृणाल और उसके सम्पर्क मे आये हुए पात्रो के जीवन का अध्ययन करने से इस तथ्य का स्पष्ट आभास मिल सकता है। अभी तक उनके जितने भी उपन्यास प्रकाशित हुए है, उनमे उपर्युक्त विचार-धारा का सामान्य स्वरूप परिलक्षित है। जैनेन्द्र के उपन्यासो ने हिन्दी समालोचना को मनोविश्लेषणवादी पद्धति मे विकास करने का एक अवसर दिया हे, जिसका विवेचन शुक्लोत्तर-युग की समीक्षा के अन्तर्गत किया जायगा। उनके प्रकाशित उपन्यासो मे 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'तपोभूमि', 'परख', 'पाप' और 'प्रकाश', 'विवर्त', 'व्यतीत', और 'सुखदा' प्रमुख है। ये प्राय समस्त उपन्यास जैनेन्द्र के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण और अहभाव का निदर्शन प्रस्तुत करते है।

६९ श्री भगवतीचरण वर्मा को प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास-क्षेत्र मे सर्वाधिक ख्याति उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'चित्रलेखा' के कारण मिली, जिसकी रचना पर 'थाया' का बहुत अधिक प्रभाव है। इस उपन्यास को पढकर पाठक इस भ्रम मे पड जाता है कि जीवन मे मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्राधान्य रहता है या नैतिक मानदडो का। इसके कथानक द्वारा वर्माजी ने यही सिद्ध करने की चेष्टा की है कि व्यक्ति न तो पाप करता है और न पुण्य अपितु वह केवल वे ही कार्य करता है जिन्हे करने के लिए परिस्थितियाँ उसे बाध्य करती है। हिन्दी-उपन्यासो के क्षेत्र मे इस प्रकार का दृष्टिकोण वस्तुत नवीन है। उनके उपन्यासो के कई पात्र हमारे सामने एक प्रकार की समस्या बन कर उपस्थित होते है जिनके समाधान का निर्णय वर्माजी ने अपने पाठको पर छोड दिया है। 'चित्र-लेखा' के अतिरिक्त उनके 'टेढे-मेढे रास्ते', 'अपने खिलौने', 'आखिरी दॉव', 'तीन वर्ष', और 'पतन' आदि उपन्यास प्रकाशित हो चुके है। जैनेन्द्रजी की भाँति उनके उपन्यासो की चर्चा हिन्दी समालोचना मे अधिक नही रही, जिसका एक कारण यह भी हो सकता है कि वर्माजी का एक काव्यकार का व्यक्तित्व भी है जिसके विश्लेषण की ओर समालोचको का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हो गया और वे 'चित्रलेखा' को छोड़कर उनके अन्य उपन्यासो की चर्चा केवल प्रासगिक रूप मे ही करते रहे।

७० श्री इलाचन्द्र जोशी आधुनिक हिन्दी साहित्य के केवल कथाकार ही नही, अपितु एक प्रसिद्ध समालोचक भी है। उनके उपन्यासो और समालोचनात्मक ग्रन्थों मे एक ऐसा अतर्वर्ती सूत्र सयोजित है, जिसमे उनके भाव-पक्ष और विचार-पक्ष का साम्य भली-भाँति अन्वेषित किया जा सकता है। उनके उपन्यास भी मूलत मनोवैज्ञानिक है जिनमे फ्रायड, एडलर और युग की मनोविश्लेषणवादी प्रवृत्तियो की पर्याप्त झलक है। उनके उपन्यासो की मूलभूमि उनके उन निबन्धो से समझी जा सकती है जिनमे उन्होने आधुनिक उपन्यास-साहित्य और उसके निर्माताओं का तत्त्व विश्लेषण करने के साथ-साथ अपने कथा-साहित्य का भी दृष्टिकोण प्रकट किया है। वस्तुतः उनके उपन्यासो में आधुनिक मनोविज्ञान की शब्दावलियो और धारणाओ का प्रचुर प्रयोग है और वे खोज-खोज कर अवचेतन मानस की प्रक्रियाओ के अभिव्यजन का अवसर उनमे निकाल ही लेते हैं। उनके इस प्रकार के दृष्टिकोण को समझने के लिए उनके उपन्यासो की भूमिकाएँ भी पर्याप्त सहायक हो सकी हैं। ४६ परिच्छेदो में लिखे गये 'प्रेत और छाया' नामक उपन्यास मे उन्होने अज्ञात और अर्द्धज्ञात चेतना के दमन से होने वाले दुष्परिणामो का वर्णन उक्त उपन्यास के नायक पारसनाथ के जीवन की झलक देते हुए किया है, जो अपने शिशु-जीवन से ही 'इडियस' ग्रन्थि से आक्रान्त है। हमारे लिये यहाँ पर जोशीजी के उक्त उपन्यास के व्यापक विश्लेषण करने का अवसर नही है, अन्यथा उसके कथानक और पात्र-चित्रण को लेकर फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद मे निरूपित अनेक प्रयोगों का ज्यो का त्यो अनुकरण सिद्ध किया जा सकता है। उनके 'निर्वासित' उपन्यास मे भी यही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। उन्होने इस उपन्यास मे नीलिमा नामक उच्च शिक्षा-प्राप्त युवती के जीवन की साधारण-सी घटना को लेकर उसे जो मनोविश्लेषणवादी तूल दिया है, वह इस बात

का प्रतीक है कि उनका मूल दृष्टिकोण उपन्यास-सृष्टि न होकर उसके माध्यम से फ्रायडवादी भावनाओ को कथानक का रूप देना है। 'पर्दे की रानी' नामक उपन्यास मे जोशीजी ने आत्म-चरित-प्रणाली को अपनाया है, जिसमे शीला और निरजना नामक दो स्त्री पात्र अपनी जीवन-गाथा का चित्रण करते हुए चले है। इस उपन्यास मे भी अन्तर्मन की प्रवृत्तियो के उद्घाटन का प्रयत्न है जो कई स्थलो पर अनेक प्रकार की उलझनो और मानसिक ग्रन्थियो की गुत्थियो से सग्रस्त हो गया है। इन उपन्यासो के अतिरिक्त 'घृणामयी', 'लज्जा', 'सन्यासी', 'जहाज का पछी', 'मुक्ति-पथ', और 'जिप्सी' नामक उपन्यासो मे भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति परिलक्षित है। यद्यपि जोशीजी ने अपने उपन्यासो मे हमारे जीवन के राजनीतिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक पक्षो को भी छूने का प्रयत्न किया है, किन्तु वे अधिकाशत मानस-विवेचन की ही ओर आकर्षित रहे है जिसके कारण उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण आदर्श तथा वीर-चरित्रो के साथ उतना मेल स्थापित नही कर सका है, जितना जीवन के अभावो से पीडित तथा आत्मकुठा से प्रताडित दुर्बल पात्रो के साथ घुलने-मिलने मे समर्थ हुआ है। इसमे कोई सन्देह नही कि जोशीजी ने प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास-साहित्य मे आधुनिक मनोविज्ञान के चित्रण को एक नवीन प्रविधि प्रदान की है, किन्तु वह हमारी सास्कृतिक चेतना की आदर्शपूर्ण भावनाओ के अनुकूल नही है। प्रेमचन्दजी भी साहित्य मे यथार्थवाद के समर्थक थे, किन्तु वे उसकी दिशा को आदर्शोन्मुख ही रखना चाहते थे, जिससे हमारे जीवन की रुग्णताएँ हमे घेर कर कही आत्म-हनन के लिए बाध्य न कर दे।

७१. 'अज्ञेय' जी कथा-निर्माण और शिल्प-विधि की दृष्टि से हिन्दी के मौलिक मनोविश्लेषक उपन्यासकार कहे जा सकते हैं। उनके उपन्यासो मे फ्रायडवादी बाल-मनोविज्ञान की भी पर्याप्त झलक है। उनका 'शेखर, एक जीवनी', 'हिन्दी का प्रथम उपन्यास है जिसमे "शिशु-मानस के सपनो को फ्रायड के शब्दो "प्लेजर प्रिन्सिपल"—आनन्द-प्रधान जीवन की झाँकियो को, उसके कौतूहल और जिज्ञासाओ को तथा उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियो पर समाज तथा माता-पिता के व्यवहार अथवा यो कहिये कि 'रीअलिटि प्रिन्सीपल' सम्पर्क से उत्पन्न दमन को, मानसिक ग्रन्थियो को तथा उसके जीवन व्यापी प्रभाव को कथा-क्षेत्र मे लाने का प्रयत्न किया गया है।[1]" 'शेखर' के प्रथम भाग मे अज्ञेयजी ने शिशु-मन के अवचेतन अश की विभिन्न प्रक्रियाओ के विश्लेषण का प्रयत्न कथानक की सृष्टि द्वारा किया है, जिसका पूर्ण उद्रेक वहाँ मिलता है जब शेखर मृत्यु-दड के अवसर पर अपनी बाल्य जीवन की स्मृतियो का आवेशपूर्ण शब्दो मे चित्रण करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मृत्यु की सम्मोहक अवस्था ने शेखर के मानस मे दबी हुई स्मृतियो को 'मुक्त आसग' पद्धति के द्वारा विस्फुटित होने का अवसर दे दिया है। प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने भी 'उसने कहा था' कहानी के अन्तर्गत लहनासिह के जीवन का अवसान चित्रित करते हुए इसी कार का सकेत किया था। इस प्रकार के चित्रण का मूल आशय यही जान पडता है कि बाल-जीवन हमारे जीवन का ऐसा महत्त्वपूर्ण भाग है जिसके अवचेतन पर अकित रेखाएँ भावी जीवन के निर्माण मे कम उत्तर-दायित्व नही रखती। उक्त उपन्यास मे फ्रायड द्वारा विश्लेषित 'फैमिली रोमान्स' का भी आभास मिलता है। फ्रायड के अतिरिक्त एडलर ने मानव-जीवन मे जिस आत्महीनता की ग्रन्थि का विवेचन किया है, वह भी अज्ञेयजी के पात्रो पर यथेष्ट रूप मे आरोपित है। 'शेखर, एक जीवनी' के अतिरिक्त अज्ञेयजी ने 'नदी के द्वीप' मे भी इसी प्रकार मनोविज्ञान की एक बधी हुई परम्परा को अपनाकर त्रिभुवन, गौरा, रेखा और चन्द्रमाधव के मानस-चित्रो का विश्लेषण किया है। यद्यपि इसका शिल्प-तत्र हिन्दी-उपन्यासो मे एक प्रकार की अभिनव विधि के निर्माण का कारण बना है, किन्तु उसमे स्थल-स्थल पर ऐसी अनेक उलझने भी आ गई है जिनके कारण प्रेमचन्द-साहित्य का

---

१. डा० देवराज उपाध्याय : 'आधुनिक 'हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान' प्रथम सस्करण सन् १९५६ पृष्ठ १६२।

प्रशसक पाठक तो एक प्रकार की भूल-भूलैया मे पड जाता है। उनके उपन्यासो की भाँति उनकी कहानियो मे भी इसी प्रकार की मानसिक बेठनो को खोलने की चेष्टा की गई है। इसमे कोई सन्देह नही कि अज्ञेयजी ने प्रेम तथा क्रान्तिकारी जीवन से सम्बन्धित कहानियाँ भी लिखी है, किन्तु उनमे आधुनिक मनोविश्लेषणवाद की प्रवृत्ति तो प्राय. सर्वत्र परिलक्षित है। 'विपथगा' और 'कोठरी की बात' शीर्षक कहानी-सग्रहो के अध्ययन से इस कथन की सत्यता का परीक्षण सहज भाव से किया जा सकता है। वैसे तो उनके पूर्व प्रेमचन्दजी और प्रसादजी ने भी अपने कथा-साहित्य मे मानव-जीवन का द्वन्द्व चित्रित किया था, किन्तु अज्ञेयजी का टैकनीक उनसे सर्वथा भिन्न है। इन उपन्यास-कारो के अतिरिक्त आधुनिक साहित्य के और भी अनेक उपन्यासकार है जिनका विस्तृत विवेचन करने के अवसर हमारे प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे नही है। यहाँ तो हमे केवल इतना ही सकेत करना अभीष्ट है कि हिन्दी का उपन्यास-साहित्य हमारी समालोचना-निधि की पृष्ठभूमि का एक प्रधान अग है, जिसके द्वारा समीक्षा का विस्तार होने मे यथेष्ट सहयोग मिला है।

(उ) कहानी-साहित्य और उसका आधुनिक स्वरूप

७२ आधुनिक हिन्दी कहानी का वास्तविक रूप मे प्रारम्भ 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन से हुआ। 'सरस्वती' के प्रारम्भिक वर्षों मे भी किशोरीलाल गोस्वामी ने शेक्सपियर के 'टैम्पेस्ट' नाटक की छाया पर 'इन्दुमती' नामक कहानी लिखी, जिसमे टैम्पेस्ट के 'प्रोस्पेरो' की भाँति इन्दुमती का पिता भी दोनो प्रेमियो की परीक्षा लेता है और अन्त मे दोनो का विवाह भी हो जाता है। इस युग की प्रारम्भिक कहानियो मे काल्पनिकता और चमत्कारपूर्ण वर्णन का अश भी विशेष रूप से मिलता है। प० गिरिजादत्त बाजपेयी की 'पति का पवित्र प्रेम', केशवप्रसाद सिंह की 'आपत्तियों का पर्वत' तथा 'चन्द्रलोक की यात्रा' और कार्तिकप्रसाद खत्री की 'दामोदरराव की आत्म-कहानी' इस युग की प्रारम्भिक कहानियाँ है। इस समय पं० जगन्नाथप्रसाद त्रिपाठी ने 'श्रीहर्षचरित' तथा 'रत्नावली' नाटक की कथाओ को कहानियो के रूप मे लिखने का प्रयत्न किया था। इसी प्रकार के अन्य प्रयत्न भी इस काल मे हुए। डा० लक्ष्मीनारायणलाल ने हिन्दी की इन प्रारम्भिक कहानियो मे आठ प्रकार के प्रयत्न और कलात्मक प्रयोगों का विवेचन कर उनका विकास स्पष्ट किया है।[1] इन कहानियो मे प० रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' नामक कहानी शिल्प-विधि की दृष्टि से यथेष्ट मौलिक कही जा सकती है। शुक्लजी ने आगे चल कर इस ओर कोई प्रयत्न नही किया, अन्यथा वे इस दिशा मे भी बहुत कुछ नवीनता प्रदर्शित कर सकते थे। शुक्लजी की इस कहानी के पश्चात् तो हिन्दी-कहानियो मे क्रमश विकास-परम्परा चलती रही। ऐसी कहानियो मे प० गिरिजादत्त वाजपेयी की 'पडिता और पडितानी', प० यशोदानदन अखौरी की 'इत्यादि की आत्म-कहानी', प० महेन्द्रलाल की 'पेट की आत्म-कहानी' आदि प्रमुख कहानियों का प्रकाशन सन् १९०३ से सन् १९०६ के बीच 'सरस्वती' पत्रिका मे हुआ था, जिनसे तत्कालीन कहानी-साहित्य का प्रारम्भिक स्वरूप जाना जा सकता है। कहानी-साहित्य मे नवीनता का संचार उस युग से समझना चाहिए जब प्रसादजी ने 'इन्दु' नामक पत्र का प्रकाशन किया और उसकी कलाओं और किरणो मे 'ग्राम', 'चदा', 'गुलाम', 'चित्तौर का उद्धार' नामक कहानियाँ छपी। 'इन्दु' के कहानी-लेखको मे प० विश्वम्भरनाथ जिज्जा और प० पारसनाथ त्रिपाठी प्रमुख थे। ठीक इसी समय पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने 'उसने कहा था।' (सरस्वती, अक्टूबर १९१५) सुखमय जीवन (भारतमित्र,सन् १९११ तथा 'बुद्धू का काँटा' (सन् १९११ और १९१५ के मध्य) नामक कहानियाँ लिखी थी। यही समय कथा-साहित्य मे प्रेमचन्द और प्रसाद के आगमन का है,

---

१. डा० लक्ष्मीनारायणलाल : 'हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास' प्रथम सस्करण, १९५३, पृष्ठ ५६.

जिन्होने अपनी प्रतिभा से इस क्षेत्र को चमका दिया था।

७३. प्रेमचन्द का कथा-साहित्य द्विवेदी-युग का अधिकाश क्षेत्र अपने मे अन्तर्निहित कर चला है। सन् १९१७ ई० की 'सप्तसरोज' की कहानियो से लेकर सन् १९३६ की 'मानसरोवर' प्रथम भाग तक की कहानियो मे उन्होने अपने युग की सामाजिक, राजनीतिक, पारिवारिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दशाओ का जीवत चित्र उपस्थित कर दिया है। प्रेमचन्दजी के समान युग-दृष्टि से सम्पन्न कथाकार हिन्दी-साहित्य मे कदाचित् ही हुआ हो। यह हिन्दी साहित्य का परम सौभाग्य था कि वे उर्दू-भाषा-साहित्य की अनेक विशेषताओ को लेकर हिन्दी-क्षेत्र मे अवतीर्ण हुए और उन्होने कहानी-क्षेत्र मे नवीन कायाकल्प किया। उनकी कहानियाँ हमारे साहित्य की अमर निधि है, जिनका कहानी-तत्वो की दृष्टि से विवेचन करने पर उनका शिल्प-तत्र भली भाति प्रकट हो जाता है। वस्तुत उनके समय मे विश्वभरनाथ शर्मा 'कौशिक', राजा राधिकारमणसिह, सुदर्शन, प० ज्वालादत्त शर्मा, प० भगवतीप्रसाद वाजपेयी आदि जितने भी कहानी-लेखक हुए है, उन सब पर प्रेमचन्दजी का प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अवश्य पडा है। हाँ, प्रसादजी ही इस युग के एक ऐसे कहानीकार है, जिन्होने अपनी कहानी-कला का विकास काव्यमयी शैली को ग्रहण करते हुए भिन्न दृष्टि से किया है। उनकी कहानियो का विकास-क्रम सन् १९११ से सन् १९३७वी काल-रेखा के अन्तर्गत समझा जा सकता है। अपनी प्रथम कहानी 'ग्राम' से लेकर अन्तिम कहानी 'सालमती' तक उन्होने भाव-पक्ष और कला-पक्ष मे जो सौष्ठवपूर्ण रचना-विधान प्रस्तुत किया है, वह अभूतपूर्व है। उनकी कहानियो के कथानक ऐतिहासिक, सामाजिक तथा काल्पनिक है, जिन्हे प्रसादजी ने अपनी काव्य-सुलभ कल्पना और भावुकता से चमका दिया है। उनका चरित्र-चित्रण, स्वभाव-विश्लेषण, सवाद-सयोजन, भाषा-प्रयोग, शैली-विधान सभी अद्वितीय है। कहानियो के प्रारम्भ और अन्त के बीच उन्होने जिस प्रकार का तारतम्य सूत्र रखा है वह अत्यत सतुलित और आकर्षक है। उनकी कहानियो मे उनका जीवन-दर्शन झलक उठा है। प्रेमचन्दजी की भाँति वे भी अपने युग के महान् निर्माता थे, जिनका प्रभाव अन्य कहानी-लेखको पर भी यथोचित मात्रा मे पडा था। रायकृष्णदास, प० विनोदशकर व्यास आदि की कहानियो पर प्रसादजी का कितना आभार है, यह उनकी कहानियो का अध्ययन कर सहज ही जाना जा सकता है। कहानियो मे स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण से चित्रण करने की परम्परा राधिकारमणप्रसादसिह, चडीप्रसाद 'हृदयेश', प० गोविन्दवल्लभ पन्त, चतुरसेन शास्त्री, श्री बेचन शर्मा 'उग्र' तथा वाचस्पति पाठक आदि कहानीकारो ने यत् किंचित रूप मे 'प्रसाद' से ही ली है, भले ही कालान्तर मे उसका विकास नवीन प्रविधि मे हो गया है।

७४ द्विवेदी-युग की कहानियो मे हमे अनेक प्रकार की प्रवृत्तियो के दर्शन होते है। उनमे द्विवेदीजी की नैतिकता और समाज-सुधार की भावना का प्रभाव तो है ही, किन्तु इनके साथ ही साथ जीवन का यथार्थ और आदर्श भी उनमे चित्रित हुआ है। जैसा कि पहले सकेत कर दिया गया है कि इसी युग मे प्रसादजी ने भावपूर्ण और मधुर शैली मे अपनी कहानियो का रचना-कौशल प्रदर्शित कर जीवन के मनोवैज्ञानिक पक्ष को अत्यन्त सजीवता मे प्रस्फुटित किया था, तो प्रेमचन्दजी ने आदर्शोन्मुख यथार्थवादी परम्परा को प्रश्रय दिया था। प्रसादजी ने अपनी कहानियो मे ऐतिहासिक, धार्मिक, पौराणिक, सास्कृतिक, सामाजिक, चारित्रिक, रहस्यात्मक तथा प्रतीकात्मक पक्ष को स्थान देकर अपने व्यक्तित्व से मानव-जीवन के अनेक दृष्टि-बिन्दुओ से उनका रूप-सगठन किया था। उनका कहानीकार का व्यक्तित्व किसी भी रूप मे कम नही है, जिसने ६९ कहानियो की रचना कर प्रेमचन्दजी की भाँति एक परम्परा का प्रवर्तन किया था। कहानी के तत्त्व-विधान की दृष्टि से समीक्षा करने पर प्रसादजी की कहानियाँ अनुपम सिद्ध होती है। उनके कथानक, चरित्र-चित्रण सवाद-सयोजन, सम्बन्ध-निर्वाह, शीर्षक-चयन, भाषा-शैली, उद्देश्य और

प्रारम्भ तथा अत सभी महान् है, जिनके कला-पक्ष की समता करने वाला अन्य कहानी-लेखक कदाचित् ही कोई हो। प्रेमचन्दजी की कहानियो के सम्बन्ध मे सामान्य सकेत किये ही जा चुके है। इन कथाकारो ने जिन कहानी-लेखको को प्रारम्भिक प्रेरणाएँ प्रदान की, वे ही कालान्तर मे अनागत युग का नेतृत्व कर सके। वस्तुत द्विवेदी-युग साहित्य के अन्य अगो की भाँति कथा-साहित्य के भी सवर्धन का युग था और इसमे जिन प्रवृत्तियो का चित्रण हुआ था, वे हमारे जीवन से हटी हुई न होकर अत्यत घुली-मिली थी। यद्यपि इस युग मे प्रवर्तनकालीन कथा-परम्परा भी चलती रही, किन्तु शनै-शनै उसकी गति क्षीण हो रही थी। इस युग के कहानी-लेखको ने मानव-जीवन की झाँकी अनेक प्रकार के अभिनव प्रयोग करते हुए चित्रित की, जिससे जीवन, समाज और साहित्य एक दूसरे के बहुत निकट आकर उपस्थित हो गये। प० विश्वभरनाथ शर्मा 'कौशिक', सुदर्शन, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि ने आदर्श और यथार्थ का समन्वय करते हुए अपनी कहानियाँ लिखी। जी० पी० श्रीवास्तव इस युग के हास्य रस के प्रमुख कहानी-लेखक है, जिनमे यद्यपि हास्य का विशेष सयत और शिष्ट रूप तो प्रदर्शित नही हुआ हे फिर भी उनका कहानी-विकास मे यथोचित योगदान तो स्वीकार करना ही पडेगा।

७५ प्रेमचन्द और प्रसाद-युग की समाप्ति के पश्चात् हिन्दी के कथा-साहित्य मे अनेक प्रकार की नवीन प्रवृत्तियो का उन्मेष हुआ। उस समय देश के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण मे अनेक प्रकार के परिवर्तन आने लगे थे, अत उनका इतर साहित्यागो की भाँति हिन्दी की कहानियो पर भी प्रभाव पडा। यह समय हिन्दी के काव्य-क्षेत्र मे प्रगतिवाद और कथा-साहित्य मे मनोविश्लेषणवाद की प्रवृत्तियो के सयोजन का था, अत. कहानीकारो ने भी अपनी रचनाओ मे उनका प्रयोग करते हुए कथा-साहित्य की वृद्धि मे योग दिया। इस युग की कहानियो मे समाजवाद, यथार्थवाद, मनोविश्लेषणवाद तथा यौनवाद के अनेक दृष्टिकोण मिलते है, जिनमे लेखको ने अपनी व्यक्तिगत कुठाओ का विस्फोट अत्यत मुक्तवादी पद्धति से किया है। इस युग के कहानी-लेखक साधारणतया वे ही व्यक्ति है, जिन्होने प्रेमचन्दोत्तर-काल मे साहित्य को नवीन दृष्टि प्रदान करने की चेष्टा की है। कहा जा सकता है कि यदि जैनेन्द्रकुमार ने मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक भावनाओ का सयोजन करते हुए अनेक यथार्थवादी कहानियाँ लिखी, तो यशपाल ने समाजवादी यथार्थवाद का आधार लेकर अपना रचना-कौशल प्रदर्शित किया। पहाडीजी की कहानियो मे हमे प्रेम-वासना का नग्न चित्रण तथा फ्रायडवादी विचारधारा का अधिक प्रभाव मिलता है। इसी प्रकार श्री अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, मोहनलाल महतो 'वियोगी', कमलाकात वर्मा, चन्द्रगुप्त विद्यालकार, कमला देवी चौधरी, उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवतीचरण वर्मा, राधाकृष्ण, अमृतलाल नागर, उषादेवी मित्रा और राहुल साकृत्यायन आदि ने विविध दृष्टिकोणो से कहानी-साहित्य की संवर्धना में योग दिया। शिकारी जीवन को लेकर कहानी रचना करने वाले व्यक्तियो मे श्रीराम शर्मा प्रधान हैं। हिन्दी कथा-साहित्य के अध्येताओ ने उसके उद्भव और विकास के सम्बन्ध मे पर्याप्त विश्लेषण कर दिया है अतः उनका पिष्टपेषण करना अनुचित समझ कर हम इस विषय मे केवल उतने ही सामान्य सकेत करेंगे जिनका हमारे समालोचना-साहित्य के विकास से मुख्य सम्बन्ध रहा है।

७६ प्रेमचन्दजी के उत्तरवर्त्ती कहानीकारो मे श्री जैनेन्द्रकुमार प्रमुख है। वे अब तक प्रायः दो सौ से अधिक कहानियाँ लिख चुके हैं जिनके सकलन 'फाँसी', 'दो चिडियाँ', 'परख', 'स्पर्द्धा', 'एक रात', 'वातायन', 'नीलम देश की राजकन्या' तथा 'ध्रुव-यात्रा' शीर्षक पुस्तको के रूप मे प्रकाशित हो चुके है। वैसे तो जैनेन्द्रजी सन् १९२८ के आस-पास से कहानी-रचना करते रहे है किन्तु उनकी कहानियो मे सन् १९३२ से नवीन प्रवृत्तियो का उन्मेष होता गया है। उनकी कहानियो मे पौराणिक (नारद का अर्घ्य, देवी देवता, भद्राबाहु, गुरु कात्यायन आदि), ऐतिहासिक (जय-सधि, राजकन्या, युवराज, साधु आदि), काल्पनिक (रानी महामाया, हवामहल, नील देश की

राजकन्या, लाल सरोवर, आदि) तथा जन्तु-विज्ञान-विषयक (एक गौ, चिडिया की बच्ची, वह बिचारा साँप आदि) कहानियो के साथ-साथ 'मास्टरजी', 'ग्रामोफोन का रिकार्ड', 'एक रात', 'अपना पराया', 'एक कैदी' तथा 'पाजेब' जैसी मनोवैज्ञानिक कहानियो का समावेश है, जिनमे जैनेन्द्रजी ने मनोवैज्ञानिक धरातल पर अपना कला-विधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उन्ही के समकालीन कहानी-लेखको मे श्री अज्ञेय भी आते है, जिनके तीन कहानी-सग्रह 'त्रिपथगा', 'परम्परा' तथा 'कोठरी की बात' का उल्लेख उनके उपन्यास-विश्लेषण के अन्तर्गत हो चुका है। अज्ञेयजी की अब तक प्राय पचास कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी है, जिनमे मनोवैज्ञानिक दृष्टि का प्राधान्य है। उनकी कहानियो का एक पक्ष सामाजिक तथा राजनीतिक क्रान्ति से भी सम्बन्धित है जिनकी रचना उन्होने अपने कारावास-जीवन मे की है। अज्ञेयजी की सामाजिक कहानियो के अन्तर्गत 'हर्रसिगार', 'सभ्यता का एक दिन', 'शरणदाता', 'बदला', 'रोज', 'दु ख की तितलियाँ', 'एकाकी तारा' तथा 'पहाडी जीवन' प्रमुख है, तो राजनीतिक क्रान्ति तथा बन्दी जीवन की कहानियो मे 'विपथगा', 'कडियाँ', 'छाया', 'द्रोही', 'मिलन' तथा 'पैगोडा वृक्ष' नामक कहानियो की प्रधानता है। उन्होने 'हीलीबोन की बत्तखे', 'पुरुष का भाग्य' तथा 'गृहत्याग' जैसी चरित्र-प्रधान कहानियाँ भी लिखी है तथा 'कोठरी की बात', 'पुलिस की सीटी', 'नबर दस', 'पठार का धीरज', 'प्रतिध्वनियाँ' तथा 'जिज्ञासा' जैसी विचार-प्रधान कहानियो की रचना भी की है। इनकी कहानियो मे इनके उपन्यासो की भाँति ही अपना टेकनिक और रचना-विधान है, जिसके कारण वे प्रेमचन्दोत्तर कहानी-साहित्य के भी प्रमुख स्तम्भ माने जाते है। अज्ञेयजी के अतिरिक्त इलाचन्द्र जोशी ने भी हिन्दी कहानी-साहित्य की वृद्धि मे योग दिया है, किन्तु उनका उपन्यास-लेखन उससे अधिक समृद्ध है। मोपासाँ की कहानियो के हिन्दी-अनुवादो के अतिरिक्त जोशीजी के 'दिवाली और होली', 'धूपलता' तथा 'ऐतिहासिक कथाएँ' शीर्षक सग्रह प्रकाशित हो चुके है। उनकी कहानियो मे 'मेरी डायरी के दो नीरस पृष्ठ', 'मिस्त्री', 'रक्षित धन' विशेष प्रसिद्ध है। उनकी कहानियो मे व्यक्ति और समाज के ह्रासोन्मुख जीवन का विश्लेषण तथा मध्यवर्गीय समाज का कुण्ठित चित्रण मुख्य रूप से वर्णित हुआ है। एक प्रकार से उनकी कहानियाँ भी उनके उपन्यास-साहित्य मे प्रतिपादित विचारधारा के अत्यन्त निकट है।

७७ समाजशास्त्रीय यथार्थवाद को लेकर कहानी-रचना करने वालो मे श्री यशपालजी का प्रमुख स्थान है। वे अब तक प्राय डेढ सौ कहानियाँ लिख चुके हैं, जिनके सग्रह 'पिजडे की उडान', ज्ञानदान', 'चक्कर क्लब', 'तर्क का तूफान', 'अभिशप्त', 'भस्मावृत चिनगारियाँ', 'फूलो का कुर्ता, तथा 'धर्म-युद्ध' नाम से 'विप्लव कार्यालय, लखनऊ, द्वारा प्रकाशित किये गये है। उनकी कहानियो मे भी वैसे तो ऐतिहासिक, धार्मिक, पौराणिक, प्रतीकात्मक, हास्य तथा व्यग्यपूर्ण कहानियाँ भी आती है, किन्तु उनका प्रमुख दृष्टिकोण सामाजिक ही है। उनका सामाजिक विधान वस्तुत मार्क्सवादी परम्परा के अनुरूप हुआ है, जिसमे उन्होने वर्ग-सघर्ष तथा समाज की आर्थिक विषमता को लेकर अपना कला-चातुर्य प्रदर्शित किया है। उनकी इस प्रकार की कहानियो से भी स्पष्ट झलकता है कि यशपालजी को पुरातन परम्परा और रूढिग्रस्त सस्कृति मे कोई विश्वास नही है और वे समाज की वर्तमान व्यवस्था मे आमूलचूल परिवर्तन चाहते है। अपनी इस प्रकार की विचारधारा का अभिव्यजन उन्होने कहानियो की घटनाओ, पात्रो तथा उनके कथोपकथनो द्वारा किया है। वस्तुत इस प्रकार की प्रगतिवादी दृष्टि लेकर कहानी लिखने वालो मे वे प्रमुख है, जिनका प्रभाव इस युग के अन्य लेखको पर भी पडा है। वर्तमान कहानी-साहित्य के विकास मे योग देने वाले जिन अन्य कथाकारो की ओर पहले सकेत किया गया है उनके विषय मे अधिक लिखने का अवसर न होने से हम इतना ही कहना पर्याप्त समझते है कि प्रेमचन्दजी तथा उनके अनुयायी कहानी-लेखको ने जिस प्रकार की परम्परा का उद्घाटन किया था, उसका एक अश उनके

उत्तरवर्ती कथाकारो द्वारा विशेष रूप से पुष्ट तथा परिवर्द्धित किया गया। इस युग के कहानी-लेखको मे यदि एक ओर वे व्यक्ति थे जो केवल मनोविश्लेषणवाद तथा प्रगतिवाद को प्रमुख आधार बनाकर चलते रहे, तो दूसरी ओर लेखको की एक ऐसी श्रेणी भी थी जिसमे जीवन के अतरतम रहस्य को विशेष आत्मीयता और सहानुभूति के साथ चित्रित करते हुए कथा-साहित्य को भी नवीन उपलब्धि प्रदान की। सुश्री महादेवी वर्मा ने 'अतीत के चल चित्र' और 'शृ खला की कड़ियाँ' की रचना कर कथा-साहित्य मे अभिनव शैली का स्वरूप-विधान किया है जिनमे समाज के उस वर्ग के जीवन का ऐसा यथातथ्य चित्रण मिलता है जो अपनी दुर्बलताओ मे भी महान है। महादेवी जी के अतिरिक्त छायावाद के अन्य कवियो ने भी कथा-साहित्य के विकास मे सहयोग दिया है। इस नवीन युग के अन्य लेखको मे श्री चन्द्रगुप्त विद्यालकार, भगवतीचरण वर्मा आदि भी आते है। महिला कहानी-लेखको द्वारा हमारे सामाजिक और पारिवारिक जीवन की अनेक समस्याओ के उद्घाटन का भी प्रयत्न किया गया है। सच पूछा जाय तो रचनात्मक साहित्य का एक प्रमुख अग आज का कथा-साहित्य है जिसके एक छोर पर इंशाअल्लाखाँ, अपनी मन की मौज मे 'रानी केतकी की कहानी' लिखते हुए दृष्टिगोचर होते है तो दूसरे छोर पर हमारे वे यथार्थवादी कहानीकार है जिनके मध्य प्रेमचन्द और प्रसाद के रूप में हिन्दी कथा-साहित्य अपना स्वर्ण-युग देख चुका है। कहानी-साहित्य की लोकप्रियता का इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है कि उसने हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ के साथ-साथ 'माया', 'नई कहानियाँ', 'मनोहर कहानियाँ', 'रसीली कहानियाँ' और 'मनोरमा' जैसे एकमात्र कहानी-साहित्य को लेकर ही चलने वाली पत्र-पत्रिकाओ का प्रकाशन हो रहा है। हाँ, यह बात अवश्य है कि इन पत्रिकाओ द्वारा कथा-साहित्य के स्तर को उच्चतर बनाने की अब भी परम आवश्यकता है।

७८. पूर्वोक्त परिच्छेदो मे आधुनिक युग-चेतना की पृष्ठभूमि मे रचनात्मक साहित्य के जिन प्रधान पक्षो का क्रमबद्ध विवेचन किया गया, वे वर्तमान हिन्दी-समालोचना को विकास प्रदान करने के प्रमुख आधार है। इनके अतिरिक्त निबन्ध, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, सस्मरण, जीवनी-साहित्य तथा रेडियो-रूपक आदि के रूप मे भी साहित्य का विकास हुआ है, जिनकी प्रवृत्तियो ने यत्किंचित् रूप मे आधुनिक समीक्षा की प्रगति मे योगदान दिया है। साहित्य की इन्ही रचनात्मक प्रवृत्तियो को दृष्टिगत रखकर हम प्रस्तुत प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय मे समालोचना-साहित्य का काल-विभाजन करते हुए उन्हे विभिन्न युगो मे विवेचित क ने की चेष्टा करेगे। यहाँ तो प्रस्तुत विवेचन का मूल उद्देश्य केवल यही निरूपित करने का था कि आधुनिक हिन्दी साहित्य का रचना-कोष इतना अधिक सम्पन्न और वैभवपूर्ण है कि उसको उपजीव्य बनाकर समालोचना-साहित्य अधिकाधिक प्रौढ और प्रसारपूर्ण बनाया जा सकता है। साहित्य के मीमासको ने नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, काव्य, एकाकी, महाकाव्य, खडकाव्य और समालोचना के उद्भव और विकास का क्रमबद्ध विवेचन करने के साथ-साथ प्राचीन, मध्यकालीन और नवीन साहित्यकारो तथा उनकी कृतियो का विशिष्ट तथा सामान्य दृष्टि से जो समीक्षण किया है, वह हमारे रचनात्मक साहित्य का ही प्रतिफल है। साथ ही साथ भारतीय और पाश्चात्य साहित्य की विधाओ द्वारा भी आधुनिक युग-चेतना में विकसित होने वाली रचनाओ के प्रस्फुरण मे यथेष्ट प्रेरणा मिली है। निष्कर्ष यह है कि आधुनिक युग अपनी सवेदनाओ और विचारणाओ मे निश्चय ही अपने पूर्वयुगीन स्तर से व्यापक और प्रसार-पूर्ण है जिसके कारण साहित्य-समीक्षा की प्रगति मे यथेष्ट सहयोग मिला है।

तृतीय अध्याय

आधुनिक हिन्दी-समालोचना के स्रोत

१ द्वितीय अध्याय में आधुनिक युग-चेतना के सामान्य विश्लेषण द्वारा इस विषय का निरूपण करने की चेष्टा की गई है कि किन-किन परिस्थितियो के कारण हमारे देश मे नवीन उत्क्रान्तियाँ हुईं, जिनका प्रभाव हिन्दी-प्रदेश और उसके साहित्य पर भी पडा । उक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि आधुनिक युग मे हमारी जीवन-दृष्टि प्राचीन परम्पराओ को छोडकर नवीनता के आकर्षक आलोक से चमत्कृत होने लगी थी, जिसकी प्रतिक्रिया साहित्य-क्षेत्र मे भी होनी स्वाभाविक थी । देश की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियो के समानान्तर चलने वाले सास्कृतिक परिवेश ने भी नवीन ज्ञान-रश्मियो का स्वागत किया, जिससे हिन्दी का रचनात्मक साहित्य भी प्रभावित हुआ। स्पष्ट है कि ऐसा परिवर्तन हमारे समालोचना-साहित्य में भी कुछ-न-कुछ नूतन स्पन्दन उत्पन्न करता और वस्तुत हुआ भी ऐसा ही। युग की तर्कभित्ति और बौद्धिकता के कारण हिन्दी-साहित्य मे भी समालोचना के विकास के अनुकूल वातावरण बनने लगा, किन्तु वह सर्वथा नवीन उद्भावनाओ को लेकर ही चलने वाला न था । उसके मूल मे देश की साहित्यिक और सास्कृतिक विचारधारा का एक ऐसा अविरल स्रोत भी था, जिसके द्वारा उसकी पूर्व-पीठिका प्रस्तुत की गई और जो आधुनिक हिन्दी-समालोचना को भी अपने विकास की सामग्री प्रदान कर सका । प्रस्तुत अध्याय मे इसी विषय का विवेचन किया जायगा कि आधुनिक हिन्दी समालोचना की मूल पृष्ठभूमि क्या है और वे ऐसे कौन-कौन से स्रोत है, जिनसे प्रेरणा लेकर हमारा वर्तमान समालोचना साहित्य अपना स्वरूप-निर्माण और प्रसार प्राप्त कर सका ।

प्रमुख प्रेरणा-स्रोतों का परिचय

२. आधुनिक हिन्दी-समालोचना की पूर्व-पीठिका मे हमे साधारणतया तीन विकास स्रोत या प्रेरणा-केन्द्र दृष्टिगोचर होते है, जिन्हे हम प्राचीन सस्कृत साहित्य-शास्त्र, रीतिकालीन हिन्दी काव्य-शास्त्र तथा अग्रेजी के माध्यम से उपलब्ध पाश्चात्य साहित्यालोचन की श्रेणियो मे विभक्त कर सकते है । इसमे तो कोई सन्देह नही कि विश्व की समस्त भाषाओ मे प्राचीनतम भाषा देव-वाणी सस्कृत है, जिसके आदि-स्वरूप वैदिक साहित्य से ही हमे कालान्तर मे विकसित होने वाली ज्ञान-राशि के ज्वलत स्फुलिग मिलते हैं, अत उसके अन्तराल मे समीक्षा-तत्त्वो का अन्वेषण करना अनुसधाताओ के लिए कोई कठिन कार्य नही है । उसी की परम्परा से भाषाओ के विकास और परिवर्तन-नियमो के अनुसार हिन्दी भाषा का जिन-जिन परिस्थितियो मे, जैसा-जैसा विकास हुआ है, वह भी हमारी गवेषणा का कम आकर्षक विषय नही है । यह एक स्पष्ट बात है कि हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास प्रत्यक्षत सस्कृत से न होकर प्राकृत और अपभ्र श से हुआ है, किन्तु उसका आदि-स्रोत तो सस्कृत वाड्मय ही रहा है । अत. उसके साहित्य-विधान और स्वरूप-निर्माण पर उसका प्रभाव पडना सर्वथा स्वाभाविक है । सस्कृत साहित्य ने रिक्थ के रूप मे हिन्दी भाषा और साहित्य को जो प्रभूत ज्ञान-राशि प्रदान की है, वह एतद्विषयक की गई शोध-कार्यावली से सिद्ध है ।

प्रस्तुत प्रबन्ध मे हमारा उसके व्यापक विश्लेषण से कोई विशेष प्रयोजन नही है। हमे तो केवल इसी विषय की अभिज्ञता करनी है कि सस्कृत साहित्य ने अपनी क्रमागत परम्परा से हिन्दी साहित्य को उसके समीक्षा-क्षेत्र मे जो कुछ उपजीव्य निधि प्रदान की है, उसके मूल मे उसका किस प्रकार का वैशिष्ट्य अन्तर्निहित हे और एक क्रमबद्ध रूप मे उसका इतिहास किस प्रकार हमारे अनुशीलन को प्रगति प्रदान करने का कारण बना है। साथ ही साथ हमारे अध्ययन का यह भी एक विषय है कि सस्कृत-काव्य-शास्त्र द्वारा उद्भूत हिन्दी का रीतिकालीन काव्यशास्त्र भी अपने आकार-प्रकार और मान्यताओ मे उससे सामान्य अन्तर रखता हुआ भी हमारी आधुनिक समालोचना के विकास का एक प्रेरक स्रोत किन-किन पक्षो के आधार पर सिद्ध हुआ है।

३ जैसा कि पूर्व अध्याय मे इस विषय का स्पष्ट विवेचन कर दिया गया है कि आधुनिक युग-चेतना के निर्माण मे पश्चिमी साहित्य और यूरोपीय सम्पर्क का भी बहुत हाथ हे, अत उनका हमारे साहित्यालोचन पर प्रभाव न पडे, यह कदाचित् असम्भव-सा है। इससे मेरा यह अभिप्राय नही कि पश्चिमी जगत् और उसकी विचारधारा का यदि हमारे देश के आन्तरिक तथा बाह्य जीवन मे प्रवेश न होता तो हमारा सास्कृतिक और साहित्यिक जीवन विकसित हो ही नही सकता था, किन्तु मेरे कथन का यह आशय अवश्य है कि यदि पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा और जीवन-चेतना से हमारा परिचय अथवा सम्पर्क न होता तो वह विकास उतनी क्षिप्र गति से कदापि नही हो सकता था, जितनी त्वरा से इसके साहचर्यवश हुआ। इसका एक मूल कारण यह भी है कि पश्चिमी सम्यता और सस्कृति के आगमन के पूर्व हमारे देश मे एक प्रकार की सुषुप्ति और हीन-भावना का सचार हो गया था, जिसके प्रभाववश हमने अपनी अतीतकालीन गरिमा को विस्मृत कर अपने अस्तित्व को ही शकापूर्ण समझ लिया था। यूरोपीय जातियो के सम्पर्क से हमारी रक्त-शिराओ मे (उनके अनुकरण पर ही सही) एक नवीन धारा अप्रतिहत वेग से प्रवाहित हुई, जिसने हमारे जीवन के प्रतीक साहित्य को भी अनुप्राणित किया, और उसका प्रभाव हमारे समालोचना-साहित्य पर भी पडा। यही कारण है कि मैंने पाश्चात्य साहित्य-समालोचना को भी अपने प्रस्तुत विषय का विकास समझने की पूर्व पीठिका मे एक प्रमुख स्रोत माना है और यदि यह कह दिया जाय कि अन्यान्य विधाओ की भाँति हिन्दी समालोचना भी पश्चिमी साहित्यालोचन के अत्यधिक निकट रह कर विकसित हो रही है, तो इसमे किसी प्रकार की अत्युक्ति न होगी।

४. आधुनिक हिन्दी-समालोचना की पूर्व-पीठिका के रूप मे जिन तीन प्रमुख प्रेरणा-स्रोतो का उल्लेख किया गया है, वे ऐसे उद्गम द्वार है, जिनकी गगोत्री से निकल कर हमारी समालोचना-सुरसरि अनेक प्रकार की निम्नोन्नत तथा विषम परिस्थितियो और श्रेणियो से सघर्ष लेती हुई कही क्षीण और कही पुष्ट बनकर अपना विकास कर सकी है। यद्यपि उसमे काल-क्रम से और विचारधाराओ का भी सम्मिलन होता गया है, किन्तु प्रामुख्य इन तीनो का ही है। ऐसी परिस्थिति मे यह आवश्यक हो जाता है कि हम इन तीनों के स्वरूप-विकास के सामान्य विधान से परिचित हो, जिसके द्वारा हमे यह ज्ञात हो सके कि इनकी अपनी मूल चेतना क्या है और वह किस प्रकार हिन्दी समीक्षा-क्षेत्र को भी प्रभावित कर सकी है। कहने की आवश्यकता नही कि उक्त तीनो विकास-स्रोतो का एक ऐसा विशद और गम्भीर इतिहास है, जिसके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षो पर अनेक ग्रथो का प्रकाशन हो चुका है, किन्तु हम उनकी विशालता मे न जाकर उनसे केवल उन्ही रत्नकणों का चयन करेंगे, जिनका हमारे आधुनिक हिन्दी-समालोचना के विकास से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा है। इसके लिए उचित होगा कि पहले अलग-अलग खण्डो मे उनका सामान्य परिचय दे दिया जाय और तदनन्तर उनकी मुख्य विधाओ का साधारण समीक्षण कर इस विषय को बोधगम्य बनाने की चेष्टा की जाय कि उनके द्वारा हमारे आधुनिक हिन्दी समालोचना-साहित्य को किन-किन परिस्थितियो मे कैसा-कैसा आधार मिला है।

(१)

(क) संस्कृत काव्य-शास्त्र (विकास का आदि स्रोत) का विकास-विधान

५ सस्कृत साहित्य के समीक्षागत विकास को समझने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि राग और बोध हमारी जीवन-चेतना की दो ऐसी चिरन्तन प्रवृत्तियाँ है, जिनके मूल मे साहित्य और समालोचना के तत्त्व अन्तर्निहित रहते है। विश्व के महान् साहित्यो मे उनका उद्भावन एक अपेक्षित स्वरूप-विधान मे उपलब्ध होता है। भारतीय साहित्य तो ज्ञान-विज्ञान तथा तत्त्व-दर्शन के क्षेत्रो की भाँति साहित्य-समीक्षण की विधाओ मे भी विश्व का अग्रणी रहा है, जिसका मूर्तिमान निदर्शन हमारा वैदिक साहित्य है। यहाँ के मत्र-द्रष्टा ऋषियो ने एक ओर जहाँ प्रकृति के शक्तिशाली उपादानो की असीम विभुता से आक्रान्त तथा विमुग्ध होकर अपनी काव्य-प्रतिभा प्रदर्शित की थी, वहाँ दूसरी ओर वे समीक्षण-मेधा से भी समन्वित थे। इस सम्बन्ध मे वैदिक वाड्मय के अन्तर्गत ऐसी अनेक ऋचाएँ उपलब्ध होती है, जिनसे तत्कालीन ऋषि-मुनियो की समालोचक-चेतना का आभास मिलता है। वैदिक साहित्य के अनुसन्धानकर्ता विद्वानो ने उन ऋचाओ के आधार पर सप्रमाण सिद्ध किया है कि निश्चय ही वैदिक काल हृदय और बुद्धि की तत्त्व-योजना से सम्वलित था और उसके मन्त्र-द्रष्टा ऋषियो मे ऐसी अद्भुत प्रज्ञा थी, जिसके कारण वे गुणदोष-निरूपक विवेक से सम्पन्न हो सके। हाँ, यह बात अवश्य है कि उनमे समालोचना की जो अन्तर्भूत प्रवृत्ति थी, वह उतनी जागरूक और चेतन नहीं थी, जितनी उसके उत्तरवर्ती उपनिषद्-काल मे प्रस्फुटित हुई। शोधकर्ता मनीषियो ने कालान्तर मे विकसित होने वाली समालोचना के तत्त्व-बिन्दु इस युग के वाड्मय-कोष से अनुसन्धित किए है, और यह सिद्ध किया है कि भारतीय काव्य-शास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष का बीज उनके मूलवर्त्ती रूप मे सुगुफित है। वैदिक युग का परवर्ती लौकिक साहित्य आदिकवि महर्षि वाल्मीकि के जिस श्लोक[1] के आधार पर उनके उद्भावक स्वरूप का स्वप्रेरित प्रज्ञा से विश्लेषण कर सका है, उसे लेकर साहित्य-समीक्षको ने ध्वनि-सिद्धान्त का अनुसन्धान किया है और बतलाया है कि उसमे रस, वस्तु और अलकार मतवादो की तत्त्व-सन्निहिति अन्तर्भूत है। अभिप्राय यह है कि भारतीय साहित्य के मूल उत्स वैदिक साहित्य मे काव्य-सृजन के साथ-साथ समालोचना की प्रवृत्ति भी विद्यमान है और कोई भी अनुशीलक उसकी उपेक्षा कर भारतीय साहित्य-शास्त्र और समालोचना-विधान को समझ ही नही सकता। माना कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य के क्रोड मे जिस समालोचना-साहित्य का विकास हुआ है, उसने भारतीय सस्कृत साहित्य-शास्त्र के साथ-साथ अन्यान्य स्रोतो से भी अपनी विचार-सरणि निर्मित की है, किन्तु यह भी एक निर्भ्रान्त सत्य है कि उसकी शास्त्रीयता की मूल प्रेरणा हमारा वह पुरातन सस्कृत-साहित्य ही रहा है, जिसके स्वरूप-बोध के अभाव मे इसकी उपजीव्य निधि का ज्ञान किया ही नही जा सकता। अत उसके विशद विश्लेषण मे न जाकर भी उसकी सामान्य प्रवृत्तियो की साधारण अभिज्ञता उन साहित्य-जिज्ञासुओ के लिए अपरिहार्य बन जाती है जो आधुनिक हिन्दी-समालोचना के विकास का सर्वांगीण ज्ञान करने के अभिलाषी हैं।

संस्कृत के विभिन्न काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्त

६. सस्कृत साहित्य-परम्परा मे समालोचना के बीज-वपन के विषय मे अनेक प्रकार से विवेचन किया गया है। उसका प्रवल सत्य यही है कि यद्यपि अलकार-सम्प्रदाय को साहित्य-शास्त्र

१: मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगम शाश्वती समा।
यत् क्रौचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥
(वाल्मीकीय रामायण)

में अन्य मतवादो की अपेक्षा अर्वाचीनता प्रदान की गई है, किन्तु वास्तव मे उसकी प्राणसत्ता काव्य-क्षेत्र मे सर्वाधिक पुरातन है। वेदो के मन्त्रो और उनकी ऋचाओ मे भी उपमा, रूपक तथा यमक आदि अलकारो के ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है, जिनका उत्तरवर्ती समालोचको ने विश्लेषण किया है। भरत मुनि का नाट्यशास्त्र दृश्य काव्य अथवा रूपक-विवेचना की पार्श्व-भूमि मे जिन काव्य-सिद्धान्तो का विश्लेषण करता है, उनसे भी अलंकारो की सत्तागत प्राचीनता का आभास मिलता है। यह तो कहना कठिन है कि सर्वप्रथम किस विद्वान् ने साहित्य-शास्त्र का निरूपण किया, किन्तु यह भी एक व्यापक सत्य है कि उसकी क्रमबद्ध परम्परा भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र से ही उपलब्ध होती है। नाट्य-शास्त्र मूलत दृश्य-काव्य के अगोपागो तथा रस-निष्पत्ति के विभिन्न सम्प्रदायो की मूल उद्भावनाओ को लेकर रचित हुआ था, किन्तु उसमे साहित्य के अन्यान्य विभागो का भी यथावकाश विवेचन था। नाट्य-शास्त्र के अनेक सूत्रो को लेकर उत्तरवर्ती आचार्यों ने अनेक प्रकार की विचार-धाराओ का विस्तार किया, जिसका प्रमाण उनके द्वारा विरचित साहित्य है। कहा जा सकता है कि सस्कृत साहित्य-शास्त्र के इस विकासपूर्ण युग मे समालोचको की बौद्धिक प्रौढि ने काव्य-समीक्षण के क्षेत्र मे अनेक प्रकार के मत-मतान्तरो की भी सृष्टि की और उनके द्वारा रस, अलकार, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति तथा औचित्य आदि सम्प्रदायो को लेकर विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई। उन व्याख्याओ और निष्कर्षों के मूल मे आलोचना-प्रत्यालोचना के सैद्धान्तिक पक्ष की भी प्रबलता है, जिसने कालान्तर मे विभिन्न सैद्धान्तिक विचारधाराओ को जन्म दिया था। सस्कृत साहित्य-शास्त्र के आदि-भाग पर भरत मुनि अपने नाट्य-शास्त्र के साथ विराजमान है तो उसके अन्तिम भाग पर पडितराज जगन्नाथ सुशोभित है। इन दोनो आचार्यों के अतर्प्रदेश मे सस्कृत समालोचना ने अपना स्वरूप गठन और क्रमिक विकास प्राप्त किया है। ऐसी स्थिति मे सस्कृत मे समालोचना का ज्ञान इन दोनों आचार्यों के युगों को एक ही कालदड के दो छोर मान कर प्राप्त करना ही सर्वथा समीचीन है। इसमे कोई सन्देह नही कि इन दोनो आचार्यो की काल-सीमा मे काव्यशास्त्र का समुज्ज्वल पक्ष आलोकित हुआ, किन्तु उनमे सैद्धान्तिकता और खडन-मडन की प्रवृत्ति इतनी अधिक रही कि वे समालोचना को उसके उस समन्वयपूर्ण (सैद्धान्तिक और व्यावहारिक) स्वरूप में नही व्यजित कर सके जिस रूप मे उसे आधुनिक काल मे किया गया। अत यह कहना समीचीन है कि आधुनिक हिन्दी-समालोचना सस्कृत साहित्य-शास्त्र से यथोचित सामग्री ग्रहण करती हुई भी अपने वर्तमान रूप मे उसकी विधा से कुछ भिन्न शिल्पतत्र लेकर चली है जिनका स्वरूप-गठन पाश्चात्य प्रक्रिया और शैली के अधिक निकट है।

संस्कृत-समीक्षा के प्रमुख मानदंड और उनका स्वरूप-विकास—(अ) अलंकार-सिद्धान्त

७. सस्कृत काव्य-शास्त्र का एक प्रमुख अग उसका अलकार-सिद्धान्त है, जिसका विकास उसके साहित्य मे अत्यत लोकप्रिय परिपाटी मे हुआ है। इसका प्रारम्भिक रूप किसी वर्ग-विशेष की मान्यता के साथ सम्बद्ध न होकर केवल काव्य की अलकृति अथवा सौन्दर्य-साधना के सामान्य विधान के अन्तर्गत था, किन्तु कालक्रम से यह काव्य-परीक्षण का एक सम्प्रदायगत वाद बनकर उपस्थित हुआ। वेदो मे उपमा, यमक और रूपक आदि अलकारो का जो प्रयोग हुआ है वह उसके केवल सौन्दर्यमूलक स्वरूप का सूचक है, न कि किसी विशिष्ट श्रेणी की चेतना अथवा सम्प्रदाय-विशेष का। आगे चलकर काव्यमीमासाकार राजशेखर ने अलकार को वेदो का एक अतिरिक्त अर्थात् सप्तम अग माना[1] तथा व्याकरण और निरुक्त उसके सहयोगी निर्धारित किये गये। व्याकरण-शास्त्रियो ने अपने विश्लेषण के अन्तर्गत यथाप्रसग अलकारों का भी निरूपण किया है

१. उपकारकत्वादलंकारः सप्तममंगम् इति यायावरीय. (राजशेखर काव्यमीमांसा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १९५४, पृष्ठ ४)

और यास्क ने तो निरुक्त मे उपमा की व्याख्या और उसके भेद-प्रभेद भी गिनाये हैं,[१] जो मूलत. काव्यशास्त्र के नियमो पर निर्धारित न होने पर भी उनके भावी विकास के चिह्न अपने मे अन्तर्हित किये हुए है। पाणिनि के सूत्रो, कात्यायन के वार्तिको तथा पतजलि के भाष्य मे प्रयुक्त साम्यसूचक शब्दो मे सादृश्यमूलक अलकारो का अनुसन्धान करना सहज है। वैसे गार्ग्य आदि आचार्यों के विवेचन से भी अलकारो की स्वतन्त्र सत्ता का आभास मिलता है।

८ उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अलकारो की परम्परा साहित्य मे अन्य काव्य-सम्प्रदायो की अपेक्षा सब से प्राचीन है, किन्तु उसे वास्तविक स्वरूप भरत मुनि के पश्चात् ही प्राप्त हुआ है। भामह को अलकार-शास्त्र की स्वतत्र सत्ता स्थापित करने वाले आचार्यों मे प्रमुखता दी जा सकती है। उनका 'काव्यालकार' इस विषय का सर्वप्रथम प्रामाणिक ग्रन्थ है। उनके उपरान्त दण्डी, वामन और आनन्दवर्द्धन ने भी अलकारो का विवेचन किया, किन्तु उनके मुख्य सिद्धान्त क्रमश गुण, रीति और ध्वनि-विश्लेषण ही रहे। उन्होने अलकारो को केवल अपने प्रमुख सिद्धान्तो की पार्श्वभूमि मे ही ग्रहण किया। प्रारम्भ मे तो फिर भी काव्य-निरूपण के इन विभिन्न मानदडो मे अन्तर्मूलक साम्य था, किन्तु मम्मट से लेकर पडितराज जगन्नाथ तक रस और अलकार दो विरोध-मूलक सम्प्रदाय से बन गये, जिन्हे एक-दूसरे से हीन सिद्ध करने की चेष्टा भी कम नही की गई।

९. सस्कृत-साहित्य मे भरत मुनि का 'नाट्य-शास्त्र' ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमे प्रवर्त्तन युग के अलकारो का विधान व्यवस्थित रूप मे मिलता है। यद्यपि भरत मुनि के जीवन-काल के सम्बन्ध मे किसी एक ही मान्यता की उपलब्धि नही हुई है, फिर भी अधिकाश विद्वानो के मत से वे आज से प्राय दो सहस्र वर्ष पूर्व अवश्य विद्यमान थे। वैसे तो उनके 'नाट्य-शास्त्र' का प्रमुख विवेचन दृश्य-काव्य ही रहा, किन्तु उन्होने उसमे अलकारो का विश्लेषण भी किया है जिनमे उपमा, रूपक, यमक और दीपक प्रधान है।[२] इन अलकारो के उन्होने भेद-प्रभेद भी गिनाये है, किन्तु उनसे अलकारो का शास्त्रीय रूप प्रकट न होकर केवल दृश्य-विधान की अलकृति का सामान्य निर्देश ही मिलता है।[३]

१०. भरत-मुनि के पश्चात् सभवत और भी अनेक अलकारवादी आचार्य हुए हो, किन्तु अभी तक की शोधो के फलस्वरूप पाँचवी और छठी शताब्दी के मध्य मे विद्यमान काव्यालकारकार आचार्य भामह का विशेष महत्त्व है। 'काव्यालकार' का द्वितीय और तृतीय परिच्छेद अलकार-निर्णय से सम्बन्धित है। आचार्य भामह ने वक्रोक्ति को समस्त अलकारो का मूल माना है और उसके अभाव मे काव्य-सौन्दर्य को हीन तथा नीरस सिद्ध किया है।[४] कालान्तर मे 'वक्रोक्तिजीवितकार' ने सभवत भामह की वक्रोक्ति के आधार पर ही अपना 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' निर्धारित किया हो। भामह के समय मे शब्दालकार और अर्थालकार के अन्तर्गत अनेक प्रकार के भेद-प्रभेदो का विश्लेषण और विवेचन भी होने लगा था।

११ भामह के पश्चात् आचार्य दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' के द्वितीय परिच्छेद मे अलकारो का विवेचन किया है, किन्तु उसका मूल सिद्धान्त तो गुण तथा रीति को ही प्रमुख मान्यता देने से सम्बन्धित है।[५] उसके विवेचन मे पूर्ववर्त्ती आचार्यो की अलकार-विषयक अनेक धारणाओ का खडन-मडन भी विद्यमान है। उसके पश्चात् आठवी शताब्दी के लगभग हमे उद्भट का 'काव्यालकार सार सग्रह' नामक ग्रन्थ मिलता है, जिस पर प्रतिहारेन्दुराज ने 'लघुवृत्ति' नाम की प्रसिद्ध

१ तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति। इवेति भाषायांच। (यास्क निरुक्त १। ४)
२. उपमा रूपकं चैव, दीपकं यमकं तथा। अलकारस्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रया ॥ (भरत मुनि, नाट्यशास्त्रम्, १७।४३।)
३. वही, १७।४४-६२
४. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। यत्नोऽस्या कविना कार्यं कोऽलंकारोऽनया विना॥ (भामह : काव्यालंकार २।८५)
५. दण्डी : काव्यादर्श, २।२ ७५-९४ तथा ३६३।

टीका भी लिखी है। वस्तुत उद्भट का 'काव्यालकारसारसग्रह' अलकार-ग्रन्थ ही है, जिसके प्रायः सौ छन्दो मे अधिकाशत अलकारो का ही निरूपण हुआ है। उसके विवेचन पर आचार्य भामह की छाया भी विद्यमान है।

१२ उद्भट के समकालीन हमे आचार्य वामन का 'काव्यालकारसूत्र' नामक ग्रन्थ उपलब्ध होता है, जिसमे रीति को काव्य की आत्मा कहा गया है किन्तु 'काव्यग्राह्यमलकारात्'[१] की प्रतिपादना भी हुई है। दण्डी ने अलकार को 'काव्य शोभाकर'[२] धर्म माना था, किन्तु वामन अलकारो को काव्य की 'अतिशयता का हेतु' मानते है। उनकी यह कृति सूत्र-शैली मे लिखी गई एकमात्र काव्यशास्त्रीय रचना है, जिसमे सूत्रो का विभाजन अध्यायो मे और अध्यायो का विभाजन अधिकरणो मे हुआ है। वामन ने 'कविप्रिया' के नाम से इन सूत्रो की वृत्ति भी लिखी है जिसमे उदाहरणो का भी सघटन है। वामन के पश्चात् हमे रुद्रट का 'काव्यालकार' उपलब्ध होता है जिसमे आचार्य ने अलकार, गुण तथा रीति आदि विभिन्न काव्य-शास्त्रीय अगो की समीक्षा की है और अलकारो का तारतम्यमूलक वर्गीकरण भी किया है। इसी समय (नवम शताब्दी का प्रारम्भ) ध्वन्यालोक लेखक आनन्दवर्द्धनाचार्य काव्य-क्षेत्र मे नवीन क्रान्ति के सूत्रधार बनकर उपस्थित होते है, जिनका ध्वनि-सिद्धान्त काव्यशास्त्रीय दिशा मे एक अभिनव चमत्कार है। यद्यपि उन्होने ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप मे प्रतिष्ठित किया है, किन्तु वे अलकारो को भी रसाक्षिप्त और स्वाभाविक क्रम मे ध्वनि उपकारक भी मानते है।[३] यही समय अग्निपुराण के निर्माण का है, जिसके एकादश अध्यायो (३३७ से ३४७) मे काव्यशास्त्र का विवेचन है। इन अध्यायो मे क्रमश काव्यादि लक्षण, नाटक-निरूपण, शृगारादि रस-निरूपण, अभिनयादि-निरूपण, शब्दालकार, अर्थालकार, शब्दार्थालकार, काव्यगुण-विवेक और काव्य-दोष-दर्शन आदि का मुख्य रूप से वर्णन हुआ है। अग्निपुराण के अनुशीलन से अनुमान होता है कि यह एक प्रकार से सकलन-ग्रन्थ है, अत अन्यान्य विषयो की भाँति अलंकारो का विश्लेषण भी उसमे अधिक प्रौढता से नही हो सका है।[४]

१३ ईसा की दसवी शताब्दी के आसपास हमे कुतक या कुतल का 'वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रन्थ मिलता है, जिसका मूल प्रयोजन ध्वनि के विरोध मे वक्रोक्ति को काव्य का प्राण सिद्ध करना रहा है। विद्वान् आचार्य ने वक्रोक्ति को 'वैदग्ध्यभगीभणिति' कह कर उसे अलकार मात्र ही नही माना है, अपितु उसे काव्य की आत्मा भी स्वीकार किया है।[५] 'कुतक' का वाक्य-वक्रता-विवेचन इतने व्यापक विधान मे हुआ है कि उसके अन्तर्गत प्राय समस्त अलकार समाविष्ट हो गये है।[६] इसी समय ईसा की बारहवी शताब्दी के मध्य भाग मे हमे 'व्यक्तिविवेक' के लेखक महिमभट्ट ही एक ऐसे आचार्य मिलते हैं, जिन्होंने अपने ग्रन्थ में अलकार पर कुछ भी नही लिखा है। इसका प्रमुख कारण यही हो सकता है कि सभवत उन्होने व्यक्ति अर्थात् व्यंजना के विवेक अर्थात् आलोचना के लिए ही अपनी ग्रन्थ-रचना की हो, जिसका प्रमुख उद्देश्य ध्वनि-सिद्धान्त का खंडन करना होने के कारण वे अलंकारो की ओर अपेक्षित ध्यान न दे पाये हो। उनके अनन्तर तो धारा-नरेश भोज के 'सरस्वती-कंठाभरण' और क्षेमेन्द्र की 'औचित्य विचारचर्चा' मे भी अलकारो का अपेक्षित विवेचन है। हाँ, यह बात अवश्य है कि 'सरस्वतीकण्ठाभरण' मे अलकारो का जितना विशद विश्लेपण है, उतना 'औचित्य विचार चर्चा' में नही, क्योंकि 'सरस्वती कठाभरण' के लेखक का दृष्टिकोण किसी सिद्धान्त-

---

१. वामन : काव्यालकार सूत्र १।१।१।
२. दंडी : काव्यादर्श २।१॥
३. आनन्दवर्द्धन : ध्वन्यालोक २।१६।
४ एस० के० डे० : हिस्ट्री आफ सस्कृत पोयटिक्स, द्वितीय भाग, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २५४।
५. कुंतक वक्रोक्ति जीवित, १।१०।११।
६. वाक्यस्य वक्रभावोऽन्योभिद्यते यः सहस्रधा। यत्रालकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यनन्तर्भविष्यति। वक्रोक्तिजीवित १।२०।

विशेष का प्रतिपादन करना न होकर केवल रस और अलकारो का विवरण और सकलन उपस्थित करना ही रहा है, जबकि 'औचित्य-विचार-चर्चा' के आचार्य क्षेमेन्द्र औचित्य-सिद्धान्त को काव्य का प्राण सिद्ध करने के दृष्टिकोण से ही ग्रन्थ-रचना मे प्रवृत्त हुए है ।

१४ ईसा की बारहवी शताब्दी के आरम्भ मे हमे आचार्य मम्मट का 'काव्य-प्रकाश' नामक ग्रन्थ मिलता है । सस्कृत काव्यशास्त्र मे इस ग्रन्थ के समान कदाचित् ही किसी भी अन्य ग्रन्थ को सम्मान और प्रामाणिकता प्राप्त हुई हो । इस पर विभिन्न प्रदेशो मे विविध विद्वानो द्वारा टीकाएँ भी खूब लिखी गई । उसकी लोकप्रियता का एक कारण यह भी रहा कि इसके विद्वान् लेखक ने अपने पूर्व-प्रचलित काव्य-सिद्धान्तो का अत्यत विशद और गम्भीर अध्ययन करने के पश्चात् ही अपना मौलिक चिन्तन इस ग्रन्थ के रूप मे साहित्य-जगत् के सम्मुख उपस्थित किया था । इसमे अभिव्यक्त समन्वयवादी दृष्टिकोण की प्रशसा अनेक समवर्त्ती और परवर्त्ती आचार्यो ने की है । इसमे कुल दस उल्लास है जिनमे १४२ कारिकाएँ है और उनका विश्लेषण वृत्ति तथा उदाहरणो के द्वारा किया गया है । अन्यान्य आचार्यो की भाति मम्मट ने अपने प्रथम उल्लास मे ही 'तद्दोषौशब्दार्थौ सगुणावन-लकृती पुन क्वापि' लिखकर 'शब्दार्थौ काव्यम्' लक्षण की ही पुष्टि काव्य-लक्षण-विवेचन के रूप मे की है, किन्तु क्रमश उसकी मौलिकता भी अभिव्यक्त होती गई है । इसमे रस, दोष और गुण का विवेचन करने के पश्चात् काव्य-क्षेत्र मे अलकारो की स्थिति का समीक्षण किया गया है और इसका नवम तथा दशम उल्लास केवल उन्ही के विश्लेषण के लिए लिखा गया है । वस्तुत. मम्मट ने अल-कारो की काव्य-क्षेत्र मे 'अगवत्' स्थिति मानकर अपने जो निष्कर्ष निकाले है, वे अत्यत गम्भीर और उदार हे ।[1] ऐसी परिस्थिति मे 'काव्य-प्रकाश' को सस्कृत-साहित्य-शास्त्र का एक आदर्श ग्रन्थ कहा जा सकता है ।

१५ मम्मट के अतिरिक्त और भी अनेक आचार्यो ने अलकार-सिद्धान्त का समर्थन किया, जिनमे रुय्यक और जयदेव प्रमुख हैं । इनके ग्रन्थो के नाम क्रमश 'अलकार-सर्वस्व' और 'चन्द्रालोक' हे, जिनमे अलकारो की प्रधानता का उद्घोष किया गया है । जयदेव तो अलकार-विहीन रचना को किसी दशा भी मे काव्य भी स्वीकार करना शोभनीय नही समझते ।[2] इसी प्रकार विद्याधर की 'एकावली', वाग्भट्ट के 'काव्यानुशासन', केशव मिश्र के 'अलकारशेखर' और अप्पय-दीक्षित के 'कुवलयानन्द' नामक ग्रन्थो मे भी अलकारो का विवेचन हुआ है । इस विषय मे मम्मट के 'काव्यप्रकाश' की भाँति विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' और पण्डितराज जगन्नाथ के 'रसगगाधर' का महत्त्व बहुत अधिक है । वैसे तो 'साहित्यदर्पण,' का प्रेरक स्रोत मम्मट का 'काव्यप्रकाश' प्रतीत होता है, किन्तु विश्वनाथ ने जिस सुबोध शैली मे काव्य-लक्षण, वाक्य, रस, काव्यभेद, व्यजना, दृश्य-काव्य, दोष, गुण, रीति तथा अलकारो का विवेचन किया है, वह अत्यन्त सुबोध और वैज्ञानिक है। उसके दस परिच्छेदो मे अन्तिम परिच्छेद सबसे बडा है और वह केवल अलकारो को लेकर ही लिखा गया है । पण्डितराज का 'रसगगाधर' मुख्यत. रस-विवेचन से सम्बन्धित है । उसमे अलकारो का निरूपण अपूर्ण-सा प्रतीत होता है, जिसके वास्तविक कारण का कुछ निश्चित पता नही चलता। फिर भी 'रसगगाधर' अपनी पाडित्यपूर्ण प्रतिपादना और मौलिक मीमासा के कारण इस दिशा मे अन्तिम और श्रेष्ठ काव्य-शास्त्र है, जिसके आगे उसकी परम्परा कुठित सी हो जाती है । यही समस्त काव्य-शास्त्र की अलकारविषयक अपार साहित्य-निधि है, जिसके अनेक रत्न-कणो को अपना उपजीव्य बनाकर हिन्दी का रीति-काल और आधुनिक काल अपने काव्य-शास्त्र तथा समालोचना-साहित्य का विकास कर सका है ।

---

१. मम्मट काव्य-प्रकाश ८। ६७

२. अगीकरोति य' काव्यम् शब्दार्थावनलकृती। असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलकृती । जयदेव चन्द्रालोक १।८।

(आ) रस-सिद्धान्त

१६. रस-सिद्धान्त भारतीय काव्य-शास्त्र के प्राचीन सिद्धान्तो मे से एक है, जिसके आदि-प्रवर्त्तक का अनुसधान अभी तक निश्चित रूप मे नही हो सका। प्रचार और ग्राह्य दृष्टि से यह सिद्धान्त जितना अधिक विद्वद्सम्मत और लोकप्रिय हुआ, उतना अन्य कोई सिद्धान्त नही हो सका। तैत्तिरीय उपनिषद् मे तो 'रसो वै स' के द्वारा उसे जो आध्यात्मिक भूमिका प्रदान की गई है, वह अभूतपूर्व है। विश्व का कदाचित् ही कोई ऐसा साहित्य हो, जिसका समीक्षण और मूल्याकन इस सिद्धान्त के द्वारा न किया जा सके। आधुनिक विद्वानो ने इसका सम्बन्ध आधुनिक मनोविज्ञान के साथ जोडकर इसकी महत्ता को और अधिक बढा दिया है। निश्चय ही साहित्य-परीक्षण मे इसकी सत्ता सर्वोपरि है।

१७ साधारणतया नाट्य-शास्त्र के लेखक भरत मुनि ही इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठाता माने जाते है, किन्तु उनके विवेचन से यह स्पष्ट आभासित होता है कि उनके पूर्ववर्त्ती युग मे भी रस-सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त थी। राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमासा मे नन्दिकेश्वर को इस सिद्धान्त का आदि आचार्य माना है,[1] किन्तु अभी तक उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही हो सका है। कुछ विद्वानो ने नन्दिकेश्वर से अभिप्राय भगवान शकर से भी लिया है, पर हमे यहा इस ऊहापोह मे पडने से कोई प्रयोजन नही। जब तक किसी अन्य महत्त्वपूर्ण शोध द्वारा कोई नवीन उपलब्धि न हो, तब तक भरत मुनि को ही इस सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक नही तो कम-से-कम आदि-व्यवस्थापक समझना चाहिए। वैसे तो भरत मुनि ने रस-सिद्धान्त पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नही लिखा, किन्तु उनके नाट्य-शास्त्र मे अन्यान्य विषयो के साथ रस-समीक्षण भी व्यापक दृष्टि से हुआ है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र के प्रसग मे रस-विवेचना की है, अत उनके रस-निरूपण को 'नाट्य रस' की अभिधा भी दी जाती है। कालान्तर मे इसे आचार्यों ने श्रव्य-काव्य-विवेचन में भी समाविष्ट कर लिया था। इस प्रकार रसोन्मेष समस्त प्रकार के काव्य-साहित्य का चरम लक्ष्य सिद्ध हुआ। भरत मुनि ने 'विभानुभाव, व्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति' सूत्र में रस के स्वरूप की जो उद्भावना की थी, उसे मूल आधार बनाकर अनेक परवर्त्ती आचार्यों ने उसका भाष्य भी किया। उनके भाष्य मे 'सयोग' और 'निष्पत्ति' शब्द पारस्परिक विरोध के मूल कारण बने। इन आचार्यों मे भट्ट लोल्लट, शकुक, भट्ट नायक और अभिनवगुप्त प्रधान है, जिनके रस-निष्पत्ति विषयक सिद्धान्त क्रमश उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद और अभिव्यक्तिवाद कहलाते है। इन सब के विवेचन का अपना-अपना दार्शनिक पक्ष और आधार भी है, जिनको लेकर परवर्त्ती काल के आचार्यों में भी पर्याप्त वाद-विवाद हुए है। आचार्य लोल्लट और शकुक की अपेक्षा भट्टनायक और अभिनवगुप्त के वादो का अधिक सम्मान और प्रभाव है। इन्ही दोनो के वादो का सम्बन्ध साधारणीकरण और मधुमती भूमिका से भी है। हिन्दी के आधुनिक आचार्यों ने भी इन वादो के आधार पर अपना सैद्धान्तिक समीक्षण प्रस्तुत किया है जिनमे प० रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास, प० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र और बाबू गुलाबराय आदि प्रधान हैं।

१८. रस-सिद्धान्त साहित्य-परीक्षण के अन्य मानदण्डों की उपेक्षा सबसे अधिक वैज्ञानिक और उदात्त है। इसमे भावो को हमारी मूल प्रवृत्ति सिद्ध कर उनका काव्य के साथ जो सम्बन्ध निर्दिष्ट किया गया है, वह केवल सैद्धान्तिक न होकर हमारे जीवन से भी सम्बन्धित है। इसके विवेचको ने भाव, विभाव, अनुभाव और सचारी भावो की श्रेणी में न जाने हमारे मानस-पटल के कितने

---

१. 'रसाधिकारिक नन्दिकेश्वरः' राजशेखरः काव्यमीमांसा। पृष्ठ ४, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना द्वारा प्रकाशित, १९५४।

अन्तर्भेदी रहस्यो का उद्घाटन किया है। इसी सिद्धान्त के द्वारा काव्य को ब्रह्मानन्द सहोदरत्व का सम्मान मिला है। सस्कृत के प्राय समस्त आचार्यों ने रस-सिद्धान्त की महत्ता स्वीकार की है। ध्वनिवादी आचार्यों ने जिस रस-ध्वनि को सर्वाधिक प्राधान्य दिया है, वह एक प्रकार से रस-सिद्धान्त का ही समर्थन है। भोजराज ने समस्त वाड्मय को स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति की श्रेणियो मे विभक्त कर रसोक्ति को सबसे अधिक गुरुता प्रदान की है। कविराज विश्वनाथ रसात्मक वाक्य को ही काव्य की सज्ञा देते है। अग्निपुराण मे भी शृ गार, वीर, करुण तथा रौद्र को मूल रस मानकर शृ गार-रस के सम्बन्ध मे नवीन मान्यता प्रदान की गई है[2] तथा रस का महत्त्व उच्चतम स्वरूप मे प्रतिपादित किया गया है।[3] भरत मुनि के 'नहि रसादृते कश्चिदर्थम् प्रवर्तते' के अनुसार तो रस ही काव्य का सर्वस्व है। इसी प्रकार पडितराज जगन्नाथ, काव्य प्रकाशकार मम्मट आदि अनेक आचार्य रस की अभ्यर्थना करते हुए दृष्टिगोचर होते है। रसो का इन आचार्यों द्वारा किया गया भेद-प्रभेद विश्लेषण भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। इसकी गुरुता का सम्यक् विश्लेषण अभी तक आधुनिक मनोविज्ञान पूर्णतया नही कर सका है। इसके उद्भावको मे भवभूति ने करुण रस, भोज ने शृ गार रस, नारायण पडित ने आश्चर्य (अद्भुत) रस, रूप गोस्वामी ने मधुर रस और अभिनवगुप्त ने शान्त रस को अपने-अपने दृष्टिकोण से मूल रस मानकर जो मीमासा की है, वह उनके मेधावी मस्तिष्क का चरम निदर्शन है। इसी प्रकार रुद्रट ने प्रेयान और विश्वनाथ ने वात्सल्य रस की अलग सत्ता मानकर नवरसो की सख्या मे वृद्धि की है, तो धनजय शान्त रस की नाट्य-साहित्य मे कोई सज्ञा नही मानते, जबकि अभिनवगुप्त के मतानुसार वह श्रव्य की भाति दृश्य मे भी गण्यमान स्थिति रखता है।

(इ) रीति-सिद्धान्त

१६. रीति-सम्प्रदाय भी सस्कृत काव्यशास्त्र का एक प्रमुख सिद्धान्त है। रीति का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ तो गमन-प्रणाली या शैली-पद्धति होता है, किन्तु काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त के रूप मे इसका जो विवेचन हुआ है, वह इस कोशगत अर्थ से भिन्न कोटि का है। वैसे तो अलकार, रस, ध्वनि और वक्रोक्ति सम्प्रदाय के आचार्यो ने भी अपनी मान्यताओ के अनुरूप रीति-सिद्धान्त का विवेचन किया है, किन्तु इसे स्वतत्र विधान प्रदान करने का सब से अधिक श्रेय आचार्य वामन को है। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा घोषित कर उसकी व्याख्या, 'विशिष्टपदरचना रीति, विशेषो गुणात्मा' के सूत्र-सयोजन द्वारा की। यही कारण है कि वामन का विवेचन इस विषय मे अन्य आचार्यों की अपेक्षा अधिक गभीर और व्यापक बन सका है, क्योकि उसमे रीति का समीक्षण आनुषगिक रूप से न होकर प्रधानता से हुआ है।

---

१ वंक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाडमयम्। सर्वासु ग्राहिणी तासु रसोक्ति प्रतिजानते। भोजराज सरस्वती-कठाभरण, अ० ५, श्लोक ८।

२. शृ गार रस के सम्बन्ध में अग्निपुराण की विशेष मान्यता इस प्रकार है—

अक्षर परम ब्रह्म सनातनमज विभुम्। वेदांतेषु वदत्येक चैतन्य ज्योतिरीश्वरम्॥
आनद सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन। व्यक्ति सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥
आद्यस्तस्य विकारो य सोऽहकार इति स्मृत। ततोऽभिमानस्तत्रेय समाप्त भुवनत्रयम्॥
अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी। व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृगार इति गीयते॥

—अग्निपुराण, अध्याय ३३९, श्लोक १-४।

३. वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्रजीवितम्। पृथक् प्रयत्न निर्वत्य वाग्विक्रमणि रसाद्वपुः॥

—अग्नि पुराण, अध्याय ३३७, श्लोक ३३।

२०. वामन ने रीति को 'विशिष्ट पद-रचना' कह कर उसका वैशिष्ट्य गुणो पर आधारित बतलाया है। उसने देश-काल का ध्यान रखकर रीति के प्रधान तीन भेद गिनाये है वैदर्भी, गौडीय और पाचाली।[1] वैदर्भी रीति की महत्ता सब से अधिक है और उसमे प्राय समस्त गुणो का समावेश रहता है। गौडीय रीति का सम्बन्ध ओज या कातिगुण से है, और उसमे सुकुमार के स्थान पर समास-बहुला और ओजपूर्ण पदो का प्रयोग होता है। पाचाली रीति सबसे अधिक मधुर और कोमल है। इन रीतियो का भिन्न-भिन्न भावो के अभिव्यजन मे अलग-अलग महत्त्व है। स्पष्ट है कि वामन ने विदर्भ, गौड और पाचाल देश मे प्रचलित परिपाटियो के साथ इन रीतियो का सम्बन्ध जोडकर अपना अभिमत वैदर्भी के पक्ष मे ही अधिक रखा है।

२१. रुद्रट ने रीति को काव्य की आत्मा तो नही माना, किन्तु समास-शैली को प्राधान्य देकर उसी के अनुसार रीति के भी भेदोपभेद किये। उसने उपर्युक्त तीनो रीतियो के साथ एक अन्य चौथी रीति 'लाटी' को भी जोड दिया। वैदर्भी और पाचाली को क्रमश समास-रहित तथा लघु समासवाली शैली कहकर उसने उसका सगठन शृगार, करुण तथा प्रेयस आदि रसो की सुकुमार और मधुर अभिव्यजनाओ के साथ किया, तो लाटी और गौडी मे मध्यम तथा दीर्घ समासवाली पदावलियो का सयोजन कर उन्हे वीर, रौद्र और भयानक रसों की व्यजना मे अधिक समर्थ माना। राजशेखर और भोज ने भी अपने रीति-विषयक निर्णय रुद्रट के निकट रहकर ही उससे मिलते-जुलते स्वरूप मे दिये है। अग्निपुराण मे भी ३४०वे अध्याय मे रीति-निरूपण मिलता है, जिसमे रीति की काव्य-शास्त्र मे महती उपयोगिता स्वीकार की गई है।[2]

२२ रीति-सम्प्रदाय के समीक्षण मे आचार्य कुतक ने नवीन क्रान्ति की। उन्हे यह बात सर्वथा अरुचिकर सी लगी कि देशो के अनुरूप रीतियो का विभाजन किया जाय। वे इस विषय मे वामन और रुद्रट से सहमत नही हुए और उन्होने "वक्रोक्तिजीवित" नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ मे रीति-विभाजन को नवीन आधार पर उपस्थित किया।[3] स्पष्ट है कि कुतक के वर्गीकरण का मूलाधार देश-विशेष न होकर कवि-स्वभाव है। उन्होने सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्गो के अन्तर्गत माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य गुणो की भी प्रतिष्ठा की है और उनका विभाजन सहज वृत्ति और अलकार-भावना पर ही अधिक आश्रित होकर चला है। उनके उत्तरवर्ती आचार्य आनन्दवर्द्धन और मम्मट आदि ने गुणो को रस के उपकारक धर्म-विधान मे ग्रहण कर रीति का सम्बन्ध औचित्य से जोडा है और वक्तृ, वाच्य, विषय और रस के औचित्य का निरूपण रीति के नियामक रूप मे किया है। मम्मट ने तो अपने 'काव्य-प्रकाश' मे वर्ण-सघटन को भी रीतियो का आधार माना है, किन्तु साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ इससे अधिक सहमत नही है। उन्होने जिन चार रीतियो का विवेचन किया है, उनके आधार वर्ण-सगठन के साथ-साथ गुण, समास और वृत्ति भी है।

२३. रीति-सिद्धान्त की जो चर्चा अभी तक की गई, उससे यह स्पष्ट होता है कि विविध आचार्यों ने अपनी-अपनी मान्यताओ के अनुरूप ही रीति का विवेचन किया है, किन्तु ऐसी कोई बात नही कि उनके विवेचन से किसी समन्वयपूर्ण तथ्य की अवतारणा न की जा सके।

---

१. वामन काव्यालकार सूत्रवृत्ति १, २, ६।

वागविद्यासप्रतिष्ठाने रीतिः साऽपिचतुर्विधा। पाचाली गौडदेशीया वैदर्भी लाटजा तथा॥ —अ. पु अ. ३४० ॥१॥

सम्प्रति तत्र ये मार्गा कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रस्य मध्यमश्चोभयात्मक॥ —कुतक. वक्रोक्तिजीवित:।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि रीति का सम्बन्ध काव्य-गठन और शैली से है, पर वह केवल यही है, परक ही न होकर काव्य के आभ्यतरिक गुणो से भी सम्बन्धित है। आचार्यो ने जिन देशो के आधार पर रीति का विवेचन किया है, उन्हे केवल देश-विशेष का ही वाचक न मानकर गुण, समास, पद-रचना तथा उक्ति-वैचित्र्य के सामान्य विधान मान लिये जाएँ तो वह किसी देश के साहित्य-समीक्षण का एक मानदड बन सकता है। वस्तुत आधुनिक समालोचना मे शैली के नाम पर मधुर, ललित, सुबोध, सरस, क्लिष्ट, व्यग और उदात्त की अभिधा मे जिन काव्य-प्रणालियो का प्रचलन है, वे हमारे प्राचीन सस्कृत काव्यशास्त्र के इस प्रमुख सिद्धान्त से ही सबद्ध कही जा सकती है। पश्चिमी देशो मे साहित्य-मीमासको द्वारा शैली का जो विश्लेषण किया गया है तथा अरस्तू, डेमीट्रियस और क्विटिलियन आदि के नाम पर जिन काव्य-शैलियो का प्रतिदान है, उनका साम्य सस्कृत साहित्य के रीति-सिद्धान्त के साथ अन्वेषित करना कोई कठिन कार्य नही है।

(ई) ध्वनि-सिद्धान्त

२४. वैसे तो ध्वनि-सिद्धान्त का अन्तर्सूत्र विद्वानो ने वैदिक साहित्य मे भी अन्वेषित किया है, किन्तु जिस आचार्य द्वारा उसे काव्य की आत्मा के रूप मे विशेष प्रश्रय दिया गया, वे आनन्दवर्द्धन है। उन्होने 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ मे अपने पूर्ववर्त्ती समस्त काव्यसिद्धान्तो का समाहार अपने ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत करने का प्रयास किया है।[1] इस सिद्धान्त के मूल मे व्याकरण का स्फोटवाद है, जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ फूटना या अभिव्यक्त होना है। वैसे तो 'स्फोट' शब्द को लेकर अनेक प्रकार से शास्त्रीय और दार्शनिक व्याख्या की गई है, किन्तु उनका निष्कर्ष यही है कि जिस शब्द का हमारे द्वारा उच्चारण किया जाता है, वही वस्तुत स्फोट को अभिव्यक्त करने का कार्य करता है। ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार वही काव्य सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है जिसमे वाच्य अर्थ की अन्तरात्मा से एक ऐसा रमणीय और व्यजनाप्रधान अर्थ निकले जिसमे वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार हो।[2] आनन्दवर्द्धन ने ऐसे अर्थ को 'प्रतीयमान' की सज्ञा दी है और उसका वाच्यार्थ से वैभिन्न्य स्पष्ट करने के लिए अपने 'ध्वन्यालोक' के प्रथम परिच्छेद मे जो चतुर्थ छन्द उद्धृत किया है उसका आशय यही है कि जिस प्रकार किसी सुन्दरी के शरीर मे लावण्य की चमक उसके अगो से भिन्न एक पृथक वस्तु होती है, उसी प्रकार काव्य मे भी उसके वाच्यार्थ से पृथक् एक ऐसा चमत्कारजन्य अर्थ रहता है जो अपनी प्रतीयमानता के कारण काव्य की आत्मा कहलाता है।[3] आनन्दवर्द्धन ने अपने इस सिद्धान्त-सस्थापन द्वारा निश्चय ही काव्य-शास्त्र मे एक क्रान्ति की है। यद्यपि उनके पूर्व भी काव्य-रसिक वाल्मीकि, कालिदास आदि कवियो के काव्य से आनन्दोपलब्धि करते थे, किन्तु उनका भावन ध्वनि-विधान से नही किया गया था। आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि की अन्तरात्मा मे प्रविष्ट होकर जो विश्लेषण किया, वह अत्यत मौलिक और तत्वपूर्ण है। उनके प्राय सौ वर्ष के अनन्तर अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की 'लोचन' नाम्नी टीका लिखकर इस सिद्धान्त को और अधिक पुष्ट बनाया। मम्मट के 'काव्यप्रकाश' मे भी इस सिद्धान्त का एक नूतन शैली मे पुनर्सस्थापन हुआ है, जिसके कारण उन्हे "ध्वनि-प्रस्थापन परमाचार्य' भी कहा जाता है। यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि जिस ध्वनि-सिद्धान्त को कालान्तर मे इतना

---

१. आनन्दवर्द्धन 'ध्वन्यालोक', प्रथम उद्योतकारिका १।

२. वही, प्रथम उद्योतकारिका ३, ४.

३. प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवागनासु ॥ ध्वन्यालोक १।४॥

अधिक महत्त्व दिया गया, उसका वर्णन अग्निपुराण मे शब्दालकार-प्रकरण मे श्रुति-अलकारो के भेदोपभेदो के अन्तर्गत ही किया गया है।[1]

२५ ध्वनि-सिद्धान्त अत्यन्त गभीर और व्यापक विषय है। उस पर अनेक आचार्यों ने अपनी मीमासाएँ प्रस्तुत की है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी ध्वनि को उत्तम काव्य का लक्षण मानते हुए उसका विश्लेषण किया है,[2] किन्तु उसे अन्तिम प्रौढि पडितराज जगन्नाथ के 'रसगगाधर' मे ही मिल सकी है। पडितराज जगन्नाथ तो इस सिद्धान्त से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होने ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्द्धन को 'आलकारिको की सरणि का व्यवस्थापक' होने का गौरव प्रदान किया। हाँ, कालान्तर मे इस सिद्धान्त का विरोध भी होने लगा। सर्वप्रथम मुकुल भट्ट ने अपनी 'अभिधावृत्तिमातृका' मे ध्वनि का समाहार लक्षणा के अन्तर्गत किया और उनके शिष्य प्रतिहारेन्दुराज ने उसे अलकार की श्रेणी मे सकेन्द्रित कर दिया। भट्टनायक ने तो ध्वनि-सिद्धान्त के खडन के लिए 'सहृदय-दर्पण' नामक ग्रन्थ की रचना की और महिम भट्ट ने भी उसी परम्परा का अनुसरण करते हुए अपना 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ लिखा। कहने का अभिप्राय यह है कि आनन्दवर्द्धन ने जिस भव्य भावन से ध्वनि सिद्धान्त की चिरतनता और सार्वभौमिकता सिद्ध की थी, उसका खडन करने मे भी परवर्त्ती आचार्यों ने कोई कसर नही रखी। इन सबका विशद विवरण हमे 'काव्य-प्रकाश' मे मिलता है, जिसके लेखक मम्मटाचार्य ने विरोधी पक्ष की युक्तियो का तर्कसगत खडन करते हुए इस सिद्धान्त की एक प्रकार से पुन सस्थापना सी की है।

२६. जिस ध्वनि-सिद्धान्त का ऊपर सामान्य परिचय दिया गया है, उसके सम्बन्ध मे यह जान लेना भी आवश्यक है कि वैसे तो आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि के ५१ प्रकार गिनाये थे, किन्तु उनमे प्रधानता रस-ध्वनि, अलकार-ध्वनि और वस्तुध्वनि की ही थी। रस-ध्वनि के अन्तर्गत उन्होने नव रसो के साथ-साथ भाव, भावाभास, भावोदय, भावसधि, भावशबलता तथा रसाभास को भी सम्मिलित कर दिया, जिसका एक-प्रयोजन ध्वनि-सिद्धान्त को एक विशेष प्रकार से व्यापकता प्रदान करने का ही था। वस्तुध्वनि मे उन्होने किसी तथ्यपूर्ण उक्तिमात्र की अभिव्यजना की गणना की, तो अलकार-ध्वनि मे अभिव्यक्त पदार्थ को केवल इतिवृत्तात्मकता मे ही महत्त्व न देकर उसकी कल्पना-प्रसूति मे अधिक सौन्दर्यपूर्ण सिद्ध किया। कहने की आवश्यकता नही कि ध्वनि के इन तीन प्रधान प्रकारो मे रस-ध्वनि का सबसे अधिक महत्त्व था और अन्य दोनो प्रकार की ध्वनियाँ एक प्रकार से उसके अन्तर्गत समाहित हो गई थी। ध्वनि-सिद्धान्त के विवेचन के अनुसार आचार्य ने काव्य के भी प्रमुख तीन भेद ध्वनिकाव्य, गुणीभूत काव्य और चित्रकाव्य किये। इनमे ध्वनि-काव्य को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया, क्योंकि उसमे वाच्य की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ का चमत्कार सबसे अधिक होता है। गुणीभूत काव्य मध्यम श्रेणी का काव्य समझा गया, क्योकि ऐसे काव्य मे व्यग तो रहता है, किन्तु वह वाच्य की अपेक्षा कम चमत्कारी होता है। चित्रकाव्य अधम काव्य है, क्योकि उसमे प्रतीयमान अर्थ के लिए कोई अवकाश नही रहता और वह केवल शब्दालंकार अर्थालकार के द्वारा ही काव्य मे चमत्कार व्यक्त करता है। इस ध्वनि-सिद्धान्त द्वारा यह उपलब्धि अवश्य हुई कि गुणों को काव्य का नित्य-धर्म मान लिया गया और अलकारो को

---

१ स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः।

(अ. पु. अ. ३४५।१४)

एषामेकतमस्यैव समाख्या ध्वनिरित्यतः। वही, अ० पु० ३४५।१६।

२. वाच्यातिशयिनि व्यग ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्।

—विश्वनाथः 'साहित्यदर्पण' ४।१।

उसका अनित्य धर्म, जिसका तात्पर्य हुआ कि काव्य मे अलकार-विधान होना आवश्यक नही है, किन्तु गुणो की सत्ता तो अपरिहार्य है। कहना होगा, इस सिद्धान्त के द्वारा काव्य के स्वरूप और तत्त्व-विधान मे भी समुचित सतुलन लाने का प्रशसनीय प्रयास भी उपलब्ध होता है।

(उ) वक्रोक्ति-सिद्धान्त

२७ वक्रोक्ति शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है, वक्र उक्ति या टेढी बात, किन्तु यहाँ केवल इसी अर्थ से हमारा प्रयोजन सिद्ध नही होता। जब हम वक्रोक्ति का काव्य-सिद्धान्त के रूप मे विवेचन करते है तो उसके मूल मे सस्कृत-साहित्य के इतिहास की एक ऐसी सुदीर्घ परम्परा मिलती है, जिसने इसका सम्बन्ध काव्य-स्वरूप-विवेचन के साथ जोडकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि काव्य मे केवल सीधी-सादी उक्ति से काम नही चलता, अपितु उसकी सुष्ठुता के लिए यह आवश्यक है कि उसमे इस प्रकार की उक्तियो का समावेश हो जो साधारण व्यक्तियो के कथन-प्रकार से भिन्न तथा अधिक चमत्कारपूर्ण हो। सस्कृत-साहित्य के प्राचीन ग्रन्थो मे भी वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग मिलता है जिससे उसकी भव्यता, सुन्दरता और कमनीयता का बोध हो जाता है। बाणभट्ट ने अपनी 'कादम्बरी' मे वक्रोक्ति शब्द का कई स्थलो पर प्रयोग किया है, जिसका आशय भी चमत्कारजन्य क्रीडालाप या परिहास-कथा के बहुत निकट है।[1]

२८ सस्कृत काव्य-शास्त्र मे आचार्य भामह ने सर्वप्रथम अपने 'काव्यालकार' नामक ग्रन्थ मे वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का पर्यायवाची शब्द मानकर उसका महत्त्व-निर्धारण किया था। वैसे तो उनका मूल विवेच्य विषय अलकार-शास्त्र था, किन्तु उन्होने अलकारो के मूल मे भी वक्रोक्ति की सत्ता स्वीकार की और जिन अलंकारो मे उन्हे वक्रोक्ति नही मिली, उन्हे उन्होने कोई मान्यता नही दी। उन्होने तो स्पष्ट लिखा है कि 'वाचा वक्रार्थ शब्दौक्तिरलकाराय कल्पते' अर्थात् वक्र अर्थ का कथन शब्दो के लिए 'अलंकार' का काम करता है। अभिनवगुप्त के अनुसार भी वक्रोक्ति शब्द और अभिधेय की ऐसा वक्रता है जो सामान्य लोक-व्यवहार से भिन्न होने के कारण काव्य-सौन्दर्य के विधान का कारण बनती है। आचार्य दडी ने समस्त वाड्मय को स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के दो प्रमुख भेदो मे विभक्त कर वक्रोक्ति मे 'अतिशय कथन' के तत्त्व माने है जिनके कारण उपमा, रसवत् तथा प्रेयस आदि अलकार भी वक्रोक्ति मे समाविष्ट हो जाते है। इसी प्रकार वामन के मतानुसार वक्रोक्ति साहश्य पर आधारित रहने वाली लक्षणा है, तो रुद्रट की मान्यता मे वह केवल शब्दालकार-मात्र है। अभिप्राय यह है कि सस्कृत-साहित्य के विभिन्न आचार्यो ने अपनी-अपनी आस्थाओ के अनुरूप वक्रोक्ति का विश्लेषण किया है, जिससे इतना तो सिद्ध ही हो जाता है कि वक्रोक्ति-विवेचन हमारे प्राचीन-काव्य-शास्त्र का एक प्रधान विषय रहा है।

२९. 'वक्रोक्ति' को एक विशिष्ट काव्य-सम्प्रदाय के रूप मे प्रतिष्ठित करने का वास्तविक श्रेय आचार्य कुतक या कुतल को है। उन्होने इसे केवल अलकार ही न मानकर काव्य की आत्मा माना है और इसी सिद्धान्त-सस्थापन के लिए अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' भी लिखा है। उन्होने वक्रोक्ति की शाब्दिक परिभाषा 'वैदग्ध्यभगीभणिति' कर उसका सम्बन्ध ऐसे कथन से जोडा है जो साधारण श्रेणी से भिन्न और अलौकिक विधान से युक्त हो।[2] उनका

---

१. वक्रोक्तिनिपुणेन अख्यायिकाख्यानपरिचयचतुरेण—(बाण कादम्बरी)

२. शब्दार्थौ सहितौवक्रकविव्यापारशालिनि। बधे व्यवस्थितौ काव्य तद्विदाह्लादकारिणि।

—कुंतक,-वक्रोक्तिजीवित १।७।

वक्रोक्ति को काव्य का सर्वस्व स्वीकार करने मे तो इतना अधिक आग्रह है कि उन्होने रस और ध्वनि को भी वक्रोक्ति के ही विशिष्ट प्रकार कह कर उसके अन्तर्गत उनका अध्यारोपण कर लिया है। निश्चय ही कुतक की मान्यता मे मौलिकता का समावेश है। उन्होने वर्णवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, पदोत्तरार्ध वक्रता, वाक्यवक्रता, प्रकरणवक्रता और प्रबन्ध-वक्रता नामक वक्रोक्ति के प्रमुख छ भेद गिनाकर उनका जो काव्यगत विश्लेषण किया है, वह अभूतपूर्व है। इसी प्रकार उनका उपचार-वक्रता, सवृत्ति-वक्रता और लिग-वैचित्र्य-वक्रता का विश्लेषण भी अत्यत गभीर है। उपचार-वक्रता के अन्तर्गत तो न जाने कितने ही ध्वनि-भेदो का समावेश कर आचार्य ने उसकी महत्ता सिद्ध की है। यह उनके विवेचन का ही प्रतिफल था कि कालान्तर मे ध्वनिवादी आचार्यों ने भी अपने विवेचन मे वक्रोक्ति का बार-बार उल्लेख किया। दु ख केवल इसी बात का रहा कि कुतक के पश्चात् हमे ऐसा कोई आचार्य नही मिलता जिसने वक्रोक्ति-सिद्धान्त को उनसे आगे बढाया हो। इसका कारण उत्तरवर्त्ती आचार्यों की कुतक की प्रतिभा के सम्मुख हतप्रभ मेधा कही जाय या रस और ध्वनि सिद्धान्त की लोकप्रियता, इसका निष्पक्ष निर्णय करना अत्यत कठिन है।

(ऊ) औचित्य-सिद्धान्त

३० 'औचित्य' अत्यत व्यापक शब्द है, जिसका क्षेत्र किसी साहित्य-सिद्धान्त तक ही सीमित नही किया जा सकता। वास्तव मे जीवन मे समन्वय और सन्तुलन बनाये रखने के लिए हमे पद-पद पर औचित्य की आवश्यकता रहती है। औचित्य के अभाव मे जीवन और साहित्य भारस्वरूप बन जाते है। हमारे प्राचीन साहित्य-शास्त्र मे भी इसकी महत्ता स्वीकार की गई है। भरत मुनि ने यद्यपि अपने नाट्य-शास्त्र मे सिद्धान्त के रूप मे तो औचित्य की प्रतिष्ठा नही की किन्तु उनके नाट्य-विवेचन से इतना अवश्य सिद्ध होता है कि वे नाट्य मे वस्तु, वेश, मुद्रा, भाषा और प्रकृति का पात्रगत विधान आवश्यक समझते थे और इनके अभाव मे नाट्य-दोष पाते थे।[1]

३१ आचार्य आनन्दवर्द्धन ने भी काव्य-विधान मे औचित्य को बडा महत्त्व दिया है। वे औचित्य के अभाव मे रस का परिपाक नही मानते और अनौचित्य को रसभग का कारण निर्दिष्ट करते है। उन्होने रसोन्मेष का रहस्य इसी बात मे माना है कि औचित्य के द्वारा काव्य मे किसी वस्तु का 'उपनिबन्ध' तथा कल्पना-विधान किया जाय।[2] अभिनवगुप्त ने भी औचित्य को काव्य की आत्मा ध्वनि के बहुत निकट रखा है और उन काश्मीरी आचार्यों की बडी निन्दा की है, जो ध्वनि और औचित्य का पारस्परिक सयोजन करके नही चलते। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों के काव्य-शास्त्रीय विवेचन मे औचित्य की सत्ता अर्न्तनिहित है जिसका साम्य यूनानी विचारक अरस्तू के 'प्रोप्रायटी' सिद्धान्त के साथ किया जा सकता है।[3] यह बात अवश्य है कि भारत मे औचित्य-विधान का जितना सूक्ष्म और व्यापक विवेचन हुआ है, उतना यूनान और अन्य पाश्चात्य देशो मे नही है।

३२ औचित्य को काव्य-सिद्धान्त के रूप मे प्रतिष्ठित करने का श्रेय अभिनवगुप्त के प्रमुख शिष्य आचार्य क्षेमेन्द्र को है। वैसे तो क्षेमेन्द्र ध्वनि-सिद्धान्त के समर्थक थे, किन्तु उन्हे ध्वनि-विधान केवल अपने औचित्य-परिवेश में ही अधिक आकर्षित कर सका था। यही कारण है

---

१. अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति। मेखलोरसि बधे च हास्यायैव प्रजायते।। —भरत मुनि. नाट्य-शास्त्र २३।६८

२. अनौचित्यादृतेनान्यद्रसभंगस्य कारणम्। प्रसिद्धौचित्यबधस्तु रसस्योपनिषत् परा।। —आनन्दवर्द्धन . ध्वन्यालोक

३. काव्यस्यालमलकारै किं मिथ्यागणितैर्गुणै। यस्यजीवितमौचित्य विचिन्त्यापि न दृश्यते।४।।
अलकारास्त्वलकारा गुणा एव गुणा: सदा। औचित्य रससिद्धस्य स्थिर काव्यस्य जीवितम।५।।
—क्षेमेन्द्र, औचित्यविचारचर्चा, चौखम्बा सस्कृत सीरीज बनारस, १६३३ः

उन्ही की समानुवर्त्ती फक्किकाए भी, जिनमे किसी विषय का तथ्यपरक विश्लेषण करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसी प्रकार वृत्ति, टिप्पणी, वार्त्तिक, भाष्य, वार्त्ता, वचनिका, व्याख्यान आदि विविध पद्धतियो मे भी साहित्य-शास्त्र का निरूपण हुआ हे। मेरे कथन का मुख्य आशय यह है कि सस्कृत-साहित्य के अन्तर्गत विवेचन का एक ऐसा वैज्ञानिक विधान मिलता हे जिसके आधार पर समीक्षण करने मे आचार्यों को बडी सुविधा रही है और वे कही पर भी अधिक आत्मपरक और भावुक बनकर विषय-विश्लेषण मे भ्रमग्रस्त नही हो सके हे। निश्चय ही उनमे बौद्धिकता का जो तर्कसगत निरूपण हुआ है, वह इस वैज्ञानिक व्यवस्था का अनुसरण करने के कारण ही सम्भव बन सका है।

३६ सस्कृत साहित्य की समालोचना अन्यान्य साहित्यागो की भाँति बहुत प्राचीन है। उसमे काव्य के अन्तरग और बहिरग पक्ष की मीमासा करने के तत्त्व अनुस्यूत है। रीति, वृत्ति, दोष और अलकार यदि मुख्यत काव्य के वाह्य पक्ष का विवेचन करते है तो रस, गुण, ध्वनि और औचित्य का सम्बन्ध उसके आभ्यतरिक विश्लेषण से है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र मे जिन रेटारिक, पोइटिक्स तथा एस्थेटिक्स का गुणगान सैद्धान्तिक पक्ष की चरम परिणति के अन्तर्गत किया जाता है, उनके सभी लक्षण हमारे पूर्व-विवेचित काव्य-सिद्धान्तो मे समाविष्ट है। यहाँ के आचार्यों ने कवि-शिक्षा के अन्तर्गत समालोचना के जिस सृजनशील दृष्टिकोण का विश्लेषण किया है, वह काव्यकारो के लिए सच्चा मार्ग-निर्देशक सिद्ध हुआ है। यहाँ के रस, ध्वनि और औचित्य सिद्धान्त विश्व-साहित्य-समीक्षा के उपजीव्य बन सकते है। अभिप्राय यह है कि संस्कृत साहित्य-शास्त्र किसी सकीर्ण परम्परा का सूचक नही, अपितु तात्त्विक विश्लेषण का सफल प्रयास है। यदि यहाँ के साहित्य-शास्त्री काव्य का युग-जीवन के साथ व्यावहारिक सम्बन्ध जोडकर कुछ विशेष उदात्त भूमि पर अधिष्ठित होकर चलते तो उनसे उन विचारको को भी कोई आपत्ति न होती जो आज भी यदा-कदा उस पर रूढिग्रस्तता और एकागिता का आरोप करते रहते है।

संस्कृत-समीक्षा का आधुनिक हिन्दी समालोचना पर प्रभाव

३७ आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे समालोचना पर सस्कृत काव्य-साहित्य का पर्याप्त प्रभाव है। उसके सैद्धान्तिक पक्ष का निर्माण बहुत-कुछ सस्कृत काव्यशास्त्रीय प्रतिमानो से हुआ है। समालोचना के प्रवर्त्तन-युग से लेकर अद्यतन युग तक जितने प्रमुख समालोचक हुए है, उन सब पर उसका न्यूनाधिक प्रभाव रहा ही है। भारतेन्दुजी ने अपने 'नाटक' शीर्षक निबन्ध के विवेचन मे सस्कृत के नाट्य-शास्त्र की अनेक मान्यताओ को लेकर उनका विश्लेषण किया था। रस-सिद्धान्त, अर्थ-प्रकृतियाँ, रूपक के भेद, कथाक्रम का विकास तथा अभिनय आदि के सम्बन्ध मे उन्होने सस्कृत साहित्य-शास्त्र से पर्याप्त सामग्री ली थी। उनके समकालीन अन्य समालोचकों ने भी सस्कृत-साहित्य शास्त्र की सैद्धान्तिक परम्परा को अल्पाधिक मात्रा मे अपनाया। प्रेमघनजी, बालकृष्ण भट्ट तथा बालमुकुन्द गुप्त ने भी अपनी समालोचनाओ मे सस्कृत-काव्य-शास्त्र के विधान का उल्लेख किया है, जिनका विवरण उनके साहित्यालोचन के प्रसंग मे किया जायेगा। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी पर भी संस्कृत कवि-शिक्षा तथा उसके साहित्य-परीक्षण के प्रतिमानो का पर्याप्त प्रभाव था, यद्यपि उन्होने केवल उनकी एकागिता तक ही अपने को सीमित नही रखा। 'रसज्ञ-रंजन' के निवन्ध इसके उदाहरण हैं। उन्ही के समकालीन बाबू श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' अपने सैद्धान्तिक निरूपण मे सस्कृत-साहित्य की समीक्षा-निधि से यथेष्ट सामग्री लेकर चला है। उनका 'रूपक-रहस्य' तो एकमात्र 'साहित्य-दर्पण' की छाया पर ही आधारित है। बख्शीजी ने भी अपने साहित्यिक निबन्धो मे संस्कृत-समीक्षा की झलक दी है। आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवानदीन, पं० केशवप्रसाद मिश्र, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी आदि

समालोचक सस्कृत साहित्य-शास्त्र से प्रभूत सामग्री लेकर चलते रहे है। हमारे समालोचको का एक वर्ग तो घूम-फिर कर इसी निर्णय की उपलब्धि कर रहा है कि यदि सस्कृत-साहित्य के काव्य-सिद्धान्तो को आधुनिक मनोविज्ञान और पश्चिमी साहित्य-शास्त्र के साथ सन्तुलित कर नवीन निर्माण की चेष्टा की जाय तो हमे ऐसे प्रतिमान प्राप्त हो सकते है जिनसे विश्व का किसी भी युग का साहित्य समालोचित हो सकता है। इस प्रकार सस्कृत साहित्य-शास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष के विविध अगो का आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव अन्वेषित करना कोई दु साध्य कार्य नही है। यह भी हमारी आधुनिक समालोचना की पूर्व-पीठिका और विकास-प्रेरणा है, जिसके विस्तार का विशद विवेचन प्रमुख समालोचको के मूल्याकन के अन्तर्गत किया जायगा।

३८ निष्कर्ष यह है कि भरत मुनि से लेकर पडितराज जगन्नाथ तक विकसित होने वाले जिस काव्य-शास्त्र की क्रमिक रूपरेखा विभिन्न काव्य-सम्प्रदायो का सामान्य परिचय देते हुए पूर्व-पृष्ठो मे अकित की गई है, उससे यह स्पष्ट है कि सस्कृत-साहित्य मे समालोचना शास्त्र का एक क्रमबद्ध इतिहास है, जिसका विकास युग-चेतना और बौद्धिक स्तर के अनुकूल होता रहा है। पडितराज का समय ईसा की सत्रहवी शताब्दी है, जिसमे हिन्दी-काव्य-शास्त्र की रीतिकालीन परम्परा का उन्मेष होने लगा था। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि इस शताब्दी से सस्कृत काव्य-शास्त्र का विकास तो अवरुद्ध हो गया, किन्तु उसके स्थान पर ब्रजभाषा के माध्यम से रीतिकालीन काव्य-शास्त्र का विकास क्रमश होने लगा। यद्यपि रीतिकालीन काव्य-शास्त्र के विकास का मूलाधार सस्कृत साहित्य ही था, फिर भी उसने अलंकार-विवेचन, छन्द-निरूपण और नायिका-भेद आदि विभिन्न साहित्यागो पर एक नवीन दृष्टि रखकर चलने की चेष्टा अवश्य की। उत्तरवर्त्ती पृष्ठो मे रीतिकालीन काव्य-शास्त्र का परिचय देकर इस विषय का विवेचन किया जायगा कि उसने आधुनिक हिन्दी समालोचना के विकास-क्रम मे किस प्रकार आधार-स्रोत का का कार्य किया है। यही कारण है कि पहले हम इसके सामान्य स्वरूप का विश्लेषण कर तदुपरान्त इस विषय का विवेचन करेगे कि इसने हमारे आधुनिक काव्य-शास्त्र को कहाँ तक प्रभावित किया है और ऐसे-ऐसे कौन-कौन से ग्रन्थ किन-किन प्रवृत्तियो को स्वीकार कर लिखे गये है जिनके स्वरूप-विधान मे इस युग की काव्यशास्त्रीय परम्परा का सम्मिश्रण है।

(२)

हिन्दी का रीतिकालीन काव्य-शास्त्र : विकास का द्वितीय स्रोत

रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय परम्परा का प्रारम्भ

३९ आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे समालोचना के विकास के आदि प्रेरणा-स्रोत के रूप मे जिस सस्कृत काव्य-शास्त्र का निरूपण पूर्व पृष्ठो मे किया गया, उससे स्पष्ट है कि भरत मुनि से लेकर पडितराज जगन्नाथ तक साहित्य-समीक्षण की यह परम्परा सामान्य-रूप से अपना क्रमिक विकास करती हुई चली आई है। इस परम्परा के अवसान-काल ही से हमारे रीतिकालीन काव्य-शास्त्र के विकास का युग प्रारम्भ होता है। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारो ने उत्तर मध्यकाल को ही 'रीतिकाल' का नाम देकर उसका काल-निर्धारण सवत् १७०० से सवत् १९०० विक्रमी तक किया है।[1] वैसे तो आचार्य कवि केशवदास को इस परम्परा के क्रमिक विकास के उद्भावक का श्रय दिया जाता है, किन्तु आचार्य शुक्ल ने केशव की 'कविप्रिया' की रचना के प्रायः पचास

१. पं. रामचन्द्र शुक्ल: हिन्दी-साहित्य का इतिहास, सशोधित और परिवर्द्धित नवा सस्करण, स० २००९ वि, पृष्ठ २३२।

वर्ष पश्चात् चितामणि त्रिपाठी द्वारा लिखे गये 'काव्य-विवेक, 'कविकुलकल्पतरु' तथा 'काव्य-प्रकाश' आदि ग्रन्थो से हिन्दी रीति-ग्रन्थो की अखड परम्परा स्वीकार की है।[1] इसमे कोई सन्देह नही कि चिन्तामणि की उक्त रचनाओ से यह काव्यशास्त्रीय परम्परा अजस्र धारा मे प्रवाहित हुई, किन्तु इससे यह नही कहा जा सकता कि आचार्य केशव की 'कविप्रिया' और चिन्तामणि त्रिपाठी की उपर्युक्त रचनाओ के अतर्वर्ती समय मे इसकी गति अवरुद्ध हो गई थी। सभव है, उन दोनो आचार्यो के मध्य प्राय पचास वर्षो के अन्तर्गत और भी अनेक रीतिशास्त्रीय ग्रथ लिखे गये हो, किन्तु उनके सम्बन्ध मे अभी तक विशेष रूप से शोध-कार्य न किया जा सका हो। इससे मेरा यह अभिप्राय नही कि आचार्य कवि केशव को ही इस परम्परा का वास्तविक प्रारम्भकर्ता माना जाय, किन्तु यह आशय अवश्य है कि केशव के समय से यह परम्परा निश्चय ही एक विकासमान गति अवश्य पा सकी थी। यो तो केशव के पूर्व भी सवत् १५६८ विक्रमी मे कृपाराम ने 'हिततरगिणी', चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने सवत् १६१६ विक्रमी मे 'शृगारसागर', नरहरि कवि के मित्र करनेस बदीजन ने 'करणाभरण', 'श्रुतिभूषण', 'भूपभूषण' आदि लक्षण-ग्रन्थ लिखे थे, किन्तु वास्तविक रूप मे केशव ने ही हिन्दी-काव्यशास्त्र की परम्परा का एक आदर्श भाषा-कवियो और आचार्यों के सम्मुख प्रस्तुत किया। कहने के लिये तो 'शिवसिह सरोज' के अनुसार सवत् ७७० के आस-पास पुड या पुष्य नामक एक ऐसे कवि हो गये है, जिन्होने हिन्दी भाषा मे सस्कृत के किसी अलकार-ग्रन्थ का अनुवाद किया था, किन्तु इस सम्बन्ध मे प्रामाणिक सामग्री की अनुपलब्धि वश हम 'शिवसिहसरोज' मे उल्लिखित धारणा को अधिक विश्वसनीय नही समझते। अत आचार्य कवि केशव से रीतिकालीन काव्य-शास्त्र की परम्परा का सुव्यवस्थित स्वरूप मानना सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है।

काव्यशास्त्र-विवेचन के आधार और उनके विभिन्न पक्ष

४०. यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है कि हिन्दी मे जिस रीतिकाव्य-शास्त्र का विकास हुआ है, उसका मूलाधार सस्कृत काव्य-शास्त्र ही है। सस्कृत मे अलंकार, रस, वक्रोक्ति, रीति तथा ध्वनि-सम्प्रदायो के विश्लेषको ने जिस रूप मे अपना सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत किया है, उसका रीतिकालीन आचार्यों पर भी यथेष्ट प्रभाव है। यो तो कहने के लिये हमारे साहित्य का यह उत्तर माध्यमिक काल रीति-काल कहा जाता है, किन्तु इसके काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो का निर्माण संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा मे विकसित होने वाले रीति-सम्प्रदाय के रूढिगत अर्थ[2] के अनुकूल नही हुआ है। वस्तुत इन आचार्यों के काव्य-शास्त्र को 'रीति' नाम से अभिहित करने का अभिप्राय केवल यही है कि इस युग मे काव्य-रचना तथा लक्षण-ग्रन्थो की एक विशेष प्रकार की परिपाटी चल पडी थी, जिसका अनुगमन प्राय सभी आचार्य कवियो ने किया। सच तो यह है कि रीतिकालीन काव्यशास्त्र मे जितना अधिक विवेचन अलंकार, रस और ध्वनि-सिद्धान्तो का हुआ, उतना रीति तथा वक्रोक्ति-सिद्धान्तों का नही। इस काल के प्राय समस्त आचार्यों ने उक्त सिद्धान्तों के अन्तर्गत आने वाले विषयो के लक्षण देकर अपने स्वरचित छन्दो द्वारा उनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इस प्रकार उनके विवेचन मे शास्त्रीय परम्परा का व्याख्यात्मक विश्लेषण तो नही हुआ है, किन्तु उदाहरण के रूप मे ऐसे अनेक सरस तथा अलकृत छन्दो का सृजन हो सका है, जो अपनी भाव-व्यजना और कलात्मकता मे अद्वितीय है। रस-सिद्धान्त के विवेचन के प्रसग मे इन आचार्य

१. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, सशोधित और परिवर्द्धित नया सस्करण सत् २००१ वि० पृष्ठ २३३।

२. विशिष्टापदरचना रीति 'रीतिरात्मा काव्यस्य' : काव्यालकार सूत्र १,२६ तथा १, २, ७.।

कवियो का विशेष ध्यान नायिका-भेद और शृगार रस की ओर ही गया था, तो अलकार-विश्लेषण मे वे अधिकाशत अलकारो के लक्षण और उदाहरण ही प्रस्तुत करते हुए चले थे। उनके काव्याग-लक्षणो और परिभाषाओ मे यद्यपि सूत्र-प्रणाली का परिपालन हुआ है, किन्तु वह सस्कृत काव्य-लक्षणो की भॉति तात्त्विक और गभीर नही है। उनमे कई स्थल तो ऐसे भी मिलते है, जहाँ लक्षणो और उदाहरणो मे विसगतियाँ भी कम नही आई है। कहने के लिए तो इन आचार्यों ने ध्वनि-सिद्धान्त का भी निरूपण किया है, किन्तु वे उक्त सिद्धान्त की गभीरता मे प्रवेश न होने के कारण केवल शब्द-शक्ति का सामान्य परिचय देकर रस और अलकार-निरूपण मे ही अपने कार्य की इतिश्री समझ बैठे है। रीति और वक्रोक्ति-सिद्धान्त पर तो उनका नाममात्र के लिए ही विवेचन है, इस तथ्य की ओर पहले ही सकेत किया जा चुका है। इससे स्पष्ट होता है कि इन आचार्य-कवियो का प्रधान लक्ष्य सस्कृत-साहित्य-शास्त्र के विविध पक्षो तथा रूपो पर शास्त्रीय विवेचन करने की अपेक्षा केवल शास्त्रीय प्रणाली मे काव्य-रचना करना ही प्रयोजनीय था। यही कारण है कि उनके सिद्धान्त-पक्ष के अन्तर्गत काव्य-शास्त्र के अगो का निरूपण किसी विशेष-परम्परा का अनुगमन करते हुए उसका परिचय मात्र देने के रूप मे हुआ है और अनेक स्थलो पर तो केवल सस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो के छन्दो की उद्धरणीमात्र की गई है। इन आचार्य कवियो की इस प्रकार की प्रवृत्ति को देखते हुए ही प० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—

"हिन्दी मे लक्षण-ग्रथ की परिपाटी पर रचना करने वाले जो सैकडो कवि हुए, वे आचार्य कोटि मे नही आ सकते। वे वास्तव मे कवि ही थे। उनमे आचार्यत्व के गुण नही थे। उनके अपर्याप्त लक्षण साहित्य-शास्त्र का सम्यक् बोध कराने मे असमर्थ है।[1]

विवेचन-विषयक एकांगिता और उसके कारण

४१ रीतिकालीन काव्यशास्त्रकारो के समीक्षण मे अपूर्णताओ अथवा दोष-प्रवृत्तियों के समावेश का एक प्रमुख कारण यह था कि वे एक ही साथ द्वै-अश्वारोहण की भाँति आचार्यत्व और कवित्व का श्रेय प्राप्त करना चाहते थे, जिससे उन्हे अपने कार्य मे सफलता नही मिली। बात यह है कि काव्य-रचना और साहित्य-समीक्षा एक ही मानव-मन की दो प्रक्रियाएँ होने पर भी क्रमश भावात्मकता और बौद्धिकता से अधिक सम्पुटित रहती है, अत दोनो का एक साथ निर्वाह करना कठिन है। सस्कृत काव्यशास्त्र मे जो हम उच्च कोटि की मौलिकता और तात्त्विक गभीरता पाते है, उसका प्रमुख कारण यही है कि वहाँ कवि और आचार्य की दो विभिन्न कोटियाँ थी, जिसके कारण उन्हे अपने क्षेत्र मे स्वच्छन्द वृत्ति से चित्रण तथा विश्लेषण करने मे किसी भी प्रकार का मानसिक व्यवधान अनुभव नही होता था। सस्कृत वाड्मय मे कवियो की श्रेणी के अन्तर्गत वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि की गणना थी तो आचार्यो की श्रेणी मे भरत मुनि, राजशेखर, आनन्दवर्द्धन आदि मनीषियो की। यही कारण है कि वे भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे अपनी भावयित्री तथा कारयित्री प्रतिभा का विशिष्ट चमत्कार प्रदर्शित करने मे सफलीभूत हुए। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य कवियो से यह सभव नही हो सका। उन्होने अधिकाशत दोहो के अन्तर्गत किसी काव्यशास्त्रीय अग का लक्षण निरूपित कर उसकी सगति उदाहरणो द्वारा करनी चाही, जिसका परिणाम यह हुआ कि लक्षण तो किसी एक कोने मे दुबक कर रह गया और उदाहरणो की उसके साथ विशेष सगति नही जम सकी। वस्तुत यही उनकी असफलता का मूल कारण हुआ। सच तो यह है कि इन आचार्य कवियो के उपचेतन मे काव्य की कलात्मकता और साज-सज्जा के प्रति जो विशेष आकर्षण था, तथा जिसे उस युग की शृगारिक भावना तथा उनके आश्रयदाता राजाओ ने विशेष प्रकार की प्रेरणा

---

१. आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल · हिन्दी साहित्य का इतिहास, नवाँ सस्करण २००९, पृ २३४.

और प्रोत्साहन प्रदान किये थे, वही उन्हे काव्य-सृजन के लिए विशेष रूप से उन्मुख कर सका, जिसका फल यह हुआ कि उनके लक्षण-निरूपण अपूर्ण तथा दोषयुक्त बन गये तथा कवि-प्रतिभा भी एक विशिष्ट श्रेणी की सीमा मे केन्द्रित होकर रह गई। अभिप्राय यह है कि काव्यशास्त्रीय विवेचन मे जिस प्रकार की विवेक-बुद्धि और गम्भीर पर्यवेक्षण-शक्ति की अपेक्षा रहती है, वह इस युग के साहित्य-शास्त्रियो मे अत्यल्प मात्रा मे थी और यदि किन्ही मे इस प्रकार की विशेष प्रवृत्ति थी भी; तो वे उसकी ओर परिस्थितिवश अधिक ध्यान नही देते थे, क्योकि उनका प्रमुख उद्देश्य तो अपने आश्रयदाताओ का प्रसादन अथवा अपने भौतिक जीवन का परिपोषण ही था।

रीतिकालीन काव्यशास्त्र की सामान्य प्रवृत्तियाँ और उनकी विशेषताएँ

४२. रीतिकालीन काव्यशास्त्र की जिन अपूर्णताओ की ओर सकेत किया गया है, उसका यह अभिप्राय नही है कि इस परम्परा मे सर्वथा तथ्यहीन विश्लेषण अथवा विसगतियाँ हा हैं। सच तो यह है कि नायिका-भेद तथा शृगाररस-निरूपण मे इस युग के आचार्य-कवियो ने अनेक बातो मे सस्कृत के आचार्यों से टक्कर ली है। उनके द्वारा लक्षण-विश्लेषण भले ही उच्च कोटि का तथा प्रामाणिक नही हुआ हो, किन्तु शृंगार रस के आलम्बन और नायिका-भेद-निरूपण मे उन्होने नायिकाओ की मानसिक वृत्तियो के अनुरूप जो हाव-भाव-चित्रण, नख-शिख-वर्णन, सम्भोग-विप्रलम्भ-शृगार-निरूपण आदि विषयक जो सामग्री प्रस्तुत की है, वह निस्सन्देह अद्वितीय है। इसी प्रकार ये आचार्य-कवि सस्कृत-आचार्यों की भाँति ही किसी विशेष प्रकार के साहित्यिकवाद का प्रवर्त्तन न कर सके हो, किन्तु उन्होने अलकार-शास्त्र पर जो उदाहरण-सयोजन किये है, वे उनकी रसार्द्र मन स्थिति के जीवन्त निदर्शन है। यहाँ इसी प्रसग मे इस विषय की ओर भी ध्यान रखना आवश्यक है कि हिन्दी के रीतिकालीन कवियो द्वारा सस्कृत काव्यशास्त्र की समता मे जो गण्यमान विवेचन नही किया जा सका, उसके और भी कई कारण है, जिनकी ओर ध्यान दिये बिना हम उनकी योग्यता का वास्तविक मूल्याकन नही कर सकते। उन कारणो मे एक कारण का तो पहले सकेत कर ही दिया गया है कि इस काल के आचार्य-कवि अधिकाशत राज्याश्रय प्राप्त किये हुए थे और और उन्हे अपने आश्रयदाताओ की अभिरुचि और मानसिक प्रवृत्ति के ही अनुसार चलना पडता था। उन आश्रयदाताओ की काव्य के शास्त्रीय पक्ष की ओर उतनी अभिरुचि नही थी, जितनी अपने मन.प्रसादन के लिए शृगार तथा नायिका-भेद-निरूपण सम्बन्धी टॉनिक प्राप्त करने की। अत सभी दृष्टियो से इन आचार्य-कवियो के लिए यही श्रेयस्कर था कि वे शास्त्र-पक्ष के रूप मे सामान्य-लक्षण-निर्धारण कर अपने मुख्य विषय पर चले आवें। ऐसी परिस्थिति मे उनका शास्त्र-विश्लेषण केवल प्रस्तावना मात्र ही हो सकता था। हाँ, यदि उनके आश्रयदाताओ की अभिरुचि शास्त्रीय विवेचन की ओर होती तो सभवत ये आचार्य-कवि इस दिशा मे विशेष प्रयत्न भी करते। ऐसी परिस्थिति मे यही कहा जा सकता है कि उनका काव्यशास्त्रीय विवेचन एक सीमा तक ही चल सका था और इन कवियो ने उसको यदि स्वीकार भी किया है तो केवल इसीलिए कि वे उसे अपने काव्य-वर्णन की आधारशिला बनाकर अधिकाशत अपना कवित्व-दर्शन अथवा उक्ति-चमत्कार-चित्रण ही करना चाहते थे।

४३. रीतिकालीन काव्यशास्त्रकारो द्वारा समीक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष का गभीर तथा विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण नही हुआ, इसका एक कारण यह भी है कि इन आचार्य-कवियो मे अधिकाशत ऐसे व्यक्ति थे, जिनका शास्त्रीय ज्ञान सीमित था तथा जो केवल परम्परा-पालन के लिए ही लक्षण-निरूपण कर उनके आधार पर अपना कवित्व-कौशल प्रदर्शित करना चाहते थे। बहुत से कवियो ने तो सस्कृत साहित्य-शास्त्र मे अपना विशेष प्रवेश न होने के कारण पल्लवग्राही पाडित्य का सहारा लिया और किसी एक आचार्य को अपना आराध्य बनाकर उसी के अनुकरण पर अपनी रचनाएँ की। हाँ, इस काल में केशव, चिन्तामणि, भिखारीदास और देव आदि ऐसे आचार्य-कवि भी हुए,

जिनका सस्कृत काव्यशास्त्र-विषयक यथेष्ट अध्ययन था, किन्तु उन्हे भी ऐसे आधार बहुत कम मिले जिनके द्वारा वे साहित्य-शास्त्रोदधि का मथन कर किसी नवीन परम्परा का प्रवर्त्तन करते अथवा पूर्व विश्लेषण को ही कोई नवीन रूप देते। बात यह थी कि सस्कृत काव्यशास्त्र मे विभिन्न सैद्धान्तिक मतवादो पर इतना अधिक सूक्ष्म तथा विस्तृत विवेचन कर दिया गया था, जिसकी सामग्री को और अधिक विकसित बनाने के लिए बहुत कम अवकाश रह गये थे। उनकी क्षेत्रीय सीमा का एक कारण यह भी था कि सस्कृत-साहित्य को छोडकर प्राचीन हिन्दी अथवा प्राकृत-अपभ्र श साहित्य-परम्परा मे ऐसे बहुत कम प्रयत्न हुए थे, जिनके कारण उन्हे इन भाषाओ के एतद्विषयक ज्ञान-कोष की अभिवृद्धि करने का भी अवसर मिलता। एक प्रकार से हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत इन आचार्य-कवियो को ही इस विषय मे अपनी परम्परा स्थापित करनी थी, अत, वे इस क्षेत्र मे अधिक प्रौढ और परि-मार्जित सामग्री देने मे अधिक समर्थ नही हुए। इन सब बातो अथवा कारणो का ध्यान रखकर ही हिन्दी के रीतिकालीन काव्यशास्त्रकारो की महत्ता का मूल्याकन करना न्यायोचित है और अधिक नही तो कम से कम इन आचार्य-कवियो को इतना श्रेय तो दिया ही जा सकता है कि इन्होने हिन्दी साहित्य मे काव्यशास्त्रीय परम्परा का सूत्रपात किया, जिसको उपजीव्य बनाकर हमारी आधुनिक समालोचना भी अपने विकास के उपकरण जुटा सकी।

४४ रीतिकालीन काव्य-शास्त्रकारो ने यद्यपि सस्कृत काव्यशास्त्र को अपना मूलाधार बनाया है, किन्तु वे उसकी व्यापकता की ओर बहुत कम ध्यान दे सके है। इस काल मे अधिकाश आचार्यो मे साधारणतया हमे यही प्रवृत्ति मिलती है कि वे किसी न किसी सम्प्रदाय-विशेष अथवा कतिपय आचार्यो के ग्रन्थो मे प्रतिपादित धारणा-विशेष को ही काव्य का सर्वस्व मान कर चले है और उसी के आधार पर उन्होने अपना प्रणयन प्रस्तुत किया है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त इन आचार्य-कवियो ने भामह के 'काव्यालकार', दडी के 'काव्यादर्श', जयदेव के 'चन्द्रालोक', उद्भट के 'अलकारसारसग्रह', केशव मिश्र के 'अलकारशेखर', अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द', मम्मट के 'काव्यप्रकाश', आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक', विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण', अमरदेव की काव्य कल्पलतावृत्ति', भानुदत्त की 'रसमजरी' तथा 'रसतरगिणी', आदि सस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो की पद्धति को ही अधिकाशत ग्रहण किया है। अधिकाश आचार्यो का अलकार-निरूपण जयदेव के चन्द्रालोक और अप्पय दीक्षित के कुवलयानन्द की प्रणाली पर ही अधिक है। ध्वनि-निरूपण के प्रसग मे यदि इन आचार्यों ने मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' को अपना आदर्श माना है तो रस तथा नायिका-भेद-विवेचन मे 'रस-मजरी', 'रसतरगिणी' तथा 'साहित्य-दर्पण' को अपना उपजीव्य बनाया है। यह सब कुछ होते हुए भी इन आचार्यो ने उक्त ग्रन्थो की आधारभूत सामग्री को अपने ढग से प्रस्तुत करने का भी प्रयत्न किया है, किन्तु उनका वह प्रयास अधिक सफल नही हो सका है क्योकि मौलिकता की सृष्टि करने के प्रलोभन मे उनसे कुछ ऐसी भ्रान्तियो का भी सृजन हो गया है जिनका निवारण बिना तर्क-सगत विश्लेषण के कदापि सभव नही कहा जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि इन आचार्य-कवियो का ध्यान अपनी अपूर्णताओ की ओर बहुत कम गया है, अन्यथा वे उनका परिष्करण कर ही सकते थे। वास्तविक बात तो यह है कि इन आचार्यों का दृष्टिकोण सस्कृत के आचार्यों से निश्चय ही भिन्न कोटि का है, क्योकि सस्कृत के आचार्य जहाँ किसी एक मतवाद को लेकर सूत्र, वृत्ति और भाष्य के द्वारा अपने सिद्धान्त की अधिकाधिक पुष्टि करना चाहते थे, वहाँ ये आचार्य केवल उपोद्घात के रूप मे लक्षण निरूपित कर केवल ललित तथा शृ गाररसपूर्ण अलकृत साहित्य की ही रचना करने के अभिलाषी थे। इन आचार्यों की इस प्रकार की सीमित शक्ति अथवा विवेचन-पद्धति विषयक एकांगिता का एक कारण यह भी हो सकता है कि उस समय हिन्दी मे गद्य-प्रणाली का ऐसा विकास नही हुआ था जिसके द्वारा विवेचन मे व्याख्यात्मकता का सम्यक्रूपेण समावेश किया जा सकता है। कहने की आवश्यकता नही कि संस्कृत के आचार्यों ने अपने विवेचन मे यथाप्रसग गद्य और पद्य

दोनो प्रकार की विधाओ का प्रयोग किया जिससे उनके सम्मुख इस प्रकार की कोई असुविधा नही हुई।

सैद्धान्तिक पक्ष के प्रमुख सम्प्रदाय और उनका विवेचन

४५. रीतिकालीन काव्य-शास्त्र की जिन सामान्य प्रवृत्तियो और विशेषताओ का अब तक जो कुछ विवेचन किया गया, उससे स्पष्ट है कि आधुनिक काल के प्रथम चरण भारतेन्दु-युग के प्रारम्भ होने के पूर्व प्राय दो शतक तक हमारे हिन्दी-साहित्य मे इस प्रकार की परम्परा अजस्र धारा के रूप मे प्रवाहित होकर चली थी, जिस पर एक ओर सस्कृत काव्य-शास्त्र का पर्याप्त अश मे आभार था तो दूसरी ओर उसका यथोचित स्वरूप मे मौलिक प्रतिष्ठान भी था। विद्वानो ने एतद्विषयक शोध के द्वारा ऐसे अनेक ग्रन्थ-रत्नो का अनुसन्धान किया है, जिन्हे यदि सुचारु विधि से सम्पादित तथा विवेचित किया जाय तो रीतिकालीन काव्य की भाँति रीतिकालीन काव्य-शास्त्र का भी एक अत्यत भव्य स्वरूप प्राप्त हो सकता है। वस्तुत' रीतिकालीन काव्य-शास्त्र ही हमारी आधुनिक हिन्दी-समालोचना का पूर्ववर्त्ती रूप है जिसका आधुनिक समीक्षा पर यथेष्ट मात्रा मे प्रभाव पडा है। इसमे कोई सन्देह नही कि आधुनिक हिन्दी-समीक्षा ने गद्य का प्रचार होने के कारण अपनी रचना-प्रक्रिया मे नवीन पथ अपना लिया हे, जिस पर पाश्चात्य पद्धतियो और परम्पराओ का अधिक प्रभाव हे, किन्तु रीतिकालीन काव्य-शास्त्र की विधि पर भी रचना करने वाले आचार्यों का सर्वथा अभाव नही है। सुधी समालोचको के लिए रीतिकालीन तथा आधुनिक समीक्षा-प्रणालियो मे सन्तुलन लाना कोई कठिन कार्य नही है, क्योकि जहा तक शास्त्रीयता तथा सैद्धान्तिकता का प्रश्न है, रीतिकालीन काव्यशास्त्र मे एतद्-विषयक प्रचुर सामग्री विद्यमान है। यदि उस परम्परा के काव्यशास्त्र का अध्यवसायपूर्वक अनुसन्धान किया जाय तो न-जाने कितने ग्रन्थ अन्धकार-गुहाओ से प्रकाश मे लाये जा सकते है। इस प्रकार रीतिकालीन काव्यशास्त्र के सामान्य स्वरूप की गति-विधियो के जानने के उपरान्त अब हमारे लिये उसके प्रमुख काव्य-सिद्धान्तो का स्वरूप तथा उनका क्रमिक विकास जानना आवश्यक हे जिससे इस विषय का अनुमान हो सके कि जिस रीतिकालीन काव्यशास्त्र को हमने आधुनिक समालोचना के द्वितीय स्रोत के रूप मे स्वीकृत किया है, वह विभिन्न समीक्षा-सिद्धान्तो मे कितना अधिक वैभवपूर्ण और विस्तीर्ण हे। इस काव्यशास्त्रीय परम्परा मे भी अलकार, रस, ध्वनि, रीति तथा वक्रोक्ति आदि शास्त्रीय सिद्धान्त प्रमुख है, जिनका अब क्रमश ऐतिहासिक अनुक्रम से विवेचन किया जायगा।

अलंकार-सम्प्रदाय

४६ रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय परम्परा मे आचार्य कवि केशवदास ही ऐसे सर्वप्रथम समीक्षक है जिन्होने अलकार-सिद्धान्त पर व्यवस्थित रूप से विवेचना की है। यद्यपि उनसे पूर्व कृपाराम, मोहनलाल मिश्र, तथा करनेस आदि कवियो ने रस तथा अन्य काव्यागो के साथ-साथ अलकार-निरूपण भी किया था, किन्तु उनकी कृतियो मे संस्कृत साहित्य-शास्त्र मे निरूपित काव्यागों के समान व्यापक विश्लेषण नही था। केशव ने इस कार्य को अपनी प्रतिभा द्वारा विशेष रूप मे सम्पन्न किया। आचार्य शुक्ल ने उन्हे 'काव्य में अलंकार का स्थान प्रधान समझने वाले चमत्कार-वादी कवि'[1] कहा है, जिससे यह भी ध्वनित है कि उनकी काव्यशास्त्रीय समीक्षाओ मे अलकार-सम्प्रदाय का सबसे अधिक समर्थन है। चन्द्रालोककार जयदेव की भाँति वे भी काव्य मे अलकारो

---

१. पं. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास, नवाँ सस्करण, संवत् २००८, पृ. २०८.

का चरम महत्त्व मानते थे ।[१] अपने अलकार-विवेचन मे वे केशव, भामह, दडी और उद्भट को ही अपना आदर्श बनाकर चले है । उन्होने साधारण और विशिष्ट के नाम से अलकारो के दो प्रधान भेद गिनाकर उनका वर्गीकरण उक्ति, उपमा, तुलना, शब्दावृत्ति, विरोध, अनेकार्थता और कार्य-कारण-सम्बन्ध आदि आधारो पर किया है । उनका अलकार-विवेचन रीतिकालीन काव्य-शास्त्र के अन्य आचार्यों से भिन्न है, क्योकि केशव के अनन्तर रीतिकाल मे जो अलकार-निरूपण हुआ, उस पर अधिकाशत 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' का प्रभाव था, जब कि केशव ने दडी के काव्यादर्श को अनुकरणीय समझा था । उन्होने उपमा-अलकार के जो २२ भेद गिनाये है, उनसे से १५ तो ज्यो के त्यो दडी से लिये गये है और पॉच भेदो का केवल नाम-परिवर्तन मात्र कर दिया गया है । अवशिष्ट दो भेद संकीर्णोपमा और विपरीतोपमा केवल कथन-मात्र के ही भेद है । इस वर्गीकरण मे विसगतियो भी आ गई है । इसी प्रकार आक्षेप के भेद भी दडी के अनुसार ही हैं और प्रेमालकार की कल्पना तो दडी के प्रेयस अलकार के आधार पर ही की गई प्रतीत होती है । अन्य अलकारो के सम्बन्ध मे भी उन पर दडी का प्रभाव सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु इससे केशव का महत्त्व कम नही होता, क्योकि उन्होने अलकार-विवेचन की एक परम्परा हिन्दी के रीतिकालीन काव्यशास्त्र मे आरम्भ करने का अत्यत गण्यमान कार्य किया था ।

४७ केशव के पश्चात् रीतिकालीन अलकार-शास्त्रियो मे मारवाड-नरेश महाराज जसवन्तसिहजी की गणना की जाती है । उनके 'भाषाभूषण' नामक ग्रन्थ के द्वितीय प्रकरण मे १०८ अलंकारो का भेदोपभेदो-सहित विवेचन हुआ है । इसकी रचना जयदेव के 'चन्द्रालोक' की छाया पर हुई है और वर्णन-प्रणाली पर भी उसी का प्रभाव है । जिस प्रकार चन्द्रालोक मे प्राय एक ही श्लोक मे अलकारो के लक्षण तथा उदाहरणो का समावेश किया गया है, उसी प्रकार 'भाषाभूषण' मे भी एक ही दोहे मे लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये गये है । प्रचार की दृष्टि से जिम प्रकार 'चन्द्रालोक' संस्कृत काव्यशास्त्र मे अलकार-ज्ञान-विषयक अत्यत लोकप्रिय रचना है, उसी प्रकार हिन्दी के परीक्षार्थियो मे भी 'भाषा-भूषण' का अत्यधिक प्रचार है । इस पर अनेक विद्वानो ने टीकाएँ भी लिखी है, किन्तु आधुनिक काल मे बाबू गुलाबराय की टीका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है । 'भाषा-भूषण' के अध्ययन से पता चलता है कि इसकी रचना विशुद्ध आचार्यत्व की दृष्टि से की गई है, क्योकि इसमे काव्य-रचना और कला-प्रियता को अन्य कवियो की भाँति महत्त्व न देकर केवल लक्षण-ग्रन्थ का विशुद्ध स्वरूप रखा गया है, जिससे लक्षणो और उदाहरणो मे विसगतियाँ नही आई हैं । एक विशेष बात यह भी है कि जसवन्तसिहजी ने यद्यपि इसकी रचना 'चन्द्रालोक' के आधार पर अवश्य की, किन्तु उन्होने जयदेव की भॉति अलकार की अनिवार्यता वाले सिद्धान्त का कही पर भी उल्लेख नही किया ।

४८ हिन्दी के रीतिकालीन अलंकार-सम्प्रदाय मे मतिराम के 'ललितललाम' तथा भूषण के 'शिवराजभूषण' का भी गण्यमान्य स्थान है । यद्यपि मतिराम की मानसिक प्रवृत्ति रस-सिद्धान्त की ओर अधिक थी, किन्तु उन्होने 'ललितललाम' सथा 'अलकार-पंचाशिका' मे क्रमश एक सौ तथा पचास अलकारो का भेदोपभेद-सहित वर्णन किया है । इन कृतियो की एक विशेषता यह भी है कि इनमे अलकारो के लक्षण तो दोहो मे और उदाहरण कवित्त-सवैयो मे है । उनके अलकारो मे केवल अर्थालकारो का ही वर्णन हुआ है और कुछ स्थलो पर लक्षणो तथा उदाहरणो मे विसगति होने पर भी वे ऐसे दोषपूर्ण नही हो गये है, जिन्हे सर्वथा अशुद्ध ही मान लिया जाय । इसको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जैसे अन्य आचार्यों के विवेचन मे भी कुछ बातो मे परस्पर मतभेद है,

---

१. यदपि सुजाति सुलच्छणी, सुबरन सरस सुवृत्त । भूषण बिन न विराजई, कविता वनिता मित्त ॥

—केशवदास : 'कविप्रिया', प्र॰ ५ छन्द १.

उसी प्रकार मतिराम ने भी सभवत अपनी मौलिकता दिखलाने के लिए ऐसे प्रयोग किये हो। उदाहरणार्थ उपमा अलकार को लिया जा सकता है, जिसके निरूपण मे मतिराम ने 'समछबि को उल्लास' पद का प्रयोग कर उपमा की आन्तरिक विशिष्टता की ओर सकेत किया हे। कहने की आवश्यकता नही कि मतिराम के समकालीन और सहोदर कविवर भूषण ने भी अपने 'शिवराज-भूषण' मे मतिराम का ही अनुकरण किया हे, यहाँ तक कि बहुत से स्थलो पर तो उनके लक्षण तक एक से है।[1] दोनो आचार्यों के लक्षणो मे ही नही अपितु क्रम मे भी साम्य हे। भूषण ने भी मतिराम की भाति एक सौ अलकारो का ही वर्णन किया है पर इनके अतिरिक्त कुछ शब्दालकार भी जोड दिये है। साथ ही साथ भूषण ने 'भाविक छवि' जैसे नवीन अलकारो की भी कल्पना की है, किन्तु उनमे किसी प्रकार की नवीनता नही है। एक विशेष बात भूषण मे यही हे कि उन्होने उदाहरणो के रूप मे अपने आश्रयदाता शिवाजी की वीरता को लेकर वीररस के छद लिखे है। फिर भी यह तो कहना पडेगा कि भूषण की अपेक्षा मतिराम का अलकार-विवेचन अधिक स्पष्ट और शुद्ध है और उसके लक्षणो मे भूषण की भाँति निदर्शना, परिकर, काव्यलिग, अर्थान्तरन्यास, भ्रम और परिणाम आदि अलकारो के लक्षणो मे अशुद्धियाँ नही है।

४६ यद्यपि देव मुख्यत रसवादी आचार्य थे किन्तु उन्होने अपने 'शब्द-रसायन' मे अलकारो का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उन्होने मुख्यालकार तथा गौण मिश्रालकार के नाम से दो भेद मानकर रसवत् अलकारो का वर्णन मुख्यालकारो के साथ किया हे। उनके 'शब्द-रसायन' मे ८० अलकारो का उनके भेदो के सहित वर्णन है। भूषण के 'भाविक छवि' की भाँति इन्होने भा सदेह के अतिरिक्त एक नया अलकार 'सशय' माना है, जो केवल सख्या-वृद्धि-मात्र के लिए प्रतीत होता है। सन् १७१६ ई० के आस-पास 'चन्द्रालोक' की पद्धति पर लिखे गये गोप कवि के 'रामचन्द्र भूषण', 'रामालकार' तथा 'रामचन्द्राभरण' नामक तीन अलकार ग्रन्थ मिलते है, जिनमे अलकारो का विवेचन अत्यत स्पष्ट तथा सक्षिप्त शैली मे किया गया है। इन ग्रन्थो मे जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य के आधार पर पर स्वभावोक्ति के चार भेद किये गये है, जो केशव की अलकार-विभाजन की सामान्य तथा विशिष्ट श्रेणी का और अधिक विकसित रूप कहा जा सकता है। इस प्रकार का दृष्टिकोण अलकारों की काव्यगत महत्ता को और अधिक उच्चता प्रदान करने वाला है। सन् १७२६ ई० के लगभग रसिक-सुमति का लिखा हुआ 'अलकारचन्द्रोदय' नामक ग्रन्थ मिलता है, जिसके प्रारम्भ मे लेखक ने 'कुवलयानन्द' के प्रभाव को अपनी रचना की प्रेरणा के रूप मे स्वीकार किया है। 'रसिक-सुमति' ने शब्द और अर्थ की विचित्रता को अलकार की सज्ञा देकर[2] प्रायः ८० अलंकारो का भेदोपभेद-सहित विवेचन किया। सन् १७४० के लगभग गोविन्द कवि ने 'कर्णाभरण' नामक ग्रन्थ लिखा था, जिसका प्रकाशन सन् १८६४ मे भारतजीवन प्रेस से हुआ था। इसकी रचना 'भाषा-भूषण' की प्रणाली मे हुई है और एक ही दोहे मे क्रमश. अलकारो के लक्षण तथा उदाहरण दिये गये हैं। गोविन्द कवि ने मौलिकता लाने के लिए प्रकृत-प्रकृत, प्रकृताप्रकृत तथा अप्रकृताप्रकृत के नाम से श्लेष के तीन भेद गिनाये है। तुल्ययोगिता और दीपक आदि अलकारो के लक्षण अधिक स्पष्ट नही है, किन्तु 'कर्णाभरण' में ऐसे भ्रमपूर्ण स्थल कम ही आये है।

---

१. अलकारों के सम्बन्ध मे मतिराम और भूषण के लक्षणों की एक रूपता का अनुमान 'मालोपमा' के निम्नलिखित लक्षणों से लग सकेगा—

जहाँ एक उपमेय को होत बहुत उपमान।
तहाँ कहत मालोपमा, कवि मतिराम सुजान॥ . ललितललाम .

जहाँ एक उपमेय को, होत बहुत,उपमान। ताहि कहत मालोपमा, 'भूषण' सुकवि सुजान॥ · शिवराज भूषण :

२. सब्द अरथ की चित्रता, विविध भाँति की होइ। अलकार तासो कहत, रसिक विबुध कवि लोइ।

रसिक सुमति . अलंकार-चन्द्रोदय, प्र० १ छ० ३.

५० रीतिकालीन अलकार-सम्प्रदाय मे दूलह कवि के 'कवि-कठाभरण' नामक ग्रन्थ का विशेष महत्त्व है। इसकी रचना भी चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द की पद्धति पर की गई है। इसमे कुल ११७ अलंकारो का विवेचन हुआ है, जिनमे सात रसवदादि और आठ प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव और ऐतिह्य जैसे अलकारो का भी वर्णन है। दूलह कवि ने उक्त आठ अलकारो का वर्णन मीमासा-योग जैसे दर्शनो की पदावली पर किया है, जो इसकी प्रमुख विशेषता कही जा सकती है। दूलह कवि के आस-पास बैरीसालजी का "भाषाभरण" नामक अलकार-ग्रन्थ मिलता है, जिसकी रचना मे लेखक ने चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द का आधार स्वीकार किया है। इसमे लुप्तोपमा का एक भेद पूर्ण 'लुप्तोपमा' भी माना गया है, जो चिन्त्य है। साथ ही साथ रसवदादि अलकारो का वर्णन भी कुवलयानन्द की भाँति हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय अलकार-निरूपण सम्बन्धी पुस्तको की एक बाढ-सी आगई थी और अनेक कवियो के लिए अलकार-ग्रन्थ-रचना एक साधारण कर्म-सा हो गया था। इस समय जितने भी अलकार-ग्रन्थ लिखे गये थे, वे सभी प्राय चन्द्रालोक और कुवलयानन्द का आधार लेकर चले है। इन ग्रन्थो मे श्रीपति की 'अलकार-गगा', भूपति का 'कठाभरण', शम्भूनाथ का 'अलकारदीपक', वशीधर का 'अलकार-रत्नाकर', गुमान मिश्र का 'अलकार-दर्पण', ऋषिनाथ की 'अलकारमणिमजरी', चन्दन कवि का 'काव्याभरण', भानु कवि का 'नरेन्द्रभूषण', रतन कवि का 'फतेहभूषण', प्रतापसिंह की 'अलकार-चिन्तामणि', चतुर्भुज की 'अलकारभाषा', जगदीश कवि का 'अलकारप्रकाश', गोकुलनाथ की 'चेत-चन्द्रिका' और पदमाकर का 'पद्माभरण' प्रमुख है। यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है कि इन आलकारिको ने अलकार-वर्णन मे प्राय एक ही परम्परा अथवा प्रणाली को अपनाया है। सामान्यतया कहा जा सकता है कि रीति-कालीन अलकार शास्त्र के ये ही प्रमुख ग्रन्थ है जिनको हम आधुनिक काव्य-शास्त्र की परम्परा का एक स्रोत-विधान मान सकते है। हाँ, यह बात अवश्य है कि ये अलंकार-ग्रन्थ अधिकाशत 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द' की छाया पर लिखे गये हैं, जब कि आधुनिक काल मे अलकार-सम्प्रदाय का विकास 'साहित्यदर्पण' तथा 'काव्यप्रकाश' के आधार पर हुआ है।

५१ रीतिकालीन काव्य-शास्त्र की जिस अलकार-परम्परा का क्रमिक विकास उपर्युक्त अनुच्छेदो मे स्पष्ट किया गया, उसी के समानान्तर अब हमारे लिये यह भी आवश्यक है कि आधुनिक युग मे कार्य करने वाले प्रमुख आलकारिको की रचनाओ का भी सामान्य परिचय कर लिया जाय। इसमे कोई सन्देह नही कि आधुनिक काल मे गद्य का विकास होने तथा जीवन-दृष्टि मे व्यापकता आने से आचार्यों का दृष्टिकोण रीतिकालीन अलकार-शास्त्रियो से भिन्न हो गया है, किन्तु फिर भी यह नही कहा जा सकता कि उस परम्परा का सर्वथा अत हो गया है। रस और मनोविज्ञान के समन्वयपूर्ण विवेचन के अतिरिक्त आलकारिको की एक श्रेणी अब भी है जो ब्रजभाषा-काव्य-रचना और उसकी आलकारिक प्रणाली मे काव्य का औदात्त्य पाती है, पर उसका विश्लेषण करने से हमारा यहाँ कोई प्रयोजन नही है। हमे तो केवल इतना ही जानना है कि आधुनिक युग मे किन-किन अलकारशास्त्रियो द्वारा इस दिशा मे कार्य किया गया है। इस दृष्टि से विचार करने पर हमारा सर्वप्रथम ध्यान लछिराम की ओर जाता है, जिन्होने काव्यशास्त्र के अन्य अगो के विश्लेषक ग्रन्थो के साथ अलकार-सिद्धान्त पर भी ग्रन्थ लिखे है। उनका 'रामचन्द्रभूषण' इसका प्रमाण है। इस ग्रन्थ मे लछिराम ने अलकार की परिभाषा मे मौलिकता लाने का प्रयत्न करते हुए[1] शब्दालकारो के सात तथा अर्थालकारो के एक सौ बाईस भेद गिनाये है। इस ग्रन्थ मे उपमा के एक भेद के रूप मे 'तवकोपमालंकार' तथा श्लेष के भेदो मे 'माधुर्यसक्रमित', 'ओजसक्रमित' तथा

---

१ वचन छद बर व्यग में, बिलग चमक परिमान।
भूषण वत पद अर्थ में, अलकार अनुमान॥ रामचन्द्र भूषण प्र० १ छद स. ६:

'प्रसादसक्रमित' नामक अलकारो की गणना की गई है, जिसमे किसी प्रकार की प्रामाणिक मौलिकता नही मानी जा सकती। इसमे अलकारो के लक्षण दोहो मे तथा उदाहरण कवित्त-सवैयो और बरवै छन्दो मे दिये गये हे।

५२ लछिराम के पश्चात् आधुनिक काल मे कविराजा मुरारिदान का सवत् १६५० वि. मे लिखा हुआ 'जसवन्तभूषण' नामक ग्रन्थ मिलता हे, जिसमे काव्य-रूप, शब्द-शक्ति तथा गुण-रीति के साथ-साथ अलकारो का भी वर्णन हुआ हे। इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता यह हे कि कवि राजाजी ने 'चन्द्रालोक' के अतिरिक्त 'अग्निपुराण', 'नाट्यशास्त्र' तथा 'चिन्तामणि कोष' जैसे ग्रन्थो का भी आधार लिया है, जिससे उनकी विवेचन-दृष्टि अन्य आलकारिको से भिन्न हो गई हे। उन्होने अपनी प्रस्तावना मे 'समस्त अलकारो के नाम ही स्वय लक्षण है' निर्दिष्ट कर प्रत्येक अलकार की नाम-व्युत्पत्ति के अनुसार उनके लक्षण निर्धारित करने की चेष्टा की हे, जिससे लक्षणो मे कई स्थलो पर विसगतियाँ भी आ गई है। जैसे, अत्युक्ति तथा अतिशयोक्ति अलकारो के विवेचन के प्रसग मे। इसी प्रकार उन्होने चित्रकाव्य को शब्दालकार के अन्तर्गत न मानकर आलेख्य-काव्य के रूप मे अलग ही स्थान दिया हे। अर्थालकारो मे उपमा अलकार को उन्होने प्रधानता दी है तथा 'अतुल्ययोगिता', 'अप्रत्यनीक', 'अपूर्वरूप' तथा 'अनवसर' जैसे नवीन अलकारो के निर्माण की चेष्टा भी की है, जिनका तात्त्विक दृष्टि से कोई महत्त्व नही है। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि कविराजाजी का 'जसवन्तभूषण' आधुनिक युग के अलकार-ग्रन्थो मे एक अभिनव प्रयास अवश्य है।

५३. आधुनिक काल मे सेठ कन्हैयालाल पोद्दार की 'अलकारमजरी' का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी रचना मे लेखक ने संस्कृत तथा ब्रजभाषा काव्यशास्त्र के अनेक ग्रन्थो का आधार लिया है। इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह भी है कि पोद्दारजी ने उसके प्रारम्भ मे विभिन्न विद्वानो द्वारा की गई शोधो तथा उपलब्धियो का आधार लेकर एक भूमिका सलग्न कर दी हे जिससे अलकारो की सख्या तथा उनके क्रमिक विकास का अच्छा सिहावलोकन हो जाता है। सामान्यतया 'अलकार-मजरी' के अन्तर्गत अलकारो के वर्णन का क्रम यही रहा है कि पहले अलकारो की परिभाषा और तदुपरान्त उनकी व्याख्या और उदाहरण दिये गये है। इस ग्रन्थ मे प्राय: ११० अलकारो का भेदोपभेद-सहित विवेचन है जिनमे ६ शब्दालकार, १०० अर्थालकार तथा ४ ससृष्टि और सकर अलकार सम्मिलित है। पोद्दारजी ने अलकारो के उदाहरण अन्य आचार्यों के काव्यो से लेकर भी दिये है और कई स्थलो पर अपने स्वरचित उदाहरणो का भी सयोजन किया हे। अन्त मे अनुप्रास, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति तथा अप्रस्तुत प्रशसा जैसे अलकारो के दोष वर्णित है किन्तु उनक यह क्रम अधिक उचित नही है, क्योकि दोषो का क्षेत्र केवल इन्ही अलकारो तक सीमित न होकर अत्यत व्यापक है।

५४. सन् १६१६ ई० मे लाला भगवानदीन की 'अलकार-मजूषा' नामक पुस्तक का प्रकाशन हुआ, जिसके चार पटलों मे क्रमश दश शब्दालकार, एक सौ आठ अर्थालकार, कुछ संसृष्टि और संकर अलकार तथा अलकार-दोषो का वर्णन है। इस अलकार-ग्रन्थ मे दीनजी ने स्वरचित दोहो मे लक्षण देकर विविध छन्दो मे उनके उनके उदाहरण दिये है। विषय का स्पष्टीकरण करने के लिए उन्होने कही-कही गद्य का भी प्रयोग किया है, जिससे अलंकारो की विशेषता तथा उनका पार परिक अन्तर स्पष्ट हो सके। उनके उदाहरणो का चयन अत्यधिक सुन्दर है, जिसका प्रयोग उत्तरवर्त्ती अलकार-लेखको ने भी बराबर किया है। इस ग्रन्थ मे कही-कही फारसी तथा अग्रेजी मे प्रयुक्त अलकारो का भी उल्लेख हुआ है, जिनका उद्देश्य हिन्दी-अलंकारों के साथ उसकी तुलना करना प्रतीत होता है। समतद्रूप रूपक तथा रूपकातिशयोक्ति आदि अलकारो के विवेचन मे दीनजी लक्षणो और उदाहरणो मे पूर्ण सगति प्रतिष्ठित करने मे कही चूक भी गये है, किन्तु इससे उनके ग्रन्थ की महत्ता मे कोई कमी नही आती। उन्होने एक ओर जहाँ रसवदादि को अलकार नही माना

है तो दूसरी ओर स्मरण आदि अलकारो का विकास कविता के विकास के साथ-साथ भिन्न दृष्टि-कोण से भी किया है।[1]

५५ हिन्दी अलकार-शास्त्र के विकास मे ब्रजभाषा-काव्य के अनन्य प्रशसक तथा आलकारिक कवि डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' के 'अलकार-पीयूष' नामक ग्रन्थ का भी बडा महत्त्व है। इस ग्रन्थ की रचना रसाल जी ने हिन्दी, सस्कृत तथा अग्रेजी के अनेक ग्रन्थो का आधार लेकर प्रारम्भ मे अलकार-शास्त्र के विकास का सक्षिप्त इतिहास भी प्रस्तुत कर दिया है, जिससे भारतीय साहित्य-शास्त्र मे उसकी महत्ता का मूल्याकन हो सका है। विद्वान् लेखक ने अलकारो के लक्षणो से सम्बन्धित आचार्यो के मतो का विश्लेषण कर अलकारो के पारस्परिक साम्य तथा वैषम्य का विस्तारपूर्वक विवेचन करते हुए इस विषय का यथेष्ट निर्णय करने की चेष्टा की है कि अलकारो की सख्या का विकास किस प्रकार हुआ है और उनका वर्गीकरण किस दृष्टि से किया जाना समीचीन है। इस ग्रन्थ मे रसाल जी ने अपने तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर नवीन दृष्टि से भी अलकारो का वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है। जैसे वर्णकौतुक के अन्तर्गत उन्होने वैचित्र्य-विनोद, व्यवस्था-वैचित्र्य, गुप्तोद्घाटन, वचन-वक्रता, जिज्ञासा, और वाक्छल तथा उभयालकार के अतिरिक्त मिश्रालकार, तथा आद्यानुप्रास आदि का वर्णन सर्वथा नवीन दृष्टि से किया है जिसके वात्याचक्र मे विद्वान् मनीषी भले ही कुछ तत्त्वोपलब्धि कर सके, किन्तु सामान्य श्रेणी का पाठक तो उसमे उलझ ही जायगा। इस विवेचन से रसाल जी का पाडित्य, शास्त्र-ज्ञान और मौलिक दृष्टिकोण तो ध्वनित होता है, किन्तु वे अपने विवेचन को ऐसी वैज्ञानिक व्यवस्था नही दे सके है जिसके द्वारा अलकारो का विभाजन और स्वरूप-सस्थान स्पष्ट रीति से बोधगम्य बन सके। 'अलकार-पीयूष' के दो भाग है जिसके पूर्वार्द्ध मे शब्दालकार, रसालकार, भावालकार और कुछ अर्थालकारो का वर्णन है तथा उत्तरार्द्ध मे अवशिष्ट अर्थालकारो का। रसाल जी ने काव्यालकार शब्द का प्रयोग काव्य-शास्त्र के अर्थ मे करते हुए उसे शास्त्र और कला दोनो के अन्तर्गत समादिष्ट किया है और वे भाषा-अलकृति तथा काव्य-वैलक्षण्य के लिए अलकारो की अनिवार्य उपयोगिता मानते है। काव्य-पक्ष मे उक्ति-वैचित्र्य को प्रधानता देने वाले रसाल जी ने रस और भावो का प्रमुख महत्त्व तो केवल नाटक क्षेत्र मे ही माना है।[2] उनकी यह मान्यता भामह और दडी की विचारधारा के अधिक अनुकूल है, तभी तो वे गद्य तथा पद्य सभी क्षेत्रो मे आलकारिक छटा का सन्निवेश आवश्यक समझते है। उनके विवेचन से उनकी अलकार-सिद्धान्त के प्रति अनन्य निष्ठा प्रकट होती है और वे उसका प्राधान्य निरूपित करते हुए रस तथा ध्वनि सिद्धान्त के उस पक्ष की उपेक्षा-सी कर गये है, जिसका विवेचन सस्कृत-काव्य-शास्त्र के उत्तरवर्ती आचार्यों ने अधिक व्यापकता और गभीरता से किया था। इसी प्रकार रसाल जी ने देव को केवल अलकारवादी आचार्य मानकर उसके 'भाव-विलास' और 'काव्य-रसायन' के रस-ध्वनि-निरूपण की ओर ध्यान ही नही दिया है। उनका 'तुक'-विषयक विश्लेषण भी अति-रेकतापूर्ण है और जिस पुनरुक्तिवदाभास अलकार को शब्दालकार के अन्तर्गत परिगणित करने की परम्परा रही है, उसे उन्होने अर्थालकार के अन्तर्गत मानना अधिक समीचीन समझा है। और भी ऐसे अनेक विषय है जिन पर रसाल जी ने स्वतत्र दृष्टि से विवेचन किया है। उनकी समस्त धारणाओ से भले ही कोई सहमत न हो, किन्तु यह तो मानना ही होगा कि रसाल जी का 'अलकारपीयूष' हिन्दी अलकार-शास्त्र मे अद्वितीय ग्रन्थ है, जिसमे उन्होने अलकार-सिद्धान्त को एक नवीन दृष्टि से देखने की चेष्टा की है।

५६ श्री अर्जुनदास केडिया ने सन् १९२८ मे अलकार विषय पर 'भारती-भूषण' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमे प्रमुख अलकारो और उनके भेदोपभेदो के लक्षणो का अलग-अलग रूप से विवे-

१. लाला भगवानदीन अलकारमजूषा प्रथम सस्करण, पृष्ठ ६६।
२. डा० रामशकर शुक्ल 'रसाल' : अलकारपीयूष, पूर्वार्द्ध, पृष्ठ सख्या १८।

चन कर उदाहरणो के रूप मे बहुत से नवीन छन्दो का भी समावेश किया है। इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह भी है कि केडिया जी ने अलकारो के लक्षणो तथा उदाहरणो के अनन्तर प्रयुक्त छन्दो के भाव स्पष्ट कर लक्षणो के साथ उनका सयोजन भी किया है और आवश्यक स्थलो पर टिप्पणिया भी जोडी है। जिन अलकारो के स्वरूप-लक्षण के विषय मे आचार्यों मे मतभेद है, उनका स्पष्टीकरण उन्होने तर्कपूर्ण विधि से करने की चेष्टा भी की है। कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ मे लेखक ने अलकार-विषय को अधिक से अधिक स्पष्ट और सुबोध बनाने का यथेष्ट प्रयास किया है और वे अपने निर्णयो मे अत्यन्त सुलझे हुए है। विवेचन के इसी प्रसग मे इस विषय का उल्लेख करना आवश्यक है कि सस्कृत के अलकार-सिद्धान्त और हिन्दी के रीति-कालीन अलकार-शास्त्र की परम्परा मे लिखा गया मिश्रबन्धुओ (केवल प० शुकदेव बिहारी मिश्र तथा उनके भतीजे पं० प्रतापनारायण मिश्र) का 'साहित्य-पारिजात' (प्रकाशन-काल सन् १९४० ई०) एक प्रकार से अन्तिम ग्रन्थ है, जिसकी भूमिका मे उन्होने अत्यंत सक्षेप मे हिन्दी के उन कवियो का परिचय दिया है जिन्होने काव्य-शास्त्र पर अपनी रचनाएँ की थी। इस ग्रन्थ मे मिश्रबन्धुओ ने अलकारो का लक्षण-निरूपण गद्य मे कर, तदुपरान्त उनकी व्याख्या की है और उदाहरणो की सगति भी लक्षणो के साथ सघटित करने की चेष्टा की है। प्रारम्भ मे उन्होने सस्कृत तथा हिन्दी के काव्य-शास्त्रियो के मतो का विवेचन कर काव्य के विषय मे अपना लक्षण 'जहाँ वाक्य या अर्थ कोई भी रमणीय हो' निर्धारित किया है और ध्वनि-सिद्धान्त के आधार पर शब्द-शक्ति और अर्थ पर सामान्य विचार करने के पश्चात् अलकारो का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। मिश्रबन्धुओ ने अलंकारो के प्रमुख तीन भेद शब्दालंकार, अर्थालकार और मिश्रालंकार माने है और अतिम भेद के अन्तर्गत ही ससृष्टि और सकर अलकारों का वर्णन किया है। इसमे भेदों के अतिरिक्त १२४ अलकारों का वर्णन हुआ है तथा यथाप्रसग हिन्दी तथा सस्कृत के अलकार-शास्त्रियों के मत उद्धृत कर कई अलकारो के सम्बन्ध मे अपनी मौलिक उद्भावनाएँ करने की चेष्टा भी की गई है। मिश्रबन्धुओं के मतानुसार अलकारो का कोई अत्यत वैज्ञानिक वर्गीकरण ठीक नही बैठता।[1] अत उन्होने भी अलंकारो के जो भेदोपभेद गिनाए है, वे कई स्थलो पर विशृ खलित भी है। निष्कर्ष यह है कि हिन्दी के रीतिकालीन काव्य-शास्त्र का संस्कृत के जिन काव्य-शास्त्रों के आधार पर उद्भव हुआ था, वह अपनी रूप-प्रक्रिया मे औपचारिक मतभेद रखता हुआ आधुनिक साहित्य-समालोचना के शास्त्रीय पक्ष का प्रेरक स्रोत बनकर आया है और उसका अलंकार-सप्रदाय के विकास मे भी यथेष्ट हाथ रहा है।

रस-सम्प्रदाय

५७. सस्कृत काव्य-शास्त्र मे जिस रूप में रस-सिद्धान्त का विवेचन हुआ है, उस रूप मे तो हिन्दी के रीतिकालीन काव्य-शास्त्र मे नहीं मिलता, किन्तु इस ओर हिन्दी के आचार्य-कवियों ने भी अपनी मनोवृत्ति के अनुरूप ध्यान अवश्य दिया था। सामान्यतया आचार्य-कवि केशव ही रीति-कालीन काव्य-शास्त्र मे रस-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक माने जा सकते हैं, क्योंकि उनके पूर्व कृपाराम की 'हित-तरंगिणी' तथा नन्ददास की 'रस-मंजरी' मे जिस रूप मे रस-विवेचन हुआ है, वह अत्यन्त हल्का और सामान्य कोटि का है। इस सम्बन्ध मे केशव की 'रसिक-प्रिया' ही रस-सिद्धान्त की प्रथम प्रामाणिक कृति मानी जा सकती है। उसके रस-प्रसग के अन्तर्गत कृष्ण और राधा के भावों का वर्णन करते हुए केशव ने ब्रजराजकृष्ण को नवरसमय माना है और इतर रसो का समाहार राधा-कृष्ण के प्रसंग मे वर्णित शृ गार रस मे ही कर दिया है।[2] स्पष्ट है कि केशव के मतानुसार शृ गार ही रसों का

---

१. पं० शुकदेव बिहारी मिश्र तथा प्रतापनारायण मिश्र · 'साहित्य-पारिजात', प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४८।

२. श्री वृषभानु कुमारि हेतु 'शृंगार' रूप मय। वास 'हास' रस हरे, मात बंधन 'करुणामयं'॥
केशी प्रति अति 'रौद्र' 'वीर' मारो वत्सासुर। 'भय' दावानल पान, पियो 'बीभत्स' बकी उर॥

नायक है और उसमे 'रतिमति की चातुरी' तथा 'रति पित मंत्र विचार' आदि स्वत ही समाविष्ट रहते है।[१] उन्होने सयोग और वियोग के नाम से शृ गार की दो जातियाँ निर्दिष्ट कर उन्हे प्रच्छन्न और प्रकाश नामो से अलग-अलग दो उप-विभागो मे विभाजित किया है।[२] इस प्रकार का विभाजन सभवत भोजराज के 'शृ गार-प्रकाश' पर आधारित है, फिर भी केशव ने उसमे नवीनता लाने की पूर्ण चेष्टा की है।

५८. केशव की रसिकप्रिया मे हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत तथा समरस का भी चतुर्दश प्रकरण मे विवेचन हुआ है। उन्होने हास्य-रस के मदहास, कलहास अतिहास और परिहास नामक चार भेद गिनाकर प्रत्येक के अलग-अलग उदाहरण दिये है, किन्तु लक्षणो के साथ उनकी सगति नही हो सकी है।[३] वस्तुत उन्होने हास्य-रस की मूल वृत्ति यही मानी है कि उसके द्वारा रसिक जनो की मनोवृत्ति मे एक प्रकार की प्रफुल्लता का सचार हो जाता है। करुण-विरह और करुण-रस का अन्तर स्पष्ट करते हुए उन्होने प्रेम के कारण होने वाली दु खानुभूति को विरह तथा विपत्ति या मरण के कारण होने वाली दु खानुभूति को करुण-रस बतलाया है। वियोग शृ गार को पूर्वानुराग, करुण, मान और प्रवास इन चार प्रकारो मे विभक्त किया गया है। शेष रसो का वर्णन अत्यन्त साधारण कोटि का है। हाँ, उन्होने अनरस के रूप मे प्रत्यनीक, नीरस, विरस, दु.सधान तथा पात्रादुष्ट नामक उसके पाँच सामान्य भेद गिनाकर उन्हे अनुचित सिद्ध किया है।[४] इसके अतिरिक्त केशिकी भारती, आरभटी तथा सात्त्विकी के नाम से चार काव्य-वृत्तियो का वर्णन भी केशव की 'रसिकप्रिया' मे हुआ है।[५] रस-विवेचन के इसी प्रसग मे केशव ने रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध मे जो दोहाबद्ध लक्षण दिया है,[६] वह आचार्य अभिनवगुप्त के अभिव्यक्ति-वाद के बहुत निकट है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि शुचिता तथा रुचि को दृष्टिगत रखते हुए की जानी वाली सरस काव्य-रचना मे सज्जनो का चित्त स्वत वशवर्ती हो जाता है। उनका भाव-विश्लेषण भी अत्यंत व्यापक है। भाव को 'आनन, लोचन वचन-मग प्रकटत मन की बात' कहकर उन्होने विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारी भाव का उसके पाँच भेदो के रूप मे वर्णन किया है। यद्यपि केशव ने सात्त्विक भाव को अनुभाव से अलग माना है, किन्तु वे उसकी स्पष्ट विवेचना नही कर सके है।

५९. केशव की 'रसिकप्रिया' के पश्चात् हमे सुन्दर कवि का 'सुन्दर-शृ गार' नामक ग्रन्थ मिलता है, जिसमे मुख्यतया शृ गार-रस और नायिका-भेद का वर्णन है। इस ग्रन्थ की रचना सन् १६३१ ई० के आस-पास हुई थी और इसमे अधिकाशत केशव की मान्यताओ का ही अनुकरण किया गया है। यही कारण है कि इसमे किसी भी प्रकार की नवीन अथवा मौलिक उद्भावना नही हो सकी है। सुन्दर कवि के पश्चात् आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी ही ऐसे व्यक्ति है, जिन्होने 'शृ गारमजरी' मे सामान्यत और 'कविकुलकल्पतरु' मे विशेषत रसो का निरूपण किया है। आचार्य शुक्लजी के मतानुसार 'उन्होने सवत् १७०० के कुछ आगे-पीछे 'काव्य-विवेक', 'कवि-कुल-

---

अति अदभुत वच विरचि मति, शात सतते शोचवित। कही केशव सेबहु रसिक जन, नवरस में ब्रजराज नित॥
—केशवदास · रसिक प्रिया, प्र० १२, छ० १३।

१. केशवदास रसिक प्रिया, प्र० १२, १६, १७।
२. वही, प्र० १२-१७।
३. वही, प्रकरण १४, दोहा सख्या २, ३, ८, १२, १५।
४ वही, प्र० १६, छद सख्या १, २, ४, ६, ८ और १८।
५ वही, प्रकरण १५ छद सख्या १, २, ४, ६ और ८।
६ मिल अनभाव विभाव पुनि, सचारी सुअनूप। व्यग करै थिरभाव जो, सोई रस सुखरूप॥
· रसिकप्रिया :

कल्पतरु' और 'काव्य-प्रकाश' ये तीन ग्रन्थ लिखकर काव्य के सब अगो का निरूपण किया और पिगल या छन्द-शास्त्र पर भी एक पुस्तक लिखी। उसके पश्चात् तो लक्षण-ग्रन्थो की भरमार सी होने लगी।[१] चिन्तामणि ने शृगारमजरी मे मुख्यत नायिका-भेद का वर्णन किया है और वे भानुदत्त की 'रसमजरी' तथा 'आमोद-परिमल' को ही अपना आधार बनाकर चले है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ की रचना करने के पूर्व चितामणि ने नायिका-भेद से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थो का अध्ययन किया था और तदुपरान्त इसे लिखा था। इसमे उन्होने अपने विवेचन को स्पष्ट करने के लिए यथा-प्रसग उद्धरण देकर अपने निजी मत-स्थापन का भी प्रयत्न किया है। विशेष बात यह है कि विवेच्य विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए ब्रजभाषा गद्य मे यथाप्रसग सक्षिप्त तथा व्यापक चर्चाएँ भी की गई है। उन चर्चाओ मे व्याख्यात्मक प्रणाली का भी यथेष्ट निर्वाह है तथा उनसे रसानुभूति की प्रक्रियाओ के विषय मे भी चिन्तामणि की मान्यताओ का आभास मिलता है। उनके विवेचन से स्पष्ट है कि उन्हे नायक-नायिकाओ मे लौकिक रस तथा सामाजिको मे अलौकिक रस की अनुभूति मान्य थी और उनका नायिका-भेद मुख्यत शृगार-रस के प्रसग मे ही विवेचित हुआ था।

६० चितामणि त्रिपाठी का 'कवि कुल-कल्पतरु' आचार्य शुक्ल जी के मतानुसार संवत् १७०७ मे लिखा गया;[२] जिसमे-काव्य-गुण, अलकार और दोष-विवेचन के साथ-साथ रस-निरूपण भी हुआ है। वैसे तो त्रिपाठी जी ने उक्त ग्रन्थ मे विभिन्न काव्यागो का विवेचन किया है, किन्तु उनकी मनोवृत्ति ध्वनि तथा रस को काव्य का प्रधान लक्षण मानने की ओर विशेष थी। इस ग्रन्थ के षष्ठ प्रकरण मे नायिका-हाव-भाव-वर्णन, सप्तम प्रकरण मे शृगार-रस-वर्णन तथा अष्टम प्रकरण मे अवशिष्ट आठो रसो का वर्णन किया गया है। विद्वान् आचार्य ने इसकी रचना मे सहायक सस्कृत काव्य-शास्त्र के 'दशरूपक', 'काव्य-प्रकाश' तथा 'साहित्य-दर्पण' आदि ग्रन्थो का भी आभार स्वीकार किया है। 'शृगार-मजरी' की भाँति इसमे भी अनेक स्थलो पर ब्रजभाषा गद्य द्वारा विवेचन को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास है। रसाग वर्णन के अन्तर्गत हाव, भाव, अनुभाव, सचारी भाव तथा रसाभास और भावाभास का भी उल्लेख है। शृगार-रस के वर्णन मे सयोग और विप्रलम्भ का अलग-अलग विवेचन हुआ है, जो सामान्यत परम्पराभुक्त है। यद्यपि 'कविकुल-कल्पतरु' मे मौलिक उद्भावनाओ का प्रयास बहुत कम है, किन्तु विवेचन की दृष्टि से यह कृति अत्यत स्पष्ट और प्राजल है।

६१. रीतिकालीन रस सम्प्रदाय परम्परा मे तोषनिधि ने सवत् १७६१ विक्रमी मे 'सुधा-निधि' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसमे रस-भेद और भाव-भेद का विशेष रूप से वर्णन है। इसमे भावो और नवरसो के सामान्य निरूपण के अतिरिक्त भावोदय, भावशाति-भावशबलता, रसाभास, रसदोष, वृत्ति तथा नायिकाभेद का भी वर्णन है। रस से सम्बन्धित प्राय समस्त सामग्री इसमे आ गई है, किन्तु इसके लक्षणो मे शास्त्रीय दृष्टि से त्रुटियाँ भी आने से नही बच सकी है। इसी काल में मतिराम का लिखा हुआ 'रसराज' नामक ग्रथ उपलब्ध होता है, जिसमें शृगार-रस और नायिका भेद का विशेष निरूपण हुआ है। यद्यपि इसमे काव्यागो और रसो के संबंध मे दी गई परिभाषाओ मे अनेक प्रकार की त्रुटियाँ भी है, किन्तु लक्षणों के उपरान्त जो उदाहरण दिये गये है, वे अत्यत प्रशसनीय है। मतिराम के 'रसराज' के अतिरिक्त कुलपति मिश्र का 'रस-रहस्य', सुखदेव मिश्र का 'रसार्णव', गोपालराम का 'रस-सागर', बलिराम का 'रस-विवेक', कल्याणदास का 'रसचन्द' नामक ग्रथ भी मुख्यतः रस-विवेचन से सम्बद्ध है, जिनमे शृगार-रस तथा नायिका-भेद का विवेचन

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, नवॉ सस्करण : २००६ वि. : पृ० २३२।
२. वही, पृष्ठ २४२।

विशेष रूप से हुआ है। ठीक यही समय आचार्य-कवि देव की रचनाओ के विकास-काल का है, जिन्होने काव्य-शास्त्र के क्षेत्र मे अनेक प्रकार की मौलिक उद्‌भावनाएँ करने का प्रयत्न किया है। देव के 'शब्द-रसायन', 'भाव-विलास' और 'भवानी-विलास' नामक ग्रन्थो मे काव्य के सामान्य सिद्धान्तो के विवेचन के साथ-साथ, रस-प्रसग पर भी यथेष्ट विवेचन मिलता है। देवजी ने प्रथमत रस को लौकिक तथा अलौकिक भागो मे विभक्त कर लौकिक रस के अन्तर्गत शृ गारादि नवरस तथा अलौकिक के अन्तर्गत स्वापनिक, मानोरथ और औपनायक नामक तीन रसो की गणना की है। शृंगार-रस का राजत्व सिद्ध करने के लिए उन्होने 'प्रकृत पुरुष शृ गार मे नौ रस को सचार' कहकर उसे समस्त रसो का मूल माना है, और अन्य रसो का भी उसके अन्तर्गत समाहार कर लिया है।[1] उनके उक्त विचारो का साम्य भोजराय की रस-विषयक मान्यताओ से बहुत अधिक है। कहा जा सकता है कि देव द्वारा शृ गार-रस का विवेचन इतने अधिक प्रौढ तथा व्यापक धरातल पर किया गया है कि उसमे काव्य के उदात्त गुणो, अन्य रसो तथा सार-तत्वो का सचयन-सा हो गया है।[2]

६२ देव के अतिरिक्त रीतिकालीन काव्य-शास्त्रीय परम्परा मे रस-सिद्धान्त को लेकर जिन अन्य आचार्य कवियो ने काव्य-विश्लेषण किया है उनमे कुमार मणिभट्ट का 'रसिक-रसाल' (सवत् १७७६), रसलीन का 'रस-प्रबोध' (संवत् १७९८), उदयनाथ कवीन्द्र का 'रस-चन्द्रोदय' (रचना काल संवत् १८०४ वि०), भिखारीदास का 'शृ गार-निर्णय' और 'रस-साराश' (सवत् १७९१ वि०) रूपसाहि का 'रूप-विलास', समनेस का 'रसिक-विलास' (सवत् १८२७), उजियोर का 'जुगल-रस-प्रकाश' (सवत् १८३७ वि०), महाराज जसवन्तसिह का 'शृ गार-चिन्तामणि' (सवत् १८५७), श्रीपति का 'काव्य-सरोज', सोमनाथ का 'रस-पीयूष-निधि', प्रतापसिह का 'काव्य-विलास', रामसिह का 'रस-निवास' (रचनाकाल सन् १७८२ ई०), प्रभाकर का 'जगतविनोद', रसिक गोबिन्द का 'रसिक-गोविन्दानन्दघन', बेनी-प्रवीन का 'नवरस-तरग', ग्वालकवि का 'रसिकानन्द' तथा 'रसरग', लछिराम का 'रावणेश्वर-कल्पतरु और महेश्वर-विलास' आदि प्रमुख ग्रन्थ है। इन ग्रथो की रचना मे सस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो का आधार प्राय सर्वत्र लिया गया है और रस-निरूपण के साथ-साथ अन्य काव्यागो के सम्बन्ध मे भी विवेचन किया गया है। कुछ ग्रन्थो मे मौलिकता-प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी मिलती है। उदाहरणार्थ कुमार मणिभट्ट ने वियोग-शृ गार को वर्तमान, भूत और भविष्यत् इन तीनो भागो मे विभक्त कर फिर उसे प्रवास, करुणात्मक, मान तथा पूर्वानुराग मे विभाजित किया है तो रामसिह ने अपने रस-निवास नामक ग्रथ मे भानुदत्त की 'रस-तरगिणी' के आधार पर मिथ्याज्ञान नामक स्थायीभाव के आधार पर एक नया 'मायारस' भी माना है। इसी प्रकार ग्वाल कवि ने देव की भाँति सात्विक भावो को अनुभावो के अन्तर्गत न मानकर सचारी भावो के अन्तर्गत माना है। इन रस-शास्त्रीय ग्रथो मे गद्य का प्रयोग भी मिलता है और विवेचन की तार्किक पद्धति के भी तत्वो का सूक्ष्म सयोजन है। इन ग्रन्थो के अतिरिक्त रीतिकालीन काव्यशास्त्र मे रस-सिद्धान्त विषयक और भी अनेक ग्रंथ-रत्न भरे पडे है जिनमे बहुत से ग्रथो की शोध हो चुकी है और बहुत से ग्रथो की होनी अवशिष्ट है। ये ग्रथ हमारे आधुनिक समालोचना-साहित्य के विकास की उपजीव्य निधि है और इनसे समीक्षा-साहित्य को वैभव प्राप्त हुआ है। आधुनिक काल मे हरिऔधजी ने 'रस-कलश' (सवत् १९८८ विक्रमी), और बिहारीलाल भट्ट ने 'साहित्य-सागर' (सवत् १९४४) नामक जो रस-सिद्धान्त-विषयक ग्रथ लिखे है, उन पर भी रीतिकालीन रस-सिद्धान्त का प्रभाव परि-

---

१. भूलि कहत नव रस सुकवि, सकल मूल शृ गार। तेहि उछाह निरवेद लै, बीर शांत सचार॥
देव, भवानी विलास, प्रथम प्रकरण, छद सख्या १०

२. निर्मल स्याम सिगार हरि, देव अकास अनत। उड़ि उडि खग ज्यो और रस, विवस न पावत अत॥
भाव सहित सिगार में नव रस झलक अजस्न। ज्यो कंकण मधि कनक को ताही में नवरत्न॥ (वही)

लक्षित है। हाँ, यह बात अवश्य है कि आधुनिक काल के रस-विवेचको पर मनोविज्ञान की छाया विशेष रूप से पडने लगी है और उनकी विवेचन-प्रक्रिया भी रीतिकालीन आचार्यों की परम्परागत शास्त्रीय प्रणाली से भिन्न है, किन्तु इससे यह तो फिर भी सिद्ध नही किया जा सकता कि रीति-कालीन रस-सिद्धान्त विवेचना का आधुनिक काल मे आकर लोप हो गया है। वस्तुत यह हमारे विकास-स्रोत की एक प्रमुख निधि है, इस सत्य की उपेक्षा नही की जा सकती।

(इ) ध्वनि-सम्प्रदाय

६३. यह एक अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण बात हे कि जिन आचार्य कवि केशव को रीति-कालीन काव्यशास्त्र का प्रवर्त्तक कहा जाता है, उन्होने अपने लक्षण-ग्रन्थो मे रस, अलकार, नायिका-भेद तथा काव्य-वृत्तियाँ आदि का तो विवेचन किया, किन्तु सस्कृत काव्य-शास्त्र मे अद्वितीय क्रान्ति करने वाले ध्वनि-सिद्धान्त के विषय मे कुछ भी नही लिखा। ऐसी परिस्थिति मे हमे कुलपति मिश्र को ही हिन्दी रीतिशास्त्र के अन्तर्गत ध्वनि-सिद्धान्त के आदि-निरूपक आचार्य के रूप मे श्रेय देना पडता है। कुलपति ने संवत् १७२७ विक्रमी मे अपने आश्रयदाता के आदेशानुसार "काव्य-प्रकाश" तथा "साहित्य-दर्पण" को अपना आधार बनाकर "रस-रहस्य" नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसका प्रमुख उद्देश्य काव्य-रहस्य का स्पष्टीकरण करना था। उनके मत की यह विशेषता हे कि उन्होने ध्वनि के आधार पर काव्य-पुरुष का विवेचन किया और गुण, अलकार तथा दोपो का यथास्थान निर्धारण कर व्यग्य-प्रधान काव्य को सर्वश्रेष्ठ माना।[1] 'रस रहस्य' के द्वितीय वृत्तान्त मे कुलपति ने शब्दार्थ-निरूपण किया है जिसके अन्तर्गत वाचक, लक्षक तथा व्यजक शब्दो के साथ-साथ तात्पर्य-वृत्ति का भी विवेचन है। इसी प्रकरण मे ध्वनि के विविध भेदो के अन्तर्गत भावो का वर्णन कर रस का स्वरूप-लक्षण दिया गया है; जिसमे उनके मतानुसार व्यग्य अथवा ध्वनि का प्राधान्य रहता है।[2] उनका रस-ध्वनि तथा भाव-ध्वनि विषयक विवेचन अत्यन्त प्रामाणिक कहा जा सकता है, क्योकि उन्होने नवोद्भावनाओ के फेर मे पडकर कही पर भी असगत सिद्धान्त-निरूपण नही किया है।

६४ कुलपति के पश्चात् देव का लिखा हुआ 'शब्द-रसायन' अथवा 'काव्य-रसायन' नामक ग्रन्थ मिलता है, जिसमे यद्यपि रस-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई है, किन्तु उसमे ध्वनि-सिद्धान्त के सम्बन्ध मे भी नाममात्र के लिए विश्लेषण हुआ है। इस विवेचन मे देव ने अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और तात्पर्य-वृत्ति के विभिन्न स्वरूपो का उल्लेख कर अभिधा-शक्ति पर अधिक जोर दिया है और व्यजना को रस-कौटिल्य का कारण माना है। कहने के लिए तो देव का यह विवेचन 'काव्य-प्रकाश' और 'ध्वन्यालोक' पर आधारित है, किन्तु उसमे ध्वनि-सिद्धान्त का वास्तविक मूल्याकन नही हुआ है, क्योकि अभिधा को उत्तम काव्य, लक्षणा को मध्यम काव्य तथा व्यजना को अधम काव्य कह-कर उन्होने काव्य-शास्त्र के क्षेत्र मे कुछ नवीन किन्तु विचित्र प्रकार की उपपत्तियो का सस्थापन किया है।[3] आचार्य शुक्ल जी के मतानुसार देव जी का व्यजना से तात्पर्य वस्तु-व्यजना का ही जान पड़ता है।[4]

---

१ व्यंग जीव ताको कहत, शब्द अर्थ है देह। गुण गुण भूषण भूषणै, दूषण दूषण एह ॥
सो कवित्त है तीन विधि, उत्तम मध्यम और। जीव सरस पुनि देह सम, दैहै बलि जेहि ठौर ॥
व्यग अर्थ सम सुखद जहँ, मध्यम कहिये सोइ। शब्द अर्थ है चित्र जहँ, व्यंग न अवर सु होइ ॥
—कुलपति मिश्र, रस-रहस्य, वृ० १, छन्द ३४, ३५, ३८।

२. कुलपति मिश्र, 'रस-रहस्य' तृतीय प्रकरण छन्द स० ३४।

३. अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणालीन।
अधम व्यजना रस-विरस, उलटी कहत नवीन ॥

४. प० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास। नवाँ सस्करण पृष्ठ २६६।

६५ देव के पश्चात् सूरति मिश्र के 'काव्य-सिद्धान्त' तथा कुमारमणि भट्ट के 'रसिक-रसाल' नामक ग्रन्थो मे 'काव्य-प्रकाश' के आधार पर काव्य-विवेचन, शब्द-शक्ति-निरूपण तथा ध्वनि-विश्लेषण मिलता है, किन्तु वह भी प्राय परम्परागत ही है। इसी प्रकार श्रीपति के 'काव्य-सरोज', सोमनाथ के 'रस पीयूष-निधि', भिखारीदास के 'काव्य-निर्णय', जगतसिंह के 'साहित्य-सुधानिधि', रणवीरसिह के 'काव्य-रत्नाकर', प्रतापसिह के 'व्यगार्थ-कौमुदी' तथा 'व्यगार्थ-चन्द्रिका', रामदास के 'कवि-कल्पद्रुम' अथवा 'साहित्य-सार' नामक ग्रन्थो मे भी ध्वनि-सिद्धान्त का विश्लेषण है, जिसके आधार-ग्रन्थ साधारणतया 'काव्य-प्रकाश' और 'ध्वन्यालोक' आदि ही है। इन ग्रन्थो मे यद्यपि लक्षण-निरूपण पद्य मे ही किया गया है, किन्तु बीच-बीच मे स्पष्टीकरण के निमित्त गद्य का भी प्रयोग हुआ है। सोमनाथ के 'रस-पीयूष-निधि' की षष्ठ तरग मे शब्द-शक्तियो के अन्तर्गत अभिधा, लक्षणा और व्यजना तथा वाक्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यग्यार्थ का जो विवेचन हुआ है, उससे स्पष्ट है कि सोमनाथ का ध्येय मुख्यत ध्वनि-सिद्धान्त का गौरव प्रतिष्ठित करने का ही था।[1] उन्होने इसी ग्रन्थ की सप्तम तरग मे ध्वनि की महत्ता स्वीकार की है। इसी प्रकार भिखारीदास के 'काव्य-निर्णय' के द्वितीय प्रकरण मे शब्द-शक्तियो के अन्तर्गत ध्वनि-सिद्धान्त का वर्णन हुआ है, यद्यपि उनका प्रधान लक्ष्य रस को प्रमुखता देते हुए अन्यान्य काव्यागो का भी विश्लेषण करना रहा है। इस ग्रन्थ के छठे उल्लास मे ४३ प्रकार की ध्वनियो का निरूपण है जिनका आधार भी 'काव्य-प्रकाश' ही है। शेष ग्रन्थो मे भी यथाप्रसग ध्वनि का उल्लेख हुआ है। अभिप्राय यह है कि रीतिकालीन काव्यशास्त्र मे यद्यपि ध्वनि-सिद्धान्त का अधिक विश्लेषण नही हुआ, किन्तु जो कुछ भी हुआ है वह हिन्दी-काव्यालोचन के प्रारम्भिक काल मे अवश्य महत्त्वपूर्ण है। इसमे कोई सन्देह नही कि उसमे कई स्थलो पर असगतियाँ भी आ गई है तथा मौलिकता का भी अभाव है, किन्तु इसके लिये हमारे वे आचार्य अधिक दोषी नही निर्धारित किये जा सकते, क्योकि हिन्दी के लिए रीतिकाल ही काव्यशास्त्रीय परम्परा का प्रवर्त्तन काल था और उस समय काव्य-विश्लेषण मे गद्य तथा तर्कशक्ति की न्यूनतावश वे इससे अधिक विवेचन कर ही नही सकते थे; क्योकि जैसा कि पहले सकेत कर दिया गया है, उनका मूल दृष्टिकोण आचार्यत्व का न होकर कवित्व-प्रदर्शन का था।

६६ रीतिकालीन ध्वनि-सिद्धान्त का हमारे आधुनिक काव्यालोचन पर भी प्रभाव है। इस काल के अवसान तथा आधुनिक काल के प्रारम्भ की सधि मे सन् १८९० मे लछिराम ने "रावणेश्वर-कल्पतरु" नामक जो प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है, उसके तृतीय, चतुर्थ तथा पचम कुसुमो मे क्रमश शब्द-भेद और अभिधाशक्ति, लक्षणा तथा उसके भेद और व्यजना तथा उसकी काव्यगत महत्ता का विवेचन हुआ है। लछिराम ने लक्षक तथा वाचक शब्दो को व्यंजना के लिए भाजन-[2] स्वरूप माना है और इस विषय मे भिखारीदास का अनुकरण किया है। उनके ग्रन्थ मे ध्वनि और गुणीभूत व्यग्य की विवेचना तथा उनके उदाहरणो के बीच ब्रजभाषा गद्य मे यथासंभव 'तिलक' द्वारा विषय को और अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि रस-सिद्धान्त के साथ-साथ लछिराम को भी ध्वनि-सिद्धान्त के प्रति भी विशेष आस्था थी और वे कई बातो मे ध्वनिकार के बहुत निकट थे।

६७ आधुनिक काल मे जिन आचार्यों की कृतियो पर सस्कृत के साथ-साथ रीतिकालीन परम्परा मे विवेचित ध्वनि-सिद्धान्त का विशेष प्रभाव है उनमे सेठ कन्हैया लाल पोद्दार की 'रस-मजरी', रामदहिन मिश्र का 'काव्यालोक' (द्वितीय उद्योत) तथा 'काव्य-दर्पण' तथा जगन्नाथ प्रसाद भानु का 'काव्य-प्रभाकर' प्रमुख है। पोद्दारजी ने यद्यपि रस-मजरी मे 'काव्य-प्रकाश' के आधार

---

१ व्यग प्राण अरु अग सब, शब्द अर्थ पहिचानि।
दोष और गुन अलकृति, दूषनादि उर आनि॥ —सोमनाथ · 'रसपीयूषनिधि', षष्ठ तरंग, छन्द ६।

२. लछिराम : 'रावणेश्वर-कल्पतरु', पंचम कुसुम, प्रथम छद।

पर ध्वनि के अतिरिक्त अन्यान्य अगो का भी विश्लेषण किया है, किन्तु उसमे शब्द-शक्तियो के विवेचन के साथ-साथ ध्वनि और उसके भेदोपभेदो का भी अत्यन्त विस्तारपूर्वक विवेचन हुआ है। उन्होने असलक्ष्यक्रम व्यग्य-ध्वनि के अन्तर्गत जो रस-विवेचन किया है, वैसा हिन्दी-साहित्य मे उनके पूर्व बहुत कम हुआ था। चूँकि उस समय पर्यन्त हमारे साहित्य मे गद्य की परम्परा यथेष्ट प्रौढ और परिमार्जित हो गई थी, अत. उनके विवेचन मे शास्त्र-प्रमाण और तर्क-बुद्धि का भी सन्निवेश हो सका है। इस ग्रन्थ मे उदाहरणो के रूप मे पद्य का प्रयोग है। पोद्दारजी की भाँति प० रामदहिन मिश्र के काव्यालोक द्वितीय उद्योत मे भी शब्द-शक्तिया और ध्वनि-स्वरूप का विशद विवेचन हुआ है। यह विवेचन कई बातो मे पोद्दारजी से अधिक व्यापक और प्रौढ है। मिश्र जी ने इस विवेचन मे एक विशेषता यह भी रखी है कि उन्होने अपनी व्याख्या के स्पष्टीकरण मे आधुनिक काव्य के उदाहरण भी दिये है। उनके 'काव्य-दर्पण' के छठे प्रकाश मे भी ध्वनि का विश्लेषण है। भानुजी का 'काव्य-प्रभाकर' काव्य के विभिन्न अगो पर लिखा हुआ ग्रन्थ है, किन्तु उसके ध्वनि-भेद-निर्णय परिच्छेद मे ध्वनि के १८ भेदो का यथेष्ट विवेचन हुआ है। अभिप्राय यह है कि आधुनिक काल मे उपर्युक्त ग्रन्थो के अतिरिक्त और भी जो अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये है, उनकी रचना-प्रणाली तथा मान्यताओ पर रीतिकालीन काव्य-शास्त्र का भी प्रभाव है। इसमे कोई सन्देह नही कि आधुनिक युग-चेतना ने हमारे दृष्टिकोण को विकसित बना दिया है और अब विवेचन-प्रणाली पर शास्त्रीयता का उतना आभार नही है, जितना व्याख्यात्मकता का, किन्तु आधुनिक काल के सैद्धान्तिक समीक्षण मे सस्कृत तथा रीतिकालीन काव्य-शास्त्र को उसके प्रेरणा-स्रोत के रूप मे तो महत्त्व देना ही होगा।

रीति-सम्प्रदाय

६८. हिन्दी के रीतिकालीन काव्यशास्त्र के अध्ययन से इस विषय का सहज ही ज्ञान हो जाता है कि इस युग मे हिन्दी काव्यशास्त्र मे रीति-सिद्धान्त की मान्यताओ के प्रति आचार्यों की बहुत कम अभिरुचि रही। इस काल के अन्तर्गत होने वाले आचार्यों में ऐसे आचार्यों की सख्या नही के बराबर है, जिन्होने अलकारो, रसो और नायिका-भेद को छोडकर रीति-मत की आशसा की हो। अब तक के अनुसन्धानो से पता चलता है कि रीतिकाल के पूर्व भी हिन्दी मे रीति-सिद्धान्त की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया था। हिन्दी-साहित्य के आदि-युग मे स्वयभू तथा चद आदि पिगल शास्त्रीय कवियो की कुछ ऐसी पक्तियाँ अवश्य मिलती है, जिनमे अक्षर-गुम्फ, दीर्घ समास, सघन शब्द-बध आदि रीति-तत्वो का सकेत है, किन्तु उन्हे विशेष रूप से प्रतिष्ठित नही किया गया है[1]। विद्यापति ने कीर्तिलता मे 'देसिल बअना सब जन मिट्ठा, तें तैसन जम्पओ अवहट्ठा' कहकर एक प्रकार से पाचाली रीति का समर्थन किया है, किन्तु वे भी रीतिवाद के समर्थक रहे हो, ऐसा कोई सुनिश्चित विवेचन नही मिलता। भक्तिकाल के कवियो का मूल दृष्टिकोण तो आराध्य देव के प्रति आत्मनिवेदन करते हुए काव्य-रचना करना था, अत· उनसे इस प्रकार के शास्त्रीय विवेचन की तो आशा की ही नही जा सकती थी। अत· स्पष्ट है कि आचार्य कवि केशव के द्वारा जब एक प्रकार से रीति-काव्य का प्रवर्त्तन किया गया तो उन्होने अलंकार की काव्यगत महत्ता और अनिवार्यता स्वीकार करते हुए भी रीति की सहधर्मिणी रस-वृत्तियो का उल्लेख

---

१. अक्खर-वास जलौह मणोहर। सुयलंकार छंद मच्छोहर।
दीह समास पवाहा बंकिय। सक्कय पायय पुलिणालकिय॥ (स्वयभू कवि)
—डा० नगेन्द्र : 'हिन्दी काव्यालंकार-सूत्र' : सन् १९५४, प्रथम संस्करण, पृ० १४२ :

कैशिकी, भारती, आरभटी तथा सात्वती के नाम से अवश्य किया।[1] केशव के उपरान्त चिन्तामणि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कवि-कुल-कल्पतरु' मे 'काव्य-पुरुष' विवेचन के अन्तर्गत रीति और उसके तत्वो का जो वर्णन किया है, उसके अनुसार रीति काव्य का स्वभाव सिद्ध होती है और उनके अनुसार उसका काव्य के साथ अन्तरग सम्बन्ध है।[2] आचार्य कुलपति मिश्र ने भी 'रस-रहस्य' के छठे वृत्तान्त मे रीति के मूलभूत तत्व गुण का वर्णन कर सातवे वृत्तान्त मे रीति की पर्याय काव्य-वृत्तियो का सामान्य निरूपण किया है।[3] इनमे देव का रीति निरूपण-शास्त्र-परम्परा के अधिक अनुकूल है। ऐसा प्रतीत होता है कि देव ने रीतियो को काव्य का द्वार कह कर उनका रस-सिद्धान्त से अभिन्न सम्बन्ध जोड दिया है और अपनी मौलिकता दिखलाने के लिए रीति के भेद—वैदर्भी, गौडी, पाचाली आदि न मानकर गुणो के अन्तर्गत परिगणित होने वाले प्रसाद, ओज तथा माधुर्य का वर्णन उन्हे रीति मानते हुए किया है, किन्तु फिर भी उनका इस प्रकार का निर्णय चिन्त्य है, क्योकि रीति के अन्तर्गत गुण भले ही समाविष्ट कर लिये जाएँ, किन्तु उन्हे रीति के रूप मे महत्ता प्रदान करना कदाचित् भारतीय काव्यशास्त्र-परम्परा के अनुसार उचित नही है। देव के पश्चात् श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास और प्रतापसाहि आदि और भी ऐसे अनेक आचार्य-कवि मिलते है, जिन्होने काव्य-विवेचन के प्रसग मे रीति-सिद्धान्त पर सामान्य बाते लिखी हैं, किन्तु उनमे किसी भी आचार्य का इस सिद्धान्त के प्रति कोई आकर्षण नही प्रकट होता। इन आचार्यों मे केवल सूरति मिश्र ही एक ऐसे व्यक्ति हुए है, जिन्होने काव्य-लक्षण-निरूपण के अन्तर्गत रीति को "बरनत मन रजन जहाँ रीति अलौकिक होइ। निपुन कर्म कवि कौ जुति हि, काव्य कहत सब कोइ।" कह कर काव्य का अनिवार्य अग माना है। इन आचार्य कवियो मे रीति-सिद्धान्त के लोकप्रिय न होने का एक प्रमुख कारण यह भी है कि वे अधिकाशत सस्कृत के अलकारवादी और रसवादी आचार्यों के लक्षण-ग्रन्थो और उनकी मान्यताओ की ओर अधिक झुके हुए थे, अत उन्हे वामन के "रीतिरात्मा काव्यस्य" का सिद्धान्त स्वीकार्य नही प्रतीत हुआ।

६६ साधारणतया हिन्दी के रीतिकाल का अवसान सवत् १६०० के आसपास माना जाता है, किन्तु उसकी परम्परा आधुनिक युग मे भी चलती रही है। इस युग मे यद्यपि रीति-सम्प्रदाय को लेकर स्वतत्र ग्रन्थ नही लिखे गये, किन्तु ग्वाल कवि का 'रस-रग', कविराज मुरारिदान का 'जसवन्तजसोभूषण' तथा अयोध्या-नरेश महाराजा प्रतापनारायणसिंह का 'रस-कुसुमाकर' इसी परम्परा मे आते है। यद्यपि भारतेन्दु-युग के पश्चात् हिन्दी काव्य-शास्त्र मे पाश्चात्य लक्षण-ग्रन्थो और काव्य-सिद्धान्तो का प्रभाव प्रभूत मात्रा मे पडा है, किन्तु इस युग मे भी ऐसे आचार्यों का अभाव नही है जो रीति-सिद्धान्त के प्रति अभिरुचि न रखते हो। यह बात अवश्य है कि उनका निरूपण इस सिद्धान्त को प्राधान्य प्रदान करते हुए नही किया गया है। कहने की आवश्यकता नही कि इस क्षेत्र मे सेठ कन्हैयालाल पौद्दार का 'काव्यकल्पद्रुम', अर्जुनदास केडिया का 'भारती-भूषण', मिश्रबन्धुओ का 'साहित्य-पारिजात' तथा हरिऔध का 'रस-कलस' विशेष महत्त्वपूर्ण ग्रथ है। इन ग्रन्थों की रचना-पद्धति प्राचीन परम्परागत है और उनमे किसी न किसी प्राचीन आचार्य को अपना आदर्श मान कर उसी के सिद्धान्तो का पिष्टपेषण किया गया है, किन्तु कुछ स्थलो पर विद्वान् लेखको ने अपनी मौलिकता दिखलाने का भी प्रयास किया है। इस सम्बन्ध मे हरिऔध जी का 'रस-कलस' विशेष प्रशसनीय है, भले ही उसमे प० वेंकटेशनारायण तिवारी को हरिऔध जी के 'बुढभस' की ही झलक मिली हो। उक्त लेखको ने अपने विवेचन के प्रसग मे रीति के सम्बन्ध मे भी चलती

१. केशवदास · 'रसिक प्रिया', प्रकरण १५, छद १, २, ४, ६, ८।
२. चितामणि · 'कवि कुल कल्पतरु', प्रकरण १, छद ६ से १२।
३. कुलपति मिश्र 'रस-रहस्य', प्रकरण ७ छद १०, ११, १२।

टिप्पणियाँ दी हैं। पोद्दार जी ने मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' को अपना उपजीवी बनाकर 'रसमंजरी' के षष्ठ स्तवक मे रीति को ही गुणाश्रित बतलाकर उसकी विभिन्न वृत्तियो (रीतियो) का उल्लेख किया है।[1] इसी प्रकार केडियाजी ने भी भारती-भूषण मे वृत्तियो (रीतियो) का वर्णन अनुप्रास (शब्दालकार) के प्रसग मे किया है। मिश्रबन्धुओ ने अपने 'साहित्य-पारिजात' मे भी यही क्रम अपनाया है। उनके विवेचन की यह विशेषता है कि वे सर्वत्र सस्कृत के आचार्य-कवियो का ही आश्रय लेकर नही चले है, अपितु यथास्थान उन्होने हिन्दी की प्रकृति को भी प्रमाण माना है।[2] इस क्षेत्र मे प० रामदहिन मिश्र का कार्य उल्लेखनीय है। उन्होने अपने 'काव्य-दर्पण' नामक ग्रन्थ मे सस्कृत के विभिन्न आचार्यों के सिद्धान्तो का मथन कर तथा उनके प्रतिमान को आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियो के विश्लेषण मे सयोजित कर जहाँ अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है, वहाँ वे वामन के अनुसार वैदर्भी, पाचाली तथा गौडी रीतियो को ही प्रधानता देते है। उनके मतानुसार 'गुण-रीति का ज्ञान काव्य-कला के अतरग मे पैठने का द्वार है, इनकी उपेक्षा नही की जा सकती।[3]

७०. आधुनिक हिन्दी समालोचना के सवर्धन-काल से लेकर आज तक काव्य-सिद्धान्तो का जो विश्लेषण हुआ है, उसमे भी रीति-सम्प्रदाय की छुटपुट झलक मिलती है, यद्यपि उसे नवीन प्रणाली के अनुसार परिवर्तित रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इस विषय मे सर्वाधिक उल्लेखनीय कार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी का है। द्विवेदीजी ने काव्य-भाषा का विश्लेषण करते हुए उसकी शुद्धता, स्पष्टता, सरलता और मुहाविरेदानी का जो निरूपण किया है, वह भाषा-गठन से सम्बन्धित होने के कारण उनके रीति-विषयक विचारो का ही साकेतिक स्वरूप है। उन्ही के समकक्ष प० रामचन्द्र शुक्ल ने यद्यपि अगीभाव मे रस-सिद्धान्त का समर्थन किया है, किन्तु उनके अनुसार भी शैली के समस्त उपकरणो (रीति, अलकार आदि का चमत्कार) का रस-निष्पत्ति के साथ सयोग अवश्य है, यदि उसे भाव-सयुक्त करते हुए चित्रित किया जाय। हाँ, यह बात अवश्य है कि शुक्लजी ने शैली-तत्व के अन्तर्गत रीति-का तत्व विश्लेषण कर उसे नवीन उद्भावनाओ से अवश्य ही संयोजित कर दिया है, जिसमे उनका मौलिक दृष्टिकोण प्रकट होता है। इसमे तो कोई सदेह ही नही कि आचार्य शुक्लजी रसवाद के प्रबल समर्थक थे और रीतिवाद, अलकारवाद तथा वक्रोक्तिवाद का विरोध करते थे।

७१. आधुनिक युग के अन्य समालोचको मे डा० श्यामसुन्दरदास, डा० गुलाबराय, श्री लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधाशु' आदि ने भी क्रमश अपने 'साहित्यालोचन', 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य मे अभिव्यजनावाद' नामक ग्रथो मे अन्यान्य सैद्धान्तिक विवेचनो के साथ रीति-सिद्धान्त का भी निरूपण किया है, किन्तु वह निरूपण भारतीय और पाश्चात्य विचारधारा का सम्मिश्रण करते हुए किया गया है। डा० दास ने काव्य में बुद्धि-तत्व, कल्पना-तत्व और भाव-तत्व के अतिरिक्त एक चौथा तत्व, शैली-तत्व, माना है, जिसका अर्थ रूप-सौन्दर्य, रूप-चमत्कार अथवा रचना-चमत्कार है। वे वाह्य दृष्टि से किसी कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्याशों का प्रयोग, वाक्यो की बनावट, और उनकी ध्वनि का नाम शैली मानते हैं और उसके आधार शब्द तथा वाक्य बतलाते है। यद्यपि उनका यह विवेचन भी कई स्थलो पर अव्यवस्थित है, किन्तु इसका सम्बन्ध प्राचीन रीतिवाद के साथ अवश्य जोडा जा सकता है। डा० गुलाबराय के विवेचन मे रीति गुण विवेचन मे भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तो के समन्वय का प्रयास किया है और वे भी डा० दास की भाँति उनका विश्लेषण 'शैली-तत्व' के अन्तर्गत ही करते है। अभिप्राय यह है कि आधुनिक युग मे भी रीति-सिद्धान्त की

---

१. सेठ कन्हैयालाल पोद्दार : रस मजरी, षष्ठ स्तवक, पृष्ठ ३८४।

२. डा० नगेन्द्र : हिन्दी काव्यालकार-सूत्र की भूमिका, पृष्ठ १६६।

३. पं० रामदहिन मिश्र : काव्य-दर्पण, पृष्ठ ३१६।

हल्की-सी परम्परा है, जो शैली के नाम से अपना नवीन परिधान लेकर चली है तथा जिसमे प्राच्य और पाश्चात्य सिद्धान्तो के सम्मिलन का भी प्रयास है।

(ई) वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

७२ हिन्दी के रीतिकालीन काव्य-शास्त्र मे कुन्तक की भाँति किसी भी आचार्य ने रस-वाद और अलकारवाद की भाँति वक्रोक्ति की काव्य-प्रतिमान के रूप मे कही पर भी प्रतिष्ठा नही की। जिस प्रकार रुद्रट के अनुकरण पर सस्कृत के परवर्त्ती काव्य-शास्त्र मे अधिकाश आचार्यों ने 'वक्रोक्ति' की गणना शब्दालकार मे की थी, उसी प्रकार रीतिकालीन काव्य-शास्त्र मे भी विभिन्न आचार्यों द्वारा यह शब्दालकार का एक भेद ही माना जाता रहा। इस विषय मे हमे सर्वप्रथम केशवदास ही एक ऐसे आचार्य मिलते है, जो वक्रोक्ति को विदग्ध उक्ति के कारण शब्दालकार न मानकर उसकी गणना अर्थालकार मे करते है। उन्होने उक्ति अलकार के पाँच भेदो के अन्तर्गत वक्रोक्ति की भी गणना की है और उसका मूल आधार केवल शब्द-चमत्कार न मानकर वाग्वैदग्ध्य माना है।[1] अपने विवेचन के स्पष्टीकरण के लिए उन्होने वक्रोक्ति के उदाहरण देकर यही सिद्ध किया है कि वक्रोक्ति शब्दो मे नही, अपितु अर्थ-चमत्कार मे होता है। केशव के परवर्ती आचार्यों ने रुद्रट का अनुगमन कर वक्रोक्ति को शब्दालकार ही माना है और उसके काकु तथा श्लेष नामक दो भेद किये है। हाँ, इन आचार्यो के विवेचन से इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि वे वक्रोक्ति को काव्य का एक उदात्त अग अवश्य मानते थे। महाराज जसवन्तसिंह तथा भूषण के वक्रोक्ति-विवेचन मे इस अलकार की गणना, अर्थालकार के अन्तर्गत की गई है, किन्तु दास आदि आचार्यों ने इसे श्लेष वर्ग मे ही रखा है। यद्यपि बिहारी ने आचार्य के रूप मे लक्षण-ग्रथो का निर्माण नही किया, किन्तु वे अपने लक्ष्य ग्रथ मे ध्वनि के साथ-साथ वक्रोक्ति को काव्य का प्रधान उपकरण मानकर चले है। देव का दृष्टिकोण उनसे भिन्न था। वे शब्द-शक्तियो मे अभिधा और अलकारो मे उपमा तथा स्वभाव को प्राथमिकता देते थे। कहने की आवश्यकता नही कि रीतिकाल मे वक्रोक्ति सिद्धान्त अपना कोई महत्त्व स्थापित नही कर सका, भले ही वह लक्ष्य-ग्रथो मे अपनी महत्ता यदा-कदा प्रदर्शित करता रहा हो। कविवर घनानन्द ने अपने काव्य-ग्रथो मे 'घन आनन्द बूझनि अक बसै, बिलसै रिझवार सुजान धनी' लिखकर भी वक्रोक्ति का आचार्य के रूप मे कही भी विवेचन नही किया। बात यह है कि रीतिकालीन काव्यशास्त्र मे आचार्यों का अधिक ध्यान रसवाद और अलकारवाद की ही ओर था और वे अन्य वादो को केवल उन्ही की परिधि मे अधिकाशत ग्रहण करते हुए चलते थे, अत जिस वक्रोक्ति की गणना अलकार के अन्तर्गत किये जाने की सस्कृत मे एक परम्परा रही है, वे उसी मे सीमित होकर ही चलते रहे।

७३. रीतिकालीन काव्य-शास्त्र-परम्परा का आधुनिक युग मे यद्यपि उस रूप मे तो प्रभाव नही पडा, किन्तु आधुनिक काल के काव्यशास्त्रियो ने भी वक्रोक्ति के सम्बन्ध मे अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यो का ही अनुगमन किया। कविराजा मुरारिदान, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, अर्जुनदास केडिया तथा मिश्रबन्धुओ ने वक्रोक्ति को काव्य-शास्त्र का स्वतत्र सम्प्रदाय न मानकर उसका विवेचन अलकार-निरूपण के अन्तर्गत ही किया है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार तो वक्रोक्ति को शब्दालकार ही मानते है किन्तु मिश्रबन्धुओ ने उसे अर्थालकार के अन्तर्गत मानना समीचीन समझा है। प० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने काव्य मे चमत्कार का विशिष्ट स्थान निर्धारित करते हुए एक प्रकार से वक्रोक्ति का ही सस्तव किया है किन्तु उनका युग मुख्यत भाषा-शुद्धि का होने के कारण वक्रोक्ति

---

१. वक्र अन्य, व्यधिकरण कहि, और विशेष समान। सहित सहोकति में कही, उक्ति सु पच प्रमान॥
केशव सूधो बात में, बरणत टेढो भाव। वक्रोक्ति तासों कहत, सदा सबै कविराव॥
—केशव, कविप्रिया, बारहवॉ प्रभाव

का काव्यगत सुन्दर निर्वाह करने मे अधिक समर्थ नही हुआ है। हाँ, प० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी की सतसई की सस्तवपूर्ण समीक्षा करते हुए भामह की एक उक्ति[1] के आधार पर काव्य मे सर्वत्र वक्रोक्ति (अतिशयोक्ति) का ही चमत्कार माना है और इस क्षेत्र मे बिहारी की खूब दाद दी है।[2] शर्माजी की भाँति बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने भी वक्रोक्ति को काव्य का एक प्रमुख तत्व मानकर सिद्धान्त तथा व्यवहार मे उसकी महत्ता सिद्ध की है। हाँ, प० रामचन्द्र शुक्ल ने रसवाद की प्रतिष्ठा करते हुए उक्ति-वैचित्र्य और चमत्कार मे काव्य का नित्य लक्षण न मानकर अभिव्यजनावाद के साथ वक्रोक्तिवाद का भी खडन किया है, जिसका विस्तृत विवेचन उनका समीक्षण करते हुए किया जायगा। छायावाद-युग मे प्रसादजी ने शब्द और अर्थ की स्वाभाविक वक्रता या विच्छिति का विश्लेषण कुन्तक के सिद्धान्त के आधार पर करते हुए उसे छाया या काति की सृजन-शक्ति माना है, किन्तु वे उसमे विदग्धता के साथ-साथ चारुता का भी समावेश करते हुए चले है। छायावाद के अन्य कवियो तथा उनके प्रशसक आलोचको ने भी वक्रोक्ति के सम्बन्ध मे विवेचन किया है, किन्तु उनके दृष्टिकोण मे केवल कुन्तक का वक्रोक्तिवाद ही नही, अपितु क्रोचे का अभिव्यजनावाद भी सम्मिलित हो गया है। इस विषय के विवेचको मे श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधाशु', बाबू गुलाबराय, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी तथा डा० नगेन्द्र का विशेष महत्त्व है। उनके विवेचन से स्पष्ट होता है कि सस्कृत का वक्रोक्तिवाद हिन्दी रीतिकालीन काव्यशास्त्र मे जिस रूप मे मद पड गया था, उसको इन आचार्यों ने पाश्चात्य सिद्धान्तो के साथ समन्वित कर नूतन रूप देने का प्रयत्न किया है।

पाश्चात्य साहित्यालोचन : विकास का प्रमुख प्रेरणा-स्रोत

पश्चिमी समालोचना का प्रभाव और प्रसार :

७४. आधुनिक हिन्दी समालोचना के विकास-क्रम में अंग्रेजी भाषा-साहित्य के माध्यम से उपलब्ध पाश्चात्य साहित्यालोचन एक प्रमुख स्रोत के रूप मे अधिष्ठित है। साधारणतया उसका प्रभाव १९वी शताब्दी के द्वितीय चरण से आरम्भ होकर अद्यावधि अनेक रूपो और प्रकारो मे प्रतिफलित होता हुआ चला आ रहा है। उसके द्वारा हमारे जीवन-दर्शन के बाह्य विधान मे तो परिवर्तन हुआ ही है; किन्तु इसके साथ ही साथ अनेक प्रकार की नूतन मान्यताएँ और सिद्धान्त-उपपत्तियाँ भी साहित्य-जगत् को विविध प्रकार की प्रेरणाएँ प्रदान करती हुई दृष्टिगोचर हो रही हैं। साहित्य के शक्तिवर्द्धक स्वरूप उपन्यास, कहानी, नाटक और काव्य-रचना आदि के साथ उसने समालोचना के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्ष की विविध प्रवृत्तियो मे भी अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थित कर दिये हैं। इसमे कोई सन्देह नही कि भारतीय साहित्यालोचन की परम्परा पश्चिमी साहित्यालोचन से अधिक प्राचीन और प्रौढ है और उसके रस तथा ध्वनि-सिद्धान्त के द्वारा किसी भी देश का साहित्य सुचारु रूप से समीक्षित किया जा सकता है, किन्तु पश्चिम के विचारको ने भी जो जीवन-दृष्टि प्रदान की है, वह आधुनिक युग-चेतना मे कदापि उपेक्षणीय नहीं समझी जा सकती। इस प्रसंग मे यदि यह कह दिया जाय कि जिस प्रकार आज पाश्चात्य सस्कृति और सभ्यता अपने प्रसार तथा प्रभाव द्वारा विश्व का अधिकाश क्षेत्र अपने अधीनस्थ किये हुए है, उसी प्रकार उसके साहित्य-सृजन और साहित्य-समीक्षण का भी अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। उसका मूल कारण यह है कि आज का जीवन-दर्शन जिस भौतिक तुला पर आधारित हो कर चल रहा है, मुख्यतया वह पश्चिम की उपज है और ऐसी अवस्था मे यह सहज स्वाभाविक है कि पश्चिमी साहित्य की मान्यताएँ हमें पद-पद पर प्रभावित करती चले। यहाँ इस प्रसंग मे इस बात का भी

१. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। यत्नो स्यांऽकविना कार्यः कोऽलंकारस्तया विना ॥

२. पं० पद्मसिंह शर्मा, बिहारी की सतसई, पृष्ठ २१७।

ध्यान रखना आवश्यक है कि यद्यपि भारत की अपनी स्वतन्त्र सास्कृतिक निधि रही है, किन्तु आधुनिक जीवन का निर्माण जिन तन्तुओ से हुआ है, उसके तानो-बानो मे पश्चिमी सभ्यता के भी यथेष्ट सूत्र सग्रथित है। इसके लिए दो शताब्दी से अधिक पर्यन्त रहने वाला ब्रिटिश शासन भी कम उत्तरदायी नही है।

पश्चिमी साहित्यालोचन की मूल चेतना और उसका क्रमिक विकास

७५. आधुनिक हिन्दी समालोचना को पश्चिमी साहित्यालोचन ने किस प्रकार प्रेरणा प्रदान की है, उसका विवेचन करने से पूर्व पश्चिमी साहित्यालोचन की मूल चेतना और उसके क्रमिक विकास का सामान्य परिचय हमारे लिए आवश्यक है। वस्तुत. इस प्रकार की अभिज्ञता हमारे प्रस्तुत विषय का वैज्ञानिक मूल्याकन तथा स्पष्टीकरण करने के लिए पूर्व-पीठिका के रूप मे भी उपयोगी है। यह एक स्मरण रखने योग्य बात है कि यद्यपि आधुनिक युग का निर्माण अधिकाशत. पश्चिमी-चेतना से ही हुआ है, किन्तु इस आधुनिकता का सम्बन्ध उसके प्राचीन इतिहास से भी कम नही है। आधुनिक युग मे जिस प्रकार से पाश्चात्य समालोचना का विकास हुआ है, उसकी भी एक सुदीर्घ सैद्धान्तिक परम्परा है। आज से प्राय: ढाई हजार वर्ष पूर्व यूनान देश मे प्लेटो और अरिस्टॉटल नामक दो ऐसे दार्शनिक तथा विचारक उत्पन्न हुए थे, जिन्होंने उस युग के जीवन-दर्शन और राजनीतिक-विधान को अपनी विचारणाओ से सम्पुष्ट कर साहित्यालोचन को भी अपूर्व विचार-सामग्री प्रदान की थी। यद्यपि उनका वह युग पश्चिमी देशो की सभ्यता और सस्कृति के विकास का उदय काल था और उनकी जीवन-दृष्टि भी अद्यतन युग की भाँति व्यापक और परिपक्व न थी, फिर भी उनका विवेचन आज की प्रबुद्ध चेतना की अनेक मान्यताओ मे अपूर्ण प्रतीत होता हुआ भी अपनी उद्भावनाओ मे यथेष्ठ विवेकसम्मत और ग्राह्य है। इन विचारको ने साहित्य-सृजन की मूल प्रेरणा का विवेचन कर अपनी यह मान्यता प्रतिष्ठित की थी कि साहित्य भी इस दृश्यमान भौतिक और पार्थिव जगत् की वस्तुओ और व्यापारो का ही अनुकरण-मात्र है और इसकी प्रक्रिया बौद्धिकता की अपेक्षा भावात्मकता के अधिक निकट है। वे साहित्य का एक उद्देश्य आनन्दोपलब्धि भी मानते थे, जिसके कारण वह अपनी प्रभविष्णुता से सहृदय समाज को प्रभावित और अनुप्राणित करता हुआ चलता है।

प्लेटो और अरस्तू की मूल विचारधारा और अनुकरणवाद

७६. प्लेटो और अरस्तू की विचारधारा पश्चिमी साहित्यालोचन की आधार-शिला कही जा सकती है। जिस प्रकार भरत मुनि के 'नाट्य शास्त्र' को भारतीय काव्य-शास्त्र का आदि प्रामाणिक ग्रन्थ होने का गौरव प्राप्त है, उसी प्रकार पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के इतिहास मे अरस्तू के 'पेरि-पोइतिकेस' को भी वैसा ही उच्च स्थान प्रदान किया गया है। यद्यपि अरस्तू के पहले उनके गुरु प्लेटो (प्लतोन) ने भी इस क्षेत्र मे यथेष्ट कार्य किया था, किन्तु अरस्तू ने एक सुयोग्य शिष्य के रूप मे अपने गुरुदेव की ज्ञान-राशि का सदुपयोग कर उसे विकासोन्मुख बनाया। अरस्तू का समय ईसा से प्राय. चार शताब्दी पूर्व माना जाता है। वे सिकन्दर महान् के गुरु थे और कदाचित् उन्होने इलियड का सम्पादन सिकन्दर के लिए ही किया था। वैसे तो अरस्तू की प्रतिभा ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रो पर्यन्त व्याप्त थी, किन्तु उन्होने अपने 'पेरि-पोइतिकेस' मे काव्य, नाटक, त्रासदी, कामदी, काव्य-भाषा, शैली, छन्द, दोष, रस तथा महाकाव्य के विभिन्न अगों का जो सैद्धान्तिक विवेचन किया है, वह अत्यन्त प्रौढ और गम्भीर है।

७७. अरस्तू ने काव्य की गणना 'कला' के अन्तर्गत की है और अन्य कलाकारो की भाँति कवि को भी अनुकर्ता माना है। एक प्रकार से उन्हे अनुकृति मे ही समस्त साहित्य-कलाओ

का उद्गम प्रतीत हुआ है। वैसे तो अरस्तू के गुरु प्लेटो ने भी कलाओ के मूल मे अनुकरण-सिद्धान्त को ही स्वीकार किया था, किन्तु वे काव्य को भी भौतिक पदार्थों का ही अनुकरण समझ कर उसे त्याज्य समझते थे। अरस्तू ने उसे व्यापक स्वरूप प्रदान किया है। वे कला को प्रकृति की अनुकृति मानते थे, किन्तु वह अनुकृति उन्हे किसी भी आनन्दविधायिनी शक्ति से कम नही लगती थी। उस अनुकृति मे उन्हें वर्ण्य वस्तु के प्रकृत रूप की अपेक्षा उसका कल्पनात्मक तथा भावात्मक स्वरूप विशेष रूप से ग्राह्य था। अपने अनुकरण-सिद्धान्त की वास्तविकता का परीक्षण उन्होने होमर के महाकाव्य को अपना विवेच्य विषय बना कर किया। इसमे कोई सन्देह नही कि अरस्तू ने अनुकरण सिद्धान्त को काव्य-शास्त्र के विवेचन मे प्रौढि प्रदान की और वह कई अशों तक उचित भी थी, किन्तु वे उसके द्वारा भारतीय आचार्यों की भाँति काव्य की ब्रह्मानन्दसहोदरत्व-भावना तथा अभेदमूलक स्थिति की ससिद्धि नही कर सके, जिसका कारण सम्भवत उनका वस्तुपरक दृष्टिकोण था।

७८. वैसे तो अरस्तू के काव्य-सिद्धान्तो का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और उनके एक-एक अंग पर विस्तृत विश्लेषण करने के लिए पर्याप्त अवकाश है, किन्तु हमे यहाँ उनसे कोई विशेष प्रयोजन नही है। हमे तो पाश्चात्य समालोचना के विकास-क्रम मे केवल इतना जानना अभीष्ट है कि वह कौन-सी परम्परा थी, जिसे अरस्तू ने ग्रहण किया और जिसका कालान्तर मे अन्य समालोचको द्वारा विस्तार किया गया। इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अरस्तू ने अपने पूर्ववर्ती युगो मे होने वाले प्रोतगोरस, हिप्पिअस, देमोक्रितुस, अरिस्तोफेनस तथा प्लेटो आदि विद्वानों की काव्यशास्त्रीय विचारधाराओ का गम्भीर अध्ययन किया था उनकी अपूर्णताओ को समझकर ही अपने सिद्धान्तो की प्रतिष्टा की थी। उनकी काव्यशास्त्रीय मीमासा से प्रतीत होता है कि वे काव्य को रूढि-मुक्त बनाना चाहते थे। इसका एक प्रमाण तो यही है कि उन्होने काव्य-मूल्यो को राजनीतिक तथा नैतिक मूल्यो से उच्चता और गुरुता प्रदान की और कला-सृष्टि को स्वतन्त्र मान कर उसे आनन्द तथा सौन्दर्य-तत्त्वों से सयोजित किया। इतना ही नही, उन्होने विरेचन सिद्धान्त (कैथार्सिस) की प्रतिष्ठा कर काव्य-शास्त्र को एक नई उपलब्धि प्रदान की। यह उनके विरेचन-सिद्धान्त का ही प्रभाव था कि कालान्तर मे अन्य समालोचको द्वारा उसका कला के मूल्यांकन मे विशेष प्रयोग किया गया और आजकल उसको रस तथा मनोविज्ञान के साथ विशेष रूप से अभिनवता प्रदान करने का प्रयत्न किया जा रहा है। कहा जा सकता है कि अरस्तू के काव्य-सिद्धान्त कई स्थलो पर अपूर्ण होते हुए भी पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के मूलाधार हैं और उनका भारतीय मान्यताओं के साथ भी यथेष्ट साम्य है।

लौंगिनुस और काव्य में उदात्त-तत्त्व-योजना

७९. अरस्तू के काव्य-शास्त्र (पेरि-पोइतिकेस) के उपरान्त जिन यूनानी विचारकों ने अन्यान्य विषयों के साथ-साथ काव्य-शास्त्रीय विवेचन किया, उनमे लौंगिनुस (लौंजाइनस) के 'पेरि इप्सुस' का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह एक प्रकार का विस्तृत समीक्षात्मक निबन्ध है, जो बहुत समय तक उपेक्षित-सा पडा रहा, किन्तु जब 'ग्रान दि सब्लाइम' के नाम से इसका अग्रेजी-अनुवाद प्रस्तुत हुआ तो विद्वानो का ध्यान इसकी काव्य-शास्त्रीय महत्ता की ओर गया। यद्यपि लौंगिनुस के कार्यकाल के सम्बन्ध में विद्वानों मे मतभेद है, किन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि वे आज से प्राय: दो सहस्राब्दी पूर्व अवश्य रहे होगे। प्रस्तुत कृति में लौंगिनुस ने मुख्यतया काव्य की उदात्त शैली के आधारभूत तत्त्वो का विवेचन किया है और यथा-प्रसंग कला से सम्बद्ध नैतिकता, प्रतिभा और उसकी शिल्पविधि पर भी अपनी मान्यताएँ व्यक्त की है। उदात्त के विवेचन मे उनका ध्यान विशेष रूप से उसके बहिरंग की ओर ही रहा है और वे औदात्य के पाँच उद्गम-स्रोतो में

जन्मजात अवयवो को ही प्रमुखता देते है ।[1] उनकी मान्यता है कि प्रेरणा-प्रसूत भव्य आवेग ही औदात्य के मूल उद्गम है[2] और उच्च कोटि का औदात्य लेखक को ईश्वर के समकक्ष ले जा सकता है ।[3] यद्यपि लौगिनुस ने उदात्त की कोई परिभाषा नही की, किन्तु उसके अन्तरग, बहिरंग और विरोधी तत्त्वो का जो विश्लेषण किया है, वह अत्यन्त भव्य और ग्राह्य है जिसकी व्यापकता मे भारतीय काव्य-शास्त्र मे विवेचित भाव-पक्ष और विभाव-पक्ष के अनेक अगो का साम्य अन्वेषित किया जा सकता है। उदात्त के बहिरग विषयक विवेचन मे विद्वान् विचारक ने अलकार-योजना, भाषा-सौष्ठव, ऊर्जस्वित शिल्प-विधि तथा कल्पना-तत्त्व का निरूपण किया है, जिनके सम्बन्ध मे आधुनिक युग मे ब्रैडले ने अपने प्रसिद्ध निबन्ध-सकलन 'आक्सफोर्ड लैक्चर्स आन पोइट्री' मे दूसरे निबन्ध के अन्तर्गत अपनी उदात्त विषयक मान्यताओ का स्पष्टीकरण किया है। कहने की आवश्यकता नही कि लौगिनुस का यह विश्लेषण वस्तुत यूनानी समालोचना के सैद्धान्तिक पक्ष का अपरिहार्य अश है और उनका कला और प्रकृति, कला के मूल्य, कला के आधार, कला का प्रयोजन तथा कला का प्रतिमान विषयक विवेचन पाश्चात्य साहित्यालोचन का एक प्रमुख उद्गम स्रोत है जिससे प्रेरणा लेकर वहाँ की समालोचना ने कालान्तर मे विकास किया था। लौगिनुस के काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तो मे कई स्थलो पर अपूर्णताएँ होने पर भी उनकी महत्ता कम नही की जा सकती।

धार्मिक क्रांति और पुनरुत्थानवादी विचारधारा

८० वैसे तो पाश्चात्य साहित्यालोचन के क्षेत्र मे ईसा की पन्द्रहवी शताब्दी तक प्लेटो और अरस्तू की मान्यताओ का पर्याप्त प्रभाव बना रहा और होमर, दाते, वर्जिल आदि साहित्य-स्रष्टा उनके अधिकाश तत्त्वो को ग्रहण कर अपनी रचनाएं करते चले, किन्तु यूरोपीय देशो की धार्मिक क्रान्ति के पश्चात् उसमें भी अनेक प्रकार की प्रवृत्तियो का उन्मेष होने लगा। विज्ञान की उन्नति, मुद्रण-कला का आविष्कार और औद्योगिक क्रान्ति ने यूरोप के सास्कृतिक तथा सामाजिक जीवन मे जिस प्रकार के नूतन परिवर्तन उपस्थित किए, उनका प्रभाव साहित्य सृजन पर भी पडना अनिवार्य था, अत उसके रचनात्मक पक्ष के साथ समीक्षण-दृष्टि मे भी नवीन चेतना और बौद्धिक विवेचना का प्रस्फुरण होने लगा। कहा जा सकता है कि इसके पूर्व यूरोप के जीवन-दर्शन की मूल भित्ति अलौकिकता की आस्था पर अधिकाशत आश्रित थी जो इस युग मे आकर लौकिक धरातल पर प्रतिष्ठित हुई और उसमे मानवतावादी दृष्टिकोण प्रश्रय पाने लगा। यद्यपि इस युग ने प्राचीन मान्यताओ का सर्वथा बहिष्कार नही किया था, किन्तु वह क्लासिक को नवीन प्रत्यावर्तन के रूप मे देखने का आकाक्षी था। परिणाम यह हुआ कि यूरोप के विभिन्न देशो मे चलने वाली पुनरुत्थानवादी लहर ने इगलैण्ड के जीवन मे भी उत्क्रान्ति की, जिसका प्रभाव उसके साहित्य-निर्माण और समीक्षा-सिद्धान्तो पर भी पडा। उसी के प्रभाव से प्रेरणा लेकर हमारा हिन्दी-साहित्य भी अपना जो कुछ और जैसा विकास कर सका है वह वस्तुत आधुनिक शोध के लिए कम महत्त्वपूर्ण विषय नही है। वास्तव मे देखा जाय तो आधुनिक हिन्दी समालोचना के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष का सगठन जिन विचारको की धारणाओ को आत्मस्थ कर हुआ है उनमे पुनरुत्थान-काल के प्रमुख विचारक सर फिलिप सिडनी, बेन जोनसन्, ड्राइडन, ऐडीसन, लेसिंग आदि साहित्य-समीक्षको का भी प्रमुख हाथ है। वस्तुतः ये सभी समालोचक नियोक्लासिक या

---

१ डा० नगेन्द्र 'काव्य में उदात्त तत्त्व', प्रथम सस्करण, १९५८, पृष्ठ ५३।

२ वही, पृष्ठ ५२।

३ वही, पृष्ठ १००, १०१।

पुनरुत्थानवादी युग की उपज थे और इन्होने साहित्य का स्वरूप-निरूपण शास्त्रीय रूढिग्रस्तता से दूर रहते हुए स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति से किया था। कहा जा सकता है कि सिडनी ने यदि अपनी साहित्य-समीक्षाओ द्वारा अरस्तू के प्राचीन सिद्धान्तो को नूतन जीवन प्रदान कर अनेक प्रकार की असाहित्यिक प्रवृत्तियो का दमन किया तो बेन जॉनसन ने प्रतिभा को ही काव्य की मूल प्रेरणा सिद्ध कर उसके आधार पर काव्य की मौलिक उद्भावना की। ड्राइडन अपनी मान्यताओ मे इन दोनो से बहुत आगे बढ़ा हुआ था और उसके द्वारा नवीन और प्राचीन की अभिसंधि मे साहित्य का सैद्धान्तिक निरूपण अधिक तर्क-बुद्धि से किया गया था। ऐडीसन ने साहित्य मे कल्पना-तत्त्व को जोड़कर अपने उत्तरवर्ती मनोविश्लेषणवादी विचारको के लिए एक नवीन भूमिका प्रस्तुत की तो जर्मन विचारक लेसिंग ने कला का संयोजन अभिव्यजनागत सौन्दर्य के साथ करते हुए क्रोचे के सौन्दर्य-शास्त्र और अभिव्यंजनावाद का मानो शिलान्यास कर दिया। स्पष्ट है कि इन पश्चिमी समालोचको का आधुनिक युग की स्वच्छन्दवादी दृष्टि के निर्माण मे पर्याप्त सहयोग है और अग्रेजी साहित्य के इतिहास मे ब्लैक, वर्डस्वर्थ, शैली, कालरिज आदि ने जिस काव्य-कलागत रोमाटिक भावना का विश्लेषण किया है, वह इसी पुनरुत्थानवादी युग की ही चरम परिणति है।

स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का उन्नयन और विभिन्न वाद-सृष्टि

८१. पश्चिमी साहित्यालोचन के क्षेत्र मे स्वच्छन्दतावाद को आधुनिक साहित्य-सृजन की एक ऐसी प्रवृत्ति माना गया है, जिसके अनुसार साहित्य निरपेक्ष भाव से एक मानसिक सृष्टि सिद्ध होता है। इस युग मे श्लेजेल ने 'साहित्य को समाज की उच्चतम ज्ञान राशि का सार-तत्त्व' कहा तो ब्लैक ने अपनी रोमाटिक भावना मे 'कविता को अलौकिक प्रेरणाजन्य वस्तु' निर्दिष्ट किया। ब्लैक का काव्य-शास्त्रीय विवेचन अपने काव्य की ही भांति अत्यन्त रहस्यपूर्ण भी था, जिसमे उसने रहस्यानुभूति को कल्पना के समकक्ष नियोजित कर उसको अतिरेकता की सीमा पर पहुँचा दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य के लिए रहस्यात्मकता अनिवार्य अग बनकर उपस्थित हुई। वर्डस्वर्थ इस विषय मे अत्यन्त उदार और भावप्रवण था। उसने काव्य को 'शक्तिशाली भाव-सवेगों का अजस्र प्रवाह' कहकर उसका सम्बन्ध अनुभूति, चिन्तन और भावना की त्रिपुटी से जोडा तो शैली ने उससे भी आगे बढ़ कर काव्य-कृति की तुलना पक्षियो के ऐसे अयाचित और नैसर्गिक कलरव से की जो प्रकृत्या उनकी वाणी से फूट निकलता है। कॉलरिज ने अपने सिद्धान्त का निरूपण हृदय और मस्तिष्क के सम्मिलित स्वरूप मे कर काव्य के प्रति अपनी स्वच्छन्दतावादी दृष्टि को अधिक महत्त्व दिया और सौन्दर्य को काव्य का प्रमुख तत्त्व माना। काव्य के इस प्रकार के स्वच्छन्दतापूर्ण विश्लेषण मे यूरोप के दार्शनिको की अन्तर्दृष्टि का भी यथेष्ट सहयोग था। काट आदि पश्चिमी दार्शनिको ने कला-कृति के रूप मे काव्य का विवेचन कर उसका संयोजन तत्त्वदर्शन, नैतिकता और सौन्दर्यपूर्ण दृष्टि के साथ भी प्रस्तुत किया और इस प्रकार साहित्यालोचन के क्षेत्र में इस युग में आकर स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का प्रस्फुटन अधिक भावुकता के साथ न हो सका।

८२. वर्तमान शताब्दी आधुनिक पश्चिमी साहित्यालोचन की अनेक प्रवृत्तियों को लेकर चल रही है जिसमे न जाने कितने प्रकार की मान्यताएँ अपना अधिकार जमाए हुए हैं। इस युग के समीक्षा-सिद्धान्त क्रोचे के अभिव्यंजनावाद से लेकर व्यक्तिवाद के निरूपक अन्तश्चेतनावाद, अति-यथार्थवाद और अस्तित्ववाद के साथ-साथ सामाजिक उपयोगितावाद के द्वारा निर्मित होकर चल रहे हैं। इसमे कोई सन्देह नही कि इन विभिन्न प्रवादों ने हमे साहित्य समीक्षा के क्षेत्र मे अत्यन्त व्यापक दृष्टि प्रदान की है, किन्तु इनकी एकागिता भी कम अशोभनीय नही है। आज का पाश्चात्य साहित्यालोचन अल्पजीवी फैशनों की भाँति न जाने कितने प्रकार के वादों की सृष्टि कर नित्य

नूतन प्रतिमानो के रूप मे विकसित हो रहा है जिसमे तत्त्व-विश्लेषण का स्थान वाद-विवादो ने अधिक ले लिया है। परिणाम यह हुआ है कि इन विभिन्न वाद-प्रवादो से उद्भूत मतभेदो के कारण समालोचकों द्वारा अपने वाद विषयक दृष्टिकोण का जितना अधिक प्रशसात्मक विश्लेषण होता है, उतना मूल वस्तु अथवा साहित्य-चेतना का नही। सुतराम् साहित्य के विशुद्ध भावात्मक क्षेत्र मे भी राजनीति, अर्थ-व्यवस्था और मनोविज्ञान की भाँति अनेक प्रकार के कटघरे बन गए है, जिनसे साहित्य के मूल रस की अनुभूति और व्याख्या होने मे अनेक प्रकार के व्यवधान उपस्थित हो रहे है। प्रारम्भ मे तो ऐसा प्रतीत होता है कि किसी भी वाद के उत्तरवर्ती समालोचक द्वारा साहित्य का सैद्धान्तिक विश्लेषण कदाचित् पूर्वाग्रह-रहित भावना से किया जायगा, किन्तु कालान्तर मे उसकी एकागिता भी प्रकट हुए बिना नही रहती। पश्चिमी साहित्य-शास्त्र मे इस प्रकार के कितने ही समीक्षा-प्रवादो की सृष्टि हुई है और हो रही है; जिसका प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष विधि से आधुनिक हिन्दी समालोचना पर भी कम नही पडा है। इसमे कोई सन्देह नही कि किसी भी समृद्ध साहित्य मे इस प्रकार के वादो का प्रचलन अस्वाभाविक नही है, क्योकि विकसित बुद्धि-चेतना अपने ज्ञान की अनेक धाराओ का प्रसार करती है, किन्तु इन वाद-प्रवादो मे साहित्य-सृष्टि को उलझा देना कदापि समीचीन नही कहा जा सकता। आज के युग-जीवन की वास्तविकता को देखते हुए इन वाद-प्रवादो से साहित्यालोचन को तटस्थ रखना वस्तुतः दु साध्य कार्य है, क्योकि इनमे भी वर्तमान जीवन की अनेक धाराएँ सम्मिलित होकर चल रही है, किन्तु जिस ललक और उत्साह से इनकी पुनरावृत्ति अन्यान्य भारतीय साहित्यो की भाँति हिन्दी साहित्य मे भी हो रही है, वह कई दृष्टियो से हमारी सास्कृतिक परम्परा के विपरीत है। मेरी समझ मे तत्त्वदृष्टि को प्रधानता देते हुए ज्ञान-राशि को किसी भी स्थान से ग्रहण करना बुरा नही है, किन्तु वह ग्रहण अपनी सास्कृतिक और साहित्यिक परम्परा के अनुकूल भी अवश्य रहना चाहिए।

पश्चिम के विभिन्न साहित्य शास्त्रीयवाद और उनका स्वरूप-विकास

(अ) टॉल्सटॉय का लोकादर्शवाद

८३. पश्चिमी साहित्यालोचन का सैद्धान्तिक पक्ष अत्यन्त पुष्ट है। यूनानी और रोमी साहित्य-विचारको से लेकर आज तक उसके सम्बन्ध मे शास्त्रीयता और स्वच्छदवादिता से विवेचन होता आया है। उसके स्वरूप और मूल्यो के निर्धारण मे कला, नीति, समाज-विज्ञान और अर्थ-व्यवस्था के अनेक दृष्टिकोण प्रतिमान बनकर उपस्थित हुए है। काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास, निबन्ध और समालोचना आदि विषयो पर वहाँ के विचारको ने अत्यन्त व्यापक विश्लेषण किया है, जिनमे जीवन को प्रमुखता देने का भी सुष्ठु प्रयास है। आधुनिक युग मे राजनीति तथा अर्थ-विज्ञान की भाँति साहित्य-क्षेत्र मे भी जितने प्रकार के मतवाद चल रहे है, उतने पूर्ववर्ती युग मे नही थे, किन्तु उनका अस्तित्व युग-भावना के अनुरूप अवश्य था, इसमे सन्देह नही किया जा सकता। कला के सम्बन्ध मे भी वहाँ के आचार्यों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रहे है। प्लेटो, अरस्तू और लौगिनुस से लेकर आधुनिक काल तक के आलोचको ने उसका विवेचन अपने-अपने दृष्टिकोण से किया है। यूनानी आचार्यो के मतानुसार कला मे अनुकरण-सिद्धान्त का समावेश आवश्यक था तो पाश्चात्य जगत के महान् विचारक टॉल्सटॉय ने कला और काव्य के सम्बन्ध मे अपना अलग ही दृष्टिकोण उपस्थित किया है। उसके मतानुसार कला का वास्तविक स्वरूप इस प्रकार है

> "To evoke in oneself a sensation which one has experienced before, and having evoked it in oneself, to communicate this sensation in such a way that others may experience the same sensation.. .. so that

other men are infected by these sensations and pass through them, in this does the activity or Art consist "[1]

८४. टॉल्सटॉय ने अपने युग की ईसाई कला के विश्लेषण मे कैथोलिक भावना को विश्वजनीन स्थिति मे प्रक्षिप्त करते हुए उसका उद्देश्य सभी प्राणियो के ऐक्य-सयोजन मे माना है, जिसमे वे अपने ईश्वरीय सम्बन्ध को समझे और भ्रातृभाव का अनुभव करे। उसके मतानुसार कला का कार्य हिंसा का निवारण भी है और यह केवल उसी कार्य के द्वारा सम्भव है।[2] उसने काव्य का विश्लेषण भी इसी आदर्शवादी दृष्टिकोण से किया है .

"But poetry acts in a divine manner It awakens and enlarges the mind itself by rendering it the receptacle of a thousand unapprehended combinations of thought Whatever strengthens and purifies the affections, enlarges the imagination, and adds spirit to sense is useful '[3]

८५. टॉल्स्टॉय के अतिरिक्त होरेस ने कवियो का कार्य शिक्षा देना, आनन्द प्रदान करना अथवा इन दोनो का सयोजन करना माना है।[4] ब्यूलो और रेपिन के मतानुसार काव्य की उपयोगिता उसके आनन्द-तत्त्व मे सन्निहित है[5], तो ड्राइडन के मत से काव्य का प्रमुख उद्देश्य आनन्द प्रदान करना है।[6] आई०ए० रिचर्ड्स के मतानुसार काव्य के मूल्याकन मे आनन्द का यथेष्ट महत्त्व है किन्तु ऐसा न हो कि वह आनन्द उस क्षेत्र को भी अधिकृत करने के लिए अनधिकार चेष्टा करने लगे जहाँ उसकी कोई पहुँच नही होनी चाहिए।[7] इस सम्बन्ध मे तूली ने काव्य-गुणो का विवेचन अत्यन्त भव्य विधान मे किया है। उसके विश्लेषण मे किसी भी मतवाद का आग्रह न होकर तत्व-प्रकाशन की सहज क्षमता है। भारतीय साहित्यशास्त्रियो ने भी काव्य प्रयोजन के सम्बन्ध मे अपने जो निर्णय दिये थे, उनसे उसका साम्य-सूत्र सग्रथित करना कठिन नही है। तूली के मत से काव्य के प्रमुख गुण इस प्रकार हैं :

"It nourisheth, and instructeth, our youth, delights our age, adorns our prosperity, comforts our adversity, entertains us at home; keeps us company abroad, travails with us, watches, divides the time of our earnest, and sports, shares in our country recesses and recreations insomuch as the wisest and the best learned have thought the absolute mistress of manners and nearest of kin virtue "

---

1. "Tolstoy : '*What is Art*', Section V Reference given by I A. Richards in the "Principles of Literary Criticism", 14th impression, page 64.
2. *Ibid* —"Christian art, that is the art of our time must be Catholic in the direct sense of that word, that is, universal and so must unite all men . . Art must remove violence, only Art can do this "
3. *Ibid*—page 64.
4. "Poets wish either to instruct or to delight or to combine the two'." Horace
5. "It is only for the purpose of being useful that poetry ought to agreeable; pleasure is only a means which she uses for the end of profit."
6. "Delight is the chief, is not the only end of poetry : instruction can be admitted but in the second place, for Poesy only instructs as it delights " —Dryden.
7. I. A. Richards : *Principles of Literary Criticisim*, 14th Ed, Page 70.

फ्रेंसिस बेकन ने काव्य का उद्देश्य इस प्रकार विवेचित किया है :

"Poetry gives pleasure, guides us by the hands of action, with a ravishing delight and incredible sweetness"

अभिप्राय यह है कि पश्चिमी साहित्य मे काव्य-विश्लेषण और प्रयोजन का एक आदर्शवादी दृष्टिकोण भी रहा है जिसका हमारे आधुनिक समालोचना साहित्य पर भी प्रभाव पडा है। उस दृष्टिकोण की सामान्य झलक देने के लिए उपर्युक्त उद्धरण दिए गए है ताकि इनके द्वारा भी उसका स्रोत समझने मे सहायता मिल सके।

(आ) 'कला के लिए कला' का सिद्धान्त और उसका प्रतिष्ठान

८६. आधुनिक हिन्दी समालोचना के सैद्धान्तिक पक्ष को जिन वाद-प्रवादो ने प्रभावित किया है, उनमे पश्चिमी साहित्य-शास्त्र से आगत कलावाद का भी प्रामुख्य है। काव्य और साहित्य को कला के रूप मे विवेचित करने की प्रणाली भारत ने पश्चिम से ही ग्रहण की है और उस पर हीगेल की विचारधारा का प्रभाव है। इसी प्रकार 'कला कला के लिए' का नारा भी पश्चिम से ही होता हुआ हिन्दी साहित्य मे आया है। वैसे तो कलावाद का प्रवर्तन १९वी शताब्दी मे फ्रास मे हुआ था, किन्तु स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन के प्रारम्भ होने के पश्चात् वह यूरोप के अन्य देशों मे भी प्रसारित हुआ और वहाँ से इगलैण्ड होता हुआ भारत मे भी आ पहुँचा। इसी प्रकार साहित्य को सौन्दर्यमूलक दृष्टिकोण से देखने की जो नवीन पद्धति चली, वह भी पश्चिम की ही उपज है। आचार्य शुक्लजी ने अपने विवेचन के अन्तर्गत इस विषय का विस्तृत विश्लेषण किया है कि जो लोग 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' को वेद-वाक्य समझ कर उद्धृत करते है उन्हे इस बात का पता नही है कि वह अग्रेजी के 'द ट्रुथ द गुड एण्ड द ब्यूटीफुल' का ही अनुवाद है। पश्चिमी साहित्य मे इस विषय का विशद् विवेचन है कि कला के लिए कला का सिद्धान्त किन-किन कारणो और परिस्थितियो से उद्भूत होकर पश्चिमी-साहित्य जगत् मे प्रसारित हुआ। हमारे हिन्दी साहित्य मे भी इसका विकास द्विवेदी-युग के अनन्तर जिस छायावादी युग मे हुआ, उसका विवेचन हम यथा-स्थान करेंगे। यहाँ तो हमे केवल इतना ही सकेत करना अभीष्ट है कि परम्परावादी साहित्य-शास्त्री 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त का अन्तर्भाव भले ही 'स्वान्त.-सुखाय' कविता के भीतर अन्वेषित कर लें, किन्तु जिस विधान और प्रकार मे वह हिन्दी मे अपना अस्तित्व धारण कर सका है, वह पश्चिमी मान्यताओ के यथेष्ट निकट है। इस विषय का अधिक ज्ञान करने के लिए गोटीयर के काव्यादर्श का अध्ययन हमारे लिए अत्यन्त उपयोगी है, जिसने कालान्तर मे परनेसियन आन्दोलन का संचालन इसी कलावाद के आधार पर किया था। इगलैण्ड मे ह्विसलर, वाल्टर पेटर, स्पिगार्न, क्लाइव बैल, ए० सी० ब्रैडले आदि ने जिन प्रबल शब्दो मे इसका विश्लेषण किया, वह अध्ययन करने योग्य है। आस्कर वाइल्ड ने तो यहाँ तक लिखा है :

> "There is no such thing as moral or immoral books Books are well written or badly written, that is all No artist has ethical sympathies. An ethical sympathy in an artist is an unpardonable mannerism"

स्पिगार्न ने इसी कलावाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए अपनी 'द न्यू क्रीटीसिज्म' नामक पुस्तक मे एक सकेत किया है

> "To say that poetry as poetry, is moral or immoral is as meaningless as to say that an equilateral triangle is moral and an isosceles triangle is immoral"

८७. डॉ० ब्रैडले ने अपने काव्य-विषयक ऑक्सफोर्ड लैक्चर्स मे तो कला कला के लिए अथवा काव्य काव्य के लिए विषय पर एक पूरा अध्याय ही लिख दिया है, जिसके समर्थन में

उसने अनेक युक्तियाँ दी है। यहाँ पर उसका एक उद्धरण देना अनुचित न होगा :

"What then does the formula "Poetry for poetry's sake" tell us about the experience? It says, as I understand it, these things First, this experience is an end in itself, is worth having on its own account, has an intrinsic value Next, its poetic value is this intrinsic worth alone. Poetry may have also an ulterior value as a means to culture or religion; because it conveys instructions or softens the passions or furthers a good cause, because it brings the poet fame, or money or a quiet conscience. So much the better, let it be valued for these reasons too But this ulterior worth neither is nor can directly determine its poetic worth as a satisfying imaginative experience; and this is to be judged entirely from within ....." (A C Bradley, "Oxford Lectures on Poetry)" (Macmillian, 1950, page 4)

अपने विवेचन को और अधिक पुष्ट बनाने के लिए डा० ब्रैडले ने इसी प्रसंग मे और अधिक विवेचन किया है। निम्नलिखित उद्धरण से उसका दृष्टिकोण और अधिक स्पष्ट हो सकेगा :

"The consideration of ulterior ends whether the by the poet in the act of composing or by the reader in the act of experiencing, tends to lower poetic value, It does so because it tends to change the nature of poetry by taking it out of its own atmosphere For its nature is to be not a part, not yet a copy of the real world (as we commonly understand that phrase, but to be a world by itself, independent, complete, autonomous" (Page 5)

८८. वस्तुत: ब्रैडले काव्य के लिए काव्य का सिद्धान्त विवेचन करते समय कला के लिए कला को अपना मूल दृष्टिकोण बनाकर चला है।[1] उसने स्पष्ट घोषणा की है कि कला को मानव जीवन का पूर्ण अथवा सर्वोच्च ध्येय बतलाने का सिद्धान्त मूर्खता है और उसका नैतिक दृष्टिकोण से मूल्यांकन करना तो और भी बुरा है।[2] उसके मतानुसार न तो काव्य जीवन है और न वह उसका अनुकरण ही है।[3] उसके विवेचन का मूल आशय यही है कि वह काव्य के अन्य उद्देश्यों की समता में अपने कला के लिए कला वाले सिद्धान्त को सर्वोपरि घोषित करता है। अंग्रेजी साहित्य मे ऐसी अनेक पुस्तकें हैं, जिनमें उपर्युक्त सिद्धान्त का विश्लेषण और समर्थन हुआ है। यहाँ उक्त कलावाद का उल्लेख करने का मेरा केवल यही अभिप्राय है कि जो पाश्चात्य समालोचना आधुनिक हिन्दी समालोचना का प्रेरणा-स्रोत बन कर आई है, उसका एक प्रमुख सिद्धान्त कलावाद भी हमारे सैद्धान्तिक विवेचन का एक प्रमुख अंग है। कहने की आवश्यकता नही कि कलावाद का उपर्युक्त सिद्धान्त हिन्दी मे सीधा न आकर बंगला साहित्य के द्वारा आया है जिसे स्वर्गीय डॉ० रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कुछ संशोधन और परिवर्धन के पश्चात् उसका भारतीयकरण करते हुए उसे स्वीकार किया था। रवीन्द्र बाबू ने साहित्य का सामान्य विवेचन करते हुए इस कलावाद का विशेष निरूपण किया है, जिसकी झलक हमे हिन्दी साहित्य पर भी यथोचित स्वरूप मे दृष्टिगोचर होती है। कहा जा सकता है कि जिस प्रकार द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता और आदर्शनिष्ठा की प्रतिक्रिया मे आत्मव्यंजना और कल्पनाशीलता ने काव्य के क्षेत्र में जन्म लिया,

---

1. A C Bradley. 'Oxford Lectures on Poetry', 'Poetry for Poetry's' sake', Page 4
2. *Ibid*—Pages 5, 6.
3. *Ibid* : "Poetry neither is life, nor, strictly speaking a copy of it."

उसी प्रकार उनके द्वारा स्वीकृत यह कलावाद भी हिन्दी समालोचना के क्षेत्र मे आया, जिसका प्रतिपादन छायावादी कवियों तथा उनके समर्थक समालोचको ने विशेष रूप से किया। वैसे प० रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपनी समालोचनाओ मे इसका अनेक स्थलो पर विवेचन किया है, किन्तु उनका दृष्टिकोण उसके समर्थन का न होकर उसकी एकागिता सिद्ध करने का है। डॉ० श्यामसुन्दरदास, आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र तथा बाबू गुलाबराय आदि अन्य समालोचक भी इस कलावाद से प्रभावित रहे हैं और उन्होने यथावसर एतद् विषयक विवेचन प्रस्तुत किया है जिसमे उक्त वाद का अक्षरश समर्थन न होकर उसे मौलिक विधान में प्रस्तुत करने की चेष्टा भी की गई है। इन सुधी समालोचको द्वारा इस कलावाद का स्वरूप किस विधान मे गृहीत हुआ है, इसका विवेचन हम उनके साहित्यालोचन का मूल्याकन करते समय करेगे। यहाँ तो इस सामान्य सकेत का केवल इतना ही आशय है कि पश्चिमी समालोचना के सैद्धान्तिक पक्ष के अन्तर्गत प्रमुख स्थान रखने वाला कलावाद भी हमारे आधुनिक साहित्यालोचन की पूर्व-पीठिका मे एक विकास-स्रोत हैं जिसकी कदापि अवहेलना नही की जा सकती।

(इ) स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति और उसका प्रभाव

८९. पश्चिमी साहित्यालोचन का दूसरा सिद्धान्त स्वच्छन्दतावाद या रोमासवाद है, जिसका काव्य-कलाओ तथा अन्य साहित्यिक विधाओ मे प्रयोग करने का बहुत समय तक अत्यन्त व्यापक प्रचार रहा है। इसके अनुयायी मूलत काव्य-सृजन मे रचयिता की वैयक्तिकता और आत्मानुभूति को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। हमारे प्राचीन सस्कृत-साहित्य मे काव्य की प्रेरणा का जो विश्लेषण प्रतिभा के अन्तर्गत किया गया है, उसके साथ इसका सम्बन्ध-सूत्र नियोजित किया जा सकता है। पश्चिमी देशो मे इसको व्यापकता प्रदान करने का श्रेय भी फ्रास को है। वैसे तो लौजाइनस ने भी अपने 'डी सब्लीमीटेड' के प्रारम्भ मे काव्य-प्रेरणाओ के विश्लेषण के अन्तर्गत कवि की प्रतिभा का विवेचन करते हुए स्वच्छन्दतावाद की झलक दी थी, किन्तु वह शास्त्रीयता से अपना पल्ला नही छुडा सका था। उसने व्यक्ति की महत्ता को स्वीकार किया, किन्तु बहुत ही दबे शब्दो मे। कहना होगा, इसका प्रबल समर्थन फ्रास मे रूसो द्वारा किया गया, जो पहले साहित्य की अपेक्षा राजनीति-क्षेत्र का अधिक विषय रहा, किन्तु कालान्तर मे उसका साहित्य-भूमि मे भी प्रवेश हो गया। इस स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन ने कलाकार की मुक्तावस्था और स्वच्छन्द वृत्ति को ही उसकी रचना और सफलता का मूल मन्त्र माना। इस मान्यता के अनुसार काव्य-साहित्य और कला-विवेचन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक बन गया। जैसा कि पहले सकेत कर दिया गया है कि फ्रेडरिक श्लेजेल ने 'साहित्य को राष्ट्र के बौद्धिक जीवन का सर्वांगीण सत्व' कह कर अपनी जो विवेचना प्रस्तुत की है, वह स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन से पूर्ण प्रभावित है। ब्लैक ने अपनी समालोचनात्मक कृतियो मे इस स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का उल्लेख बार-बार किया है। उसने जेरूसलम और मिल्टन के सम्बन्ध मे जो आमुख लिखा है अथवा होमर, वर्जिल तथा रीनोल्ड्स पर जो टिप्पणियाँ दी है, उनसे उसके इस प्रकार के सिद्धान्तो का बोध भली-भाँति हो जाता है। उसके विवेचन का साम्य हमारे यहाँ विवेचित प्रतिभा की समानवर्ती भूमि पर ढूँढ लेना असम्भव नही है। ब्लैक ने लिखा है :

> "Knowledge of ideal beauty is not to be acquired, it is born in us."
> "Passion and expression are beauty itself"
> "Ages are equal, but genius is above its age."

९०. ब्लैक की भाँति वर्डस्वर्थ ने भी अपने लीरिकल बैलेड्स की भूमिका मे भी कुछ ऐसी ही बाते लिखी थी जो उसके स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण की द्योतक है। उसका यह कथन कि All good poetry is the sponteneous overflow of powerful emotions निश्चय ही

उसके स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण का ही परिचायक है। उसने कवि को सब प्रकार से मुक्त मान कर कल्पना के कानन मे स्वच्छन्द विहार करने की छूट दे रखी है। उसी की भाँति शैली ने भी 'डीफेन्स ग्राफ पोएट्री' तथा अन्य लेखो मे भी यही प्रवृत्ति प्रदर्शित की है। इसी परम्परा मे कॉलरिज डी क्वेन्सी, हेज़लिट, चार्ल्स लैम्ब आदि और भी समालोचक आते हैं, जिनकी स्वच्छन्दतावादी मान्यताओ का विश्लेषण अंग्रेजी साहित्य मे भरा पडा है। उन सबका विस्तृत विवेचन करने का हमे यहाँ कोई प्रयोजन नही है, क्योकि यह तो शोध का एक अलग विषय हो जाता है। यहाँ तो मेरे लिखने का मूल अभिप्राय केवल इतना ही है कि हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत विकसित होने वाली समालोचना की स्वच्छन्दवादी प्रणाली मे पाश्चात्य साहित्य का प्रमुख हाथ है, अत. उसे भी उसकी पूर्व पीठिका और विकास-स्रोत के अन्तर्गत ही मान्यता देना सर्वांशेन समीचीन है। इसी प्रसग मे इस विषय का सामान्य सकेत कर देना भी आवश्यक है कि पाश्चात्य देशो की इस स्वच्छन्दतावादी धारा ने हमारे काव्य साहित्य और समालोचना-शास्त्र को यथेष्ट प्रभावित किया है और उसकी परम्परा उसके प्रवर्त्तन काल मे ही प्रारम्भ होकर अद्यतन युग तक एक नैसर्गिक क्रम मे आई है। हाँ, यह बात अवश्य है कि उसका चरम विकास हमे शुक्लोतर युग की छायावादी काव्यालोचन पद्धति के अन्तर्गत अधिक मिलता है जिसका विवेचन उसका विशेष विवरण देते समय किया जायगा। यहाँ तो उसके विकास स्रोत का एक सामान्य सकेत करना ही हमे अभीष्ट है।

(ई) क्रोचे का अभिव्यंजनावाद और उसका प्रकृत स्वरूप

९१. यूरोपीय समालोचना के क्षेत्र में काव्य मे अभिव्यजनावाद का सिद्धान्त स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन की उपज है। यद्यपि इसको शास्त्रीय विधान मे प्रतिष्ठित करने का श्रेय इटली के क्रोचे को दिया जाता है, किन्तु उसके पूर्व भी अन्य आचार्यों ने कला मे सौन्दर्यपरक भावना को प्रधानता देते हुए इस सिद्धान्त के प्रणयन का सूत्रपात अवश्य कर दिया था जो क्रोचे द्वारा कालान्तर मे पल्लवित किया गया। शास्त्रीय समालोचना के युग मे यूनानी कला की विवेचना जिन नीतिपरक सिद्धान्तो और वस्तुमूलक प्रवृत्तियो से की जाती थी, वह नये युग के मानसिक धरातल के साथ अपना समन्वय स्थापित करने मे अपूर्ण प्रतीत होने लगी और उसके विपरीत जर्मनी के विचारको ने सत्रहवी शताब्दी के मध्यवर्ती भाग मे एक ऐसा आन्दोलन उपस्थित कर दिया जिसका प्रभाव शनै शनै. अन्य यूरोपीय देशों पर भी पडा। जर्मनी मे लेसिंग, विंकिलमैन, काट और गेटे जैसे कला मीमासक और विचारक इस आन्दोलन के सूत्रधार थे तो इग्लैण्ड मे कीट्स, शैली, वर्डस्वर्थ जैसे कवि और कॉलरिज जैसे समालोचक प्रधान थे। इस आन्दोलन के सवर्धन मे फ्रास के कलाकारो और दार्शनिको ने भी सहयोग दिया और ज्यो-ज्यो यूरोप में प्रजातन्त्र की भावनाएं बढती गईं, यह स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन भी जोर पकड़ता गया। इस आन्दोलन का मूल दृष्टिकोण साहित्य और कला को प्राचीन रूढियो से मुक्त कर सौन्दर्यमूलक प्रतिमान पर अधिष्ठित करना था जिसका कालान्तर मे फल हुआ—काव्य मे अभिव्यंजनावाद की सत्ता का प्राधान्य।

९२. विवेचन के इसी प्रसंग मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि लेसिंग ने जिस सौन्दर्य-सिद्धान्त की अवतारणा करते हुए ग्रीक-कलाओं का नवीन दृष्टिकोण से विश्लेषण किया उसके मूल मे मूर्त्ति-कला का विवेचन प्रमुख था। इस कला को माध्यम बना कर उसने लेकूनवर्ग की मूर्तियों मे यह तत्त्व अन्वेषित किया कि वे इस दृष्टि से भव्य और शालीन बन गई है कि उनके निर्माताओ ने लेकून की आकृति के चित्रण मे उसका रोदन-क्रन्दन अंकित न कर केवल विषादपूर्ण मुद्राओ का ही चित्रण किया है। लेसिंग के मतानुसार कलाओं मे भावाभिव्यजन का महत्त्व है, किन्तु वह सौन्दर्य-विधान से हटा हुआ नही होना चाहिए। इस प्रकार उसने अभिव्यंजना के साथ-साथ सौन्दर्य-पक्ष का संयोजन कर जो सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया वह जर्मनी के अन्य विचारको को भी

ग्राह्य प्रतीत हुआ। विंकिलमैन ने कला मे आन्तरिक सौन्दर्य-चित्रण का महत्त्व स्वीकार कर लेसिंग द्वारा प्रतिपादित अभिव्यजना-सिद्धान्त को और अधिक विकासमान बनाया और उसके अनेक भेदोपभेद भी किये। काट ने विशुद्ध ज्ञान (प्योर रीजन) तथा व्यावहारिक ज्ञान (प्रैक्टीकल रीजन) के बीच अनुभूतिजन्य ज्ञान (क्रिटिक ऑफ़ जजमेन्ट) मे काव्य कला के सौन्दर्य-पक्ष का स्वतन्त्र निरूपण किया जो कॉलरिज द्वारा और अधिक व्यापक भावभूमि पर विवेचित किया गया। इन विचारको द्वारा जिस स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का सचालन किया गया, उसका विश्लेषण करने का यहाँ अवकाश नही है। हमे तो यहाँ केवल इतना ही प्रतिपादित करना है कि अभिव्यजनावाद की प्रतिष्ठा मे यूरोप के स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का पर्याप्त हाथ है और क्रोचे ने भी उसी से प्रेरणा लेकर काव्य मे अभिव्यजनावाद की सत्ता निरूपित की है।

६३ क्रोचे ने अभिव्यजनावाद का विश्लेषण करने के पूर्व समस्त मानव-ज्ञान को दो खण्डो मे विभक्त किया है, जिन्हे कल्पनाजन्य ज्ञान और तर्कजन्य ज्ञान कहा जा सकता है। कल्पनाजन्य ज्ञान के आधार पर हम ससार के उन रूपो और क्रियाओ के प्रभावो का प्रतिबिम्ब अपनी विशिष्ट भावनाओ के अनुरूप अपने अन्त करण पर अकित करते है, जो हमारी ज्ञानेन्द्रियो की सहायता से हमारे मस्तक पर नैसर्गिक भाव से पडते रहते हैं। तर्कजन्य ज्ञान विचार-प्रधान होता है, अत उसमे निर्णयात्मक शक्ति का प्राधान्य होना आवश्यक है। उसके द्वारा हम अपने अन्त करण पर पडने वाले प्रभावो की परस्पर तुलना करते हुए उनके साम्य और वैषम्य का उद्घाटन करते है तथा उनके वर्गीकरण के आधार पर उन नियमो का भी विश्लेषण करते चलते है जिनकी सत्ता उनके मूलवर्ती दृष्टिकोण मे रहती है। इस प्रकार क्रोचे के मतानुसार ज्ञान की इन प्रक्रियाओ द्वारा सहजानुभूति (इण्ट्यूशन) और विचार (कन्सेप्ट) के निर्माण की अनेक विधियो का सृजन होता है। उसके इस प्रकार के विवेचन पर प्रसिद्ध विचारक लॉक, बर्कले, बेकन, अरस्तू आदि का भी प्रभाव है, किन्तु उसने अपना विषय-प्रतिपादन सर्वथा मौलिक और नवीन रूप मे उपस्थित किया है। क्रोचे ने सहजानुभूति को कला का बोध-पक्ष और विचार को तर्क का बोध-पक्ष निर्दिष्ट कर दोनो के नैसर्गिक विधान का प्रतिपादन किया है और उनमे अन्त सूत्र का नियोजन भी उसे स्वीकृत है। सच तो यह है कि क्रोचे के मतानुसार सहजानुभूति की तीन प्रक्रियाएँ प्रमुख है जिन्हे वस्तु, आकृति और अभिव्यजना कहा जा सकता हैं। उसने अपने सिद्धान्त मे वस्तु की अपेक्षा आकृति को बहुत महत्त्व दिया है और यही बतलाया है कि जब तक किसी वस्तु की आकृति स्थिर नही होती, तब तक उसके प्रति हमारी सौन्दर्य-भावना का अभिव्यंजन किया ही नही जा सकता। वस्तुतः उसके मतानुसार सौन्दर्य-भावना आकृति-प्रधान होती है, जिसमे हमारी आध्यात्मिक सत्ता के तत्त्व भी सम्मिश्रित रहते हैं। यद्यपि उसके विचारो से यह भी प्रकट होता है कि वह आकृति को वस्तु-निरपेक्ष नही मानता; किन्तु केवल वस्तु-मात्र मे ही रस-निष्पत्ति और सौन्दर्य-बोध की सत्ता भी उसे स्वीकार नही है। सच तो यह है कि क्रोचे का वस्तु और आकृति विषयक विवेचन कुछ स्थलो पर इतना अधिक अस्पष्ट है कि उससे सहसा यह प्रकट नही होता कि उनके प्रति उसकी मूल धारणाएँ क्या थी, क्योकि एक ओर उसने आकृति को ही सौन्दर्य-तत्त्व का आधार बतलाया है[1] तो दूसरी ओर वस्तु की सत्ता पर भी जोर दिया है।[2] सहजानुभूति और अभिव्यजना मे किस प्रकार का तादात्म्य सम्बन्ध

1. 'The Aesthetic fact is form, and nothing but form", Benedetto Croce Aesthetic pages 9-10

2 "Without matter, however our spiritual activity would not leave its abstraction to become concrete and real, this or that spiritual content, this or that definite intuition"—*Ibid*—page 6.

हो सकता है, उसका विवेचन करते हुए उसने दोनो का मूल स्वरूप एक ही माना है।[1]

६४. क्रोचे के अभिव्यजनावाद के विषय मे पश्चिमी तथा पूर्वीय समीक्षा-क्षेत्र मे पर्याप्त विवेचन हुआ है; जिसमे कुछ आलोचको ने उसकी अत्यधिक प्रशसा की है और कुछ ने उसकी अपूर्णताओ के निर्देश किये है। आधुनिक हिन्दी समालोचना के सैद्धान्तिक पक्ष के विश्लेषण का एक प्रमुख अश क्रोचे का अभिव्यंजनावाद भी रहा है जिसका विवेचन शुक्ल-युग के तथा शुक्लोतर-युग समीक्षा-विकास के अन्तर्गत किया जायगा। यहाँ तो क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के विषय मे विशेष उल्लेख करने का यही प्रयोजन है कि उसके मूलभून दृष्टिकोण से परिचय प्राप्त कर लिया जाय। इस दृष्टि से उक्त वाद के प्रधान सूत्रों के रूप मे यह कहा जा सकता है कि क्रोचे के मतानुसार काव्यकार अथवा कला-स्रष्टा का प्रधान कार्य यही है कि वह दृश्य जगत् की विविधरूपिणी वस्तुओ के अपने मानस पर पडने वाले प्रतिबिम्ब को एक नया रूप देकर उन्हें सौन्दर्य-विधान के द्वारा अभिव्यजित करे। सच तो यह है कि क्रोचे दृश्य जगत् की कोई सत्ता न मान कर मन की प्रक्रिया को ही प्रमुखता देता है, जिसके द्वारा दृश्य जगत् को स्वरूप-विधान और कलात्मक सस्थिति प्राप्त होती है। अभिप्राय यह है कि क्रोचे के मत से काव्य तथा कलाएं विशुद्ध मानसिक व्यापार हैं, जिनके औपचारिक दृष्टि से भले ही अनेक भेदोपभेद कर दिये जाएँ, किन्तु तत्त्व-दृष्टि से उनकी सत्ता अखण्ड और एक रहती है। कहने की आवश्यकता नही कि क्रोचे की इस मान्यता के अनुसार समस्त कला एक ही अखण्ड अभिव्यजना है और उसकी विशुद्धता अथवा सम्पूर्णता को खण्डित करने का प्रयास अनुचित है। इस प्रकार उसनें अपने विवेचन द्वारा अनुभूति और अभिव्यंजना का एकत्व सिद्ध किया है, जिसको लेकर अन्य विचारकों ने कालान्तर में अपना विरोध भी प्रकट किया था। उसके अभिव्यजनावाद के प्रति आस्था रखते हुए भी अन्य आचार्यों ने उसके उस निर्णय पर आपत्ति की है, जिसके अनुसार काव्य को कवि की केवल आध्यात्मिक प्रक्रिया का परिणाम ही मान लिया गया था। इन आचार्यों के मतानुसार क्रोचे की इस प्रकार की उपपत्ति द्वारा काव्य का श्रोताओ तथा पाठको के साथ कोई सम्बन्ध नही रहता और वह विशुद्ध मानसिक सृष्टि सिद्ध होती है जिसके कारण उसके सार्वजनिक स्वरूप और प्रेषणीयता के भाव में कमी आती है। इसी प्रकार क्रोचे न कलामात्र को सौन्दर्य की संज्ञा से अभिहित कर उसका नीति तथा लोकादर्श से जो किसी प्रकार का सम्बन्ध नही माना है, उस पर भी काव्य मे उपयोगितावाद तथा नीतिवाद को सापेक्षिक महत्त्व देने वाले आचार्यों ने आपत्ति की है। इन आचार्यों के मतानुसार क्रोचे ने मन की सक्रिय आध्यात्मिक चेष्टा को ही काव्य-निर्माण का उत्स स्वीकार कर तथा उसका हमारे भौतिक जगत् से कोई सम्बन्ध न मान कर अपना उचित निर्णय नही दिया है, क्योकि हमारी विविध क्रियाओं का साधन तो प्रत्यक्ष जगत ही बनता है। साराश यह है कि क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के विषय मे इसी प्रकार के विभिन्न दृष्टिकोण हैं, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर उसकी कला-विषयक आध्यात्मिक विवेचना तथा अखण्ड सस्थिति विषयक धारणा किसी ऐसे प्रतिमान पर आधारित नही कही जा सकती जिसका सयोजन समन्वयपूर्ण भावना मे नही किया जा सके। इसमे कोई सन्देह नही कि क्रोचे ने काव्य को मानसिक व्यापार बतलाया; किन्तु वह मानसिक व्यापार सार्वजनिक उपयोग की वस्तु नही बनाया जा सके, ऐसा कोई प्रतिबन्ध भी उसने नहीं लगाया है। साथ ही साथ, वह कला के नैतिक तथा जनहितकारी दृष्टिकोण

---

1 "Sentiments or impressions pass by means of words from the obscure region of the soul into clasity of the cotemplative spirit In this cognative process it is impossible to distinguish intuition from expression. The one is produced with the other at the same instance, because, they are not two, but one." Benepetto Croce, AEsthetic, page 14.

की ओर ध्यान न देता हुआ भी अन्य विचारकों के लिए इस प्रकार का अवकाश रख ही देता है जिससे वे उनका नैतिक महत्त्व भी स्वीकार कर सके। इस दृष्टि से क्रोचे का अभिव्यजनावाद कोई ऐसी अद्भुत सृष्टि नही प्रतीत होती, जिसका प्रत्यक्ष जीवन के साथ कोई सम्बन्ध स्थापित ही नही किया जा सकता। हाँ, यह बात अवश्य है कि क्रोचे ने इन पक्षो को अत्यन्त गौण स्थान दिया है जिसके कारण समालोचना-क्षेत्र मे अनेक प्रकार के प्रवादो की भी सृष्टि होने से नही बच सकी है।

६५. आधुनिक हिन्दी समीक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष मे क्रोचे के अभिव्यजनावाद का पर्याप्त विवेचन हुआ है। प० रामचन्द्र शुक्ल ने तो उसे हमारे यहाँ के वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान बतलाकर उसका कई दृष्टियों से घोर विरोध किया है। इसी प्रकार डा० श्यामसुन्दरदास, डा० गुलाबराय, डा० नगेन्द्र तथा आचार्य प० नन्ददुलारे वाजपेयी तथा लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' आदि ने भी अभिव्यंजनावाद के सम्बन्ध मे अपनी उपपत्तियाँ विवेचित की है। इस प्रकार की विवेचनाओ से हमारी समालोचना का सैद्धान्तिक पक्ष विकसित हुआ है। यह सब कुछ होते हुए भी अभिव्यजनावाद विषयक विवेचन सर्वथा पूर्ण नही कहा जा सकता, क्योकि इसके ऐसे अनेक पक्ष है जिनका तारतम्यपूर्ण विश्लेषण करने की अब भी आवश्यकता बनी है। जिस प्रकार डा० नगेन्द्र ने 'अरस्तू के काव्यशास्त्र' तथा 'लौगिनुस के काव्य मे उदात्त तत्त्व' के अनुवाद प्रस्तुत कर उक्त ग्रन्थो की भूमिकाओ मे उक्त सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे जो गम्भीर तथा तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है उसी प्रकार क्रोचे के अभिव्यजनावाद की भी उसके मूल ग्रन्थ के हिन्दी-रूपान्तर की अत्यन्त आवश्यकता है। ऐसा होने पर इसके सम्बन्ध मे बनी हुई कई ऐसी भ्रान्तियों का भी निवारण हो सकेगा जो नये विचारको को उनके पल्लवग्राही पाण्डित्य के कारण समय-समय पर होती रहती है। अभिव्यजनावाद के सैद्धान्तिक पक्ष का हमारे काव्य-निर्माण पर भी पर्याप्त प्रभाव पडा है। उसके कारण प्रतीक-योजना, अलकार-विधान-निरूपण तथा काव्य के मूर्तामूर्त विधान आदि के सम्बन्ध मे अभिव्यजना की अनेक प्रवृत्तियो का भी सचार हुआ है जिसका विश्लेषण विभिन्न समालोचको ने मुख्यत छायावादी काव्य को अपना लक्ष्य बना कर किया है। उसके विवेचन से हमारा यहाँ कोई प्रयोजन नही है। हमे तो इस प्रसंग मे केवल इतना ही सकेत करना है कि शुक्लोत्तर युग की स्वच्छन्दतावादी समालोचना ने अपने कला-विषयक दृष्टिकोण द्वारा काव्य की जो सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक मीमासा की है, उसके प्रेरणा-स्रोतो का एक प्रमुख स्रोत क्रोचे का अभिव्यंजनावाद भी है जिसका सामान्य निरूपण करना हमारे लिए आवश्यक था।

(उ) आई० ए० रिचर्ड्स का मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद

६६ पश्चिमी साहित्यालोचन के विकास मे आई० ए० रिचर्ड्स की साहित्यिक समीक्षा के सिद्धान्त (Principles of Literary Criticism) नामक पुस्तक का अत्यन्त महत्त्व है। उसने इस पुस्तक की रचना द्वारा उन कलावादियो को एक प्रकार से चुनौती दी है जो कला को जीवन से निरपेक्ष और स्वतन्त्र मानते है। रिचर्ड्स का कहना है कि कला और साहित्य को जीवन की उपयोगिता से अलग करके देखना वाछनीय नही है, क्योकि उनकी अनुभूतियाँ भी जीवन की अन्य अनुभूतियो के समान ही होती है। उसने उन विचारको का भी विरोध किया है जो आधुनिक युग मे नवीन उद्भावनाओं की मौलिकता प्रदर्शित करने की दृष्टि से आचार तथा नीति का साहित्य-समालोचना मे कोई स्थान नही मानते और उनका क्षेत्र केवल उपदेशको तथा आरक्षियो तक ही सीमित समझते हैं। उसका कहना है कि ऐसे विचारक नीति का अर्थ अत्यन्त संकुचित रूप मे ग्रहण करते है। वास्तव मे साहित्य-समीक्षक का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक होना चाहिए; क्योंकि कला अथवा नीति को केवल उनकी एकागिता अथवा अतिरेकता मे विवेचित

करना उचित नहीं है।[1] उसका कहना है कि समालोचना तो वास्तव मे हमारी जीवनानुभूतियो का ही विवेचन करने का सुन्दर प्रयास है और उससे मूल्याकन का दृष्टिकोण तटस्थ किया ही नही जा सकता। उसके मतानुसार अनुभूतियों की प्रवृत्तियो से अपरिचित रह कर तथा मूल्याकन और संप्रेषणीयता के सिद्धान्त को जाने बिना साहित्य-समीक्षा का निर्वाह करना सर्वथा असम्भव-सा है।[2] उसने उन लोगो की विचारधाराओ पर हार्दिक खेद प्रकट किया है जो कला के सामाजिक तथा नैतिक दृष्टिकोण की उपेक्षा कर उसे एक स्वत: साध्य सृष्टि मानते है और अपनी मान्यता के विचित्र प्रतिपादन मे अनेक प्रकार की भ्रान्तियो को जन्म देते हैं। सच तो यह है कि रिचर्ड्स के मत से कला-समीक्षक हमारे मानसिक स्वास्थ्य से उतना ही सम्बन्ध रखता है जितना कोई डॉक्टर हमारे शारीरिक स्वास्थ्य से।[3] उसने साहित्य-समीक्षक के जिन गुणो का विवेचन किया है, उसके द्वारा उसकी मान्यताओं का आभास सहज ही लगाया जा सकता है

> "The critic cannot possibly avoid using some ideas about value, His whole occupation is an application and exercise of his ideas on the subject, and an avoidance of moral preoccupations on his part can only be either an abdication or a rejection under the title of morality of what he considers to be mistaken or dishonest ideas and methods"[4]

इसी प्रसग मे रिचर्ड्स ने किसी अच्छे समालोचक मे मुख्य रूप से तीन गुणो का होना आवश्यक बतलाया है—

> "The qualifications of a good critic are three He must be an adept at experiencing, without eccentricities, the state of mind revelant to the work of art he is judging. Secondly he must be able to distinguish experiences from one another as regards their less uperficial features Thirdly, he must be a sound judge of values"[5]

९७. आई० ए० रिचर्ड्स का सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक उपयोगितावाद कहा जा सकता है। उसने मूल्य और कला की श्रेणियों मे अपनी जो भावाभिव्यक्ति की है, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसके विचारो मे किसी भी देश के साहित्य का उसकी सास्कृतिक पृष्ठभूमि से भी सम्बन्ध है और उसकी सार्वजनिकता मे किसी भी प्रकार का कोई सन्देह किया ही न जाना चाहिए। साहित्य मे प्रेषणीयता के तत्त्व पर तो उसे इतना अधिक विश्वास है कि वह उसके अभाव में साहित्य-निर्माण की कल्पना कर ही नही सकता। उसके मतानुसार प्रेषणीयता काव्य का अचेतन (अनकाशस) तत्त्व है और कोई भी काव्य चाहे कितनी ही स्वात: सुखाय मानवता से लिखा जाय, उसमें प्रेषणीयता की मूल वृत्ति तो अवश्यमेव रहेगी। कहने की आवश्यकता नही कि रिचर्ड्स ने यह सारा विवेचन भाव-पक्ष को प्रधानता देने की दृष्टि से किया है। उसका मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद पर इतना अधिक विश्वास है कि वह उसकी व्याख्या किये बिना किसी भी काव्यकार की कृति का सम्यक् परीक्षण सम्भव ही नही समझता। सच तो यह है कि रिचर्ड्स के मतानुसार वही कवि श्रेष्ठ तथा संतुलित साहित्य की सृष्टि कर सकता है जो मूल्यो की काव्यगत महत्ता और सापेक्षता से परिचित हो।

1. I. A. Richards : *Principles of Literary Criticism*, Fourteenth impression, 1955, page 34
2. *Ibid* - Preface—page 2.
3. *Ibid*—The Critics Concern with Value—page 35.
4. *Ibid*—page 35
5. *Ibid*—The Analysis of a Poem, page 114.

है कि भावो का काव्यगत तथा व्यक्तिगत विधान दो अलग-अलग कोटियाँ हैं।

१०० इलियट के जिस निर्वैयक्तिकता वाले सिद्धान्त का जो सामान्य स्वरूप विवेचित किया गया, उसका पाश्चात्य समालोचना-साहित्य मे कई वर्षों तक अत्यधिक प्रभाव रहा। स्वयम् इलियट ने अपनी समीक्षा-पुस्तको तथा साहित्यिक निबन्धो के अतर्गत विभिन्न कलाकारों के काव्य का विश्लेषण करते हुए अपने इस सिद्धान्त की वास्तविकता का निरूपण किया था। इसमे कोई सन्देह नहीं कि मनोविश्लेषणवाद की अतिरेकता से साहित्य-क्षेत्र मे जिस व्यक्तिवाद का प्राबल्य हो रहा था और जिसके कारण व्यक्तित्व-विश्लेषण के आगे काव्य-कृतियाँ गौण तथा धूमिल बन रही थी, उन पर प्रतिबध लगाने के लिए इस सिद्धान्त ने अत्यधिक अवसरोपयुक्त कार्य किया, किन्तु शनै.-शनै यह भी अतिचार के रूप मे परिवर्तित हो गया। व्यक्तित्व और कृतित्व को सर्वथा पृथक् विधान मे स्वीकृत करने का परिणाम यह हुआ कि कला-कृतियों के परीक्षण में अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ तथा असगतियाँ आ गईं और व्यक्तित्व तथा कृतित्व मे जो वागर्थविव-सम्पृक्त विधान होता है वह दो अलग-अलग कोटियो मे बन्द कर दिया गया। इस सिद्धान्त की यथार्थता का विशेष विश्लेषण करने का यहाँ अवसर नही है। हमे तो केवल यही कहना है कि आधुनिक हिन्दी समालोचना के सैद्धान्तिक पक्ष के निर्माण मे इसने भी योग दिया है और इस पर भी हमारे विभिन्न समालोचको ने अपनी विचार-सरणियाँ प्रस्तुत की है जिनका विवेचन उनकी समीक्षा-कृतियो तथा सिद्धान्तो का विश्लेषण करने के प्रसंग मे किया जायगा।

१०१. इलियट की मान्यताओ के सम्बन्ध मे थोड़ा-सा और विश्लेषण करना इसलिए आवश्यक है कि उन्होने काव्य-विवेचन के प्रसग मे जिस प्रकार का सामाजिक पक्ष व्यक्त किया है, उसका एक अश हिन्दी के प्रगतिवादी समालोचकों से विशेष रूप से अपनाया है। उनका कहना है कि काव्य रूप मे किसी भी महान् परिवर्तन का अर्थ है समाज तथा व्यक्ति मे किसी गम्भीर परिवर्तन का उद्रेक।[1] उन्होने कवि के लिए केवल सौन्दर्यमय जगत् मे भ्रमण करना ही पर्याप्त नही माना है, अपितु वे सौन्दर्य के साथ असौन्दर्य तथा उल्लास के साथ विषाद का चित्रण करना भी उसके लिए आवश्यक समझते हैं।[2] उनके मतानुसार व्यापक दृष्टि-सम्पन्न समालोचक किसी भी युग-जीवन तक ही सीमित न रह कर समय की दूरी को अपनी अंतर्दृष्टि से पाट लेता है और तदुपरात काव्य की प्रवृत्तियो का विश्लेषण परम्पराओ को एक ही इकाई मे अधिष्ठित करते हुए करता है। वे उन समालोचको को अच्छा नही समझते जो केवल नवीनता मे ही काव्य का सर्वस्व पाते हैं और अतीत की ओर दृष्टिपात नही करते।[3] उनके मतानुसार कोई भी समालोचना तभी उत्कृष्ट कही जा सकती है जबकि समालोचक समालोच्य कवि या लेखक का व्यक्तित्व धारण कर उसी के वैशिष्ट्य मे अपनी वाणी का प्रसार करे।[4] इसी प्रकार उनकी दृष्टि मे नीत्युपदेश सतों के लिए प्राथमिक विषय हो सकते है, किन्तु कवि के लिए तो वे आनुषगिक विषय ही है।[5] उनका कहना है कि काव्य में लेखक से पाठक तक प्रेषणीयता का भाव अवश्य रहता है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि काव्य को सर्वथा प्रेषणीयता का एकमात्र वाहक ही समझ लिया जाय। काव्य मे प्रेषणीयता हो सकती है किन्तु उसके द्वारा कोई तथ्यपूर्ण उपलब्धि नहीं की जा सकती।[6]

---

1 T. S. Iliot : *The use of Poetry and use of Criticism* Faber and Faber Limited. London, page, 75.
2. *Ibid*, page 106.
3. *Ibid*, pages 108-109.
4. *Ibid*, page 112.
5. *Ibid*, page 114.
6. *Ibid*, page 115.

उन्होने काव्य और समालोचना के विकास तथा परिवर्तन का कारण कोई आतरिक स्थिति न मान कर केवल उन तत्वो को माना है जो बाह्य सृष्टि से उनके मानस मे प्रविष्ट होते है।[1] अभिप्राय यह है कि इलियट ने अपने समालोचना ग्रन्थो मे साहित्य के सैद्धान्तिक विवेचन के सम्बन्ध मे एक नवीन दृष्टि दी है जिसको आप्त वचन मान कर हमारे प्रसारकालीन समालोचको का एक दल चल रहा है। कहने की आवश्यकता नही कि पश्चिमी समीक्षा के क्षेत्र मे आगे चल कर इलियट की मान्यताओ का खडन किया गया, उसी प्रकार हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र मे भी हमारे तत्वाभिनिवेशी समालोचक उसकी एकागिताओ का विरोध करते है। इलियट के निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त मे भले ही अपूर्णताएँ हो, किन्तु उसका प्रभाव आधुनिक हिन्दी समालोचना की एक धारा-विशेष पर पर्याप्त समय से है; अतः यह भी हमारी समीक्षा का एक स्रोत सिद्ध होता है।

(ए) कॉडवेल का मार्क्सवादी सिद्धान्त

१०२. भाषा और साहित्य को सामाजिक-सृजन कह कर समाजशास्त्रीय समालोचना को विकसित बनाने वाले पाश्चात्य विद्वानो मे क्रिस्टोफर कॉडवेल का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसकी कल्पना और यथार्थ (इल्यूजन एड रीयलिटी) नामक पुस्तक ने वहाँ के समालोचना-जगत् मे एक नई क्रान्ति की है और वह सौन्दर्य-शास्त्र की मौलिक समस्याओ का व्यापक समाधान करने का एक ऐसा सर्वप्रथम प्रयास है जिसमे मार्क्सवादी दृष्टि से बूर्जवा मनोविज्ञान के मूल उपकरणो का तत्व-शोधन प्रस्तुत कर दिया गया है।[2] कॉडवेल प्रारम्भ ही से यह मान कर चला है कि भाषा एक सामाजिक उत्पादन है जिसको माध्यम बना कर व्यक्ति परस्पर भाव-सप्रेषण करते तथा एक दूसरे को विभिन्न क्षेत्रो मे प्रेरणा देते है, अतः काव्य-स्रोतो का अध्ययन समाज के अध्ययन से किसी भी प्रकार अलग किया ही नही जा सकता।[3] वह कला को समाज का उत्पादन उसी प्रकार मानता है जिस प्रकार सीपी से मोती की उत्पत्ति होती है और कला से बहिर्गत होने को वह समाज के अतर्गत ही खडा होना बतलाता है। उसके मतानुसार कला-समीक्षा विशुद्ध मनोरजन और रचना से भिन्न है, क्योकि उसका एक सामाजिक धरातल अवश्य रहता है। कला-समीक्षण मे सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि की किसी भी रूप में उपेक्षा नही की जा सकती, क्योकि वस्तुत. वही उसको एक सक्रिय तथा विकासमान गति प्रदान करने का कारण बनती है।[4] इस प्रकार कॉडवेल ने मार्क्सवादी विचार-धारा से साहित्यालोचन के क्षेत्र मे भी एक नवीन परम्परा को जन्म दिया है, जिसका प्रभाव हमारी प्रसारकालीन समालोचना की प्रगतिवादी प्रवृत्ति पर विशेष रूप से पड़ा है। इस प्रवृत्ति के बहुत से समालोचको ने तो कॉडवेल के विचारो की उद्धरणी हिन्दी-रूपान्तर के साथ प्रस्तुत कर दी है और उन्हे अपने प्रतिमान का आदर्श बना कर हिन्दी के सभी श्रेणी के साहित्यकारो मे अनुकूल भाव-सामग्री के चयन का प्रयास किया है। कॉडवेल की यह विचारधारा भी हमारे आधुनिक समालोचको के सैद्धान्तिक पक्ष के विकास का एक स्रोत है जो मार्क्सवादी मान्यताओं को साहित्य-परीक्षण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान देता है।

१०३. कॉडवेल ने मार्क्सवादी सिद्धान्त का साहित्यगत प्रयोग करते हुए मनुष्य की सम्पूर्ण-जीवन व्यवस्था को केवल आर्थिक आधारशिला पर विवेचित किया है। यहाँ तक कि उसके

---

1. T. S. Iliot . *The use of Poetry and use of Criticism.* Faber and Faber Limited, London, page 127
2. C. Caudwell . *Illusion and Reality,* 1956. Biographical Note, page 3
3. *Ibid,* Introduction, page 5.
4. *Ibid,* pages 9-10.

मतानुसार कला, सौन्दर्य, सस्कृति और धर्म सभी आर्थिक परिस्थितियो की उपज है और उनका समाज से भिन्न कोई असाधारण अस्तित्व नही है। उसने मानव-सृष्टि के विकास को छ ऐतिहासिक युगो मे विभक्त कर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि इन युगो के अनुरूप ही कार्य-कारण की सम्बन्ध-परम्परा से प्रत्येक देश के साहित्य का क्रमिक विकास हुआ है और जिस युग मे जिस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था रही है, उसी प्रकार की साहित्य की सृष्टि वहाँ सम्भव हो सकी है। उदाहरणार्थ उसने उत्तर पाषाण युग (न्योलीथिक एज) की कला के मूल मे सामूहिक भावना (कलेक्टिव इमोशन) का स्वरूप निर्धारित कर साहित्य को उस युग के प्राणी की समस्त सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति का साधन माना है तो राज-सत्ता के युग (एज आव मोनार्की) मे अवकाश की अधिकतावश महाकाव्यो की सृष्टि के लिए अधिक उपयुक्त वातावरण को मूल कारण सिद्ध किया है। इस युग के पश्चात् मध्यवर्गीय उत्थान के कार्य-काल मे व्यक्तिवाद की प्रधानता हो जाने के कारण जिस श्रेणी का प्रगीत काव्य (लीरिक पोयट्री) लिखा गया, उसका कारण कॉडवेल ने व्यक्तियो की स्वतन्त्र इकाई अथवा निजी रुचि ही सिद्ध किया है। कहने की आवश्यकता नही कि कॉडवेल के अनुसार जिस रूप मे श्रमिक सभ्यता का अभ्युदय हो रहा है, उसने हमारी साहित्य-प्रक्रिया मे एक क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया है और इस युग मे व्यक्ति की सामूहिक भावना एक नए रूप मे विकसित होकर साहित्य-सृष्टि का कारण बन रही है।

१०४. कॉडवेल ने अपने मार्क्सवादी समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की सगति अग्रेजी साहित्य के प्रमुख काव्याकारो की कृतियो और प्रवृत्तियो का विश्लेषण करते हुए सिद्ध की है और बतलाया है कि मध्यवर्गीय समाज के असन्तोषपूर्ण जीवन ने किस प्रकार कवियो की अंतश्चेतना मे समाज की विषमता और बिगडी हुई अर्थ-व्यवस्था के कारण ऐसे दुःखवाद की सृष्टि की है, जिससे वे आत्मपलायन कर या तो प्रकृति की शरण में गए है या कल्पनालोक की सृष्टि मे आनन्द-विभोर बने है। उसके मतानुसार कला या साहित्य-निर्माण के मूल में इस प्रकार की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति ही कवियो के मानस-लोक की निर्मात्री बन कर उपस्थित होती है, जो कभी सामूहिक जीवन और कभी व्यक्तिगत जीवन के ढाँचे मे काव्य-सृष्टि का उद्रेक कराती है। काडवेल ने शेक्सपियर, वर्डस्वर्थ, शैली, कीट्स और लिवी आदि साहित्यकारो के निर्माण का विवेचन कर अपने सिद्धान्त की वास्तविकता का समर्थन किया है।

१०५. कॉडवेल ने काव्य को मानवीय मस्तिष्क की आदिकालीन सौन्दर्यपूर्ण प्रवृत्तियो मे एक प्रमुख प्रवृत्ति माना है।[1] उसका विश्वास है कि जिस प्रकार सस्कृति को आर्थिक व्यवस्था से अलग नही किया जा सकता उसी प्रकार काव्य को सामाजिक संगठन से दूर नही ले जाया जा सकता।[2] उसके मानुसार कविता या उच्च भाषा सामूहिक बुद्धि का सामान्य माध्यम है।[3] उसकी विचारधारा के सम्बन्ध मे अपनी ओर से अधिक न लिख कर उसके काव्य-सृष्टि तथा समालोचना विषयक धारणाओं के उद्धरण देना हम पर्याप्त समझते हैं। कॉडवेल का कहना है :

> 1 "Poetry is the nascent self-consciousness of man, not as an individual but an sharer with others of a whole world of common emotions."[4]
>
> 2. "Poetry, then cannot be separated from the society whose specifically human activities secrets it. Poetry is a productive or economic

1. C C. Caudwell . *Illusion and Reality*, 1936 *'The birth of Poetry'*, page 11.
2 *Ibid*, page 15.
3. "Poetry, or heightened language, is the common medium of collective wisdom."
4. C. C. Caudwell · *Illusion andReality*. Peoples Publishing House Delhi, 1959, page 30 ·

activity of man, To separate it from this foundation makes its development impossible to understand "[1]

3 "Poetry expresses in a generalised and abstracted way the dynamic relation of the age to the elements of outer reality symbolished by words "[2]

१०६. समालोचना के सम्बन्ध मे कॉडवेल के क्या विचार है, इसका पूर्ण आभास उसका निम्नलिखित उद्धरण दे सकेगा :

"Literary criticism cannot exist among the unself conscious primitives the undifferentiated state of their society makes it unnecessary. The criticism is direct and dumb and efficacious the valuation of the poet is expressed by the place he is voluntarily accorded in tribal society, the valuation of the poems by their repetition and survival "[3]

१०७. कॉडवेल की विचारधारा तथा मान्यताओ का विशेष उल्लेख मैंने इस प्रसग मे इसलिए किया है कि शुक्लोत्तर युग की समीक्षा मे प्रगतिवादी कहे जाने वाले समालोचक जिस रूप मे अपनी मौलिकता का अधिकार व्यक्त करते है, उनका मूल स्रोत स्पष्ट हो सके तथा इस विषय का स्पष्टीकरण हो जाए कि वे अपने साहित्य का परीक्षण जिस प्रतिमान पर करते है उसका उद्गम क्या है ?

पश्चिमी साहित्यलोचन का हिन्दी में प्रवेश और प्रसार

१०८. पश्चिमी साहित्यालोचन के सामान्य परिचय की पृष्ठभूमि के निरूपण के पश्चात् अब हमे यह देखना है कि इसने हमारे आधुनिक युग की हिन्दी समालोचना को किस प्रकार आक्रात कर रखा है और वह इसके विकास-स्रोत मे किस प्रकार कारण बना है। ऐसा करने पर हमे इस विषय को जानने मे कोई कठिनाई नही होती कि ऐतिहासिक क्रमानुसार अग्रेजी माध्यम से उपलब्ध पाश्चात्य साहित्यालोचन का प्रभाव हिन्दी साहित्यालोचन पर तभी से दृष्टिगोचर होने लगता है, जब से यहाँ पर पश्चिमी शिक्षा-प्रणाली और आचार-विचारो का सूत्रपात हुआ है। भारतेन्दु-युग से लेकर आज तक जैसे-जैसे हमारी साहित्य-चेतना मे विकास होता गया है, पश्चिमी प्रभाव भी बराबर अपना आधिपत्य जमाता चला है। समालोचना के सिद्धान्त-पक्ष और व्यवहार-पक्ष पर उसके तत्त्व आरोपित है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतेन्दु युग से ही इस प्रभाव की सत्ता जमने लगी थी और उस युग के समालोचक इसकी महत्ता स्वीकार करने लगे थे। भारतेन्दु जी ने भी अपने 'नाटक' शीर्षक निबन्ध मे सस्कृत नाट्य-शास्त्र के साथ-साथ अंग्रेजी नाट्यालोचन की प्रवृत्तियो का विश्लेषण कर उसकी सुग्राह्यता विवेचित की है। उन्होने अपने 'नाटक' प्रकरण के विवेचन मे नाटक को सुखान्त, दुःखान्त और मिश्र की श्रेणियो मे विभक्त कर उन्हे जिस प्रकार की सामाजिकता और राष्ट्रीयता की दृष्टि से विवेचित किया है, वह पश्चिमी प्रभाव के बहुत निकट है। इसका सबसे बडा प्रमाण यही है कि उनके पूर्व न तो हिन्दी के रीतिकालीन काव्य-शास्त्र मे ही इस प्रकार का कोई प्रयास किया गया था और न सस्कृत-साहित्य मे ही साहित्य की सामाजिक चेतना के विवेचन की ही व्यवस्था थी। यहाँ तो साहित्य को सामान्यतः उसकी विशुद्ध भावात्मक स्थिति मे ही लिखने और समीक्षित करने की परम्परा थी, अत हिन्दी काव्य-साहित्य की भाँति उसके समालोचना-साहित्य के अन्तर्गत भी पश्चिमी प्रभाव की छाया अन्वेषित करना कोई पूर्वाग्रहदर्शित मान्यता

1. C. C Caudwell. *Illusion and Reality*, Peoples Publishing House Delhi, 1956, page, 43.
2. *Ibid*, page, 292.
3. *Ibid*, page, 45.

नही समझी जानी चाहिए।

१०९. यह एक विचारणीय विषय है कि युग-चेतना और नव्यतर दृष्टि के विकास के साथ ही साथ अन्यान्य भारतीय साहित्यो की भांति हिन्दी-साहित्य मे भी पश्चिमी जगत् की विचारधाराओ का हमारे समीक्षण क्षेत्र मे क्रमश: अन्त प्रवेश होता गया है। उसके प्रभाव का एक बडा प्रमाण तो यही है कि स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जैसे प्राचीन परम्परा वाले ब्रजभाषा के कवि ने भी अंग्रेजी के प्रसिद्ध समालोचक अलेक्जेण्डर पोप के 'ऐसे आन क्रीटीसिज्म' नामक पुस्तक का अनुवाद समालोचनादर्शनामक ग्रथ के रूप मे ब्रजभाषा पद्य मे किया, जिसका प्रकाशन सन् १८९७ ई० मे हुआ था। कहा जा सकता है कि भारतेन्दु-युग से ही पाश्चात्य समालोचना के जो प्रभाव हिन्दी मे दृष्टिगोचर हुए थे, उनका प्रसार कालान्तर मे होता गया। भारतेन्दु युग की पत्र-पत्रिकाओ मे जिस प्रकार के रिव्यू निकलते थे, उन पर पश्चिमी समीक्षा की गहरी छाप थी। प० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने भी अपने 'समालोचना' शीर्षक निबन्ध मे पश्चिमी साहित्यालोचन की विधा की बडी प्रशसा की है और उसे नवीन प्रणाली की समालोचना की उज्ज्वल अवतारणा माना है। प० बालकृष्ण भट्ट, प० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' तथा बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने भी अपनी समालोचनाओ मे पश्चिमी प्रभाव को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे स्वीकार किया है। जिस प्रकार गद्य का प्रवर्तन और सवर्धन आधुनिक युग की विशेषता है, उसी प्रकार नवीन ढंग की समालोचना का प्रस्फुटन भी इसी युग की देन है।

११०. आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी का युग जिस प्रकार साहित्य की अन्यान्य विधाओ का सम्वर्धन काल है, उसी प्रकार साहित्य-समालोचना का भी। द्विवेदी जी ने ज्ञान का सदैव स्वागत किया है, चाहे वह कही से भी क्यों न प्राप्त हो। हिन्दी मे समालोचना साहित्य की हीनता पर उन्हे महान् विक्षोभ था और वे उसके कोष की अभिवृद्धि सभी प्रेरणा-स्रोतो से समालोच्य निधि प्राप्त कर करना चाहते थे। उन्होने संस्कृत-साहित्य और बगला, मराठी आदि प्रान्तीय साहित्यों से भी समालोचना क्षेत्र को विकसित बनाने के उपकरण एकत्र किए थे, किन्तु इस विषय मे उन्होने पश्चिम से भी बहुत कुछ ग्रहण किया था। कविता के विवेचन में वे वर्ड-स्वर्थ, शेक्सपियर, मिल्टन और पोप आदि का विवरण बराबर देते गए है। इसी प्रकार उन्होंने 'रसज्ञ-रजन' के शास्त्रीय पक्ष के विवेचन मे भी पश्चिमी साहित्यालोचन का आभार स्वीकार किया है। उन्ही के समकालीन लेखक श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'विश्व-साहित्य' नामक पुस्तक मे तो मूलतः पश्चिमी समालोचना साहित्य के ही अर्द्धांश से अधिक उद्धरण है। काव्य, नाटक, गद्य आदि सैद्धान्तिक विषयो का विवेचन पश्चिमी विचार-प्रणाली के बहुत अधिक निकट रह कर किया गया है। द्विवेदी युग के अन्यतम समालोचक श्री मिश्रबन्धुओ के 'विनोद' और 'हिन्दी नव-रत्न' पर भी पश्चिमी समीक्षा-प्रणालियो का प्रभाव है। इसी युग मे बाबू श्यामसुन्दरदास के 'साहित्यालोचन' का निर्माण तो अनेकानेक पश्चिमी समालोचना के सैद्धान्तिक ग्रन्थो के आधार पर किया गया है। समालोचना के अन्तर्गत इस युग से लेकर आज तक जिस प्रकार की व्याख्यात्मकता का सन्निवेश क्रमश: होता गया है, वह भी पश्चिमी समालोचना की ही देन है। साहित्य का इतिहास, कवियो की जीवनी तथा उनकी कृतियों की समीक्षा एवम् साहित्य के विभिन्न वादो के विवेचन मे भी पश्चिमी साहित्य-समालोचना की प्रतिच्छाया है। कालान्तर में हिन्दी समालोचना जगत् के सर्वश्रेष्ठ मौलिक विचारक पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी मेधा से जिस समालोचना-साहित्य का अभिनव निर्माण किया है, उसकी रक्त-शिराओ में भी पश्चिमी विचारधारा का सन्निवेश है। उनके ग्रन्थो की सैद्धान्तिकता और व्यावहारिकता मे रिचर्ड्स, ब्रैडले और क्रोचे आदि पश्चिमी विचारकों का जो विश्लेषण रहा है वह उनकी पश्चिमी साहित्यालोचन की उपलब्धि का एक अश नही तो और क्या है ? यहाँ तक कि शुक्ल जी के उपरान्त भी जिस शुक्लोत्तर-

युग मे स्वच्छन्दतावादी, मार्क्सवादी, मनोविश्लेषणवादी तथा प्रयोगवादी काव्यधाराओ की भाँति जिस समीक्षा-साहित्य का प्रसार हुआ है वह पश्चिमी मान्यताओ और समालोचको की विचार-धाराओ का विश्लेषण किए बिना अपना अस्तित्व धारण करने मे भी असमर्थ कहा जायगा। बाबू गुलाबराय, डा० नगेन्द्र, आचार्य प० नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री अज्ञेय, प० इलाचन्द्र जोशी, श्री सुधांशु, डा० देवराज उपाध्याय, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, डा० रामविलास शर्मा और श्री शिवदान-सिंह चौहान आदि समालोचको की कृतियो मे पश्चिमी साहित्यालोचन के तत्व शोध निकालना कुछ भी कठिन कार्य नही है। गम्भीरतापूर्वक तथा निष्पक्ष नीति से देखने पर तो पता चलेगा कि इन समालोचको की जितनी सामग्री पराजित है उतनी मौलिक नही। स्पष्ट है कि इस पराजित सामग्री मे भी अग्रेजी साहित्यालोचन का प्रमुख अंश मिला हुआ है।

व्याख्यात्मक समालोचना और वाद-समीक्षा पर प्रभाव

१११. आधुनिक हिन्दी समालोचना के अन्तर्गत जिन विभिन्न प्रणालियो के रूप मे साहित्यालोचना का विकास हुआ है उनकी पूर्वपीठिका मे भी पश्चिमी साहित्यालोचन की छाया विद्यमान है। आजकल की व्याख्यात्मक समालोचना के अन्तर्गत जिन ऐतिहासिक, आत्मचरितमूलक, समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक तथा प्रभावाभिव्यजक विधियो से विवेचन किया जा रहा है, उनका मूल भी पश्चिमी समालोचना-प्रणाली है। इन प्रणालियो का विशेष विवरण मैंने इसी प्रबन्ध के प्रथम अध्याय के अन्तर्गत दिया है। यहाँ मेरा मूल मन्तव्य यही है कि इनके स्वरूप विधान को भी पाश्चात्य समालोचना-विधि के अन्तर्गत ही मानकर चलना चाहिए, क्योकि हमारे प्राचीन सस्कृत साहित्य-शास्त्र और रीतिकालीन परम्परा मे इस प्रकार की प्रवृत्ति बहुत कम रही है। इनके साथ साथ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि आजकल आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से जिस रस-सिद्धान्त का विवेचन किया जाता है उसकी प्रेरणा भी पश्चिमी है। आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू गुलाबराय, डा० श्यामसुन्दर दास, डा० नगेन्द्र आदि ने रस और मनोविज्ञान को लेकर जो विश्लेषण किया है, वह पश्चिमी विचारको की मान्यताओ से यथेष्ट प्रभावित है। इसका विशेष विवेचन उनके काल की सामान्य प्रवृत्तियो तथा उनकी समालोचना-कृतियो का विश्लेषण करते हुए किया जायगा। हाँ, इसी प्रसग मे यह उल्लेख करना आवश्यक है कि रस और मनोविज्ञान के आन्त-रिक सम्बन्ध को लेकर डा० छैलबिहारी गुप्त ने आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश मे रस-सिद्धान्त का जो आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है, वह इसके सैद्धान्तिक पक्ष के विवेचन का एक सुष्ठु प्रयास है।

११२. आधुनिक हिन्दी समालोचना मे अभिव्यजनावाद, मनोविश्लेषणवाद, मार्क्सवाद यथार्थवाद, आदर्शवाद, अस्तित्ववाद और प्रकृतिवाद आदि अनेकानेक वादो का समर्थन जिन प्रणालियो और तर्कनाओ के आधार पर किया जा रहा है उनकी मूल प्रेरणा भी पश्चिमी है। ऐसे समालोचको की सख्या बहुत कम है जो इनका भारतीय काव्य-सिद्धान्तो के साथ समन्वयपूर्ण तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर सके। इन वादो के विश्लेषण मे बार-बार पश्चिमी विचारको की मान्यताओ के उद्धरण दिए जाते हैं। यदि यह कह दिया जाय कि हमारी सैद्धान्तिक समालोचना का एक बहुत बडा भाग केवल वाद-समीक्षा के बल पर ही अपना जीवन धारण कर रहा है तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। आज के समालोचको मे कदाचित् ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो किसी न किसी प्रकार की वाद-यंत्रणा से आबद्ध न हो। इससे मेरा यह अभिप्राय नही कि वादो का समालोचना के क्षेत्र मे कोई स्थान नही है और उन्हे बहिर्गत ही रखना चाहिए, किन्तु इतना आशय अवश्य है कि एकमात्र वादो के दलदल मे साहित्य-धारा को कुठित करने की चेष्टा अनुचित है। माना कि आधुनिक युग की विकसित बौद्धिक चेतना मे वाद अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं,

किन्तु वे अपनी मर्यादा का उल्लघन कर एकागी आतिरेक्य मे उछल-कूद करने लगें तो कोई शिष्टता न होगी। इन वादो का विश्लेषण इतना अधिक व्यापक है कि ये भी आधुनिक समालोचना के विकास के अध्ययन के स्वतन्त्र विषय बन सकते हैं, अतः उनमे कलावाद, स्वच्छन्दतावाद आदि का सामान्य परिचय देकर ही मैंने शेष वादो का केवल नामोल्लेख करना ही पर्याप्त समझा है, क्योंकि अन्य वाद समालोचना के प्रसार-काल की सामान्य प्रवृतियों के विश्लेषण के साथ-साथ प्रमुख समालोचको की समीक्षा-कृतियों के मूल्याकन के प्रसग मे व्याख्यात किये जाएँगे।

चतुर्थ अध्याय

आधुनिक हिन्दी-समालोचना का काल-विभाग

आधुनिक युग-व्यापकता और काल-विभाजन में कठिनाइयाँ

१. आधुनिक युग अपनी प्रवृत्तियो तथा प्रक्रियाओ मे पूर्ववर्ती युगो की अपेक्षा नितान्त भिन्न है। इस युग मे जीवन-दृष्टि का जैसा व्यापक प्रसार हुआ है, वैसा पूर्वकालीन वातावरण मे नही हो सका था। इस विकास के मूल मे देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सास्कृतिक परिस्थितियो के सुयोग के साथ-साथ अतर्राष्ट्रीय वातावरण एव विश्वजनीन जीवन-दर्शन की प्रतिच्छाया का भी कम प्रभाव नही है। यही समय है, जब हमारा पाश्चात्य जगत् और जीवन से सम्पर्क स्थापित हुआ और हमारी मान्यताओ मे क्रान्ति की हिलोर उत्पन्न हुई। ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओ और उप-शाखाओ मे मानव-मस्तिष्क की जो अद्भुत गति आज हमारी जीवन-चेतना को प्रभावित करती हुई क्रमश प्रगतिमान बन रही है, उसकी कल्पना भी विगत युग के मानव ने न की होगी। जीवन-सकुलता और जटिलता जितनी व्यापक शिराओ के साथ आज हमारे सम्मुख प्रस्तुत होकर अपने अस्तित्व का जय-निनाद कर रही है, वैसा अतीतकालीन परिस्थिति मे कदापि सम्भव न था। यही कारण है कि जब हम आधुनिक युग और उसकी प्रमुख प्रवृत्तियो का अध्ययन एवं विश्लेषण करते हैं तो उनके मूल मे एक ऐसा व्यापक प्रसार मिलता है, जिसके कारण उनका वर्गीकरण एक प्रकार का समस्या-विधान बन जाता है। युग-धर्म का यह व्यापक स्वरूप उसके भाव-जगत् के स्रष्टा साहित्य पर भी अपना अमिट प्रभाव अकित किये हुए है। आज के विश्व-साहित्य मे जीवन की जो शतरगिनी छाया आलोकित है, वह हमारे मानस-लोक का साकार निदर्शन नही तो और क्या है? युग-चेतना से हमारा जीवन प्रभावित हुआ है और यही प्रभाव हमारे साहित्य पर भी सहजवृत्ति से पडा है। अत. साहित्य की प्राण-शक्तियो मे प्रवाहित जीवन-चेतना का अध्ययन आज के जिज्ञासु के लिए कम महत्त्वपूर्ण नही है। वह उस चेतना को अखड मानता हुआ भी उसका अध्ययन अपनी सुविधा की दृष्टि से जितना अधिक वैज्ञानिक बनाकर करता है, उतना ही आज के युग-दर्शन को विशेष तारतम्य के साथ समझ सकने की शक्ति उपलब्ध कर सकता है। साहित्य की भावमयी धारा के साथ-साथ उसकी बौद्धिक चेतना की अभिव्यक्ति का साधन समालोचना-साहित्य भी उसके जीवन की विभिन्न प्रक्रियाओ को अधिक सुष्ठु स्वरूप मे ग्रहण करता हुआ अभिव्यक्त हुआ है। प्रस्तुत अध्याय का मुख्य प्रतिपाद्य विषय आधुनिक युग की प्रमुख प्रवृत्तियो को दृष्टि-बिन्दु मे रख कर आधुनिक हिन्दी साहित्य की क्रोड मे विकसित होने वाली समालोचना का काल विभाग करना है जो तात्विक दृष्टि से अनुपयुक्त होने पर भी व्यावहारिक सुविधा से परम वाछनीय है। इस विभाजन का मूलाधार प्रत्येक युग की साहित्य प्रवृत्तियो का प्रामुख्य और रचनाकारो का वैशिष्ट्य भी है, जिन्होने साहित्य के शक्तिवर्धक और ज्ञानमूलक दोनो रूपो को स्वाभाविक सृजन और भावन की प्रेरणा प्रदान की है।

वर्गीकरण का आधार और उसके प्रमुख कारण

२. यह एक स्पष्ट सत्य है कि जीवन-चेतना सदैव अखड और अनत रहती है और उस

को विभिन्न काल-सरणियो मे विभक्त करना असमीचीन और उपहासास्पद है। फिर भी आज के वैज्ञानिक दृष्टिकोण मे यह अनिवार्य-सा हो गया है कि उसकी मूलभूत एकता को सदैव एक ही प्राण-रस से अभिसिंचित मानते हुए भी उसके कुछ विशेष स्थल अवश्य निर्दिष्ट किये जाएँ। ऐसा करने से हमे किसी भी विषय के सम्यक् बोध मे अनेक प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध हो जाती है। बात यह है कि जैसे महासागर की अगाधता अपने अत स्थल मे अगाउ एकत्व का सगुम्फन रखती हुई भी बाह्य वातावरण मे विभिन्न लहरियो और झझावातो का समयोचित भव्य तथा भयानक स्वरूप प्राप्त करती है, अथवा प्ररोहमान पादप अपने मूल मे एक सा जीवन-रस पाकर भी शाखाओ, उप-शाखाओ तथा पल्लव-पुष्पो मे भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार धारण करता है, उसी प्रकार जीवन की चेतना भी अखंडतापूर्ण होने पर भी अपने युग-धर्मों और वैविध्यपूर्ण वातावरणो के प्रभाववश अनेकरूपता की प्रवृत्तियो मे प्रस्फुटित होती है। जब हम यह स्वीकार करते हैं कि आधुनिक युग अपनी प्रकार-प्रक्रियाओ में विगत युगो से वैभिन्न्य रखता है तो इसका एक आशय यह भी है कि इसका जीवन-दर्शन एक भिन्न कोटि पर आधारित है और इसकी चेतना ने अनेक नूतन मोड लेकर अपना विकास किया है। निश्चय ही उसका अपेक्षित प्रभाव उसके प्रतिरूप साहित्य और समालोचना पर भी अवश्यमेव दृष्टिगोचर है। प्रस्तुत प्रकरण मे इस विषय का भी विवेचन किया जायगा कि आधुनिक युग-चेतना और साहित्य ने हिन्दी समालोचना को कैसी-कैसी उपजीव्य निधि प्रदान की है जिसके कारण वह विभिन्न प्रवृत्तियों मे विभक्त होती हुई अपने उद्‌भव तथा विकास की अनेक प्रकार की रेखा-सीमाओ को पार कर अद्यतन रूप मे आ सकी है। अपने प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय प्रकरण मे इस विषय का सामान्य विश्लेषण कर दिया है कि आधुनिक युग की प्रमुख विशेषताएँ अथवा प्रक्रियाएँ क्या है, अत उनका पुनर्निरूपण पिष्ट-पेषण-मात्र समझकर यहाँ केवल आधुनिक हिन्दी साहित्य मे विकसित होने वाली समालोचना के विभिन्न चरणों अथवा युग-विन्दुओं का ही निर्धारण किया जायगा, जिनके पुलिनो का संस्पर्श कर उसका नैसर्गिक प्रवाह हुआ है। यह विभाजन युग-विशेष की प्रमुख प्रवृत्तियो के साथ-साथ उन विशिष्ट साहित्यकारो को भी प्राधान्य देकर किया जा रहा है, जिनके सुयोग्य सर्जन और सचालन मे समालोचना-साहित्य को भी विकास के अनेकानेक समयोचित अवसर उपलब्ध होते रहे हे। यह कोई आवश्यक नही कि हमारा यह विभाजन सर्वथा वैज्ञानिक और अनवद्य समझा जाय, किन्तु इतना निश्चय है कि इसके द्वारा आधुनिक हिंदी-समालोचना के विकास-क्रम को समझने मे एक सुविधाजन्य दृष्टिकोण अवश्य मिल सकेगा। इस दृष्टि से आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे समालोचना का विकास निम्नलिखित युगो अथवा चरणो मे विभक्त करना हमे सर्वतोभावेन समुचित प्रतीत होता है .—

१. समालोचना का प्रवर्त्तन-काल (भारतेन्दु-युग)
२. समालोचक का सवर्धन-काल (द्विवेदी-युग)
३. समालोचना का विकास-काल (शुक्ल-युग)
४. समालोचना का प्रसार-काल (शुक्लोत्तर-युग)

प्रवर्त्तन काल का मूल सूत्र

३. भारतेन्दु युग आधुनिक साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियो की भाँति समालोचना साहित्य का भी प्रवर्त्तन-काल है। इस युग का बौद्धिक धरातल क्रमशः तर्कपूर्ण और विवेचनशील बनने लगा था। अत साहित्यकारों के मानस मे केवल शक्ति के साहित्य (लिटरेचर ऑव पॉवर) का ही महत्त्व नही रहा, अपितु वे विश्लेषण-प्रक्रिया की ओर भी उन्मुख होने लगे। शताब्दियो से यन्त्रणाग्रस्त देश ने विचार-स्वातन्त्र्य का महत्त्व समझा, जिसके फलस्वरूप साहित्य मे भी नवीन चेतना की सृष्टि हुई। देश की आतरिक परिस्थितियो के साथ-साथ अग्रेजी-शिक्षा और संस्कृति

के प्रसार ने भी लोगो के जीवन मे क्रान्ति की लहर उत्पन्न की जिसके कारण समालोचना को विशेष प्रश्रय मिला। गद्य का विकास, पाठ्य-क्रम मे नवीन विषयो का सगठन, समाचार-पत्रों का प्रसार, मुद्रण-यन्त्रो का आविष्कार, औद्योगिक क्रान्ति का प्रतिवर्त्तन तथा जीवन दृष्टिकोण की व्यापकता आदि विभिन्न कारणो ने मिलकर इस युग को समालोचना के प्रवर्त्तन काल का स्वरूप प्रदान किया। इस युग मे बुक-रिव्यू की सामान्य समालोचना-प्रणाली से लेकर सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षो की भारतीय और पाश्चात्य विचारधाराओ का भी प्रवर्त्तन साहित्य-समीक्षा के जगत् मे हुआ और ऐतिहासिक, सामाजिक, व्याख्यात्मक, निर्णयात्मक, प्रभावाभिव्यंजक आदि विभिन्न समालोचना-प्रणालियो का सूत्रपात भी इस युग मे ही हुआ। यद्यपि इस युग की समालोचना आधुनिक हिन्दी समीक्षा का शैशवकाल है, फिर भी उसके अंतर्गत अनागत सवर्धन के भी लक्षण संघटित है। रचनात्मक साहित्य की समता मे इस युग का साहित्यालोचन हीन कोटि का है, किन्तु इसमे भावी विकास के लक्षण भली भाँति उपलब्ध होते है। इस युग के प्रमुख समालोचक पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने अपनी 'आनन्द-कादम्बिनी' मे जिन समसामयिक ग्रन्थो पर अपनी समालोचनाएँ प्रस्तुत की है, वे निश्चय ही द्विवेदी युग की सवर्धना की सुदृढ आधारशिलाएँ है, अत. इस युग को सभी दृष्टियो मे आधुनिक हिन्दी-समालोचना का प्रवर्त्तन-काल कहना मैने उचित समझा है।

संवर्धन काल की दिशा

४. हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारो ने आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के कृतित्व और व्यक्तित्व की गौरव-स्वीकृति के प्रमाणस्वरूप जिस युग को द्विवेदी-युग की सज्ञा दी है, उसे आधुनिक हिन्दी-समालोचना का सवर्धन-काल कहना मुझे समीचीन प्रतीत होता है। भारतेन्दु-युग मे समालोचना के अन्तर्गत जिन प्रणालियो और प्रवृत्तियो का प्रवर्तन हुआ था, वे ही एक प्रकार से इस युग मे सर्वधित होती हुई हमारे सामने आती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समालोचना-वृक्ष का बीजारोपण और अकुरण भारतेन्दु-युग मे हुआ, वही द्विवेदी-युग मे पल्लवित और प्रस्फुटित होने के अधिकाधिक अवसर पा सका। भारतेन्दु-युग की राजनीतिक, सामाजिक और सास्कृतिक जीवन की स्तर-विधि ने इस युग मे आकर क्रमशः प्रौढि और विकासोन्मुखता प्राप्त की और साहित्य को जीवन की नैतिकता और आदर्शनिष्ठा के अधिक निकटवर्ती स्वरूप मे ग्रहण किया जाने लगा। इस समय की समालोचना भारतेन्दुकालीन बुक-रिव्यू की ओर ही विशेष प्रवृत्त नही रही, अपितु वह विज्ञापन-वृत्ति और दोषोद्भावना से ऊँची उठकर साहित्य के सदसत्-पक्षनिरूपण की ओर विशेष प्रवृत्त होने लगी और उसके सिद्धान्त-पक्ष तथा व्यवहार-पक्ष पर सस्कृत काव्यशास्त्र तथा पश्चिमी साहित्यालोचन की छाया भी क्रमशः दृष्टिगोचर होने लगी। इस युग मे यह समझा जाने लगा कि रचनात्मक साहित्य की अपेक्षा समालोचना-साहित्य का कुछ भी हीन महत्त्व नही है और वह भी देश की साहित्य-सवर्धना मे अत्यंत अनिवार्य तत्व है। इस युग मे साहित्य की विभिन्न विधाओ का भी विवेचन हुआ और आचार्य द्विवेदी जी ने तो अपनी सृजनशील प्रज्ञा से समालोचना-क्षेत्र मे भी अनेक नूतन पद-चिह्नों का निक्षेप किया। बौद्धिक चेतना के विकास ने समालोचना-साहित्य को एक व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित किया और काशीस्थ नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना और उसके मूलभूत उद्देश्यो की सम्पूर्ति के प्रयत्नस्वरूप भी समालोचना को सवर्धन मिला। विश्वविद्यालयो के पाठ्यक्रम मे हिन्दी भाषा और साहित्य की स्वीकृति से भी समालोचना आगे बढी और प्राचीन ग्रन्थो की शोध तथा उन पर की गई विवेचनाओ से भी समालोचना की अग-पुष्टि हुई। इस युग में समालोचना की तुलनात्मक, व्याख्यात्मक, ऐतिहासिक, शास्त्रीय और निर्णयात्मक प्रभृति विधाओ मे भी संवर्धन हुआ और उन्हे व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित किया गया। द्विवेदी-युग के सभी समालोचक

प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र और आधुनिक पाश्चात्य साहित्यालोचन से अभिज्ञ थे, अत उनके द्वारा दोनो मे सामंजस्य लाने का भी प्रयास किया गया। इस युग मे समालोचना को साहित्य का गौण अग न समझा जाकर अनिवार्य अंग समझा गया और साहित्य-चिंतन के विवेचन मे उसकी अनुपेक्षणीय महत्ता स्वीकार की गई। निश्चय ही इसी युग मे समालोचना का स्वतत्र प्रतिमान भी बनने लगा था जो न तो केवल परम्परायुक्त रीतिकालीन प्रवृत्तियो का ही प्रतिफल था और न नवीनता का एकमात्र अनुयायी निदर्शन ही। अत सभी दृष्टियो से द्विवेदी-युग आधुनिक हिन्दी-साहित्य की समालोचना का सवर्धन-काल प्रतीत होता है। इस युग के प्रमुख समालोचक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के अतिरिक्त सर्वश्री पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु, लाला भगवानदीन, बाबू श्यामसुन्दरदास तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि हैं जो समालोचना-क्षेत्र के प्रमुख स्तम्भ हैं तथा जिनकी समालोचनागत महत्ता का विश्लेषण यथास्थान किया जायगा। इस सवर्धन-काल की समय-सीमा मैंने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादन-काल को दृष्टिगोचर रख कर सन् १९०१ से १९२० तक मानी है और इसी की पार्श्वभूमि मे समालोचको को भी स्थान प्रदान किया है।

विकास-काल की प्रौढ़ता

५ इस मत से सभी विद्वान् सहमत है कि हिन्दी समालोचना का वास्तविक विकास आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल की सबल और प्रौढ लेखनी के द्वारा हुआ। शुक्लजी वैसे तो द्विवेदी-युग अर्थात् समालोचना के सवर्धन-काल की उपज थे, किन्तु वे अपने अध्ययन, चिंतन, मनन और विश्लेषण मे उनसे बहुत आगे बढे हुए थे, अत· उनका व्यक्तित्व द्विवेदी-युग से ही आक्रात न रह कर अपना स्वतत्र विधान भी कर सका था। वस्तुत. शुक्लजी द्वारा ही आधुनिक हिन्दी-समालोचना के सम्पूर्ण अगो का अपेक्षित विकास किया गया, अत. उनके कृतित्व को मैंने शुक्ल-युग अथवा समालोचना-साहित्य का विकास-काल कहना युक्तिसगत समझा है। इस युग मे ही समालोचना अपना वास्तविक स्वरूप गठन कर सकी थी और उसे ऐसा आकार उपलब्ध हो सका था, जिसे अन्य साहित्य-समालोचनाओं के समकक्ष प्रस्तुत किया जा सकता है। शुक्ल जी साहित्य के एक गंभीर चिंतक और अध्येता थे, अतः उन्हे द्विवेदी-युग की सवर्धना को विकासपूर्ण प्रौढ धरातल पर आधारित करने मे अधिक उलझन नही हुई। अपने विश्वविद्यालयीय अध्ययन-अध्यापन और भारतीय पाश्चात्य साहित्य-ज्ञान के बल पर वे एक ऐसी अंतर्दृष्टि प्राप्त कर सके, जिसके कारण उन्होने समालोचना के सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक पक्षो को पुष्ट बनाया। कोश का सपादन, साहित्य के इतिहास की रचना जैसे सभा के फरमायशी कामों से लेकर सूर, तुलसी और जायसी के काव्यो की अंतः प्रवृत्ति की छानबीन करते हुए उन्होंने समालोचना को जिस स्तर पर आधारित किया, वैसा पूर्ववर्ती युगो मे नही हो पाया। उनकी 'रस-मीमासा' और काव्य-विवेचक दृष्टि वस्तुतः अत्यंत सधी हुई और परिपक्व थी, अत· उनके द्वारा समालोचना की प्राणशक्ति को विशेष बल मिल सका। सच तो यह है कि आचार्य शुक्ल का कार्य-काल आधुनिक हिन्दी-समालोचना का ऐसा केन्द्रबिन्दु है जिसके आस-पास भ्रमण करती हुई नव्यतम समालोचना चल रही है। अतः कहा जा सकता है कि शुक्ल-युग की समालोचना का विकास जहाँ अपने पूर्ववर्ती युग का प्रतिफल है, वहाँ वह अपने उत्तरवर्ती युग के लिए भी प्रेरणा-स्रोत है। वस्तुत. शुक्ल-युग ही आधुनिक हिन्दी-समालोचना का चरम विकास-काल है, अतः मैंने सच्चे अर्थ मे उसे प्रौढ़तापूर्ण विकास का युग माना है। शुक्लजी की मृत्यु के उपरान्त मार्क्सवादी अथवा समाजशास्त्रीय और अन्तश्चेतनावादी अथवा मनोविश्लेषण की प्रवृत्तियो को सहेज कर आधुनिक हिन्दी-समालोचना अपनी जिन विभिन्न विधाओ में आत्म-प्रसार कर सकी है, उनका बीजारोपण भी शुक्लजी ने अपनी समालोचनाओ के अन्तर्गत कर दिया था। यही कारण है कि उनके पश्चात् अपना प्रसार पाकर भी आधुनिक हिन्दी समालोचना अपने गाम्भीर्य

और प्रौढि मे उनकी समता को आज भी नही पा सकी है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे भागीरथी का पावन प्रवाह बंग सागर के निकट पहुँचकर विभिन्न धाराओ के अन्तर्गत अपना 'डेल्टा' बनाता है उसी प्रकार आधुनिक हिन्दी-समालोचना भी आचार्य शुक्ल की मान्यताओ की मूल चेतना को अकस्थ किये हुए अपना बहुरगी प्रसार कर रही है। अत सच्चे अर्थों मे शुक्ल-युग ही समालोचना का विकास-युग है, जिसकी मान्यताओ को एक सीमा तक 'समय-बाह्य' समझने वाले विद्वान् समालोचकों ने भी उसकी मौलिकता को श्रद्धापूर्ण शब्दो मे स्वीकार किया है।

प्रसार-काल और उसकी विभिन्न प्रवृत्तियाँ

६. आचार्य शुक्ल के उत्तरवर्ती युग को मैने समालोचना का प्रसार-काल कहा है। यह एक ऐसा मोड है जिस पर समालोचना रचनात्मक साहित्य की भाँति स्वच्छन्दतावाद की ओर उन्मुख होती है। इसमे कोई सन्देह नही कि शुक्लजी ने अपनी दृढ निष्ठा से समालोचना को प्रौढ धरातल प्रदान किया, किन्तु उनकी युग दृष्टि वर्णाश्रम धर्म और मर्यादावाद के घेरे मे इतनी अधिक आबद्ध थी कि साहित्य का मुक्त स्वरूप शास्त्रीयता की बेडी मे कुछ छटपटाहट का अनुभव करने लगा। शुक्लजी ने भी एक प्रकार से द्विवेदी-युग की नैतिकता, सुरुचि और सुधारवादिता को महत्त्व दिया था और वे साहित्य को जीवनगत उपयोगिता से अलग भूमिका पर स्वीकार करना उचित नही समझते थे, अत उनके विचारो के प्रतिवर्त्तन मे स्वच्छदवादिता का विद्रोह होने लगा। पाश्चात्य रोमासवाद और रवीन्द्र-साहित्य ने हिन्दी के काव्य-क्षेत्र मे छायावाद और रहस्यवाद की जिन सौन्दर्य-पूर्ण धाराओ को प्रवाहित किया, उनका प्रतिरूप समालोचना पर भी दृष्टिगोचर हुआ। इस समय साहित्य को उसके विशुद्ध सौन्दर्यमय रूप मे ग्रहण करने और कलाभिव्यक्ति को कल्पना और रमणीयता के भव्य प्रदेश मे मान्यता देने की प्रवृत्ति साहित्य-समीक्षको मे अधिक बढी, जिसके फलस्वरूप छायावादी काव्य-पद्धति के अनुरूप ही समालोचना-साहित्य का भी प्रसार होने लगा। यही समय था, जब प्रसाद, पत, निराला और महादेवी जैसे छायावादी काव्यकारो ने अपने विचार-व्यक्तित्व में वैधानिक मान्यताओ का उद्घाटन अपनी काव्य-कृतियो की भूमिकाओ तथा स्वतत्र निबंध-रचनाओ के रूप मे किया, जिसमे शास्त्रीयता की अपेक्षा जीवन की अनुभूति का अधिक योग था। कहाँ जा सकता है कि जिस प्रकार रवीन्द्रनाथ टैगोर ने साहित्य का विवेचन अपनी कलापूर्ण शाश्वत सवेदनाओ मे किया था, उसी प्रकार इन छायावादी कवियो ने भी अपनी जीवन-दृष्टि का विश्लेषण अपनी बौद्धिकता के आधार पर किया। इन छायावादी कवियो के समर्थक समालोचक सर्वश्री पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि भी यद्यपि अपना समीक्षण-कार्य्य एक प्रकार से शुक्ल-युग से प्रारम्भ कर चुके थे, किन्तु वे भी अपनी मान्यताओ और विचारधाराओ मे छायावादी काव्य-कारो की मनोभूमिकाओ के अधिक निकट थे। निश्चय ही इन छायावादी कवियो की समीक्षण-दृष्टि शुक्ल-युग से अधिक व्यापक प्रसार पर अधिष्ठित थी और उनकी सौदर्य-चेतना भी अधिक विकसित थी; अतः इस प्रवृत्ति से भी उन्हे शुक्लोत्तर-युग की उत्तरवर्ती समीक्षा के प्रमुख प्रसार के रूप मे ही रखना मैंने उचित समझा है। इन छायावादी कवियों तथा उनके समीक्षको ने हमारे समालोचना-साहित्य को किस प्रकार आगे बढाया है इसका विशेष विवेचन यथाप्रसंग किया जायगा। यहाँ तो केवल इतना ही संकेत करना अभीष्ट है कि शुक्लोत्तर युग की समीक्षा मे छायावादी कवियो तथा उनके समीक्षको की एक महत्त्वमयी देन है जिसके कारण उसे समालोचना का प्रसार-काल कहना मुझे सभी दृष्टियो से समीचीन प्रतीत होता है।

७. जैसा कि पहले सकेत कर दिया गया है कि आचार्य शुक्ल भी साहित्य का जीवन और जगत् से अविच्छेद सम्बन्ध मानते थे, और उन्होने अपने सैद्धान्तिक विवेचन तथा व्यावहारिक समालोचन मे इस तथ्य का बार-बार संकेत भी किया था, किन्तु उनके व्यापक प्रतिमान में उसका

सामाजिक पक्ष एक अंग-मात्र था, अंगी नही। शुक्ल जी की समालोचना का यह अंग कालान्तर मे स्वतन्त्र व्यक्तित्व के रूप मे प्रसारित हुआ जिसका स्वरूप-गठन भारतीय परम्परा के अधिक निकट न होकर मार्क्सवादी विचारधारा को उपजीवी बनाकर हुआ। शुक्लोत्तर युग का प्रसार-काल इस मार्क्सवादी समालोचना को एक प्रमुख प्रवृत्ति बनाकर चला है जिसके प्रमुख समालोचक सर्वश्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान और अमृतराय आदि है। यह कहना बडा कठिन है कि समालोचना की इस पद्धति ने कहाँ तक अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व निर्मित किया है, किन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि यह आधुनिक हिन्दी समालोचना-जगत् पर प्राय दो दशाब्द से छाई हुई है। यह बात दूसरी है कि प्रारम्भ मे जिस दमखम से इसने अपनी नवद्यता का उद्घोष किया, वह कालान्तर मे मंथर हो गया, किन्तु इसमे सन्देह नही कि शुक्लोत्तर युग मे इस पद्धति द्वारा समीक्षा-साहित्य को एक प्रसार अवश्य मिला।

८. शुक्लोत्तर-युग के प्रसार-काल की एक अन्य प्रवृत्ति मनोविश्लेषणवाद की है। इसका स्वरूप-गठन और आत्म-संस्कार भी विदेशी है जिसे भारतीयता के समकक्ष रखने का साहस इसके समर्थक समालोचक प्राय करते रहते हे। इसका मूल आधार फ्रायड और एडलर की वह विचारधारा है जो साहित्य को अतृप्त कामवासनाओं का विस्फोट अथवा आत्महीनता की क्षतिपूर्ति का साधनमात्र मानने का प्रबल समर्थन करती चलती है। इसके समर्थक प० इलाचन्द्र जोशी, श्री अज्ञेय आदि है। किसी समय नगेन्द्रजी ने भी इसको प्रश्रय दिया था, यद्यपि आजकल वे इसकी अपेक्षा कही उच्चतर धरातल पर रसवादी दृष्टिकोण को अधिक ग्रहण कर चलने लगे हैं। इस प्रवृत्ति के समालोचक अर्वाचीन और प्राचीन सभी युगो के साहित्यकारो की कृतियो का विवेचन और विश्लेषण मानस शास्त्र के आधार पर करते है, जिसका आशय यह है कि वे समाजवादी साहित्यकारो के वाह्य परिवेश के स्थान पर मानसिक कुण्ठा को अधिक प्रश्रय देकर चलते है। इस पद्धति के द्वारा समालोचना का प्रसार अवश्य हुआ है, किन्तु इसकी एकांगिता और दुराग्राहिता भी अप्रकट नही है। कहा जा सकता है कि इस पद्धति के द्वारा समालोचना-क्षेत्र मे अनेक प्रकार की भ्रांतियो का प्रादुर्भाव भी न्यून मात्रा मे नही हुआ है।

९. शुक्लोत्तर युग में समालोचना को प्रभावाभिव्यंजक, आत्मचरितमूलक तथा सौन्दर्य-निरूपण की दृष्टि से भी प्रसरित होने के अवसर मिले है। साहित्य-क्षेत्र में चलने वाले वाद-प्रवादों को लेकर भी अनेक प्रकार के मत-मतान्तरो का विश्लेषण हुआ है। विश्वविद्यालयों मे हिन्दी साहित्य को अध्ययन-अध्यापन का महत्व प्राप्त होने तथा शोध-प्रबन्धो की ओर अनुसधानकर्त्ताओं का ध्यान विशेप आकर्पित होने से भी इसकी गति मे प्रसार आया है। इसके अतिरिक्त साहित्य को सौष्ठवपूर्ण विधान और मानववादी दृष्टिकोण मे ग्रहण करने की प्रवृत्ति भी हिन्दी समालोचना के अन्तर्गत निरन्तर विकसित हो रही है। यद्यपि आजकल समालोचना के नाम पर प्राय. फुटकर निबन्ध-रचना ही प्रकाशित होती है जिनमे विचारो का पिष्टपेषण भी कम नही रहता, फिर भी समालोचना को प्रसार की भूमि अवश्य प्राप्त हो रही है। कलावाद, अभिव्यजनावाद, यथार्थवाद, छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, अन्तश्चेतनावाद और अस्तित्ववाद आदि विभिन्न वादों पर भी प्रचुर रूप मे साहित्य-सामग्री प्रकाश मे आ रही है। प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्यकारो के व्यक्तित्व और कृतियो को लेकर भी विशद् विश्लेषण हुए हैं और हो रहे हैं। इतना ही नही, इतर प्रान्तीय साहित्यो का भी लेखा-जोखा हिन्दी-समालोचना के क्षेत्र मे किया जाने लगा है तथा पश्चिमी साहित्यालोचन की उद्धरणियाँ भी अविराम गति से की जा रही हैं। समालोचकों का ध्यान प्राचीन सस्कृत काव्यशास्त्र की ओर भी गया है और उसके विभिन्न काव्य-सम्प्रदायो का स्वतन्त्र अध्ययन भी प्रस्तुत किया जा रहा है। साथ ही साथ पाश्चात्य-जगत् की समीक्षा के उपजीवी ग्रन्थ यथा अरस्तू का काव्यशास्त्र, लौंगिनुस का काव्य मे उदात्त तत्त्व आदि ग्रन्थों के अनुवाद

भी प्रस्तुत किए जा रहे है। अभिप्राय यह है कि शुक्लोत्तर युग की समालोचना निश्चय ही अपने रूप और आकार-प्रकार मे पूर्ववर्ती युग की अपेक्षा प्रसारपूर्ण है, अतः उसे समालोचना का प्रसार-काल कहना सर्वथा न्यायोचित है।

विवेचन का दृष्टिकोण तथा प्रयोग

१०. समालोचना के विकास-क्रम को उपर्युक्त काल-विभाजन के अनुरूप ही विवेचित करने की चेष्टा मैने उत्तरवर्ती अध्यायो मे की है। यद्यपि यह तो नही कहा जा सकता कि आधुनिक हिन्दी-समालोचना को एक निश्चित प्रतिमान प्राप्त हो गया है, किन्तु यह भी साहित्य की एक विकासशील विधा है, इस तथ्य का भी निषेध नही किया जा सकता। हमारे कतिपय विचारको को आधुनिक हिन्दी-समालोचना भले ही अत्यन्त हीन रूप मे पदर्शित हो, किन्तु यदि निष्पक्ष भाव से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट है कि इसके प्रवर्तन का एक सूत्र जहाँ भारतेन्दु-युग की विज्ञापन-वृत्ति अथवा बाह्य परिचय-मूलक विधान मे अनुस्यूत है तो इसके विकास का अद्यतन सूत्र विभिन्न प्रवृत्तियो, शैलियो और पद्धतियो का आन्तरिक तथा बाह्य सम्बन्ध शृंखलाओ का सयोजन कर नव्यतम प्रसार-काल को प्राप्त हुआ है। इसमे कोई सन्देह नही कि आधुनिक हिन्दी-समालोचना ने काव्य-साहित्य के साथ-साथ उपन्यास, कहानियाँ, नाटक और निबन्ध आदि विभिन्न साहित्य-विधाओ के सैद्धान्तिक पक्षो का उद्‌घाटन भी किया है। आज समालोचना के नाम पर प्रचुर ग्रन्थ-राशि हिन्दी-क्षेत्र मे निरन्तर प्रकाशित हो रही है जो इसके उज्ज्वल भविष्य का एक प्रत्यक्ष प्रमाण है। हाँ, समालोचना-क्षेत्र मे भी कुछ विघटनकारी प्रवृत्तियो के चिह्न भी दृष्टिगोचर हो रहे है, किन्तु उनके निराकरण के प्रयत्न भी विकासमान है।

११. यह सब कुछ होते हुए भी हिन्दी के विशाल रचनात्मक साहित्य की समता मे समालोचना का विकास पूर्ण सतोषप्रद नहीं कहा जा सकता। अब भी प्राचीन तथा मध्य-युगीन साहित्य के अनेक अमूल्य रत्नो और उनकी कृतियो की गवेषणा और मीमासा का कार्य अपूर्ण है। साथ ही साथ आधुनिक युग की अनेक विधाओ और मान्यताओ का निष्पक्ष निरूपण होना भी अवशिष्ट है। आज की सबसे बडी आवश्यकता है कि हिन्दी समालोचना का स्वतन्त्र प्रतिमान निर्धारित हो, जिसका गठन भारतीय और पाश्चात्य विचार-सूत्रो को सयुक्त करते हुए किया जाय। इन सब विषयो का व्यापक चिन्तन और मनन करना अनिवार्य-सा है। आगे के पृष्ठो मे मैंने समालोचना के इसी काल-विभाजन को आधार-भूत बनाकर ही उसके विकास का क्रमिक विवेचन करने का प्रयास किया है। कहने के लिए हिन्दी-समालोचना के ये चार विभिन्न युग है, किन्तु इनकी मूल चेतना एक ही प्राण-रस से अभिसचित है, इस तथ्य की अवहेलना कर अपने अध्ययन को पूर्ण शालीनता के साथ कदापि ग्राह्य नही बनाया जा सकता।

पंचम अध्याय

समालोचना का प्रवर्तन-काल

(भारतेन्दु-युग)

१. भारतेन्दु-युग साहित्य की अन्यान्य विधाओ की भाँति आधुनिक हिन्दी साहित्य-समालोचना का भी प्रवर्तन-काल है। इस युग मे समालोचना का कोई निश्चित मानदण्ड अथवा स्थिर स्वरूप न था और युग की मान्यताएँ तर्कभूमि पर आधारित होने पर भी कारयित्री प्रतिभा के ही अधिक निकट रह कर चल रही थी। उसके पूर्व रीतिकालीन परम्परा ने जिस प्रकार की काव्य-शास्त्र प्रणाली को स्वीकार कर उसका विकास किया था, उसमे भी संस्कृत काव्य-शास्त्र का अनुगमन और कुछ स्थलो को छोडकर पिष्टपेषण की मात्रा का बाहुल्य था। समालोचको ने अधिकाशत काव्य-स्वरूप के विश्लेषण के अन्तर्गत अलंकार-विधान, रस-निरूपण, छन्दोयोजना आदि का बाह्यपरक स्थूल परिचय देने तथा आवश्यकता पडने पर किसी पद्य-भाग की टीका के अन्तर्गत मल्लिनाथीय पद्धति से कोई विशेष बात कहने को ही समालोचना की व्याप्त परिधि समझ रखा था। उस समय सिद्धान्त तथा प्रयोग-पक्ष का सुन्दर समन्वय और स्फुरण तो हो ही न पाया था। यद्यपि भारतेन्दुजी के कुछ वर्षों पूर्व ही देश ने आधुनिकता के वातावरण मे साँस लेनी आरम्भ कर दी थी, किन्तु जीवन-साहित्य मे उसकी जिस प्रकार की अभिव्यक्ति होनी चाहिए, वैसी उस समय तक न हो सकी थी। यही कारण है कि भारतेन्दु-युग को तब उन समस्त दायित्वो का भार-वहन करना पडा, जिनसे साहित्य-जगत् मे राजनीति की भाँति ही क्रान्ति की हिलोर उठती और देश अपनी सास्कृतिक निधि की उपलब्धि के लिए उन्मुख होता। भारतेन्दु-मण्डल ने अपना सारा समय और समस्त बुद्धि-वैभव इसी की पूर्ति मे लगाया। उसके द्वारा यह कार्य अत्यन्त भव्यता से सम्पन्न किया गया। उसे पूर्व और पश्चिम की अभिसंधि के नवीन आलोक ने जो अभिनव दृष्टि प्रदान की, उसका समालोचना-साहित्य पर भी प्रभाव पडा। यद्यपि उस क्षेत्र में अधिक कार्य नही किया जा सका, फिर भी जो कुछ भी कार्य किया, उसमें भावी विकास का आशापूर्ण स्पन्दन अन्तर्निहित था। इस युग के समालोचकों मे स्वय भारतेन्दुजी के अतिरिक्त पं० बालकृष्ण भट्ट और उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', बाबू बालमुकुन्द गुप्त आदि थे, जिन्होंने रचनात्मक साहित्य की भाँति समालोचनात्मक साहित्य को भी नवीन आलोक प्रदान किया और उसे अपने यथार्थपरक प्रगतिशील दृष्टिकोण के द्वारा रूढिग्रस्तता से मुक्ति दिलाने की चेष्टा की।

प्रवर्तन-काल की पृष्ठभूमि और नवीन दृष्टिकोण

२. हिन्दी साहित्य के अन्यान्य युगो की भाँति भारतेन्दु-युग भी सघर्ष और विद्रोह की भावभूमि मे अपना स्वरूप-निर्माण कर सका है। यह संघर्ष देश की आन्तरिक स्थिति और बाह्य सीमा की परिमिति मे ही न होकर व्यापक धरातल पर अधिष्ठित है, जिसमे प्राचीन और नवीन तथा पौरस्त्य और पाश्चात्य दृष्टिकोणो के समन्वय का उदात्त स्वर भी प्रतिध्वनित है। आधुनिकता का श्रीगणेश इसी संघर्ष और सक्रान्ति की वेला से हुआ है। इस युग मे साहित्य-निर्माण की प्रेरणा अपनी पूर्ववर्ती सकीर्ण तथा रूढ़िवादी परम्परा का त्याग कर जन-जीवन के सम्पर्क मे प्रस्फुटित होती है और साहित्य अपने युग की आवश्यकताओं और आकाक्षाओ को समझने लगता

है। वस्तुतः १६वी शताब्दी के द्वितीय चरण से ही इस प्रकार की क्रान्ति के चिह्न प्रगट होते हैं, जिनके कारण देश की सास्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक चेतना मे भी परिवर्तन और विकास की परम्पराओ का प्रणयन होता है। इस युग मे हिन्दी-प्रदेश रीतिकालीन काव्य-प्रणाली को छोड कर व्यापक धरातल पर अवतीर्ण होने के लिए मचल पडता है, क्योकि उसे उसमे अपने भावी विकास का कोई उत्कर्ष विधायक चिह्न नही मिलता। काव्य की आलंकारिता और कृत्रिमता तथा नायिका-भेद के रूप मे नारी की यान्त्रिक परीक्षा से जीवन मे अवरोधपूर्ण अवस्था का उन्मेष पाकर मानो उससे मुक्ति पाने के लिये इस युग मे साहित्य-देवता के प्राण विह्वल हो उठते है। निश्चय ही भारतेन्दु-युग अपने साहित्य-सृजन और रचना-विधान मे एक प्रकार का कायाकल्प सा करता हुआ प्रकट हुआ, जिसके स्वाभाविक क्रम मे किसी भी प्रकार की आश्चर्यमयी असभाव्य योजना की झलक पाना तर्कसगत नही है।

३. कहा जा सकता है कि भारतेन्दु-युग अपनी गति मे पूर्ववर्त्ती युगो की अपेक्षा निश्चय ही क्षिप्रगामी भी है और विज्ञान के उत्कर्ष तथा मनुष्य के बौद्धिक चिन्तन ने उसे जीवन विषयक अनेक परिवर्तित प्रतिमान प्रदान किये है। उसके निर्माण-सूत्रो मे उन समस्त प्रक्रियाओ का सुन्दर समारम्भ है, जिनका स्वाभाविक क्रम से कालान्तर मे विकास हुआ और जिसमे जीवन की आस्थाओ को नवीन दृष्टिकोण से देखने का अवसर मिला। सामाजिक उत्थान, राजनीतिक चेतना और धार्मिक उत्क्रान्ति के क्षेत्र मे जिन मधुर भावनाओ को लेकर इस युग के साहित्यकार चले, वे क्रमशः अपना व्यापक प्रसार प्राप्त करने लगी थी। मध्ययुग का व्यक्ति उन परिवर्तनो की कल्पना भी नही कर सकता था। इस युग के काव्यकारो के लिए राम और कृष्ण केवल ब्रह्म के सगुण अवतार ही न थे, अपितु देश को नवीन जागरण प्रदान करने वाले ऐसे महान् युगपुरुष थे, जिन्होने किसी समय विस्मृत मानवता को सच्चा मार्ग दिखलाया था। यही कारण है कि वे उनके प्रति भक्ति-भावना रखते हुए भी उन्हे लौकिक धरातल पर अधिष्ठित करते हुए चले और उनके द्वारा रीतिकालीन शृगारिकता का चित्रण निश्चय ही एक नवीन विधान में किया गया। इस युग मे यद्यपि राजनीतिक चेतना और स्वातन्त्र्य-प्रेम विकसित हो रहा था, किन्तु उसमे वह प्रखरता नही आ सकी थी, जो कालातर मे आई। इसका प्रमुख कारण यही रहा कि भारतेन्दु युग अपने पूर्ववर्ती जिस युग का परिणाम था, उसका स्वरूप इतना अधिक अस्तव्यस्त और अराजकतापूर्ण था, जिसके कारण उसे ब्रिटिश-शासन की बुराइयो का एक अश तक ही परिज्ञान हो सका और स्वयं भारतेन्दुजी भी यही कह कर रह गये

"अगरेज राज सुख साज सजै सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी।"

युग-निर्धारण का आधार और साहित्य-प्रसार

४. भारतेन्दु-युग का निर्धारण हमने जिन मूलाधारो पर किया है उनमे युग की प्रवृत्ति, जीवन-विषयक आस्था और मानसिक जागृति का बहुत बडा हाथ है। वस्तुत इस युग मे हिन्दी प्रदेश का प्राचीनता से सम्पर्क नही छूटा था, किन्तु उसमे एक रूपान्तर अवश्य आने लगा था। कहा जा सकता है कि जिस प्रकार मनुष्य के प्रारम्भिक स्वरूप शिशु-जीवन मे उसके भावी विकास के लक्षण उपबृंहित रहते है जो कालक्रम से अपना विकास प्राप्त करते है, उसी प्रकार भारतेन्दु-युग मे भी अपने अनागत के लिए सदेश और मार्ग-दर्शन की समस्त सामग्री उपलब्ध थी। मुझे तो इस युग मे 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' के सभी लक्षणों की सुन्दर सयोजन मिलता है। इसमे कोई सन्देह नही कि इस युग का प्रारम्भ अत्यत मगलमयी वेला मे हुआ जिससे गद्य के प्रसार के साथ-साथ आधुनिकता के अनेकानेक अशो का क्रमिक विकास भी सगठित हो सका।

निश्चय ही यह युग आधुनिकता का प्रसव-काल है, जिसमे आज की अनेकानेक साहित्यिक प्रवृत्तियाँ अपना जीवन धारण करने के उपकरण सहज रूप से जुटा सकी है। यहा यह बात भी स्मरण रखने की है कि भारतेन्दु-युग अपने पूर्ववर्ती युगो की प्रतिक्रिया का परिणाम था, किन्तु उसने भावी युग को भी कम स्फुरणा नही प्रदान की थी। इसका प्रधान कारण यही है कि इस युग मे भी आदान-प्रदान की स्वाभाविक प्रक्रिया का प्रस्फुटन हमे मिलता है, जो न केवल विशेष प्रकार की मान्यता के कारण भिन्न-भिन्न चरणो का निक्षेप कराता हुआ अपने वैशिष्ट्य का उद्घोष करता है, किन्तु जिसकी तात्विक चिन्तन की जलराशि परवर्ती युग मे समन्वयपूर्ण प्रवाह लेकर ही अवतीर्ण होती है।

५. वैसे तो हमने भारतेन्दु-युग से पूर्व और सन् १८५७ की जनक्रान्ति के उत्तरवर्ती समय को आधुनिक हिन्दी-साहित्य का प्रागमन काल माना है, किन्तु गणित के अंको और वैज्ञानिक नियमो के अनुसार उसकी कोई निश्चित तिथि नही निर्धारित की जा सकती। इसका कारण यह है कि मनुष्य की चेतना प्रत्येक देश और काल मे बाह्य रूप से भिन्न प्रतीत होती हुई भी आभ्यंतरिक दृष्टि से अविभाज्य रहती है और उसको खण्ड-खण्ड कर किसी प्रकार की उपलब्धि करना सम्भव नही है। वस्तुत दो कालो के बीच कोई विभाजन-रेखा खीचना बड़ा कठिन काम है। फिर भी यह स्पष्ट है कि भारत मे अग्रेजी शासन की स्थापना के पूर्व देश मे जिस प्रकार का राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक वातावरण था, वह यूरोपीय जातियो के सम्पर्क के पश्चात् और भी परिवर्तित हुआ और उसका प्रभाव हमारे हिन्दी साहित्य पर भी पड़ा। इस युग के पूर्व साहित्य मे सिद्ध और जैन साहित्य, वीरगाथा, भक्ति-भावना और रीति-परम्परा के ही निर्धारित क्रम मे जो साहित्य-सृजन हो रहा था, उसमे अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी, मैथिली, अवधी, बुन्देलखण्डी और ब्रजभाषा पद्य की ही प्रधानता थी। शनैः-शनैः यहाँ पर गद्य के प्रसार के अनुकूल परिस्थिति का प्रादुर्भाव होता गया। ध्यान रखने की बात है कि इसके पहले भी वार्ताओ और वचनिकाओ मे ब्रजभाषा तथा राजस्थानी गद्य की भी एक परम्परा थी और अकबर के समय मे 'चन्द छद बरनन की महिमा' मे जटमल ने खड़ी बोली गद्य का भी प्रयोग किया था, किन्तु वह अत्यत अस्तव्यस्त और अपरिपक्व था। वास्तविक अर्थ मे आधुनिक युग के सूत्रपात से ही गद्य को प्रधानता दी गई, जिसकी विभिन्न विधाओ का प्रसार शनैः-शनैः हमारे साहित्य मे होता गया। इसी कारण आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वानो ने आधुनिक युग को 'गद्य-काल' की भी सज्ञा दी है।

सृजन के स्रोत और समालोचना की प्रेरक शक्तियाँ

६. आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माण मे देश की नूतन जागृति का बहुत बड़ा हाथ है, जिसकी प्रेरक शक्तियाँ पुरातन और अभिनव विचार-प्रणालियो की अभिसधि से उद्भूत है। राष्ट्र-प्रेम और भारतीयता के प्रति एकागी आस्था रख कर हम भले ही अपनी चेतना का बीज केवल देशीय जीवन की पुरातन परम्परा में ही अन्वेषित करे, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि उसके विकास मे बाह्य जातियो का सम्पर्क भी कम महत्त्वशाली नही है। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'फोर्ट विलियम कालेज' की स्थापना के पश्चात् आधुनिक हिन्दी साहित्य के गद्य-प्रसार का तारतम्यपूर्ण विश्लेषण कर यही सिद्ध किया है कि भले ही कम्पनी की नीति हिन्दी भाषा और साहित्य के सर्वथा अनुकूल न रही हो, किन्तु पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के प्रारम्भ और उक्त कॉलेज में पं० लल्लूजीलाल और सदल मिश्र जैसे भाषा-पंडितो की नियुक्ति ने भी उसके गद्य-विकास में अवश्य ही सहयोग दिया है। इस कार्य को गति प्रदान करने मे देश की धार्मिक और सामाजिक क्रान्तियों का भी हाथ है और मुद्रण-कला का आविष्कार, समाचार-पत्रों का प्रकाशन, ईसाई

मिशनरियो का प्रचार तथा अनेक राजकीय और अराजकीय सगठनो से भी इसको बल मिला है। लिखने का अभिप्राय यह है कि भारतेन्दु-युग के पूर्व भी देश मे आधुनिक भावनाओ के विकास के अनुकूल परिस्थिति का निर्माण होने लगा था, जिसको व्यवस्थित बनाने मे भारतेन्दु-मण्डल ने प्रयत्न किया और उसके फलस्वरूप हिन्दी-प्रदेश मे आधुनिक साहित्य की रचनात्मक और विचारात्मक प्रवृत्तियो का क्रमश सृजन होने लगा। पद्य-काव्य के अतिरिक्त नाटक, कहानी, उपन्यास, जीवन-साहित्य, निबन्ध और समालोचना का वास्तविक विकास इसी युग से समझना चाहिए।

७ पूर्ववर्ती परिच्छेदो मे इस बात का स्पष्ट विवेचन कर दिया गया है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माण की एक सुदृढ आधारशिला है। वैसे तो मनुष्य की बोधवृत्ति-जन्य समालोचना की भी एक चिरतन सत्ता है, किन्तु आधुनिक हिन्दी साहित्य मे इसका प्रादुर्भाव भारतेन्दु-युग से ही मानना समीचीन है, अत मैंने इस युग को आधुनिक हिन्दी-समालोचना के प्रवर्तन काल की सज्ञा दी है। गद्य का विकास, आधुनिक शिक्षा-प्रणाली का प्रचार, दो भिन्न-भिन्न संस्कृतियो की सक्रमणशीलता, बौद्धिक जागृति का उद्भव, पश्चिमी विचारधारा का अंत प्रवेश, समाचारपत्रो का प्रकाशन, मुद्रण-कला के द्वारा साहित्य-प्रकाशन की सुविधा, उचितानुचित के विवेक की प्रज्ञा और साहित्य को विभिन्न अगो से परिपूर्ण बनाने की प्रवृत्ति आदि अनेकानेक कारणो ने मिल कर हमारी समालोचना को विकास की विविध दिशाएँ प्रदर्शित की है। यद्यपि इस युग मे उनका सर्वागीण और प्रौढ विकास तो नही हो सका, फिर भी आधुनिक जीवन की ऐसी अनेक प्रणालियो और प्रवृत्तियो का सूत्रपात साहित्य-समालोचना के अतर्गत अवश्य हो गया जो कालान्तर मे विकसित हो सकी। माना कि इस विकास मे भाषा-विचार और रचना-शैली विषयक अनेक अपूर्णताएँ भी थी, किन्तु कालातर मे वे ही हमारी भावी प्राप्ति की प्रेरणाएँ सिद्ध हुईं। इस युग मे यह अनुभव किया जाने लगा कि समालोचना भी हमारे साहित्य का एक अनिवार्य अग है और उसके बिना उसका विकास अपूर्ण ही रहता है। इस युग की समालोचनात्मक उपलब्धि अधिक नही है, फिर भी वह भावी विकास को समझने मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस युग के रचनात्मक साहित्य का विधान द्वितीय अध्याय मे यथास्थान विवेचित किया जा चुका है, अतः उसका पिष्ट-पेषण न कर हम यहाँ केवल उसके समालोचनात्मक स्वरूप का ही विश्लेषण करेगे, जिसमे आधुनिक समीक्षा के प्रवर्तन के ज्योति स्फुलिग अपनी स्वाभाविक गति मे आलोकित है। ऐसा करने के लिए इस युग के प्रमुख समालोचको की कृतियो का ही विवेचन मुख्य रूप से करना हमे समीचीन प्रतीत होता है, क्योकि उनके विवेचन के अतर्गत तत्कालीन समीक्षा-स्तर और पद्धति-प्रवर्तन का स्वरूप स्वत. अंतर्निहित होकर प्रादुर्भूत होता है।

प्रमुख समालोचक और उनकी समीक्षाएँ

१. भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

व्यक्तित्व-गरिमा और कार्य-विश्लेषण

८. भारतेन्दु जी आधुनिक हिन्दी साहित्य के जन्मदाता कहे जाते है। इसका यह अभिप्राय नही कि उनसे पहले आधुनिक हिन्दी साहित्य नाम की कोई वस्तु थी ही नही। सच तो यह है कि हिन्दी साहित्य की धारा उनसे प्राय· एक सहस्र वर्ष पूर्व से कही सकुचित और कही विकसित होती हुई चली आ रही थी; किन्तु उसे आधुनिकता का जो स्वरूप प्राप्त हुआ है, उसके निर्माण का सर्वोपरि श्रेय भारतेन्दु जी को ही है। उनके समकालीन अथवा कुछ ही पूर्वकालीन ऐसे भी साहित्यकार हुए है, जिनके द्वारा हिन्दी मे आधुनिकता की सृष्टि भी होने लगी थी; किन्तु भारतेन्दु जी का व्यक्तित्व उन सब से विशिष्ट था और उनका कार्य-क्षेत्र अन्य पूर्ववर्ती साहित्यकारो

की अपेक्षा अधिक व्यापक और गम्भीर था। यही कारण है कि वे हिन्दी के आकार-प्रकार और कार्य-क्षेत्र को विकासमान बनाने मे सबसे आगे रहे। उनकी इन्ही रचनात्मक प्रवृत्तियों ने उन्हे आधुनिक हिन्दी साहित्य का जनक बनाया। अपने कार्यों की गुरुता के कारण वे हिन्दी जगत् के ही नही, भारत के भी इन्दु कहलाये। उनके अल्पावधिक कार्यों मे नूतन निर्माण के इतने अधिक तत्व सन्निहित थे, जिनके कारण भावी साहित्य को पनपने का अधिकाधिक अवसर मिला। उन्होने भाषा साहित्य को नया मोड दिया, उसकी प्रवृत्तियो को नई दिशाएँ दिखलाई और सबसे बढकर युगानुरूप भाषा-साहित्य के विकास और समन्वय का ऐसा आन्दोलन चलाया जो शनै-शनै व्यापक बन कर भावी युग मे अपनी सुदृढ भित्ति स्थापित कर सका। वस्तुत "निज भाषा उन्नति अहे, सब उन्नति को मूल। बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल" उन्ही का वह मूलमत्र है, जिसके प्रभाव से प्रेरणा लेकर आज हिन्दी भारत के कोटि-कोटि कठो का गलहार बन सकी है। निश्चय ही आधुनिक युग का निर्माण भारतेन्दुजी के व्यक्तित्व की रजत-रश्मियो के दिव्यालोक से हुआ है और उन्हे आधुनिकता का प्रथम वैतानिक कहना सर्वथा न्यायोचित है।

६ भारतेन्दु जी ने जिस समय साहित्य-निर्माण के पवित्र कार्य का श्रीगणेश किया, वह वस्तुत. साहित्य के लिए वरदान सिद्ध हुआ। उस समय साहित्य की धारा केवल पद्य के सीमित क्षेत्र तथा एकागी रूप मे अवरुद्ध होकर प्रवाहित हो रही थी। उस समय पर्यन्त साहित्य को विविधता और व्यापकता प्रदान करने की ओर लोगो का ध्यान अवश्य गया था, किन्तु इस दिशा मे पथ-निर्माता की आवश्यकता बनी हुई थी। यह एक विचित्र सत्य है कि जिस भारतीय वाड्मय मे काव्य के अनेकानेक भेदोपभेदो का विस्तृत विवेचन है तथा जिन पर देववाणी सस्कृत मे प्रचुर सामग्री विद्यमान है, उनकी ओर हिन्दी साहित्यकारो का ध्यान उनके पूर्व बहुत कम आकर्षित हुआ था। भारतेन्दुजी को साहित्य की यह संकीर्णता और हीनता बहुत अखरी। उन्होंने हिन्दी भाषा और साहित्य के स्वर को तीव्र करते हुए अपनी प्रतिभा के बल पर उसके विभिन्न साहित्यागो की परिपूर्ति के लिए रचनाएँ की। अपने व्यक्तित्व से उन्होने साहित्यकारो का एक विशेष मण्डल निर्माण किया जो साहित्याकाश के नक्षत्रो के रूप मे भारतेन्दु-मण्डल का अंग बन कर उनकी निर्दिष्ट दिशा पर चलता रहा और साहित्य मे आधुनिकता और व्यापकता की सृष्टि कर सका। वस्तुतः भारतेन्दु जी की प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होने रचनात्मक और विचारात्मक दोनो प्रकार के साहित्य सर्जन की ओर ध्यान दिया। जिस हिन्दी-प्रदेश मे लोग 'नाटक किस चिड़िया का नाम है', यह भी नही जानते थे, वहाँ उन्होने अनेकानेक मौलिक और अनूदित नाटकों की सृष्टि कर इस साहित्याग की पुष्टि की। इतना ही नही, पद्य-काव्य, निबन्ध-साहित्य और समालोचना आदि को भी उनसे नूतन चेतना मिली। उनके समय मे अंग्रेजी साहित्य और पाश्चात्य विचारधारा का देश से सम्पर्क हो चला था, अत. उन्होने उसके साहचर्य का भी सुलाभ उठाया। उन्हे पश्चिमी साहित्य मे ऐसी अनेक विशेषताएँ मिली, जिनका हमारे साहित्य मे अभाव था तथा जिनको ग्रहण करना देश-हित के लिए श्रेयस्कर था; अत. उन्होने निस्सकोच भाव से उन्हें अपनाया। सचमुच उनमें ऐसी विवेक-शक्ति थी जिससे वे युग और साहित्य की आवश्यकताओं को पहचान लेते थे और रूढिवादिता से हट कर किसी भी स्रोत से प्राप्त उस ज्ञान-राशि और विचार-धारा का स्वागत करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहते थे, जो देश-हित और साहित्य-वृद्धि के लिए उन्हे उपादेय प्रतीत होती थी। यही कारण है कि वे हमारे आधुनिक युग के समन्वयकारी साहित्यकार के रूप मे प्रतिष्ठित है और उनके मार्ग-दर्शन से हमारा साहित्य अनेक नूतन मोड ले सका है। इतना ही नही, उनके प्रयत्नो से हमारा आधुनिक साहित्य रीतिकालीन सकीर्ण वीथियो से बाहर निकल कर एक ऐसे राजमार्ग पर प्रश्रय पा सका है जिसमे युग-परिस्थिति का प्रतिबिम्ब ऐसे अनेक तत्त्व-कणो का

संगुफन करता चला है जिससे भावी साहित्य के विकास का भी आलोक मिला है। भारतेन्दुजी का यह कार्य वस्तुत. अपूर्व और महान् है और उनके द्वारा जहाँ साहित्य के अन्य अगो का विकास हुआ है, वहाँ समालोचना साहित्य को भी दिशा-दर्शन और प्रेरणा मिली है। यही कारण है कि हम उनको आधुनिक साहित्य की विभिन्न शाखाओ के जन्मदाता कहने के साथ-साथ समालोचना-साहित्य का भी मूल प्रेरक, साहित्य-स्रष्टा मानते हैं और समालोचना के विकास का प्रथम चरण उन्हीं के युग से अभिहित करना समीचीन समझते हैं।

भावक शक्ति और सैद्धान्तिक पक्ष

१०. भारतेन्दु जी के व्यक्तित्व मे हमे उनकी कारयित्री प्रतिभा का जितना प्राधान्य मिलता है, उतना भावयित्री प्रतिभा का नही। उनकी सर्वतोमुखी प्रज्ञा के कारण ही उनके साहित्य सेवा-काल को भारतेन्दु-युग का नाम दिया जाता है, अन्यथा जहाँ तक समालोचना-साहित्य का सम्बन्ध है, उनके द्वारा इस दिशा मे अपेक्षाकृत कम कार्य ही किया गया था। यह बात दूसरी है कि उस समय के साहित्यकारो के मूल प्रेरणा-केन्द्र वे ही थे और उनके व्यक्तित्व से प्रभावित न होना उस समय असम्भव सा था। पत्र-जगत्, नाटक-साहित्य और काव्य-रचना आदि विभिन्न-क्षेत्रो मे उनके द्वारा क्रान्ति की गई, जिसका प्रसरण भावी विकास-क्रम मे सहायक हुआ। निबन्ध-साहित्य और गद्य की अन्य विधाओ मे भी उनका कम दाय नही रहा, पर जहाँ तक विशुद्ध साहित्यिक समालोचना का सम्बन्ध है, उनका कार्य अन्य क्षेत्रो की अपेक्षा न्यूनतर ही रहा। वे समसामयिक विषयो और समस्याओ पर तो फिर भी अपनी सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिख दिया करते थे, किन्तु साहित्य-समालोचना का क्षेत्र उन्होने पं० बदरीनारायण चौधरी और प० बालकृष्ण भट्ट आदि विद्वानो के लिए ही छोड रखा था। इसका एक प्रमाण यह भी है कि उन्हे जब लाला श्रीनिवास लिखित 'सयोगिता स्वयम्वर' नामक नाटक की प्रति प्राप्त हुई तो उन्होने उसे अपने परम मित्र श्री प्रेमघन जी के पास समालोचनार्थ प्रेषित कर दिया।[1] ऐसी तो कोई बात नही थी कि उनमे समालोचक के लिए अपेक्षित गुणो का अभाव हो, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि उन्हे हिन्दी के रचनात्मक साहित्य की न्यूनता इतनी अधिक अखरती थी कि वे अपना अधिक से अधिक समय उसकी सम्पूर्त्ति मे ही लगाना चाहते थे। उनके प्रकाशित निबन्धो और टिप्पणियो से स्थान-स्थान पर इस विषय की ध्वनि निकलती है।

११. भारतेन्दु जी की समालोचक-प्रतिभा का एक निदर्शन उनके 'नाटक' शीर्षक निबन्ध मे मिलता है। यह निबन्ध उन्होने कदाचित् इसलिये लिखा था कि उनके साहित्य-निर्माण का एक प्रमुख क्षेत्र नाटक था, जिसकी भूमिका के स्पष्टीकरण के लिए इस निबन्ध की रचना अनिवार्य थी। इस निबन्ध को उनकी शास्त्रीय और सैद्धान्तिक समीक्षा-प्रणाली का निबन्ध कहा जा सकता है। उस युग को देखते हुए यह अपने ढग का सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ निबन्ध है। इसमे भारतेन्दुजी ने भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमो और उनकी प्रक्रियाओ का सक्षिप्त परिचय दिया है और बतलाया है कि उसमे नाट्य-निर्माण की व्यापकता के अश कहाँ तक है? वे पाश्चात्य नाट्य-प्रणाली और रचना-सिद्धान्तो से भी अभिज्ञ थे, अत उन्होने इस नाटकविषयक समीक्षा मे उनकी जानकारी भी कराई है। ऐसा प्रतीत होता है कि नाटक-रचना के सम्बन्ध मे भारतेन्दु जी का दृष्टिकोण समन्वयवादी था। वे युग-परिस्थिति को देखते हुए हिन्दी नाटक-साहित्य मे एक क्रान्ति करना चाहते थे, जिसका विधान भारतीय और पाश्चात्य पद्धतियो के मेल से ही उन्हे सम्भव प्रतीत होता था। उन्होने अपने इस समालोचनात्मक निबन्ध मे केवल नाट्य-शास्त्र के नियमो का ही विश्लेषण नही किया, अपितु इस विषय का भी विवेचन किया कि युग-परिवेश के अनुसार रगमच और दृश्य-

---

१ प्रेमघनसर्वस्व, द्वितीय भाग, पृष्ठ ४२३।

विधान का स्वरूप कैसा होना चाहिए ?" उनके इस विवेचन पर बंगला साहित्य के नाट्यालोचन की भी प्रतिच्छाया है, जिसको उन्होंने अपनी मौलिक उद्भावनाओं से प्रकट करने का प्रयास किया है।

१२ भारतेन्दुजी के 'नाटक' शीर्षक समालोचनात्मक निबन्ध को उनके नाटकों की शिल्प-विधि की कुंजी कहा जा सकता है। उससे यह भी सिद्ध होता है कि वे नाटक साहित्य में नवीन भावों और विचारों की योजना करना भी चाहते थे। उन्होंने श्रव्य और दृश्य काव्य का भेद-निरूपण कर यह तो बतलाया ही है कि नाटकों में रस-परिपाक की क्या स्थिति होनी चाहिए, किन्तु वे उसके साथ ही साथ नाटकों में सामयिकता का समावेश करना भी नहीं भूले हैं। शृंगार, हास्य और अद्‌भुत रसों की योजना के साथ-साथ उन्होंने नाटकों में देशभक्ति और समाज-सुधार की भावनाओं का समन्वय करने के सिद्धान्त पर भी जोर दिया है। प्राचीन और नवीन की अभिसन्धि में उन्होंने जिस प्रगतिशील दृष्टिकोण और विचारधारा का परिचय अपने इस निबन्ध में दिया है, वह उनके उदार भावों का मूर्तिमान निदर्शन है। उनके इस निबन्ध में इस बात का भी पता चलता है कि वे कोरे नाटककार अथवा समालोचक ही नहीं थे, अपितु रंगमंच पर उनके सफल प्रयोगकर्त्ता भी हैं। यूरोप की चाल पर बंगला, मराठी आदि साहित्यों में जिस प्रकार के नाटक लिखे गये और जिनकी छाया हिन्दी नाट्य-साहित्य पर भी पड़ी, उनके विधान का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है :

"प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारम्बार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक-एक अंक में अनेक-अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है।"

(भारतेन्दु का 'नाटक' शीर्षक निबन्ध)

१३. वैसे तो भारतेन्दुजी ने अपना 'नाटक' शीर्षक निबन्ध मुख्यतया नाटक-विवेचन करते हुए ही लिखा है, किन्तु उससे उनकी जीवन और साहित्य-विषयक धारणाओं का भी पता चलता है। वे साहित्य की शाश्वत सत्ता मानते हुए भी उसकी समाज-सापेक्षता को कम गौरव नहीं प्रदान करते थे। वस्तुतः उनका दृष्टिकोण अत्यन्त सामयिक और सधा हुआ था। यही कारण है कि उन्होंने मनुष्य की चित्तवृत्तियों को युग के अनुसार परिवर्तित होने वाली बतला कर भी साहित्य-निर्माण के समय उसका समुचित ध्यान रखने की उल्लेखनीय सम्मति दी है। उनका तो स्पष्ट मन्तव्य है कि साहित्य को समय के साथ प्रगतिशील होना चाहिए और जो साहित्य केवल चिरतन भावनाओं का ही दुराग्रह कर बैठ जाता है, उसमें युग-वहन की क्षमता का संचार नहीं हो सकता। इस प्रकार भारतेन्दुजी के इस निबन्ध से हमें उनकी साहित्य-विषयक मान्यताओं और आधारशिलाओं का भी परोक्ष रूप से ज्ञान हो जाता है।

तत्त्वग्राहिणी प्रतिभा और नाटक-विषयक मान्यताएँ

१४. वैसे तो भारतेन्दुजी का अध्ययन अत्यन्त व्यापक और गम्भीर था, किन्तु उससे भी बढ़ कर उनमें विषय-ग्रहण की मौलिक सूझ थी। उनका उपलब्ध समालोचनात्मक साहित्य मुख्यतः निबन्धों के रूप में ही है, किन्तु उनमें भावी विकास का बीज-वपन अन्वेषित कर लेना कोई कठिन नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतेन्दुजी ने अन्यान्य साहित्य-विधाओं की भाँति समालोचना-क्षेत्र में भी सृजनात्मक प्रवृत्ति का दिशा-निर्देश किया और वे उसे अपने रचनात्मक साहित्य के द्वारा क्रियात्मक भी बना सके। आधुनिक युगीन पाश्चात्य साहित्य में जो ज्ञान-दीप्ति प्रस्फुटित हुई है, उसका भी समन्वय उन्होंने अपनी समालोचनाओं में किया। उनके 'नाटक' शीर्षक निबन्ध से इस बात का पता चलता है कि उन्होंने भारतीय और पश्चिमी साहित्य के नाटकों का विशेष रूप से अध्ययन किया था और उस अध्ययन के उपरान्त जो ज्ञान-राशि उनके हाथ लगी, उसका विवेचन

वे अपने समालोच्य निबन्ध मे कर सके थे। उनका तो स्पष्ट कहना था कि परिवर्तित परिस्थिति मे केवल अलौकिक घटनाओ को पकड कर बैठने से ही हमारा काम नही चल सकता, अत हमे साहित्य-निर्माण और नाटक-रचना के सम्बन्ध मे अधिक उदार और तटस्थ बन कर अपनी प्रतिभा का उपयोग करना चाहिये। उनकी इस प्रकार की प्रवृत्ति को देखकर ही स्वर्गीय प्रसादजी ने उन्हे आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे यथार्थवाद का मूल प्रवर्त्तक माना है जिसके सूत्र का भाष्य हमे डा० रामविलास शर्मा की समालोचनाओ मे उपलब्ध होता है।

१५. भारतेन्दुजी की नाटक-रचना के सैद्धान्तिक पक्ष के सम्बन्ध मे और भी बहुत कुछ कहा जा सकता है, जिससे उनके समालोचक-स्वरूप को समझने मे सहायता मिल सकती है; किन्तु उसका अधिक उल्लेख न कर हम उनके उसी निबन्ध से कतिपय उद्धरण अकित करते है, जिनसे यह पता चल सके कि वे नाटक-रचना के सम्बन्ध मे और किस-किस प्रकार की मान्यताएँ रखते थे तथा उन्होने अपने नाटको मे भी उनका परिपालन किस विधान से किया था। नाटक-प्रणयन के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे भारतेन्दुजी का कहना है .

"जिस समय मे जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करे और देशीय रीति-नीति का प्रभाव जिस रूप मे चलता रहे, उस समय में उक्त सहृदयगण के अन्त करण की वृत्ति और सामाजिक रीति पद्धति इन दोनो विषयो की समीचीन समालोचना करके नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना योग्य है।" ('नाटक' शीर्षक निबन्ध)

वे साधारणतया साहित्य-निर्माण मे और मुख्यतया नाटक-रचना मे अलौकिक घटनाओ का समावेश कहाँ तक उचित समझते थे, इसका आभास निम्नलिखत उद्धरण दे सकेगा :—

"अब नाटकादि दृश्य काव्य मे अस्वाभाविक सामग्री परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य मण्डली को नितान्त अरुचिकरु है, इसलिए स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदयग्राहिणी है। इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना उचित नही है।"

१६ स्पष्ट है कि भारतेन्दुजी अलौकिक घटनाओ का नाटको मे समावेश एक सीमा तक ही उचित समझते थे। उनकी मान्यता थी कि प्राचीन काल के जीवन-दर्शन को अलौकिक घटनाओ के चमत्कार मे चाहे कितना ही कुतूहल अथवा आनन्द मिलता हो, किन्तु आधुनिक युग-चेतना उसके अधिक अनुकूल नही है। मेरी दृष्टि मे भारतेन्दुजी ने अपने नाटक शीर्षक समालोचनात्मक निबन्ध मे एतद्‌विषयक अभिज्ञता के प्राय सभी तत्त्वबिन्दु स्पर्श किये है और यह समालोचना उनके गम्भीर चिन्तन का उज्ज्वल प्रतीक है। उन्होने इसी निबन्ध मे भारतीय नाटककार कालिदास और आग्ल नाटककार शेक्सपियर के भाव-विधान की भी तुलना की है और उनकी लोकप्रियता का उल्लेख कर यही प्रतिपादित किया है कि ये लेखक किस प्रकार जन-जीवन के अधिक निकट रह कर अपना साहित्य-निर्माण कर सके है। निश्चय ही भारतेन्दुजी के इस समालोचनात्मक निबन्ध मे भावी नाटककारो को भी रचनात्मक सुझाव मिल सकेगा। नाटक-रचना करते समय किन-किन बातो का ध्यान विशेष रूप से रखा जाय, इसका संकेत निम्नलिखित उद्धरण मे संगुम्फित है —

"मानव-प्रकृति की समालोचना करनी हो तो नाना देशो मे भ्रमण करके नाना प्रकार के लोगो के साथ कुछ दिन वास करे तथा नाना प्रकार के समाज मे गमन करके विविध लोगो का आलाप सुने तथा नाना प्रकार के ग्रन्थो का अध्ययन करे, वरंच समय मे अश्वरक्षक, गोरक्षक, दास-दासी, ग्रामीण, दस्यु-प्रभृति नीच प्रकृति और सामान्य लोगो के साथ कथोपकथन करे। यह न करने से मानव-प्रकृति समालोचित नही होती। मनुष्यो की वृत्ति परस्पर जिस प्रकार अदृश्य है, उन लोगों के हृदय-भाव भी उसी रूप अप्रत्यक्ष है। केवल बुद्धि-वृत्ति की परिचालना द्वारा तथा जगत् के कतिपय बाह्य कार्यों पर सूक्ष्म दृष्टि रख कर उनके अनुशीलन मे प्रवृत्त होना होता है

और किसी उपकरण द्वारा नाटक लिखना झख मारना है।"

१७ भारतेन्दुजी के नाटक शीर्षक निबन्ध का समालोचनागत विशेष उल्लेख इसलिए भी किया गया कि उसके द्वारा हमें भारतेन्दुजी की मूलवर्ती विचारधारा के अनेक तत्त्व-कणों की उपलब्धि होती है और वह उनकी सैद्धान्तिक और शास्त्रीय परम्परा का एकमात्र सर्वोपरि निबन्ध है। इसकी विशेष विवेचना की आवश्यकता इसलिए भी प्रतीत हुई कि आधुनिक हिन्दी साहित्य की समालोचना के प्रवर्त्तन-काल में किस प्रकार वे विकास-सूत्र सगुम्फित थे, जिनका सवर्धन अनागत काल में हुआ। वस्तुतः यह निबन्ध भारतेन्दुयुगीन नाटकों को समझने की कुञ्जी कहा जा सकता है और उसमें भारतेन्दुजी ने अपने शोधविषयक ज्ञान का भी यथासम्भव सदुपयोग किया है। साथ ही साथ इस निबन्ध द्वारा इस बात का भी पता चलता है कि उस युग में प्रचलित समालोचना की धारा के ऐसे कौन-कौन से स्थल हैं जिनमें सगठन की न्यूनता और प्रतिपादन की एकमुखी दृष्टि का आभास मिलता है।

समालोचना के अन्यान्य विषय और उनसे सम्बन्धित सामग्री

१८. कहा जा सकता है कि भारतेन्दुजी ने समालोचना-क्षेत्र में अधिक कार्य नहीं किया, किन्तु जो कुछ भी किया वह उस प्रवर्तन-काल में हमारे अध्ययन के लिए ऐतिहासिक पीठिका प्रदान करने में पर्याप्त सहायक है। उन्होंने कालिदास[1], जयदेव[2] सूरदास[3] और पुष्पदंताचार्य[4] आदि कवियों की जो चरितावली लिखी है, उसमें समालोचनोचित सामग्री का भव्य प्रसार न मिले, किन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि उसमें कालान्तर में विकसित होने वाली जीवन-चरितमूलक समालोचना-पद्धति के बीज अन्तर्निहित हैं। उनके विवेचन में ऐतिहासिक समीक्षा-प्रणाली और शोध-विषयक सामग्री भी मिलती है और यथा-प्रसग तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति के भी सकेत हैं। उनके द्वारा लिखित ये जीवन-परिचय 'कवि-वचन-सुधा' और 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' के अंकों में समय-समय पर प्रकाशित होते थे, जिनमें वे भावी समालोचकों को भी इस क्षेत्र में कार्य करने के सकेत भी दे ही दिया करते थे। उनकी समालोचनाओं का एक अंग उनके पुरातत्व-ज्ञान[5] से भी सम्बद्ध था, यद्यपि उसमें उसका अपेक्षित विकास नहीं हो सका। इसी प्रकार उन्होंने श्री शाण्डिल्य ऋषि के भक्ति के सौ सूत्रों पर 'भक्ति-सूत्र-वैजयन्ती' के नाम से जो भाषा-भाष्य लिखा है वह विशुद्ध साहित्यिक समालोचना न होने पर भक्ति-काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि के अध्ययन में पूर्व-पीठिका का काम दे ही सकता है[6]। वैष्णव सर्वस्व[7], श्री वल्लभीय सर्वस्व[8], श्री तदीय सर्वस्व[9], श्री युगल सर्वस्व[10], आदि भी उनकी दार्शनिक गवेषणा और उपज्ञात प्रतिभा के अन्यतम उदाहरण हैं, जिनमें सम्प्रदाय-परम्परा का स्वल्प पुरावृत्त समेत व्याख्यान हुआ है। श्री वल्लभीय सर्वस्व तो वल्लभ सम्प्रदाय का अनुसन्धान करने वाले अनुसन्धित्सुवर्ग के लिए परम उपयोगी है, जिसके द्वारा

---

१. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, सं० ब्रजरत्नदास, तीसरा भाग, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २०-३३.
२. ,, ,, ,, ,, ,, ,, ४९-६०.
३ ,, ,, ,, ,, ,, ,, ७१-७७.
४. ,, ,, ,, ,, ,, ,, ६१-६७
५. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, स० ब्रजरत्नदास, तीसरा भाग, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ११७-१६३.
६. हरिश्चन्द्र मैगज़ीन, खंड १, पृष्ठ ५-८, ३०-३२, ८३-८४ तथा ९८-१०२, सन् १८७४.
७. ,, चन्द्रिका, खड-सख्या, १०, सन् १८७९ अप्रैल।
८. युगुल सर्वस्व, भादों शुक्ल ८, सवत १९३३.
९. युगुल सर्वस्व चैत्र शुद्ध ५, सवत् १९३३.
१०. ,, भाद्रपद कृष्ण ९, सं० १९३३.

हिन्दी भक्ति-साहित्य मे विकसित होने वाली कृष्ण-भक्ति की परम्परा की पृष्ठभूमि को समझने मे बडी सुविधा हो सकती है। अभिप्राय यह है कि भारतेन्दुजी की समालोचनाओ का एक अन्त सूत्र उनके गवेषणात्मक निबन्धो मे भी है, जिसकी उपेक्षा की ही नही जा सकती। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने भारतेन्दु-ग्रन्थावली के तीसरे खण्ड मे उन्हे संकलित कर उनके अनुशीलन के लिए जो सुयोग प्रदान किया है, वह वस्तुत प्रशंसनीय है।

१६. भारतेन्दुजी के गद्य-साहित्य मे हमे उनके समालोचनात्मक दृष्टिकोण का आभास स्थल-स्थल पर मिलता है। उनमे बुक रिव्यू या पुस्तकालोचन की प्रवृत्ति भी है। वे अपने विरोधी विचारको के प्रति कही-कही अत्यन्त कठोर भी हो गए है। उन्होने दूषणमालिका मे स्वामी दयानन्द सरस्वती की वेद-विषयक मान्यताओ की समालोचना की है[1] तो तहकीकातपुरी की तहकीकात मे प० मोहनलाल शर्मा की एक कृति की।[2] इसी प्रकार सवत् १६३३ मे उन्होने अष्टादश पुराण की उपक्रमणिका के अन्तर्गत महर्षि व्यास के पुराणो की विवेचना की है जो उस युग की समालोचना परम्परा के बहुत निकट है।[3] उनके हिन्दी कुरानशरीफ,[4] श्रुति रहस्य[5], वैष्णवता और भारत-वर्ष[6], ईशुखृष्ट और ईशकृष्ण[7] आदि निबन्ध विशुद्ध समालोचनात्मक न होने पर भी उनके समीक्षा-विषयक दृष्टिकोण का सकेत करने वाले है। उन्होने स्वर्ग मे विचारसभा का अधिवेशन[8] शीर्षक जो निबन्ध लिखा है, उससे उनकी सन्तो के विषय मे विचारधारा का पता चलता है। इस निबन्ध मे उन्होने दादू, नानक, कबीर प्रभृति भक्त और ज्ञानियो को देवताओ के लिबरल दल मे रखा है जिसका अभिप्राय यह है कि वे उनकी आस्थाओ मे अधिक उदारता पाते थे। उनका "जातीय सगीत"[9] शीर्षक निबन्ध हमे उनकी लोकगीतो के प्रति बनी हुई अभिरुचि का बोध कराता है। साराश यह कि भारतेन्दुजी के साहित्य मे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे हिन्दी-समालोचना की प्रकीर्णक सामग्री का इस प्रकार सयोजन हुआ है, जिसके सत्व-चयन के द्वारा उनकी समालोचक-प्रज्ञा का अनुमान लगाना सहज सम्भाव्य है। ऐसी परिस्थिति मे साहित्य की अन्यान्य विधाओ की भाँति समालोचना-विधि की दृष्टि से भी उनके युग को आधुनिक समालोचना का प्रवर्त्तन-काल कहना सभी दृष्टियो से मुझे समीचीन प्रतीत हुआ है, क्योकि इस युग के प्रमुख समालोचको की विचार-निर्मिति मे भारतेन्दुजी के व्यक्तित्व का प्रमुख हाथ है।

हिन्दी भाषा विषयक दृष्टिकोण और रस-मीमांसा

२० भारतेन्दुजी की समालोचना का एक अश उनके हिन्दी भाषा से सम्बन्धित विचार है। उनके समय से ही भाषा-विषयक आन्दोलन प्रारम्भ हो गया था जो कालान्तर मे पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी के समय मे प्रौढता और निर्णय को प्राप्त हुआ। अपने युग के महान् नेता और निर्णायक होने के कारण भारतेन्दुजी को भी उसमे भाग लेना पडा। उन्होने हिन्दी भाषा शीर्षक समालोचनात्मक निबन्ध[10] इसी आशय से लिखा कि उसके द्वारा भाषा को एक स्थिर गति प्राप्त

१. भारतेन्दु-ग्रथावली, तीसरा भाग, पृष्ठ ६६३-६६८ रचनाकाल १८७० ई०
२. ,, ग्रथावली, तीसरा भाग, पृष्ठ ७०१-७११ सन् १८७१ ई० में बनारस लाइट प्रेस से प्रकाशित।
३. श्री हरिश्चन्द्रचन्द्रिका, खड २, सख्या ८-१२, सन् १८७५ ई०.
४. श्री हरिश्चन्द्रचन्द्रिका. खड २, स० ८-१२, सन् १८७५ में अपूर्ण प्रकाशित,
५. श्री हरिश्चन्द्र मैगजीन, जिल्द १ संख्या ६, मार्च १५ सन् १८७४
६. इस लेख का उल्लेख सवत् १६४१ में लिखे गये रामायण के समय में हुआ है
७. श्री हरिश्चन्द्रचन्द्रिका, खड ६; सख्या ७, जनवरी १८७६.
८. मित्र विलास, खड ८, सख्या ४०, १६ जून सन् १८८५.
६. कविवचन सुधा, खड २, सख्या ५, सवत् १६२७.
१०. खड्ग विलास प्रेस, १८६०, ब्रजरत्नदासजी के मतानुसार इसका पहला सस्करण उसी प्रेस में सं० १८८३ मे छपा.

हो। वे भाषा के मुख्य तीन रूप मानते थे जिन्हे घरेलू भाषा, कविता की भाषा और गद्य की भाषा कहा जा सकता है। घरेलू भाषा को तो उन्होने स्थान-स्थान पर बदलने वाली कहा है, किन्तु कविता या पद्य की भाषा का औचित्य तो केवल ब्रजभाषा तक ही माना है। उन्होने अपने विवेचन मे अनेक काव्य पक्तियो के उदाहरण देकर यही सिद्ध किया है कि ब्रजभाषा की माधुरी मे जो काव्यानन्द छलकता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। हाँ, गद्य की भाषा उन्होने अवश्य खड़ी बोली स्वीकार की है। साहित्य-भाषा के विभिन्न स्वरूपो का विवेचन करते हुए उन्होने उसके विविध शब्द-प्रयोगो के अनुरूप शुद्ध तत्सम रूप, सामान्य तद्भव रूप तथा अन्य भाषाओ यथा फारसी, अंग्रेजी आदि के शब्दो को लेकर चलने वाली जनसाधारण की भाषा के रूप का भी विश्लेषण किया है। उनकी मान्यता मे भाषा का प्रामाणिक रूप इसी मे है कि वह सब प्रकार के शब्दो को अपनी पाचन-शक्ति के द्वारा आत्मसात् करती हुई चले। उन्होने जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग अपनी साहित्य-पुस्तको मे किया है, वही उनकी प्रामाणिक और तथ्यसम्मत भाषा कही जा सकती है।

२१. जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है भारतेन्दुजी की समालोचनाओं का एक शास्त्रीय और सैद्धान्तिक पक्ष भी है। वे इस क्षेत्र मे एक मौलिक उद्भावक भी थे। उन्होने रस-विवेचन के अन्तर्गत भक्ति, सख्य, वात्सल्य और आनन्द नामक चार नवीन रसो का भी प्रतिपादन किया है जिसको लेकर उस समय समालोचना-जगत् मे अनेक प्रकार की आलोचना-प्रत्यालोचनाएँ भी हुई थी। उन्होने उन आलोचनाओ का प्रत्युत्तर अलग-अलग लोगो को न दे कर अपने 'सम्पादक के नाम पत्र'[१] शीर्षक लेख मे दिया है जो उन्होने श्री ताराचन्द तर्करत्न के नाम पर लिखा था। इस पत्र के प्रकाशन ने कई विरोधी समालोचको का मुँह बन्द कर दिया था, अत उसका समालोचना-क्षेत्र मे भी कम महत्त्व नही है। भारतेन्दु जी ने अपनी व्यग्यपूर्ण शैली मे अपनी रस-विषयक मान्यताओ का समर्थन प्रबल प्रमाणो से इस पत्र मे किया है। उनके इस विवेचन से यह पता चलता है कि वे केवल शास्त्रीय परम्परा को ही एकमात्र प्रामाणिक मान कर चलने वाले समालोचक नही थे, अपितु मौलिक उद्भावनाओ का महत्त्व भी स्वीकार करते थे। उन्होने उस पत्र मे लिखा है :

"वाह वाह, रसो का मानना भी मानो वेद के धर्म को मानना है कि जो लिखा है वही माना जाए और उसके अतिरिक्त करे तो पतित होय। रस ऐसी वस्तु है जो अनुभव सिद्ध है इसके मानने में प्राचीनो की कोई आवश्यकता नही। यदि अनुभव मे आवै मानिए न आवै न मानिए।"[२]

२२. भारतेन्दुजी ने अपने नवीन उद्भावित रसो के सम्बन्ध मे तर्कपूर्ण विवेचना भी की है और उनकी स्वतन्त्र सत्ता भी स्थापित की है। वे लिखते है :

"भक्ति—कहिए इसको आप किसके अन्तर्गत करते है क्योकि इस रस की स्थायी श्रद्धा है और इसके आलम्बन भक्त और इष्ट देवता है और उद्दीपन पुराणादिक भक्तो का प्रसंग तथा सत्संग है। अब जो इसे शान्त के अतर्गत कीजिएगा तो शान्त का स्थायी वैराग्य है।"[३]

"सख्य—इस रस को लोग शृगार के अन्तर्गत करते है। हम उन लोगो से पूछते है कि जहाँ कृष्ण और अर्जुन का प्रसग और इसी भाँति अनेक मित्रो की विपत्ति मे मित्रो के सग देने के प्रसंग मे शृगार रस किस भाँति आवेगा, क्योकि शृंगार की स्थायी रति है और यहाँ मित्रता मे रति का क्या कार्य है ?[४]

---

१. कविवचन सुधा, जिल्द ३, संख्या २२, ५ जुलाई १८७२।
२. कविवचन सुधा, जिल्द ३, संख्या २२, ५ जुलाई १८७२।
३. कविवचन सुधा, जिल्द ३, संख्या २२, ५ जुलाई १८७२।
४. वही, सम्पादक के नाम पत्र।

२३. निष्कर्ष यह है कि भारतेन्दुजी के साहित्य मे हमे यत्र-तत्र उनकी समालोचनात्मक प्रज्ञा के दर्शन हो ही जाते है जो आज की विकसित बौद्धिक चेतना के सम्मुख भले ही अधिक महत्त्व-शाली नही कही जा सके, फिर भी उसका युगीन माहात्म्य तो है ही। उनके गौरव की स्वीकृति इस कारण भी समझी जानी चाहिए कि जिस समय हिन्दी साहित्य मे समालोचना की नूतन प्रणाली का कोई विधान नही था, उस समय उन्होने अपने भारतीय और पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन से उसका नव-निर्माण किया। वस्तुत. भारतेन्दुजी अपने युग के महान् प्रेरक थे और उनसे अनेक नवीन और प्रौढ लेखको को प्रोत्साहन मिलता था। अत उनकी लगन और साधना के सम्मुख हमारा मस्तक स्वतः श्रद्धावनत हो ही जाता है। आधुनिक हिन्दी समालोचना के प्रवर्त्तन मे उनकी महत्ता असदिग्ध है, इसमे विवाद के लिए कोई अवकाश नही है।

२. चौधरी प० बदरीनारायण उपाध्याय "प्रेमघन"

प्रारम्भिक परिचय और व्यक्तित्व

२४. प० बदरीनायण चौधरी 'प्रेमघन' भारतेन्दु-मण्डल के एक ऐसे जाज्वल्यमान नक्षत्र है, जिनकी प्रतिभा गद्य और पद्य की विभिन्न विधाओ मे समान कौशल के साथ प्रस्फुटित हुई है। उनकी कृतियो मे भारतेन्दु-युग की उन समस्त प्रवृत्तियो का निदर्शन अत्यधिक भव्य स्वरूप मे आलोकित है, जिसका केन्द्रविन्दु अतीत और वर्तमान की मधुर भावनाओ से निर्मित और जीवन की विकासमान प्रगतियो से अनुप्रेरित है। उनका काव्य[१] भारतेन्दु-युग की सामयिकता और कमनीय कल्पनाओ का एक ऐसा अक्षय भण्डार है, जिसमे उनकी सहज भावुकता और सहृदयता के रस-सीकर आप्लावित है तो उनके गद्य मे विचारक की अद्भुत-शक्ति और दृढ निष्ठा का अपूर्व सामजस्य है। एक विवेकशील सम्पादक के उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए उन्होने भारतेन्दुजी की ही भाँति गद्य को भी जो प्रौढ और परिष्कृति प्रदान की है, उसका साहित्य-क्षेत्र मे निश्चय ही स्थायी सम्मान रहेगा।

२५. यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है कि भारतेन्दु-युग मे जिस प्रकार आधुनिक चेतना के अभ्युदय के कारण राजनीतिक, सामाजिक और सास्कृतिक क्षेत्रो मे अनेक प्रकार की विधाओ का अकुरण हुआ था, उसी प्रकार साहित्य के अगोपागो मे भी उनकी प्रस्फुटित प्रेरणा सहज भाव से क्रियात्मक बनी थी। इस युग के प्राय समस्त लेखको मे जिस संजीदगी और उल्लास का आकर्षक व्यक्तित्व था, वह अनागत के लिए वरदान-स्वरूप सिद्ध हुआ। बात यह थी कि प्राचीन और नवीन की अभिसधि ने इस युग को एक व्यापक धरातल पर अवस्थित कर जीवन के प्रति नूतन प्रतिमान प्रदान किए थे, जिनमे युग-जीवन के दायित्व को वहन करने की अद्भुत शक्ति थी। प्रेमघन जी के साहित्यिक व्यक्तित्व मे भी ऐसे ही ज्योतिःस्फुलिंग थे। उनके सम्पादक, कवि और सामयिक विचारक के रूप से हमारे शोध-प्रबन्ध का कोई विशेष प्रयोजन नही है। हमें तो केवल उनके समालोचक-व्यक्तित्व का ही अनुशीलन करना है जिसके द्वारा इस विषय का ज्ञान हो सके कि वे उसके आधार पर किस प्रकार हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य को इस क्षेत्र मे दिशा-निर्देश कर सके थे। ऐसा करते हुए हमे इस विषय का भी आभास मिल सकेगा कि आधुनिक हिन्दी समालोचना रचनात्मक साहित्य की भाँति नवीन दृष्टि और अभिनव परिवेश धारण कर एवं संस्कृत की शास्त्रीय परम्परा को ही एकमात्र युगानुवर्ती न समझ कर जिन रूपो और प्रक्रियाओ मे

१. प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग सम्पादक श्री प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय, प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग में संकलित हो चुका है।

प्रस्फुटित हुई है, उनके निर्माण मे प्रेमघनजी का कितना अधिक दाय है और उन्होने भारतेन्दु-युग की विचारधारा के साथ रह कर समालोचना-क्षेत्र के अन्तर्गत जिस आकार-प्रकार मे पुस्तकालोचन, सिद्धान्त-निरूपण तथा प्रयोग-पक्ष का सम्मिलन किया है, वह समालोचना के इतिहास को विकास-मान बनाने मे कितना अधिक प्रेरणा-स्रोत सिद्ध हुआ है।

आधुनिक समालोचना के प्रवर्त्तक

२६. चौधरीजी हिन्दी के आधुनिक समालोचना-साहित्य के सूत्रपातकर्ताओ मे से एक है। कहा जा सकता है कि कालान्तर मे प० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जिस समीक्षा-प्रणाली को साहित्य-हित-चिन्तन की दृष्टि से ग्रहण कर उसका सम्वर्धन किया था, उसके विकास-कण चौधरी जी की समालोचना मे विद्यमान थे। उनकी समालोचना मे प्राय वे सभी तत्त्व सन्निहित है, जिनका प्रस्फुरण द्विवेदी-युग मे हुआ। चौधरीजी का व्यक्तित्व बहुमुखी था। वे कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा से सम्पन्न साहित्यकार थे, जिसका प्रमाण उनकी काव्य-कृतियों और निबन्ध-रचनाओं से मिलता है। उनमें एक युगदर्शी विचारक के अनुरूप सूक्ष्म बुद्धि और विश्लेषण-प्रवृत्ति भी थी। यद्यपि उन्होने समालोचना के सिद्धान्त और व्यवहार-पक्ष को लेकर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना नही की, फिर भी उनकी सम्पादकीय टिप्पणियाँ और समसामयिक विचारधाराएँ उनके मौलिक चिन्तन का आभास दे ही देती है। 'आनन्द कादबिनी' और 'नागरी-नीरद' की प्राचीन प्रतियाँ उनकी समालोचना-पद्धति और विचारधारा को जानने के प्रमुख साधन है। भारतेन्दु-युग के अन्यान्य समालोचको की भाँति उन्होने भी अपनी समालोचनाओ का आधार पत्र-पत्रिकाओ को बनाया था। यद्यपि उन्होने साहित्यिक आलोचनाएँ कम लिखी है, पर उनमे अनेकानेक प्रवृत्तियो और प्रणालियो की झलक स्वत मिल जाती है। हिन्दी-समालोचना के विकास-क्रम मे उनका विशेष महत्त्व है। "समालोचना का सूत्रपात हिन्दी मे एक प्रकार से चौधरी साहब ने किया। समालोच्य पुस्तको के विषयो का अच्छी तरह से विवेचन करके उसके गुण-दोष के विस्तृत निरूपण की चाल उन्होंने चलाई।"[1]

दृश्यरूपक या नाटक समालोचना का प्रथम स्वरूप

२७ प्रेमघनजी की समालोचना का सूत्रपात सवत् १९३८ विक्रम (सन् १८८१) से समझना चाहिए, जबकि उन्होने अपनी प्रसिद्ध पत्रिका आनन्दकादबिनी की सख्या ४ और ५ मे 'दृश्य रूपक' या 'नाटक' शीर्षक लेख लिखा था। उसमें नाटक के सिद्धान्त-पक्ष की अपेक्षा ऐतिहासिक समालोचना के अकुर विशेष रूप से विद्यमान है। उक्त लेख मे उन्होने गुजराती, बंगाली, मराठी, सस्कृत और अंग्रेजी आदि विभिन्न भाषा-साहित्यों के नाटको का सामान्य परिचय देकर बतलाया है कि यद्यपि इनके अनुकरण पर हिन्दी मे भी नाटक रचना की जाने लगी है और युवक-मडलियाँ उनके सगठन के लिए प्रयत्नशील भी रहती है, किन्तु वह विकास किसी भी रूप मे विशेष सन्तोष-जनक नही कहा जा सकता, क्योकि हमारी भाषा मे प्राय दूसरी भाषाओं से अनुवादित नाटक अपने रचना-विधान मे अत्यंत त्रुटिपूर्ण हैं। इसका कारण उन्होंने लेखको मे 'नाटककार बनने की धुन पर साधना की कमी है', बतलाया है। इसी लेख मे भारतेन्दुजी के मौलिक और अनुवादित नाटको का भी विवरण आया है और लेखको को उत्तम श्रेणी के नाटक लिखने की प्रेरणा भी दी गई है। उनके नाटक-सबन्धी विचारो का पता निम्नलिखित उद्धरण से लग सकेगा :—

"जानना चाहिये कि नाटक वहाँ तक नही है कि जहाँ तक उसमे नवलपन आवे, किन्तु नाटक और अभिनव वह वस्तु है जब देखने वालो को इसका परिज्ञान न रह जाय कि हम नाटक देखते है वा सत्यलीला, जिसके शब्द शब्द से रस चूता और पद पद पर नये आनन्द का मजा

---

१ प० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रवर्द्धित संस्करण, पृष्ठ ४३२.

मिलता जाय और देखने वाले उस रस मे रगकर तन्मय दशा को प्राप्त हो जाय" ।[1]

बंग विजयता की आलोचना

२८. जैसा कि पहले सकेत किया जा चुका है कि प्रेमघन जी की समालोचनाएँ आधुनिक हिन्दी समालोचना की प्राथमिक प्रवृत्ति थी, अत उसमे उसका बाह्य परिचय-सूचक परिवेश ही अधिक मिलता है। उन्होने 'नीलदेवी', 'उर्दू बेगम' और 'बग विजयता' की जो आलोचनाएँ 'आनन्दकादम्बिनी' मे प्रकाशित की थी , वे बुक रिव्यू या पुस्तक-परिचय मात्र थी । उनमे पुस्तक लेखक और विषय का एक ऐसा चलता परिचय मात्र मिलता है जो विज्ञापन-वृत्ति के अधिक निकट रखा जा सकता है । उदाहरणार्थ उन्होने बग विजयता की समालोचना करते समय उसके प्रमुख परिच्छेदो के सम्बन्ध मे सामान्य टिप्पणियाँ देकर अत मे लिखा है--

"मान्यवर श्रीयुत् बाबू रमेशचन्द्रदत्त जी० सी० यस० प्रणीत जिसे हमारे मित्र श्री बाबू गदाधरसिंह शिरिश्तेदार कलक्टरी मिरजापुर ने बंग भाषा से नागरी भाषा मे अनुवाद किया है, मूल्य १रु० मात्र उत्तम कागज पर टाइप के सुन्दर अक्षरो मे बारह पेजी फारम के आकार मे २७८ पृष्ठ का ग्रन्थ है। अवश्य हिन्दी रसिको को ग्रन्थकर्ता से मंगा कर देखना चाहिए।"[2]

२९ कहने की आवश्यकता नही कि उक्त कथन निश्चय ही समालोचना की अपेक्षा विज्ञापनवृत्ति के अधिक निकट है। यद्यपि इसके प्रारम्भ मे प्रेमघन जी ने प्रस्तुत उपन्यास की व्याख्या और विवेचना भी की है, किन्तु उसकी आलोचना-प्रणाली मे परम्परायुक्त रूढिवादिता ही अधिक है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने समालोच्यकृति की मूलभूत विशेषताओ और अन्त प्रवृत्ति की ओर विशेष ध्यान न देकर केवल उनके विषय मे चलती बाते कह दी है। इस पुस्तक-परिचय वाली आलोचना मे गुण-दोष-दर्शन की झलक भी मिलती है। आलोचना-प्रणाली पर प्रेमघन जी के व्यक्तित्व और शैली-विधान की छाप है और उसमे एक गम्भीर आलोचक की अपेक्षा सम्पादक का स्वरूप अधिक प्रस्फुटित है। इस आलोचना की प्रेरणा और उद्देश्य का संकेत लेखक की निम्नलिखित उक्ति से मिल सकेगा :—

"यह हिन्दी मे मनोहर और अनूठा उपन्यास बना, और इसमे कोई सन्देह नही कि यह ग्रन्थ उपन्यास के समस्त गुणो से युक्त है। विशेषता यह है कि आर्यभाषा मे होकर भी अंग्रेजी प्रबन्ध और प्रणाली से युक्त है। क्यो न हो, जबकि इनके रचियता अनन्य आर्यकुल भूषण सुविख्यात श्री रमेश बाबू है, और अनुवादकर्त्ता सुयोग्य हमारे मित्र, इस कारण हम, ग्रन्थकर्त्ता और अनुवादक के विषय मे अलग-अलग समालोचना करना उचित समझते हैं।[3]

३०. प्रेमघन जी ने अनुवाद के विषय मे विशेष वक्तव्य देना उचित नही समझा है, क्योकि वह प्रचलित साधु भाषा मे ज्यो का त्यो लिखा गया है और ढंग भी अच्छा है केवल कही-कही अप्रचलित शब्द अवश्य आ गए है अथवा कही-कही व्याकरण की अशुद्धि और छापे की अशुद्धियाँ मिल जाती है।[4] इसे उन्होने विशेष दोष नही माना है। उन्होने इस बात को अनुवाद की कसर, भूल, आलस्य या दोष माना है, क्योकि उसने उन अग्रेजी कविताओ के उन शीर्षक छन्दो का अनुवाद नही किया जिन्हे ग्रन्थकर्ता ने प्रत्येक परिच्छेद के आदि मे सग्रहीत और सन्निवेशित किया है। उन्होने अपने मित्र से आशा रखी है कि वे पुनरावृत्ति मे इस न्यूनता को मिटा कर

---

१. आनदकादम्बिनी; कार्तिक १९३८ विक्रमी, सदर्भ प्रेमघन सर्वस्व, भाग २, पृष्ठ ३४.

२ प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, बग विजयता की आलोचना, पृष्ठ ४४५.

३. प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, बग विजयता की आलोचना, पृष्ठ ४४१.

४. ,, ,, ,, ,, ४४१.

विशेषता का सम्पादन करे। अन्त मे अनुवादकर्त्ता के परिश्रम को सफल बतला कर उपन्यास को सर्वतोभावेन उत्तमोत्तम कहा है और आगे चल कर उसके गुण-दोष को साधारण रीति से प्रकाशित करना उचित समझा है।

३१ प्रेमघनजी ने उक्त उपन्यास के कुल ३५ परिच्छेदो मे से मुख्य-मुख्य विषयो की आलोचना की है और यथावसर अपना उचित परामर्श भी दिया है। जैसे प्रथम परिच्छेद का पूर्व भाग जो पचम पृष्ठ के आधे में समाप्त होता है और जिसमे बग देश का इतिहास लिखा गया है, हमारी जान गहा पर न लिखा जाना चाहिए क्योकि वह उपन्यास का कोई अग नही है यह ऐतिहासिक विज्ञप्ति भूमिका द्वारा प्रकाशनीय है।[2] कुछ परिच्छेदो की पूरी प्रशसा की गई है। बीच-बीच मे दोष-दर्शन की प्रवृत्ति भी मिलती है। निष्कर्ष यह है कि प्रेमघनजी के मतानुसार ग्रन्थ नि सन्देह उत्तम श्रेणी का है, क्योकि कथा अत्यन्त उत्तम है और प्रबन्ध भी मनोहर है। अन्त मे लेखक ने अपने परमादर प्रिय ग्रन्थकर्त्ता को धन्यवादित और अपने मित्र अनुवादक के कृतज्ञ होकर समालोचना की समाप्ति की है।[3]

नीलदेवी की समालोचना

३२ यह एक पृष्ठ से अधिक आकार मे नही है। वास्तविक अर्थ मे इसे समालोचना कहा भी नही जा सकता। यह केवल साधारण परिचय के रूप मे है। नीलदेवी प्रेमघनजी के परम प्रिय मित्र बाबू हरिश्चन्द्र-रचित ऐतिहासिक दुखान्त गीत-रूपक है, जिसमे राजा सूरजदेव की रानी नीलदेवी की वीरता का चित्रण हुआ है। रूपक के प्रबन्ध और रचना मे कुछ दोष होते हुए भी प्रेमघनजी उसके केवल गुण-कथन को दृष्टिगत रख कर ही समालोचना-कार्य मे प्रवृत्त हुए हैं। यह आलोचना पौष सवत् १९३८ मे आनन्द कादम्बिनी मे प्रकाशित हुई थी जिसके अन्त मे लेखक ने उक्त नाटक के नवम दृश्य का एक पद्य उद्धृत कर उसकी गुण गरिमा पर मोहर लगाने का सा प्रयत्न किया है।

उर्दू बेगम की आलोचना

३३. इस आलोचना के आरम्भ में प्रेमघनजी ने पुस्तक के लेखक, आकार, मूल्य और पृष्ठो का विवरण देकर उसकी भाषा के विषय मे अपने विचार प्रकट किए हैं। यह प्राय: दो पृष्ठो मे लिखी गई है। वस्तुत: इसे भारतेन्दु-युग की आलोचना का सामान्य स्वरूप कहा जा सकता है। आलोचना के अन्त मे लेखक ने पाठकों के परिज्ञानार्थ मूल पुस्तक के कुछ उद्धरण दिए हैं जो गद्य और पद्य दोनों में हैं। इससे समालोचना का कोई आदर्श प्रतिमान नही मिलता। उसका प्रमुख अश इस प्रकार है :

"उर्दू और हिन्दी भाषाओं के सम्बन्ध मे एक कहानी जो उपन्यास की भाँति लिखी गई है। इसके ग्रन्थकर्ता बा० भगवानदास, बी० ए० होने के अतिरिक्त एक योग्य और हमारे परिचित सज्जन हैं, तथापि जो कि वह स्वय अपना नाम छिपाते हैं अतएव हम भी उसे नही बताते हैं। पुस्तक आठ पेजी रायल आकार के १३३ पृष्ठो की है। कागज तथा छपाई भी अच्छी, मूल्य आठ आना और प्रबन्ध भी अच्छा है।

"पुस्तक की मुख्य भाषा बोलचाल की उर्दू है। कहीं-कहीं नागरी भाषा भी हिन्दी के वार्तालाप मे आ गई है। कुछ स्थानो पर भोजपुरी हिन्दी भी लिखी गई है जो अधिक अशुद्ध है।

१. प्रेमघन, सर्वस्व, द्वितीय भाग, वंग विजयता की आलोचना, पृष्ठ ४४१.

२. वही, पृष्ठ ४४१.

३. वही, पृष्ठ ४४५.

यद्यपि और भी स्थानो पर कई प्रकार की अशुद्धियाँ रह गई हैं, परन्तु अनेक स्थानों की लिखावट बहुत अच्छी है। व्यंग्य और विनोद प्रायः अधिकतर स्थानो मे वर्तमान हैं जिससे कही-कही पढने वालों की हँसी नही रुकती। कथा का आरम्भ बहुत उत्तम रीति से हुआ है। कविता का अंश भी कही-कही प्रकाशित होता और उसके गुण भी लखाई पडते हैं। छन्द भी कई उर्दू और कई हिन्दी के मिलते है जिनमे कई अच्छे भी हैं। किसी-किसी मे नयापन, जिन्हे कदाचित् कुछ लोग अरुचिकर कहेगे, रखा गया है। और कही-कही अश्लीलता भी आ गई है। कही विद्या-विषयक बातें और कही शिक्षा का अंश भी आया है और प्रायः वाक्यो मे तुकबन्दी की गई है। साराश पुस्तक एक प्रकार से अच्छी कहने योग्य हैं। प्रणेता का यह प्रयत्न प्रथम है, यदि यह नागरी भाषा मे अपनी लेखनी से भविष्य मे और कार्य लेगे तो अवश्य ही निज मातृभाषा का उपकार कर सकेगे।"[1]

समालोचना के अन्यान्य विषय

३४ वैसे तो प्रेमघनजी ने साहित्यिक पुस्तको पर समालोचनाएं लिखी ही हैं, किन्तु एक कुशल सम्पादक और युगधर्मी विचारक के रूप मे भी उन्होने राजनीतिक, सामाजिक तथा अन्यान्य समसामयिक परिस्थितियो का विवेचन अपनी आलोचनाओ के अन्तर्गत किया है। उन्होने 'नागरी भाषा' (या इस देश की बोलचाल की भाषा)[2] पर जो निबन्ध लिखा था, वह हिन्दी के क्रमिक विकास और उसके प्रादुर्भाव का रेखाचित्र-सा उपस्थित कर देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके समय मे भी भाषा की समस्या जटिल होने लगी थी और हिन्दी का विरोधी वर्ग उसके अस्तित्व को शकापूर्ण दृष्टि से देखता हुआ हिन्दी और हिन्दुस्तानी की सम्मिलित खिचड़ी पकाने के लिए आकुल हो रहा था। प्रेमघनजी ने अनेक तर्कों द्वारा हिन्दी के स्वतन्त्र अस्तित्व की घोषणा की और अपने समर्थन में भाषा-वैज्ञानिक के रूप में प्रमाण भी दिए।[3] यद्यपि उनका यह सम्पादकीय वक्तव्य विशुद्ध साहित्यिक समालोचना का स्वरूप नही है, फिर भी इसमे सैद्धान्तिकता का जो निरूपण हुआ है वह उस युग को देखते हुए अत्यन्त विकासोन्मुख है। इसी प्रकार 'हिन्द, हिन्दू और हिन्दी'[4], 'हमारी प्यारी हिन्दी'[5], 'हमारे देश की भाषा और अक्षर'[6], 'देश के अग्रसर और समाचारपत्रो के सम्पादक'[7], 'पुरानी का तिरस्कार नई का सत्कार'[8], 'नागरी के पत्र और उनकी प्रणाली, नागरी समाचार-पत्र और उनके सम्पादको का समाज'[9], 'भारतीय नागरी भाषा' शीर्षक निबन्ध उनकी समालोचक-प्रज्ञा से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष विधि से सम्बद्ध होकर ही लिखे गए हैं। उन्होने कजली, कुतूहल और कजली की कुछ व्याख्या मे भी अपनी विवेचनात्मक समालोचना-पद्धति का परिचय दिया है। तृतीय साहित्य सम्मेलन के कलकत्ता-अधिवेशन के सभापति के रूप में दिया गया उनका भाषण भी हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास का सक्षिप्त दिग्दर्शन कराने मे यथेष्ट समर्थ है।

संयोगिता-स्वयम्बर और उसकी आलोचना

३५ प्रेमघनजी की सयोगिता-स्वयंबर और उसकी आलोचना को भारतेन्दु-युग अथवा

---

१. प्रेमघन सर्वस्व, भाग २, उर्दू बेगम की आलोचना, पृष्ठ ४५४.
२. आनन्द कादम्बिनी, भाद्रपद, १९३८ वैक्रमीय।
३ प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, पृष्ठ ६७.
४. नागरी नीरद, आश्विन, १९५१ वै०।
५. नागरी नीरद, कार्तिक, १९५१ वै०।
६. नागरी नीरद, १९५२ वै०। ~~७६~~ १९५४
७. आनन्द कादम्बिनी, फाल्गुन १९५१।
८. आनन्द कादम्बिनी, फाल्गुन १९५०।
९. आनन्द कादम्बिनी, श्रावण १९६३ वै०

आधुनिक हिन्दी-समालोचना के प्रवर्त्तन-काल की आदर्श आलोचना कहा जा सकता है। यद्यपि इसकी रचना भी पुस्तकालोचन-प्रणाली में ही हुई है फिर भी इसमें ऐतिहासिक, निर्णयात्मक और विश्लेषणात्मक प्रवृत्तियों का भी समावेश हो सका है। इस प्रकार की आलोचनाएँ उस काल में बहुत कम लिखी जाती थीं। इसका प्रारम्भ, मध्य और अन्त इतना सधिक सधा हुआ है कि लेखक को इतस्तत भ्रमित होने का बहुत कम अवसर मिला है और वह अपनी धुन में पुस्तक की समालोचना परम निर्भीकता से करता गया है। इसमें प्रेमघनजी की वैयक्तिक अभिरुचि और समालोचना विषयक मान्यताओं का भी पता चल जाता है। साथ ही साथ इस विषय का आभास हुए बिना भी नहीं रहता कि उस काल में समालोचना-साहित्य की क्या अन्तर्दशा थी और हमारे प्रारम्भिक समालोचक किन-किन प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर समालोचन-कार्य करते थे। प्रेमघनजी ने अपनी युग-परिस्थिति का विवेचन भी इस समालोचना के अन्तर्गत किया है। समालोचना के प्रारम्भ में उन्होंने पुस्तकालोचन की जिस सामान्य प्रणाली का आधार लिया है, वह परिचयात्मक है और आज भी प्राय उसी रूप में पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक उसका प्रयोग करते है। जैसे वे लिखते है

"यह ऐतिहासिक नाटक श्री लाला श्रीनिवासदासजी कृत सारसुधानिधि यन्त्र में मुद्रित पण्डित सदानन्द मिश्र द्वारा प्रकाशित, जिसका मूल्य छ आना है, भारतेन्दुजी द्वारा मुझे समालोचनार्थ मिला।"[1]

युग-प्रवृत्ति का विश्लेषण और प्रतिमान-निरूपण

३६. ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में समालोचना भी साहित्य की प्रमुख विधा समझी जाने लगी थी और पत्र-सम्पादक पुस्तकों को एक-दूसरे के पास समालोचनार्थ भेजा करते थे। प्रेमघनजी की समालोचनाओं का उस युग में निश्चय ही विशेष महत्त्व था, तभी तो भारतेन्दुजी ने संयोगिता-स्वयंवर नामक नाटक उनके पास समालोचनार्थ भेजा था। प्रेमघनजी ने उस नाटक की जैसी समालोचना की है, वैसी उनकी अन्य समालोचनाएँ बहुत कम हो सकी है। नाटक की समीक्षा करते समय उन्होंने नाट्यशास्त्र के अनुकूल रस, पात्र, कथोपकथन, कथावस्तु आदि सैद्धान्तिक आधारों का भी उपयोग किया है और वे उसकी बारीकियों में भी जाने में प्रयत्नशील रहे है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उनकी दृष्टि सर्वत्र सन्तुलित और निष्पक्ष रही है, क्योंकि इस प्रकार की प्रवृत्ति तो मनुष्य की स्वाभाविक मनोदशा के अनुरूप होनी किसी भी युग में सम्भव नहीं है, फिर भी चौधरी साहब ने अपनी ओर से यही प्रदर्शन करने का प्रयास किया है कि वे अपने समालोचन कर्त्तव्य के प्रति विशेष सजग है और उन्होंने उक्त नाटक के जो दोषानुसधान किए है, वे किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह अथवा दुराग्रह से सवलित नहीं है।

३७. प्रेमघनजी की उक्त नाटक की समालोचना द्वारा यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि उस युग में समालोचना का मानदंड कैसा था और समालोचक साधारणतया कितना पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण लेकर चलते थे। संभवतः प्रेमघनजी के पूर्व भी सयोगिता स्वयंवर की समालोचनाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थी, जिनकी मूल दृष्टि केवल स्तुत्यात्मक ही रही और जिनमे पुस्तक का वास्तविक मूल्यांकन बहुत कम किया गया। यही कारण है कि प्रेमघनजी को इस पुस्तक की समालोचना करने के पूर्व इसके समालोचकों की समालोचनाओं की समालोचना करने की आवश्यकता जान पड़ी।[2] प्रेमघनजी को उक्त नाटक की अन्य समालोचनाओं में केवल खुशामद और चापलूसी का ही प्रतिमान दृष्टिगोचर हुआ है जिसके कारण समालोचक नाटककार को सातवें

१. प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, पृष्ठ ४२३।
२. ,, ,, ,, ,, ,, ४२३।

आसमान पर आसीन करने के लिए बिना किसी सोच-विचार के उद्यत हो गए है।[1] प्रेमघनजी ने उनकी बडी कुत्सा की है और इस प्रकार की एकागी निर्णयात्मक प्रक्रियाओ को साहित्याभिवृद्धि के मार्ग का व्यवधान माना है। ऐसा करते हुए उनका दृष्टिकोण अत्यत कटु और प्रखर भी बन गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आगे चलकर आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जिस आधार-शिला पर अपनी समालोचनाओ का स्वरूप-विधान किया था, उसका अन्तर्सूत्र प्रेमघनजी की इस समालोचना मे अनुस्यूत है। इसमे प्रेमघनजी की निर्भीकता, दृढता, वैयक्तिक दृष्टि और विचारधारा की झलक पूर्णरूपेण अभिव्यक्त है। अपने मुख्य विषय का प्रतिपादन करने के पूर्व उन्होने अपना दृष्टिकोण इन शब्दो मे प्रकट किया है :

"हम बहुत विस्तार के भय से उसे छोड केवल ग्रन्थ पर अपनी खरी और यथार्थ सम्मति प्रकट करना चाहते है, जिससे न हमारी यह इच्छा है कि ग्रन्थ-कर्ता व उसके अनुरागी और खुशामदी समालोचको का दिल दुखे, परन्तु हॉ, यह अवश्य कि ग्रन्थ का यथार्थ भेद जान पडे। इसमे सन्देह नही कि कथानक का बीज इसका बहुत ही उत्तम था और अन्य ग्रन्थो से सहायता भी यथोचित मिली। (बल्कि हम भी इसे नाटक-रचना के योग्य सोचते थे, ग्रन्थ पाते ही प्रसन्न हुए कि बेमिहनत मतलब मिला) परन्तु ग्रन्थ-प्रबन्ध और नाटक-रचना इसकी बिलकुल ही निकम्मी निकली।"[2]

समालोचना की प्रणाली

३८ यहॉ इस बात का सकेत कर देना भी आवश्यक है कि प्रेमघनजी के पूर्व इस नाटक की समालोचनाएँ अनेक पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हुई थी, किन्तु उन्हे 'हिन्दी-प्रदीप' की सच्ची समालोचना[3] ही ठीक ठिकाने की लगी। अतएव वे उसकी नाट्य-रचना के बहुतेरे दोषो का विस्तार पिष्टपेषण-मात्र समझकर केवल प्रधान और विशेष दोषो को अलग-अलग दिखलाने मे प्रवृत्त हुए हैं। विवेचन के प्रारम्भ से ही प्रेमघनजी की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का आभास मिलने लगता है। कालान्तर मे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और पण्डित रामचन्द्र शुक्ल अपनी समालोचनाओ के बीच-बीच जिस प्रकार की गम्भीर चुटकियाँ लिया करते थे, वैसी प्रवृत्ति प्रेमघनजी मे भी मिलती है। उनका नाटक की समालोचना का प्रारम्भिक व्यग्य भी कितना तिलमिलाने वाला है :

"यदि यह सयोगिता स्वयम्बर पर नाटक लिखा गया, तो इसमे कोई दृश्य स्वयम्बर का न रखना मानो इस कविता का नाश कर डालना है क्योकि यही इसमे वर्णनीय विषय है, और अभिनय मे मुख्य आनन्ददायी, एवम् कवि के कविता दिखाने का मौका है। न एतबार हो तो रघुवश, अनेक रामायण, सीता-स्वयम्बर आदि मे देख लीजिये। फिर इसमे कथा की दो प्रणाली थी अर्थात् मुख्य द्वेष, दूसरी प्रीति। सो प्रथम तो कवि ने निशेष ही कर डाला और दूसरी का उचित रीति से निर्वाह न कर सका, पूर्वानुराग का तो नाम ही नही लिया, नायिका की प्रीति की कही झलक ही नही दिखाई, दिखाई भी तो बहुत ही बेहूदे तरह, करनाटकी का प्रवेश किया, परन्तु आशय और उद्योग ऐसा गुप्त रहा कि नही के बराबर हुआ।"[4]

"रस इसमे प्रधान दो थे, वीर और शृगार, अगी कौन है, यह कौन कहे ? सच तो यह है कि कोई रस कही पर उत्तमता से उदय नही हुआ, चित्त का चित्र किसी का ठीक नही उतारा गया और जहाँ इसका उद्योग भी किया। वीर को हिंजडे की पोशाक पिन्हाई और सती वा स्वकीया को वेश्याओ के शृंगार कर दिये। जहाँ शृगार का काम पडा आपने नीति और धर्म का उपदेश

---

१. प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, पृष्ठ ४२३।
२. ,, ,, ,, ,, ,, ४२४।
३. हिन्दी प्रदीप, अप्रैल १८८६, पृष्ठ १७-२१।
४. प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४२४।

दिया, जहाँ वीर का मौका आया वीभत्स किया, निदान साधारण रीति मे ग्रन्थ के अन्य अगों की छबि दिखाना चाहते है। उसमे भी यदि शब्दो की छोटी-छोटी भूल पर या छन्दो की बनावट के दोषो को दिखावें तो प्रति पक्ति नही तो प्रतिपृष्ठ तो कोई सर्वांग शुद्ध न मिलेगा, परन्तु हम उन्हें केवल लिखेंगे जो मुख्य है।"[१]

व्याख्यात्मकता और आत्मविवृति

३६ आगे चलकर प्रेमघनजी ने नाटक के नादी-पाठ से लेकर अन्त तक के छन्दों, अकों, गर्भाकों तथा दृश्यो की व्याख्यात्मक प्रणाली मे विशद् विवेचना की है और नाटक के भाषा-दोष सम्बन्धी दौर्बल्य तथा अभिनय हीनत्व आदि की भी सप्रमाण कटु आलोचना की है। ऐसा करते हुए उन्होने पृष्ठो, नाटको और स्थलो तक का हवाला दिया है और व्यग्य-वर्षण करने मे भी कोई कसर नही रखी है। उनकी विवेचन-शैली मे पण्डिताऊपन और शास्त्रीयता की झलक अधिक मात्रा मे व्यवहृत है। ऐसा लगता है कि प्रेमघनजी ने सयोगिता स्वयम्बर की आलोचना केवल उसकी दोषोद्भावना के लिए ही लिखी है और उन्हे उसमे किसी भी प्रकार की कोई विशेषता दृष्टिगोचर ही नही हुई है। कहा जा सकता है कि शुक्ल-युग मे श्री कृष्णानन्द गुप्त ने भी प्रसाद के दो नाटको की आलोचना ऐसी ही मनोवृत्ति से की थी। अपने विवेचन को पुष्ट बनाने के लिए प्रेमघनजी नाटक के उद्धरण और पृष्ठो का विवरण भी देते गये है।[२] एक-दो स्थलो पर तो उन्हे नाटक के कथोपकथन अग्रेजी नाटक मर्चेण्ट आफ वेनिस से उद्धृत किये हुए से दृष्टिगोचर हुए हैं।[३] समालोचक महाशय नाटक की ऐतिहासिक भूलो और असम्बद्ध प्रलापो का विश्लेषण करने से भी नही चूके है। साराश यह कि प्रेमघनजी को नाटक मे सर्वत्र दोष-ही-दोष मिले हैं, जो सम्भवत अन्यान्य प्रशसात्मक समीक्षाओ का प्रतिवर्तन हो। कहना होगा, समालोचना के प्रवर्त्तन-काल भारतेन्दु-युग मे इस प्रकार की विस्तृत और व्यावहारिक समालोचनाएँ बहुत कम लिखी गई थी। प्रेमघनजी द्वारा लिखित यह समालोचना कई स्थलो पर एकागी होने पर भी उस युग का मानसिक धरातल और समालोचनात्मक प्रतिमान हमारे सामने प्रस्तुत कर ही देती है।

स्तर-निर्णय और समालोचना की पार्श्व-भूमि

४०. अभी तक प्रेमघनजी की जिन समालोचनाओ का विवेचन किया गया है, उनसे यह आभास हो जाता है कि उस युग को देखते हुए उनका स्तर किस प्रकार का था। और चाहे कोई कुछ भी कहे, प्रेमघनजी को अपनी समालोचनाओ का प्रतिमान निश्चय ही उच्चतर लगता था। उन्होने 'पत्रिका की प्रार्थना' शीर्षक लघु निबन्ध में इस बात का सकेत किया है कि उन्होने सब मिलाकर छब्बीस ग्रन्थो पर समालोचना भी की, लेकिन ऐसी नही कि पुस्तक में इतने पृष्ठ है या यह मूल्य है, यहाँ मिलती है किन्तु ग्रन्थ का तत्त्व खिचा हुआ अपक्षपात सम्मति जिसे 'रिविउ' कहते हैं।[४] इस उद्धरण से प्रेमघनजी का अपनी समालोचनाओ के प्रति दृष्टिकोण प्रकट होता है। यद्यपि प्रेमघनजी ने अपनी समालोचनाओ को अपक्षपात सम्मति से युक्त रिव्यू कहा है, किन्तु ऐसा निर्णय देते हुए वे अपने साथ भी पक्षपात कर गये हैं। इसका कारण यह है कि उनकी समालोचनाओ में भी अनेक स्थलों पर उनकी एकागी मनोवृत्ति अभिव्यक्त हुए बिना नही रह सकी है। यह बात अवश्य है कि उन्होंने आनन्दकादम्बिनी से समालोचना का जो सूत्रपात माना है वह विशेष तथ्य-

१. प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४२४।
२. प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, पृष्ठ ४२५-४३२।
३. प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, पृष्ठ ४३३।
४. प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, पृष्ठ ४६२।

पूर्ण है क्योंकि वास्तव मे उन्ही के द्वारा आधुनिक ढग की समालोचना-पद्धति का प्रवर्तन हिन्दी-साहित्य मे हुआ था और वह वस्तुत रिव्यू अथवा पुस्तकालोचन का ही स्वरूप था।[1]

पार्श्व-भूमि का निरूपण

४१. प्रेमघनजी की समालोचनाओ से उनकी वैयक्तिक मान्यताओ के साथ-साथ एक तत्त्वोपलब्धि यह भी होती है कि वे रचनात्मक और विचारात्मक साहित्य की सवर्धना मे समालोचना का अपेक्षित महत्त्व अनिवार्यत समझते थे। उन दिनो साहित्य-निर्माण और प्रचार के प्रमुख साधन पत्र-पत्रिकाओ मे जिस विकृत परम्परा मे समालोचना का उद्भावन होता था, वह उन्हे अत्यधिक मनस्ताप पहुँचाता था। 'नागरी के समाचार-पत्र और उनकी समालोचना'[2] शीर्षक निबन्ध मे उन्होने तत्कालीन समालोचना की असन्तुलित प्रवृत्ति और समालोचको की दूषित मनोवृत्ति का जो विवरण दिया है, वह उनके समालोचना-विषयक दृष्टिकोण का परिचायक है। 'नागरी के पत्र और उनकी विवाद-प्रणाली'[3] के विवेचन मे उन्होने सच्ची समालोचना का जो महत्त्व निर्धारण किया है, वह मनन करने योग्य है। उनके जीवन-काल मे ही 'भारतमित्र' और 'सरस्वती' के सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त और प० महावीरप्रसाद द्विवेदी के बीच भाषा और व्याकरण को लेकर जो अशोभनीय वाद विवाद अथवा आलोचन-प्रत्यालोचन का सिलसिला बहुत दिनो तक चलता रहा, उसका विश्लेषण उन्होने 'नागरी समाचार-पत्र और उनके सम्पादकों का समाज' शीर्षक अधिलेख मे किया है। वैसे तो वह अधिलेख विशुद्ध समीक्षण न होकर केवल परामर्श प्रदान करने के लिए ही लिखा गया है, किन्तु उससे यह अवश्य ध्वनित हो जाता है कि प्रेमघनजी मे समालोचक के स्वस्थ दृष्टिकोण का ऐसा प्राचुर्य था, जिसके कारण वे इस प्रकार की थूँका फजीहत को विद्वद्-समाज के लिए कलकपूर्ण समझते थे। उक्त वाद-विवाद का जो दुष्प्रभाव तत्कालीन हिन्दी पत्र-जगत् और साहित्य-ससार पर पडा, उसका प्रेमघनजी को अत्यधिक क्षोभ हुआ है। उनका तो स्पष्ट निर्णय है कि "यद्यपि विवाद का विषय व्याकरण था, किन्तु उक्त व्याकरण से इस विवाद का बहुत ही न्यून सम्बन्ध रहा। हाँ, परस्पर एक दूसरे के लेखो की अशुद्धियाँ निकालने और उन्हे स्वय व्याकरण से अनभिज्ञ प्रमाणित करने पर अधिक प्रयास किया गया और उससे भी अधिक दुर्वाच्यो और कटु भाषण मे।"[4]

४२. निष्कर्ष यह है कि प्रेमघनजी ने पत्र-सम्पादक के रूप मे साहित्यिक समालोचनाएँ अधिक नही लिखी है, किन्तु उस युग के स्तर को देखते हुए उनका स्थायी महत्त्व है। सच तो यह है कि उस समय नूतन विधि मे रिव्यू के रूप मे समालोचनाओ का प्रारम्भ ही हुआ था, अतः पत्र-सम्पादक उनकी ओर विशेष ध्यान न देकर सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक विषयो पर ही प्राय समालोचनाएँ लिखते अथवा टीका-टिप्पणियाँ करते थे। प्रेमघनजी ने भी अधिकाशतः ऐसा ही किया। उस समय भारतीय समाज मे नव-जागरण का जो शख-निनाद हो रहा था, उसका प्रभाव उनकी विचारधारा पर भी बहुत पडा और वे समाज-सुधार की भावना से प्रेरित होकर हिन्दू समाज और देशोन्नति से सम्बन्धित अनेक लेख भी लिख सके। उनके निबन्धो मे व्यग और विनोद का जो सम्मिलन रहता था, वह वस्तुत अपूर्व है। उसका प्रभाव उनकी साहित्यिक समालोचनाओ पर भी पड़ा है। 'बेसुरी तान'[5] शीर्षक लेख मे उन्होने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी की जो आलोचना की है

१. उनके कुछ समय पूर्व प० बालकृष्ण भट्ट 'हिन्दी प्रदीप' द्वारा समालोचना का श्रीगणेश कर चुके थे। दे० प० बालकृष्ण भट्ट।
२. प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, पृष्ठ ४४६-४५३।
३. प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, पृष्ठ २८४,६५।
४. आनन्द कादम्बिनी, श्रावण, १९६३ वैक्रमीय।
५. आनन्द कादम्बिनी, आश्विन, १९३८ वैक्रमीय।

वह उनकी सजीदगी और आत्मनिष्ठा से ओतप्रोत है। इसी प्रकार उन्होने हिन्दी-उर्दू समस्या को लेकर उर्दू पर जो व्यग्य-वर्षण किया है, वह भी अत्यन्त कठोर है। अपने समकालीन साहित्य की समालोचना करने मे प० बालकृष्ण भट्ट को छोड कर प्रेमघनजी के समान अन्य कोई समालोचक उस युग मे हुआ ही न था। ऐसी परिस्थिति मे मुझे तो यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि प्रेमघनजी आधुनिक हिन्दी समालोचना के प्रवर्तन-काल के ऐसे जागरूक प्रहरी है, जिनकी समालोचनाओ मे भावी विकास के अनेक तत्त्वो का सुन्दर समावेश है।

(३) प० बालकृष्ण भट्ट

व्यक्तित्व विश्लेषण

४३. भारतेन्दु-मण्डल के अन्तर्गत पं० बालकृष्ण भट्ट का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रखर और तेजस्वी है। उनका स्वरूप केवल साहित्यकार का ही न होकर अपने युग के प्रमुख पत्रकार, समाज-सुधारक और रचनात्मक कार्यकर्त्ता का भी था। पत्रकार के रूप मे उन्होने जितने समय तक विषम परिस्थितियो का सामना करते हुए 'हिन्दी प्रदीप' का सचालन सितम्बर, सन् १८७७ से किया, वह पत्र-जगत् मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। उनकी लेखनी मे ऐसी अद्भुत शक्ति थी, जिसके सम्मुख विरोधी पक्ष को पैर जमाने मे बडी कठिनाई होती थी। वे भारतेन्दु-युग से लेकर द्विवेदी-युग के प्रारम्भ तक जीवित रहे और उन्होने सदैव साहित्याराधन को अपना अखण्ड व्रत बनाए रखा। उनकी सृजनात्मक प्रतिभा ने हिन्दी साहित्य मे ऐसे अनेक लेखको और कवियो को जन्म दिया, जो उनके परवर्त्ती युग मे साहित्य का नेतृत्व कर सके। आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी, प० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास तथा राजर्षि पुरुषोत्तमदास टडन आदि भट्टजी के प्रशसको मे से है और उन्होने साहित्य-सृजन मे उनसे मार्गदर्शन तक प्राप्त किया है। उनके व्यक्तित्व मे यह एक विशेष बात है कि उनके जीवन-काल मे कदाचित् ही कोई उनका विरोधी रहा हो और न आज भी कोई है। उन्होने जो कुछ लिखा, बडी दृढता और प्राजलता से लिखा। पत्र-सम्पादक के कर्त्तव्य का पालन करते हुए उन्होने समसामयिक विषयो पर भी लिखा और साहित्य को नई दिशा भी दिखलाई। वैसे वे सस्कृत के प्राध्यापक भी थे, किन्तु उनके विचार बहुत ही उदार और अग्रगामी थे। उन्होने परम्परायुक्त संकीर्णता का सदैव विरोध किया और सुधारवादी दृष्टिकोण से साहित्य रचना की। एक कुशल सम्पादक के रूप मे उन्होने युग-चेतना की परीक्षा कर राष्ट्र-सेवा का अखण्ड व्रत भी निभाया। वस्तुत वे भारतेन्दु-मण्डल के एक ऐसे देदीप्यमान नक्षत्र है, जिनकी प्रभा साहित्य-गगन को सदैव आलोकित करती रहेगी। हिन्दी-समालोचना के विकास मे तो वे प्रेमघन जी के साथ-साथ अपना अत्यधिक महिमामय स्थान रखते है। यहाँ तक कि आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल की विचारधारा मे वे आधुनिक हिन्दी-समालोचना के जन्मदाताओं में से एक हैं।

समालोचनात्मक प्रवृत्ति

४४. भट्ट जी का साहित्यिक व्यक्तित्व व्यापक और प्रतिभा बहुमुखी थी। पत्रकार, निबन्ध-लेखक, कथाकार, नाटककार और सामयिक विचारक के साथ-साथ वे उच्च कोटि के समालोचक भी थे। यद्यपि उन्होने अन्य कृतियो की अपेक्षा साहित्यिक समालोचनाएँ कम लिखी है, फिर भी 'हिन्दी-प्रदीप' की फाइलो तथा उनके प्रकाशित निबन्ध-सग्रहो से जो कुछ भी एतद्विषयक उपलब्धि हुई है, उससे उनके स्वतन्त्र चिन्तन और मौलिक निरूपण का अनुमान लगाना कठिन नही है। उनकी समालोचनाओ मे स्थल-स्थल पर कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे परवर्त्ती साहित्यकारो को भी मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है और वे उनके विचारों से प्रभावित भी हुए है। भट्टजी की समालोचनाओं की

एक विशेषता यह भी है कि वे लम्बाकार होने पर भी अत्यन्त गम्भीर और चुटीली है। उनकी समालोचनाओं का एक अंग उनके वे साहित्यिक निबन्ध है, जिनमे उन्होने साहित्य के सैद्धान्तिक पक्ष का विश्लेषण किया है। यह एक उल्लेखनीय बात है कि भट्ट जी सस्कृत काव्यशास्त्र के ज्ञाता होने के साथ-साथ अत्यन्त उदार भी थे और अन्य पण्डितो की भाँति केवल परम्परायुक्त शास्त्रीयता और संकीर्ण मनोवृत्ति का ही पल्ला पकड कर नही चलते थे। उन्होने अपनी विचारधारा मे सामयिक और सतुलित चिन्तन को सदैव महत्त्व दिया। उनका साहित्य और काव्य आदि विषयक विवेचन अत्यन्त व्याख्यात्मक है, जिसमे शास्त्रीय सैद्धान्तिकता का दुराग्रह न होकर उन्हे जीवन की भूमिका मे ग्रहण करने का प्रयत्न है। उन्होने समसामयिक पुस्तको पर अन्यान्य पत्र-सम्पादको की भाँति बुक रिव्यू या पुस्तकालोचन भी किया है। 'सयोगिता स्वयम्बर' की जिस आलोचना के कारण प्रेमघनजी को आधुनिक समालोचना के प्रवर्त्तन-काल मे इतना अधिक महत्त्व दिया जाता है, उस पर उनके पूर्व भट्टजी अपनी लेखनी चला चुके थे। स्वय प्रेमघन जी ने अपनी उक्त समालोचना के अन्तर्गत इसका सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है।[1] निश्चय ही भट्टजी ने भारतेन्दु-युग मे समालोचना का सर्वप्रथम प्रवर्त्तन किया था। सन् १८७८ मे लाला श्रीनिवासदास रचित 'रणधीर प्रेम-मोहिनी' नाटक की आलोचना[2] करने के पूर्व वे अपने उसी पत्र मे 'चन्द्रसेन तथा गुरु गोवर्द्धनदास के अभिनय की आलोचना'[3] प्रकाशित कर चुके थे। इस प्रकार उन्हे वास्तविक अर्थ मे आधुनिक हिन्दी-समालोचना का प्रवर्त्तक मानना सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है।

समालोच्य क्षेत्र और भाषा-विषयक मान्यता

४५. भट्टजी की समालोचना का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। उसमे राजनीति, धर्मनीति, समाजसुधार, राष्ट्रभक्ति, स्वातन्त्र्य प्रेम आदि विभिन्न विषयो का समावेश था। साहित्यिक आलोचना तो केवल उसका अंगमात्र था। यही कारण है कि उन्होने अपने युगजीवन से अधिक प्रगतिशील रहकर जितना विवेचन उक्त विषयों का किया, उतना साहित्य-समालोचना का नही। साहित्य-समालोचना से सम्बन्धित भी उन्होने जितने निबध लिखे, उन सब मे उनका वही सुधारपूर्ण यथार्थवादी दृष्टिकोण झलकता है। साहित्य को जनसमूह के हृदय का विकास कह कर तथा उसे इतिहास आदि विषयो से स्वतन्त्र और उच्च सत्ता प्रदान कर उन्होने उसे हमारे सामाजिक जीवन के साथ सम्बद्ध करके देखा है।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि भट्टजी अपनी विचारधारा मे बहुत सुलझे हुए व्यक्ति थे और उन्हे भाषा साहित्य का जैसा विधान समीचीन प्रतीत हुआ, उन्होने उसे उसी रूप मे अभिव्यक्त कर दिया। उन्हे यह बात बिलकुल पसन्द न थी कि हमारे समालोचक भाषा-विषयक उलझनो मे पडकर उसे यन्त्रणा-ग्रस्त बना दे। उन्होने जीवन और साहित्य की भाँति भाषा को भी परिवर्तनशील माना और उसे व्यर्थ के रूढिग्रस्त व्याकरणपरक बन्धनो से मुक्त रखने मे ही उसका कल्याण समझा। वे हिन्दी और उर्दू को अलग-अलग न मान कर एक दूसरी से अतर्सबद्ध समझते थे।[5] एक प्रकार से उन्हे उर्दू हिन्दी का रूपान्तरमात्र लगती थी। उन्होने भाषा विषयक सदैव उदार दृष्टि रखी और वे इस फेर मे बिलकुल नही पडे कि शब्द-प्रयोग मे केवल तत्समता का ध्यान रख कर ही चलना सर्वथा समीचीन है। वे भाषा की पाचन-शक्ति के महत्त्व को जानते थे और स्वाभाविक क्रम मे देशी-विदेशी शब्दो का प्रयोग करने मे किसी प्रकार की मानहानि नही समझते थे। उनके भाषा-विषयक विचारो

१. 'प्रेमघन सर्वस्व'; द्वितीय भाग, सयोगिता स्वयम्बर की आलोचना, पृष्ठ ४२४।

२. हिन्दी-प्रदीप, मार्च, १८७८, पृष्ठ १६।

३ ,, ,, अक्तूबर, १८७७, पृष्ठ १२।

४ ,, ,, जुलाई सन् १८८१ पृष्ठ, १५ २०।

५ ,, ,, फरवरी सन् १८८५, पृष्ठ ६।

का सबसे बडा साधन उनकी अपनी निजी भाषा है। उन्होने भाषा-सम्बन्धी विचार और एतद् विषयक जो समालोचनाएँ लिखी, उनका अनुमान उनके भाषाओ का परिवर्तन[१], ग्रामीण भाषा[२] भाषा कैसी होनी चाहिए,[३] हिन्दी और नागरी,[४] भारतवर्ष की जातीय भाषा[५], खडी और पडी बोली का विचार,[६] हिन्दी की वर्तमान दशा,[७] शब्द परिचय[८], हिन्दी की पुकार[९], गुन आगरी नागरी[१०] और हमारी मातृभाषा[११] आदि निबन्धो के अध्ययन से लग सकता है। भाषा-विषयक ऐसे और भी अनेक निबन्धो का प्रकाशन 'हिन्दी-प्रदीप' के विभिन्न अको मे समय-समय पर हुआ था।

४६. जैसा कि पहले सकेत कर दिया गया है भट्ट जी की समालोचना युगजीवन के परिवेश से बहिर्गत नहीं थी और इसी कारण वे विशुद्ध कल्पनापूर्ण और कलात्मक समीक्षाएँ बहुत कम लिख सके। इसी प्रकार उनकी समालोचनाओ मे कतिपय निबन्धो तथा बुक रिव्यू को छोडकर व्यावहारिक समालोचना की स्वतन्त्र पुस्तक रचना भी नहीं मिलती है। उनकी भाषा-साहित्य विषयक समालोचनाएँ अधिकाशत सम्पादकीय टिप्पणियो के रूप मे ही लिखी गई है, जिनमे उन्होने अवसरानुकूल उनके सम्बन्ध मे अत्यन्त स्पष्टता के साथ अपना मन्तव्य प्रकट करने मे किसी प्रकार की कोई हिचक नही की है। उन्होने एक ओर जहाँ साहित्य के दायित्व का महत्वपूर्ण विवेचन किया है तो दूसरी ओर वे व्याकरण जैसे शुष्क विषय पर भी उपयुक्त क्रिया,[१२] उपयुक्त विशेषण और विशेष्य[१३], लोकोक्ति तथा सूक्तियाँ[१४], मुहावरे लोकोक्ति[१५], उपयुक्त उपमा[१६] देवनागरी अक्षरो की कमनसीबी, जैसे सामान्य विषयो पर भी लिखते गए है। उनके ऐसे शास्त्रीय और समालोचनात्मक निबन्धो से उनकी भाषा-विषयक नीति का अनुमान लगाना कोई कठिन कार्य नही रह जाता। अभिप्राय यह है कि भट्ट जी के मतानुसार भाषा सरल, सुबोध, स्वाभाविक और अभिव्यजनापूर्ण होनी चाहिए और उसके नैसर्गिक क्रम मे प्रयुक्त होने वाले शब्दो और वाक्य-रचनाओ पर किसी प्रकार का अस्वाभाविक नियन्त्रण नही होना चाहिए। और तो और, उनकी भाषा-विषयक उदारता का इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है कि उन्होने ग्रामीण शब्दो के साथ-साथ अंग्रेजी के उन शब्दो का भी खुल कर अपनी भाषा मे प्रयोग किया है, जिनकी व्यजना-शक्ति उन्हें अधिक आकर्षक और प्राणप्रद लगी थी।

१. हिन्दी प्रदीप, जून १८८५, पृष्ठ २-७।
२. ,, ,, जुलाई १८८५, पृष्ठ १-५।
३. ,, ,, जुलाई १८८५, पृष्ठ १-५।
४. ,, ,, फरवरी १८८५, ,, १८।
५. ,, ,, अक्तूबर से दिसम्बर १८८६।
६. ,, ,, जनवरी से अप्रैल १९०४।
७. ,, ,, जनवरी १८९२, पृष्ठ २१।
८. ,, ,, जनवरी से अप्रैल, १८९६।
९. ,, ,, नवम्बर १९०७ पृष्ठ, १९-२१।
१०. ,, ,, जून, पृष्ठ ८-१०।
११. ,, ,, फरवरी-मार्च १८९२, पृष्ठ ६-७।
१२. ,, ,, जनवरी से अप्रैल १९०४।
१३. ,, ,, अक्तूबर १८८५, पृष्ठ २१।
१४. ,, ,, नवम्बर १८८५, पृष्ठ ८।
१५. ,, ,, फरवरी-मार्च १८९२, पृष्ठ ५-६।
१६. ,, ,, जुलाई १८८३, पृष्ठ, १७-१९।

विचारों को उपजीव्य बनाकर अपना मत-निर्धारण किया है। भट्टजी लिखते हैं

"हिन्दी कवि भी उन्ही पुराने कवियो की शैली का अनुकरण कर आज तक चले आए हैं और उसी ढंग को छोड़ कोई दूसरे प्रकार की भी कविता हो सकती है, यह बात उनके मन में बसती ही नही। जिसकी उपमा हम एक छोटे-से तालाब की देंगे जिसमे न कहीं से पानी का निकास है न नया ताजा पानी उसमे आने की कोई आशा है। तब उसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि उसका पानी दिन दिन सड़ता ही जाय।"[1]

परिचयमूलक तुलनात्मक समालोचना

४९ भट्टजी की समालोचनाओ का एक महत्त्वपूर्ण अंग उनकी वे समालोचनाएं है, जिनमे उन्होंने संस्कृत-वाङ्मय के अमर रत्नो का जीवन-परिचय और ग्रन्थ-संकीर्तन किया है। जहाँ तक उन कवियो के जीवन-चरित्र लिखने का विषय है, उसमे उनकी कोई आलोचनात्मक प्रवृत्ति नही व्यंजित होती, किन्तु जहाँ उन्होंने उनके ग्रन्थो का विवेचन किया है, वहाँ उनकी समालोचनात्मक प्रज्ञा झलक ही जाती है। ऐसे कवियों में भवभूति, कालिदास, श्री हर्ष, क्षेमेन्द्र, वराहमिहिर, आनन्दवर्द्धनाचार्य, भट्टनारायण, राजशेखर, वाग्भट्ट बिल्हण, वाल्मीकि, व्यास, गोवर्द्धनाचार्य और जयदेव आदि प्रमुख है। भट्टजी ने संस्कृत के और भी अनेक कवियो और आचार्यो पर उसी प्रकार का विवरणात्मक परिचय दिया है, जिससे संस्कृत साहित्य के अनेक रत्नो से हमारा परिचय हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भट्टजी ने ये परिचय केवल इन कवियो की अभिज्ञता मात्र कराने के लिए लिखे है। इनमे किसी भी प्रकार की गम्भीर समालोचना का अभाव-सा है और ये एक प्रकार से टिप्पणियो के रूप मे ही हैं। हाँ, जहाँ कहीं उन्होंने दो कवियो के काव्य की तुलना की है वहाँ उनके विवेचन में कुछ गम्भीरता अवश्य आ गई है पर वह गम्भीरता भी उनका विशद् विश्लेषण करने में असमर्थ है। कालिदास और भवभूति[२] की तुलना इसी प्रकार की है। उनके उत्तरवर्ती द्विवेदी-युग मे द्विवेदीजी ने जिन संस्कृत कवियो और उनके ग्रन्थो की चर्चाएँ लिखी, उनके अंकुर हमें भट्टजी की इन परिचयमूलक समालोचनाओ मे मिलते है। साथ ही साथ यह भी कहा जा सकता है कि उनके परवर्ती युग मे पं० पद्मसिंह शर्मा ने जिस प्रकार की तुलनात्मक समालोचना को भव्यता प्रदान की उसके बीज भी भट्टजी की इन आलोचनाओं मे अन्तर्निहित थे, तो कुछ अनुचित नही होगा। इसके प्रमाण में भट्टजी की तुलनात्मक समालोचना का निर्देशक यह लघु उद्धरण पर्याप्त होगा जो उन्होंने कालिदास और भवभूति की तुलना करते हुए लिखा है :

"कालिदास की कविता के रसास्वाद को जो कदमें सना मक्खन का लड्डू कहे तो भवभूति की कविता के रस को मिश्री के टोरो से मिली बालाई ही कहना चाहिए।"[३]

तुलनात्मक समालोचना के कुछ गम्भीर पक्ष का आभास निम्नलिखित उद्धरण से लग सकेगा

"कालिदास से भवभूति इस बात में अलबत्ता विशिष्ट माने जा सकते है कि कालिदास चेष्टा करने पर भी दूसरा रस वैसा न लिख सके जैसा शृंगार रस लिखा, पर भवभूति ने वीर चरित्र मे वीरता को पूरी तरह पर दिखला दिया है और वे उस समय मे हुए जबकि कविता प्रौढ़ावस्था को पहुँच गई थी।"[४]

पुस्तकालोचन का स्वरूप

५० यह एक स्मरण रखने योग्य बात है कि आधुनिक हिन्दी-समालोचना का प्रवर्तन

१. हिन्दी प्रदीप, मार्च सन् १८८०।
२. हिन्दी प्रदीप, जून-जुलाई सन् १८८९।
३. हिन्दी प्रदीप, जून-जुलाई १८८९।
४. हिन्दी प्रदीप, जून-जुलाई सन् १८८९।

मुख्यतया बुक रिव्यू के रूप मे ही हुआ था और उस युग के प्राय. समस्त समालोचक, पत्र-सम्पादक थे, अतः उन्होने पुस्तक-परिचय और प्राप्ति-स्वीकार-स्तम्भ मे उपलब्ध पुस्तको की समालोचनाएँ की। भट्टजी के सामने भी ऐसी ही परिस्थिति थी। उनके हिन्दी-प्रदीप कार्यालय मे ऐसी अनेक पुस्तके समालोचनार्थ आती थी जिन पर रिव्यू लिखना उनका कर्त्तव्य था। उन पुस्तको मे कुछ तो उनके मित्र वर्ग की होती थी और कुछ अपरिचित लेखको की भी। भट्टजी एक कुशल सम्पादक के रूप मे उन पर अपना मन्तव्य प्रकट करते थे। हिन्दी-प्रदीप के अको के अध्ययन से पता चलता है कि भट्टजी ने पुस्तक-परिचय के रूप मे जो समालोचनाएँ लिखी है, वे मुख्यत दो श्रेणियो की थी। पहली श्रेणी मे तो केवल पुस्तक का सामान्य परिचय देकर ही अपने कार्य से छुट्टी ले ली जाती थी, और यदि कोई पुस्तक विशेष रुचिप्रद लगती तो उसका गुणगान कर पाठको को उसके अध्ययन की सुसम्मति दे दी जाती थी। स्पष्ट है कि इस प्रकार की आलोचनाएँ विज्ञापन-वृत्ति के अधिक निकट थी। भट्टजी ने इस श्रेणी की जो आलोचनाएँ लिखी हैं उनमे 'चन्द्रहास', तथा 'सब के गुरु गोवर्द्धनदास के अभिनय की आलोचना', लाला श्रीनिवासदास कृत 'रणधीर प्रेममोहिनी नाटक की आलोचना', 'मुद्राराक्षस की आलोचना', 'एकातवासी योगी, ब्रणविजेता तथा हिन्दी कालिदास की आलोचना', नैषधचरित चर्चा पर सुदर्शन का दश तथा रामलीला नाटक-मण्डली आदि की समालोचनाएँ प्रमुख है। इन समालोचनाओ मे केवल बाह्य धरातल पर परिचय-मात्र दिया गया है। जैसे—

"मुद्राराक्षस नाटक विशाखदत्त के सस्कृत नाटक का अनुवाद बाबू हरिश्चन्द्र-रचित। राजनीति की काट-छाँट दिखाने को यह नाटक एक ही है। हिन्दुस्तान के अद्वितीय पौलिटीशियन राजनीतिज्ञ चाणक्य के राजनीति-कौशल का सब मर्म इस दृश्य काव्य के द्वारा सागोपाग पूरी तरह पर प्रकट किया गया है। बाबू साहब ने बडे परिश्रम से भाषा भी इसकी ऐसी उत्तम और सस्कृत से जिसका यह अनुवाद है इतनी मिलती हुई लिखी है कि कदाचित् किसी दूसरे से सम्भव न था।' ··· बनारस लाइट प्रेस मे छापा गया।"[1]

समालोचना का भव्यादर्श

५१ भट्टजी की पुस्तक-परिचयमूलक आलोचना की दूसरी श्रेणी वह है जिसमे वे अधिक गम्भीर बनकर तत्कालीन कुछ कृतियो का विवेचन कर सके है। कहा जा सकता है कि जिस प्रकार उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन ने संयोगिता स्वयम्बर की विशद् आलोचना लिख कर समालोचना साहित्य के प्रवर्तन-काल भारतेन्दु-युग मे अपना विशिष्ट स्थान बना लिया, उसी प्रकार पं॰ बालकृष्ण भट्ट ने भी नील देवी[2], परीक्षागुरु[3] तथा सयोगिता-स्वयम्बर की सच्ची आलोचना[4] लिखकर अपने को भारतेन्दु-युग का सर्वश्रेष्ठ समालोचक सिद्ध कर दिया। उनकी इन तीनो आलोचनाओ मे व्याख्या, विवेचन, विश्लेषण तथा मूल्याकन के तत्त्व सम्मिलित हैं और ऐतिहासिक, निर्णयात्मक, शास्त्रीय, सैद्धान्तिक और प्रभावाभिव्यंजक आदि प्रणालियो के अन्त-सूत्रो का प्रयोग हुआ है। निश्चय ही इन आलोचनाओ मे भट्टजी का ध्यान रचनाओ के गुण-दोषो का विशद् विश्लेषण करने की ओर भी उन्मुख हुआ है। इस आलोचनाओ मे भट्टजी समालोच्य पुस्तको की तात्विकता को पाने के लिए गहराई तक गए है और उन्होने नाटकीय तत्त्वो से भी नाट्य-रचनाओ की आलोचनाएँ की है। भट्टजी की ये आलोचनाएँ भारतेन्दु-युग के सभी समालोचको की अपेक्षा अधिक प्राजल और विकासपूर्ण धरातल पर अधिष्ठित है। ऐसा

---

१. हिन्दी प्रदीप, अप्रैल १८८३, मुद्राराक्षस की आलोचना। २ हिन्दी प्रदीप, फरवरी १८८२, पृष्ठ १-३।

३ हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर १८८२, पृष्ठ १२-१३। ४. हिन्दी प्रदीप, अप्रैल १८८६, पृष्ठ १७-२१।

प्रतीत होता है कि आगे चलकर द्विवेदी-युग मे जिस प्रकार और प्रणाली की आलोचनाओ को कुछ प्रश्रय अथवा प्रतिष्ठा मिली थी, उनका अकुरण इन आलोचनाओ मे हो गया था और ये आलोचनाएँ निश्चय ही अनागत युग के लिए प्रेरणा और मार्गदर्शन का साधन बनी थी। इन आलोचनाओ मे गुण-कथन के साथ दोष-दर्शन की जो विधि प्रयुक्त है, वह हमारे विकासपूर्ण पुस्तकालोचन-विधा के बहुत निकट है और यदि यह कह दिया जाय कि भट्टजी ने इस प्रकार की समालोचनाएँ लिखकर निस्सन्देह युग-प्रवर्त्तक का कार्य किया है तो कुछ भी अनुचित न होगा। इस प्रकार की आलोचनाओ का स्वरूप-ज्ञान करने मे उनकी 'परीक्षा-गुरु की आलोचना' का निम्नलिखित उद्धरण उपयोगी सिद्ध हो सकेगा :

"इस उपन्यास की भाषा और प्लाट बल्कि दोनो बहुत कुछ सराहने के योग्य है। ग्रन्थकर्त्ता ने अंग्रेजी, फारसी, संस्कृत और विज्ञान मे अपनी लियाकत जहा तक हो सका भरपूर इसमे प्रकट किया है पर न जानिए क्यो हमे इस लेख मे एक प्रकार का रूखापन जँचता है। पदो का वह लालित्य और माधुर्य क्यो नही आया जैसा बाबू हरिश्चन्द्र के लेख मे होता है। नाटक या उपन्यास के प्रधान अंग शृंगार, हास्य कभी-कभी वीर और करुण होते है। सो उन सबकी इसमे कही झलक भी नही है। क्या निरा विदुर प्रजागर और ठौर-ठौर बैलून आदि वैज्ञानिक बातो ही के भर देने से समस्त लेख-चातुरी समाप्त हो गई ?"[1]

अन्यान्य विषय और प्रवृत्तियाँ

५२. भट्टजी ने अपनी समालोचनाओ मे नाटक, उपन्यास, कथा-साहित्य और समालोचना आदि सैद्धान्तिक विषयो का भी शास्त्रीय और व्याख्यात्मक विवेचन किया है।[2] उनकी समालोचनाओ मे सिद्धान्त और प्रयोग-पक्ष के सम्मिलन का भी प्रयत्न है। उन्होने संयोगिता-स्वयम्वर की आलोचना अन्य समालोचकों की अपेक्षा अधिक विस्तार मे की है। प्रेमघनजी की भाँति उसमे भी दोष-दर्शन की जितनी प्रवृत्ति है, उतनी गुण-कथन की नही। उसकी भाषा-शैली मे सर्वत्र प्रवाह और चुटीलापन है। बीच-बीच मे नाटककार पर जो व्यग्य-घर्षण किया गया है, वह अत्यन्त मर्मभेदी है। नाटक के प्रमुख तत्त्व कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, उद्देश्य और भाषा-शैली आदि का भी विश्लेषण इसमे हुआ है। अपनी मत-पुष्टि के लिए उन्होने उक्त नाटक से अनेक अवतरण उद्धृत भी किए है। नाटक के कुछ स्थलो की प्रशंसा भी की गई है, किन्तु दोष-दर्शन की समता मे वे बहुत कम है। अभिप्राय यह है कि भट्टजी की यह आलोचना अन्य समालोचनाओं की समता मे अत्यन्त तीक्ष्ण और व्यापक है। आलोचना का प्रारम्भ भी व्यग्य-गर्भित नाटकीय शैली में हुआ है। जैसे—

"लालाजी, यदि बुरा न मानिए तो एक बात आपसे धीरे से पूछे कि आप ऐतिहासिक नाटक किसको कहेंगे ? क्या किसी पुराने समय के ऐतिहासिक पुरावृत्त की छाया लेकर नाटक लिख डालने से ही वह ऐतिहासिक हो गया ? यदि ऐसा है तो गप्प हाँकने वाले दास्तानगो और नाटक के ढग मे कुछ भी भेद न रहा। किसी समय के लोगो की क्या दशा थी, उनके आभ्यान्तरिक भाव किस पहलू पर ढुलके हुए थे अर्थात् उस समय पात्र के भाव (स्प्रिट ऑफ दी टाइम्स) क्या थे ? इन सब बातो को ऐतिहासिक रीति पर पहले समझ लीजिए तब उनके दरसाने का भी यत्न नाटकों द्वारा कीजिए। केवल क्लिष्ट श्लेष बोलने से तो ऐतिहासिक नाटक के पात्र क्या वरन् एक प्राकृतिक मनुष्य की भी पदवी हम आपके पात्रों को नहीं दे सकते,

---

१. हिन्दी प्रदीप, फरवरी १८८२, पृष्ठ ? परीक्षा गुरु की आलोचना।
२. हिन्दी प्रदीप, जनवरी सन् १८८७, पृष्ठ १७-१८।

बल्कि मनुष्य के बदले आपके नाटक पात्रो को नीरस और रूखे से रूखे अर्थान्तिरन्यास गढने की कल कहे तो अनुचित न होगा।"[1]

५३. निष्कर्ष यह है कि भारतेन्दु-युग मे पं० बालकृष्ण भट्ट का समालोचना-क्षेत्र के अन्तर्गत एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'हिन्दी-प्रदीप' की फाइलो मे अब भी उनके ऐसे अनेक समालोचनात्मक निबन्ध पडे हुए हैं जिनके विधिवत् प्रकाशन और सम्पादन की अत्यन्त आवश्यकता है। ऐसा होने पर ही उनका समालोचक-व्यक्तित्व और अधिक स्पष्ट होकर साहित्य-जगत् के सामने आ सकेगा। उनकी समालोचनाएँ हमारी आधुनिक समालोचना का मूल उत्स हैं। कालान्तर मे समालोचना के सवर्धनकाल मे उसका जो विकास हुआ उस पर भट्टजी का प्रभाव अन्वेषित कर लेना कोई कठिन कार्य नही है। तथ्यपरक दृष्टि से मनन करने पर इस तत्वोपलब्धि मे कोई शंका नही रहती कि भट्टजी अपने युग के एक अत्यन्त उदार और अग्रगामी समालोचक थे और उनका प्रभाव समवर्ती और परवर्ती समालोचको पर स्वाभाविक क्रम मे पडा था। वस्तुत उनकी समालोचनाओ मे समाज-कल्याण, नैतिक भावना, आदर्शनिष्ठा, काव्य क्षेत्र विस्तार, युग-सचालन और निर्माणोन्मुख दृष्टिबिन्दु के जो तत्त्व सम्मिलित थे, वे ही कालान्तर मे द्विवेदीजी द्वारा विकसित किए गए। यहाँ तक कि हिन्दी के प्रमुख समालोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल की मान्यताओ के सृजन मे भी उनका यत्किंचित् अश अवश्य रहा। अतः मेरी दृष्टि मे भट्टजी को आधुनिक हिन्दी-समालोचना के प्रमुख प्रेरक और मार्गदर्शक के रूप मे सम्मान-प्रदान सर्वथान्याय्य है। आधुनिक हिन्दी-समालोचना के स्वरूप-गठन मे उनका जो सहयोग रहा है, वह उनके मूल्याकन का एक बहुत बडा आधार हो सकता है।

(४) पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री

'समालोचना' निबन्ध : तत्कालीन परिस्थिति का प्रतीक

५४. सन् १८९६ ई० मे मध्यप्रदेशान्तर्गत सागर निवासी पण्डित गगाप्रसाद अग्निहोत्री लिखित और काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका मे प्रकाशित समालोचना शीर्षक निबन्ध बनारस के चन्द्रप्रभा प्रेस से लघु पुस्तिका के रूप मे प्रकाशित हुआ।[1] यद्यपि उसका मूल्य केवल दो आना था और उसकी पृष्ठ सख्या भी केवल ४७ थी फिर भी विद्वान् लेखक ने समालोचना के साहित्यगत महत्त्व को दृष्टिकोण मे रखते हुए उसमे जो तत्त्वयुक्त विवेचन किया था, उससे समालोचना के तत्कालीन स्वरूप का यथेष्ट ज्ञान हो जाता है। पुस्तक के प्रारम्भ ने लेखक ने 'भामिनी-विलास' से उस श्लोक को उद्धृत किया है जिसमे हस को नीर क्षीर विवेक शक्ति से समन्वित कह कर उसे इस बात के लिए सावधान किया है कि यदि उसने अपने व्रत का पालन करने मे आलस्य किया तो निश्चय ही अनिष्ट की सभावना है क्योकि अन्य प्राणियो मे उसके समान विवेक-शक्ति का अभाव है। लेखक का इस उद्धरण से स्पष्ट मतव्य यही है कि समालोचक अपने उत्तरदायित्व को समझें और अपनी शक्ति साहित्य-सृजन एवं निरूपण मे इस प्रकार लगावे जिससे साहित्य कोष की अपेक्षित अभिवृद्धि हो एव रचनात्मक साहित्य को वास्तविक दिशा प्राप्त हो सके। अग्निहोत्री जी साहित्य-समृद्धि के लिए ग्रन्थो के यथार्थ परीक्षको अर्थात् समालोचको का होना अत्यावश्यक मानते हैं, क्योकि उनके द्वारा भाषा को बहुत लाभ पहुँचता है।[2]

५५. उक्त लेख से यह भी पता चलता है कि उस समय जब कोई नवीन ग्रन्थकर्त्ता अपना ग्रन्थ सम्पादको को समालोचनार्थ समर्पण करता था तो सम्पादक किस युक्ति का प्रयोग करते

१. हिन्दी प्रदीप, अप्रैल १८८६, पृष्ठ १७, सयोगिता स्वयम्बर की सच्ची आलचोना।

२ प० गगाप्रसाद अग्निहोत्री : 'समालोचना', चन्द्रप्रभा प्रेस बनारस, सन् १८९६, पृष्ठ २०।

थे। अग्निहोत्री जी ने बतलाया है कि उस समय, कुछ सम्पादक महाशय तो 'प्राप्त' शीर्षक के नीचे ग्रन्थप्रणेता का नाम निर्दिष्ट कर ग्रन्थ-प्रेषण के लिए उसे अनेकानेक धन्यवाद देकर समालोचना के कार्य से छुट्टी ले लेते थे और यदि कोई सम्पादक महाशय आगे बढे तो धन्यवाद के पश्चात् ग्रन्थ की छपाई और जिल्दबन्दी की सुन्दरता, कागज के बढियापन आदि की मीठी प्रशसा कर अपने कार्य की इतिश्री समझते थे। जो सम्पादक उक्त दोनो श्रेणी वालो से कुछ अधिक चतुर होते थे वे उसके आगे यह और लिख दिया करते थे कि अमुक ग्रन्थ हमे प्राप्त हुआ इसके लिए हम रचयिता को बहुत धन्यवाद देते है, इसकी आलोचना आगामी अक मे प्रकाशित की जाएगी। उसके पश्चात् न तो आगामी अक आता और न समालोचना प्रकाशित होती।[1] अभिप्राय यह कि उस युग मे समालोचना का स्वरूप प्राय उक्त तीनो रीतियो की परिधि मे ही सिमट कर चलता था जिसे वास्तविक अर्थ मे समालोचना कहना कुछ सकोच मे डाल देता है।

५६. अग्निहोत्रीजी ने बतलाया है कि समालोचना की उक्त परम्परा के अनुसार निस्सन्देह भाषा का अहित होता था और यथार्थ परीक्षक के अभाव मे ग्रन्थो की स्थिति टका सेर भाजी टका सेर खाजा वाली हो जाती थी। इस प्रणाली का परिणाम यह होता था कि 'मुक्तमाला' और 'जुबिली प्रमोदिका' जैसी रचनाएँ एक ही सरल श्रेणी मे आलोचित होती और उथेलो का उत्कृष्ट अनुवाद तथा जूलियस सीजर का सडा-गला अनुवाद भी एक ही श्रेणी मे रखे जाते। इसका प्रमुख कारण यही था कि उस समय सत्समीक्षक के अभाव मे सभी ग्रन्थ समान हो जाते थे।

५७. इस युग मे अग्रेजी भाषा और साहित्य का गौरव कितना अधिक था, इस ओर सकेत करते हुए अग्निहोत्रीजी ने बतलाया है कि अग्रेजी भाषा मे जानसन, मैकाले जैसे सुप्रसिद्ध विद्वानों के उत्तमोत्तम ग्रन्थ निश्चय ही समालोचना के क्षेत्र मे मार्मिक सम्मति देने वाले हैं और उनकी समता मे भाषा-पण्डित या व्युत्पन्न शास्त्री हीन पडते हैं। अग्निहोत्रीजी के कथन से इस बात की ध्वनि निकलती है कि जिस ढग की समालोचना पहले पण्डिताऊ ढग से होती थी उसे उस युग मे उतना उत्कृष्ट नही समझा जाता था और लोग धीरे-धीरे पश्चिमी प्रणाली की आलोचना की ओर मुडने लगे थे।

५८. अग्निहोत्रीजी ने समालोचको के गुण, साधन आदि का निरूपण करते हुए उक्त लेख मे यह भी बताया है कि इस प्रथा का प्रचलन कब से था और उससे साहित्य का किस प्रकार हिताहित हो सकता है। उनके विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि वे सस्कृत-साहित्य की अपार समीक्षा-निधि एवम् काव्य-विवेचन को आधुनिक आलोचना प्रणाली की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नही समझते थे और उनका आलोचना से आशय मुख्यतः पश्चिमी ढग की व्यावहारिक समालोचना से ही था।[2] तभी तो उन्होने लिखा है कि हमारे देश के प्राचीन समय मे यह प्रथा जैसी चाहिए वैसी न थी और अर्वाचीन काल मे तो लुप्तप्राय हो गई थी, पर अभी इन पन्द्रह वर्षों से ही अंग्रेजी ग्रन्थकर्त्ताओ के परिचय से केवल कही-कही इसका आरम्भ हो चला है। अग्निहोत्रीजी ने अग्रेजी विद्या के प्रसार को ग्रन्थो के गुण-दोष-विवेचन की प्रथा का मूल कहा है और उस युग के समाचार पत्रों अथवा मासिक पत्रो मे जो समय समय पर चर्चाएँ होती हैं उसका श्रेय पश्चिमी साहित्य और उसके पत्र-पत्रिकाओ की अनुकरण वृत्ति को दिया है। अग्निहोत्रीजी ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि हमारी भाषा के पत्र-पत्रिकाओं मे समालोचना का वह सुष्ठु स्वरूप नही मिलता जो विलायती भाषा के पत्र-पत्रिकाओं मे है, अतएव इसके लिए उन्होने भाषा-वृद्धि और लोक-हित की भावना से समालोचना-साहित्य की अभिवृद्धि अत्यधिक वांछनीय मानी है।

---

१. पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री : 'समालोचना', चन्द्रप्रभा प्रेस, बनारस सन् १८९६, पृष्ठ २५।

२. ,, ,, ,, ,, २६।

५९. विद्वान् लेखक ने आगे चल कर समालोचक के लिए आवश्यक गुणो का वर्णन किया है। उनके विचार से प्रथमत समालोचक को मूल ग्रन्थ का ज्ञान होना आवश्यक है[1] क्योकि ग्रन्थ को सम्पूर्ण रूप से समझे बिना उसकी आलोचना करने का प्रयत्न विडम्बना मात्र होगा तथा सत्य-प्रसार के स्थान पर मूर्खतागर्भित सम्मतियाँ मात्र चारो ओर फैल जाएँगी। समालोचक के लिए दूसरा गुण सत्य-प्रीति[2] का है जिसकी योग्यता अन्य गुणों की अपेक्षा अधिक है। वस्तुत समालोचना का प्रधान अभिप्राय भी यही है कि उसके योग मे सत्य का उत्कर्ष और असत्य का ह्रास हो, अत उन्होने समालोचक के लिए इसकी बडी आवश्यकता बतलाई हैं। उन्होने इस बात पर बडा खेद प्रकट किया है कि आजकल समालोचक प्राय राग द्वेष, मात्सर्य अथवा ग्रन्थकर्त्ताओ का उपहास बनाने और अपनी झूठ-मूठ की विद्वत्ता प्रदर्शित करने मे अपनी शक्ति का अपव्यय करते हैं, वह निस्सन्देह साहित्योद्यान मे बाधक है और ऐसी आलोचना चिरकाल तक कभी मान्य होकर स्थिर नही रह सकती। अग्निहोत्रीजी ने समालोचक के लिए शान्त स्वभाव[3] का होना भी अनिवार्य माना है क्योकि ऐसा व्यक्ति ही किसी ग्रन्थ पर अपनी शान्त, गम्भीर और सभ्य रीतिपूर्वक सच्ची सम्मति दे सकता है और वह उस विवेचन से सर्वथा भिन्न होती है जो क्रोध के आवेग मे मनमानी बकबक से की जाती है। उन्होने बतलाया है कि समालोचक की सम्मति केवल एकपक्षीय वकील की भाँति न होकर न्यायाधिकारी के निर्णय के सदृश सत्यतागर्भित होनी चाहिए। इसी मे साहित्य का कल्याण है। अग्निहोत्रीजी ने समालोचक के लिए चौथा गुण सहृदयता[4] का बतलाया है, क्योकि इसके बिना ग्रन्थ मे समालोचक का पूर्ण अभिनिवेश हो ही नही सकता। केवल पाण्डित्य के बल पर की गई आलोचना कई दृष्टियो से अपूर्ण और दोषयुक्त होती है, अत समालोचक के लिए हृदय-उदारता का ज्ञापक यह गुण अवश्य होना चाहिए।

६० समालोचना के क्षेत्र मे अग्निहोत्रीजी ने एक क्रियात्मक सत्य की ओर बडा महत्त्व-पूर्ण संकेत दिया है। उन्होने बतलाया है कि लोग साधारणतया समालोचना का अर्थ मूल ग्रन्थ का दूषण और खण्डन-मात्र समझते हैं जो ठीक नही है। आधुनिक विश्वविद्यालयो की परीक्षाओ मे परीक्षकगणो का जो व्यवहार दीख पडता है ठीक उसी का अनुकरण समालोचक-गण भी करते हैं। उन्होने बतलाया है कि जैसे परीक्षक छात्रो को कभी पूरे नम्बर न देकर दस-पाँच तो अपने गौरव के एक ओर निकालकर रख देते हैं उसी प्रकार समालोचक भी समालोचना करते समय ग्रन्थ के कुछ गुणो का उल्लेख कर अपनी योग्यता की धाक जमाने के लिए कुछ झूठे-सच्चे दोष यो ही ढूंढ निकालते है। छिद्रान्वेषण की यह प्रवृत्ति पक्षपात अथवा दुराग्रह से भी पूर्ण होती है। अत उससे बच कर चलना सच्चे समा-लोचक के लिए आवश्यक है।

६१. अन्त मे हम अग्निहोत्रीजी के समालोचना-सम्बन्धी विचारों और मन्तव्यो की जानकारी के लिए उक्त निबन्ध से उनका निम्न मत उद्धृत करते है जो उनके समालोचना-सम्बन्धी विचारो की अभिव्यक्ति कर सकेगा —

"साराश जो दोष हो उनका निर्भयता एव स्पष्टतापूर्वक कथन हो और वैसे ही जो गुण हो उनके लिए ग्रन्थ-रचयिता की उचित प्रशंसा की जाय। जिस प्रकार सत्यनिष्ठ न्यायाधिकारी शत्रु-मित्र-भाव को बिलकुल भुला कर केवल उदासीनतापूर्वक न्याय करता है व सच्चा वणिक् पुत्र सच्चे माप से अपने ग्राहकों को सच्चा तौल देता है, सच्चा एवं उत्तम चित्रकार मूलाकृति को जैसे

१. पं० गगाप्रसाद अग्निहोत्री, समालोचना पृष्ठ २५, २६।
२. ,, ,, ,, ,, २७।
३. ,, ,, ,, ,, २९।
४. ,, ,, ,, ,, ३२।

ज्यो-का त्यो चित्रपट पर उतार देता है उसी प्रकार का समालोचक को होना चाहिए ।"[1]

६२. इस प्रकार अग्निहोत्रीजी की उपर्युक्त लघु पुस्तिका तत्कालीन साहित्यालोचन के सम्बन्ध मे हमे अनेक प्रकार की अभिज्ञता प्रदान करती है। उससे यह स्पष्ट होता है कि उनके समय मे आलोचना का स्वरूप व्यवस्थित और संयत न था तथा लोगो ने उसे खिलवाड या व्यवसाय का साधन-मात्र बना दिया था। आलोचको मे सत्पथ के अनुगमन के स्थान पर राग-द्वेष की भावना अधिक थी और वे या तो किसी अपने पक्ष वाले का गुण-कथन करने मे या विपक्षी की दोषोद्-भावना में ही आलोचना की परिधि मान बैठे थे। उस समय आलोचना मे दलबन्दी भी थी और उसका वह महान् गौरव अप्रस्फुटित था जो सम्यक् प्रकार के ग्रन्थालोचन के गुण-दोषो का उद्घाटन ही करता हुआ चलता है। अनेक बार तो ग्रन्थो का उपहास, पाठको का मनोविनोद और अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए ही आलोचनाएँ की जाती थी। जहाँ केवल पुस्तक की छपाई, आकार, मूल्य आदि का विवरण रहता था वहाँ पर तो ऐसा लगता है जैसे आलोचक कृति का समालोचन करने के स्थान पर मुद्रण-कला के बाह्य स्वरूप-निरूपण को ही समालोचना समझने की भूल कर रहे हैं। वास्तव मे उस समय समालोचना की शालीनता, प्राजलता, सयतता और व्यापकता नही आई थी और उसका विकास अर्द्ध-मुकुलित-सा था जिसका समानुपातिक प्रस्फुटन आगे आने वाले युग मे हुआ।

(५) बाबू बालमुकुन्द गुप्त

साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश

६३. बाबू बालमुकुन्द गुप्त का साहित्य सेवा-काल भारतेन्दु-युग के उत्तरवर्ती काल से प्रारम्भ होकर द्विवेदी-युग के प्रारम्भिक चरण तक परिव्याप्त है। यद्यपि उनका प्रधान व्यक्तित्व पत्र-सम्पादक का ही था, फिर भी उन्होने गद्य और पद्य के क्षेत्र मे जो कार्य किया है, उसका हिन्दी साहित्य के इतिहास मे स्थायी महत्त्व है। साहित्यानुसन्धानकर्त्ताओ ने उनके जीवन और साहित्य का अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोणो से किया है, किन्तु मेरी दृष्टि मे उनमे विचारक और समालोचक का अन्तर्भाव इतना अधिक है, जिसकी झलक उनकी प्राय समस्त कृतियो मे अभिव्यक्त हुए बिना नही रहती। भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग की समालोचना को विकसित बनाने मे तो उनका गण्यमान सहयोग रहा है। उनकी रचनाओ से तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक विचारधाराओ का सामान्य स्वरूप भली-भाँति प्रकट हो जाता है। कहा जा सकता है कि सन् १८८० से लेकर सन् १९०७ तक हिन्दी साहित्य की परम्परा ने जो विकास प्राप्त किया है उसका कच्चा चिट्ठा गुप्तजी की कृतियो मे संगुम्फित है। यद्यपि वे प्रारम्भ मे उर्दू-फारसी मे रचनाएँ करते थे और उनका सम्पादन-कार्य भी सन् १८८६ ई० मे उर्दू-पत्र 'अखबारे-चुनार' से ही प्रारम्भ हुआ, किन्तु सन् १८८९ ई० मे वे महामना पण्डित मदनमोहन मालवीयजी के अनुरोध पर 'दैनिक हिन्दुस्तान' के सम्पादक-मण्डल मे सम्मिलित हो गये। वहाँ से सन् १८९२ ई० मे वे 'हिन्दी बगवासी' के सहकारी सम्पादक नियुक्त हुए और तदुपरान्त सन् १८९९ ई० से सन् १९०७ तक 'भारतमित्र' के प्रधान सम्पादक रहे। अपने सम्पादन-काल मे उनकी प्रतिभा को निरन्तर परिष्कार मिलता गया और शनैः-शनैः वे सम्पादकीय-क्षेत्र मे भी अपना गौरवपूर्ण स्थान बना सके।

समालोचना के प्रमुख विषय

६४. गुप्तजी की समालोचना के मुख्य विषय साधारणतः समसामयिक ही रहे। वैसे तो

---

१. पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, 'समालोचना' सन् १८९६, पृष्ठ संख्या ३७।

उन्होने पण्डित प्रतापनारायण मिश्र,[1] पण्डित अम्बिकादत्त व्यास,[2] माधवप्रसाद मिश्र,[3] मुन्शी देवीप्रसाद[4] आदि हिन्दी भाषा के साहित्यकारो तथा हरबर्ट स्पेन्सर[5], मैक्समूलर[6] आदि पाश्चात्य विद्वानो के जीवनचरितमूलक साहित्यिक परिचय भी लिखे, जिनके अन्तर्गत उनकी कृतियो और साहित्य-सेवाओ का भी उल्लेख किया गया था, किन्तु शुद्ध साहित्यिक समालोचना की दृष्टि से वे अधिक महत्त्वपूर्ण नही हैं। बात यह है कि उस समय जीवनचरितमूलक समालोचना-प्रणाली का वैज्ञानिक विकास नही हो सका था और वह केवल कवि-परिचय और ग्रन्थ-गणना तक ही सीमित थी। दूसरी बात यह भी है कि गुप्त जी ने इस प्रकार के साहित्य-सेवियो की जीवनचर्चा अपने 'भारत-मित्र, के विभिन्न अको मे यथावसर की थी, अतः उनका विवरण केवल सीमित आकार-प्रकार में ही आ सकता था। अत मेरा उनके इस कार्य के उल्लेख से केवल यही अभिप्राय है कि गुप्त जी की समालोचनाओ का एक सामान्य अग यद्यपि उनके द्वारा लिखित साहित्यकारो का जीवन-चित्रण भी था, किन्तु वह साहित्य-विश्लेषण के मूल तत्त्वो को लेकर कम चला था जो कालान्तर मे युग-सीमाओं को पार कर अन्य समालोचको द्वारा उनके इस प्रकार के कार्य को विकास प्रदान किया गया। वर्तमान युग मे पं० गगाप्रसाद पाण्डेय की 'महाप्राण निराला' इसी प्रकार की एक रचना है।

राष्ट्रभाषा और लिपि-विषयक विचार

६५. यह एक स्मरण रखने योग्य बात है कि गुप्त जी ने अपनी समालोचनाओ का एक प्रमुख विषय तत्कालीन साहित्य-चर्चाओ और उनकी अन्तर्भूत समस्याओ को भी बनाया है। उस समय का एक ज्वलन्त विषय भारत-राष्ट्र के लिए राजभाषा और लिपि-निर्धारण का भी था। राजकीय नीति के अनुसार हिन्दी भाषा और उसके साहित्य को कोई प्रेरणाप्रद प्रोत्साहन नही दिया गया था। उच्चवर्ग का सुशिक्षित भारतीय समाज उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखता था। ऐसी स्थिति में हिन्दी-हितैषियो को उनका अस्तित्व सुदृढ बनाने के लिए निरन्तर अध्यवसाय करना पड़ा। अपने समकालीन अन्य सम्पादको की भाँति उन्होने भी हिन्दी भाषा और साहित्य की पृष्ठभूमि मे ऐसे अनेक लेख लिखे जिनमे उनकी स्वतन्त्र सत्ता और विकासावस्था की घोषणा की तथा उन लोगो को मुँहतोड उत्तर दिया जो उसमे सकीर्णता अथवा राष्ट्रभाषा-पद की अक्षमता पाते थे।[7] गुप्त जी का यह विवेचन यद्यपि विशुद्ध भाषा-वैज्ञानिक और प्रामाणिक नही था, फिर भी उसमे ऐतिहासिक धरातल पर हिन्दी भाषा की भूमिका[8] प्रस्तुत करने का सुष्ठु प्रयास था। उन्होने हिन्दी भाषा के जन्म और विकास की कहानी लिख कर यह सिद्ध किया कि उसके स्वाभाविक विकास मे किस प्रकार उर्दू-फारसी द्वारा व्यवधान उपस्थित किया गया है जो सर्वथा कृत्रिम और अस्वाभाविक है। उनका हिन्दी भाषा पर तो एक ग्रन्थ लिखने का भी विचार था, जो उनके असामयिक निधन से अपूर्ण ही रह गया।[9] यदि वे उसे पूरा कर पाते तो निश्चय ही उनके हिन्दी भाषा के विकास विषयक दृष्टि-कोण का और अधिक ज्ञान हो सकता था। फिर भी उसका जो कुछ अश प्रकाशित हो सका है,

---

१ भारतमित्र, १९०७ ई०।
२. ,, १९०० ई०।
३. ,, १९०७ ई०।
४ ,, १९०० ई०।
५. ,, १९०४ ई०।
६ ,, १९०० ई०।
७. भारतमित्र, ६ अप्रैल सन् १९०१ ई०।
८. गुप्त-निबन्धावली, पृष्ठ १०४।
९ गुप्त-निबन्धावली, पृष्ठ १४०।

वह गुप्त जी की ऐतिहासिक समालोचना-प्रज्ञा का प्रतीक है। उसमे उन्होने हिन्दी भाषा की उत्पत्ति का विवेचन इतिहाससम्मत घटनाएँ देकर किया है और बतलाया है कि चन्दबरदाई, अमीर खुसरो, कबीर, नानक और मलिक मुहम्मद जायसी आदि कवियो का उसके विकास मे किस समय किस प्रकार का सहयोग रहा है। अपने विवेचन को सप्रमाण बनाने तथा उक्त कवियों की भाषा के स्वरूप-विधान का बोध कराने के लिए वे यथावसर उदाहरण भी देते गये हैं और उनके शब्द-प्रयोग की मीमांसा भी करते गये हैं। उनका यह विश्लेषण मुख्यतया व्याख्यात्मक प्रणाली का निदर्शन है। यह वही प्रणाली है जो कालान्तर मे हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास लिखने वालो को भी यथा-प्रसग ग्राह्य प्रतीत हुई। वे 'हिन्दी भाषा' नामक पुस्तक[१] को किस प्रकार की बनाने चाहते थे, इसका पता उनके उस पत्र से लग सकेगा जो उन्होने १ जनवरी, सन् १९०५ को उर्दू के मासिक पत्र 'जमाना' के सम्पादक मुशी दयानारायण निगम को लिखा था। वे लिखते है .

"मेरी किताब मे वेद के जमाने से लेकर मुसलमान जमाने तक हिन्दुस्तान की जबान की हालत और उसका इन्कलाब दिखाकर ब्रजभाषा, उर्दू और हिन्दी की पतेवर हिस्टरी होगी। वक्तन-फवक्तन जो तमीर बद्‌शुल हुई है सब दिखाई जावेगी। उर्दू की बात मुख्तसिर कही जावेगी क्योकि आजाद लिख चुके है. सस्कृत हिन्दी और मौजूदा हिन्दी की ज्यादातर नकल है।[२]"

६६. बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने राष्ट्रभाषा और लिपि से सम्बन्धित जो अन्य समालोचनाएँ लिखी है, वे भी उनके हिन्दी-विषयक आशावादी दृष्टिकोण की द्योतक है। "ब्रजभाषा और उर्दू"[३] शीर्षक समालोचनात्मक निबन्ध मे उन्होने दोनो का तुलनात्मक परिचय दिया है तो "हिन्दी मे बिन्दी"[४] शीर्षक निबन्ध मे नागरी प्रचारिणी सभा की उस नीति की व्यग्यपूर्ण आलोचना की है. जो अक्षर के नीचे बिन्दी लगाकर यह सिद्ध करना चाहती है कि उर्दू के शब्द हिन्दी मे शुद्ध लिखे पढे जायें। इसी प्रकार उन्होने 'देवनागरी अक्षर'[५] और 'एक लिपि की जरूरत'[६] पर भी जो सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखी हैं, वे यद्यपि समालोचनात्मक कम हैं, किन्तु उनसे उन विषयो की सामान्य जानकारी अवश्य हो जाती है। कहा जा सकता है कि उनके राष्ट्रभाषा और लिपि-विषयक विचार आज की विकासमान चेतना मे भले ही हल्के प्रतीत हो, किन्तु आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रथम चरण मे उन्होने जो कार्य किया था उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। निश्चय ही उनमे अभिव्यक्त विचारधारा से गुप्त जी की युगानुवर्ती नीति और अभ्युदयशीलता का पता सुविधापूर्वक लग जाता है। अत यह स्पष्ट है कि उनके उपर्युक्त साहित्यिक निबन्ध विशुद्ध समालोचनात्मक न होने पर भी समालोचना की पार्श्वभूमि मे अपना अस्तित्व सदैव रखते रहेंगे।

आलोचना-प्रत्यालोचना की प्रवृत्ति और व्यंग्यात्मकता

६७. गुप्त जी की समालोचना का सबसे बडा महत्त्वपूर्ण अग आलोचना-प्रत्यालोचना का है जो 'भारतमित्र' और 'सरस्वती' सम्पादक के बीच सुदीर्घकाल तक चला तथा जिसमे उस युग के प्राय. सभी प्रमुख पत्र-सम्पादको और साहित्यकारो ने भाग लिया। वास्तव मे इस विवाद का मूल कारण आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी का 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक लेख था जिसकी आलो-

---

१. इसका पुस्तकाकार प्रकाशन कलकत्ता की हिन्दी साहित्य परिषद ने सर्वप्रथम १९०८ में प० अमृतलाल चतुर्वेदी की भूमिका के साथ किया था।

२. बालमुकुन्द गुप्त ग्रन्थावली, सं० झाबरमल शर्मा, प्रथम सस्करण, प्रथम भाग, पृष्ठ १४४।

३. ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, १४२-१४८ (भारतमित्र सन् १९०१)।

४. भारतमित्र, १९ फरवरी सन् १९००।

५. भारत मित्र, रचनाकाल, १९०२।

६. भारतमित्र, रचनाकाल, १९०५।

चना गुप्त जी ने अपने 'भारतमित्र' पत्र में की जिसे पढ कर आचार्य द्विवेदी जी का अहंभाव क्रोधाग्नि के रूप में भभक उठा। बात यह हुई कि आचार्य द्विवेदी जी ने पूर्वोक्त लेख मे जहाँ एक ओर हिन्दी भाषा मे की गई सम्भ्रान्त लेखकों की अशुद्धियाँ (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, शिवप्रसाद सितारेहिन्द आदि) का विवेचन करते हुए हिन्दी भाषा मे प्रामाणिक व्याकरण के अभाव पर अपना आक्रोश प्रकट किया, वहाँ दूसरी ओर वे स्वयम् उक्त लेख मे 'अनस्थिरता' जैसे अशुद्ध शब्दो का प्रयोग भी कर गये। फिर क्या था, 'भारतमित्र' सम्पादक की बन आई। उन्होने 'आत्माराम' के नाम से द्विवेदी जी के उस लेख की भाषा और विचारधारा को लेकर अपने पत्र 'भारतमित्र' सन् १९०६ ई० में नैरन्तर्य विधि से दस लेख[1] लिखे जिसमे कठोर व्यंग्यात्मक शैली का तीक्ष्ण प्रयोग था। उनके उस विवेचन से तत्कालीन हिन्दी समालोचना-दशा का तो ज्ञान होता ही है, साथ ही साथ इस बात का भी पता चलता है कि उस युग मे समालोचना का मूल अभिप्राय केवल अपने विरोधी विचारको का खण्डन करते हुए उन्हे नीचा दिखलाना था। गुप्त जी ने उस युग के अग्रणी और सूत्रधार पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण और अधिनायकवाद की भावना का जो प्रतिवाद किया है, वह उनकी निर्भीकता का सूचक है। विशेष रूप से उस व्यवस्था मे जब वे स्वयम् हिन्दी मे आलोचना करना भिड के छत्ते को छेड़ लेना[2] समझते हैं।

६८. गुप्त जी की समालोचनाओ मे विचार-गाम्भीर्य के स्थान पर व्यंग्यात्मकता की मात्रा ही अधिक है। चूँकि उनका पत्रकार जगत् मे आगमन उर्दू से चलकर हिन्दी में हुआ था, अत: वे अपने साथ उर्दू-फारसी की चुटीली और चुलबुली शैली लेकर आये और अपने अन्यान्य लेखो की भाँति समालोचना-क्षेत्र मे भी उसका प्रयोग किया। उन्होने भाषा की अनस्थिरता विषय पर आचार्य द्विवेदी जी के शब्द-प्रयोगो, विभक्तियो और वाक्य-रचनाओं को लेकर जो व्यग्य किये हैं उन पर उर्दू की शैली का अत्यधिक प्रभाव है। द्विवेदी जी की मान्यताओ का खण्डन अपनी दलीलो से करते हुए उन्होने बीच-बीच मे 'जनाब खता मुआफ हो, महफूज, सुबहान अल्लाह' आदि पदों का प्रयोग भी किया है। वैसे तो आचार्य द्विवेदी जी मे भी कम हठधर्मी नही थी और वे भी अपने विरोधी के प्रति अत्यन्त उग्र हो जाते थे, किन्तु बाबू बालमुकुन्द गुप्त भी उनसे पीछे नही रहे। उन्होंने द्विवेदी जी के वाक्य-सगठनो को लेकर उनकी अशुद्धियाँ निर्दिष्ट की और उनका संशोधित स्वरूप स्वमत्या निर्धारित किया। जैसे द्विवेदी जी ने एक स्थान पर लिखा, 'भाषा को स्थिरता आ जाती है' तो गुप्त जी ने उसका प्रतिवाद करते हुए उसकी जगह लिखा, 'भाषा मे स्थिरता आ जाती है।' इसी प्रसग मे यह व्यग्य भी कर दिया 'स्थिरता कुछ नीद नही है जो भाषा को आवे।' 'इसी प्रकार गुप्त जी ने द्विवेदी जी के भाषा-विषयक और भी अनेक दोषो का विश्लेषण कर उनकी निस्सारता सिद्ध की है। निष्कर्ष यह है कि द्विवेदी-युग मे भाषा-शुद्धि और व्याकरण-विचार का जो आन्दोलन चल पडा था, उसमे गुप्त जी ने भी सक्रिय भाग लिया था। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार की आलोचनाओ से भाषा-विषयक दृष्टिकोण को भले ही प्रसार मिला हो, किन्तु समालोचना के अन्तर्गत जिस प्रकार तात्त्विक विवेचन होना चाहिए वैसा इस श्रेणी की आलोचनाओं द्वारा नहीं हुआ। अत. गुप्तजी की समालोचना भी, भारतेन्दु-युग मे सर्वधित होने पर भी, अपने रूप और आकार मे यथेष्ट अपरिपक्व और उछलकूद की शैली वाली ही कही जायगी। अच्छा होता, यदि हमारे उस युग के समालोचक अपनी अधिकाश शक्ति केवल इसी ओर न लगा कर साहित्य के रचना-विधान की ओर भी लगाते। कालक्रम से जब यह अरुचिकर विवाद समाप्त हुआ तभी हमारी समालोचना को सवर्धन की दिशा मिली। सुतरा गुप्त जी की इस प्रकार की आलोचना-

१. बालमुकुन्द गुप्त ग्रन्थावली, पृष्ठ ४३३-४८८।

२. बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली, पृष्ठ ४२७।

प्रत्यालोचना का महत्त्व केवल एक निश्चित सीमा मे ही स्वीकार किया जाना चाहिए ।

'भाषा की अनस्थिरता' और गुप्त जी की समीक्षा

६९. कहा जा सकता है गुप्त जी की समालोचना का अधिकांश कलेवर केवल द्विवेदी जी के 'अनस्थिरता' शब्द के प्रतिवाद से निर्मित है । उन्होने इस शब्द की आड मे मौके-बेमौके द्विवेदी जी पर व्यक्तिगत आक्षेप भी कम नही किये हैं । इतना ही नही, उन्होने अपनी आलोचना-प्रत्यालोचना मे उन व्यक्तियो को भी आडे हाथो लिया है जो द्विवेदी जी की तरफदारी करते थे । 'भाषा की अनस्थिरता' विषय पर प्राय ६० पृष्ठो मे लिखे गये उनके दस लेख अन्त मे प्रत्येक बार द्विवेदी जी को इस शब्द की व्याकरण-सम्मत सिद्धि प्रस्तुत करने की चुनौती-सी देते है । इसी प्रकार उन्होने आत्मारामीय टिप्पणी[1] के अन्तर्गत भी द्विवेदी जी के 'अनस्थिरता और अपने तौर पर' शब्द-प्रयोगो को लेकर इसी प्रकार का व्यंग्य-वर्षण किया है । 'हिन्दी मे आलोचना'[2] विषयक तैंतालीस पृष्ठ के लेख का केन्द्रबिन्दु भी द्विवेदी जी और उनकी 'सरस्वती' पत्रिका ही रहा है । इसमे तो कोई सन्देह नही कि सन् १९०६ के आसपास इस प्रकार की लम्बी-चौडी समालोचनाएँ बहुत कम लिखी जाती थी, किन्तु एक छोटी सी बात को अधिक तूल देना निश्चय ही तिल को ताड बनाना था । मेरी समझ मे इस प्रकार की समालोचनाओ से साहित्य का उतना अधिक कल्याण नही होता, जितना इस श्रेणी के समर्थक समालोचक मानकर चलते हैं। फलत गुप्त जी की यह समालोचना-पद्धति हमारे साहित्यालोचन के क्षेत्र मे किसी प्रकार का महत्त्वपूर्ण रचनात्मक संवर्धन करने मे असमर्थ रही है ।

७०. गुप्तजी ने द्विवेदी जी से सम्बन्धित जितनी समालोचनाएं लिखी है, उनमे व्यक्तिगत आक्षेप पद-पद पर मिलते हैं। कई स्थलो पर तो उनके व्यंग्य अर्यादित भी हो गए हैं । माना कि द्विवेदी जी ने भी अपनी ओर से 'आत्माराम की टें-टें' मे उनकी खबर लेने मे भी कोई कमी नही की फिर भी इस मत से कदाचित् ही किसी का विरोध हो कि द्विवेदी जी ने अपनी प्रतिभा से साहित्य के रचनात्मक और समालोचनात्मक पक्ष को नवीन निर्माण का मार्ग अवश्य दिखलाया था । अत: गुप्त जी ने अपनी समालोचनाओ मे केवल उनके दोष-दर्शन की ही जो प्रवृत्ति ग्रहण की है, वह एकागी और दोषपूर्ण है । यदि गुप्त जी समालोचना के उज्ज्वल पक्ष और गम्भीर दायित्व का निर्वाह करते हुए चलते तो उनकी समालोचनाएँ द्विवेदी जी की समलोचनाओ की भांति अपनी भी शालीनता स्थापित कर पाती। क्योकि इसमे तो कोई सन्देह किया ही नही जा सकता कि उनमे इस प्रकार की प्रतिभा नही थी, जो नवीन सृजन न कर सके । मुझे तो ऐसा लगता है कि जिस प्रकार प० पद्मसिह शर्मा ने बिहारी की बहुज्ञता और काव्यगत महत्ता सिद्ध करने के लिए जहाँ केवल महफिली तर्ज मे उन्हे सातवें आसमान पर चढा दिया, वहाँ गुप्त जी ने द्विवेदी जी के प्रति निन्दात्मक दृष्टि रख कर उनकी साहित्यगत महत्ता की ओर भूल कर भी नही देखा । यही कारण है कि उनकी समालोचनाएँ किसी प्रौढ धरातल पर आसीन नही है और उनमे गम्भीर मनोवृत्ति और समन्वयवादी उदात्त दृष्टिकोण का अभाव सा है । ऐसी आलोचनाओ मे अपने को सही मार्ग पर मानकर चलने तथा दूसरो को उपदेश देने की प्रवृत्ति तो और भी अनुचित है , क्योकि उससे न तो समालोचना के स्वस्थ पक्ष का सम्वर्धन ही हो पाता है और न रचनात्मक साहित्य को किसी प्रकार की नूतन दिशा ही मिलती है ।

पुस्तकालोचन तथा अन्य विषय

७१. गुप्त जी ने अन्यान्य पत्र-सम्पादको की भाँति बुक-रिव्यू या पुस्तकालोचन की प्रणाली

---

१. गुप्त निबन्धावली, पृष्ठ ४८९-४९६ ।

२. गुप्त निबन्धावली, पृष्ठ ४९७-५४० ।

मे भी समालोचनाएँ लिखी है। उन समालोचनाओ मे कथानक का विवरण देकर ऐतिहासिक दृष्टि से खण्डन-मण्डन की जितनी प्रवृत्ति है, उतनी विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि की नही। भारतीय काव्य-शास्त्र मे समालोचना के जो मानदण्ड निर्धारित चले आ रहे है, उनकी शास्त्रीयता का निर्वाह तो उनमे नही के बराबर है। उदाहरण के लिए बग भाषा के अश्रुमती नाटक और उसके हिन्दी अनुवाद को लिया जा सकता है। गुप्त जी ने सन् १६०१ ई० मे उसकी आलोचना 'भारतमित्र' मे प्रकाशित की थी जिसमे उन्होने उस नाटक की अग्राह्यता का ऐतिहासिक परीक्षण कर उसकी असारता सिद्ध की और बतलाया कि उसके लेखक ने किस प्रकार हिन्दूपति राणा प्रताप की पुत्री का कल्पित नाम अश्रुमती रख कर उसका सलीम के साथ झूठा प्रेम दिखलाया है। गुप्त जी ने नाटकीय कथावस्तु को सब प्रकार से हीन सिद्ध किया है, जो तथ्यपूर्ण है। इसी प्रकार उन्होने गोस्वामी किशोरीलाल जी के 'तारा' नामक उपन्यास की भी कटु आलोचना की है।[1] पं० सुधाकर द्विवेदी ने गोस्वामी तुलसीदास की सतसई के जिन दोहो की भाव-छाया पर कुण्डलियाँ बनाकर जिस तुलसी-सुधाकर नामक ग्रन्थ की रचना की है, उसका रिव्यू करते हुए गुप्त जी ने उस कुण्ड-लियागत अनुवाद और सरलार्थ की जटिलता को उसका एक महान दोष माना है।[2] 'प्रवासी' नामक बगभाषा के प्रसिद्ध मासिक पत्र की नीति, तथा बगाली साहित्य पर भी उन्होने सन् १६०३ के भारतमित्र मे सामान्य समालोचनाएँ लिखी है। इन सब मे समालोचना के स्थान पर केवल अपने मन की बातो की अभिव्यंजनामात्र है। इसी प्रकार हरिऔध जी के अधखिलाफूल की आलोचना मे भी मुख्यतया उसके दोष ही दिखलाए गए है।[3] हाँ, गुलशने हिन्द नामक पुस्तक की समालोचना अवश्य कुछ प्रशसात्मक है।[4] निष्कर्ष यह कि गुप्त जी ने बुक रिव्यू के रूप मे और भी जितनी समालोचनाएँ लिखी है वे सब नाम मात्र की समालोचनाएँ हैं। उनसे हमारा समालोचना-साहित्य कोई विशेष प्रगति-पथ नही पा सका है। ऐसी परिस्थिति मे बाबू बालमुकुन्द गुप्त का समालोचक अन्य समकालीन समालोचना की समता में विशुद्ध समीक्षात्मक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नही है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी समालोचनाएँ साहित्यिक परिवेश मे बहुत कम जम सकी है, अत भारतेन्दु-युग तथा द्विवेदी युग के सन्धिकाल मे उनका इस क्षेत्र मे एक सीमित गौरव ही है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि गुप्त जी ने आधुनिक हिन्दी साहित्य के समालोचनागत विकास मे अपनी सीमा और शक्ति के अनुरूप यत्किंचित् अभिवृद्धि करने का प्रयास किया है, किन्तु वह प्रयास साधारण और सामान्य श्रेणी का है। मेरी समझ मे गुप्त जी समालोचना का अर्थ ही टीका-टिप्पणी या नुकताचीनी ही समझते थे, अत उन्होने जितनी भी समालोचनाएँ लिखी, उन सबमे उनकी यह प्रवृत्ति झलके बिना नही रह सकी।

प्रवर्त्तनकालीन समालोचना का मूल्यांकन और निष्कर्ष

७२. भारतेन्दु युग की समालोचनाएँ हमारे साहित्य की प्रवर्त्तनकालीन समालोचनाएँ हैं। उनके निर्माण मे तत्कालीन युग-जीवन और रचनात्मक साहित्य का पर्याप्त भाग है। वस्तुतः इस समय देश के विभिन्न क्षेत्रीय वातावरणो मे पूर्व विवेचित परिस्थितियो के अनुरूप जिस प्रकार का बौद्धिक जागरण प्रसारित हो रहा था, उसने लोगो के मस्तिष्क मे प्रत्येक विषय को अंध आस्था मे न ग्रहण कर तर्कभित्ति पर स्वीकार करने की प्रेरणा दी और यह प्रेरणा भी समालोचना के प्रवर्तन और विकास का कारण बनी। इस युग की समालोचना प्राचीन काव्यशास्त्रीय सैद्धान्ति पक्ष को छोडकर शनै शनै अग्रेजी समीक्षा की पद्धति व्यावहारिकता की ओर उन्मुख होती हुई प्रतीत

१ भारतमित्र, सन् १६०३ ई०.
२. भारतमित्र सन् १६०२ ई०.
३. भारतमित्र सन् १६०५ के अक
४ भारत मत्र सन १६०५

होती है। इस युग के समालोचको की कृतियो का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि वे पाश्चात्य पद्धति की समालोचना मे युगानुरूप भावना अधिक पाते थे और उन्होने पत्र-पत्रिकाओ के अन्तर्गत पुस्तकालोचन या बुक-रिव्यू लिखते समय उसी का प्रयोग किया था। इसी युग मे गद्य मे साहित्य का विकास होने से भी समालोचना को विशेष सहयोग मिला, क्योकि किसी भी विचारधारा का प्रतिपादन जितनी तर्कना और स्वच्छन्दता से गद्य मे किया जा सकता है, उतना पद्य-साहित्य के माध्यम द्वारा नही। इस समय पर्यन्त हमारे पाठ्यक्रम मे विभिन्न विषयो की पुस्तकें निर्धारित की जा चुकी थी, अतः उनके सम्बन्ध में भी जो यथाप्रसग टीका-टिप्पणियाँ की जाती थी। उनसे भी समालोचना-साहित्य के प्रवर्त्तन मे सहायता मिली। इस युग के साहित्यकारो ने जब अंग्रेजी के साहित्य का अध्ययन किया और उन्हे उसमे गद्य-पद्य की विभिन्न विधाओ के अन्तर्गत व्यापकता और समीक्षा-वृत्ति उपलब्ध हुई तो वे भी उसी प्रकार की समृद्धि हिन्दी साहित्य मे भी देखने के लिए लालायित हो उठे और इस अन्त.प्रवृत्ति ने उन्हे समालोचना-साहित्य के निर्माण तथा उसकी अभिवृद्धि के लिए प्रेरणा दी। वैसे तो संस्कृत तथा रीतिकालीन काव्यशास्त्र मे सैद्धान्तिक और शास्त्रीय निरूपण चरम कोटि तक पहुँचा हुआ था किन्तु जिस प्रकार की प्रयोगात्मक समालोचनाएँ अग्रेजी साहित्य मे थी, उस प्रकार की समीक्षाओ का हिन्दी साहित्य मे अभाव इन साहित्यसेवियो को बहुत अखरता था, अत. अपने साहित्य की इस हीनता की क्षतिपूर्ति के लिए भी प्रवर्तन-काल के साहित्यकार इस ओर प्रवृत्त हुए। मुद्रण-कला के विकास और पारस्परिक विचारो के आदान-प्रदान ने भी समालोचना-प्रवर्तन को आधार-पीठिका प्रदान की। इस समय कुछ ऐसे समालोचक भी हुए जिन्होने भारतीय और पश्चिमी समीक्षा-सिद्धान्तों मे समन्वय लाने का प्रारम्भिक प्रयास किया। इस युग के समालोचको का ध्यान शनैः शनै इस ओर भी जाने लगा कि रचना के साथ कृतिकार के जीवन-पक्ष का भी अध्ययन करते हुए उसकी मूल प्रेरणाओं का विश्लेषण समालोचनाओ के अन्तर्गत किया जाना एक अनिवार्य तत्त्व है। समालोच्य विषय के गुण-दोष-उद्घाटन की प्रवृत्ति का प्रस्फुटन भी इस युग में प्रदर्शित हुआ। यद्यपि इस युग के अधिकाश समालोचको ने दोषोद्भावना को ही समालोचना का मूल विवेच्य समझा, किन्तु वे शनै -शनै. गुण-संकीर्तन की ओर भी अग्रसर होने लगे। उनमे दोनो के सामंजस्य की चेष्टा भी प्रतीत हुई। इस युग मे टीका-साहित्य मे भी समालोचना का आभास मिलता है, जिसका अनुमान श्री मानसीनन्दन पाठक लिखित 'मानस सकावली', शिवलाल पाठक द्वारा सम्पादित 'मानस मयक' और शिवरामसिह रचित 'मानस तत्त्व प्रबोधिनी' के अध्ययन से हो सकता है। इन रचनाओ मे रस, भाव, भाषा, अलकार और छन्दो की दृष्टि से भी मानस का पर्यालोचन किया गया है किन्तु निरूपणपद्धति पर भारतीय शास्त्रीयता का ही अधिक प्रभाव है। भारतेन्दु जी का नाटक शीर्षक निबन्ध इस युग की लेख-बद्ध समालोचना का आदर्श कहा जा सकता है। भारतेन्दु जी के अतिरिक्त श्री बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, प० बालकृष्ण भट्ट तथा पं० गगाप्रसाद अग्निहोत्री तथा बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने जिस प्रकार की समालोचनाएँ लिखी थी, उनका विस्तृत विवेचन इन समीक्षको की कृतियों का मूल्यांकन करते समय कर दिया गया है। उक्त लेखकों की रचनाएँ इस युग की समालोचनाओ का मूल स्वरूप व्यक्त करती हैं। तुलना, व्याख्या, प्रभावाभिव्यंजन तथा निर्णय का भी सामान्य विकास इस युग की समीक्षाओ मे प्रदर्शित है। लेखको को नए-नए विषय सुझाने और साहित्य को युगानुरूप विकसित बनाने के संकेत भी इस युग की समालोचनाओ मे मिलते हैं। अभिप्राय यह है कि भारतेन्दु-युग मे जिस प्रकार के रचनात्मक साहित्य का निर्माण हुआ था, उसी के अनुरूप समालोचना-साहित्य का भी स्वरूप सगठन इस युग की समालोचनाओ मे हुआ और भारतेन्दु जी उसके मूल प्रवर्त्तक रहे। अतः इस काल को उन्ही की प्रेरणाओं से निर्मित समझते हुए हमने प्रवर्त्तन-काल के साथ-साथ भारतेन्दु-युग से भी अभिहित करना उचित समझा है।

षष्ठ अध्याय

समालोचना का संवर्धन-काल

(द्विवेदी-युग)

सामान्य-परिचय और संवर्धन की दिशा

१. द्विवेदी-युग मे यद्यपि समालोचना मे वह प्रौढि नही आ सकी, जो उसके उत्तरवर्ती शुक्ल-युग मे स्वभावत प्रदर्शित हुई, किन्तु यह भी एक स्पष्ट सत्य है कि इस युग मे आधुनिक हिन्दी-समालोचना के संवर्धन के सभी लक्षण क्रमश संगठित होने लगे थे। इस युग ने पत्र-पत्रिकाओ के कलेवर मे विकसित होने वाली बुक-रिव्यू अथवा पुस्तकालोचन की परिचयात्मक समीक्षा के साथ-साथ सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा के अनेक स्वरूपो का अपेक्षित महत्त्व-निर्धारण किया और भारतेन्दु-युग की चेतना को विकसित बनाया। वस्तुत. इस युग का एक सुनिश्चित मानसिक धरातल था, जो भारतीय आदर्श और समाज-सुधार की भावनाओ से निर्मित हुआ था। अत उसी के अनुरूप रचना और समालोचना का भी पक्ष-सगठन हुआ। इस युग के समालोचक भारतीय समीक्षा-पद्धति के शास्त्रीय विधान के बहुत निकट थे, किन्तु उनकी ग्राहिका शक्ति नवीन आलोक मे विकसित होने वाली पाश्चात्य परम्परा को भी यथोचित महत्त्व देती थी। कहा जा सकता है कि आधुनिक युग मे जिन-जिन पद्धतियो और शैलियों के अन्तर्गत समालोचनात्मक प्रवृत्तियो का विकास हुआ है, वे सब द्विवेदी-युग मे प्रस्फुटित हो रही थी और कालांतर मे उन्ही का विकास परवर्ती युग मे हुआ। अत मेरी दृष्टि से द्विवेदी-युग को आधुनिक समालोचना का सवर्धन-काल कहना सभी दृष्टियो से युक्तिसगत है।

२. द्विवेदी-युग को मैने आधुनिक हिन्दी साहित्य की क्रोड मे विकसित होने वाली समालोचना का संवर्धन-काल कहा है, उसका एक ठोस आधार है। इस समय भारतेन्दु-युग मे प्रवर्तित समालोचना का उसके विविध स्वरूपो मे वस्तुत. संवर्धन होने लगा था। भारतेन्दु-युग मे प० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' तथा पं० बालकृष्ण भट्ट द्वारा पुस्तकालोचन के रूप मे जिस समालोचना-विधि को जन्म दिया गया था, उसका प्रस्फुटन इस युग मे प्रदर्शित हुआ। इस युग के सम्पादक और समालोचक समालोच्य कृतियो के सम्बन्ध मे केवल दस-पाँच पंक्तियो मे परिचय के तौर पर यो ही कुछ लिखकर अपने कर्त्तव्य से छुट्टी नही पाने लगे, अपितु उनकी दृष्टि इस ओर भी जाने लगी कि यथासम्भव समालोचना के लिए प्राप्त रचनाओ का कुछ विशद विवेचन भी हो।[1] भारतेन्दु-युग मे तो अधिकतर पुस्तको की समालोचनाएँ उनकी छपाई, कीमत, पृष्ठ-सख्या, लेखक-सस्तव आदि करते हुए ही कर दी जाती थी अथवा यह कह कर टाल दिया जाता था कि समालोचना आगामी अंक मे करेंगे, किन्तु द्विवेदी-युग मे ऐसा बहुत कम हुआ। इसका बहुत कुछ श्रेय आचार्य द्विवेदी जी जैसे कर्मठ साहित्य सेवियो और समालोचकों को ही है। द्विवेदी जी ने सरस्वती के प्रत्येक अंक मे निरालसवृत्ति से केवल उन पुस्तको की ही समालोचनाएँ नही की, जो उन्हे समालोचनार्थ प्राप्त होती थी, किन्तु उन कृतियो का भी समीक्षण किया, जो उस युग मे महत्त्वशाली रही। इसी प्रकार उन्होने हिन्दी भाषा और साहित्य के समकालीन बगला और मराठी भाषा के भाषा साहित्यों का भी परिचयात्मक समीक्षण अपनी सर्जनात्मक प्रवृत्ति से किया और संस्कृत का प्राचीन गौरवपूर्ण साहित्य भी उनके दृष्टि-बिन्दु से नही बच सका। अतः यह एक स्पष्ट सत्य है कि द्विवेदी-युग का समालोचना-साहित्य निश्चय ही अपने पूर्ववर्ती युग का सर्वधित स्वरूप था।

१. प० महावीर प्रसाद द्विवेदी, 'समालोचना समुच्च्य', प्रथम सस्करण, पृष्ठ २।

निर्माण-पक्ष और काल-निर्धारण

३. द्विवेदी-युग मे समालोचना के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक इन दोनो पक्षो का विवेचन हुआ। उसका सैद्धान्तिक पक्ष-निरूपण एक ओर प्राचीन संस्कृत-साहित्य के रस, अलंकार, ध्वनि और वक्रोक्ति आदि काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायो से अनुप्राणित था तो दूसरी ओर उसमे पाश्चात्य जगत् मे विकसित होने वाली व्याख्यात्मक समालोचना का भी पर्याप्त अंश था। उसकी मूल चेतना मे द्विवेदी जी की सुरुचि-सम्पन्नता और नैतिकता का भी प्रमुख श्रेय रहा। सैद्धान्तिक समालोचना का मुख्य उपजीव्य काव्य-विवेचन ही रहा, किन्तु साहित्य के अन्य अंगो का भी यथोचित विश्लेषण किया गया। इस युग की समालोचना पर अंग्रेजी साहित्यालोचन की भी यथेष्ट छाया प्रतिबिम्बित हुई, किन्तु उसका रचना-विधान भारतीय दृष्टि को अनुपेक्षित किये हुए ही चलता रहा।

४. द्विवेदी-युग की सीमा निर्धारित करने मे हिन्दी साहित्य के इतिहासकारो मे मतभेद रहा है। इस विषय मे तो प्राय सभी समालोचक सहमत है कि सन् १९०१ से द्विवेदी-युग का समारम्भ माना जाय, किन्तु यह विषय अब भी विवादग्रस्त बना हुआ है कि उसकी परिसमाप्ति द्विवेदी जी के सरस्वती-सम्पादन के समय-पर्यन्त अर्थात् सन् १९२० तक ही समझी जाय अथवा उसके साहित्य-व्यापी प्रभाव को दृष्टिगोचर रखते हुए सन् १९३० के आसपास तक मानी जाय। मेरी दृष्टि मे साहित्य-क्षेत्र जब भावनाओ और विचारो का ही मूलत· रसात्मक अभिव्यजन है, तो उसमे इस प्रकार की स्थूल एवम् कठोर प्रक्रिया द्वारा कालविभाजन करना कदाचित् अधिक उपयुक्त नही है। विज्ञान के क्षेत्र मे एक आविष्कार के अनतर दूसरा आविष्कार होने पर पहले की महत्ता नगण्य भी हो सकती है, किन्तु साहित्य के क्षेत्र मे प्राय: ऐसा नही होता। इसका मूल कारण यही है कि युग-प्रवृत्तियो और जीवन-आस्थाओ मे परिवर्तन होने पर भी उनका आभ्यन्तरिक मूल-दर्शन अपनी शाश्वत उद्भावनाओ मे प्राय एक सा ही रहता है, जिसको किसी भी युग का दृष्टिकोण बाह्य परिवेश मे भले ही प्रभावित कर दे, किन्तु उसकी सास्कृतिक चेतना मे मौलिक अन्तर लाना कुछ कठिन सा होता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर कहा जा सकता है कि द्विवेदी-युग ने समीक्षा-क्षेत्र मे जो विचार-चिन्तन प्रदान किया, वह द्विवेदी जी द्वारा सरस्वती के सम्पादन-कार्य से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् भी चलता रहा और आगे आने वाला युग प्रौढ़ता की उपलब्धि करने के अनन्तर भी उससे सर्वथा तटस्थ रहकर नही चल सका। ऐसी परिस्थिति मे मैंने स्थूल दृष्टि से द्विवेदी-युग का सीमा-निर्धारण सन् १९०१ से लेकर आचार्य द्विवेदीजी के सरस्वती सम्पादन-काल पर्यन्त (सन् १९२०) तक किया है। कहने के लिए तो सन् १९०३ मे आचार्य द्विवेदी जी ने सरस्वती-सम्पादन का महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व अपने सबल कन्धो पर लिया और वे सन् १९२० तक अपने कार्यभार का निरन्तर निर्वाह अपने महान् व्यक्तित्व और उच्च कोटि की प्रतिभा के बल पर करते रहे, फिर भी मैंने अपने विवेचन की सुविधा की दृष्टि से इस काल को सन् १९०१ से सन् १९२० के दो दशकों मे परिव्याप्त माना है। वास्तविकता तो यह है कि यदि द्विवेदी-युग का प्रवर्तन द्विवेदी जी के सरस्वती सम्पादन के समय (सन् १९०३) से भी माना जाय तो भी इस विषय मे कदाचित् ही मतभेद हो कि उसके अंकुर सन् १९०१ के आसपास ही जमने लगे थे, जब कि द्विवेदी जी सरस्वती के सम्पादन-कार्य को हाथ मे लेने के पूर्व भी विभिन्न लेखों द्वारा साहित्य-जगत् के सम्मुख अपने समालोचक व्यक्तित्व की आभा विकीर्ण करने लगे थे।

५. हिन्दी-साहित्य के कुछ विद्वानों ने द्विवेदी-युग की काल-सीमा सन् १९०१ से १९३० तक मानी है।[१] उनका भी यह काल-निर्धारण व्यापक दृष्टि से समीचीन है, किन्तु मैंने समालोचना की विकास-धारा को विभिन्न चरणो में प्रक्षिप्त करने की सुविधा से प्रस्तुत काल-निर्णय का एक

---

१. प० नन्ददुलारे वाजपेयी . 'नया साहित्य नये प्रश्न', द्विवेदी-युग की समीक्षादेन, पृष्ठ ३२.

विशेष दृष्टिकोण रखा है। वैसे तो द्विवेदी जी की विचारधारा और समीक्षा-पद्धति के समालोचको और विचारको का आज भी अभाव नही है; किन्तु यह भी एक स्पष्ट सत्य है कि सरस्वती से अवकाश ग्रहण करने पर उनका वह ऊर्जस्वित व्यक्तित्व समीक्षा-जगत् के सम्मुख धूमिल पडने लगा था और साहित्यालोचन के प्रतिमान मे भी नवीन उत्क्रान्तियाँ और विकास-प्रक्रियाएँ मूर्तिमान बनने लगी थी। निस्सन्देह समालोचना के क्षेत्र मे सन् १९३० तक भी उनकी समानवर्ती समीक्षा-शैली और प्रतिमान-प्रणाली चलती रही[1] और उनके काल के आलोचक प्राय. वैसा ही निरूपण करते रहे, किन्तु यह भी एक स्पष्ट सत्य है कि सन् १९२० के पश्चात् आचार्य द्विवेदी के युग का अवसान नही, तो कम से कम उसकी प्रखरता मन्द अवश्य पड़ने लगी थी। द्विवेदी-युग के उपरान्त समालोचना मे जो युग आया, वह उन्ही के युग की विचार-कणिकाओ से विकसित और व्याप्त था, किन्तु फिर भी उसमे प्रौढता अवश्य आने लगी थी। उनके पश्चात् आचार्य शुक्ल जी इस क्षेत्र मे अधिनायक बनकर आए और यह कहना उचित होगा कि उनके जिस व्यक्तित्व का निर्माण द्विवेदी-युग तथा स्वय द्विवेदी जी ने किया था, वह उस समय पर्यन्त अपने चिन्तन, मनन और पर्यवेक्षण से एक स्वतन्त्र मानदण्ड स्थापित करने मे समर्थ हो रहा था। ऐसी अवस्था मे द्विवेदी-युग की सीमा स्थूल रूप से सन् १९०१ से सन् १९२० तक मानने मे विद्वान् समालोचको को कदाचित् ही अधिक आपत्ति हो। यहाँ यह बात भी ध्यान मे रखने योग्य है कि समालोचना के ये युग-विभाजन केवल अध्ययन की सुविधा के लिए ही है। हाँ, उनकी महत्ता इस दृष्टिकोण से अवश्य है कि साहित्यानुशीलक के सामने इस विभाजन के द्वारा ऐसे प्रमुख चरण अवश्य आ जाते है, जिनके अन्तस्तल मे समालोचना की धारा स्वतः अपना विकास करती चली है। ये चरण समालोचना-प्रदेश की यात्रा मे पडने वाले ऐसे मुख्य-मुख्य स्थल है जहाँ हम अल्पाधिक समय के लिए विश्रांति लेकर यह सोच लेते है कि यद्यपि हमारे साध्य अथवा गंतव्य क्षेत्र की प्रधानस्थली इनसे दूरवर्ती है, किन्तु इन विराम-केन्द्रो मे पहुँच कर हमारे सामने कुछ विकास अथवा नवीन प्रवृत्तियो के विशेष चिन्ह अवश्य आ गये हैं।

मूल भावना और आधारशिला

६. द्विवेदी-युग के साहित्य-समालोचको की अन्तश्चेतना एक निश्चित भावभूमि पर अवलम्बित थी। इस युग के प्राय. समस्त विचारक मध्यम श्रेणी के व्यक्ति थे, जिनके सस्कार प्राचीन भारतीय आदर्श तथा आचार-शास्त्र के अधिक निकट थे। यद्यपि युग-धर्म ने उनके मानस मे सुधारवादी विचारधारा और नैतिकता की विकासोन्मुखी भावना का प्रस्फुरण भी किया था, किन्तु वे अतीत के प्रति बनी हुई अपनी आस्थाओ मे इतने सुदृढ थे कि नवीनता का आलोक उन्हे बिना किसी सास्कृतिक आधार के चमत्कृत और मुग्ध नही बना सकता था।[2] उन्होने साहित्य को जीवन की एक सजीवनी शक्ति और मगलविधायिनी प्रेरणा के रूप मे देखा और उसकी महत्ता का निरूपण व्यक्तिपरकता से न कर सामाजिक दृष्टिकोण से किया। राम और कृष्ण इन साहित्य-सेवियो के आदर्श थे और गीतिकाव्य की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्य के प्रति उनका अधिक झुकाव था। इस युग के रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्यो पर उनकी इस मानसिक चेतना का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग की सृजनात्मक प्रेरणा सजीवनशील विधि के द्वारा देश मे राष्ट्रीय जागरण की स्वर-लहरी का प्रसार कर उसे एक निश्चित मार्ग-दर्शन कराना चाहती थी, तो समालोचनात्मक प्रवृत्ति भी उसे भारतीय काव्य-शास्त्र के अधिक

१ प० नन्ददुलारे वाजपेयी 'नया साहित्य, नये प्रश्न' द्विवेदी युग की समीक्षा देन, पृष्ठ ३२

२ प० नन्ददुलारे वाजपेयी 'आधुनिक साहित्य', द्वितीय सस्करण, पृष्ठ १२

अनुरूप बन कर साहित्य के सदुद्देश्य को अधिक से अधिक निकटवर्ती भावना से व्यक्त करने की आकांक्षिणी थी। अपने पूर्वयुगीन साहित्य का सम्यक् आकलन कर इस युग के समालोचको ने इस विषय मे एक सुनिश्चित दृष्टि प्राप्त कर ली कि साहित्य को किस दिशा की ओर प्रवृत्त करना अधिक हितकारी हो सकेगा। इस कार्य को सबसे अधिक सुन्दर व्यवस्था मे आचार्य द्विवेदी ने अपने सम्पादकीय उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए किया और वे भाषा विषयक आन्दोलन को भी सुस्थिर गति तथा विचार-क्षेत्र मे बहुमुखी सामग्री प्रदान कर सके। उनकी 'सरस्वती' पत्रिका को उस युग की समस्त विधाओ और ज्ञान-राशियो का प्रतीक कहा जा सकता है, जिसमे न केवल समसामयिक साहित्य-धाराओ का ही विवेचन रहता था, अपितु कदाचित् ही ज्ञान-विज्ञान का कोई विषय उसके अन्तर्प्रदेश से बहिर्गत रह पाता था। सन् १९०१ से १९२० तक की सरस्वती की प्रमुख रूपरेखा या साज-सज्जा मे ऐसे विषयो का पूर्ण समावेश है।[१] कहा जा सकता है कि द्विवेदी-युग ने साहित्य-चिन्तन के विशिष्ट आदर्शो की उद्भावना करते हुए जिन साहित्यकारो का निर्माण किया, वे आज भी हमारे आधुनिक साहित्याकाश के उज्ज्वल नक्षत्र है और उनकी प्रतिभा युग-सीमा का अतिक्रमण कर अनेक दृष्टियो से सार्वकालिक बन गई है। कहने की आवश्यकता नही कि इसका मूल कारण द्विवेदी-युग की संवर्धन-भावना और उनकी प्रेरक शक्ति ही है।

उपयोगितावादी दृष्टि और उसकी सीमाएँ

७. द्विवेदी-युग मे साहित्यालोचन का जो निकष निर्धारित किया गया, उस पर उपयोगितावाद का सर्वाधिक प्रभाव है। इस युग के आलोचको ने जिस धरातल पर अवस्थित होकर साहित्य-विवेचन किया, वह अत्यन्त स्थूल और पार्थिव था। उसमे सुधारवादियो वाली व्याख्यान प्रणाली मिलती है, जिसका प्रयोग प्रवचन-मचो पर बडी सुदृढता और निर्भीकता से किया जाता है।[२] स्वय द्विवेदी जी तथा उनके सहयोगी समालोचको के मानस मे सुरुचि और नैतिकता के कुछ विशिष्ट सिद्धान्त थे, जिनको प्रतिमान बना कर वे साहित्य का परीक्षण करते तथा उस पर सत् असत् का आरोपण कर अपना निर्णय देते थे। कहा जा सकता है कि इस युग की समालोचक-दृष्टि आर्यसमाजी भावनाओं के अनुरूप सुधार-युग की दृष्टि थी, जिसका केवल तात्कालिक उपयोग अथवा महत्त्व था। आज के परिवर्तित युग मे वह मानदण्ड बहुत अधिक समय-बाह्य हो गया है और उसकी उपयोगिता स्थायी न रह कर केवल युगधर्मी और ऐतिहासिक-मात्र बन गई है। उपयोगिता का यह एकागी दृष्टिकोण साहित्य का व्यापक समीक्षण करने मे अधिक उपयुक्त सिद्ध नही हुआ है। बात यह है कि केवल उपयोगितावाद की कसौटी पर ही साहित्य का सच्चा मूल्याकन नहीं किया जा सकता, क्योकि ऐसा करने पर साहित्य की मूल भावधारा तथा आनन्ददायिनी शक्ति गौण बना दी जाती है। द्विवेदी-युग में यही हुआ। उस समय केवल नैतिकता और आदर्श की छाप समालोचना के क्षेत्र मे अपना ऐसा गम्भीर प्रभाव अकित कर गई, जिसके कारण अनेक समालोच्य कृतियो और साहित्यकारो के साथ न्याय-भावना का निर्वाह नही हो सका। छायावाद के कवि इस युग के आलोचकों के व्यंग्य-लक्ष्य बने, जिसका मूल कारण इस युग की उपयोगितावादी एकागी दृष्टि ही थी। इसी प्रकार हिन्दी रीतिकाव्य के प्रति भी जो एक प्रकार की अरुचि और भर्त्सना की भावना का पिष्टपेषण हुआ, वह भी इसी मानसिक प्रवृत्ति के कारण। मुक्तक और गीतिकाव्य के स्थान पर प्रबन्ध और महाकाव्यो का महत्त्व, यथार्थ के स्थान पर आदर्श का अधिकार इसी का निदर्शन है। इसी प्रकार कला के विषय मे जीवन-पक्ष की आदर्शात्मकता को भी इतना अधिक बोझिल

---

१. प० नन्ददुलारे वाजपेयी 'आधुनिक साहित्य', द्वितीय सस्करण, पृष्ठ १३

२. वही, पृष्ठ १४

बनाकर ग्रहण किया गया कि साहित्य की प्रकृत मूल-वृत्ति कुछ कुठित सी हो गई। एक प्रकार से उस युग की समीक्षा के अन्तर्गत काव्य की शुद्ध आनन्ददायिनी शक्ति अर्थात् रस-निष्पत्ति का सम्यक् संयोजन साहित्य-परीक्षण मे ठीक ठिकाने की विधि से नही हो पाया। अत. द्विवेदी-युग अपनी उपयोगिता और सुधारवादिता मे यथेष्ट प्रगतिशील होकर भी साहित्यालोचन के एक विशेष पक्ष की ओर इतना अधिक परिसीमित हो गया, जिसकी प्रतिक्रिया हमे उसी युग के अन्तर्गत विकसित होने वाले छायावादी कवियों की भावधारा की आलोचनात्मक उपलब्धियो के अन्तर्गत मिली। उनका विवेचन यथास्थान किया जायगा।

जिन्दादिली और जागरूकता

८. द्विवेदी-युग को हिन्दी समालोचना की सजीदगी का युग कहा जा सकता है। उस युग के समालोचको मे कितनी अधिक जिन्दादिली और जागरूकता थी, इसका आभास तत्कालीन समालोचना-साहित्य के आकलन से सहज ही लगाया जा सकता है। ऐसे समालोचको मे आचार्य द्विवेदी जी का व्यक्तित्व सबसे अधिक प्रभावशाली था। उस युग के अधिकाश समालोचक पत्रकार भी थे, अत उन्होने सम्पादकीय अधिकार तथा ओज मे जो कुछ भी साहित्यालोचन किया, वह केवल परम्परायुक्त और एकागी न रहकर सामयिकता का भी सस्पर्श करता हुआ चला। द्विवेदी जी को तो उस युग मे और भी अधिक कठोर बनना पडा था। उनके सामने भाषा-साहित्य की नित्य नूतन समस्याएँ आती थी, जिनका निराकरण केवल कठोर अनुशासन के द्वारा ही किया जा सकता था। वे जिस सिद्धपीठ पर अधिष्ठित थे, उसके उत्तरदायित्व का उन्हे पूर्ण ध्यान था। वे यह कदापि सहन नही कर सकते थे कि वागीश्वरी के पवित्र मन्दिर मे व्यर्थ का कर्दम पूजीभूत हो, अतः उन्होने सजग प्रहरी और कठोर निरीक्षक के रूप मे प्रतिक्रियावादी शक्तियो का निर्भीकता के साथ प्रतिकार किया। ऐसा करते समय उनका स्वाभिमान और दृढ विश्वास ही परम सहायक हुआ। उन्हे शर्करावेष्टित मिथ्या बाते सर्वथा अरुचिकर लगती थी, अत उन्होने निजी व्यक्तित्व की भाँति ही अपना साहित्यिक व्यक्तित्व भी निर्मित किया, जिसमे स्पष्टवादिता और निर्भीकता का इतना अधिक समावेश था कि उनके विरोधी व्यक्ति भी उनकी तर्कशक्ति और व्यग्य शैली के आगे तिलमिला उठते थे। उन्होने उन साहित्य-लेखको को आडे हाथो लेने मे कोई कसर नही रखी, जो अपनी अहमन्यता के कारण साहित्य मे अनुचित आधिपत्य के आकाक्षी थे। स्पष्टवादिता तो उनमे इतनी अधिक थी कि वे निस्सकोच भावना से 'सरस्वती' पत्रिका की सम्पादकीय टिप्पणियो मे उनकी कस कर खबर लेने मे नही हिचकिचाते थे। इसका प्रमाण उनके 'सरस्वती' के प्रलेख और दौलतपुर तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा मे सगृहीत उनकी पत्रावली तथा वह साहित्य सामग्री है, जो उनके व्यक्तित्व की विशालता को जानने मे कुजी का काम देती है।

वादविवाद-प्रणाली की प्रवृत्ति

९. यह एक अत्यन्त मनोरजक और महत्त्वपूर्ण विषय है कि द्विवेदी-युग की समालोचना का एक स्वरूप वादविवाद-प्रतियोगिताओ के लिखित स्वरूप से कम न था। उस समय के आलोचको मे छोटी-छोटी बातो को लेकर कभी-कभी इतनी अधिक तन जाती थी कि तत्कालीन पत्र-पत्रिकाएँ उन्ही की विवाद-प्रणाली से ओत-प्रोत रहती थी। चूँकि उस समय के आलोचक अधिकाशतः सम्पादक भी थे, अतः उन्हे अपने पत्रो मे अपने मन की उमगो के उद्भावन का सर्वाधिक उपयुक्त अवसर मिलता था। द्विवेदी जी को भी अनेक बार ऐसा करना पडा और आलोचना-प्रत्यालोचना का यह क्रम सुदीर्घ काल पर्यन्त लेख-परम्परा के रूप मे चलता रहा। उन आलोचनाओ मे साहित्य के गम्भीर समीक्षण की प्रवृत्ति उतनी अधिक नही होती थी, जितनी भाषा-शुद्धि के

आन्दोलन विषयक बाह्य विवेचन की। किन्तु उस युग को देखते हुए यह कौन-सी कम महत्त्वपूर्ण बात थी ? सच तो यह है कि आचार्य द्विवेदी का युग मुख्यतः भाषा-शोधन और भाव-परिष्करण का ही युग था। उस युग के साहित्यकारो मे आत्म-प्रशसा की भावना का भी प्रबल उद्रेक रहता था। इसका एक प्रमाण तो यह है कि जब जनवरी सन् १६०१ की 'सरस्वती' मे बाबू श्यामसुन्दर दास के 'हिन्दी भाषा के सक्षिप्त इतिहास' का प्रकाशन हुआ और वे उसमे बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री द्वारा किए गए भाषा-सुधार विषयक कार्यों का विवरण देना भूल गए तो खत्रीजी को बहुत बुरा लगा। उन्होने बाबू साहब को पत्र लिखकर उस भूल का परिमार्जन करने का सकेत किया। उसी समय फरवरी सन् १६०३ मे आचार्य द्विवेदी जी का 'हिन्दी-भाषा और उसका साहित्य' शीर्षक लेख छपा तो वे भी उससे सम्बन्धित पूर्ववर्ती लेखो की चर्चा विस्मृतिवश नही कर सके तो खत्री जी ने उनको भी अपने सम्बन्ध मे स्मरण कराया। परिणाम यह हुआ कि द्विवेदी जी कुछ चिढ गए और उन्होने खत्री जी को नुकताचीनी छोडने की सलाह दी, जिस पर रुष्ट होकर उन्होने 'प्रयाग समाचार' आदि पत्रो मे 'छोटी-छोटी बातो पर नुकताचीनी' शीर्षक लेखमाला निकाली और द्विवेदी जी की तीव्र आलोचना की। साथ ही साथ उन्होने अनेक लघु पत्र भी इस सम्बन्ध मे प्रकाशित कर वितरित किए, जिनमे उनकी कठोर आलोचना की प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। यह सब विवरण द्विवेदी-युग के प्रारम्भकालीन साहित्य-समालोचना का आभास दिलाने के लिए परम सहायक तत्व है।

भाषा-संशुद्धि का आन्दोलन और 'अनस्थिरता' शब्द

१० जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि द्विवेदी-युग की समालोचना का एक प्रमुख विषय भाषा-संशुद्धि का आन्दोलन था। भाषा के शुद्ध लेखन और प्रयोग के द्विवेदी जी कट्टर समर्थक थे। वे इस विषय मे किये जाने वाले प्रमाद को किसी भी दशा मे क्षम्य नही समझते थे। उन्होने कठोर परिश्रम और अथक अध्यवसाय के साथ इस आन्दोलन का सूत्र-सचालन किया और अनेक लेखो द्वारा उचित दिशा-निर्देश भी किया। उन्होने नवम्बर सन् १६०५ मे 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक लेख लिखा जिसमे उन्होने शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' की विद्याकुर २३वी आवृत्ति, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के एक नोटिस, गदाधरसिह की एक विज्ञप्ति, काशीनाथ खत्री की एक सूचना तथा राधाचरण गोस्वामी के भारतेन्दु पत्र से कतिपय व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियो के उद्धरण देकर इस बात पर विशेष बल दिया था कि हिन्दी मे एक सर्वमान्य व्याकरण प्रामाणिक व्याकरण ग्रन्थ का निर्माण होना चाहिए। द्विवेदी जी का यह निबन्ध एक सुन्दर सुझाव था, किन्तु उन्होने जिस व्यंग्यपूर्ण प्रणाली मे उक्त लेख की रचना की, उसमे अन्य विद्वानो को उनकी दम्भपूर्ण सर्वज्ञता की झलक मिली जिससे वे लोग उनका विरोध करने के लिए प्रस्तुत हो गये। इस विरोध मे सबसे अधिक भाग बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने लिया और द्विवेदीजी के 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक लेख का प्रतिवाद उसमे प्रयुक्त 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर आत्माराम के नाम से किया। इस प्रकार 'अनस्थिरता' सम्बन्धी यह वाद-विवाद द्विवेदी-युग की समालोचना मे एक प्रधान अग बन कर उपस्थित हुआ, जिसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि समालोचना के लिए एक नया अखाडा प्रस्तुत हो गया। पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने हिन्दी बंगवासी में पं० शिवदत्त कविरत्न के नाम से उसे ब्राह्मण और वैश्य वर्ग की जातीय भावना का रूप देकर 'आत्माराम की टेटे' शीर्षक लेखमाला निकाली तो पं० देवीप्रसाद शुक्ल ने 'विचार-विडम्बना' और प० गिरिजाप्रसाद वाजपेयी ने 'आत्माराम के वकील' शीर्षक लेख लिखे। पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, पं० पद्मसिंह शर्मा तथा बाबू काशी प्रसाद द्विवेदी जी के समर्थको मे से थे। जिन लोगो ने द्विवेदी जी के 'अनस्थिरता' शब्द के शुद्ध प्रयोग के प्रति शंका प्रकट की उनमे सर्वश्री विष्णुदत्त शर्मा गिरिधर शर्मा, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी,

अक्षयवट मिश्र, गोकुलनन्द प्रसाद वर्मा, गोपालराम गहमरी तथा चन्द्रधर शर्मा गुलेरी प्रमुख थे। इस प्रकार 'अनस्थिरता' शब्द-विषयक यह विवाद निरन्तर बढता गया और 'भारत-मित्र' और 'सरस्वती' का यह झगडा तत्कालीन समालोचना-साहित्य के ऊपर पूर्णत छा गया। इसमे 'सरस्वती' और 'भारत-मित्र' के अतिरिक्त 'हिन्दी बगवासी' (कलकत्ता), 'समालोचक' (जयपुर), 'वैंकटेश्वर' समाचार (बम्बई) तथा 'वैष्णवोपकारक' (कलकत्ता) आदि पत्रो ने भाग लिया। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने द्विवेदी जी की बैसबाडी बोली का उपहास करते हुए "हम पंचन के ट्वाला मों" शीर्षक लेख लिखा तो द्विवेदी जी ने उसका प्रत्युत्तर "सरगो नरक ठेकाना नाहिं"[1] शीर्षक आल्हा कल्लू अल्हइत के नाम से 'सरस्वती' मे जनवरी, १९०६ मे प्रकाशित किया। गुप्त जी भी उसका व्यगपूर्ण उत्तर देने से नही चूके। इस प्रकार यह व्यर्थ का वाद-विवाद इतना अधिक कटु हो गया कि अनेक मूर्द्धन्य साहित्य-कारो की मनोवृत्ति तू तू मै-मैं की स्थिति तक पहुँच गई। बडी कठिनाई के पश्चात् इस विवाद का परिशमन हुआ। गुप्त जी ने अन्ततोगत्वा द्विवेदीजी से क्षमा माँगी और द्विवेदी जी ने उन्हे हृदय से लगा लिया। इस प्रकार इस प्रवृत्ति द्वारा साहित्यालोचन की प्रक्रिया कालान्तर मे विकासशील बन कर प्रकट हुई। अत द्विवेदी-युग की समालोचना का यह अंश उस प्रमुख अंग बनकर उपस्थित होता है।

विभक्ति-विचार-विषयक दृष्टिकोण

११. द्विवेदी-युग मे भाषा-परिष्करण और वाक्य-सगठन के विषय को लेकर एक अन्य आन्दोलन भी चला, जिसे 'विभक्ति-विचार का आन्दोलन' कहा जा सकता है। इसमे तो कोई सन्देह नही कि उस युग के आलोचक अहवादी होते हुए भी हिन्दी भाषा और साहित्य का वैभव देखने के परम आकाक्षी थे और वे सभी दृष्टियो से भाषा-साहित्य के कोष की वृद्धि करना चाहते थे, अतः अन्यान्य विषयो की भाँति उनका ध्यान इस ओर भी गया कि वाक्य-योजना मे विभक्तियो को शब्दो के साथ सटा कर लिखना चाहिए अथवा हटा कर? यह विषय भी तत्कालीन समालोचना का अत्यन्त रुचिपूर्ण विषय रहा। सन् १९०९ के आसपास यह आन्दोलन चला। प० गोविन्दनारायण मिश्र, प० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, श्री अमृतलाल चक्रवर्ती और प० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी आदि विद्वानो का मत था कि विभक्तियो को शब्दो के साथ ही जोड कर लिखना चाहिए जब कि प० रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवानदीन, बाबू भगवानदास हालना आदि लेखक इसका विरोध करते थे। आचार्य द्विवेदी जी भी वस्तुतः इस मत के थे कि यथासम्भव विभक्तियाँ शब्दो से हटा कर ही लिखी जानी चाहिएँ, किन्तु उन्होने इस मत का प्रबल प्रतिपादन नही किया। उन्होने इस विषय का निर्णय लेखको पर छोड दिया और अपनी यही सम्मति दी कि अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार लेखक चाहे जिस रूप मे विभक्तियो का प्रयोग कर सकते है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे इस व्यर्थ के झगडे मे अधिक पडना नही चाहते थे, क्योकि उनके सामने अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन और सयोजन करने का प्रश्न उपस्थित था।

तुलनात्मक प्रवृत्ति और पूर्वग्रह

१२. द्विवेदी युग मे कवियो की तुलना और उन्हे एक-दूसरे को अपनी व्यक्तिगत रुचि के अनुसार छोटा-बडा सिद्ध करने की भावना भी समालोचना-क्षेत्र मे एक प्रमुख विषय बन कर उपस्थित हुई। इसमे कोई सन्देह नही कि इस युग मे समालोचना का स्तर और दृष्टिकोण भारतेन्दु-युग से बहुत कुछ आगे बढ़ चुका था और वह केवल पुस्तक-परिचय या कवि-नामोल्लेख मात्र न होकर उससे पर्याप्त विकसित था, फिर भी इस युग के आलोचको मे गाम्भीर्यपूर्ण, निष्पक्ष तथा व्यापक दृष्टि की न्यूनता ही रही। जिस तटस्थता और विवेक-शक्ति से उद्भावित होकर समालो-

---

१. 'सरस्वती,' भाग ७, सख्या १, जनवरी सन् १९०६।

चना की जानी चाहिए, वह पर्यवेक्षण-प्रवृत्ति हमें इस युग के आलोचकों मे अधिक नही मिलती है। यद्यपि आचार्य द्विवेदी जी ने समालोचना के प्रतिमान को यथेष्ट विकसित किया और वे साहित्य मे बहुमुखी व्यक्तित्व रखने के कारण उस क्षेत्र को नवीन दृष्टिकोण प्रदान कर सके, किन्तु वे भी इस दोष से मुक्त नही थे। उनकी प्रकाशित आलोचनाएँ इस बात का जीवन्त प्रमाण है। उन्ही के युग में 'देव और बिहारी' को लेकर बहुत दिनो तक एक साहित्यिक प्रवाद चलता रहा, जिसके मूल मे कवियो की अंतर्प्रवृत्ति की छानबीन करने के स्थान पर केवल इस बात का अधिक आग्रह था कि अपनी मान्यता के अनुरूप येन-केन प्रकारेण उन्हे एक-दूसरे से हीन अथवा श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाय। ऐसा लगता है कि इस प्रवृत्ति के आलोचक कवियो की आलोचना न कर अपने व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष अथवा अहमन्यता की पुष्टि के लिए रचना कर रहे है और उनका दृष्टिकोण उन वकीलों के समान है जो अभियोग के न्यायपूर्ण और यथार्थ पक्ष की ओर ध्यान न देकर केवल अपने पक्ष के समर्थन मे एकागी तर्क उपस्थित करते है और जिनका लक्ष्य विपक्षी को नीचा दिखाना या पराजित करना होता है। ऐसी आलोचनाओ से साहित्य-निर्णय की विवेकसम्मत स्थिति का कहाँ तक निर्वाह हो सकता है, यह सुविज्ञजनो के लिए चिन्तन का विषय है। हाँ, इस प्रकार की आलोचना से एक बात अवश्य हुई और वह यह कि इसी मिष आलोचको ने शोध-शोध कर अपने मनोनुकूल कवियो के काव्यगुणो की विशेषताएँ अथवा विपक्ष के प्रति छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति का परिचय दिया, जिससे जाने-अनजाने उन कवियो के बारे मे अनेक प्रकार की आवश्यक और अनावश्यक जानकारी साहित्य-जगत् के सम्मुख आ उपस्थित हुई। उसका इस दृष्टि से यह मूल्य अवश्य रहा कि कालातर मे जब समालोचना मे प्राजलता और प्रौढता लाने के प्रयत्न प्रारम्भ हुए तो इन समीक्षको की आलोचना ने उनके लिए नीव की मिट्टी अथवा उर्वर खाद का काम अवश्य किया। यह भी एक विकास की अवस्था थी और उसका इस दृष्टि से हीन मूल्याकन नही होना चाहिए कि द्विवेदी-युग की यह तुलनात्मक प्रणाली सर्वथा निम्न स्तर पर अधिष्ठित होकर ही विकसित हुई है। यद्यपि पक्षपात और स्वमत-पोषण की प्रवृत्ति उसका एक दोष अवश्य है, फिर भी यह तो मानना ही पडेगा कि समालोचना के क्षेत्र मे यह एक सुन्दर प्रयोग था और यह प्रयोग उस प्रयोग से विकासशील एवम् उन्नत था जो भारतेन्दु-युग मे प्रेमघन जी ने अपनी 'आनन्द कादम्बिनी' अथवा भट्ट जी ने अपने 'काव्य-प्रदीप' मे किया था। इस प्रयोग मे विशेषता थी तो केवल यही कि इस तुलनात्मक प्रणाली के समीक्षको ने केवल दोष-दर्शन की ओर ही अपनी दृष्टि न रखकर कवियो के काव्य-गुणो के समीक्षण की ओर भी ध्यान दिया तथा वे उनकी अनेक प्रकार की विशेषताओ का उद्घाटन भी कर सके। उनकी आलोचनाओ का एक विकासशील मानदण्ड अवश्य था, जिसकी चर्चा यथावसर उन आलोचको के आलोचना-कार्य का परीक्षण करते हुए की जायगी। यहाँ विवेचन का मूल आशय यही स्पष्ट करने का है कि समालोचना की तुलनात्मक प्रणाली को द्विवेदी-युग की एक प्रमुख प्रवृत्ति मानना सर्वथा समीचीन है।

टीका-साहित्य द्वारा सम्वर्धन

१३. द्विवेदी-युग की समालोचनाओ का एक अंग टीका-साहित्य भी है। इसके द्वारा हमारे काव्य-साहित्य के अनेक अमर रत्नो के काव्य-सौष्ठव का सरल सुबोध हिन्दी के सामान्य पाठको को भी हो सका। सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, भूषण और मतिराम आदि कवियो की कृतियो का इस कार्य मे प्राधान्य रहा। इन टीकाओ के अन्तर्गत पाद-टिप्पणियो के रूप मे काव्य-प्रयुक्त अलंकारो, छन्दो और दोषो का भी सामान्य चित्रण हुआ। लाला भगवानदीन और बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने इस दिशा मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किए। 'सूरपचरत्न', 'बिहारी-बोधिनी', 'केशव-कौमुदी', 'प्रिया-प्रकाश' आदि ग्रन्थ लाला जी की टीकाओं के उत्तम निदर्शन हैं तो

'बिहारी-रत्नाकर' रत्नाकर जी की टीका-प्रज्ञा का प्रतीक कहा जा सकता है। इन टीकाओ मे पाठालोचन का भी साधारण कार्य दृष्टिगोचर होता है, जिसमे टीकाकारो ने उपलब्ध प्राचीन कृतियो के आधार पर प्रामाणिक पाठ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। साधारणतया मूल ग्रन्थ की टीकाओ के पूर्व ये टीकाकार एक परिचयात्मक भूमिका भी जोड दिया करते थे, जिससे प्रतिपाद्य कवि की जीवनी और काव्य-कृतियो का विवेचन प्राप्त सामग्री के आधार पर किया जाता था। कहने की आवश्यकता नही कि इन टीकाओ तथा सम्पादकीय वक्तव्यो और भूमिकाओ की एक बँधी बँधाई परिपाटी रहती थी, जिसके निर्धारित प्रतिमानो के अनुरूप ही अभीसिप्त कवियो का काव्यालोचन किया जाता था। हाँ, कुछ टीकाओ और सम्पादनो की भूमिकाएँ अवश्य ही गम्भीर और मनन करने योग्य होती थी, जिनमे संकीर्ण परम्परा को छोडकर स्वच्छन्द विधान मे भी समालोचन-कार्य गुम्फित रहता था। इसी युग मे आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा 'जायसी ग्रन्थावली', 'तुलसी ग्रन्थावली' और 'भ्रमर-गीतसार' की भूमिकाओ के रूप मे उक्त तीनों कवियो की विस्तृत और गम्भीर समालोचनाएँ भी की गईं, किन्तु उनका विवेचन हम यहाँ न कर द्विवेदी के परवर्ती शुक्ल-युग के अन्तर्गत करेंगे। यहाँ तो हमारा अभिप्राय केवल यही प्रदर्शित करने का है कि आचार्य द्विवेदी जी हिन्दी-सस्कृत कवियो के समीक्षण का जो प्रतिमान लेकर साहित्य-क्षेत्र मे अवतीर्ण हुए थे, उनका पूर्ण प्रभाव इस युग के टीका-टिप्पणी साहित्य मे भी प्रदर्शित हुआ। इस प्रकार का टीका-साहित्य रचने वाले समीक्षको का दृष्टिकोण अपने इष्ट कवि की महत्ता का गुणगान करना ही अधिक होता था। यदि प्रसंगवश उन्हे किसी अन्य कवि के साथ उसकी तुलना भी करनी पडी तो भी उन्होने अपने अभीप्सित कवि को ही श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयत्न किया। इस कथन का एक आशय यह भी है कि द्विवेदी युग का टीका-साहित्य अपने पूर्ववर्ती भारतेन्दु-युग से सम्वर्धित होने पर भी कई दृष्टियो से एकागी और अपूर्ण भी था, जिसके द्वारा समालोचना के अन्तर्गत नीर-क्षीर-विवेक करने वाली प्रथा का अधिक सचार नही हो सका था। फिर भी यह सम्वर्धन की एक दिशा अवश्य थी, इस सत्य की भी उपेक्षा नही की जा सकती।

कवियों और कृतियों का विश्लेषण

१४. द्विवेदी-युग मे प्राचीन, मध्यकालीन और नवीन धाराओ के कवियों और इनकी कृतियो का भी विवेचन हुआ। साथ ही साथ सस्कृत साहित्य के प्रमुख रचनाकारो का सामान्य परिचय देकर उनकी विशेषताओ का भी उल्लेख व्याख्यात्मक प्रणाली मे किया गया। इस युग मे पाश्चात्य कवि भी आलोचको द्वारा चर्चा के विषय बनाए गए। सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, भूषण, मतिराम आदि कवियो का काव्य-विषयक महत्त्व इसी युग मे विशेष रूप से समीक्षित हुआ। इस कार्य मे आचार्य द्विवेदी जी ने सबका नेतृत्व किया। उनमे साहित्य-पारखी के उपयुक्त एक ऐसी प्रतिभा थी, जिसके द्वारा वे विषय के मूल मन्तव्य को बडी कुशलता से परख लेते थे। यद्यपि उनकी समालोचनाओ मे काव्यशास्त्रीय सैद्धान्तिकता का आधिक्य होता था, किन्तु उनमे ऐसे अनेक संकेत भी अन्तर्निहित रहते थे जिनसे उदीयमान समालोचको और साहित्यकारो को नवीन प्रेरणाएँ मिलती रहती थी। द्विवेदी जी के अतिरिक्त मिश्रबन्धुओ ने भी 'मिश्रबन्धु विनोद' और 'हिन्दी-नवरत्न' में इस प्रकार के विवेचन को विस्तृत बनाया। इस क्षेत्र मे प० पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन और पं० रामचन्द्र शुक्ल के प्रयत्न भी प्रशसनीय हैं। इस युग के समालोचको द्वारा कवियो और उनकी कृतियो का विश्लेषण हमारे समालोचना विषयक सम्वर्धन का गौरव है। यह बात अवश्य है कि इस युग के आलोचको मे सुधारवादी और आदर्शनिष्ठ कवियो को छोडकर स्वच्छन्दतावादी और कल्पनाजीवी कवियो के साथ उदारता के कम तत्त्व रहे, जिसे इस युग के समालोचको का दोष न कह कर तत्कालीन सामान्य प्रवृत्ति का ही प्रभाव कहना चाहिए।

विश्लेषण की विभिन्न पद्धतियाँ

१५ द्विवेदी-युग मे जिन कवियो के साहित्य का विवेचन किया गया, उसमे विभिन्न प्रकार की समीक्षा-पद्धतियो का भी प्रयोग है। कहा जा सकता है कि इस काल मे आकर हमारे समालोचक भारतीय और पश्चिमी प्रणालियो के स्वरूप-विधान से यथेष्ट परिचित हो गये थे, अतः उन्होने दोनो के तथ्यपरक सिद्धान्तो का चयन कर अपनी मेधा से समीक्षण किया। उसके समीक्षण मे उनके व्यक्तित्व की छाप है। स्पष्टता, सरलता और सुबोधता तो उनकी समीक्षा-शैली के प्रमुख गुण हैं। यदि किसी कवि की कृति ने उन्हे विशेष आनन्द-विभोर बनाया है तो भी वे प्रभावाभिव्यजकता के प्रवाह मे ऐसे नही बह गये है कि उनके हाथ से समालोचना-तरी ही छूट गई हो। कुछ समालोचको ने तो काव्य का विवेचन करते समय रीतिकालीन परम्परा का पूर्ण प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए मिश्रबन्धु, लाला भगवानदीन तथा पं० कृष्णबिहारी मिश्र को लिया जा जा सकता है। देव और बिहारी के काव्य का समीक्षण करते हुए उन्होने अधिकाशतः उनके कुछ काव्याशो को लेकर बँधी हुई परिपाटी मे ही समालोच्य कवियो के अलकार, गुण, दोष, रस और छन्द आदि गिनाए हैं। इसी प्रकार इस युग मे कवियो की प्रामाणिक जीवनियाँ तथा उनके मूल ग्रन्थो का यथासम्भव विश्वस्त परिज्ञान करने का भी प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार की समालोचनाओ का स्वरूप इस युग की पत्र-पत्रिकाओ के कलेवर मे भी बहुत मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग के समालोचक कवियो के मानसिक संस्थान तक पहुँचने के लिए भी उत्सुक हैं, किन्तु उन्हे ऐसा कोई मनोवैज्ञानिक प्रतिमान नही मिल पाता, जिसका आश्रय लेकर वे उनकी अन्तरात्मा को पूर्ण रूप से अवगत कर सके। फिर भी यह निर्विवाद है कि इस युग के कवियों और कृतियो की समालोचनाओ मे भारतेन्दु-युग से पर्याप्त सम्वर्धन है, जिसका विकास हमे इसके साथ ही साथ प्रस्फुटित होने वाले शुक्ल-युग मे मिलता है।

सैद्धान्तिक पक्ष के क्षेत्र

१६. द्विवेदी-युग की समालोचनाओ के सैद्धान्तिक पक्ष के अन्तर्गत काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध और यहाँ तक कि समालोचना-साहित्य का भी समीक्षण हुआ। इनमे सर्वाधिक प्रधानता काव्य-शास्त्र के विवेचन की ही रही। यह एक उल्लेखनीय बात है कि इस प्रकार का सैद्धान्तिक विश्लेषण कोरी सस्कृत साहित्य की पाडित्यपूर्ण शैली मे न होकर आधुनिक युग की व्याख्यात्मक प्रणाली मे भी हुआ था। गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर इस तथ्य की उपलब्धि में हमें किसी भी प्रकार की कोई कठिनाई नही होती कि इस युग की समालोचना एक समन्वयवादी दृष्टिकोण से अपने लिए स्थायी प्रतिमान पाने के लिए सतर्क है। 'रसज्ञ-रजन' आदि ग्रन्थों मे द्विवेदी जी ने सैद्धान्तिक समीक्षण का परिचय दिया है। इस दिशा मे मिश्रबन्धुओ ने भी कार्य किया, किन्तु वह परम्परागत ही विशेष रहा। उनका 'साहित्य-पारिजात' नामक ग्रन्थ इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। लाला भगवानदीन, कन्हैयालाल पोद्दार, अर्जुनदास केडिया, डा० रामशंकर 'शुक्ल 'रसाल' आदि विद्वानो ने 'अलंकार-शास्त्र' विषयक ग्रन्थ लिखकर इस सैद्धान्तिक विवेचन को आगे बढ़ाया, किन्तु वे रीतिकालीन प्रवृत्ति को नही छोड सके। हाँ, बाबू गुलाबराय का 'नवरस और शुक्ल जी की 'चिन्तामणि' मे सकलित 'कविता क्या है' आदि समीक्षा-सम्बन्धी निबन्ध इस दिशा में स्तुत्य प्रयास हैं। इस युग मे बाबू श्यामसुन्दर दास के 'साहित्यालोचन' का विशेष महत्त्व है। सैद्धान्तिक समीक्षा को इस प्रकार का व्यापक और पुष्ट विधान प्रदान करने मे बाबू साहब ने गौरवपूर्ण कार्य किया है। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने 'विश्व-साहित्य' की रचना मे भी ऐसा ही कार्य किया है, किन्तु उसमे अधिकतर उनकी 'मधुप-वृत्ति' ही झलकती है। बख्शी जी द्वारा इस प्रकार के सैद्धान्तिक निरूपण मे विषय की सगठित संगति और उसकी वैज्ञानिकता कम ही रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग में समालोचकों का ध्यान व्याख्यात्मक

समालोचना को पुष्ट बनाने, भाषा का स्वरूप स्थिर करने तथा वाद-विवाद-प्रणाली मे रुचि लेने की ओर जितना अधिक था, उतना सैद्धान्तिक निरूपण की ओर नही। कहना पड़ता है कि द्विवेदी-युग मे सैद्धान्तिक परम्परा का भारतेन्दु-युग की अपेक्षा सम्वर्धन अवश्य हुआ किन्तु उसे ऐसी प्रौढि नही दी जा सकी, जिसके प्रतिमानो पर व्यापक दृष्टि से समीक्षण किया जा सके। इसकी पूर्ति आचार्य शुक्ल जी द्वारा की गई और इसी कारण हमने उनको द्विवेदी-युग के प्रमुख साहित्य-समीक्षक मान कर भी उन्हे स्वतन्त्र भूमिका प्रदान करना न्यायोचित समझा है।

रचनात्मक साहित्य के लिए प्रस्तुत प्रतिमान

१७. द्विवेदी-युग मे रचनात्मक साहित्य का विधान जिन-जिन रूपो मे हुआ उनमें काव्य के अतिरिक्त नाटक, उपन्यास, आख्यायिका और गल्प आदि भी हैं। इनके द्वारा भी समालोचना-साहित्य को विकसित होने की प्रेरणाएँ मिली हैं। बात यह है कि रचना और विचार हमारे मानस के दो पूरक अग है, जिन्हे अलग-अलग केन्द्रो मे परिसीमित कर साहित्य का समुचित विधान किया ही नही जा सकता। यही कारण है कि वे एक-दूसरे को प्रभावित करते अथवा एक-दूसरे से प्रभावित होते चलते है। कहने की आवश्यकता नही कि द्विवेदी-युग मे जिस प्रकार के काव्य, कहानी, नाटक और उपन्यास आदि लिखे गये, उनमे सर्वत्र समाज-सुधार, आदर्श-निष्ठा, प्राचीन सस्कृति के प्रति प्रेम तथा अभिनवता का स्वस्थ दृष्टिकोण झलकता था, अत उनका प्रतिबिम्ब समालोचना-साहित्य पर भी पडना अनिवार्य-सा था। इस युग के साहित्यकारो का प्रधानत साहित्य-कला विषयक यही दृष्टिकोण रहा कि वह जीवन के लिए है और उसकी उपयोगिता हमारे लौकिक धरातल से पूर्णतया सम्बद्ध है। अत· उन्होने अपनी कृतियो के आधार प्राय. वे ही रखे जो जग-जीवन के मध्य अनुस्यूत थे। उन्होने यदि पौराणिक और ऐतिहासिक आख्यानों को लेकर भी अपनी रचनाएँ की, तो भी उन्हे अपने युग का रग दे ही दिया। 'साकेत' और 'प्रिय-प्रवास' की रचनाएँ इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है। यही प्रवृत्ति हमे इस युग के कथा-साहित्य मे भी मिलती है। इस युग के चाहे किसी भी साहित्यकार की रचनात्मक प्रतिभा का अध्ययन किया जाय, हमे उसमे जीवन के प्रति एक सन्देश अथवा शिक्षा-भाव अवश्य मिलेगा। यहाँ तक कि प्रेमचन्द जी जैसे कथाकार जीवन की जिस यथार्थ भूमि पर अवस्थित होकर अपनी रचनाओ मे प्रवृत्त हुए हैं, उनमे भी आदर्शोन्मुखता का अभाव नही है। उन्होने अपने विविध भाषणो और साहित्यिक लेखो मे इसका सकेत भी किया है। यही कारण है कि समालोचना के इस सवर्धन-काल मे हमे रचनात्मक साहित्य के अनुरूप ही समालोचनात्मक साहित्य मिलता है। यदि किसी साहित्यकार ने युग-धर्म की मान्यताओ का उल्लघन कर अपनी स्वतन्त्र रुचि से काम भी लिया है तो उसे साहित्यकार की पक्ति से बहिर्गत करने की चेष्टा ही की गई है, भले ही अपनी प्रतिभा के बल पर कालान्तर मे उसने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया हो। इस युग की समालोचना मे यह भी एक विशेष बात है कि वह रचनात्मक साहित्य का यथावसर नियमन भी करती चली है। इसी नियमन-प्रवृत्ति और पथ-प्रदर्शन की योग्यता ने ही तो द्विवेदी जी को इस युग का सूत्रधार बनाया था, अन्यथा ऐसी तो कोई बात नही कि वे साहित्य के इतने गम्भीर और महान् अध्येता रहे हो जिनके द्वारा किन्ही नवीन और मौलिक उद्भावनाओ का सार्वजनीन और शाश्वत स्वरूप निर्मित किया गया हो।

शोध-कार्य द्वारा समालोचना-वृद्धि

१८. द्विवेदी-युग की समालोचनाओ का एक प्रतिमान शोधपरक विषयो से भी सगठित है। इस क्षेत्र मे कार्य करने वाले विद्वान् प्राय. वे ही रहे, जिनका सम्बन्ध नागरी-प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन और हिन्दुस्तानी एकेडमी से विशेष था। इन विद्वानो द्वारा प्राचीन साहित्य के अनेक अप्राप्य ग्रन्थो का परिश्रमपूर्वक सकलन किया गया और उनकी प्रामाणिकता पर भी

विचार हुआ। 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' का एक प्रमुख उद्देश्य ऐसे ग्रन्थो का ही शोधपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करना था। सभा ने समय-समय पर अपने शोध-विवरण भी प्रकाशित किए जिनमे प्राप्त ग्रन्थो और रचयिताओ की एक लम्बी सूची रहती थी। इस प्रकार के शोधो से यह आभासित होने लगा कि हिन्दी-साहित्य की भी एक प्राचीन और समृद्ध परम्परा है और जो लोग उसे 'रामचरितमानस', 'सूरसागर' अथवा बिहारी की 'सतसई' मे ही केन्द्रीभूत समझते है, वे भ्रान्तिग्रस्त है। इस क्षेत्र मे डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल तथा डाक्टर हीरालाल द्वारा किये गए कार्यो का भी प्रमुख महत्त्व है। बडथ्वाल जी ने सिद्धो और नाथ पथियो के साहित्य पर अनेक नवीन उपलब्धियाँ प्रदान की हैं। उनका 'हिन्दी-काव्य की निर्गुणधारा' नामक शोध-प्रबन्ध तो इस दिशा मे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है। कहने की आवश्यकता नही कि डाक्टर श्यामसुन्दर दास, मिश्रबन्धु, प० रामचन्द्र शुक्ल तथा लाला भगवानदीन आदि विद्वानो को जो साहित्य-क्षेत्र मे प्रारम्भिक सम्मान मिला, उसमे उनके शोध-कार्य का भी प्रमुख सहयोग था। इसी शोधकार्य का एक सम्बन्ध हमारे साहित्य के इतिहास से भी था। वैसे तो डा० ग्रियर्सन तथा शिवसिंह सेंगर ने भी अपने साहित्य के इतिहास ग्रन्थो मे कवियो के बृहत् वृत सकलित किये थे, किन्तु उनका शोधपरक साहित्यिक समीक्षण नही हुआ था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डा० श्यामसुन्दरदास ने इस ओर स्तुत्य प्रयत्न किये। शुक्ल जी ने युग और साहित्य का समन्वय करते हुए जिस ऐतिहासिक प्रणाली मे अपने सुप्रसिद्ध इतिहास की रचना की है, वह अपनी युग-प्रवृत्तियो के विवेचन तथा साहित्यकारो के सतुलित समीक्षण की दृष्टि से आज भी महत्त्वपूर्ण है। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि द्विवेदी-युग की शोधपरक समालोचना मे अधिकाशतः प्राचीन कवि और उनके काव्य ही विवेचित रहे। आधुनिक युग की प्रवृत्तियो और साहित्य-धाराओ की शिल्प-विधि को लेकर भी शोध-कार्य किया जा सकता है, इस ओर समालोचको का अधिक ध्यान नही गया। बात यह थी कि द्विवेदी-युग समालोचना का संवर्धनकाल अवश्य था, किन्तु उस समय हिन्दी का विश्वविद्यालयो की उच्चतम कक्षाओ मे पठन-पाठन करने के लिए गौरवपूर्ण स्थान न बन सका था और न राज्य की ओर से ही उसको विशेष प्रोत्साहन था। अत· शोध द्वारा समालोचना-वृद्धि मे केवल वे ही व्यक्ति अपना योगदान दे सकते थे, जो अधिक से अधिक स्वानुभूति से प्रेरणा लेकर चलते। यही कारण है कि द्विवेदी-युग मे शोध-विषयक कार्य केवल कुछ ही सस्थाओ और उनके कार्यकर्त्ताओ के बीच सीमित रह गया। आचार्य द्विवेदी जी ने भी अपनी शोध-सम्बन्धी समालोचनाओ की एक दिशा निर्दिष्ट की, किन्तु वह समीक्षा और मूल्यांकन की अपेक्षा जानकारी ही अधिक रही। ऐसी स्थिति मे शोध-विधान द्वारा समालोचना के विकास का कार्य इस युग द्वारा उस विधि मे सम्पन्न नही हो सका जो उसके परवर्ती युग मे चल कर हुआ, क्योकि परवर्ती युग मे उसके विकास के अनेक अनुकूल अवसर उपलब्ध हो गए थे, जिनका विवेचन यथास्थान किया जायगा।

महत्त्व-निर्धारण और निष्कर्ष

१६. द्विवेदी-युग का एक सबसे बडा महत्व यह भी है कि उसने हमे साहित्य के विभिन्न युगो मे नूतन प्राण-प्रतिष्ठा करने वाले ऐसे-ऐसे महान् महारथी प्रदान किए जिन्होने अपने कृतित्व के साहित्य-मन्दिर की शोभा को अगणित भाव से आलोकित कर दिया। द्विवेदी जी की समालोचक के रूप मे सब से बड़ी देन यही है कि वे अपनी सृजन-शक्ति मे एक विशिष्ट साहित्य-निर्माता थे। यह उन्ही के युग और व्यक्तित्व का प्रभाव था, जिसने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से हमें उपन्यासकारो मे प्रेमचन्द, काव्यकारो मे मैथिलीशरण, नाटककारों मे प्रसाद और आलोचको तथा निबन्ध-लेखको में रामचन्द्र शुक्ल जैसे महान् मेधावी लेखक प्रदान किये। इन साहित्यकारो के निर्माण मे द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की यथेष्ट छाप थी। यही कारण है कि इनमे से कुछ स्वच्छन्दतावादी

साहित्यकारों को छोड कर अधिकांश साहित्यकार द्विवेदी युग की उत्तरवर्ती भावनाओं से प्रभावित होने पर भी उस युग की मान्यताओ के परिवेशमंडल से खुल कर बाहर नही जा सके और घूम-फिर कर उन्हे उस युग की आदर्श-निष्ठा और नैतिकता को स्वीकार करना ही पडा। समाज-सुधार और लोक-हित की भावना के जो तत्त्व उनकी कृतियो मे अभिव्यक्त हुए, उन पर द्विवेदी जी महाराज का प्रत्यक्ष प्रभाव अकित है। आचार्य शुक्ल जी ने अपनी समालोचना मे जो साहित्यपरीक्षण का प्रतिमान प्रतिष्ठित किया था, वह द्विवेदी युग की भूमिका के अत्यधिक सन्निकट है। उनके 'काव्य मे प्राकृतिक दृश्य' और 'कविता क्या है' शीर्षक समालोचनात्मक निबन्ध इस कथन के प्रमाणस्वरूप रखे जा सकते है। यह बात दूसरी है कि शुक्ल जी ने अपने जीवन-काल में हमारे आधुनिक साहित्य के सभी प्रमुख युग देखे थे। उन्होने भारतेन्दु-युग के अवसान-काल से अपनी रचनाओ का श्रीगणेश किया था, द्विवेदी युग मे उनका युवाकाल व्यतीत हुआ, छायावादी युग मे उनमे प्रौढता परिलक्षित हुई तथा वे नवीन प्रगतिवादी युग के प्रारम्भ तक जीवित रहे, अत उनकी समालोचनाओ मे इन चारो युगो की प्रवृत्तियो के तत्व-कण आने स्वाभाविक थे, फिर भी उनकी मनोभूमिका मे सब से अधिक अश द्विवेदी-युग की मान्यताओ का ही था, इस तथ्य का निषेध नही किया जा सकता।

२०. यह सब कुछ होते हुए भी द्विवेदी-युग की समालोचनाओ की अपनी सीमाएँ भी हैं। यद्यपि उसके प्रतिमान मे नवीनता का संचार होने लगा था, फिर भी वह सस्कृत-साहित्य की काव्यशास्त्रीय समीक्षण-पद्धति के अधिक निकट था। रीतिकाल की भाँति इस युग को भी सस्कृत की अपार ज्ञानराशि से साहित्यालोचन की प्रेरणा मिली थी, किन्तु वह रीतिकाल की भाँति रूढिग्रस्त न होकर रूढिमुक्त थी। इस युग मे हमे समालोचना के अतर्गत समन्वय और सतुलन की प्रवृत्ति भी मिलती है, किन्तु उसका विकास स्वच्छन्द विधान में अधिक नही हो सका है। इस युग के समालोचको द्वारा समालोचना को ऐसी आत्मानुभूति और स्वप्रेरित प्रज्ञा से अनुप्राणित नही किया गया, जिसमे वह भी एक कलाकृति के समान ही मानव-भावनाओ की सौन्दर्यमयी अभिव्यंजना करने के लिए प्रस्तुत होती है। इसी प्रकार इस युग की समालोचना मे साहित्यादर्श का भी एक निर्धारित मानदंड था। प्रत्येक समालोचक का अपना एक निर्धारित दृष्टिकोण रहता था और उसी के द्वारा वह समालोच्य विषय के सम्बन्ध मे अपना अभिमत व्यक्त कर दिया करता था। इस युग की अंतश्चेतना का विवेचन करते हुए पहले युग की मर्यादाओ का सकेत कर दिया गया है, अतः उन्ही की भूमिकाओं के अंतर्गत इस युग की समालोचना का स्वरूपबोध करना सर्वथा समीचीन है।

२१. द्विवेदी-युग की समालोचनात्मक सवर्धना मे आचार्य पंडित महावीरप्रसाद के अतिरिक्त बाबू श्यामसुन्दर दास, श्री मिश्रबन्धु पं०, पद्मसिह शर्मा, लाला भगवानदीन, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प० कृष्ण बिहारी मिश्र, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी तथा बाबू गुलाबराय का प्रमुख हाथ है। इनके अतिरिक्त और भी समालोचको का ज्ञान 'सरस्वती' की पुरानी प्रतियो से होता है, किन्तु विषय-प्रतिपादन और विचारधारा मे उनके व्यक्तित्व का ऐसा विकास नही हुआ है, जिसके कारण उन्हे उपर्युक्त समालोचको के समकक्ष स्थान दिया जा सके। अब इन्ही समालोचको की समालोचनात्मक उपलब्धियो का मूल्याकन उनकी कृतियो को दृष्टिगोचर रखकर किया जायगा, जिससे यह पता चल सके कि उन्होने किन-किन विचारधाराओ से प्रेरित होकर किन-किन प्रणालियो मे कैसी-कैसी समालोचनाएँ लिखी। इस सामान्य परिचय के अतर्गत तो उनका प्रसगवश सामान्य उल्लेख हुआ है, किन्तु अब उनका विशिष्ट विवेचन होगा। इन समालोचको मे प० रामचन्द्र शुक्ल और बाबू गुलाबराय का मूल्याकन मैने द्विवेदी-युग की पार्श्व भूमि मे विकसित होने वाले शुक्ल-युग के अतर्गत किया है, क्योकि वे इस युग की उपज होने पर भी अपना स्वतंत्र विकास अपने उत्तरवर्ती युग मे ही कर सके थे। जैसा कि युग-विभाजन के समय इस बात का सकेत कर दिया गया है कि यह

विभाजन केवल विशेष प्रकार की मान्यताओ को प्रमुखता प्रदान करने तथा अपने अध्ययन को सुविधापूर्ण बनाने के लिए ही है, अन्यथा ऐसी कोई बात नही है कि किसी एक विशेष समय में ही व्यक्ति की मान्यता और चेतना पर कोई अकुश लग जाय और वह अपने पूर्ववर्ती विकास को किसी मानस-प्रकोष्ठ मे बन्दी बना कर नवीन दृष्टिकोण से ही कोई अभिनव सर्जना करे। अतः युग-विशेष की प्रवृतियो और समालोचको के अध्ययन के समय इस तथ्य की अवहेलना न करना ही न्यायोचित है।

प्रमुख समालोचक और उनकी कृतियों का समीक्षरण

आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी

अंतर्प्रवेश और युग-परिवर्तन

२२. भारतेन्दु-युग आधुनिक हिन्दी-समालोचना का प्रारम्भिक काल था। भारतेन्दु जी और उनके सहयोगी मडल ने रचनात्मक साहित्य की अभिवृद्धि के साथ-साथ साहित्यालोचन की ओर भी ध्यान दिया था, किन्तु उनका इस ओर विशेष आकर्षण न था। बात यह थी कि भारतेन्दु-मडल मे अपने साहित्य को विविध अगो की परिपुष्टि के द्वारा अन्यान्य भाषा-साहित्यो की समता मे व्यापक बनाने की इतनी अधिक आतुरता थी कि वह इच्छा होने पर भी सामोलचना-साहित्य की ओर अधिक ध्यान नही दे पाता था। फल यह हुआ कि इस युग मे समालोचना का न्यूनाश मे ही विकास हो पाया। यद्यपि इस युग मे समालोचना की अनेक प्रवृतियो और पद्धतियों का बीजारोपण अवश्य हो गया था, किन्तु उनके प्रस्फुटन की स्थिति नही आई थी। यह कार्य आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र मे आने पर सम्पन्न हुआ, अत· उनका साहित्य-सेवाकाल हिन्दी समालोचना के द्वितीय चरण के रूप मे द्विवेदी-युग के नाम से अभिहित किया जाता है, जिसे मैंने विषय-विकास की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी समालोचना का संवर्धन काल कहना सभी दृष्टियो से समुचित समझा है।

२३ वैसे तो आचार्य द्विवेदी जी सरस्वती पत्रिका का सम्पादन ग्रहण करने पर ही (सन् १९०३) साहित्य-क्षेत्र मे प्रधान रूप से अवतीर्ण हुए, किन्तु उनका रचना-कार्य उसके पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था। सन् १८९६ ई० के प्रारम्भ में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' मे उनकी 'कुमार सम्भव की भाषा' विषयक समालोचना प्रकाशित हुई, जिसका उत्तरवर्ती अश कालाकाकर से प्रकाशित होने वाले 'हिन्दोस्थान' नामक प्रसिद्ध पत्र मे छपा। द्विवेदी जी की सस्कृत-साहित्य मे नैसर्गिक रुचि थी। उन्होने सन् १८९७ ई० के नवम्बर से सन् १८९८ ई० के मई तक वैंकटेश्वर समाचार बम्बई मे 'कालिदास के ऋतुसहार की भाषा' पर निरंतर रूप से समालोचनाएँ लिखी। सन् १९०१ ई० मे उनकी 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' प्रकाशित हुई, जिसमे रघुवश और मेघदूत की आलोचनाएँ भी सम्मिलित कर दी गई थी। इस प्रकार कालिदास के ग्रन्थो का समीक्षण हिन्दी मे प्रथम बार उनकी लेखनी का चमत्कार प्रदर्शित करता हुआ समालोचना-जगत् के सामने आया।

२४. द्विवेदी जी की उक्त प्रारम्भिक समालोचनाओ ने विद्वानो का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। बाबू श्यामसुन्दरदास की प्रेरणा और प्रयत्नो से वे सरस्वती के सचालको द्वारा सम्पादक-पद पर अधिष्ठित किये गए। द्विवेदी जी को मनोनुकूल क्षेत्र मिल गया। उन्होने पहले तो कानपुर जूही से पत्रिका का सम्पादन किया और तत्पश्चात् वे प्रयाग आ गए। तब से उनका साहित्य-क्षेत्र प्रयाग बना और सन् १९०३ से १९२० पर्यन्त अजस्र गति से अपने सम्पादन-कौशल

---

१. 'सरस्वती', भाग ४०, स० २, पृष्ठ १९९.

द्वारा उन्होने 'सरस्वती' के माध्यम से साहित्य-क्षेत्र का नेतृत्व किया। वस्तुतः उनका व्यक्तित्व इतना अधिक प्रभावशाली और महान् था कि उस समय हिन्दं-प्रवेश उनके अधिनायकत्व मे आ गया। वे रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य के मूल प्रेरक और मार्ग-दर्शक बने। उनका प्रभाव इतना गम्भीर और व्यापक था कि सन् १९२० के पश्चात् सम्पादन-कार्य से विराम लेने पर भी वह हिन्दी-साहित्य पर छाया रहा और सन् १९३० तक उसकी क्रियाएँ सचरित रही। इतना ही नहीं, उनके पश्चात् आचार्य शुक्ल जी ने अपनी विद्वत्ता और गम्भीरता के बल पर जिस समालोचना-साहित्य का निर्माण किया था, उसकी मूल मनोभूमि आचार्य द्विवेदी जी की ही थी। शुक्ल जी की विचारधारा का निर्माण द्विवेदी जी के धूप-छाँही भाव-सूत्रो के आधार पर ही हुआ था और वे एक प्रकार से उनके विकासमान स्वरूप कहे जा सकते हैं। अत स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग की विकास-श्रृखला को अपनी प्रतिभा के द्वारा युगानुरूप बना कर भावी साहित्य की रूपरेखा के साथ सबद्ध करने मे द्विवेदी जी का महान् योग है और वे आधुनिक साहित्यनिर्माण के केन्द्रवर्ती स्तम्भ के रूप मे सदैव विराजमान रहेगे।

२५. द्विवेदी जी के साहित्यालोचन का वास्तविक मूल्याकन करने के लिए यह आवश्यक है कि उनके पूर्ववर्ती समालोचना-कार्य को दृष्टिपथ मे रखा जाय। ऐसा करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमे युग-निर्माण की नैसर्गिक योग्यता थी। उन्होने साहित्य-सूत्र का दायित्व ग्रहण करते ही महावीर की भाँति परम्परागत साहित्य का सूक्ष्म सिंहावलोकन कर उसकी वास्तविकता को परख लिया था। अपनी विवेक-बुद्धि और सारग्राहिणी निपुणता से उन्होने अत्यन्त लाघव से यह निर्णय कर लिया कि अपने पूर्वरचित साहित्य का प्रतिमान क्या है और उसे युग-स्थिति को देखते हुए किस ओर प्रवृत्त करने की आवश्यकता है। वे अपने विचारो मे अत्यन्त स्पष्ट और निर्भीक थे, अत उन्हे परावलम्बन की आवश्यकता कभी अनुभव नही हुई। वे जिस युग मे जी रहे थे, वह नैतिकता और आदर्शों का युग था अत उन्होने उसकी नाडी टटोल कर अपनी सुरुचि-सम्पन्नता से उसी के साँचे मे साहित्य को ढालना सर्वतोभावेन उपयुक्त समझा। उन्हे भारतेन्दु-युग का नव जागरण प्रिय लगा, किन्तु उसकी न्यूनताएँ भी उनके दृष्टिपथ मे आने से नही बच सकी। गद्य-पद्य के लिए भिन्न भिन्न भाषाओ का प्रयोग, भाषा-रचना मे व्याकरण-सम्मत शुद्धता का शैथिल्य, साहित्यालोचन मे व्यापक विधाओं का अभाव तथा गम्भीर साहित्य-निर्माण की न्यूनता आदि ऐसे अनेक क्षेत्र थे, जिनकी पूर्ति करना साहित्य-गरिमा के लिए आवश्यक था। अत द्विवेदी जी की साधना मुख्यत इन्ही मे केन्द्रीभूत होकर चली और वे इन्हे अपने रचना-कौशल का मेरुदंड बना कर निरंतर बढते रहे। उनके कार्यों का लेखा-जोखा इन्ही के प्रतिमान से किया जाना न्यायसगत एवम् समीचीन है।

बहुमुखी व्यक्तित्व और भाषा-परिष्कार

२६. द्विवेदीजी का व्यक्तित्व बहुमुखी था। वे मुख्य रूप मे 'सरस्वती' के सम्पादक थे, किन्तु उनमे अनेक विशिष्टताओ का भी समावेश था। भाषा-शिक्षक, निबन्धकार, समालोचक, हिन्दी-प्रचारक एवम् गम्भीर विचारक के साथ-साथ वे सबसे बडे साहित्यिक-प्रेरक भी थे। यद्यपि उनमें रचनात्मक प्रतिभा का बाहुल्य न था और न वे उच्चकोटि के कवि, नाटककार अथवा कथा-साहित्य रचयिता ही थे, किन्तु उनमे एक ऐसी अद्भुत अन्तर्हित शक्ति थी, जिसके कारण उन्होने अनेक साहित्यकारो का निर्माण किया। सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, गोपालशरणसिह, श्रीधर पाठक, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', नाथूराम शर्मा 'शकर', देवीप्रसाद 'पूर्ण', सत्यनारायण 'कविरत्न' आदि ख्यातनामा कवियो के रचना-विधान मे उनका प्रमुख हाथ है और आज की गद्य सर्जना के पीछे उनके महान् व्यक्तित्व की अमिट छाप है। उनकी सरस्वती पत्रिका की प्रतियो मे

उनकी साहित्य-तपस्या के ज्वलन्त स्फुलिंग समाविष्ट हैं तथा हिन्दी-भाषा का निखार और शैली-वैविध्य का विकास भी सम्मिलित है। निश्चय ही वह हमारे साहित्य के द्वितीय चरण के युगान्तरकारी सूत्रधार है और उन्होने हिन्दी भाषा का प्राजल एवम् आदर्श रूप साहित्य-जगत् के सम्मुख प्रस्तुत किया है।

२७ आचार्य द्विवेदी जी का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य भाषा-सम्बन्धी परिष्कार है। उनके पूव भारतेन्दु जी ने साहित्य को विविध दिशाओं की ओर उन्मुख किया था, किन्तु वे भाषा-सशोधन की ओर अधिक ध्यान नही दे सके थे। उनके मण्डल के सभी लेखको मे पद-विन्यास और वाक्य-विन्यास आदि की अनेक अशुद्धियाँ मिलती है। इसके लिए उन्हे विशेष दोषी भी नही ठहराया जा सकता, क्योकि काम करने की धुन मे उन्हे इस बात का कोई अवकाश ही नही था कि वे भाषा-सुधार की ओर ध्यान दे पाते। भाषा-शुद्धि का आन्दोलन सही अर्थ मे आचार्य द्विवेदी जी ने ही आरम्भ किया। इसके लिए उन्होने 'सरस्वती' पत्रिका को अपना अमोघ अस्त्र बनाया। वे स्वय बहुत सोच-समझ कर लिखते थे और लेखको को होश-हवाश दुरुस्त कर लिखने की प्रेरणा देते रहते थे। आज के जो चोटी के साहित्यकार है, उन्हे उन्होने अंगुली पकड कर चलना सिखाया था। वे अपने सम्पादन-कक्ष मे बैठे प्राप्त लेखो और रचनाओ की एक-एक पंक्ति और शब्द-योजना को ध्यानपूर्वक पढते और उनका उचित परिष्करण करने के पश्चात् ही उन्हे पत्रिका मे प्रकाशित करते। अनेक बार तो उन्हे लेखको के वाक्य-विन्यास और शब्द-विधान का समूल कायाकल्प करना पडता था। यह उन्ही की साधना का फल था कि स्टुपिड कही जाने वाली हिन्दी सभ्य नागरिको की भाषा बन सकी और धीरे-धीरे उसने अपना गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त किया। द्विवेदी जी की यह सेवा वस्तुतः अमूल्य है और उसका भाषा-साहित्य के इतिहास मे एक स्थिर प्रतिमान बन गया है। उनका कहना था कि आलोचक काव्य-निरूपण के साथ-साथ भाष परिष्कार को भी अपना कर्त्तव्य समझे और वस्तुत उन्होने स्वयम् भाषा शिक्षक के रूप मे उसका पूर्ण पालन कर हिन्दी को निश्चित गति प्रदान की।

विषय-व्यापकता और समालोचनागत वैविध्य

२८. द्विवेदी जी की समालोचना ने हमारे आधुनिक साहित्य को अनेक विषयो की व्यापकता प्रदान की है। एक प्रकार से देखा जाय तो आधुनिक युग मे जो साहित्य-विधाओ की अनेकरूपता प्रदर्शित हो रही है, उसमे द्विवेदी जी की साधना का सुयोग है। वे कुशल सम्पादक होने के साथ-साथ हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, मराठी और बगला आदि साहित्यो के पण्डित थे और उक्त साहित्यो के अन्तर्गत अभिव्यक्त ज्ञानकोष से हिन्दी भाषा के साहित्य की भी अभिवृद्धि करना चाहते थे। उन्होने सरस्वती के प्रत्येक अक मे साहित्य-वृद्धि के लिए अपेक्षित परामर्श और आदर्श प्रदान करने का नियम सा बना लिया था। उस समय बगला और मराठी का साहित्य भी यथेष्ट सम्पन्न था और वे उन साहित्यो के आधार पर हिन्दी को भी सम्पन्न बनाने की प्रेरणाएँ निरन्तर देते रहते थे। सस्कृत की अपार साहित्य-निधि और अंग्रेजी की अक्षय साहित्य-राशि से हिन्दी साहित्य के उपयुक्त सामग्री के जिन तत्त्वो के सृजन का समावेश उन्होने अपनी समालोचनाओ मे किया, वे आगे चल कर हमारे साहित्यिक उत्कर्ष के कारण बने। यह कहना किंचित्मात्र भी अतिशयोक्तिपूर्ण नही है कि द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य को सभी प्रकार के विषयो से परिपूर्ण बना कर विश्वालोक मे उपस्थित कर दिया। आज पत्र-पत्रिकाओ और समालोचनाओ मे जिन रूपो का हम विकास पाते हैं, उनकी मूल दिशा द्विवेदी जी की दिखलाई हुई है। सचमुच अपने मानदण्ड मे वह साहित्य को विषयगत जो उत्थान प्रदान कर गये है, उसका ऐतिहासिक महत्त्व है।

२९. आचार्य द्विवेदी जी की समालोचनाओ के मूल मे अनेक प्रकार की विशेषताओ का

समावेश है। वे किसी से दब कर चलने वाले साहित्यकार न थे ; अत उन्होने समालोचना-साहित्य मे जो कुछ भी लिखा, पूर्ण निर्भीकता के साथ लिखा। वे पहले अपने आलोच्य विषय का यथाशक्ति मन्थन कर उसके सम्बन्ध मे एक निश्चित धारणा बना लेते थे और तत्पश्चात् तथ्यग्राहिणी शक्ति द्वारा अपने मन्तव्यो का स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्तीकरण कर देते थे। उनकी यह निर्भीकता उनकी सभी समालोचनाओ मे प्रतिबिम्बत है। निर्भीकता की यह वृत्ति कही-कही पर तो इतनी अधिक बढ जाती थी कि वे प्रतिपक्षी पर कटु प्रहार करने से भी नही चूकते थे और उसकी दोषोद्भावना बिना किसी हिचकिचाहट के अपने दृष्टिकोण से प्रकट कर दिया करते थे, जिसको पढ कर सहृदय पाठक अनेक बार तिलमिला उठते थे।

३०. द्विवेदी जी मे अपनी विचारधारा को प्रबल शब्दो मे व्यक्त करने की अद्भुत शक्ति थी। उनका अपना मानसिक धरातल था। जिन साहित्यकारो की कृतियो मे वे उसका परिपालन नही पाते, उन पर वे बरस पडते थे। ईमानदारी तो उनमे इतनी अधिक थी कि वे सत्य का गोपन किसी भी दशा मे उचित नही समझते थे। छायावादी कवियो से उनकी प्रारम्भ ही से नही बनी और वे अन्त तक उनके काव्य-सौष्ठव से अप्रभावित रहे। उन्होने उनकी काव्य-रचनाओ पर 'सरस्वती' पत्रिका मे सदैव अपने विचार-बिन्दु से समीक्षण किया। ऐसा करते समय उन्होने हास्य और व्यग्य की शैली को भी अपनाया। निस्सन्देह उनकी यह निश्चित विचार-सरणि उनकी द्वितीय विशेषता कही जा सकती है। 'सरस्वती' पत्रिका की पुरानी प्रतियो मे प्रकाशित द्विवेदी जी की समालोचनागत मान्यताओ का एक स्पष्ट लेखा-जोखा मिल जाता है। उन्होने साहित्य के स्वरूप विधान को जिस शास्त्रीयता और सुरुचि सम्पन्नता से सोचा-विचारा, उसी के अनुरूप उसकी अभिव्यक्ति की। वे एक ही बात को घुमा-फिरा कर अनेक प्रकारो मे अभिव्यक्त किया करते थे, जिसका मूल उद्देश्य यही होता था कि पाठक उनके भावो के उद्भव-स्थल तक पहुँच जाय और उसे किसी प्रकार की उलझन न रहे। वे स्वयम् अत्यन्त स्पष्टवादी और निर्भीक थे और साहित्य-समालोचना मे भी ऐसे ही आयोजन के आकाक्षी थे। उनकी मान्यता सुधारवादी और पुनरुत्थान काल की थी, किन्तु उसकी एक प्राचीन परम्परा और मर्यादा भी थी। वे मध्यम श्रेणी के समाज का नेतृत्व करने वाले साहित्यकार थे और उनकी उद्भावनाओ में आदर्श का दृष्टिकोण सदैव गुम्फित रहता था। उन्होने अपनी अमर वाणी से साहित्य-ससार को जो अनेक उपलब्धियाँ प्रदान की हैं, उनका स्थान सदैव अक्षुण्ण रहेगा, इसमे कोई सन्देह नही।

३१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती का सम्पादन करते हुए सम्पादकीय टिप्पणियो, स्वतन्त्र समालोचनात्मक निबन्धो, साहित्यिक कवि-चर्चाओ, सैद्धान्तिक निरूपणो और सामयिक विचारधाराओ को लेकर जिस समालोचना-साहित्य का निर्माण किया है, उसका स्थायी महत्त्व है। इन समीक्षाओ से द्विवेदी जी के प्रखर व्यक्तित्व और युगान्तरकारी प्रभाव का सहज ही पता चल जाता है। तिथिक्रम के अनुसार उन्होने सन् १८९९ ई० मे श्री हर्ष-लिखित हिन्दी शिक्षावली, तृतीय भाग की समालोचना, १९०० ई० मे श्री हर्ष-लिखित नैषधीयचरितम् नामक सस्कृत महाकाव्य की परिचयात्मक समालोचना (नैषध चरित चर्चा नाम से), सन् १९०१ ई० मे लाला सीताराम-कृत कालिदास के कुमारसम्भव, मेघदूत और रघुवंश की अनुबाद-भाषा को लेकर व्ययपूर्ण शैली में हिन्दी कालिदास की समालोचना, सन् १९०३ मे नाट्यशास्त्र के रूप मे सैद्धान्तिक समालोचना और सन् १९०७ ई० मे 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' शीर्षक शोधपूर्ण समालोचना लिखी। सन् १९११ ई० मे 'कालिदास की निरंकुशता' का प्रकाशन पुस्तक रूप मे हुआ। 'रसज्ञ रंजन' (सन् १९२०), 'कालिदास और उनकी कविता' (सन् १९२०), 'सुकवि संकीर्तन' (सन् १९२२), 'साहित्य संदर्भ' (सन् १९२४), 'साहित्य सीकर' (सन् १९२९), 'आलोचनाजलि' (सन् १९२८), 'समालोचना समुच्चय' (सन् १९२८), लेखाजलि' (सन् १९२८) आदि उनके सरस्वती मे विभिन्न तिथियो मे

प्रकाशित निबन्धो के सग्रह है, जिनमे उनका समालोचक व्यक्तित्व भी प्रस्फुटित हुआ है। इनकी समालोचनाओ का एक अंग साहित्यकारो और विद्वानो की जीवनी प्रस्तुत करना भी रहा है, जिसमे हल्की-फुल्की समालोचना-क्रिया का समावेश हो सका है। इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी ने कानपुर के हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष पद से सन् १९२३ ई० मे जो भाषण दिया था, उसका भी समालोचना-क्षेत्र मे अत्यन्त महत्त्व है। उपर्युक्त कृतियो और संकलनो के अध्ययन से द्विवेदी जी की समीक्षागत मान्यताओ और दृष्टिकोणो का ज्ञान बडी सरलतापूर्वक किया जा सकता है।

शास्त्रीय तथा सैद्धान्तिक पक्ष में नवीन प्रस्फुरण

३२. आचार्य द्विवेदी जी वस्तुतः एक ऐसे शास्त्रीय समालोचक थे, जो परम्परा-युक्त साहित्य-प्रतिमानो को उदार भावना से ग्रहण करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहते थे। उनमे आचार्यत्व के अनुकूल खण्डन-मण्डन-प्रवृत्ति, शास्त्रार्थ की भावना और टीका तथा सूक्ति पद्धति का भी स्वरूप मिलता है। उनका सैद्धान्तिक निरूपण संस्कृत के 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्य-दर्पण' और 'ध्वन्यालोक' जैसे ग्रन्थो को उपजीव्य बना कर हुआ है, जिसमे समीक्षा की नवीन उद्भावनाओ को ग्रहण करने का भी अल्पांशिक प्रयास रहा है। वे अपनी समालोचनाओ मे युग और परिस्थिति का भी ध्यान रखते थे और उनकी दृष्टि मे समालोचना भी साहित्य-निर्माण की जागरूक प्रेरणा बन सकती थी। यही कारण है कि उन्होने अपनी समीक्षाओ द्वारा नूतन साहित्य-सृजन का अनेक दिशाओ मे मार्ग-दर्शन कराया। 'कवि बनने के सापेक्ष साधन', 'कवि और कविता' शीर्षक समालोचनात्मक निबन्धो मे उन्होने सस्कृत के 'काव्य-मीमासा' आदि लक्षण-ग्रन्थो के आधार पर शास्त्रीय निरूपण किया तो 'कवियो की उर्मिला-विषयक उदासीनता' जैसे समालोचनात्मक निबन्धो से काव्य के प्राचीन उपाख्यानों को भी नवीन दृष्टि से सँजोने की प्रेरणा दी, जिसका प्रतिफल हमे गुप्त जी के 'साकेत' नामक महाकाव्य मे मिलता है। सचमुच द्विवेदी जी मे सुधारवादिता, नैतिकता और सुरुचि-सम्पन्नता के भाव इतनी अधिक मात्रा मे थे कि उनका व्यापक और गम्भीर प्रभाव हमे उस युग के रचनात्मक और समालोचनात्मक साहित्य पर मिलता है और यदि यह कह दिया जाय कि वह प्रभाव आज भी सर्वथा क्षीण नही हुआ है, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

३३. आचार्य द्विवेदी जी की समालोचनाओं का सैद्धान्तिक पक्ष तो अत्यधिक उभरा हुआ था ही, किन्तु उसका प्रयोग-पक्ष भी हीन कोटि का न था। उनकी व्यावहारिक समालोचनाओ से व्याख्या, विश्लेषण और निर्णय की अपूर्व प्रज्ञा प्राप्त होती है। उनकी समीक्षा का एक निश्चित प्रतिमान था, जिसमे पाश्चात्य प्रणाली की अपेक्षा भारतीयता के प्रति अधिक झुकाव था। वे बार-बार अपनी मान्यताओ का स्पष्टीकरण करते हुए आलोच्य कृति या रचनाकार की विशेषताओ का दूघाटन करते थे। यदि उन्हे अपने मानसिक संस्थान के अनुरूप आलोच्य विषय मिल जाता तो वे गद्गद होकर अत्यन्त भाव-प्रवण शैली मे उसका निरूपण करते थे[1] और यदि उनको मानसिक सस्थिति के विपरीत विषय पर ही लिखना पड़ता, तो वे उसकी कटु आलोचना करने मे कोई कसर नहीं रखते[2] भले ही उन्हे अनेक स्थलो पर मर्यादा का भी सीमोल्लघन ही क्यो न करना पड़ता। इसका प्रमाण उनकी 'आजकल के छायावादी कवि और उनकी कविता' विषयक समीक्षा कही जा सकती है।

३४. द्विवेदी जी ने विविध निबन्धो और समालोचना-ग्रन्थो के रूप मे अपनी जिस विचार-

१. 'सरस्वती' अगस्त, १९१४ ई० में भारत-भारती की समालोचना।
२. 'भाषा पद्य व्याकरण', 'सरस्वती', अगस्त, १९१३ ई०।

धारा का विवेचन किया है, उससे पता चलता है कि वे साहित्य के कोरे शास्त्रीय मीमासक ही नही थे अपितु उनमे काव्य के सौंदर्य-ग्रहण की भी क्षमता थी। उन्होने कवियो की जो जीवनियाँ प्रस्तुत की है, उनमे उनकी ऐतिहासिक समालोचक-दृष्टि का प्रारम्भिक स्वरूप मिलता है। इसी प्रकार वे स्थल-स्थल पर दो समान भाव-धाराओ के कवियो की तुलना भी करते चले हैं, जिनसे उनकी तुलनात्मक तथ्य-निरूपिणी प्रवृत्ति और मूल्याकन-शक्ति का भी पता चलता है। उनकी समालोचनाओ से हिन्दी साहित्य को एक बडा लाभ यह भी हुआ है कि हमे उसी समय मे हमारे प्राचीन संस्कृत-साहित्य की वैभवपूर्ण प्रभूत सामग्री का सामान्य परिचय मिल गया है, जिसकी शालीनता और गुरुता से हिन्दी साहित्य-सृजन और समीक्षण को भी सहायता मिलती रही है। संस्कृत के कवियो और कृतियो को लेकर स्वतंत्र पुस्तक के रूप मे समालोचना प्रस्तुत करने का पर्याप्त श्रेय आचार्य द्विवेदी जी को ही है। उनकी समालोचक-दृष्टि सस्कृत के अमर महाकाव्यो के हिन्दी-अनुवादो की अशुद्धियो और भूलो पर तो विशेष रूप से गई थी, जिनका विवेचन उन्होने अनेक बार तो अत्यन्त कटुतापूर्ण शब्दो मे किया है। उदाहरण के लिए लाला सीताराम के कालिदास के ग्रन्थो के अनुवादो को लिया जा सकता है।

समालोचना की सीमाएँ और सर्जनात्मक शक्ति

३५. यह सब कुछ होते हुए भी आचार्य द्विवेदी जी की समालोचना को किसी विशेष प्रौढ धरातल पर प्रतिष्ठित नही किया जा सकता, क्योकि उसमे केवल समालोचना का किशोर कण्ठ ही फूट सका है। उन्होने कवियो की परिचयमूलक समालोचनाएँ लिखी, किन्तु उनसे तत्कालीन युग और परिस्थिति का विशद और गम्भीर समीक्षण नही हो सका। इसी प्रकार वे काव्य के अन्तर्जगत् मे प्रविष्ट होकर कवियो की अत -प्रवृत्ति की छानबीन भी नही कर सके। उनका प्रमुख कार्य काव्य के शरीर-पक्ष का विवेचन करने की ही ओर अधिक रहा और वे काव्य के आत्मपक्ष की ओर बहुत कम झुक सके। इसका सबसे बडा प्रमाण उनका भाषा-सुधार-आन्दोलन है। फिर भी यह मानने मे तो कोई सकोच किया ही नही जा सकता कि आचार्य द्विवेदी जी वस्तुत एक युग-सस्थापक साहित्य-कार थे और उनकी प्रतिभा से जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य के रचनात्मक साहित्य को अनेक प्रकार की नूतन विषय-सामग्री और व्यापक दृष्टि की उपलब्धि हुई है, उसी प्रकार उनके महान् व्यक्तित्व से समालोचनात्मक-साहित्य भी बहुत कुछ पा सका है। सचमुच आचार्य द्विवेदी जी वर्तमान हिन्दी समालोचना का एक व्यापक धरातल निर्मित कर गए थे, जिसकी रूप-रेखा मे रंग भरने का कार्य उन्ही के युग की उपज आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने किया, किन्तु उससे द्विवेदी जी के महिमामय गौरव मे किसी प्रकार की कोई कमी नही आती।

३६. आचार्य द्विवेदी जी ने प्रधानतः सम्पादक रहते हुए भी समालोचना-क्षेत्र मे अपना एक आदर्श रखा। इसका सबसे बडा प्रमाण तो यही है कि उन्होने समालोचना के न्याय-पक्ष का समर्थन करने के पीछे अपने व्यक्तिगत सम्बन्धो की कोई परवाह नही की। उनमे अन्य सम्पादको की भाँति चापलूसी अथवा जी-हुजूरी की भावना बिल्कुल नही थी। सच तो यह है कि वे सरस्वती-सम्पादक का पद भी बडी शालीनता से ग्रहण कर सके थे। यह उनकी समालोचक-प्रज्ञा का ही प्रतीक है कि उन्होने अपनी पत्रिका मे उन्ही रचनाओ को स्थान दिया, जो उनके विवेक से समुचित-स्तर की होती अथवा सामान्य सशोधन और परिवर्द्धन के पश्चात् उन्हे प्रकाशनोपयुक्त बना लिया जाता। उनका यह समीक्षण-कार्य सर्जनात्मक प्रवृत्ति का प्रतीक है जिसका एक स्वरूप उनके हिन्दी साहित्य[1], शूरवीर समालोचक[2], काशी का साहित्य-वृक्ष[3] जैसे व्यग्य चित्रो से प्राप्त किया जा सकता है।

१. सरस्वती, १९०२, पृष्ठ ३५।

२. वही, सन् १९०३, पृष्ठ २९५।

३ वही, सन १९०३, पृष्ठ ४०६।

३७ जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है कि भाषा-सुधार-आन्दोलन द्विवेदी जी की समालोचना का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसका सूत्र-संचालन उन्होने सरस्वती पत्रिका को ही अपना अमोघ अस्त्र बना कर किया। वे बडे से बडे लेखक की भाषा-सम्बन्धी अशुद्धियो को क्षमा नही करते थे। उन्होने स्वरगत लेखन त्रुटियो के संशोधन से लेकर व्यजनगत लेखन-त्रुटियो तक की छोटी-छोटी बातो पर ध्यान दिया और परिश्रम करते हुए भाषा-विषयक धाँधली को मिटाने का प्रयत्न किया। 'सरस्वती' पत्रिका की फाइलो मे सकलित सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, विशेष्य, लिंग, अव्यय, वचन, कारक, सधि, समास, उपसर्ग, प्रत्यय, आकाक्षा, योग्यता, और सन्निधि जैसे विषयो से लेकर वाच्य, प्रत्यक्ष, परोक्ष कथन, मुहावरे तथा लोकोक्तियो तक सशोधन किये है।[1] इतना ही नहीं, उन्होने लेखको द्वारा प्रयुक्त कठिन सस्कृत शब्दो के स्थान पर सरल शब्द, अरबी, फारसी तथा अग्रेजी के स्थानापन्न हिन्दी शब्द और प्रान्तीय प्रयोगो के स्थान पर प्रामाणिक शब्दो का प्रयोग कर भाषा-शुद्धि के आन्दोलन को बहुत आगे बढाया था।[2] यह आन्दोलन उनकी समालोचना का मुख्य अग बन कर अमर रहेगा। यदि यह कह दिया जाय कि द्विवेदी-युग के उत्तरवर्ती समय मे आगे चलकर भाषा को जो प्राजलता और परिष्कृति का सौष्ठव प्राप्त हुआ, उसके पीछे आचार्य द्विवेदी की अनवरत साधना थी तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

३८. यद्यपि आचार्य द्विवेदी अपनी समालोच्य कृतियो मे छन्द, अलंकार और व्याकरण-विषयक निरूपण को महत्त्व देते थे, किन्तु गुण-दोष-निरीक्षण की परम्परा के निर्वाह मात्र को ही वे सच्ची समालोचना नही समझते थे। उन्होने समालोचको के कर्त्तव्य का विश्लेषण करते समय यह बात बार-बार दोहराई है कि वे केवल समालोचना के बाह्य विधान तक ही सीमित न रहे किन्तु इस बात का भी विचार करे कि समालोच्य कृति मनोरजन, शिक्षण, आदर्श, उपयोगिता आदि की दृष्टि से भी किसी काम की बन सकी है या नही। उनका तो दृढ मत था कि समालोचक को निष्पक्ष भाव से समालोच्य विषय के गुण-दोष-प्रदर्शन मे किसी भी प्रकार की कोई हिचक नही करनी चाहिए। वे प्राचीन और नवीन कवियो की दोषोद्भावनाओ को भी निस्सकोच प्रकट करते थे, क्योकि उनका विश्वास था कि ऐसा न करने पर साहित्य और समाज के कल्याण मे अवरोध उत्पन्न हो सकता है। वे अपने मन्तव्यो पर समुचित विवेचन और विश्लेषण के पश्चात् ही पहुँचते थे।

समालोचना का आधार और अन्याय प्रवृत्तियाँ

३९. आचार्य द्विवेदी जी की समालोचना का एक मौलिक आधार है। वे जिस युग मे अवतीर्ण हुए थे, वह नैतिकता, आदर्श और सुरुचि के अत्यधिक अनुकूल था। यही कारण है कि उन्हे रीतिकालीन काव्यधारा और लक्षणो की रचनाएँ अत्यन्त हीनकोटि की प्रतीत हुईं। उन्होने रीति-कालीन काव्यकारो को खूब आडे हाथों लिया और उनके नायिका-भेद तथा ऋतु-वर्णन का खुल कर भण्डाफोड किया।[3] वे साहित्य की व्यापक विधाओ को हिन्दी मे देखने के आकाक्षी थे, अत उन्होने अपनी समालोचना का एक सृजनशील दृष्टिकोण भी उपस्थित किया जो उस युग की अनुरूपता मे बराबर उपयुक्त जँचा। उनकी दृढता और निष्पक्ष वृत्ति का इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है कि उनकी समालोचना के शिकार बने हुए उनके अनेक आत्मीय जन भी उनके प्रबल विरोधी और शत्रु बन गये, पर आचार्य ने उनकी कोई परवाह नही की। यहाँ तक कि अनेक बार तो उनका आत्मरक्षण भी कठिन हो गया और उन्हे अपने अध्ययन-कक्ष मे अनेक शस्त्रास्त्र तक रखने पड़े।

---

१. डा० उदयभानु सिंह, 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', प्रथम सस्करण, पृष्ठ २२१-२३८।

२. डा० उदयभानु सिह, 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, 'प्रथम सस्करण, पृष्ठ २३९-२४४।

३. 'सरस्वती' सन् १९०१, पृष्ठ १९५।

४०. आचार्य द्विवेदी जी की आलोचनाओ मे जहाँ एक ओर उनकी प्रखरता और कटुता थी, वहाँ दूसरी ओर उनमे रससिक्तता और भावुकता का भी अभाव न था। वे अनुशासन के पक्के थे, पर गुणग्राहकता भी उनमे हीन-कोटि की न थी। प्रयाग के साहित्यिक मेले मे उन्होने जो अपना भाव-प्रवण वक्तव्य दिया था[1] वह उनके कर्त्तव्य मे वज्रवत् कठोर किन्तु भावना मे कुसुमादपि मृदुल हृदय की मनोवृत्तियो का आभास देता है। सच तो यह है कि द्विवेदी जी की समालोचना की अपनी एक परिधि थी और वे उसी के अन्तर्गत कवियो और रचयिताओ के काव्यगुणो का परीक्षण करते थे। उनके पास एक शास्त्रीय आधार था, जो सस्कृत काव्यशास्त्र से मुख्यत अनुप्राणित था और उसके द्वारा उन्होने अपने विवेच्य कवियो और उनकी कृतियो का समालोचन किया। उन्हे उस आधार के अनुकूल यदि समालोच्य विषय मे गुणो का अन्तर्भाव प्रदर्शित हुआ तो उसकी उन्होने प्रशसा कर दी और यदि वे उनके मानदंड मे अनुरूप न जँचे तो उनकी निन्दा भी कर दी। इस प्रकार कहा जा सकता है कि उनकी समालोचना मे साहित्य की अतर्वृत्ति के एकात रहस्यो के उद्घाटन का वह गूढतम प्रयास नही था, जिसके कारण समालोचना अत्यन्त सौष्ठवमयी और शाश्वत गाम्भीर्य से युक्त होती है। उनकी मेधा ने रचनात्मक साहित्य को प्रेरणा देने के लिए और विद्यमान साहित्य का परिष्कार करने के लिए जितना अधिक उचित समझा, उतना ही लिखा। समालोचनागत गाम्भीर्य और सूक्ष्म विश्लेषण का कार्य तो उनके समकालीन लेखक पं० रामचन्द्र शुक्ल ने आगे चल कर किया जिनके साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण मे आचार्य द्विवेदी जी का कम हाथ नही था।

मानसिक स्तर और समालोचना-कार्य

४१. आचार्य द्विवेदी जी की समालोचना द्वारा उनके मानसिक स्तर और सवेदन का आभास भी मिल जाता है। ऐसा लगता है कि वे प्रारम्भ मे अंग्रेजी शासन के प्रशंसक थे, किन्तु कालान्तर मे उनकी धारणा बदलती गई। उन्होने 'हिन्दी-शिक्षावली, तृतीय भाग' की जो समालोचना लिखी है, उससे उनके अंग्रेजी शासन के प्रति बने हुए आस्था-भाव का पता चलता है। आगे चल कर उसमे परिवर्तन के लक्षण परिलक्षित होने लगते है। उनकी 'हिन्दी शिक्षावली, तृतीय रीडर' की आलोचना का भी उनके समालोचना-कार्य के प्रारम्भिक प्रयासो मे यथेष्ट महत्त्व है, क्योकि उससे द्विवेदी जी के उदीयमान समालोचक-स्वरूप का क्रमिक विकास समझने मे पर्याप्त सहायता मिलती है। यह पुस्तक उत्तर-प्रदेश के तहसीली स्कूलो मे पाठ्यक्रम के अन्तर्गत निर्धारित हुई थी, जिसकी सदोषता की ओर आचार्य का ध्यान एक अध्यापक महोदय ने आकृष्ट किया था और जिसकी प्रेरणा लेकर द्विवेदी जी ने उसकी कटु समीक्षा की।[2] कहना होगा, उसकी समालोचना से इण्डियन प्रेस को पर्याप्त हानि भी सहन करनी पडी, किन्तु द्विवेदी जी को इससे क्या? वे तो साहित्य के पारखी थे और साहित्य के पावन मन्दिर मे व्यर्थ की दोषोद्भावना का प्रवेश निषिद्ध करना चाहते थे।

४२. द्विवेदी जी के समालोचक-स्वरूप को समझने के लिए उनका और 'काशी नागरी-प्रचारिणी सभा' का सम्बन्धोल्लेख करना भी आवश्यक है। वास्तव मे देखा जाय तो 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन सभा की प्रेरणा से ही हुआ था और द्विवेदी जी को उसके सुयोग्य सम्पादन का कार्य भी सभा के कार्यकर्त्ताओ के सकेत पर ही मिला था, किन्तु आगे चल कर उनमे पारस्परिक विरोध हो गया। बात यह हुई कि सभा ने सन् १९०३ मे अपना शोध-विवरण प्रकाशित किया, जिसका द्विवेदी जी ने अक्टूबर १९०४ की सरस्वती मे प्रतिवाद किया और बतलाया कि वह कितना अधिक

१. सरस्वती, भाग ४०, सख्या २, पृष्ठ १९४।

२. "साहित्य-संदेश', अप्रैल १९३९, पृष्ठ ३०१।

भ्रान्तिपूर्ण हैं। उस विवाद का रूप वैयक्तिक आक्षेपो तक उतर आया और जिसके लक्ष्य बने बाबू श्यामसुन्दर दास और आचार्य द्विवेदी जी। द्विवेदी जी ने सभा की जिन शोधों की कटु आलोचना की थी, उनकी प्रशंसात्मक प्रशस्तियाँ 'पायनियर', 'इण्डियन पीपुल', 'एडवोकेट' तथा 'इण्डियन स्टूडेण्ट' नामक पत्रों ने बड़ी सजधज के साथ प्रकाशित की। फिर क्या था, द्विवेदी जी का रोष और अधिक बढ गया। उन्होने सभा के उस पत्र का हवाला देकर अपनी व्यग्यपूर्ण कटूक्तियो से सभा के इस रवैये की निन्दा की, जिससे सभा ने अपने विषय मे ऐसे शकापूर्ण लेख प्रकाशित करने से 'सरस्वती' को रोका। बात बढ गई, इण्डियन प्रेस के स्वामी श्री चिन्तामणि घोष ने इसके निर्णय का उत्तर-दायित्व द्विवेदी जी पर छोड दिया। परिणाम यह हुआ कि सरस्वती का सभा से सम्बन्ध-विच्छेद सा हो गया। द्विवेदीजी ने इस विच्छेद के अवसर पर फरवरी १९०५ की सरस्वती मे अपना विद्वत्तापूर्ण वक्तव्य 'अनुमोदन का अन्त' के नाम से छापा जिसमे यह स्पष्ट किया कि उनका सभा अथवा उसके सचालको से कोई विरोध नही है, अपितु वे तो जो भी कहते है वह हिन्दी भाषा और साहित्य के कल्याण और उत्कर्ष की भावना से ही प्रेरित होकर। कहना होगा, इस प्रकार सभा और सरस्वती का यह झगडा बाबू श्यामसुन्दर दास और द्विवेदीजी के वैयक्तिक आक्षेपो से कम बोझिल नही था। 'भारतमित्र' के अक मे बाबू श्यामसुन्दर दास ने द्विवेदी जी से क्षमा-याचना करते हुए लेख लिखा तो द्विवेदीजी ने 'शीलनिधान जी की शालीनता'[1] शीर्षक लेखमाला निकाली, जिसके बीच-बीच मे तीक्ष्ण व्यग्यात्मकता भी थी। इस लेखमाला का परिवर्द्धित स्वरूप 'कौटिल्य-कुठार' के नाम से काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा के कला-भवन मे सुरक्षित है। यह विवाद अत्यन्त दुखपूर्ण-सा था, जिसका अन्त सभा ने द्विवेदी जी की ७०वी वर्षगाँठ पर 'द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रन्थ' का प्रकाशन कर किया और द्विवेदी जी ने अपनी समस्त साहित्य-निधि सभा को अर्पण कर उसकी समाप्ति की। कहना होगा, इस विवाद के मूल मे सभा और द्विवेदी जी के सैद्धान्तिक मतभेदो का ही पुट था, अन्यथा दोनो एक-दूसरे की साहित्य-साधना और सेवा-वृत्ति के अनन्य प्रशसक थे। स्वय द्विवेदी जी को कटु आलोचनाओ के लिए खेद हुआ था, पर वे क्या करते! सम्पादक और समालोचक का कठोर कर्त्तव्य उन्हे ऐसा करने के लिए बाध्य किये हुए थे। साराश यह कि द्विवेदी-जी और श्यामसुन्दर दास जी का यह विवाद भी द्विवेदी जी की समालोचना-प्रक्रिया को समझने के लिए एक अत्यन्त आवश्यक आधार है और इसका भी उसके विकास-क्रम मे बडा महत्त्व है। इसी प्रकार द्विवेदी जी और श्री बी० एन० शर्मा का झगड़ा भी हिन्दी-समालोचना के छुटपुट स्वरूप की झलक उपस्थित करता है।[2] हाँ, यह बात दूसरी है कि उसमे समालोचना के सुष्ठु निर्माण का प्रयत्न किसी परिपुष्ट प्रतिमान मे नही हो सका है।

'हिन्दी-नवरत्न' की आलोचना : समालोचना का विशद स्वरूप

४३. द्विवेदी जी ने जनवरी-फरवरी सन् १९१२ की 'सरस्वती' पत्रिका मे मिश्रबन्धुओ द्वारा लिखित 'हिन्दी-नवरत्न' नामक समालोचनात्मक ग्रन्थ की अत्यन्त व्यापक और विश्लेषणात्मक समीक्षा की जिसके प्रारम्भ मे पुस्तक-सम्बन्धिनी साधारण बातें[3] कह कर उसके गुण-दोषों का विशद विवेचन किया गया है। इस समालोचना मे द्विवेदी जी की व्यंग्यप्रधान शैली और कटुतापूर्ण प्रहार की झलक स्थल-स्थल पर मिलती है। विद्वान् समालोचक ने पूर्व-पक्ष के रूप मे मिश्रबन्धुओ की मान्यताओ का तार्किक खण्डन किया है। ऐसा करते हुए द्विवेदी जी ने समालोच्य कवियो के

---

१. हिन्दी बगवासी, कलकत्ता जून-जुलाई, १९०७ ई०।

२. प० पद्मसिह शर्मा ने भी बी० एन० शर्मा की 'शिक्षा-मजरी' की आलोचना 'परोपकारी' फाल्गुन १९६४ में लिखी थी।

३. 'समालोचना समुच्चय.' 'हिन्दी नवरत्न' की आलोचना, पृष्ठ २०६-२०७.

प्रसग मे विवेचित उन अनेक उद्धरणो को भी अपनी इस समीक्षा मे स्थान दिया है, जिन पर मिश्र-बन्धुओ ने निर्भयतापूर्वक अपना निर्णय दिया था। द्विवेदी जी ने उनकी निस्सारता बडी युक्तिसंगत विधि से सिद्ध की है।[1] उन्हे न केवल मिश्रबन्धुओ की समीक्षा-पद्धति ही दोषपूर्ण लगी है, अपितु वे ऐसे अनेक उदाहरण भी देते गए है जो 'हिन्दी नवरत्न' मे सकलित तथ्यो और मान्यताओ की अग्राह्यता स्पष्ट करते है। इतना ही नही, पुस्तक मे दिए गए कवियो के काल्पनिक चित्रो की निस्सारता पर भी द्विवेदी जी ने व्यग्य किए है। मिश्रबन्धुओ ने अपने जिन प्रतिमानो के आधार पर हिन्दी नवरत्नो का श्रेणी-विभाग बृहत्त्रयी और लघुत्रयी के नाम से किया था, वह भी द्विवेदी जी को अत्यन्त अखरा है। उन्हे तो मिश्रबन्धुओ के इस समीक्षण मे कोई ऐसा प्रौढ आधार भी नही मिलता, जिसको लेकर यह कह दिया जाय कि हिन्दी नवरत्न के कवि ही वस्तुत. हमारे साहित्य के सच्चे नवरत्न है और शेष कवि उनकी समता मे हीन सिद्ध होते है। इस प्रकार की श्रेणी-विभाजन-पद्धति को किसी भी साहित्य की समालोचना का उपजीव्य बना कर चलना खतरे से खाली नही है, इसका विवेचन द्विवेदी जी ने सुचारु रूप से अपनी इस व्याख्यात्मक समालोचना मे कर दिया है। इतना ही नही, उनकी इस समालोचना से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी जी भाषा के शुद्ध और व्याकरण-सम्मत प्रयोग के कितने अधिक समर्थक थे। इसका एक प्रमाण उनका यह वाक्य है—"आरम्भ मे लेखको ने हिन्दी नवरत्न का जो अर्थ लिखा है 'साहित्य के नव सर्वोत्तम कवि' उसके भी 'नव' और 'सर्व' शब्द परस्पर विरोधी है।"[2]

४४. द्विवेदी जी ने हिन्दी-नवरत्न मे प्रयुक्त 'उत्तम' शब्द के अनधिकृत प्रयोग की तो खूब कसकर खबर ली है, जिसका मूल आशय यही है कि मिश्रबन्धुओ को इस शब्द की प्राण-शक्ति का बिल्कुल ज्ञान नही है, अन्यथा वे उत्तम, उत्तमोत्तर, परमोत्तम, सर्वोत्तम, उत्तमोत्तम अति उत्तम आदि शब्दो का अर्थ-मर्यादा के अनुकूल प्रयोग करते।[3] इसी प्रकार मिश्र बन्धुओं ने गोस्वामी तुलसीदास के काव्य की उत्तमता का विवेचन करते हुए जिन प्रसंगो का उल्लेख किया है, वे भी द्विवेदी जी को नही जँचे हैं। उन्हे मिश्रबन्धुओ की विनयपत्रिका-सम्बन्धी इस उक्ति मे भी व्यर्थ का दम्भ अथवा पाखण्ड ही लगता है कि 'विनय सम्बन्धी ऐसा अद्भुत और भावपूर्ण ग्रन्थ हमने अब तक किसी भी भाषा मे नही देखा।" इसी प्रकार बिना किन्ही आधारो अथवा प्रमाणो के 'कृष्ण-गीतावली' को बडा ही विशद् ग्रन्थ कहना, सम्वत् १५८९ को तुलसी की जन्मतिथि निर्दिष्ट करना आदि विषयो पर भी द्विवेदी जी ने उनकी कटु समीक्षा की है।[4] मतिराम, देव, बिहारी और हरिश्चन्द्र के विषय मे भी मिश्रबन्धुओ की जो अनेक भ्रान्त मान्यताएँ हैं, उनका खण्डन भी द्विवेदी जी ने किया है।[5] वे इसी प्रकार अवशिष्ट रत्नो पर भी समालोचना दे सकते थे, यदि उन्हे उनका अध्ययन करने का भी अवकाश मिल पाता। फिर भी यह स्पष्ट है कि हिन्दी समालोचना के सम्वर्धन-काल मे द्विवेदी जी द्वारा की गई 'हिन्दी नवरत्न' की इस व्यापक और व्याख्यात्मक समालोचना का बडा महत्त्व है, क्योकि आगे चलकर आचार्य शुक्ल जी ने जिन विशद विवेचनाओ को अपना आधार बनाया, उनकी पूर्वाभासित प्रेरणा सम्भवतः हिन्दी नवरत्न की समालोचना मे ही अन्तर्निहित थी। समालोचना के अन्त मे द्विवेदी जी ने मिश्रबन्धुओ के भाषा-दोष, वाक्य औरवाक्याश दोष, शब्द-दोष तथा अन्यान्य फुटकर दोष निरूपित कर इस समालोचना का उपसहार किया है और सुयोग्य विद्वान् लेखकों को इस बात की सुसम्मति दी है कि यदि वे भविष्य मे हिन्दी का इतिहास लिखे तो इन

१. 'समालोचना समुच्चय' . 'हिन्दी नवरत्न' की आलोचना, पृष्ठ २०६-२०७.
२. वही, पृष्ठ २११.
३. वही, पृष्ठ २०६-२०७.
४. वही, पृष्ठ २१२.
५. वही, पृष्ठ २२६-२३५.

दोषो को दूर करने वी चेष्टा करें। अभिप्राय यह है कि 'हिन्दी नवरत्न की समालोचना' हिन्दी समालोचना के सम्वर्धन-काल (द्विवेदी-युग) की एक आदर्श समीक्षा प्रणाली हैं जिसका व्याख्यात्मक प्रणाली के विकाम-क्रम मे अत्यधिक गौरव है।

द्विवेदी जी की सैद्धान्तिक मान्यताएँ और उनका विवेचन

४५. वैसे तो पडित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपनी विभिन्न सम्पादकीय टिप्पणियो और चर्चाओ के अंतर्गत समालोचना के सैद्धान्तिक स्वरूप का निरूपण किया था, किन्तु 'रसज्ञ-रंजन' उनकी ऐसी रचना है, जिसमे वे सारभूत विधान मे संकलित होकर उपस्थित हुए हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में द्विवेदी जी के कविता और छद, काव्य-भाषा, काव्यार्थ-सौरस्य और काव्य-विषय आदि पक्षो पर विचार व्यक्त हुए है। द्विवेदी जी के मतानुसार काव्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और उसमें गद्य और पद्य दोनो का ही समावेश किया जा सकता है। वे छन्दमात्र को ही काव्य नही मानते, क्योकि उनमे काव्य के लक्षणो का सगठन होना आवश्यक नही है। छन्द तो उनकी दृष्टि मे रचना-पक्तियो मे वर्णों या मात्राओ की नियमित सख्या है, अतः वह पद्य अवश्य कहा जा सकता है, पर काव्य नही कहा जा सकता। उनके विवेचन से यह भी ध्वनित होता है कि वे सिद्ध कवियो के लिए छन्द-योजना का कोई प्रतिबन्ध स्वीकार नही करते, किन्तु साधारण कवियो के लिए विषयानुकूल छन्द-योजना आवश्यक समझते है। इसके लिए उन्होने संस्कृत के उन कवियो की प्रशसा की है जो अपनी काव्यरचनाओ मे प्रसगानुकूल छन्द-चयन कर चलते थे। उन्होने हिन्दी कवियो को उनके आदर्शों को ग्रहण करते हुए चलने का परामर्श दिया है और कहा है कि वे केवल परम्परागत दोहा, सोरठा, चौपाई, घनाक्षरी, सवैया, और छप्पय आदि छन्दो की यत्रणा मे ग्रस्त होकर ही नही चले, अपितु सस्कृत के उत्तमोत्तम वृत्तो का प्रयोग भी अपने काव्यो मे करें। बोलचाल की हिन्दी कविता मे तो उन्होने उर्दू के छन्दों को ग्रहण करते हुए चलने मे भी कोई आपत्ति नही की है, क्योकि उनमे वह अधिक खुलती है।

४६. द्विवेदी जी ने पादान्त मे अनुप्रासहीन छन्द लिखने का भी समर्थन किया है। चूंकि इस प्रकार के छदो का प्रयोग सस्कृत, बगला और अग्रेजी आदि भाषा काव्यो मे हुआ है, अतः द्विवेदी जी के मतानुसार केवल तुकबन्दी तक ही हिंदी छदो को सीमित बनाना शोभनीय नही है। इससे उनका यह तो अभिप्राय नही है कि प्रचलित परिपाटी को सर्वथा भंग करके ही चला जाय किन्तु वे इतना अवश्य उपादेय समझते हैं कि हिन्दी काव्य को छन्दो की व्यापकता प्रदान की जाय। यह सब कुछ होते हुए भी द्विवेदी जी काव्य मे छन्दो का सापेक्षिक महत्त्व ही स्वीकार करते थे, क्योकि उनकी दृष्टि से कविता का अच्छा या बुरा होना विशेषत. अच्छे अर्थ और रस-बाहुल्य पर अवलम्बित है।

४७. द्विवेदी जी के काव्य-भाषा विषयक विचार भी अत्यन्त स्पष्ट थे। वे ऐसी भाषा के पक्षपाती थे जो पाठको को सहज ही अर्थ-बोध करा सके। क्लिष्ट भाषा और दूरारूढ कल्पना को वे काव्य का दोष समझते थे। उन्होने उन कवियो की प्रशसा की है जो बहुत विद्वान् होने पर भी काव्य-रचना मे सरल भाषा का प्रयोग करते रहे है। उनकी दृष्टि मे सरलता काव्य-भाषा का एक ऐसा गुण है जो कवि की रचना को सर्वसाधारण के लिए सुलभ बना देता है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि द्विवेदी जी का काव्य-क्षेत्र विषयक दृष्टिकोण लोक-जीवन की मान्यताओ के कितना अधिक निकट था।

४८. द्विवेदी जी ने काव्य-भाषा के अन्तर्गत व्याकरण के नियमो, मुहाविरो तथा शब्द-चयन का भी विचार किया है। उन्हे भाषा के क्षेत्र मे व्याकरण के नियमो की अवहेलना तो किसी भी रूप मे स्वीकार नही थी, क्योंकि ऐसा करने से भाषा का रूप विकृत हो जाता है। उन्होने

(२)

सर्वश्री मिश्रबन्धु और उनका समीक्षण-कार्य

(सर्वश्री गणेश बिहारी मिश्र, श्याम बिहारी मिश्र, शुकदेव बिहारी मिश्र)

समालोचना-क्षेत्र में प्रवेश और ऐतिहासिक पद्धति का अनुगमन

५१ मिश्रबन्धुओ का हिन्दी समालोचना-साहित्य मे प्रवेश ऐसे समय मे हुआ, जब हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद प्रदान कराने, उसे विश्वविद्यालयो की उच्चतर परीक्षाओ मे स्थान दिलाने तथा उसके अपार साहित्य-भण्डार को शोध निकालने के प्रयत्न प्रारम्भ हो गए थे। यही समय काशीस्थ नागरी प्रचारिणी सभा के प्रारम्भिक वर्षो का था, जब हिन्दी-हितैषी विद्वानो ने उसे अपनी उद्देश्य-पूर्ति का साधन बनाकर उपर्युक्त साध्यो की प्राप्ति का उद्योग किया। मिश्रबन्धु भी उनमे से थे। उन्हे इस बात का अनुभव करने मे कोई विशेष आयास नही करना पडा कि यद्यपि हिन्दी भाषा और साहित्य मे देश का नेतृत्व करने की क्षमता है, किन्तु उसे एक सुन्दर व्यवस्था प्रदान करने की भी कम आवश्यकता नही है। उनका भारतीय और पाश्चात्य ग्रथो का अच्छा अध्ययन था और वे हिन्दी-साहित्य को भी उनके समकक्ष धरातल पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे, अतः उन्होने युग-जीवन की आवश्यकता की दृष्टि से मुख्यतः साहित्येतिहास का निर्माण और शोधपरक समालोचना के सवर्धन का गुरुतर कार्य करना समीचीन समझा। वे नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से घनिष्ठ रूप मे सम्बन्धित थे और हिन्दी-सेवा उनके जीवन का एक अखड व्रत था। 'मिश्रबन्धु-विनोद' (चार भाग) और 'हिन्दी नवरत्न' जैसे विशालकाय ग्रन्थो की रचना से उनके द्वारा भावी समालोचको का शोध-समीक्षण विषयक पथ प्रशस्त हो सका। इसमे कोई सन्देह नही कि उनकी समालोचनाओ मे अनेक स्थलो पर अवैज्ञानिक अपूर्णताएँ हैं और वे समालोच्य विषय का सम्यक् रूप से संतुलित निर्वाह भी कम कर सके हैं, किन्तु उस युग मे हिन्दी-समालोचना जिस धरातल पर अवस्थित थी, उसे उनके द्वारा निश्चय ही विकास प्राप्त हुआ है। यही कारण है कि उनकी समालोचनाओ का हिन्दी-समालोचना के सवर्धनकाल मे अत्यधिक महत्त्व है और उनकी उपेक्षा कर आधुनिक समालोचना-साहित्य का विकास समझा ही नहीं जा सकता।

५२. मिश्रबन्धु ऐतिहासिक समालोचना-पद्धति के प्रमुख सूत्रधार है। उनका 'मिश्रबन्धु विनोद' इस कथन का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उन्होने अपने 'विनोद' को 'हिन्दी साहित्य का इतिहास तथा कवि-कीर्तन' भी कहा है, जिसके चार भागो मे प्राय पाँच हजार कवियो और साहित्यकारो का परिचय संकलित किया गया है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन सन् १९१३ मे प्रयाग के इंडियन प्रेस से हुआ था। यद्यपि उसमे समालोचना की ऐतिहासिक पद्धति का सतुलित निर्वाह बहुत कम हुआ है, किन्तु अनुसंधाताओं और साहित्य-प्रेमियो के लिए यह सदर्भ-ग्रन्थ के रूप मे सदैव सम्मानार्ह रहेगा। इसमें ज्ञात और अज्ञात श्रेणी के ऐसे अनेक साहित्यकारो को भी स्थान दिया गया है, जिनकी प्रतिभा का परीक्षण होना अभी शेष है। काल-विभाजन और युग-प्रवृत्तियो के निरूपण मे भी उन्होने अपनी निजी पद्धति का प्रयोग किया है जो आज के विकासोन्मुख समीक्षण-प्रतिमान मे सर्वग्राह्य और प्रामाणिक नही कही जा सकती। वस्तुतः 'विनोद' में कवि-संग्रह की प्रवृत्ति ही अधिक है। इसका एक प्रमाण तो यही है कि उसके चतुर्थ भाग मे पहले प्रायः २६४ कवियो का विवरण था, किन्तु शनैः-शनैः बढते-बढ़ते वह डेढ हज़ार की संख्या तक पहुँच गया। ऐसा होने का प्रधान कारण यही था कि मिश्रबन्धु बिना किसी प्रकार के निश्चित प्रतिमान और परीक्षण के उन वर्तमानकालीन कवियों को भी अपने विनोद में सम्मिलित करते गए, जिन्होने अपने मित्रो द्वारा अथवा स्वयम् अपना जीवन-चरित्र उन्हे लिख भेजा। उन्ही के शब्दो में उनका विनोद मुख्यतया कवि-कृतियो का कथन बन गया है। इसमें कोई सन्देह नही कि 'विनोद' का कवि-संग्रह-ग्रन्थ के रूप मे स्थायी महत्त्व है,

किन्तु मिश्रबन्धुओ का समीक्षण-विधान कई स्थलों पर अत्यन्त अपरिपक्व और दोषपूर्ण भी है, इस तथ्य की भी अवहेलना नही की जा सकती ।

'मिश्रबन्धु-विनोद' का काल-विभाजन और उसका दृष्टिकोण

५३ मिश्रबन्धुओ के विनोद मे काल-विभाजन का कोई निर्धारित क्रम अथवा तथ्य-परक आधार नही है । उन्होने सवत् ७०० से लेकर पुस्तक-प्रकाशन के समय-पर्यन्त (सवत् १९७०) पूर्वारम्भिक (सन् ६५०-१२८६), उत्तरारम्भिक (१२८६-१३८७), पूर्वमाध्यमिक (१३८७-१५०३), प्रौढ माध्यमिक (१५०३-१६३३), पूर्वालकृत (१६३३-१७३३), उत्तरालंकृत (१७३३-१८३२), परिवर्तन-काल (१८३२-१८६८) तथा वर्तमान हिन्दी (१८६८ से) के अन्तर्गत प्राय १२५० वर्षों के इतिहास का विभाजन अत्यन्त शिथिल और विशृ खलित विधि से किया है। उदाहरणार्थ, उन्होने पूर्वालंकृत हिन्दी के परिचय के साथ-साथ सेनापति-काल, भूषण-काल, बिहारी-काल, आदिम देव-काल, माध्यमिक देव-काल, तथा उतरालकृत हिन्दीके अन्तर्गत दास-काल,सूदन-काल, रामचन्द्र-काल, बेनी प्रवीण-काल, पद्माकर-काल आदि विभिन्न कालो के अन्तर्गत जो कवि-सस्तव किया है, उसमे उनके निर्धारित प्रतिमान की मूल तर्कना का अभाव है । ऐसा प्रतीत होता है कि मिश्रबन्धुओ को साहित्य के इतिहास-निर्माण और कवि-कीर्तन मे कोई विशेष अन्तर ही नही प्रतीत हुआ था, अत उन्होने कवि-परिचय तक ही इतिहास की सीमा समझ ली । किसी भी साहित्य के इतिहास मे जिस प्रकार का सामान्य परिचय और ऐतिहासिक अनुक्रम से युग-प्रवृत्तियो की पृष्ठभूमि मे साहित्यकारो और उनकी कृतियो का समालोचन किया जाता है, वह 'मिश्रबन्धु-विनोद' मे बहुत कम है । उन्होने कई कवियो पर तो केवल उडती सम्मति देकर ही उन्हे चलता कर दिया है । उनके 'विनोद' मे इन्ही अपूर्णताओ को देखकर आचार्य पडित रामचन्द्र शुक्ल ने उन पर व्यंग्य करते हुए लिखा है—

"जब तक पूर्व और उत्तर के अलग-अलग लक्षण न बताए जायेंगे, तब तक इस प्रकार के काल-विभाग का कोई अर्थ नही । इसी प्रकार थोडे-थोडे अन्तर पर होने वाले कुछ प्रसिद्ध कवियो के नाम पर अनेक काल बाँध कर चलने के पहले यह दिखाना आवश्यक है कि प्रत्येक काल-प्रवर्तक कवि का यह प्रभाव उसके काल मे होने वाले सब कवियो मे सामान्य रूप से पाया जाता है । विभाग का कोई पुष्ट आधार होना चाहिए ।"[1]

५४. मिश्रबन्धुओ ने अपने विनोद के प्रारम्भ मे जो भूमिका लिखी है, उससे उनके समालोचना विषयक दृष्टिकोण का भी पता चलता है । इस भूमिका के द्वारा उन्होने सामयिक साहित्य की गतिविधि तथा अपनी सीमाओ का विश्लेषण अत्यन्त शिष्ट और नम्र वाणी मे किया है। जिन कारणो से उनका 'विनोद' हिन्दी साहित्य के इतिहास की भूमिका नही ग्रहण कर सका, उनका विवेचन भी उन्होने भूमिका भाग के अन्तर्गत कर दिया है। वे साहित्य के इतिहास की सीमाएँ समझते थे, अत उन्होने उसका नाम 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' न रखकर 'मिश्रबन्धु-विनोद' रखना ही उचित समझा है, क्योकि उनके मतानुसार 'इतिहास ग्रथ' मे छोटे-बडे सभी कवियो एवं लेखको को स्थान नही मिल सकता, जबकि इसमे इतिहास से इतर बातो का भी कथन हुआ है ।[2] फिर भी विद्वान् लेखको ने इसमे इतिहास-सम्बन्धी अन्यान्य विषयो और गुणो को लाने का यथासाध्य प्रयत्न अवश्य किया है, जिसके कारण वे इसका उपनाम हिन्दी-साहित्य का इतिहास तथा कवि-कीर्तन भी रखना अनुचित नही समझते हैं ।

५५. भूमिका-भाग मे मिश्रबन्धुओ ने ग्रन्थ-निर्माण की प्रेरणा, विषय-निरूपण, लेखन-

---

१. प० रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रथम सस्करण का वक्तव्य, पृष्ठ ५ ।

२. मिश्रबन्धु विनोद, प्रथम भाग, प्रथम सस्करण, सवत् १९७०, भूमिका, पृष्ठ ४-५ ।

शैली, कालक्रम, आधारभूत सामग्री तथा उनका विवरण, सहायक विद्वानो के नाम, काल-विभाग तथा विविध समय और उनकी दशा आदि विभिन्न प्रसगो का विवेचन कर एक प्रकार से 'विनोद' की परिचयात्मक समालोचना भी कर दी है। काल-विभाग के पूर्व सात अध्यायो मे लिखा गया 'हिन्दी भाषा का सक्षिप्त इतिहास' उसका सक्षिप्त प्रकरण-रूप ही है, तदुपरान्त पूर्वारम्भिक, उत्तरारम्भिक और पूर्व माध्यमिक कालो को मिलाकर 'आदि प्रकरण' बनाया गया है, जिसमे इन्ही तीनो कालो के नाम पर तीन अध्याय है। अवशिष्ट छ कालों मे प्रत्येक के नाम पर एक प्रकरण है, जिनमे यथावसर अध्यायो का सयोजन है। कवियो के विश्लेषण मे श्रेणी-विभाग भी किया गया है, जिसका आधार उन्होने कवियो का काव्योत्कर्ष माना है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि मिश्रबन्धु स्वयम् अपनी श्रेणी-विभाग की प्रक्रिया विषयक अपूर्णता से अभिज्ञ है, किन्तु उन्हे काव्यकारो के मूल्याकन का इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय दृष्टिगोचर ही नही हुआ है। अन्त मे अपनी भाषा-शैली के स्वरूप-गठन का भी सामान्य परिचय देकर अपनी अन्यान्य रचनाओ के विवरण के पश्चात् भूमिका समाप्त की गई है। मिश्रबन्धुओ का यह स्पष्टीकरण अत्यन्त विनम्र और उपयोगी है। इसके द्वारा हमे 'विनोद' का वास्तविक महत्त्व-निर्धारण करने मे सहायता मिलती है। इसमे कोई सन्देह नही कि उस युग को देखते हुए मिश्रबन्धुओ का यह प्रयास स्तुत्य है। रीतिकालीन शास्त्रीय परम्परा के साथ आधुनिक ढग की समालोचना का यथेष्ट सयोग कर उन्होने विचार-सामग्री के संकलन के साथ-साथ कवियो के तुलनात्मक अध्ययन की जो दृष्टि दी है, वह अपने समीक्षात्मक प्रतिमान मे निश्चय ही गण्यमान है। 'विनोद' का प्रणयन विद्वान् लेखको के कठोर परिश्रम और साहित्य-प्रेम का द्योतक है। कालान्तर मे 'मिश्रबन्धु-विनोद' के जो नवीन सस्करण प्रकाशित हुए, उनमे उन्होने युग-जीवन के साथ सम्वर्धित ज्ञान-राशि का भी सर्वत्र सदुपयोग किया है। फिर भी उनकी समीक्षा-प्रणाली से यह स्पष्ट हुए बिना नही रहता कि वे अपने 'विनोद' मे काव्य-परीक्षण की जो शास्त्रीय पद्धति अपनाकर चले हैं, उससे प्राचीन ब्रजभाषा काव्य का भैले ही यथोचित विश्लेषण किया जा सके, किन्तु नवीन आलोक मे विकसित काव्य-प्रवृत्तियो और साहित्य-धाराओ के परीक्षण मे वह अधिक समर्थ नही हैं।

समकालीन समालोचकों और साहित्य-प्रवृत्तियों पर विचार

५६. जिस प्रकार आचार्य द्विवेदी जी ने मिश्रबन्धुओ के 'हिन्दी नवरत्न' की व्यापक समालोचना की है, उस प्रकार तो मिश्रबन्धुओ ने उनके सम्बन्ध मे नही लिखा, किन्तु द्विवेदी जी द्वारा लिखी के समीक्षाविषयक दोषो की ओर सकेत करने मे वे भी पीछे नही रहे है। उन्होने द्विवेदी जी द्वारा की गई लाला सीताराम की 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' को समालोचना न कहकर 'अशिष्ट भाषा मे लिखा गया व्याकरण-सम्बन्धी दोष-प्रदर्शन मात्र' कहा है और इसी प्रकार उनकी दृष्टि मे "द्विवेदी-कृत कालिदास की निरकुशता बहुत करके व्याकरण सम्बन्धी और कही-कही शाब्दिक प्रयोगो पर विचार का निबन्ध-मात्र है।" "उनकी 'नैषध चरित चर्चा' मे समालोचना का कुछ रूप आया है, किन्तु वह भी सर्वांगपूर्ण नही है क्योकि वह भाषादि बाहरी बातो पर बहुत करके सीमित है और भाव तक नही पहुँचता।"[2] इसी प्रसग मे मिश्रबन्धुओ ने 'हिन्दी नवरत्न' तथा 'मिश्रबन्धु विनोद' मे बहुत से कवियो की पृथक्-पृथक् और विस्तृत रूप मे की गई समालोचनाओ को "केवल सम्मति न देकर कवियो की रचनाओ से उदाहरण सामने रख कर अपने कथनो को पुष्ट करने का प्रयत्न" कहा है।[3] उन्होने बाबू श्यामसुन्दर दास के 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नामक समालोचना ग्रन्थ को अधिकतर

१. मिश्रबन्धु विनोद, चतुर्थ भाग, प्रथमावृत्ति, स० १९७०, पृष्ठ २७।

२. मिश्रबन्धु-विनोद, चतुर्थ भाग, प्रथमावृत्ति, सं० १९९१, पृष्ठ १६४।

३. वही, पृष्ठ १६४।

स्थानों पर निष्पक्ष भाव से की गई शुद्ध समालोचना माना है। उन्होने प० पद्मसिंह शर्मा को बिहारी की भली-बुरी कैसी भी प्रशंसा करने का बीडा उठा कर चलने वाले समालोचक कह उनके महान् परिश्रम की प्रशसा अवश्य की है, किन्तु देव के प्रति उनका कठोर भाव देख कर वे उन्हे एक स्थान पर समालोचक भी नहीं मानते, क्योकि हठवाद उनके विचारो मे कुछ अधिकता से है। लाला भगवान दीन को उन्होने समालोचक न मान कर केवल टीकाकार माना है।[1]

५७. मिश्रबन्धुओ की दृष्टि मे समालोचना की शिल्प-विधि निबन्ध-रचना से भिन्न कोटि की होती है। उनके समय मे ऐसी समालोचनाएँ भी प्रकाशित होती थी, जिनमे "साहित्यकारो तथा साहित्य पर समालोचना लिखते हुए कुछ विषयो पर पचास-पचास साठ-साठ पृष्ठो के निबन्ध लिखे जाते थे और अन्त मे उदाहरण की भाँति आलोच्य कवियो अथवा साहित्यिक समयो के रचयिताओ से दो चार मोटी-मोटी बातें कह कर यह समझ लिया जाता था कि उन्होने विशिष्ट कवियो अथवा समयो के साहित्य की समालोचना कर डाली है।"[2] मिश्रबन्धुओ की दृष्टि मे वे समालोचनाएँ न हो कर निबन्धमात्र है। उनके मतानुसार तो "समालोचना मे मुख्य वर्णन कवि का होना चाहिए और उसी की रचना के साथ जहाँ कही अच्छे सिद्धान्त निकले, उनका सूक्ष्मतापूर्वक विवरण लिख देना उचित है।"[3] उन्होने अपने समय मे प्रचलित उन समालोचनाओ का भी विरोध किया है जिनमे "समालोचक कवियो पर गोलमाल शब्दों मे सम्मति देते चले जाते है किन्तु उनका किसी कारणमाला द्वारा समर्थन नहीं करते हैं।"[4]

५८. यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है कि मिश्रबन्धुओ ने अपने विनोद (चतुर्थ भाग) मे उत्तर नूतन काल (संवत् १९६१-७५) के अन्तर्गत छायावादी साहित्य और उसके रचयिताओ का भी उल्लेख किया है। यद्यपि उनके द्वारा छायावाद का रूप स्पष्ट नही किया जा सका है, किन्तु उन्होने सबसे प्राचीन छायावादी साहित्य स्वयम् वेद भगवान मे माना है।[5] वर्तमान छायावादी कवियो मे उन्होने प्रसाद, पत तथा मोहनलाल महतो को प्रमुख माना है और निराला जी की गणना रहस्यवादी कवियो मे की है। उन्होने विवेचन के प्रसग मे छायावादी रचनाओ मे दूरारूढ कल्पना, भाषा-दौर्बल्य, शुष्क चित्रण, एकान्त मुक्तक, कथानक-अभाव आदि बातों को लेकर छायावादी रचनाओ मे अनेक प्रकार के 'असमर्थ तथा अप्रसाद दूषण' भी निर्दिष्ट किये हैं, जो उस युग के अन्य समालोचको की मनोवृत्ति के बहुत निकट हैं। यह एक विचित्र बात है कि छायावाद का स्वरूप-विश्लेषण किये बिना ही मिश्रबन्धुओ ने छायावादी कवियो पर अपने निर्णय दे दिये हैं जो प्रमाण-सम्मत नही कहे जा सकते। वस्तुतः मिश्रबन्धुओ के सामने छायावाद का रूप स्पष्ट ही न था और वे केवल प्रबन्ध-काव्य की वर्णनात्मकता और रूढ़िबद्ध प्रणाली मे ही काव्य की परिधि सीमित समझते थे, अत उन्होने उसी के प्रतिमान से सर्वश्री जयशकर प्रसाद तथा सुमित्रानन्दन पंत की काव्य-रचना के सम्बन्ध मे अपना निर्णय देते हुए लिखा है—

"जयशंकर प्रसाद का छायावाद उत्कृष्टता के सोपान तक नही पहुँच पाता। उनके जो मुख्य ग्रन्थ हैं, उनमे ऐतिहासिकता की प्रधानता है और छायावाद नही के बराबर है। यदि प्रसाद जी केवल छायावादी होते तो हम उन्हे बहुत ही साधारण कवि मानते।··· ·· सुमित्रानन्दन पत के पल्लव मे है तो मुक्तको का ही रूप, किन्तु एक-एक विषय पर वर्णन कुछ बड़े-बड़े भी हैं। इनमे केवल

१. मिश्रबधु विनोद, चतुर्थ भाग, प्रथमावृत्ति, स० १९९१, पृष्ठ १९५।

२. वही, पृष्ठ १९५।

३. वही, पृष्ठ १९५।

४. वही, पृष्ठ १९५।

५. वही, पृष्ठ ३३१।

छायावाद नही है, वरन् इतर साहित्य के साथ कुछ-कुछ वह भी मिल गया है।"[1]

कहने की आवश्यकता नही कि मिश्रबन्धुओ का यह निर्णय उनके छायावाद विषयक सीमित दृष्टिकोण का ही परिचायक है। उनके छायावाद विषयक विवेचन से ध्वनित होता है कि वे उसके स्वरूप की यदि थोडी बहुत प्रशसा भी कर सके है तो उसका प्रमुख आधार प्रसाद और निराला द्वारा प्रस्तुत वह साहित्य है जिसमे उन्हे इतिवृत्तात्मकता की झलक मिली है। उन्होंने उनके साहित्य द्वारा भविष्य मे इस वाद को शालीन स्वरूप प्रदान करने की आशा भी रखी है।[2]

'हिन्दी नवरत्न' और उसका समीक्षागत स्तर

५९. मिश्रबन्धुओ द्वारा लिखित 'हिन्दी नवरत्न' का प्रथम संस्करण सन् १९१० मे गगा ग्रथागार, लखनऊ से प्रकाशित हुआ था, जिसकी भूमिका मे लेखक-बन्धुओ ने अपना उद्देश्य इस प्रकार प्रकट किया है "बहुत दिनो से हमारा यह विचार था कि हिन्दी साहित्य का एक अच्छा इतिहास रचा जाय और उसमे प्रसिद्ध तथा अच्छे कवियो की रचनाओ पर कुछ विस्तार के साथ समालोचना लिखी जाय।[3]" मिश्रबन्धुओ ने अपने इस उद्देश्य की पूर्ति का प्रयास 'मिश्रबन्धु विनोद' के साथ-साथ 'हिन्दी नवरत्न' की रचना करते हुए भी किया है, जो उस युग के साहित्य-प्रतिमान मे तो यथेष्ट प्रशसनीय है, किन्तु उसमे भी अनेक प्रकार की त्रुटियाँ आने से नही बच सकी है। बात यह है कि उस समय हिन्दी साहित्य मे समालोचना का विकास अर्द्ध मुकुलित अवस्था मे था और उसके साहित्य-सवर्धन-गत महत्त्व की ओर लेखक समुदाय का ध्यान आकर्षित होने ही लगा था। यद्यपि अग्रेजी शिक्षा के प्रसार और पाश्चात्य साहित्य की नवीन विधाओ के परिचय से हमारा हिन्दी-प्रदेश भी प्रभावित होने लगा था और यहाँ के गण्यमान लेखक भी इस दिशा मे प्रयत्नशील बनने के आँकाक्षी थे, किन्तु उनके दृष्टिकोण मे अधिक परिपक्वता नही आ सकी थी। साहित्य-वृद्धि मे समालोचना का सापेक्षिक महत्त्व स्वीकार करते हुए भी उस समय के प्राय सभी समालोचक अपनी अपूर्णताओ का अनुभव करते थे, किन्तु उनके द्वारा मार्ग-दर्शन का व्यापक प्रतिमान और रचनात्मक सुझाव नही मिलता था। मिश्र-बन्धुओ ने भी अपने 'नवरत्न' की भूमिका मे समालोचना के साहित्यगत महत्त्व का विश्लेषण कर इस ओर संकेत किया है कि साहित्यालोचन की प्रक्रिया को किस प्रकार अधिक प्रौढ और ग्राह्य बनाया जा सकता है।

६०. मिश्रबन्धुओ की समालोचना का समारम्भ काल आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के समवर्ती (सन् १९०१ ई० के आस-पास) ही समझना चाहिए। समालोचना की आवश्यकता और साहित्य मे उसकी न्यूनता को देखकर ही वे इस ओर उन्मुख हुए थे। पाश्चात्य भाषा-साहित्य के अध्ययन से वे इसी निर्णय पर पहुँचे कि उसकी समता मे हमारा हिन्दी-साहित्य अधिक हीन है, अत. उन्हे उसकी समृद्धि का एक उपाय समालोचना-वृद्धि भी लगा। उनकी तो उसी समय यह दृढ मान्यता बन गई कि केवल समालोचना के अभाववश ही हमारे अनेक साहित्यकारो का वास्तविक मूल्याकन नही हो पा रहा है और उन के अमूल्य ग्रथ काल-कवलित हो रहे हैं जिसे साहित्य-विकास का शुभ लक्षण नही कहा जा सकता। मिश्रबन्धुओ ने स्वयम् इस क्षेत्र मे कार्य किया और अन्यान्य विद्वानो को भी कार्य करने की प्रेरणा दी। वे प्रयोगात्मक

---

१ 'मिश्रबन्धु विनोद', चतुर्थ भाग, प्रथमावृत्ति, स० १९९१, पृष्ठ ३३२।

२ वही, पृष्ठ ३३३।

३. हिन्दी नवरत्न की भूमिका, पृष्ठ २।

समालोचना की एक नवीन परम्परा हिन्दी-समीक्षा-जगत् मे लाना चाहते थे और उन्होने इस ओर प्रयास भी करना प्रारम्भ कर दिया। सन् १९०० ई० मे उनकी 'हम्मीर हठ की समालोचना' 'सरस्वती' पत्रिका मे छपी और उसी वर्ष के लगभग उन्होने पडित श्रीधर पाठक की कविताओ पर भी अपने समालोचनात्मक निर्णय दिये जिनको लेकर हिन्दी-संसार मे बहुत दिनो तक वाद-विवाद चलते रहे। उसके पश्चात् तो उनका समालोचना-लेखन का क्रम बराबर चलता रहा जिसकी चरम परिणति उनके उपर्युक्त ग्रथो मे प्रदर्शित हुई है। कहना होगा, सन् १९१० के आसपास मिश्रबन्धुओ के समालोचन-कार्य मे उनके मानसिक सस्थान का निश्चित स्वरूप प्रकट होने लगा था, जो समयानुक्रम से क्रमश विकसित होता गया।

६१. मिश्रबन्धुओ की समालोचनाओ मे अनेक प्रकार की अपूर्णताएँ भी परिलक्षित है। अद्यतन युगीन समीक्षा-शास्त्र के विकसित और बहुव्यापी प्रतिमान का उसमे अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि मिश्रबन्धु समालोचना के केवल बाह्य धरातल का ही स्पर्श कर सके है और उनमे काव्य के अन्तरंग और सौष्ठवपूर्ण विधान मे प्रविष्ट होने की कम क्षमता है। उनकी समालोचनाओं पर रीतिकालीन परम्पराओ की छाप है, जिसे उन्होने आधुनिकता से सयुक्त बनाने का प्रयास अवश्य किया है, किन्तु उनकी शास्त्रीयता उस से पीछा छुडाती हुई नही प्रतीत होती। हाँ, यह बात अवश्य है कि उस युग मे उनकी समालोचनाओ ने यथेष्ट सम्मान पा लिया था। द्विवेदी-युग की प्रधान पत्रिका 'सरस्वती' और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कार्यों का सचालन और पथ-प्रदर्शन करने मे उनका प्रारम्भ ही से सक्रिय सहयोग रहा और उक्त सस्थाओ ने उनके सत्परामर्श से अनेक लाभ भी प्राप्त किये। भूषण, मतिराम, देव और तुलसी जैसे काव्यकारो का समयोचित महत्त्व-निर्धारण और मूल्याकन करने वाले समालोचको मे मिश्रबन्धुओ का बडा हाथ है। यह सब कुछ होने पर भी उन्होने उक्त कवियो के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा है अथवा उनके पारस्परिक साम्य द्वारा जो काव्य-गुण-परीक्षण किया है, वह किसी प्रौढ और प्रामाणिक धरातल पर आसीन नही है। उनकी समालोचना के प्रतिमान का सामान्य परिचय उनका निम्न-लिखित उद्धरण दे सकेगाः

"पहले हम मतिराम को भूषण से बहुत अच्छा कवि समझते थे, पर पीछे से इस विचार मे शका होने लगी। उस समय हमने भूषण और मतिराम के एक-एक छंद का मुकाबला किया। तब जान पडा कि मतिराम के प्राय १० या १२ कवित्त तो ऐसे रुचिर हैं कि उनका सामना भूषण का कोई कवित्त नही कर सकता और उनके सामने देव के सिवा और किसी के भी कवित्त नही ठहर सकते, पर मतिराम के शेष पद्य भूषण के अनेक पद्यो के सामने नही ठहर सकते। इस प्रकार मतिराम और भूषण की तुलना करके हमने भूषण को श्रेष्ठ पाया। इसी प्रकार भूषण को केशव से मिलाया, तो भी भूषण ही की कविता मे विशेष चमत्कार देख पडा।"[1]

६२ स्पष्ट है कि उपर्युक्त उद्धरण मिश्रबन्धुओ की समालोचना-पद्धति का आभास देने मे सर्वथा समर्थ है। इसमे उन्होने बिना किसी प्रौढ और तर्कपूर्ण आधार पर दो कवियो की तुलना का जो मानदड निर्धारित किया है वह अपूर्ण तथा एकागी है। उसमे हमे साहित्य-समीक्षण का वह पक्ष नही मिलता जो साहित्यकारो की आत्मा मे प्रविष्ट होकर उसमे अतर्निहित अनन्त विभूतियो का परिचय प्रदान करता है। इसी प्रकार कुछ पद्यो को मिला कर कवियो को एक दूसरे से हीन सिद्ध करने का पक्ष भी केवल समीक्षण की बाह्य चेष्टा का ही प्रतीक है।

१, मिश्रबन्धु, "हिन्दी नवरत्न", प्रथम सस्करण की भूमिका, पृष्ठ ३२.

२. ' विनोद प्रथम सस्करण, १९७०, पृष्ठ ३६-४२.

शास्त्रीय तथा निर्णयात्मक प्रणाली का संयोजन

६३. मिश्रबन्धुओ की समालोचना मे शास्त्रीयता की झलक भी पर्याप्त मात्रा मे मिलती है। उन्होने प्राचीन कवियो के काव्यांशो के उद्धरण देकर सस्कृत काव्य-शास्त्र की निर्धारित समीक्षा प्रणाली मे उनमे प्रयुक्त अलकार, रस, दोष, ध्वनि, छन्द और शब्द-शक्ति आदि का भी परीक्षण किया है। इस प्रकार का विश्लेषण परम्परागत ही कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए देव-कृत एक छंद का "सखी के सकोच गुरु... ..बिलानो जात" का विवेचन करते हुए वे लिखते हैं :

"यह रूप घनाक्षरी छद है जिसमे ३२ वर्ण होते हैं और प्रथम यति सोलहवे वर्ण पर होती है। ···इसमे मृगलोचनि मे धर्मोपमान लुप्तोपमा है। 'गोरो गोरो मुख आजु ओरो सो बिलानो जात' मे गौणी सारोपा प्रयोजनवती लक्षणा एवं पूर्णोपमालंकार है। रति-भाव इसके शृगार रस का मूल है। यहाँ मुग्धा कलहातरिता नायिका है। यहाँ अर्थान्तर सक्रमित वाच्य ध्वनि निकलती है। छंद मे कैशिकी वृत्ति और नागर नायिका है। इसमे दोष बहुत कम और सद्गुण अनेक हैं। सब मिलाकर छद बहुत अच्छा है।"[1]

इसी प्रकार उन्होने तुलसी, बिहारी, लेखराज आदि कवियो के प्रमुख छंदो का भी शास्त्रीय विवेचन किया है।[2]

६४ मिश्रबन्धुओ की समालोचना मे शास्त्रीयता के साथ-साथ निर्णयात्मक प्रवृत्ति भी प्राय सर्वत्र मिलती है। माना कि निर्णय अथवा स्वमत-प्रकाशन समालोचक का एक जन्मसिद्ध अधिकार है, किन्तु उसके मूल मे उसकी मान्यताओ और आस्थाओ का तात्विक आधार और तार्किक विश्लेषण भी रहना आवश्यक है, जिससे समालोच्य विषय के विशेष सबल प्राप्त हो सके। मिश्रबन्धुओ मे निर्णय देने की जितनी अधिक प्रवृत्ति है, उतनी उसके अनुरूप मानदड-सस्थापन की नही। निर्णय देते समय भी वे तटस्थ नही रह सके हैं और अपनी मनोरुचि को ही साहित्य का व्यापक प्रतिमान समझ बैठे हैं। यह बात अवश्य है कि वय क्रम से उनकी समालोचक-बुद्धि मे इस प्रकार की प्रवृत्ति कम होती गई और विकास के भी अनेक उपकरण जुटने लगे। इस विकास का ही तो यह परिणाम है कि उन्होने सन् १६०७ के आसपास कवियो की अलग-अलग रूप मे केवल फुटकर समालोचनाएं लिखी थी, किन्तु अध्ययन-प्रसार ने उन्हे एक ऐसी विकसित दृष्टि भी दी, जिससे वे कवियो की मानसिक भूमिका मे अत्यन्त निकटवर्ती सम्बन्ध सा पाने लगे और जिसका प्रतिफल था उनके 'हिन्दी नवरत्न' का निर्माण। मिश्रबन्धु पहले तो उसे सस्कृत के 'कविपचक' की भाँति 'भाषा कवि-पचक' के रूप मे लिखना चाहते थे और उसमे सूर, तुलसी, देव, बिहारी और केशव को ही स्थान देना सर्वतोभावेन उचित समझते थे, किन्तु कालान्तर मे उनमे विचार परिवर्तन होता गया। भूषण के काव्य-चमत्कार ने उन्हे इतना अधिक मुग्ध बनाया कि वे उसे सूर, तुलसी के समकक्ष मान कर 'भाषा कवि-षट्क' लिखने की सोचने लगे तो सेनापति के काव्य-सौन्दर्य से उन्हे 'भाषा कवि सप्तक' लिखने की सूझी। कालातर मे उन्हे चन्द बरदाई और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की रचनाएँ भी अत्यन्त उत्कृष्ट और मनोहर प्रतीत हुईं, जिनका सम्मिलन कर वे 'हिन्दी नवरत्न' लिखने के लिए उद्यत हुए। कहने के लिए तो उन्होने अपनी बौद्धिक प्रवृत्ति के अनुरूप नव कवियों का चयन कर नवरत्न की रचना कर दी, किन्तु उनका निजी दृष्टिकोण किसी प्रौढ धरातल पर अधिष्ठित नही हो सका। वे स्वय कई स्थलो पर अपने निर्णयो मे सदिग्ध से प्रतीत होते है, जिसका मुख्य कारण कदाचित् यह हो कि मिश्रबन्धु के नाम से एक साथ

१. 'मिश्रबन्धु विनोद', प्रथम सस्करण, स०१६७०, पृष्ठ ३६-४२।
२. वही पृष्ठ, ४२-४८।

रचना प्रकाशित करने पर भी उनकी अलग-अलग वैयक्तिक मान्यताओ तथा अभिव्यंजन-शैलियो में अवश्यमेव अतर रहा हो। उनका कवि-समीक्षरण का प्रतिमान कितना शिथिल और अव्यवस्थित है तथा वे श्रेणी-विभाजन की जिस अवैज्ञानिक प्रणाली को लेकर चले है, वह कितनी अपूर्ण है इसका सामान्य आभास उनके निम्नलिखित कथन से हो सकेगा —

"पीछे से जायसी की कविता बहुत बढिया समझ पडी, और सेनापति के स्थान पर उनका नाम रखने का विचार हुआ, किन्तु अन्त को जायसी की कविता कई बार ध्यान से पढने पर उसका चमत्कार कुछ फीका जँचा और जायसी का स्थान तोष कवि की श्रेणी मे समझ पडा। यह श्रेणी पद्माकर की श्रेणी के नीचे हैं। सबसे पहले मतिराम की श्रेणी थी, फिर दास की और तब पद्माकर की। तोष की श्रेणी के नीचे साधारण श्रेणी है। और उसके पीछे हीनश्रेणी धीरे-धीरे यह समझ पडा कि सेनापति की कविता परम अनूठी एव विशद् होने पर भी मतिराम की रचना की समता नही कर सकती। इस विचार से मतिराम की श्रेणी को सेनापति की श्रेणी बना दिया, और मतिराम को सेनापति के बदले नवरत्न मे स्थान दे दिया। इस प्रकार नवरत्न मे नव कवियो की स्थिति हुई। हाल ही मे महात्मा कबीर दास भी नवरत्न मे गण्य समझ पडे हैं।[1]

६५. उपर्युक्त उद्धरण मिश्रबन्धुओ के समालोचनागत मानदड का एक आदर्श कहा जा सकता है। माना कि समालोचना के क्षेत्र मे यह भी एक अभिनव प्रयोग था, किन्तु उसमे किसी निश्चित धरातल की ठोस पीठिका न होने के कारण अनेक प्रकार के दोष आने से भी नही बच सके। इसमे मिश्रबन्धुओ ने अपने राजकीय प्रशासन की भाँति साहित्य-समालोचना के क्षेत्र मे भी आदेशपूर्ण निर्णय दिये है, किन्तु वे किन-किन सविधानो से निर्मित है, इसका कोई निश्चित पता नही चलता। पडित रामचन्द्र शुक्ल ने उनकी इस पद्धति की अपूर्णताओ पर अपने इतिहास-ग्रन्थ मे व्यग्य करते हुए लिखा है :

"हिन्दी के पुराने कवियो को समालोचना के लिए सामने लाकर मिश्रबन्धुओ ने बेशक बडा जरूरी काम किया। उनकी बाते समालोचना कही जा सकती है या नही, यह दूसरी बात है।"[2]

शुक्ल जी के इस कथन मे सत्य का पर्याप्त अश है, क्योकि यह श्रेणी-विभाजन अथवा कवि-मूल्याकन-प्रतिमान स्वत ही अतार्किक है। प० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी हिन्दी नवरत्न के इस प्रतिमान की कटु समालोचना 'सरस्वती' पत्रिका मे व्यापक रूप मे की थी, जिसका विवेचन द्विवेदी जी के काव्य-समीक्षण-प्रतिमान के अन्तर्गत किया जा चुका है। यहाँ पर लिखने का मूल आशय केवल यही है कि मिश्रबन्धुओ ने जिस शिल्पविधि मे समालोचना-साहित्य लिखा है, वह किसी ऐसी परम्परा का सूत्रपात करने वाली नही है, जिसके कारण द्विवेदी जी की भाँति उन्हे भी किसी विशिष्ट श्रेणी के युग-सस्थापक का स्वरूप दिया जा सके।

तुलनात्मक प्रणाली और 'हिन्दी नवरत्न' का मूल्यांकन

६६ मिश्रबन्धुओ की समालोचना मे तुलनात्मक पद्धति का भी समावेश है, किन्तु वह भी अपरिपक्व अवस्था मे ही है। उन्होने कविताओ की तुलना करने की प्रवृत्ति के अनुसार नवरत्न मे बृहत्त्रयी, मध्यत्रयी और लघुत्रयी नाम से जो तीन विभाग निश्चित किए है, उनमे भी कोई सतुलित दृष्टिकोण नही आ सका है। कहने के लिए उन्होने बृहत्त्रयी मे तुलसी, सूर और देव;

---

१ मिश्रबन्धु, 'हिन्दी नवरत्न की भूमिका', प्र० सस्करण, पृष्ठ ३३।

२. प० रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, न० सस्करण, पृष्ठ ५२६।

मध्यत्रयी मे बिहारी, भूषण और केशव, तथा लघुत्रयी मे मतिराम, चद और हरिश्चन्द्र को स्थान दिया है, किन्तु इसमे भी पूर्वापर क्रम अथवा निश्चित प्रतिमान का न्यूनाश ही है। और तो और, वे कवियो की इस त्रयी-निर्धारण मे भी बराबर उलझे हुए से है और बडी कठिनाई के पश्चात् ही वे किसी एक निर्णय पर पहुँच सके है। उन्होने जिस अक-प्रणाली के आधार पर कवियो को एक दूसरे से छोटा-बडा सिद्ध किया है उसमे भी तारतम्य नही है। इसी प्रकार 'तुलसी और सूर के महात्मा होने के कारण उनके नाम देव से प्रथम लिखे है', वाक्याश इस ध्वनि-गर्भित अर्थ का सकेत करता है कि मिश्रबन्धुओ को देव तुलसी और सूर से भी बढे चढे लगते हैं, पर केवल सूर और तुलसी का महात्मा-रूप ही उन्हे उनसे निम्न स्थान दिला रहा है। कहने की आवश्यकता नही कि मिश्रबन्धुओ का यह निर्णय भी भ्रमपूर्ण है, क्योकि सूर और तुलसी के काव्य मे जीवन की संवेदना का जो व्यापक और सरस अभिव्यजन हुआ है, उसे देव की प्रतिभा स्पर्श भी नही कर सकती।

६७. वास्तव मे मिश्रबन्धुओ ने अपने 'हिन्दी नवरत्न' के कवियो की समालोचनाएँ अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखने के लिए ही लिखी थी, किन्तु समालोचनाओ का विवर्धित आकार इतिहास ग्रन्थ के निर्धारित पृष्ठो का सम्पूर्ण स्थान घेर लेता, अत उन्होने नवरत्न का प्रकाशन अलग रूप से करना ही समीचीन समझा। यही कारण है कि उन्होने नवरत्न मे इतिहास के मतनुसार कवियो का वर्णन काल-क्रम से न कर एक भिन्न प्रणाली से किया है। अत. उन्ही के अनुसार उनका 'नवरत्न' इतिहास का प्रथम, द्वितीय या अतिम कोई भी भाग नही हो सकता। इसे इतिहास से पृथक् परन्तु उससे मिलता-जुलता हुआ ग्रन्थ समझना चाहिए।'[1] चूकि 'हिन्दी नवरत्न का इतिहास से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है, अत. उन्हे उसकी भूमिका के दिग्दर्शन के रूप मे ही इतिहास का थोडा सा साराश लिख देना समीचीन प्रतीत हुआ है। ऐसा करने के पूर्व उन्होने सर्वप्रथम 'हिन्दी भाषा के महत्त्व' का विवरण दिया है और यही सिद्ध करने की चेष्टा की है कि हिन्दी की जननी चाहे सस्कृत मानी जाय अथवा प्राकृत, किन्तु बहुमत इसी बात का है कि प्राकृत ही बदलते बदलते अपभ्र श होती हुई हिन्दी हो गई है। मिश्रबन्धुओ के अनुसार स्थूल रूप से हिन्दी का उत्पत्ति काल सातवी शताब्दी मे कहा जा सकता है।[2]

६८. मिश्रबन्धुओ की समालोचनाओ मे भले ही अनेक प्रकार की अपूर्णताएँ हो किन्तु उन्होने प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य की जो शोधपरक सामग्री एकत्र की है, वह उनके अथक परिश्रम और निरन्तर अध्यवसाय का ही निदर्शन है। 'शिवसिह-सरोज' के पश्चात् केवल उन्हीं के 'मिश्रबन्धु विनोद' तथा 'हिन्दी नवरत्न' नामक ग्रन्थ इस प्रकार की व्यापक सामग्री प्रदान कर सके हैं। उन्होने अनेक अज्ञात काव्यकारो के साथ-साथ उनकी अनेक लुप्तप्राय कृतियो का जो अनुसन्धान किया है, वह हमारे साहित्य-कोष की अभिवृद्धि का प्रमुख साधन बना है। उनकी मान्यताओ और विचार-सरणियो मे आज भले ही अनेक प्रकार के दोष मिले, किन्तु आज से प्रायः पचास वर्ष पूर्व हिन्दी साहित्य और समालोचना जिस स्थल पर अवस्थित थे, उसे विकसित और सम्वर्धित बनाने मे मिश्रबन्धु जिस लगन और साधना से प्रवृत्त हुए, वह वस्तुत: श्लाध्य है। आज के स्वतन्त्र भारत मे हिन्दी भाषा और साहित्य को जो राष्ट्रव्यापी गौरव मिला है, उसको देखते हुए हमारे अनेक गण्यमान विद्वान् उसकी साहित्य-सेवा का व्रत अर्थकरी नीति से भले ही परिवहन करे, किन्तु उस युग मे जब कि हिन्दी वाङ्मय को इस प्रकार का कोई सम्मान अथवा राज्याश्रय प्राप्त नही था, मिश्रबन्धुओ ने जो कार्य किया, वह उनकी अपूर्णताओ को आच्छादित करने के लिए

---

१. मिश्रबन्धु, 'हिन्दी नवरत्न की भूमिका', प्रथम सस्करण, ४८।

२. वही, पष्ठ ५०।

पर्याप्त समझा जाना चाहिए। आज की विकसित परम्परा मे मिश्रबन्धुओ के साहित्य का मूल्याकन करते समय इस तथ्य की अवहेलना करना उनके वास्तविक स्वरूप-परिज्ञान का एकागी दृष्टिकोण ही कहा जायगा।

६९. मिश्रबन्धुओ ने 'हिन्दी नवरत्न' की जो भूमिका लिखी है, उसमे हिन्दी साहित्य के इतिहास का सामान्यतया सिंहावलोकन हो जाता है। उसमे ऐसे अनेक काव्यकारो का भी परिचय है जो कालातर मे हमारे साहित्य-मन्दिर के आराधक सिद्ध हुए है। उन्होने नवरत्न के कवियो का अदाजी समय देकर भावी अनुसन्धाताओ के लिए इस क्षेत्र मे आगे बढने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। प्राप्त सामग्री के आधार पर उन्होने यथासम्भव प्रत्येक रत्न का व्यापक जीवन-परिचय भी दिया है जो जीवन-चरितमूलक समालोचना-पद्धति का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। यह बात अवश्य है कि वे जीवन की साहित्यगत प्रतिक्रिया का विश्लेषण उस विधि से नही कर सके है, जिस विधि से आज की विकासोन्मुख समालोचना करना चाहती है। यद्यपि कई स्थलो पर उनका कवि-परिचय पक्षपातपूर्ण भी बन गया है, और ऐसा लगता है कि वे कवियो को वशपरम्परा तक को अपने अनुकूल सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु इस प्रकार के सामान्य स्खलन के कारण ही उनके कार्यों के उज्ज्वल पक्ष को हीन नही बतलाया जा सकता। अपने विवेचन के अन्तर्गत उन्होने अपने प्रतिवादी समालोचको की युक्तियो का खण्डन करने की चेष्टा भी की है और यथासम्भव कवि-परिचय मे अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य दोनो का उपयोग किया है। कवियों के काव्य-सौष्ठव का निर्देश करने के लिए उन्होने उनके कतिपय काव्याश भी उद्धृत किये है, जिनके चयन से प्रत्येक साहित्य-जिज्ञासु का सहमत होना आवश्यक नही है। विवेचन के अन्तर्गत सैद्धान्तिक निरूपण भी हुआ है और विवरणात्मक विश्लेषण की प्रवृत्ति तो उनमे सर्वत्र परिलक्षित है ही। निष्कर्ष यह है कि मिश्रबन्धुओ का हिन्दी नवरत्न आधुनिक 'हिन्दी समालोचना' के विकास को समझने का एक श्लाघ्य साधन है, जिसमे विद्वान् लेखको ने समालोचना की ऐतिहासिक, जीवनीमूलक, प्रभावाभिव्यजक, शास्त्रीय, सैद्धान्तिक और वैयक्तिक प्रवृत्तियो का प्रयोग युगवर्ती प्रतिमान के अनुरूप करने की यथाशक्ति चेष्टा की है। वस्तुत ये दो ग्रन्थ ही मिश्रबन्धुओ के समालोचक-व्यक्तित्व के निर्माण के प्रमुख साधन है और उनकी शेष कृतियो मे भी इन्ही की छाया प्रतिबिम्बित है जिनसे मिश्रबन्धुओ के समालोचक-स्वरूप को समझने मे यथेष्ट सहायता मिलती है।

(३)

डॉक्टर श्यामसुन्दर दास

समालोचना में अंतर्प्रवेश

७० सन् १९२१ मे महामना प० मदन मोहन जी मालवीय ने बाबू साहब को काशी विश्वविद्यालय मे हिन्दी साहित्य के अध्ययन, उत्थान और विकास को समुचित स्वरूप प्रदान करने की भावना से नियुक्त किया और मुख्यत वही नियुक्ति उनकी प्रौढ साहित्य-समालोचनाओ और गम्भीर गवेषणाओ के विकास का कारण बनी। उसी वर्ष जब एम० ए० के पाठ्य-क्रम मे हिन्दी को स्थान दिया गया तो प्रारम्भ मे इस बात की बडी कठिनाई रही कि किन-किन-ग्रन्थो को किन किन विषयो के अन्तर्गत निर्धारित किया जाय। अन्यान्य प्रश्नपत्रो के साथ-साथ उस समय एम०ए० के पाठ्यक्रम मे भारतवर्ष का भाषा विज्ञान, हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास तथा साहित्यिक आलोचना नामक तीन ऐसे विषय भी रखे गये, जिनमे उन के उपयुक्त पुस्तको का हिन्दी मे अभाव था। यद्यपि इन तीनो विषयो से सम्बन्धित सस्कृत और अग्रेजी आदि भाषाओ मे लिखे गये आधार ग्रन्थो के नाम निर्दिष्ट कर दिये गये थे, किन्तु ऐसा एक भी ग्रन्थ न था, जिसकी सहायता से इनका अध्ययन-अध्यापन सुचारु रूप से किया जाता। ऐसी स्थिति मे बाबू साहब के ऊपर एक महान् दायित्व

आ गया। अपनी अभिरुचि के अनुकूल सर्वप्रथम उन्होने साहित्यिक आलोचना का विषय चुना और वे एतद्विषयक अध्ययन मे प्रवृत्त हुए। गम्भीर चिन्तन और मनन के उपरान्त अन्ततोगत्वा वे इस निर्णय पर पहुँचे कि इस विषय का सुचारु रूप से तभी अध्ययन किया जा सकता है, जब सर्वप्रथम विद्यार्थियो को समालोचना के प्रमुख तत्वो का प्रारम्भिक ज्ञान करा दिया जाय। उन्होने निरन्तर रूप से प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित सामग्री के संकलन और सचयन का कार्य आरम्भ किया और वे उसकी मन-ही-मन रूपरेखा बना कर उसे परिच्छेदो मे लिखने लगे। उस समय उनके अध्ययन और अध्यापन दोनो के क्रम एक साथ चल रहे थे जिससे उन्हे एक लाभ यह हुआ कि वे विद्यार्थियो को विषय-ग्रहण करने मे होने वाली कठिनाई का अनुभव करते हुए यह जान सके के कि पाठ्य-विषय मे किन-किन स्थलो पर संकोच अथवा विस्तार की आवश्यकता है। अपने इस क्रियात्मक अनुभव के आधार पर उन्होने लिखित अशो का सशोधन और परिवर्धन करना भी आरम्भ किया जो कालान्तर मे उनकी साहित्यिक आलोचनाओ के भिन्न-भिन्न परिच्छेदो मे सकलित हो कर साहित्यालोचन नामक पुस्तक के रूप मे प्रकाशित हुआ। उसका प्रथम संस्करण सन् १६२२ मे इडियन प्रेस, प्रयाग से छपा था।

साहित्यालोचन की आधारशिला और मौलिकता

७१ 'साहित्यालोचन' की रचना मे बाबू साहब ने अनेकानेक भारतीय और पाश्चात्य ग्रन्थो का आधार लिया है, जिनकी सूची पुस्तक के अन्त मे दी हुई है। सचमुच इन्हे इसकी रचना करने मे अथक परिश्रम करना पडा था। इस विषय मे उस समय हिन्दी साहित्य मे उनके सामने ऐसा कोई पुष्ट और प्रामाणिक प्रतिमान भी नही था, जिसे अपनाकर वे आगे बढते। अतः एक प्रकार से उन्हे ही साहित्यालोचन की सुदृढ भिति प्रस्तुत करनी पडी। उन्होने अपने इस ग्रन्थ का उद्देश्य बतलाते हुए स्पष्ट शब्दो मे यह स्वीकार किया है कि इसकी सामग्री उन्हे दूसरे ग्रन्थो से मिली है और वे भारतीय तथा यूरोपीय आलोचना-तत्वो को अपने दृष्टिकोण से परख कर ही व्यक्त कर सके हैं। विषय-प्रतिपादन तथा अभिव्यजन की दृष्टि से बाबू साहब ने इसमे मौलिकता रखी है, किन्तु है यह अन्य ग्रन्थो का निचोड ही। अभिप्राय यह है कि ग्रन्थ की भाषा और विषय के प्रतिपादन का ढग उनका अपना है, किन्तु विचारो के संग्रह मे अनेक भारतीय और यूरोपीय ग्रन्थो की सहायता लेकर दोनो के सिद्धान्तो मे समन्वय लाने का उद्योग अवश्य किया गया है।[2]

७२. बाबू साहब ने साहित्यालोचन की भूमिका मे मौलिकता के सम्बन्ध मे जिन विचारो की अभिव्यक्ति की है, वह विचारणीय है। ऐसा लगता है कि उस समय साहित्य-जगत् मे मौलिकता के नाम पर अनेक प्रकार की भ्रान्तियो का प्रचार था और लेखक स्वैरवादी भावना से इस शब्द का प्रयोग करते थे। बाबू साहब ने स्पष्ट शब्दो मे इस विषय का उल्लेख किया है कि जो लोग विचारो की मौलिकता और उनके अभिव्यजन की मौलिकता को अभिन्न समझते हैं, वे भ्रान्ति मे हैं। उनके मतानुसार 'साहित्य मे मौलिकता से अभिप्राय विचार और शैली दोनो की व्यक्तिगत विशेषता से है।"[3] उनकी दृष्टि मे लेखक की मौलिकता की सच्ची कसौटी यही है कि "हम उसकी रचनाओ द्वारा परखे कि उन से ससार के ज्ञान-भंडार की वृद्धि हुई है या नही? यदि लेखक अपने विचार, अभिव्यक्ति अथवा शैली द्वारा यह कार्य कर सका है तो उसे मौलिक कहने मे किसी प्रकार का आगा-पीछा नही करना चाहिए। जहाँ विचार और अभिव्यक्ति दोनो में

१. डा० श्याम सुन्दर दास. साहित्यालोचन, पहले सस्करण की भूमिका, स० १६७६, पृष्ठ १२।
२. वही, पृष्ठ २।
३. वही, पृष्ठ ३।

मौलिकता हो वहाँ तो फिर कहना ही क्या है !"[१]

७३. 'साहित्यालोचन' की मौलिकता का निर्णय करने के विषय मे विद्वानो मे मतभेद है। अनेक स्थलो पर तो यह अनेक भारतीय और पाश्चात्य ग्रन्थो की प्रतिच्छाया के रूप मे ही लगता है, किन्तु लेखक ने इसके लिए बडी सच्चाई से पहले ही अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए यह लिख दिया है कि 'यदि यह ग्रन्थ पथ-प्रदर्शक का काम देकर अन्य विद्वानो से इस विषय के उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखने के लिए उत्साहित कर सका तो वह इसी मे अपना सन्तोष मान लेगा।'[२] लेखक का उक्त कथन यथार्थ है, क्योकि साहित्यालोचन हिन्दी मे साहित्यिक आलोचना का प्रारम्भिक ग्रन्थ है और इसे गहन विषय की प्रस्तावना मात्र कहा जाना ही सर्वाशित उचित है। इसमे जिन-जिन विषयो का अलग-अलग अध्यायो मे विवेचन हुआ है, वे ऐसे विषय है जिन पर स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थो का निर्माण किया जा सकता है। बाबू साहब के उत्तरवर्ती काल मे आलोचको ने इस ओर प्रयत्न किये है और अब भी कर रहे है, किन्तु यह बात आज भी विचारणीय है कि इन प्रयत्नो ने इस परम्परा को कहाँ तक ठोस, मौलिक और भारतीय साहित्य-शास्त्र की प्रणाली के आधार पर आगे बढाया है।

संशोधित सस्करण और उसकी विशेषताएं

७४ बाबू साहब ने उक्त ग्रन्थ के प्रथम संस्करण मे इस विषय का अभिलाष प्रकट किया था कि उन्हे अन्य विद्वान् लेखक इस क्षेत्र मे अपना यथेष्ट योगदान देगे किन्तु उन्हे इस दिशा मे निराशा ही हुई। प्राय १५ वर्ष पश्चात् नवम्बर, सन् १९३७ मे साहित्यालोचन का सशोधित सस्करण प्रकाशित हुआ, जिसमे लेखक ने यथोचित परिवर्तन भी किए। उन्होने पूर्ववर्ती सस्करणो की उपयोगी सामग्री तो इसमे रखी ही, किन्तु ऐसे अनेक समसामयिक विषयो पर भी प्रस्तावना के रूप मे विवेचन प्रस्तुत किया जो उस समय तक साहित्यिक आलोचना के अन्तर्गत समाविष्ट होने लगे थे। इस सस्करण मे पूर्ववर्ती सस्करण से अध्यायो की सख्या भी कम है और दृश्य काव्य के विकास को छोडकर और कोई विषय छूटने नही पाया है। भारतीय और यूरोपीय सिद्धान्त के सामंजस्य का प्रयास भी इससे प्रथम सस्करण मे अधिक है। लेखक ने पूर्व सस्करण की भाँति इस संस्करण मे भी उन विद्वानो और सहयोगियो के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित की है, जिन्होने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे उन्हे ग्रन्थ-रचना मे उचित परामर्श और सहयोग दिया है।

७५ इस संशोधित सस्करण के प्रकाशित होने के समय तक 'साहित्यालोचन' की अनेकानेक आलोचनाएँ भी प्रकाशित हो चुकी थी, पर बाबू साहब को उनके कथनानुसार इस सस्करण के लिए उनसे कोई लाभ नही हुआ। वे आलोचनाएँ या तो निन्दात्मक थी या स्तुत्यात्मक। एक आलोचक ने तो 'साहित्यालोचन' को 'साहित्य दर्पण' का साराश कह कर 'माधुरी' पत्रिका मे अपना लेख प्रकाशित किया था।[३] बाबू साहब ने ऐसी आलोचनाओ के प्रति खेद प्रकट किया है और उन्हे साहित्य-वृद्धि के लिए घातक बतलाया है, क्योकि मूलग्रन्थ और उसकी उपजीव्य रचनाओ का अध्ययन किये बिना अपनी मनमानी सम्मति प्रदान करना किसी भी दृष्टि से समीचीन नही है। साथ ही साथ बाबू साहब ने इस भ्रम को निवारित करने का भी प्रयत्न किया है जो उस समय इस विषय को लेकर साहित्य-क्षेत्र मे फैलने लगा था कि वे दूसरो से ग्रन्थ लिखवा कर अपने नाम से प्रकाशित करते है। उन्हे ऐसे मिथ्या प्रचारो से हार्दिक ग्लानि हुई है और उनका यह कथन तत्कालीन साहित्यिक मनोवृत्ति की ओर भी संकेत करने वाला है।

१ डा० श्यामसुन्दर दास, साहित्यालोचन, पहले सस्करण की भूमिका, स १९७९ पृष्ठ ४।

२. वही, पृष्ठ ४।

३. वही, सशोधित सस्करण की भूमिका सन् १९३७, पृष्ठ ७।

७६. 'साहित्यालोचन' मूलत सैद्धान्तिक आलोचना का ग्रन्थ है। इसके समालोच्य विषय कला, साहित्य, काव्य, रस, शैली तथा साहित्य की आलोचना आदि है। परिशिष्ट मे 'साहित्य की आत्मा और शक्ति' पर भी एक अध्याय है जो श्री पद्मनारायण आचार्य का लिखा हुआ है। साथ-ही-साथ हिन्दी साहित्य-शास्त्र के कतिपय पारिभाषिक शब्द तथा आलोचना-शास्त्र विषयक ग्रन्थो की सूची भी दी गई है जो साहित्यनुशीलक के लिए अत्यन्त उपादेय है। वस्तुत. उस युग मे हिन्दी समालोचना-साहित्य का जो स्वरूप और धरातल था, उसके दृष्टिकोण से साहित्यालोचन सैद्धान्तिक रूप की चरम परिणति कहा जा सकता है।[1] कालान्तर मे इस विषय मे जितने भी ग्रन्थ लिखे गये, उन पर इसका अत्यधिक मात्रा मे प्रभाव रहा है और इस दृष्टि से यह एक विवेच्य विषय बन जाता है कि साहित्यालोचन की परम्परा आज जिस रूप मे हमारे सामने आ रही है, उसमे बाबू साहब का कितना बडा हाथ है। इस ग्रन्थ की उपयोगिता का एक प्रबल प्रमाण यह भी है कि आज का अनुशीलन इसकी परिधि की उपेक्षा कर आगे नही बढ सकता और आधुनिक हिन्दी-समालोचना के विकास मे यह निश्चय ही अपना ऐतिहासिक महत्त्व स्थापित करने मे समर्थ हुआ है।

७७. बाबू साहब ने साहित्यालोचन मे जिन सैद्धान्तिक विषयो पर विवेचन किया है, उन्हे अपने दृष्टिकोण से उन्होने मौलिक कहा है। वस्तुत वह मौलिकता उस युग को देखते हुए तो अवश्य ही प्रशसनीय है, किन्तु उसे ऐसी मौलिकता नही कहा जा सकता जो इस क्षेत्र मे नवीन उद्भावना करने वाली हो। यद्यपि उनका इस ओर प्रयास रहा है कि वे भारतीय और यूरोपीय साहित्य-सिद्धान्तो मे सामजस्य उपस्थित करे, किन्तु उनमे वह क्षमता प्रस्फुटित नही हो सकी है जो दोनो विचारधाराओ को पचा कर अपनी मौलिकता का प्रतिष्ठापन करने वाली हो। इसका एक कारण तो यह भी हो सकता है कि उनके सामने प्रस्तुत परिस्थितियाँ ही ऐसी थी, जिनमे उनके लिए अवकाश के साथ बैठ कर ऐसे मौलिक चिन्तन के अवसर कम थे जो उत्तरवर्ती समालोचको को उपलब्ध हुए। उन्हे तो नित्य प्रति साहित्यालोचन के नूतन विषय पर रात्रिकाल मे नोट्स तैयार करने पडते और दिन मे विद्यार्थियो को पढाना होता। इस क्षेत्र की गति को आगे बढाने का प्रश्न तो उनके सामने बहुत कम था। ऐसी परिस्थिति मे उनके विचारो मे सकलन की प्रवृत्ति अधिक मिले तो यह उनका अमार्ज्य दोष नही समझा जाना चाहिए। वस्तुत उस युग को देखते हुए साहित्यालोचन का अपूर्व महत्त्व है और इस दिशा मे बाबू साहब उचित प्रशसा के अधिकारी है।

७८ बाबू साहब ने साहित्यालोचन की मौलिकता को मुख्यत विवेचन की मौलिकता कहा है, पर यह कथन भी कदाचित् ही अधिक सत्याश-गर्भित कहा जा सके। उसमे व्यक्त सिद्धान्तो और विचारो पर तो भारतीय और यूरोपीय समालोचना ग्रन्थो का प्रभाव है ही, साथ ही साथ विषय-विभाजन और निरूपण की पद्धति भी अनुकृत है। इसकी रूपरेखा, विषय-विभाजन, शीर्षक और उपशीर्षक का संयोजन आदि पश्चिमी विद्वान् हडसन लिखित 'इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी आव लिटरेचर, पर बहुत अधिक आधारित है। यहा तक कि कविता, कहानी, नाटक, आलोचना आदि के अनेक विवेचित स्थल तो उसके अनुवादमात्र कहे जा सकते है। इसी प्रकार कला का विवेचन वर्सफोर्ड की 'जजमेन्ट इन लिटरेचर' नामक पुस्तक से लेकर किया गया है। नाटक के अन्तर्गत विवेचित सामग्री पश्चिमी प्रभाव के साथ-साथ विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' से ज्यो-की-त्यो ली गई प्रतीत होती है। और भी ऐसे अनेक स्थल है, जिनको लेकर ग्रन्थ की मौलिकता को विशेष

---

१. डा० नगेन्द्र, 'विचार और विवेचन,' प्रथम सस्करण, पृष्ठ ७८।

सदिग्धावस्था मे अवस्थित किया जा सकता है। पर इस ओर ऐसी कठोरता का रूप बाबू साहब के प्रति एकागी दृष्टिकोण का ही प्रतिपादक होगा, क्योकि उन्होने समालोचना के किशोर काल में हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि मे जो योगदान दिया है, उनकी समता मे उसकी नगण्यता स्वतः सिद्ध है। विकासवाद का सिद्धान्त भी वस्तुत यही निर्देश करता है कि विकास की परम्परा सदैव गतिशील रहती है और आगे आने वाला युग अपने पूर्ववर्ती युग का ही परिणाम होता है। अत इस दृष्टि से बाबू साहब का साहित्यालोचन भी अपने पूर्ववर्ती युगो की विकास-परम्परा की सफल परिणति है, जिसके कारण उसकी महत्ता मे सन्देह करने के अधिक अवसर नही होने चाहिएँ।

समालोच्य विषय और उनका प्रतिपाद्य

कला–विषयक विवेचन

७९. बाबू साहब ने मनुष्य के सस्कारो और वृत्तियो का विश्लेषण कर अभिव्यजना की विधियो को कला की संज्ञा दी है, किन्तु उनकी दृष्टि मे सम्पूर्ण अभिव्यजना कला नही है क्योकि दार्शनिक सिद्धान्त-समुच्चय और वैज्ञानिक तथ्य भी मानव अभिव्यजना के विषय होने पर भी कला की श्रेणी मे नही रखे जाते। वस्तुतः कला का लोक मुख्यत भाव-लोक है और इसी माध्यम से कला-कृतियाँ ग्रहण की जानी चाहिएँ।[1] उन्होने कला-विश्लेषण के अतर्गत आधुनिक समीक्षा-जगत् मे प्रचलित फ्रायड के स्वप्न-सिद्धान्त, यथार्थवाद और 'कला के लिये कला' आदि सिद्धान्तों का भी संक्षिप्त परिचय दिया है जिसमे संकलन की प्रवृति ही अधिक है। वे इन प्रवादो को पाश्चात्य विवेचन की उस अतिचारिता मे स्वीकार नही करते जिसका यूरोपीय विद्वानो ने अपने ग्रथों और निबन्धो मे निरूपण किया है। उनका तो स्पष्ट कथन है कि 'फ्रायड के स्वप्न-सिद्धान्त को कलाभिव्यक्ति के मूल मे स्वीकार करने पर तथा यथार्थवाद के नाम पर समस्त साहित्य-विधाओ को ग्रहण करने पर उनका जीवन के सदाचार पक्ष से सम्बन्ध छूट जाता है, जो भारतीय साहित्य दर्शन का एक मूल आधार है।[2] इसी प्रकार कला के लिये कला की सिद्धान्त की मनमानी खीचा-तानी भी उन्हे पसन्द नही है क्योकि कला को जीवन से अलग धरातल पर देखना साहित्य की स्वस्थ परम्परा के प्रतिकूल है। इसी प्रसंग मे उन्होने इटली के क्रोचे के उस सिद्धान्त का भी परिचय दिया है जिसके अनुसार कला अखड अभिव्यक्ति है, किन्तु वे स्वय व्यावहारिक दृष्टि से कला का वर्गीकरण करना समीचीन समझते है। उन्होने उपयोगी और ललित कलाओ के स्थूल मानदंड पर विभिन्न कलाओ के मूर्त आधार तत्त्व और विषय-क्षेत्र का विवेचन कर काव्य-कला को सर्वोपरि महत्त्व दिया है। कहने की आवश्यकता नही कि उनका यह समग्र विवेचन अधिकतर पाश्चात्य विचारधारा को आधारभूत बनाकर हुआ है जिसमे एतद्विषयक भारतीय सिद्धान्तो का सयोजन बहुत कम है। वस्तुतः यह पाश्चात्य विचारधारा का ही प्रभाव है जिसके कारण बाबू साहब ने काव्य की गणना कला के अन्तर्गत की है, जबकि वास्तविकता तो यह है कि हमारे यहाँ काव्य-स्वरूप का विश्लेषण उसे कला से अत्युन्नत श्रेणी प्रदान करते हुए किया गया है और उसके आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदरत्व की समता दी गई है। वस्तुत भारतीय दृष्टि से कला मे भौतिकता का अधिक समावेश है, किन्तु पश्चिम की मान्यताएँ इससे भिन्न है। वहाँ के प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हीगेल ने काव्य की गणना कला के अन्तर्गत की थी, जिसका आधार बाबू साहब ने भी अपने विश्लेषण मे पर्याप्त मात्रा मे लिया है। कालातर मे पं० रामचन्द्र शुक्ल और श्री जयशकर 'प्रसाद'

---

१. बाबू श्यामसुन्दर दास, साहित्यालोचन, परिवर्धित और संशोधित सस्करण, स० १९९४, पृ० ३।
२. वही, पृष्ठ ८।

ने कला का जो विवेचन किया, उसमे काव्य को कला से बहुत ऊँचा स्थान दिया गया जो इस बात का सूचक है कि उनकी दृष्टि उसे विशुद्ध भारतीय विधान मे उपस्थित करने की थी। बाबू साहब के विषय मे यह बात नही कही जा सकती।

साहित्य, काव्य तथा कविता सम्बन्धी विचार

८०. जैसा कि पहले सकेत कर दिया गया है कि बाबू साहब के विवेचन का प्रमुख दृष्टिकोण पाश्चात्य विचारधारा के बहुत निकट है, अत उन्होने कला-विवेचन के पश्चात् साहित्य-विश्लेषण का विषय लिया है। वे साहित्य के मूल मे भी उन्ही मनोभावो को ग्रहण करते है जो समस्त कलाओ के मूल मे है, किन्तु उसके प्रभाव को अधिक विस्तृत और दर्शन को अधिक सूक्ष्म बताते है।[1] उन्होने साहित्य-दर्शन की व्याख्या भारतीय दर्शन की मूल प्रकृति के आधार पर की है और उसे आत्म और अनात्म भाव से युक्त माना है[2] उनकी दृष्टि मे अन्यान्य कलाओ की भाँति साहित्य कला भी एक नैसर्गिक और अखंड सृष्टि है। वे इटली के कला-शास्त्री क्रोचे तथा इंगलैंड के प्रसिद्ध आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स की उन धारणाओ को भी एक सीमा तक ही स्वीकार करते है जिन के अनुसार साहित्य क्रमश एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है एवम् उसका आनन्द प्राकृतिक आनन्द से तत्वत भिन्न नही है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि प्राकृतिक आनन्द की भावना के बिना भले ही काव्यानन्द की उपलब्धि न हो सके अथवा उसे अलौकिक अनुभूति का आधार न मिल सके, किन्तु प्राकृतिक आनन्द और साहित्यिक आनन्द को एक मानना भी उचित नही है। वस्तुत उनका साहित्य की चिरन्तन और चिरनवीन स्थिति पर अधिक विश्वास है और वे उसे मानवता का दर्पण मानते हैं जिससे यह भी ध्वनित है कि उसकी श्रेणी विज्ञान की श्रेणी से अत्यन्त उदात्त है। कहने की आवश्यकता नही कि पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र मे डीक्वेन्सी ने ज्ञान तथा शक्ति के नाम पर साहित्य का जो विभाजन किया था, वह बाबू सीहब को ग्राह्य प्रतीत हुआ है और वे भी शक्ति अथवा भाव के साहित्य को ही मूलत सच्चा साहित्य मानने के लिए उद्यत हो गये हैं। उनका यह विश्लेषण भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा मे अनुमोदित काव्य-विवेचन को वास्तविक साहित्य का मूल स्वरूप मानते हुए चला है और वे एतद्-विषयक निरूपित विभिन्न दृष्टिकोणो का पर्यवेक्षण भी कर सके हैं। इस विवेचन का आकलन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि बाबू साहब अपने विद्यार्थियो को सैद्धान्तिक साहित्यालोचन की अधिक से अधिक सामग्री प्रदान करना चाहते थे, अत उन्हे प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित जितनी भी सामग्री प्राप्त हो सकी उसका उन्होने यथाशक्ति तत्त्व-चयन किया और यथाप्रसग अपनी मान्यताएँ भी प्रकट की। फिर भी यह नही कहा जा सकता कि बाबू साहब साहित्य के विवेचन को आत्मसात् कर उसे अपना मौलिक व्यक्तित्व देने मे पूर्णतया सफल हुए हैं। उनके विवेचन मे कतिपय ऐसे स्थल भी हैं जहाँ वे विरोधमूलक सम्मतिया भी प्रकट कर गये है। पर इसका एक कारण विषय की गूढता और मानसिक रूपात्मकता भी है। हां, साहित्य और जातीयता तथा साहित्य पर विदेशी प्रभाव आदि का उन्होने जो निरूपण किया है, वह अत्यन्त स्पष्ट और व्यवस्थित है।

८१ बाबू साहब भिन्न-भिन्न काव्य-कृतियो के समष्टि संग्रह को साहित्य कहते हैं, अतः उनके मतानुसार सग्रह-रूप में जो साहित्य हैं, मूल रूप मे वही काव्य है।[3] उन्होने काव्य

---

१. डा० श्यामसुन्दरदास, साहित्यालोचन, पृष्ठ २६।

२. वही, पृष्ठ २७।

३. वही, पृष्ठ ४१।

को संकुचित रूप मे ग्रहण करने की प्रवृत्ति को असमीचीन बतला कर उन आलोचको का विरोध किया है जो किसी भी शुष्क से शुष्क पद्यबद्ध रचना को तो काव्य की श्रेणी मे परिगणित कर लेते है, किन्तु गद्य की प्रणालियो मे अभिव्यक्त सरस और भावनामय उक्ति को भी काव्य की सज्ञा नही देते। वस्तुत. गोस्वामी जी के 'भाव-भेद रसभेद अपारा' की उक्ति के आधार पर बाबू साहब को काव्य की उदात्त तथा विस्तीर्ण भूमि ही ग्राह्य है जिसमे रस, सौन्दर्य, रमणीय अर्थ, अलकार तथा भाषा आदि विषय उसके प्रमुख अग बन कर उपस्थित होते है। बाबू साहब के मतानुसार काव्य का सत्य अपनी विशिष्टता में भले ही कुछ अलौकिकता ग्रहण कर ले, किन्तु उसका लोक हित-कारी पक्ष कदापि उपेक्षणीय नही समझा जा सकता। उन्होने मनोवृत्तियो तथा विषयो के आधार पर काव्य का वर्गीकरण करते हुए उसके जो उपादान निर्दिष्ट किये है, वे उनकी उर्वर मेधा-शक्ति के प्रतीक है। उनमे व्यंजित विचारणाओ ने उसकी परवर्ती समालोचना को विकसित होने मे पर्याप्त प्रेरणा और आधार प्रदान किये है। उनका 'काव्यकार की साधना' विषयक निरू-पण मौलिक कहा जा सकता है। इसी प्रकार उन्होने काव्य के वास्तविक अध्ययन के लिये काव्यकार की प्रतिभा का परिचय उसकी रचना-शैली समयानुकूल और विकासयुक्त तुलनात्मक प्रणाली, जीवन चरित और श्रद्धा आदि को इसके मुख्य उपादान निर्दिष्ट करते हुए काव्यालोचन का एक प्रतिमान सा प्रस्तुत कर दिया है जिसकी झलक हमे उनकी व्यवहारिक समालोचनाओ मे मिलती है। निश्चय ही यह प्रतिमान समीक्षण कार्य का एक आदर्श माना जा सकता है।

८२. बाबू साहब की सैद्धान्तिक समालोचनाओ मे एक विचारणीय विषय यह है कि यद्यपि उन्होने काव्य का विवेचन करते समय उसके अन्तर्गत गद्य और पद्य दोनो का समावेश किया था, किन्तु कविता की सीमा उन्होने पद्यबद्ध साहित्य तक ही परिमित रखी है।[१] आगे चलकर फिर दोनो मे तात्विक ऐक्यान्वेषण कर दोनो का विभेद व्यावहारिक दृष्टिकोण मे ही माना है। कहने के लिये तो बाबू साहब ने कविता का विवेचन काव्य से भिन्न स्वरूप मे किया है, किन्तु उसमे भी प्रायः वे ही बाते कही गई है, जो काव्य के सामान्य लक्षणो मे आती है। उनके मतानुसार सात्विक वृत्तियाँ कविता अथवा काव्य के लिये अनिवार्य हैं ही, किन्तु साथ ही साथ उसके भाव-पक्ष और कला-पक्ष मे भी समन्वय की साधना का कम महत्त्व नही है। वे भाषा की लक्षणा, व्यंजना आदि शक्तियो को उद्बुद्ध और पुष्ट करके भावो को रसमय बना देना ही वस्तुत साहित्य के कला-पक्ष का काम मानते है जिसके अनुसार काव्य अथवा कविता भी इसी श्रेणी मे परिगणित हो जाते है।[२] उन्होने कविता की साधना को मुख्यत· शब्दो की साधना कहा है और उसका छन्दशास्त्र से भी सम्बन्ध निर्दिष्ट किया है। भारतीय कविता के रूप को लेकर प्राचीन काव्यशास्त्र-कारो ने जिन भिन्न-भिन्न मतो का निरूपण किया था, उनका सामान्य परिचय देकर बाबू साहब ने बतलाया है कि कविता की व्यजंक शक्ति, कवियो के महत्त्व तथा उसके आदर्श और कवि-कल्पना आदि के विषय मे उनके कैसे-कैसे विचार है। उनका यह विश्लेषण परार्जित ही विशेष है, क्योकि उसमे स्वानुभूति और आत्म निर्णय की प्रवृत्ति बहुत कम है। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि उन्होने कविता के व्यावहारिक विभाग कर हिन्दी कविता के स्वरुप-विकास का जो एक रेखाचित्र उपस्थित किया है, वह अत्यन्त पठनीय और सारगर्भित है।

दृश्य और श्रव्य काव्य का निरूपण

८३. बाबू साहब के 'साहित्यालोचन मे गद्य काव्य का विश्लेषण अत्यन्त विस्तृत और

---

१. डा० श्याम सुन्दर दास, साहित्यालोचन, पृष्ठ ७५।

२. वही, पृष्ठ ८१।

व्यापक विधान मे हुआ है। उसका पाँचवाँ अध्याय तो केवल दृश्य काव्य के विवेचन से ही सम्बन्धित है, जिसमे दृश्य काव्य की उत्पत्ति और नाटको की परम्परा के विषय मे भारतीय और यूरोपीय विचारो की सारगर्भित उद्धरणी एक स्थान पर मिल जाती है। इस विवेचन मे अनुकरण को नाटक की मूलवृत्ति मान कर यूनानी रूपक-कला के क्रमिक विकास का भी सामान्य चित्रण हो गया है और आजकल साहित्य-क्षेत्र मे आदर्श और यथार्थवाद के नाम पर जिस प्रकार की आलोचनाएँ प्रस्तुत की जाती है, उनके नाटकान्तर्गत महत्त्व और स्थान का भी प्रसंगानुकूल सामान्य सकेत दिया गया है। उसमे भारतीय रूपक-रचना, प्रक्षागृह, रूपको का रूप और अभिनय आदि के सम्बन्ध मे अनेकानेक विचारो का सकलन भी है। इसके अतर्गत नाटक और उपन्यास का अतर बतला कर नाटको की विशेषताओ के उद्घाटन का साधारण प्रयास हुआ है और आगे चल कर पाश्चात्य नाट्य-शास्त्रियो की विचारणानुसार वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देश काल, शैली और उद्देश्य नामक उपशीर्षको के अतर्गत नाटको के छ तत्वो का विवेचन किया गया है। इस विवेचन में 'साहित्य-दर्पण' और भरत के 'नाट्यशास्त्र' से यथेष्ट सामग्री ली गई है और एक प्रकार से उन्ही के विवेचन पर आधारित होकर यह सारा निरूपण हुआ है। नाटक-रचना के सिद्धान्तों के अन्तर्गत अर्थ-प्रवृतियाँ, संधियाँ आदि की जो चर्चा है, वह भारतीय 'नाट्य शास्त्र' के अनुसार है। साथ ही साथ सकलन-त्रय के अंतर्गत यूनानी विचारकों द्वारा निरूपित वस्तु, काल और स्थल तीनो का विवेचन कर भारतीय नाट्य-मीमासा मे प्रतिपादित देश-काल के साथ उनका सामजस्य प्रस्थापित किया गया है। अन्त मे रूपक के १० और उपरूपक के १८ भेद गिनाकर अध्याय समाप्त किया गया है। इस विवेचन की सारी सामग्री प्राय. वही है जो उनके ग्रन्थ रूपक-रहस्य मे है और इसमे नाट्य-शास्त्र और साहित्य-दर्पण की अनेक स्थलो पर तो ज्यो की त्यो उद्धरणी देख कर ही कतिपय आलोचको ने इसे सर्वतोभावेन अनुकृति ग्रन्थ कहने का साहस किया है। कुछ भी हो, बाबू साहब ने इस विवेचन द्वारा साहित्य अध्येताओ के हृदय मे अपने प्राचीन साहित्य के प्रति एक जिज्ञासा अवश्य उत्पन्न कर दी है और यह जागृति भी कम महत्त्वपूर्णनही है ?

८४. बाबू साहब ने दृश्य-काव्य-विवेचन के अनन्तर श्रव्य काव्य का विश्लेषण किया है जिसके अन्तर्गत उपन्यास, आख्यायिका, निबन्ध, मुक्तक काव्य और साहित्यिक आलोचना सम्मिलित है। उनके इस विवेचन मे उपन्यास और आख्यायिका साहित्य पर तो फिर भी विस्तृत विवेचना मिल जाती है, किन्तु निबन्ध-साहित्य पर इनकी अपेक्षा बहुत कम सामग्री उपलब्ध होती है। मुक्तक काव्य पर तो उन्होने सर्वथा अत्यन्त सामान्य और चलती बाते कही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मुक्तक काव्य की ओर बाबू साहब की विशेष रुचि थी ही नही, अन्यथा उस पर भी बहुत कुछ लिखा जा सकता था। उन्होने मुक्तक काव्य को गद्य-गीत का पर्याय कहा है और बतलाया है कि जो स्थान पद्य मे रहस्यवादी कविता का है, वही स्थान गद्य मे मुक्तक काव्य का है।[1] उनका उपन्यास विषयक विवेचन यथेष्ट व्यापक और सधा हुआ है। वे उपन्यास का साहित्य में स्थान निर्धारित करते हुए यह भी स्पष्ट कर सके हैं कि रूपक अथवा नाटक की भाँति उपन्यास की भी कोई शास्त्रीय मर्यादा नही और उसके एक ओर जीवनी और दूसरी ओर कविता रहती है।[2] उपन्यास और छोटी कहानी या गल्प का क्या सम्बन्ध है, उपन्यास के कोटि-क्रम कौन-कौन से है तथा हिन्दी मे उपन्यासों की कैसी साहित्यिक परम्परा रही है ? इन सब विषयो का भी उन्होने क्रमिक विवेचन किया है। साथ ही साथ उपन्यासो के तत्त्वों के अन्तर्गत वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, शैली और उद्देश्य का अलग अलग विवेचन कर उपन्यास मे अभि-

---

१. डॉ० श्याम सुन्दर दास, साहित्यालोचन, पृष्ठ २०३।
२. वही, पृष्ठ १४७।

व्यक्त यथार्थ और नीति आदि पर भी अपनी मान्यताओ का व्यक्तीकरण किया गया है। इस विवेचन मे बाबू साहब ने अध्यापन-कला की विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग किया है जिसका एक उद्देश्य विषय का अधिक से अधिक विशदीकरण के साथ अभिव्यजन होता है।

८५. बाबू साहब ने आख्यायिका-साहित्य पर कम लिखा है, किन्तु जो कुछ भी लिखा है वह अत्यन्त सारगर्भित है। आख्यायिका का आकार कितना बडा हो ? उसका लक्ष्य क्या है ? उसका और नीति काव्य का क्या सम्बन्ध है—इन विषयो पर भी उन्होने प्रकाश डालने की चेष्टा की है। आख्यायिका द्वारा लोक-सेवा तथा उसमे प्रयुक्त नाटकीय आख्यान पर भी सक्षिप्त विवेचन है। अन्त मे आख्यायिका के सिद्धान्तो का निरूपण है। यह सारा विवेचन प्रायः यूरोपीय सैद्धान्तिक समालोचना का सत्त्व है जो मुख्यतः हड्सन के ग्रन्थों के निचोड के रूप मे आया है। अभिप्राय यह है कि बाबू साहब ने आख्यायिका के विवेचन मे अपनी मानसिक क्षमता और अभिरुचि के अनुरूप पर्याप्त सामग्री देने की चेष्टा की है। हाँ, इस विवेचन की अपेक्षा उन्होने निबन्ध-साहित्य का विश्लेषण स्वतन्त्र धरातल पर किया है। पश्चिमी साहित्य मे जिस क्रम से निबन्ध का बिकास हुआ है, उसका विवरण देकर उन्होने बतलाया है कि निबन्ध के मुख्य उपकरण तथा उसकी प्रमुख कोटियाँ कौन-कौन सी है। उन्होने 'आलोचनात्मक निबन्ध' के अन्तर्गत आने वाले विषयो का विवरण भी दिया है और हिन्दी निबन्ध के विकास की सक्षिप्त रूपरेखा भी प्रस्तुत की है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा निबन्ध-साहित्य अपने वर्तमान स्वरूप मे किस स्तर पर अवस्थित है।

रस, शैली और आलोचना का विवेचन

८६ रस और शैली का विवेचन करने के पूर्व बाबू साहब ने साहित्य की मूल मनोवृत्तियाँ और उसके द्विविध पक्ष, काव्य के तत्त्वसगठन और अत करण की वृत्तियाँ तथा बुद्धि, कल्पना और मनोवेगो का विश्लेषण किया है, जिसका मूल उद्देश्य यह है कि पाठक रस के मूल भावों या मनोविकारो तक पहुँच सके और उनकी भित्ति पर रस-निष्पत्ति को समझ सके। उन्होने मानवीय भावो को मुख्यत. इन्द्रियजनित, प्रज्ञात्मक और गुणात्मक के भेदो मे विभक्त कर उनके सहायक विभाव, अनुभाव और सचारी भावो का सामान्य परिचय देने के पश्चात् भरतमुनि के रस-निष्पत्ति विषयक सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना की है जो हमारे सम्मुख रस-सिद्धान्त की व्यापकता और गम्भीरता प्रस्तुत कर देती है। इसी प्रसग मे भट्ट लोलट के उत्पत्तिवाद, शंकुक के अनुमितिवाद, भट्टनायक के भुक्तिवाद और अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद की सैद्धान्तिक चर्चाएँ भी हैं, जिनमे भरत मुनि के रस-सूत्र का विश्लेषण विभिन्न दार्शनिक मान्यताओ को आधार बना कर किया गया है। बाबू जी ने प० केशव प्रसाद मिश्र द्वारा प्रतिपादित 'मधुमती भूमिका' और 'पर प्रत्यक्ष' की विचारधारा भी उद्धृत की है, जिसके अनुसार रस का आनन्द अलौकिक, अति प्राकृतिक अथवा असामान्य सिद्ध होता है। बाबू जी रस की निष्पत्ति उस अतिरेकता मे स्वीकार नही करते। उन्होने रस को 'पर प्रत्यक्ष-गम्य' (सुपर सेंसुअस) माना है और अपने निर्णय मे आधुनिक मनोविज्ञान का भी समावेश किया है, जिसके अनुसार रस अलौकिकता की अतीन्द्रियता से कुछ नीचे उतर आता है।[1] बाबू साहब का यह विवेचन उनकी प्रज्ञा का प्रतीक है, पर इसे ही अन्तिम निर्णीत विवेचन नही कह सकते, क्योकि रस-निष्पत्ति इतना सामान्य विषय नही है जिस पर अपना सहसा निर्णय दिया जा सके। सच तो यह है कि इसके समीक्षण मे भारतीय आचार्यों ने अपने विविध दृष्टिकोणो से जो ऊहापोह अथवा तर्क-वितर्क प्रस्तुत किए हैं, वे कई बातो मे आधु-

१. डा० श्याम सुन्दर दास, साहित्यालोचन, सशोधित संस्करण, १९९५, पृष्ठ २३६।

निक मनोविज्ञान से अधिक उदात्त और भव्य है। अत हमे तो बाबू साहब का यह विवेचन इस विषय के अध्ययन को आधुनिक मनोविज्ञान के धरातल पर आगे बढाने की प्रस्तावना मात्र लगता है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, डा० नगेन्द्र, प० नददुलारे वाजपेयी आदि विद्वानो ने इस विषय को पर्याप्त आगे बढाया है, फिर भी इसके सम्बन्ध मे विवेचन के लिए यथेष्ट अवकाश बना ही हुआ है।

८७. प्रत्येक रस के सामान्य अंगो, उदाहरणो और पारस्परिक विरोधो का उल्लेख करने के पश्चात् बाबू साहब शैली के विवेचन मे लगे है। उन्होने पहले तो यह स्पष्ट किया है कि शैली का रूप क्या है और फिर उसके अन्तर्गत शब्दो का महत्त्व, वाक्यो की विशेषता और उनके प्रभाव का विवरण दिया है। उनके द्वारा प्रस्तुत भारतीय शैली के आधार, विषयक विवेचन भी यथेष्ट उपादेय है। अन्त मे काव्य-शैली के अन्तर्गत अलकारो का स्थान, वाक्य और पदविन्यास की महत्ता, छन्द-योजना और गुणचर्या का उल्लेख है। प्रस्तुत विवेचन मे इस बात पर भी जोर दिया गया है कि शैली की श्रेष्ठता उसकी दुरूहता मे न होकर उसकी सरलता, सुबोधता और अभिव्यजन शक्ति मे होती है।[1]

८८. 'साहित्यालोचन का अन्तिम अध्याय साहित्य की आलोचना है, जिसके प्रारम्भ मे आलोचना की परिभाषा करते हुए बाबू साहब ने लिखा है कि 'साहित्य-क्षेत्र मे ग्रन्थ को पढ कर उसके गुणो और दोषो का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध मे अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है।' उनके शब्दो मे 'साहित्य यदि जीवन की व्याख्या है तो आलोचना उस व्याख्या की व्याख्या है और उसका क्षेत्र साहित्य की सभी विधाओ तक व्याप्त है, यहाँ तक कि आलोचनात्मक ग्रन्थो की भी आलोचना की जा सकती है।'[2] उन्होने आलोचना का क्षेत्र निर्धारित कर आलोचना का उद्देश्य, उसकी उपादेयता, आलोचक के आवश्यक गुण, आलोचना द्वारा साहित्य-वृद्धि तथा साधारणतया आलोचना करते समय प्रयुक्त विधि का विश्लेषण कर यह बतलाया है कि साहित्य-निर्माण मे उसका कितना अधिक उत्तरदायित्व है। उन्होने भारतीय और पाश्चात्य आलोचना तथा उसके निर्माताओ का भी उल्लेख किया है और स्थायी साहित्य के गुण निर्दिष्ट कर सिद्ध किया है कि उसका प्रतिमान आलोचना किस रूप और प्रकार मे ग्रहण करे। स्पष्ट है कि बाबू साहब ने साहित्य की आलोचना को अधिकाधिक व्यापक रूप मे व्याख्यात करने का प्रयास किया है। उन्होने बतलाया है कि साहित्य जब अपने स्वरूप का विश्लेषण स्वय करने लगता है तभी समालोचना का जन्म होता है। उन्होने आलोचना को मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति माना है, जिसके अभाव मे साहित्य के विकास की कल्पना की ही नही जा सकती।[3]

८९. वैसे तो साहित्य की भाँति समालोचना की भी एक सम्पूर्ण इकाई अथवा निरपेक्ष सत्ता है किन्तु उसका व्यावहारिक दृष्टिकोण से विभाजन भी किया जाता रहा है। बाबू साहब ने भी आधुनिक आलोचना के सैद्धान्तिक (स्पैक्युलेटिव), व्याख्यात्मक (इण्डक्टिव), निर्णयात्मक (ज्यूडीशिअल) तथा स्वतत्र अथवा आत्म प्रधान (फ्री और सब्जैक्टिव) नामक चार प्रकार गिनाये हैं। कहने के लिए तो आलोचना के ये चारो भेद स्वतत्र है, किन्तु इनका पारस्परिक अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। बाबू साहब 'शुद्ध सिद्धान्त और 'उसका प्रयोग' नाम से आलोचना के स्थूल विभाजन को भी स्वीकार करते हैं, जिसमे 'काव्य-मीमासा', 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्य-दर्पण' आदि ग्रन्थ पहली श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं और सूर, तुलसी, जायसी और कबीर आदि कवियो पर

१ डा० श्यामसुन्दर दास, साहित्यालोचन, संशोधित सस्करण, १९५५, पृष्ठ २६६।

२ वही, पृष्ठ २६७।

३. वही, पृष्ठ २८०।

लिखी गई आलोचनाएँ दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं। इसी क्रम मे बाबू साहब ने आगे चलकर उपर्युक्त चारो प्रकारो की समालोचनाओ के अन्तर्गत कौन-कौन से विषय आते है तथा इनके क्षेत्र की व्यापकता कहाँ तक है, इसका भी विशद निरूपण किया है। साथ ही साथ वे इनको लेकर चलने वाले विभिन्न प्रवादों का यथावसर विश्लेषण करने से भी नही चूके हैं। इन्होने प्रत्येक श्रेणी के आलोचक को यह सत्परामर्श दिया है कि वह आलोचना करते समय विश्व-रुचि अथवा मानव-आदर्श को अवश्य दृष्टिगत रखे, अन्यथा उसकी समीक्षा मे संकीर्णता या दोष आ जायगा। वे आलोचना के अन्तर्गत प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली के चयन को भी कम महत्त्वपूर्ण विषय नही मानते और विदेशी भाषाओ से गृहीत शब्दो के लिये अपनी भाषा से उपयुक्त पर्यायवाची शब्दायोजन को आलोचना के पक्ष मे परम निधि मानते है। कहना होगा, बाबू साहब ने समालोचना के गहन उत्तरदायित्व के विभिन्न पक्षो का सर्वांगीण निरूपण करने मे कोई कसर नही रखी है और उनका आलोचना-विषयक विवेचन अत्यन्त तर्क-सम्मत और तत्त्वयुक्त है। अपनी सुबोध शैली मे इसका निरूपण जिस वैज्ञानिकता से हुआ है, ऐसा अन्यत्र बहुत कम देखने को मिलता है।

६०. आलोचना के इसी प्रसग मे बाबू साहब ने बतलाया है कि श्रेष्ठ समालोचक के लिये जिस प्रकार पारिभाषिक शब्दो का ज्ञान अनिवार्य है, उसी प्रकार उसके लिये शब्द-शक्ति का ज्ञान, साहित्य की आत्मा की परीक्षा और आलोच्य विषय और मान-दड की प्रवृत्ति की जानकारी भी आवश्यक है। उनकी तो यह दृढ धारणा है कि आलोचक को अपने आलोच्य विषय के लक्ष्य की अनन्यता और अनासक्ति का भी ध्यान रखना चाहिए और यथासम्भव अस्पष्टता के दोष से निरन्तर बचने का भी ध्यान रखना चाहिए। इस सामान्य विवेचन के पश्चात् उन्होने हिन्दी समालोचना की उपजीव्य सामग्री सस्कृत आलोचना-पद्धति की विशेषताओ का निरूपण किया है और यह बतलाया है कि सच्चा समालोचक सर्वथा निष्पक्ष और निर्दोष बनकर चलने का पूर्ण ध्यान रखता है। उन्होंने बतलाया है कि समालोचक को रूढि-ग्रस्तता, पूर्वग्रह आदि दोषो से बचना चाहिए और यथासम्भव वादो के दलदल मे भी नही फँसना चाहिए। उन्होने संक्षेप मे पश्चिमी आलोचना का इतिहास प्रस्तुत कर यह भी बतलाया है कि भारतीय सिद्धान्त के साथ उसका किस प्रकार सामजस्य किया जा सकता है। साराश यह कि बाबू साहब ने अपने इस परिच्छेद मे आलोचना के सिद्धान्त पक्ष से सम्बन्धित अनेक प्रकार की ज्ञान-सामग्री और उपलब्धियाँ हमे प्रदान की हैं जिनके कारण ज्ञान के अपार भडार के रूप मे उनका साहित्यालोचन सदैव सम्मानार्ह रहेगा, इसमे कोई सन्देह किया ही नही जा सकता। वस्तुतः वे साहित्यालोचन की रचना कर सैद्धान्तिक समीक्षा के लिए एक भव्य पथ-प्रदर्शन कर गये हैं और इस दृष्टि से उनका यह ग्रन्थ आधुनिक हिन्दी समालोचना के विकास क्रम मे किसी भी जाज्वल्यमान नक्षत्र से कम आलोकमय नही कहा जा सकता।

निष्कर्ष तथा अन्यान्य कृतियों का उल्लेख

६१. निष्कर्ष यह है कि बाबू साहब ने 'साहित्यालोचन' की रचना कर समालोचना के सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि की समन्वय-साधना के रूप मे किया है। यद्यपि उनकी कृति मे सकलन की मात्रा भी कम न रही फिर भी हिन्दी-समीक्षण की दरिद्रता को दूर करने मे साहित्यालोचन सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध हुआ। यह ग्रन्थ उनकी सिद्धान्त-विवेचना का आदर्श कहा जा सकता है, किन्तु इसी से उनकी समालोचक-प्रतिभा की समाप्ति नही समझनी चाहिए। उन्होंने 'हिन्दी भाषा और साहित्य' का जो इतिहास लिखा है अथवा 'भाषा-विज्ञान' जैसे नूतन विषय पर अपना मानसिक अधिकोषण प्रदान किया है उसकी मुद्राएँ पराजित होने पर भी

उनकी अपनी टकसाल मे ढली हुई हैं। उनकी समालोचनाओ मे प्राचीन काव्यकारो की जीवन-रचनाओ की शोध तथा हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तको का सक्षिप्त विवरण आज भी हमारे अनुसन्धानकर्ताओ के उपयोग की स्थायी सामग्री है। 'भारतेन्दु-नाटकावली', 'कबीर ग्रन्थावली', 'सतसई सप्तक', 'राधा-कृष्ण ग्रन्थावली', 'गोस्वामी तुलसी दास', 'सक्षिप्त पदमावत', 'हिन्दी निबन्धमाला' और 'रानी केतकी की कहानी' आदि पुस्तको से हमे उनकी समालोचक-प्रज्ञा का ज्ञान हो जाता है। इन समस्त पुस्तको मे बाबू साहब के व्यक्तित्व की छाप है। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' और 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओ मे उनके समय-समय पर जो लेख प्रकाशित हुए है उनसे भी उनकी समीक्षा-बुद्धि का ज्ञान होता है। अभिप्राय यह है कि श्यामसुन्दरदास जी का हिन्दी साहित्य को सामान्य विकास प्रदान करने के साथ उसके समालोचनात्मक संवर्धन मे भी विशिष्ट हाथ है और द्विवेदी-युग की पार्श्व-भूमि मे अपना ऐसा असाधारण व्यक्तित्व रखते है जिसके समक्ष किसी अन्य समालोचक की गणना की ही नही जा सकती। कहना होगा, हिन्दी साहित्य और उसकी समालोचना को विकसित करने वाले समालोचको का निर्माण बाबू साहब के प्रोत्साहन और मार्ग-दर्शन से ही हुआ है और भावी पीढी उनके प्रति आज भी श्रद्धावनत है, इसमे कोई सन्देह नही।

(४)

पं० पद्मसिंह शर्मा

समालोच्य विषय और नवीन परम्परा का उन्मेष

९२. प० पद्मसिंह शर्मा को हिन्दी-समालोचना के संवर्द्धन-काल मे दिए जाने वाले महत्त्व का मूल कारण उनकी 'बिहारी की सतसई की आलोचना' है। वैसे तो उनके पूर्व भी बिहारी की सतसई एक लोकप्रिय रचना रही है और उस पर ब्रजभाषा तथा खडी बोली के गद्य-पद्य मे अनेक टीकाएँ भी लिखी गई है, किन्तु शर्मा जी ने उसके भाष्य की भूमिका के रूप मे तुलनात्मक समालोचना-पद्धति को आदर्श बना कर उसका जो काव्य-सौष्ठव विवेचित किया है, वह अभूत-पूर्व है। कहा जा सकता है कि जिस प्रकार शर्मा जी ने सतसई की टीका और भाष्य लिख कर बिहारी को विश्व-साहित्य के महान् कवियो की श्रेणी मे अधिकृत रूप से प्रतिष्ठित किया है तो बिहारी ने भी मानो ऐसे विद्वान और गुणग्राही समालोचक के लिए अपना रचनात्मक साहित्य प्रस्तुत कर उसे समालोचना क्षेत्र मे अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करने का अवसर दिया है। शर्मा जी के पूर्व इस प्रकार बिहारी का गुण-संस्तव किसी भी आलोचक द्वारा नही किया गया था। इस क्षेत्र मे उनकी समालोचना वस्तुत विशिष्ट प्रकार की थी, अत विद्वानो का ध्यान उसकी ओर नैसर्गिक स्वरूप मे आकृष्ट हुआ और वे समालोचना-क्षेत्र के महान् महारथी समझे जाने लगे। हिन्दी समालोचना के संवर्धन-काल के प्रारम्भिक चरण मे उनके समान प्रखर प्रतिभा-सम्पन्न मेधावी समालोचक बहुत कम थे, जिन्होने इस प्रकार कवियो के रचना-कौशल का विश्लेषण तुलनात्मक पद्धति से किया हो। उनकी इस प्रकार की समालोचना का इससे अधिक और क्या महत्त्व हो सकता है कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने स०१९७९-८० मे बारह सौ रुपयो का मगलाप्रसाद पारितोषिक अपने कानपुर मे आयोजित त्रयोदश वार्षिक अधिवेशन पर राजर्षि श्री पुरुषोत्तम दास टडन के सभापतित्व मे उन्हे प्रदान किया। उस वर्ष के निर्णायको ने उनकी 'सतसई' को हिन्दी समालोचना जगत् का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ घोषित किया था। समालोचना के तत्का-लीन स्वरूप को देखते हुए वह निर्णय वस्तुत समीचीन ही था, क्योकि जिस प्रकार और प्रणाली की समालोचना पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी की सतसई' का विशद विश्लेषण करते हुए लिखी थी, वैसी उनके पूर्व किसी भी समालोचक द्वारा नही लिखी गई। आज उनकी समालोचना के पश्चात् हिन्दी-समीक्षा अनेक प्रकार की निम्नोन्नत श्रेणियो को पार कर अपने रूप तथा प्रकार

मे अत्यधिक विकासपूर्ण बन गई है, किन्तु शर्मा जी द्वारा प्रतिष्ठित समालोचना-पद्धति को उसी क्रम मे विकासोन्मुख बनाने का सुष्ठु प्रयास बहुत ही कम हुआ है। मेरी दृष्टि मे उनकी सतसई मे तुलना और प्रभावाभिव्यजन का ऐसा सुन्दर समन्वय है जिसमे उनका प्रच्छन्न पाडित्य मिल कर उसे समीक्षा-त्रिवेणी का भव्य विधान प्रदान करने मे पूर्ण समर्थ है।

६३ पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी की सतसई की विशद् समालोचना लिखकर हिन्दी साहित्यालोचन के क्षेत्र मे एक नवीन परम्परा का उन्मेष किया है। उस युग मे उनके पूर्व प० रामचन्द्र शुक्ल के अतिरिक्त कदाचित् ही किसी अन्य समालोचक ने इस प्रकार की प्रबन्धपूर्ण समालोचना लिखी हो। वैसे तो सस्कृत साहित्य मे भी कवियो की पारस्परिक तुलना का विधान रहा है, किन्तु वह सूत्र-प्रणाली से अधिक विशद नही कहा जा सकता। सस्कृत के अनुकरण पर हिन्दी-साहित्य मे भी तुलना की जो विधा पूर्ववर्ती युग मे प्रचलित रही, वह भी अत्यधिक अपर्याप्त और सूत्रबद्ध थी। उसके पर्यालोचन से अनुमान होता है कि तत्कालीन समालोचक तुलना की कोई निश्चित् दृष्टि अथवा निर्धारित प्रतिमान न बना पाने के कारण ऐसे कवियो को भी समीक्षण-तुला पर अधिष्ठित करने के लिए उद्यत हो जाते थे जिनके भाव-पक्ष और कला-पक्ष मे किसी भी प्रकार का कोई साम्य ही नही होता था। अभिप्राय यह है कि हिन्दी समीक्षा-जगत मे भी तुलना की प्राचीन परम्परा के मूल बिन्दु थे अवश्य, किन्तु जिस शिल्प-विधान और प्रक्रिया-पद्धति मे प० पद्मसिंह जी ने उसे नवीन उद्भावना प्रदान की, वह पूर्वयुग की अपेक्षा मौलिक और अभिनदनीय थी, अतः इस दृष्टि से उन्हे आधुनिक हिन्दी-समालोचना मे तुलनात्मक प्रणाली का वास्तविक उन्नायक कहना अत्युक्तिपूर्ण नही माना जा सकता।

वैयक्तिक अभिरुचि और प्रभावाभिव्यजन की मात्रा

६४. यो तो शर्मा जी ने सतसई की समालोचना मे वैयक्तिक रुचि और प्रभावाभिव्यंजक पद्धति का ही प्रधानतः प्रयोग किया है, किन्तु उसका एक शास्त्रीय आधार भी अवश्य है। वह शास्त्रीय आधार रूढिग्रस्त और सकुचित नियमबद्धता की प्रणाली से मुक्त और स्वच्छदतावादी विधि मे प्रयुक्त हुआ है। उन्होने अपनी समालोचना के प्रारम्भिक वक्तव्य मे कविता की उपयोगिता और महत्त्व का विवेचन कर अपनी समालोचना को प्रतिष्ठित करने की एक पीठिका प्रस्तुत कर ली है, जिसका मच शृंगार के मणि रत्नो से आलोकित है। कहा जा सकता है कि शर्मा जी का शृगार रस का यह विवेचन अत्यन्त भावमय और आह्लादजनक है। अपने कथन को परिपुष्ट बनाने के लिए उन्होने शृगार के माहात्म्य को अनेक सुधीजनो की उक्तियो से विभूषित किया है, जिसका मूल प्रयोजन यह सिद्ध करने का है कि बिहारी ने जिस क्षेत्र मे अपनी प्रतिभा का प्रसार किया, वह वस्तुत. मानव-जीवन का अत्यन्त आकर्षक और भव्यतम पक्ष है। इस विवेचन मे उन्होने उन लोगो की मनोवृत्ति का भी तार्किक खडन किया है जो शृगार को अश्लीलता का पर्याय समझकर उस पर नाक भौ सिकोडते हैं और बिहारी के काव्य मे किसी भी प्रकार का उज्ज्वल पक्ष नही पाते। द्विवेदी युग मे इस प्रकार की पूर्व-पीठिका के आधार पर काव्यालोचन की पद्धति का बहुत कम विकास हुआ था, अत. इस दृष्टि से भी शर्मा जी के कार्य का महत्त्व स्वत. सिद्ध हो जाता है। यह बात अवश्य है कि इस प्रकार की समालोचनात्मक प्रणाली से अनेक बार अपने पक्ष-समर्थन का अनुचित आतिरेक्य भी व्यजित होने से नही बच पाता।

६५. शर्मा जी ने बिहारी की सतसई की जो इतनी विशद् विवेचना की, उसका मूल कारण तो उनकी आतरिक अभिरुचि अथवा मानसिक प्रवृत्ति तो थी ही; किन्तु उसका बाह्य कारण एक और भी है। वह यह कि उन्हे संवत् १९६७ विक्रमी मे प्रायः वर्ष भर 'सरस्वती' पत्रिका मे सतसई की एक प्रसिद्ध टीका पर 'सतसई-सहार' शीर्षक एक कटु आलोचना लिखनी पडी, जिसने

विद्वत्-समाज का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया और जिसका परिणाम यह हुआ कि उन्हे अपनी अभिरुचि तथा पाठकों के सानुरोध निवेदन के कारण सतसई का भाष्य और समीक्षण करना पडा। ऐसा करते हुए शर्मा जी ने सतसई की समस्त उपलब्ध टीकाओ और विवेचनाओ का उपयोग किया था और उन सबके अध्ययन के पश्चात् उनके मानस-लोक मे जो प्रतिक्रिया हुई, उसी का परिणाम हुआ सतसई की समालोचना। सचमुच इस प्रकार की तुलनात्मक समालोचना का मार्ग उन्होने हिन्दी-साहित्य मे स्वय निकाला है और ऐसा करते हुए पाश्चात्य साहित्य और भारतीय तथा अरबी साहित्य-परम्परा का भी यथावसर प्रयोग किया है। इसमे कोई सन्देह नही कि तुलनात्मक समालोचना को सुन्दर अभिव्यक्ति और रूप-रचना प्रदान करने के लिए उन्हे अन्यान्य साहित्यो का भी गम्भीर और अत स्पर्शी अध्ययन करना पडा था, क्योकि यह स्वाभाविक है कि जब तक इस प्रणाली मे प्रवृत्त होने वाले समालोचक का अध्ययन व्यापक नही होता, तब तक उसे इस कार्य मे सफलता नही मिल सकती। मेरी समझ मे शर्मा जी का यह प्रयास अपने ढग का सर्वप्रथम प्रयास है और यही कारण है कि इसने हिन्दी-प्रेमी सुशिक्षित जनो का ध्यान समालोचना जैसे शुष्क और गम्भीर समझे जाने वाले विषय की ओर जितनी शीघ्रता से आकर्षित किया, उतना किसी अन्य समालोचक की कृति ने नही। सच तो यह है कि शर्मा जी की इस समालोचना को पढ कर अनेक रसिक-जनो ने बिहारी की सतसई का आद्योपात अध्ययन किया और उसके काव्य-सौरस्य का आस्वादन कर अपने को कृतकृत्य बनाया। इस प्रकार उनकी यह समालोचना एक ओर जहाँ हिन्दी के रचनात्मक साहित्य के प्रचार और प्रसार मे सहयोगी बनी तो दूसरी ओर उसने अपने समकालीन अनेक समालोचको को भी नवीन स्फूर्ति और पथ-निर्देश प्रदान किये।

९६. कहा जा सकता है कि जिस प्रकार बिहारी की गणना हिन्दी नवरत्नो मे कराने का एकमात्र आधार उनकी सतसई है, उसी प्रकार पं० पद्मसिंह शर्मा को भी हिन्दी समालोचना क्षेत्र मे गौरवमय अधिष्ठान प्रदान करने का मूल कारण उनकी बिहारी सतसई की समालोचना है। चूँकि हिन्दी साहित्य मे इस प्रकार का अभिनव प्रयास सर्वप्रथम उन्ही के द्वारा किया गया था, अत. उसमे त्रुटियाँ होनी भी स्वाभाविक थी। किन्तु इस तथ्य का भी निषेध नही किया जा सकता कि शर्मा जी को इस क्षेत्र मे सफलता प्राप्त करने का ही अधिक श्रेय प्राप्त है। अपने प्रकृत विषय पर आने के पूर्व उन्होने सतसई के उद्भव और विकास का जो शोधपूर्ण विश्लेषण किया है, वह उनके व्यापक अध्ययन का प्रतीक है। यह विश्लेषण मूल विवेच्य विषय से विच्छिन्न नही कहा जा सकता, क्योकि आगे चल कर उन्होने गाथा सप्तशती, आर्यासप्तशती तथा अमरुकशतक आदि सस्कृत ग्रन्थो से जो बिहारी के दोहो की तुलना की है, उनकी पृष्ठभूमि मे इनका परिचय आवश्यक था। अपनी तुलना को पूर्ण बनाने के लिए उन्हे सस्कृत, प्राकृत, उर्दू और फारसी के साथ-साथ हिन्दी के भी अनेक कवियो की कृतियो का गम्भीर अध्ययन करना पडा था और तब कही जाकर वे बिहारी के साथ उनके साम्य का अतसूत्र अन्वेषित कर सके थे। अत इस दृष्टि से भी उनकी यह समालोचना महिमामडित ही कही जायगी।

समालोचना में तारतम्य, वैज्ञानिकता और व्याख्यात्मक अंश

९७. शर्मा जी की समालोचना मे एक तारतम्य और वैज्ञानिकता है। अपने समालोच्य विषय मे अवतीर्ण होने के पूर्व उन्होने अपने सरक्षण और समर्थन की पूरी मोर्चाबन्दी सी कर ली है। उन्होने 'गाथा-सप्तशती, 'आर्यासप्तशती' और 'अमरुकशतक' को बिहारी की सतसई के तीन आदर्श ग्रन्थ माने हैं। वे स्वयम् इस बात को स्वीकार करते है कि बिहारी ने उक्त ग्रन्थो के अनेक काव्यांशो से सामग्री ली है किन्तु उनका यह कार्य 'चौर-कर्म' नही कहा जा सकता, क्योकि उन्होंने

जिन भावो को लिया भी है, उन्हे अपने व्यक्तित्व से अतिरंजित कर उन्हे मौलिक सा बना दिया है।[1] अपने पक्ष को शास्त्रीय सिद्ध करने के लिए उन्होने 'ध्वन्यालोक' तथा 'काव्य-मीमासा' से उदाहरण देकर अर्थापहरण की अत्यन्त विशद् और मार्मिक मीमासा की है जिसका मूल प्रयोजन यही सिद्ध करने का है कि यदि बिहारी के काव्य मे पूर्ववर्ती कवियो की छाया प्रतिविम्बित भी हो जाय तो उसे उनका दोष मानना अनुचित होगा। शर्मा जी का यह समर्थन वैसा ही है जैसा आधुनिक वाक्कील अथवा धारा-शास्त्री अपने पक्ष को सच्चा सिद्ध करने के लिए सविधान का सहारा लेकर उसकी अभ्यर्थना मे करते है।

९८ शर्मा जी की समालोचना का व्याख्यात्मक अश अत्यन्त आकर्षक है। वे बिहारी के दोहो को सर्वोपरि सिद्ध करने के लिए उनके एक एक शब्द और अक्षर को लेकर उनके सूक्ष्माति-सूक्ष्म अशो तक पहुँचे है और उनके साम्यमूलक अन्य कवियो के काव्याशो के उदाहरण देकर बिहारी की उच्चता और भी व्यापक और पुष्ट धरातल पर सिद्ध कर सके है। उनका तो निर्भीक निर्णय है कि इतर विद्वान् चाहे बिहारी के दोहो को लेकर कितनी ही विवेचनाएँ करे अथवा उन पर कु डलिया या कवित्त लिखे किन्तु बिहारी ने छोटे से छदो की गागर मे जो भाव-सौन्दर्य का सागर भर दिया है, उसकी समता की ही नही जा सकती। वे कहते है

"जरा से दोहे मे जो अर्थ सिमट बैठा था, वह वहाँ से निकलते ही इतना फैला कि कु डलियो और कवित्तो के बडे मैदान मे नही समा सका। मानो गगा का समृद्ध वेग प्रवाह है जो शिवजी की लटो से निकल कर फिर किसी के काबू मे नही आता। इजीनियर लाख कारस्तानी कर हारे पर भागीरथी के प्रवाह को किसी बडे से बडे गड्ढे मे भरकर रोक रखना, सामर्थ्य से बाहर की बात है, हो नही सकती, ऐसा हो नही सकता।"[2]

९९, उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि शर्मा जी का यह विवेचन काव्यालोचन न होकर प्रभावाभिव्यजन-प्रणाली मे स्वत. एक भावप्रवण काव्य सा बन गया है। उसमे तथ्यग्रहण की उतनी प्रवृत्ति नही है जितनी आत्म-विभोर होकर समालोच्य विषय की एकमात्र प्रशसा करने की। निश्चय ही इस प्रकार की प्रणाली गद्य-काव्य के सृजन अथवा रचनात्मक साहित्य के निर्माण मे ही अधिक सफल हो सकती है। इससे यह बात तो अवश्य ध्वनित होती है कि समालोचक भी अपनी भावुकता तथा चमत्कृति मे कवि की रस-ससिद्धि के निकट पहुँचने मे प्रयत्नशील है, किन्तु वह उसका भावन करने मे अपना मानसिक संतुलन खोकर कवि के हाथो मे केवल आत्मसमर्पण कर देता है, जिससे उसका बौद्धिक पक्ष उभरने के स्थान पर और अधिक दब जाता है। यो तो अनतोले फ्रास आदि पश्चिमी विचारको ने भी इस प्रकार की प्रभावाभिव्यंजनवादी प्रणाली को समालोचना की सर्वश्रेष्ठ पद्धति माना है, किन्तु ऐसा करना सभवत अधिक उचित नही है, क्योकि काव्य-परीक्षण मे यदि इस प्रकार की प्रणाली का प्रयोग किया जाय तो वह समालोचना न होकर एक दूसरी भावमय कविता बन जाती है, जिसके द्वारा किसी निर्णय पर पहुँचना तो असम्भव सा है। शर्मा जी की समालोचना मे इस प्रकार की प्रवृत्ति अधिकाशतः मिलती है जो अपनी विशिष्टता मे अद्वितीय होने पर भी समालोचना के गम्भीर दायित्व को वहन करने मे अधिक समर्थ नही है। बिहारी जैसे शृ गारी कवि के काव्य-विश्लेषण मे इसकी उपयोगिता एक सीमा तक भले ही स्वीकार कर ली जाय, किन्तु काव्यलोचन का गम्भीर विश्लेषण तो इसमे किया ही नही जा सकता। अत इसका महत्त्व विशेष सीमाओ मे ही ग्राह्य समझा जाना चाहिए। प० रामचन्द्र शुक्ल ने भी

१. पदमसिंह शर्मा . बिहारी की सतसई, पहला भाग, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ३२।
२. वही, पृष्ठ ३२।

इस प्रकार की प्रभावाभिव्यजक समीक्षा को कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु नही माना है और उसे आलोचना तक कहना व्यर्थ समझा है।

पूर्वग्रह तथा काव्य-सौष्ठव-विधान

१००. शर्मा जी ने अपनी समालोचना मे बार-बार यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि बिहारी हिन्दी साहित्य के अनुपम कवि हैं और उनकी सतसई-प्रणाली का महत्त्व सर्वोत्कृष्ट है। बिहारी के पक्ष-समर्थन का उन्हे इतना अधिक व्यामोह है कि वे उसके सम्बन्ध मे किसी भी समालोचक की प्रतिकूल विवेचना को सुनना ही नही चाहते और यदि कोई बिहारी के दोहो की समता मे किसी अन्य कवि की रचनाओ को रखने का साहस भी करता है तो वे उसका भद्दे से भद्दा उपहास करने मे नही चूकते। उनका इस प्रकार का विवेचन कई स्थलो पर उन वक्ताओ अथवा मल्ल-योद्धाओ का सा हो गया है जो मच अथवा अखाडो मे अपना ही एकछत्र आधिपत्य चाहते है और जिनमे विरोधी के सत्य-कथन के श्रवण की भी सहिष्णुता नही होती। ऐसी परिस्थिति मे उनकी समालोचना एकपक्षीय और पूर्वग्रही-मात्र ही अधिक बन सकी है। यह बात निश्चित है कि इस प्रकार की समालोचना द्वारा अपने मन. प्रिय कवि के काव्य-सौन्दर्य का सूक्ष्म तथा व्यापक विवेचन अवश्य हो जाता है। शर्मा जी ने बिहारी के दोहो का काव्य-सौन्दर्य और कला-चातुर्य जिस विधि से व्याख्यात किया है, वैसा अन्य किसी भी समालोचक द्वारा नही किया गया, अत· इस दृष्टि से तो उनका समालोचना-साहित्य की सवर्धना मे महत्त्व स्वीकार करना ही पडता है।

१०१. शर्मा जी की समालोचना मे 'बिहारी-सतसई' का सौष्ठव प्राय. सवा सौ पृष्ठो मे विवेचित हुआ है। इस सौष्ठव-समीक्षण के पूर्व उन्होने 'गाथा-सप्तशती' और 'आर्यासप्तशती' से बिहारी के दोहो का मुकाबिला किया है। ऐसा करने के लिए उन्होने अपनी अभिरुचि के अनुकूल ऐसे अनेक दोहो का सचयन कर लिया है, जिनके भाव-साम्य के काव्याश उन्हे इतर कवियो मे मिले हैं और तदुपरात तुलनात्मक प्रणाली मे दोहो और उनकी समता मे रखे गये अन्य छदो का भाव-विश्लेषण करते हुए बडी सूक्ष्मता और तार्किकता से उनका पारस्परिक अतर स्पष्ट कर दोहो को विजय-श्री प्रदान की है। इस विवेचन के अध्ययन से काव्य का सा आनन्द मिलता है क्योकि दोहो की समता में रखे गये विविध छन्द भी अपनी छटा मे उनसे कम नही है। सचमुच ऐसा करते समय विद्वान् समालोचक को दोहो के अनुकूल छदों का अनुसंधान करने मे बडा परिश्रम करना पडा है। उनकी तुलना का एक विधान निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा .—

"क्या अच्छी सूझी है, इन हजरत ने यदि बिहारी से केशो की करामात सुनी होती तो ऐसी फिजूल आरजू कभी न करते। अरे बाबा, आँखे ज्यो त्यो करके निकाल भी ली तो क्या हुआ ? इस नागन के मुँह मे से तो मन तो नही निकाल सकोगे।"[1]

तुलना के अन्तर्गत इस प्रकार की न जाने कितनी उक्तिया भरी पडी है, जिनको समालोचना कहना बड़े साहस का काम है। कहने का अभिप्राय यह है कि शर्मा जी ने सतसई का सौष्ठव निरूपित करने के लिए सस्कृत, प्राकृत, उर्दू, फारसी तथा हिन्दी के अनेक कवियो के काव्याशो के उद्धरण दे कर इसी प्रकार उन्हे बिहारी की प्रतिभा से हीन सिद्ध करने का प्रयास किया है।

१०२. शर्मा जी की समालोचना की शुक्ल जी ने एक सीमा तक प्रशंसा करते हुए उसे रूढिगत ही माना है और उसमे 'बिना जरूरत के जगह-जगह चुहलबाजी और शाबासी की महफिली तर्ज' को एक खटकने वाली बात कहा है,[2] किन्तु इससे उसका उज्ज्वल पक्ष छिप नही जाता। वस्तुत· उसमे उस साहित्य-परम्परा का बहुत ही अच्छा उद्घाटन है जिसके अनुकरण पर बिहारी ने अपनी सतसई की

१. प॰ पदम सिंह शर्मा : बिहारी की सतसई सतसई का काव्य-सौष्ठव, पृष्ठ ७१।

२. प॰ रामचन्द्र शुक्ल . हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५३०।

की रचना की थी। शर्मा जी ने विवेचन के अन्तर्गत शास्त्र-सम्मत प्रावैधिक शब्दो का प्रयोग कर उनके सत्य को उद्घाटित किया है और ऐसे शब्दो पर विशेष बल दिया है जो हमारे काव्य-शास्त्र की विवेचना के मूल आधार रहे है। ऐसे प्रयुक्त शब्दो से यह अनुमान सहज ही लग सकता है कि शर्मा जी मे केवल शब्दो का वाह्याडम्बर ही नही, अपितु काव्य-शास्त्र के अध्ययन से उद्भूत व्यक्तित्व भी है। उन्होने शास्त्रीय विवेचन को भी अपनी भावमयी शैली मे शर्करामिश्रित बनाकर ऐसे विधान मे समुपस्थित किया है, जिसमे रूक्षता का कही अशमात्र भी नही आ सका है। उदाहरणार्थ वे एक स्थल पर बिहारी के विरह-वर्णन की विचित्रता का उद्घाटन करने के लिए अलकार-शास्त्र की शब्दावली का प्रयोग करते हुए लिखते है :

"अन्य कवियो की अपेक्षा बिहारी ने विरह का वर्णन बडी विचित्रता से किया है, इनके इस वर्णन मे एक निराला बाँकपन है, कुछ विशेष वक्रता है, व्यग्य का प्राबल्य है, अतिशयोक्ति का (जो कविता की जान और रस की खान है) और अत्युक्ति का अत्युत्तम उदाहरण है, जिस पर रसिक सुजान सौजान से फिदा है।"[1]

तुलनात्मकता का आधिक्य और इतर समीक्षकों पर आक्षेप

१०३ शर्मा जी की समालोचनाओ मे तुलनात्मक प्रवृत्ति सर्वत्र परिलक्षित है। उन्होने बिहारी के काव्य की विशेषताओ के सम्बन्ध मे साधारण से साधारण बात कहते समय भी उसको सौष्ठव प्रदान करने के लिए उनके समकालीन अथवा पूर्ववर्ती कवियो के साम्यमूलक उद्धरण अवश्य दिए है। उनका विवेचन चाहे विरह-वर्णन से सम्बन्धित हो अथवा पाडित्य प्रदर्शन से सदर्भित, वे तो सर्वत्र बिहारी की सर्वाधिक सम्पन्न स्थिति के लिए तर्कपूर्ण सकेत निकाल ही लेते हैं। इतना ही नही, उन्हे बिहारी के काव्य में कही कोई दोषोद्भावना भी मिली है तो उसका परिहार भी उन्होने अपने पाडित्यपूर्ण विवेचन से कर दिया है। उन्हे बिहारी का काव्य ऐसी 'खाड की रोटी के समान लगा है जिसको जिधर से तोडिए, उसका मीठापन कम न होगा।'[2] उनकी समालोचनाओ मे सैद्धान्तिक वाक्यावली भी प्रयुक्त हुई है, किन्तु उनकी भावपूर्ण व्याख्या के आगे उसकी मूलभूत छटा निष्प्रभ है। बिहारी के कवित्व और व्यापक पाडित्य की प्रकृत भूमि पर अवतीर्ण होने के पूर्व उन्होने सिद्धान्त-पक्ष के रूप मे इस प्रकार की भूमिकाएँ भी बाँधी हैं :

"कवि प्रकृति का पुरोहित होता है। जिस प्रकार पुरोहित के लिए यजमान के समस्त कुलाचारो और रीति-रिवाजो का अतरग ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार कवि को भी प्रकृति के रहस्यो का मर्मज्ञ होना उचित है। प्रकृति के छिपे और खुले भेदो को सर्वसाधारण के सामने मनोहर रूप मे प्रकट करना ही कवि का काम है। अज्ञेय मीमासा करने बैठना, आकाश के तारे तोडने दौडना कवि का काम नही है।"[3]

१०४. शर्मा जी के सैद्धान्तिक पक्ष के मूल मे भी बिहारी के कलापूर्ण काव्य और पाडित्यपूर्ण प्रदर्शन की ही भावना मुख्य है। उन्होने बिहारी की बहुज्ञता सिद्ध करने तथा उनकी प्रतिभा का विस्तार बतलाने के लिए ऐसे अनेक दोहो की मीमासा की है, जिनसे बिहारी का गणित, ज्योतिष, वैद्यक, दर्शन, राजनीति, इतिहास, पुराण और भक्तिमार्ग आदि विविध विषयो

१. प० पद्मसिंह शर्मा : बिहारी की सतसई, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १६०।

२. वही, पृष्ठ २१३।

३. वही, पृष्ठ २१४।

का गम्भीर ज्ञान सिद्ध होता है। ऐसा करते समय वे कई स्थलो पर तो इतने अधिक भावमग्न हो गए हैं कि उन्हे उक्त विषयो से सम्बन्धित साधारण उक्ति भी किसी मौलिक सूझ और महती कल्पना से कम नही लगती। सच तो यह है कि प० पद्मसिह शर्मा को बिहारी के काव्य मे सर्वत्र गुण और चमत्कार ही नजर आते थे, अत उन्होने उनके प्रदर्शन के साथ-साथ उन समालोचको की भी कटु आलोचना की, जिन्होने बिहारी के काव्य मे दोष-दर्शन का प्रयास किया था। ऐसे विद्वानो को उन्होने खूब आडे हाथो लिया है और अपनी व्यग्यपूर्ण शैली मे उन्हे समालोच्य विषय से अनभिज्ञ सिद्ध किया है। यह एक स्मरण रखने योग्य बात है कि शर्मा जी ने जिन विद्वानो और समालोचको की खबर ली है, उनमे साहित्याचार्य प० अम्बिकादत्त व्यास और मिश्रबन्धु प्रधान थे। व्यास जी ने अपनी 'बिहारी-बिहार' नामक रचना मे बिहारी के दोहो मे ग्राम्यदोष, रूपको का अनौचित्य, अश्लीलता और वीभत्स तथा कुछ स्थलो पर उत्तम उक्ति मे न्यूनता आदि का निर्देश किया था, जिन्हे लेकर शर्मा जी उन पर बरस पडे हैं और उनके द्वारा निर्दिष्ट दोषो को ही उन्होने गुण सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनके इस विवेचन को साहित्यालोचन मे प्रयुक्त वैयक्तिक अभिरुचि की दृष्टि से भले ही समुचित कह दिया जाय, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर उसमे शर्मा जी की भी हठधर्मी झलके बिना नही रहती। इसी प्रकार उन्होने मिश्रबन्धुओ के 'हिन्दी-नवरत्न' मे निर्दिष्ट बिहारी के कतिपय न्यून पक्षो का भी विश्लेषण कर उनके द्वारा समीक्षित निंद्य भाव को भी शृगार रस का छलकता हुआ प्याला कहा है। अभिप्राय यह है कि शर्मा जी की बिहारी की सतसई आदि से अंत तक अपने प्रिय कवि के काव्य की वकालत है, जिसकी चपेट मे अनेक कवि और समालोचक भी यथाप्रसग आने से नही बच सके है। इस प्रकार की समालोचनाओ से अपने रुचि-प्रिय कवि की सूक्ष्म से सूक्ष्म विशेषताओं का उद्घाटन भले ही हो जाय, किन्तु सीमित ज्ञान वाले पाठक के लिए बहकाने के अवसर भी कम नही होते।

१०५. प० पद्मसिह शर्मा की समालोचना का एक परिशिष्ट यह भी है कि उन्होने बिहारी सतसई की 'भावार्थ-प्रकाशिका टीका' की समालोचना 'सतसई-सहार' शीर्षक से की है, जिसमे उन्होने बिहारी के कुछ दोहो को लेकर मिश्र जी की टीका के अनेक प्रकार के दोषो का विवेचन विस्तारपूर्वक किया है। कहना होगा, शर्मा जी ने जिस प्रकार बिहारी के काव्य-सौष्ठव का गुणगान करते हुए अपनी समालोचनाओ मे उन्हे सस्कृत, प्राकृत, उर्दू, फारसी तथा हिन्दी के अन्यान्य कवियो से असाधारण एवम् विशिष्ट श्रेणी प्रदान की थी, उसी प्रकार उन्होने 'सतसई-संहार' मे मिश्र जी की टीका को उस महाकवि के मूल अश क विध्वंसक सिद्ध कर उसे दो कौडी की भी नही बतलाया है। निस्सन्देह ऐसा करते हुए पद्मसिह जी का दृष्टिकोण अत्यन्त कठोर और कही-कही पर अशिष्ट भी हो गया है। यह तो नही कहा जा सकता कि उन्होने 'विद्या-वारिधि जी' पर जो टीकागत लाछन लगाए है वे सर्वथा निराधार है, किन्तु उनसे विद्वान् समालोचक की हल्की मनोवृत्ति भी झलके बिना नही रहती। समालोचना के बीच-बीच मे उनके द्वारा किए गए व्यग्य बहुत ही तीक्ष्ण और मर्मभेदी हैं। उनकी विवेचन शैली प्राय: वैसी ही है जैसी द्विवेदी युग की वाद-प्रतिवाद-प्रणाली मे अनेक सम्भ्रान्त विद्वानो द्वारा भी प्रयुक्त की जाती थी। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और बाबू बालमुकुन्द गुप्त मे 'भाषा की अनस्थिरता' और 'व्याकरण-विचार' विषय को लेकर जो अशोभनीय वाद-विवाद चला था, उसकी छाया शर्मा जी के इस विवेचन पर भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार की समालोचना लिखने वाले व्यक्तियो का ध्यान मुख्य विषय के सतुलित प्रतिपादन की ओर न होकर केवल समालोच्य विषय के दोषान्वेषण का ही अधिक रहता है। पद्मसिह जी ने भी मिश्र जी की 'विद्या-वारिधि', 'व्याख्यानवाचस्पति' आदि उपाधियो पर कठोर व्यग्य किए है और इस प्रकार उनकी यह समालोचना साहित्य-समीक्षा की अपेक्षा वैयक्तिक वैमनस्य की निर्देशिका अधिक मात्रा मे बन गई है। शर्मा जी ने मिश्र जी की टीका को तो दोषपूर्ण सिद्ध

किया ही है, साथ ही साथ उनके अलंकार-निरूपण को भी भ्रात और अशुद्ध बतलाया है। अपने पक्ष-समर्थन मे शास्त्रीयता का आधार लेकर उन्होने खडन-मडन की प्रणाली को और अधिक सपुष्ट बनाया है। इस समालोचना से शर्मा जी का प्रतिपाद्य प्रयोजन यही है कि बिहारी जैसे कवि के काव्य-रत्नो का सहार विद्यावारिधि जी की निर्मम लेखनी से हुआ, जिसके कारण उसकी यश-चन्द्रिका मे कलक ही लगा। अतएव शर्मा जी के मतनुसार सतसई की 'भावार्थ प्रकाशित टीका' सतसई के मूल अर्थ का सहार करने वाली है और उसके लेखक ने भूमिका मे जो इस बात का उल्लेख किया है कि टीका करते समय कई सतसई हमारे सम्मुख रही, वह निरर्थक और तथ्यहीन है। यहाँ इसी प्रसग मे इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि विद्यावारिधि जी की टीका का प्रकाशन सवत् १९६० मे श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से हुआ था और उसकी आलोचना शर्मा जी ने उसी समय के आसपास की थी, जिसमे तत्कालीन समालोचना-वृत्ति के अनेक तत्वो का सयोजन सहज भाव से अन्वेषित किया जा सकता है।

समालोचना के अन्य विषय तथा कार्यों का मूल्यांकन

१०६. तुलनात्मक समालोचना के साथ-साथ प० पद्मसिंह शर्मा ने साहित्य और समाज से सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर अनेक निबन्ध भी लिखे हैं, जिसका प्रकाशन 'पद्म-पराग' के नाम से हो चुका है। उन्होने हिन्दुस्तानी एकेडमी के अनुरोध पर हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी विषय पर जो भाषण दिया था, वह भी उनके सुलझे हुए विचारो की विवेचना करने मे यथेष्ट सहायक है। तुलनात्मक समालोचना पद्धति का सघटन तो उसकी कृतियो का मूलाधार ही है। अपनी इस पद्धति और बिहारी विषयक मान्यताओ का निष्कर्ष उन्होने सतसई के उपसहार मे जिस रूप मे दिया है वह उनके दृष्टिकोण को समझने का सर्वोत्कृष्ट साधन है। उनका निम्नलिखित उद्धरण इस कथन की पुष्टि का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रमाण होगा.—

"तुलनात्मक समालोचना का उद्देश्य भारतीय साहित्य के विधाता सस्कृत कवियों का अपमान करना नही है, उन पर लेखक की बिहारी से भी अधिक पूज्य बुद्धि है, सस्कृत कवियो के भाव के साम्य को ही वह बिहारी के काव्योत्कर्ष का कारण समझता है। सस्कृत कवि उपमान है। बिहारी उपमेय है। उपमान और उपमेय मे जो भेद है, वह स्पष्ट है। कही-कही जो व्यतिरेक प्रदर्शन है, वह मतिभ्रममूलक हो सकता है, बुद्धिपूर्वक पक्षपातजन्य नही।"[1]

१०७. आचार्य नददुलारे वाजपेयी ने प. पद्मसिंह शर्मा को 'शृगारिक परम्परा का आलोचक' माना है, किन्तु उनके इस कथन का यह आशय नही है कि वे शृंगारिकता से सम्बन्धित थे। सच तो यह है कि पद्मसिंह जी ने रीतिकालीन कविता और बिहारी के काव्य को एक सौष्ठवपूर्ण दृष्टि से देखा था और वे उसकी शब्दार्थगत शक्तियो का विवेचन पूर्ण तन्मयता से कर सके थे। सस्कृत साहित्य-शास्त्र मे उनका गम्भीर प्रवेश था और वे अरबी-फारसी के भी विद्वान् थे, अत. उन्होने बिहारी के काव्य का समीक्षण करते हुए भाव-साम्य अथवा अर्थ-सौरस्य की अभिव्यजना के आधार पर समालोचना-क्षेत्र मे एक ऐसी शैली को जन्म दिया जिसे तुलनात्मक प्रणाली कहा जा सकता है। यद्यपि उनके पूर्व भी कवियो के काव्य की तुलना की परम्परा सस्कृत-साहित्य से होती हुई हिन्दी-साहित्य मे आई थी, किन्तु उसका रूप केवल सूत्रगत ही रहा। शर्मा जी ने उसको भाष्य का विधान प्रदान किया और वे तुलना के अतर्गत शब्द-शक्ति और अभिव्यजना की सूक्ष्मता की ओर भी जा सके। वस्तुत. उनका यह प्रयास हिन्दी समालोचना के विकास मे एक

---

१. प० पद्मसिंह शर्मा बिहारी की सतसई, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २७३।

नवीन विधा का प्रेरक था जो कालातर मे उतना प्रौढ नही बन सका जितना समयानुकूल रूप से बनना चाहिए।

१०८. पं. पद्मसिंह जी की समालोचना पद्धति का हिन्दी समीक्षा क्षेत्र मे एक निर्धारित व्यक्तित्व है। उसके प्रतिमान आज पुरातन और जीर्ण हो चले है, किन्तु उनका ऐतिहासिक महत्त्व अक्षुण्ण है। समालोचना के संवर्धनकाल द्विवेदी-युग मे तो उसका प्रवाह निश्चय ही विशिष्ट श्रेणी का रहा है और आज का समालोचना-साहित्य का अनुसंधित्सु उसकी उपेक्षा कर चल ही नही सकता। फिर भी यह भी कहना बडा कठिन है कि उनकी समीक्षा-पद्धति से कवि और उसके काव्य की आत्मा तक पहुँचने का कोई मार्ग अन्वेषित किया जा सका है या नही। वास्तविकता तो यह है कि शर्मा जी शब्दो के पारखी और उनकी प्राण-शक्ति के जादूगर थे, अत वे अधिकाशत केवल समालोचना के शरीर-पक्ष का ही उद्घाटन कर सके और उनके द्वारा कवि के मानसिक सस्थान और सामाजिक परिवेश का वह सूक्ष्म निरूपण नही हो सका जो उनके परवर्ती काल मे हुआ। फिर भी उनकी समालोचनाओ से यह अवश्य व्यक्त हो गया कि बिहारी हिन्दी के उच्चतर महाकवियो मे से एक हैं और उनका साहित्याकलन किसी भी साहित्य-चिंतक के लिए कम महत्त्वपूर्ण नही है। उनकी बिहारी की समालोचना ने हिन्दी के समालोचक-वर्ग का भी ध्यान अन्यान्य कवियो की कृतियो का उसी स्तर· विधि से विश्लेषण करने की ओर आकर्षित किया, जिसका कालातर मे एक दुष्परिणाम यह भी हुआ कि साहित्य-समालोचना के क्षेत्र मे 'देव और बिहारी' अथवा 'सूर और तुलसी' को लेकर अनेक बार असयत विधि मे भी समीक्षागत निर्णय किए गए, जिनसे साहित्यालोचन का प्रकृत क्षेत्र कुछ स्थलो पर कर्दममय सा बन गया।

१०९. यह सब कुछ होते हुए भी यह तो कहना ही पडेगा कि पं० पद्मसिह शर्मा की समालोचना मे अपेक्षित गाम्भीर्य का न्यूनाश भी है। यह एक बडी स्वाभाविक किन्तु विचित्र बात है कि उनके समालोच्य विषयो की गति-विधि में जहाँ हमे एक ओर अपने विगत काल से विकास के चिन्ह मिलते है वहाँ दूसरी ओर उनके गर्भ मे अनागत के प्रस्फुरण बिन्दु भी अतर्हित हैं जो कालक्रम से आगे चलकर नैसर्गिक भाव से विकसित बने थे। आचार्य शुक्ल ने पद्मसिह जी की समालोचना-विधि को 'महफिली तर्ज वाली' कहा है जो यथेष्ट सत्य है, किन्तु केवल इसी निर्णय के प्रति पूर्वग्रही बन कर हमे शर्मा जी के समीक्षा-साहित्य के प्रति सकीर्ण दृष्टिकोण नहीं रखना चाहिए। मुझे तो ऐसा लगता है कि साहित्य-समालोचक का भी एक मानसिक स्तर और उसकी विशेष प्रवृत्ति होती है जो अपने मनोनुकूल साहित्य-स्रष्टा अथवा कला-कृति को पाकर अपने मानसिक सस्थान के अनुरूप ही उसका विवेचन अथवा विश्लेषण करती है। शर्मा जी के लिए भी यह कथन सर्वथा सत्य है। हिन्दी साहित्य और अरबी-फारसी के साहित्य के अध्ययन ने उन्हे जिस श्रेणी का आचार्यत्व प्रदान किया था, उसमे उनकी बहुज्ञता की छाया स्वत: आलोकित थी। अत वे किसी भी कवि का मूल्याकन करते समय अपने प्रगाढ पाडित्य के बल पर उसकी समता की भाव-माधुरी का विवरण देने का लोभ-संवरण नही कर सके और यही कारण है कि उन्होने बिहारी की विस्तृत समालोचना मे सस्कृत, फारसी तथा प्राकृत और हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओ के उन कवियो के साम्यमूलक उदाहरण भी प्रस्तुत किये जिनमे उन्हें अधिक अनुकूलता प्रतीत हुई। चूँकि वे स्वयम् अत्यन्त भावुक और सरस हृदय थे, अतः कवियो की साम्यमूलक भाव-माधुरी, रचना-चातुरी और कला-निर्मिति के समय अपनी तन्मयता से बच कर नही चल सके। यही कारण है कि उनकी समालोचना में प्रयुक्त 'तर्जे अदा' को उनका दोष न मानकर एक वैशिष्ट्य ही समझना चाहिए और आचार्य शुक्ल के उनके प्रति किए गये निर्णय को केवल उज्ज्वल पक्ष के रूप मे ही ग्रहण करना चाहिए। ऐसा करने पर ही उनकी समालोचना-निधि के साथ न्याय-भावना का परिपालन किया जा सकता है।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र

समालोच्य विषय और उनका दृष्टिकोण

११० पं० कृष्णबिहारी मिश्र की समालोचना-क्षेत्र मे ख्याति का प्रधान कारण उनकी 'देव और बिहारी' नामक रचना है, जिसमे उन्होने तुलनात्मक पद्धति का अवलम्बन लेकर दोनो कवियो का काव्य-समीक्षण प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक का प्रेरणा-सूत्र तत्कालीन समालोचना-क्षेत्र मे देव और बिहारी को एक दूसरे से उच्चतर सिद्ध करने का प्रवाद ही प्रतीत होता है, किन्तु मिश्र जी ने यथासम्भव अपने विवेचन को गम्भीर बनाने का प्रयत्न किया है। अपने ग्रन्थ की भूमिका मे उन्होने इस बात का स्पष्ट सकेत किया है कि 'न तो उनका बिहारी से विरोध है और न देव के प्रति पक्षपात'; अत. इन दोनो कवियो की रचनाओ को जैसा कुछ समझा है उससे वे यही राय कायम कर सके है कि 'देव जी बिहारीलालजी की अपेक्षा अच्छे कवि हैं'।[1] मुख्य विषय पर आने के पूर्व उन्होने प्राय. साठ पृष्ठो की भूमिका मे ब्रजभाषा-काव्य मे दुर्बोधता की वृद्धि, भाषा की मधुरता का कविता पर प्रभाव, समालोचना, तुलनात्मक समालोचना और बिहारी के साथ अनुचित पक्षपात शीर्षको के अतर्गत एतद्-विषयक अपनी धारणाएँ व्यक्त की हैं। मिश्र जी ने प्रारम्भ मे उन कारणो का सप्रमाण विवेचन किया है जिनसे ब्रजभाषा काव्य मे दुर्बोधता की वृद्धि हो रही है तथा तदुपरान्त उनके निवारण के उपाय भी स्वमत्या निर्धारित किए हैं। वे इस दुर्बोधता का निवारण करने के लिए यह आवश्यक समझते हैं कि ब्रजभाषा कवियो की रचनाओ के सटीक सस्करण प्रकाशित किए जाएँ जिससे साहित्य-प्रेमियो का ध्यान उनकी रस-सरिता मे अवगाहन करने की ओर उन्मुख हो। यद्यपि वे पं० पद्मसिह शर्मा द्वारा बिहारी की सतसई पर लिखे गए संजीवनी भाष्य की प्रशसा करते हुए उसे 'आधुनिक हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र मे सर्वप्रथम शृखलाबद्ध तुलनात्मक समालोचना'[2] मानते हैं, किन्तु उसके कई स्थलो का वे विरोध भी करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मिश्रजी को काव्य पर भाषा-माधुर्य का प्रभाव मान्य था और वे कविता, चित्र एव सगीत का घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करते हुए उनके शब्द-माधुर्य, वर्ण-लालित्य तथा स्वर-सौन्दर्य को उनकी सफलता का एक प्रमुख कारण समझते थे। यही कारण हैं कि उन्हे ब्रजभाषा की माधुरी अत्यधिक कर्णप्रिय लगी। खडी बोली काव्य के विषय मे उनकी धारणा उस युग के अन्य ब्रजभाषा प्रेमी समालोचको के समान पूर्वाग्रहपूर्ण नही थी और वे यह मानते थे कि उसमे भी उत्तम काव्य-रचना की जा सकती है। उन्होने सस्कृत, अग्रेजी और हिन्दी के कई ग्रन्थो से उदाहरण देते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि 'शब्द-माधुर्य काव्य की सफलता का प्रमुख सहायक अग है'[3] और 'भाषा की चमचमाहट भाव को तुरन्त हृदयगम कराती है।'[4] सच तो यह है कि मिश्र जी के मतानुसार 'यदि कविता का मुख्य गुण भाव है तो उसका सहायक गुण शब्द-सौन्दर्य है।'[5] चूंकि ब्रजभाषा मे यह गुण आधिक्य मे पाया जाता है, अत. वह इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है।

१११. मिश्र जी ने 'निष्पक्षपात भाव से किसी वस्तु के गुण-दोषो की विवेचना' को समालोचना सज्ञा से अभिहित कर उसे उत्तम विचारो की पुष्टि तथा वृद्धि मे आवश्यक उपादान माना

---

१. प० कृष्ण बिहारी मिश्र देव और बिहारी, द्वितीय सस्करण की भूमिका, सन् १९२५, पृष्ठ ६।

२. वही, पृष्ठ १२।

३. वही, पृष्ठ २०।

४ वही, पृष्ठ २५।

५. वही, पृष्ठ २७।

है।[1] उन्होने ऐतिहासिक अनुक्रम से समालोचना का विकास विवेचित कर आधुनिक समालोचना का रचना-विधान अंग्रेजी चाल के आधार पर ही बतलाया है। उनके इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जिस समय मिश्र जी समालोचना-क्षेत्र मे अवतीर्ण हुए, हिन्दी समीक्षा किस धरातल पर अवस्थित थी और पत्र-सम्पादक, पुस्तकालोचन, स्वतन्त्र लेखो या सम्पादकीय टिप्पणियो में किस प्रकार की मनोवृत्ति का परिचय दिया करते थे। मिश्र जी ने समालोचना के महान् दायित्व की प्रशंसा कर समालोचको को यह सम्मति दी है कि वे केवल कथनमात्र के रूप मे ही किसी ग्रथ को उत्तम अथवा अधम न बतलावे, अपितु उन कारणो का भी सतर्क विवेचन करे जिनसे वे अपना मत-निर्धारण करने का कार्य करते है। मिश्र जी के मतानुसार समालोचना का दृष्टिकोण इस प्रकार होना चाहिए:—

"हमारी समझ मे किसी ग्रन्थ की समालोचना करते समय तद्गत विषय का प्रत्येक ओर से निरीक्षण होना चाहिए। ग्रन्थ का गौण विषय क्या है तथा प्रयोजनीय क्या है, वास्तविक वर्णन क्या है तथा भराव क्या है, आदि बातों का जिस समालोचना मे विचार किया जाता है, उससे पुस्तक का हाल वैसे ही विदित हो जाता है जैसे किसी मकान के मान-चित्रादि से उस गृह का विवरण ज्ञात हो जाता है।"[2] अभिप्राय यह है कि मिश्र जी के मतानुसार समालोच्य कृति का परीक्षण मुख्य भाव, रस-निरूपण, कवि-कौशल, वर्णन-शैली, लेखक की मनोवृत्ति, भाषा-विधान, पूर्वाग्रहरहित भावना, व्यापक दृष्टिकोण, तर्कपूर्ण प्रतिपादन आदि पक्षो को प्राधान्य देते हुए होना चाहिए। उनके मतानुसार "तुलना भी समालोचना का एक प्रधान अग है जिसमे एक या अनेक कवियो की उक्तियो की तुलना के आधार पर उनके काव्य की परीक्षा की जाती है।"[3]

तुलनात्मक पद्धति और उसका गम्भीर पक्ष

११२. मिश्र जी ने अपने 'देव और बिहारी' नामक ग्रन्थ को तुलनात्मक समालोचना कहा है और उसकी विवेचन-पद्धति का भी प्रारम्भ मे विश्लेषण किया है। ऐसा करते हुए उन्होने विभिन्न कवियो के छन्दो को भाव-साम्य के आधार पर समीक्षित कर उनका काव्य-सौष्ठव स्पष्ट किया है। उनकी तुलनात्मक पद्धति मे व्याख्या और विवेचना के साथ निर्णयात्मक प्रवृत्ति का भी समावेश है। इस प्रकार के विवेचन से उनका पाडित्य और काव्य-चयन-कौशल भी प्रकट होता है। कहा जा सकता है कि 'देव और बिहारी' नामक पुस्तक के भूमिका-भाग मे उन्होने अपनी तुलनात्मक समालोचना-प्रणाली का एक आदर्श उपस्थित कर मुख्य विवेचन के लिए पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर दी है। प० पद्मसिह शर्मा ने बिहारी सतसई पर सजीवन भाष्य लिखकर उसके प्रथम भाग मे जिस रूप मे तुलनात्मक समालोचना लिखी है वह मिश्र जी को ग्राह्य प्रतीत नही हुई है। उनका इस सम्बन्ध में निर्णय इस प्रकार है :

"सजीवनी भाष्य का टीकाकार हमको स्थल-स्थल पर बिहारीलाल के साथ अनुचित पक्षपात करता हुआ देख पडता है। बिहारीलाल शृगारी कवि थे, अतएव उनकी शृगारमयी सुधा-सूक्तियों का हिन्दी भाषा के अन्य शृगारी कवियों की तादृश उक्तियो से तुलना करना उचित ही था। पर इस प्रकार की जो तुलना हुई है, खेद है, वह पक्षपातपूर्ण हुई है। इस पक्षपात का चूडात उदाहरण पाठकों को इस बात से मिल जायगा कि देव सदृश उच्च कोटि के शृगारी कवि की

---

१. प० कृष्ण बिहारी मिश्र देव और बिहारी, द्वितीय संस्करण की भूमिका, सन् १९२५, पृष्ठ २८।

२. वही, पृष्ठ ३४।

३. वही, पृष्ठ ३८।

कविता से बिहारी के दोहो की तुलना तो दूर रही, उस बेचारे का नाम तक 'सजीवन भाष्य' के प्रथम भाग मे नही आने पाया है।'[१]

११३. मिश्र जी ने बिहारी सतसई के भाष्यकार की अन्य अपूर्णताओ की ओर भी सकेत किया है। देव के अतिरिक्त सूरदास, केशवदास, पद्माकर, तोष, और सुन्दरदास आदि कवियो के छन्दो के साथ बिहारी के छन्दो की तुलना करते हुए प० पद्मसिह शर्मा ने जिस प्रकार का विवेचन प्रस्तुत किया है, उसके अनेक स्थलो पर मिश्र जी ने समालोचक की पक्षपातपूर्ण भावना ही निर्दिष्ट की है। भूमिका का अतिम अश इसी प्रकार के विवेचन से निर्मित है जिसका प्रमुख उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि मिश्र जी प० पद्मसिह शर्मा की तुलनात्मक समालोचना को सर्वागीण और न्यायपूर्ण नही मानते थे और सम्भवत. उसकी अपूर्णताओ का दिग्दर्शन कराने के लिए ही उन्होने अपने ग्रन्थ की रचना की। मिश्र जी ने शर्मा जी के विवेचन मे भाव पक्ष और भाष-पक्ष की दुर्बलताओं का संकेत अन्य कवियो का काव्य सौष्ठव निरूपित कराते हुए किया है और उनके उन आक्षेपो को भी अनुचित बतलाया है जो उन्होने अपनी समीक्षा के अन्तर्गत मिश्रबन्धुओं के 'नवरत्न' तथा 'मिश्र बन्धु-विनोद' के सम्बन्ध मे किए थे।[२] यह सब कुछ होते हुए भी उनके विवेचन मे यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि उनका स्वर कही पर भी शर्मा जी की भाँति तीव्र और व्यंग्यपूर्ण नही है और उनकी इस प्रकार की प्रवृत्ति को लक्ष्य मे रखकर आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ने भी उनकी प्रशसा की है।[३]

११४. देव और बिहारी का मुख्य समालोचना-भाग अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण दृष्टि से लिखा गया है। मिश्र जी ने संस्कृत, अग्रेजी तथा हिन्दी के रीतिकालीन काव्य-शास्त्रकारो के मत उद्धृत कर कविता का उद्देश्य आनन्द प्रदान करना ही माना है और इसके लिए शृगार-रस को सर्वाधिक उपयुक्त साधन बतलाया है।[४] ऐसा करते हुए उन्होने देव के काव्य-विवेचन की एक पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर ली है, क्योकि देव भी शृंगार को रसराज मानते थे। उन्होने विभिन्न साहित्यों मे वर्णित शृंगार और प्रेम-चित्रण को जीवन की अनिवार्य और मोहिनी वृत्ति सिद्ध कर यही निष्कर्ष प्रदान किया है कि "दाम्पत्य प्रेम से परिपूर्ण कविताओ को हम आदर्शवाद के विद्रोह की उपस्थिति मे भी बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं, जिन प्राचीन तथा नवीन कवियो ने ऐसे उच्च और विशुद्ध वर्णन किये हैं, उनकी भूरि-भूरि सराहना करते है और मनुष्यता के विकास मे उनका भी हाथ मानते है।"[५] इस प्रकार मिश्र जी के मतानुसार यदि देव सर्वतोभावेन शृगारी कवि है तो उनका यह पक्ष विगर्हणीय नही माना जा सकता, क्योकि विश्व के अधिकाश कवियो ने शृंगार रस को अपने काव्यो का वर्ण्य विषय बनाया है। उन्होने तुलनात्मक समालोचना के प्रमुख उपकरण भाव-सादृश्य को सौन्दर्य-सुधार, सौन्दर्य-रक्षा और सौन्दर्य संहार शीर्षक तीन भागो मे विभक्त कर प्रथम भाग को सर्वोत्तम तथा अतिम को निकृष्ट बतलाया है।[६] और इस दृष्टि से भी उन्हे देव जी अत्यन्त श्रेष्ठ कवि प्रतीत हुए हैं। इस प्रकार के विश्लेषण मे मिश्र जी ने प्रभावाभिव्यजक प्रणाली का भी उपयोग किया है और एक रससिक्त भावक के रूप मे वे उन काव्याशो मे आत्मविभोर भी होते चले हैं जो उनके मानसिक धरातल के अधिक निकट प्रतीत हुए हैं। विवेचन के इस प्रसग मे उनकी व्याख्यात्मक पद्धति अत्यन्त हृदयहारिणी और भावमयी बन गई है।

---

१. पं० कृष्ण बिहारी मिश्र : देव और बिहारी, द्वितीय सस्करण की भूमिका, पृष्ठ ३८।
२. वही, पृष्ठ ५२।
३. पं० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, नवां सस्करण, संवत, २०१३ वि०।
४. पं० कृष्ण बिहारी मिश्र : देव और बिहारी, द्वितीय सस्करण, की भूमिका, पृष्ठ ६२-६३।
५. वही, पृष्ठ ७३-७४।
६. प० कृष्ण बिहारी मिश्र देव और बिहारी, तृतीयावृत्ति, सं० १९९४ वि०, पृष्ठ ८१।

११५ मिश्र जी की समालोचनाओ का प्रमुख अश तो देव-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना है, किन्तु उन्होंने उसकी मूल आधारशिला के रूप मे देव की अन्य कृतियो का भी सामान्य परिचय दिया है। कहने के लिए तो देव जी ने ५२ या ७२ ग्रन्थो की रचना की थी, किन्तु मिश्र जी ने उनके केवल उन्ही २६ ग्रन्थो को अधिक प्रामाणिक माना है, जिनकी प्रतियाँ उनके निजी पुस्तकालय मे विद्यमान थी। देव के काव्य ग्रन्थो के साथ-साथ उन्होने बिहारी-सतसई पर उपलब्ध प्राय २३ टीकाओं का परिचय देकर प्रत्येक की अलग-अलग विशेषताएँ भी निर्दिष्ट की हैं। इन ग्रन्थों के आधार पर वे देव और बिहारी के काव्य-परिक्षण के लिए उद्यत हुए हैं और सर्वप्रथम उन्होने उन दोनो कवियो की काव्य कला-कुशलता को लिया है। उनके इस विश्लेषण मे समालोचना का व्याख्यात्मक और विवरणात्मक अश ही अधिक है, जिसमे गुण-सस्तव की छटा सर्वत्र आलोकित है। ऐसा प्रतीत होता है कि मिश्र जी ने देव के कुछ प्रमुख छदो का चयन कर उनका अर्थ-स्पष्टीकरण और काव्य-सौष्ठव विवेचित कर उसका यथेष्ठ निर्णय पाठको पर ही छोड दिया है कि वे उनके सम्बन्ध मे स्वयं विचार करे। इस विवेचन मे प० पद्मसिंह शर्मा वाली महफिली तर्ज तो नही है पर कई स्थलो पर व्याख्या के प्रसंग मे भाव-तल्लीनता आने से भी नही बची है। वस्तुतः मिश्र जी की समालोचनाओ का यह एक प्रमुख अश कहा जा सकता है। देव के काव्य के प्रति उनका कितना अधिक मोह है, इसका अनुमान निम्नलिखित अवतरण से हो सकेगा :

"देव जी के जितने ही अधिक उत्तम छद छाँटने का हम उपयोग करते है, हमारा परिक्रम उतना ही बढ़ता जाता है, क्योकि देव जी का कोई शिथिल छद हस्तगत ही नही होता। जिसमे देखिए, उसमे ही कोई न कोई अनूठा भाव लहरा रहा है।"

शास्त्रीयता तथा व्याख्यात्मकता का सन्निवेश

११६. मिश्र जी की समालोचनाओ मे शास्त्रीय पद्धति का भी प्रयोग है। उन्होने देव तथा बिहारी के छदो मे काव्य शास्त्र मे निरूपित रस-गुण, शब्द-शक्ति और अलकारो का भी उद्घाटन किया है। उन्हे उक्त कवियो के एक-एक छद मे अनेक अलकार मिले है जिनका सप्रमाण विवेचन उन्होने तुलनात्मक समीक्षा के अन्तर्गत किया है।[२] इस सम्बन्ध मे अधिक लिखना उपयुक्त न समझ कर हम यही सकेत करना पर्याप्त समझते है कि देव और बिहारी नामक कृति मे उन्होने बिहारी के एक दोहे—

"मानहु तन छबि अच्छ को स्वच्छ राखिबै काज।
पग दृग पाछेन को किए भूषण पायदाज।"

में कम से कम १६ अलकार निर्दिष्ट किए है [१] और गौण रूप से और अलंकारो की उसमे गुँजाईश रखी है। मिश्र जी द्वारा निरूपित देव और बिहारी की बहुदर्शिता विषयक विवेचना भी पठनीय है। इस दृष्टि से देव और बिहारी की अलग-अलग विवेचना करने के पूर्व उन्होने अपना एतद्-विषयक काव्य-निकष इस प्रकार प्रस्तुत किया है .

"कवि का ससार-दर्शन बडा ही विस्तृत होता है। प्रत्येक पदार्थ पर कवि की पैनी दृष्टि पडती है। प्रत्येक समय उसके नेत्रो के सामने नाना प्रकार के दृश्य नृत्य किया करते हैं। सर्वत्र ही वह सौन्दर्य का अन्वेषण किया करता है। अलौकिक आनन्द प्रदान के प्रति पद-पद पर उनका प्रशंसनीय प्रयत्न होता रहता है। कवि का ससार-ज्ञान जितना ही विस्तृत और अनुभूत होता है, उतनी ही उसकी कविता भी चमत्कारिणी होती है।[२] कहने की आवश्यकता नही कि मिश्र

१. प० कृष्ण बिहारी मिश्र. देव और बिहारी ततीया वृत्ति स १६६४ वि. प. १२४-१२७
२. वही पृष्ठ १२८
१. प० कृष्ण बिहारी मिश्र देव और बिहारी · तृतीया वृत्ति स. १६६४ पृष्ठ ६७
२. वही पृष्ठ ११८

जी ने उक्त निकष पर देव के काव्य का समीक्षण उनके विस्तृत देश-ज्ञान, विभिन्न देशों की नायिकाएँ, अष्टयाम-चित्रण, संगीत-शास्त्र मे गति, संसार-माया-रत पुरुषो की क्रियाएँ, विविध शास्त्रो के ज्ञान, काव्य-रीति-अभिज्ञता और व्यावहारिक कुशलता आदि विभिन्न दृष्टिकोणो से किया है। इसी प्रकार उन्होने बिहारी के शृ गार और अतिशयोक्ति-वर्णन की भी अनुपमता सिद्ध की है। उनकी समालोचना मे देव तथा बिहारी के विषय मे मर्मज्ञो के मत-विषयक निरूपण भी अत्यन्त पठनीय हैं। उसमे तत्कालीन समालोचना-स्तर की अभिज्ञता के साथ-साथ इस विषय का भी बोध हो जाता है कि देव तथा बिहारी के काव्य-सौष्ठव के सम्बन्ध मे प० महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्री मिश्रबन्धु, लाला भगवान दीन, पं० पद्मसिंह शर्मा आदि विद्वानो के क्या मत थे और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा पं० बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' आदि विद्वानो की क्या सम्मितियाँ थी। इस प्रकार के विश्लेषण मे मिश्र जी ने इन विभिन्न विद्वानो के मतो का उल्लेख कर देव को बिहारी से श्रेष्ठ कवि सिद्ध करने के मानो प्रमाण जुटा लिए है और बिहारी के समर्थको के उन मतो का खण्डन किया है, जिनके अनुसार देव की प्रतिभा बिहारी से हीन मानी गई है।

समालोचना के अन्य अंग और उनका मूल्यांकन

११७ हमने मिश्र जी के देव और बिहारी विषयक समीक्षण का कुछ विस्तारपूर्वक विवेचन इसलिए भी किया है कि उसके द्वारा एक ओर जहाँ इस विषय का आभास मिल सके कि उन्होने अपनी इस रचना द्वारा तुलनात्मक समालोचना के पक्ष को किस रूप मे प्रतिष्ठित किया, वहाँ दूसरी ओर यह भी ज्ञात हो सके कि सवर्धन-काल की समालोचना का इस क्षेत्र मे किस प्रकार का स्तर था। उन्होने उक्त दोनो कवियों की प्रतिभा-परीक्षा करते हुए उनके छंद-प्रयोग तथा कथन-शैली के आधार पर बिहारी की प्रशसा करते हुए भी देव को उनसे उच्च कोटि का माना है और वे प० पद्मसिंह शर्मा की बिहारी के दोहे जैसे छद मे गागर मे सागर भरने की बात को एक सीमा तक ही उचित समझते हैं। इसी प्रकार उनको शर्मा जी की यह उक्ति भी अधिक तथ्यपूर्ण नही लगती कि 'अतिशयोक्ति कविता की जान और रस की खान है।' सच तो यह है कि मिश्र जी को 'अतिशयोक्ति के स्थान पर स्वभावोक्ति और उपमा मे अधिक सौन्दर्य' प्रदर्शित हुआ है जिसके द्वारा वे देव के काव्य-गुणो को बिहारी की अपेक्षा अधिक सुष्ठु मानने के लिए उद्यत हुए हैं।[1] उन्होंने अपने कथन की पुष्टि मे उभय कवियो के छन्दो को उद्धृत कर बतलाया है कि काव्य मे अनूठी उक्ति को ही सब कुछ मानने वाले आलोचक भले ही बिहारी की प्रशसा मे कितनी ही अतिशयोक्तिपूर्ण विवेचना करे, किन्तु देव ने जिस रूप मे प्रेम तथा मानसिक वृत्तियो का चित्रण किया है वह अभूतपूर्व है और उसकी समता रीतिकाल के अन्य कवि नही कर सकते। मिश्र जी ने देव की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए बिहारी के अतिरिक्त दास के काव्य-चित्रण के साथ भी उसकी तुलना की है और विरह-वर्णन के प्रसंग मे पूर्वानुराग, प्रवास, मान तथा चित्त की विभिन्न दशाओ को लेकर यही सिद्ध किया है कि स्वाभाविकता और चित्रोपमता की दृष्टि से देव बिहारी से अधिक सफल है। अभिप्राय यह कि मिश्र जी की देव और बिहारी सम्बन्धी तुलनात्मक समालोचना कई दृष्टियो से प० पद्मसिंह शर्मा की अपेक्षा अधिक गम्भीर है और एक वाक्य मे यह कहा जा सकता है कि शर्मा जी की समीक्षा मे जहाँ पाण्डित्य तथा वैदग्ध्य की चमचमाहट है तो मिश्र जी की समालोचना मे गाम्भीर्य तथा शालीनता का मन्द प्रकाश। वस्तुतः इन दोनो आलोचकों का मानसिक धरातल अपने विवेच्य कवियो के अनुरूप बनकर ही प्रकट हुआ है। अभिप्राय यह है कि मिश्र जी द्विवेदी युग के समालोचकों मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं और उनके

---

१. प० कृष्णबिहारी मिश्र : देव और बिहारी, तृतीयावृत्ति, सं. १९९४ वि०, पृ० १५१।

द्वारा तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति के सवर्धन मे यथेष्ट सहयोग मिला है । उनके द्वारा सम्पादित 'मतिराम-ग्रंथावली' की भूमिका भी तुलनात्मक समीक्षा का अत्यन्त मुखर पक्ष है जिसके विवेचन मे आचार्य शुक्ल जी ने तुलनात्मकता का आधिक्य देख कर उसे कई स्थलो पर असतुलित भी निर्दिष्ट किया है ।

लाला भगवानदीन

समालोचना का प्रमुख विषय : प्राचीन कवि और उनके काव्य

११८ द्विवेदी-युग के समालोचको मे लाला भगवानदीन का भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे काशीस्थ हिन्दू विश्वविद्यालय मे हिन्दी प्राध्यापक और नागरी प्रचारिणी सभा से सम्बद्ध साहित्यकार थे । उनकी प्रतिभा मे साहित्य के रचनात्मक और विचारात्मक पक्षो का समावेश था । लाला जी ने यद्यपि कवियो, काल-विशेषो तथा सिद्धान्तो को लेकर कोई स्वतन्त्र पुस्तक नही लिखी है, फिर भी उनके समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित निबन्धो के अध्ययन से उनकी समालोचक प्रज्ञा का अनुमान किया जा सकता है । उनकी समालोचनाओ मे शास्त्रीय पक्ष से खंडन-मडन की प्रवृत्ति भी मिलती है जिसमे परम्परागत रूढियो को अधिक निकटता से अपनाया गया है । देव और बिहारी के लघुत्व और गुरुत्व को लेकर उस युग मे जो एक साहित्यिक प्रवाद चल पडा था, उसमे भी लाला जी ने पर्याप्त भाग लिया और बिहारी के काव्य का पक्ष ग्रहण कर उसकी समता मे देव को हीन प्रतिभा का कवि सिद्ध किया । कहने की आवश्यकता नही की उनका यह विश्लेषण भी पूर्वग्रहदशित और पक्षपातपूर्ण था । उनके एतद्विषयक लिखे गये निबन्धो का सग्रह 'बिहारी और देव' नामक पुस्तक के रूप मे प्रकाशित हो चुका है ।

११९. लाला जी की समालोचनाओ का एक महत्त्वपूर्ण भाग उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थो की भूमिकाएँ है । उनका नवीन काव्य के प्रति कोई आकर्षण नही था, अत· उन्होने अपनी अभिरुचि के अनुरूप केवल प्राचीन कवियो को ही अपना समालोच्य विषय बनाया । 'सूर पचरत्न', 'केशव पंचरत्न', 'तुलसी पंचरत्न', 'अन्योक्ति कल्पद्रुम', 'ठाकुर ठसक', 'स्नेह-सागर', 'राजविलास', 'विरह विलास' और 'सूक्ति-सरोवर' उनके द्वारा सम्पादित काव्य-ग्रन्थ है, जिनकी भूमिकाओ मे उन्होने काव्य के कला-पक्ष और भाव-पक्ष के विभिन्न अगोपागो को दृष्टिगत रखकर व्याख्यात्मक शैली मे कृतिकारों की विशेषताओ का उद्घाटन उनकी काव्य-रचनाओ से उदाहरण देते हुए किया है । इनमे उन्होने विवेचित कवियो के सम्बन्ध मे प्रचलित मान्यताओ पर भी यथाप्रसंग अपनी टिप्पणी दी है। उनके काव्य-परीक्षण का प्रतिमान अधिकाशत· सैद्धान्तिक और शास्त्रीय ही है, जिसमे निर्णयात्मक और प्रभावाभिव्यजक समालोचना-पद्धति के भी दर्शन होते है । 'सूरपचरत्न' की भूमिका उसका आदर्श उपस्थित करती है । लाला जी ने अपने प्रिय शिष्य प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और पं० मोहन वल्लभ पन्त को भी अपनी समालोचनात्मक सर्जना मे अपेक्षित महत्त्व दिया है । इन भूमिकाओ के अतिरिक्त नागरी प्रचारिणी पत्रिका मे उन्होने प्राचीन कवियो पर जो समय-समय पर निबन्ध प्रकाशित कराये थे, उनसे भी उनकी समालोचक-दृष्टि का ज्ञान होता है । लाला जी हिन्दी, सस्कृत के अतिरिक्त फारसी के बहुत बडे विद्वान् थे और उनका हिन्दी साहित्य मे आगमन फारसी साहित्य के अध्ययन के अनतर ही हुआ था ; अत. उनकी समालोचनाओ मे फारसी की संजीदा शैली का भी प्रभाव परिलक्षित है । 'लक्ष्मी' नामक पत्रिका के सम्पादन-काल मे उनकी समालोचनाएँ निरतर क्रम से निकलती रही हैं, जिनमें प्राचीन कवियों के प्रति उनका जितना समर्थनपूर्ण दृष्टिकोण है, उतना नवीन कवियो के प्रति नही । एक प्रकार से नवीन कवियों के काव्य का उन्होने खडन ही किया है । उस युग के अन्य समालोचको की भाँति उन्होने भी छायावादी काव्य की अभ्यर्थना मे

एक भी शब्द नही लिखा है किन्तु यह एक और महत्त्वपूर्ण विषय है कि लाला जी को बाबू मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' और पं० रामचरित उपाध्याय की 'रामचरित-चिंतामणि' जैसी रचनाओ मे भी अधिकांशत· दोष ही दोष दृष्टिगोचर हुए है जो उस युग की अत्यन्त लोकप्रिय रचनाएँ थी। इसका प्रमुख कारण लाला जी की प्राचीन कवियो के प्रति निष्ठा और साहित्य-परीक्षण का पुरातन प्रतिमान ही कहा जा सकता है।

टीका साहित्य और शास्त्रीय पक्ष

१२०. लाला जी की समालोचनाओ का एक प्रमुख अग टीका-साहित्य भी है, किन्तु वह टीका-साहित्य केवल शब्दार्थ-योजना और सरलार्थ के दृष्टिकोण से ही न लिखा जाकर समालोचना की शास्त्रीय पद्धति से सम्बन्धित अनेक प्रकार की टिप्पणियो से भी सवलित है। लाला जी ने विविध प्रतियो के आधार पर यथासम्भव टीका-ग्रन्थो का शुद्ध और प्रामाणिक पाठ देकर प्रारम्भ मे उनके शब्दार्थ और भावार्थ दिए है और तदुपरात आवश्यक स्थलो पर अलकार, छन्द और शब्द-शक्ति का भी निरूपण किया है। उनकी टीकाओ मे समालोचना की तुलनात्मक पद्धति भी मिलती है। टीका के प्रसंग मे उन्हे जहाँ कही प्रस्तुत पद्य के साथ किसी अन्य कवि के काव्य का भाव-साम्य-सूचक पद्य मिला है, उसका उदाहरण देकर उन्होने उसकी विशेषताएँ भी बतलाई है। इतना ही नही, जहाँ किसी छन्द की भावमाधुरी और कला-काति ने भी उनको रससिक्त बनाया है, वे प्रभाववादी समालोचक के रूप मे उसकी प्रशंसा करने मे भी नही चूके हैं। उनकी टीकाओ मे यथावसर शब्दो की व्युत्पत्ति, उनकी मूलध्वनि तथा अर्थ-योजना का भी भव्य निरूपण है। उन्हे बुन्देलखडी, अवधी और ब्रजभाषा की शब्द-शक्ति और मूल चेतना का अपूर्व ज्ञान था, अतः उन्होने टीका के प्रसग मे उनके प्रमुख शब्दो का भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण भी किया है। कहना होगा, लाला जी के पूर्व इस प्रकार समालोचनात्मक दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य मे प्राचीन कवियो के काव्यो की टीकाएँ नही लिखी गई थी, अतः उनका टीका-साहित्य जहाँ हमे एक ओर प्राचीन काव्यो के अर्थ-बोध और भाव सौन्दर्य को हृदयगम करने मे सहायता देता है, वहाँ दूसरी ओर उसके द्वारा हमे लाला जी की समालोचक-निष्ठा की भी जानकारी कराता है। उनके टीका-ग्रन्थो मे 'केशव-कौमुदी', 'प्रिया-प्रकाश', 'मानस की टीका', 'बिहारी-बोधिनी', 'दोहावली', 'कवितावली', और 'छत्रसाल-दर्शक' की टीकाएँ प्रधान हैं।

१२१. लाला जी की समालोचना का एक सैद्धान्तिक पक्ष भी है। वे शास्त्रीय समालोचक है, जिनका झुकाव सस्कृत काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त-पक्ष की ओर विशेष रहा है। उन्होने 'अलकार-मंजूषा' और 'व्यंग्यार्थ-मजूषा' के नाम से समालोचना के सैद्धान्तिक ग्रन्थ भी लिखे हैं जिनमे प्राचीन-काव्य-शास्त्र को मूल आधार बना कर अलकारो और व्यंजनाओ का विश्लेषण किया गया है। ऐसा करते समय उन्होने लक्षणो की सरलता और सुबोधता का सर्वत्र ध्यान रखा है और वे उनके ऊहा-पोहो मे अधिक नही उलझे है। यथासम्भव स्पष्ट भाषा-शैली मे अलकारो के लक्षण निर्दिष्ट कर उन्होने साधारणतया प्राचीन काव्यो से उनके सगति सूचक उदाहरणो द्वारा विवेच्य अलकारो की सामान्य व्याख्या सी कर दी है, जिससे पाठको को विषय-बोध करने मे सहायता मिल सके। अभिप्राय यह है कि लाला जी का सैद्धान्तिक निरूपण आचार्यत्व की छाप से अलकृत न होने पर भी छात्र-वर्ग के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। यही कारण है कि एक समय उनकी 'अलकार-मजूषा' का काव्य-शास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष-विवेचन मे बहुत अधिक महत्त्व था।

मानसिक प्रवृत्ति तथा निर्धारित प्रतिमान

१२२. लाला जी की समालोचनाओ मे उनके व्यक्तित्व की झलक भी सर्वत्र मिलती है।

सूर, तुलसी, केशव, बिहारी और दीनदयाल गिरि जैसे कवियो को अपनी समालोचनाओ का विषय बनाने मे उनकी मानसिक भूमिका ने भी बडा सहयोग दिया था। वे इन कवियो का काव्यालोचन अपने सुनिश्चित प्रतिमान से ही कर सके थे। समीक्षा के बाह्य पक्ष भाषा-शैली का व्युत्पत्ति-विवेचन तो इन्होने जिस विधान से किया, वैसा उनके पूर्व बहुत कम किया गया था। एक प्रकार से भाषा और रचनाओं के आधार पर ही उन्होने कवियो के समय तथा स्थान का निर्धारण किया। उनके द्वारा कवियो के व्यापक व्यक्तित्व और उनकी कृतियो के मूल प्रयोजन का उद्घाटन भी किया गया। केशव को उन्होने कवि, भक्त और आचार्य इन तीनो रूपो मे महत्त्व दिया तो सूर और तुलसी को भक्त और कवि के अतिरिक्त मानव-भावनाओं के सफल गायक के रूप मे प्रतिष्ठित किया। 'दोहावली' की समालोचना के पूर्व उन्होने काव्य के मर्म-बोध के लिए जो साहित्यिक प्रतिमान निर्धारित किया है, वह उनके काव्य-विषयक उदार दृष्टिकोण का ही परिचायक है। उन्होने हृदय और मस्तिष्क की ससृष्टि से कविता का उद्रेक मानकर उसको पद्य से भिन्न माना है और उसकी भावगम्यता के लिए अलंकार, रस, छन्द और व्यजना को महत्त्व दिया है। उनका भक्ति-काव्य का विश्लेषण समालोचना की ऐतिहासिक प्रणाली का अनुगमन करता हुआ चला है। यद्यपि उनके समय मे पाश्चात्य विधान की समालोचना-प्रणाली का प्रचलन हो गया था, किन्तु लाला जी पर उसकी छाया बहुत कम पड सकी है। कहा जा सकता है कि उनके द्वारा कवियो की विस्तृत समालोचनाएँ लिखने मे भी अपेक्षित सहयोग दिया गया था। 'सूर-पंचरत्न' की भूमिका हमारे सामने इस प्रकार का एक आदर्श प्रस्तुत करती है। अभिप्राय यह है कि लाला जी की समालोचनाओ की निश्चित प्रणाली थी, जिसमे वे यथाप्रसग समालोचना के शास्त्रीय, सैद्धान्तिक, तुलनात्मक, प्रभावाभिव्यंजक और निर्णयात्मक पक्षो का प्रयोग बडी शालीनता से किया करते थे। उन्होने कही पर भी समालोचनाओ को तर्क-वितर्क के वितंडावाद मे नही उलझाया। यही कारण है कि हिन्दी का अनुसन्धाता जहाँ उसका अध्ययन समालोचना का तुलनात्मक और क्रमिक विकास समझने के लिए करता है, वहाँ छात्र-समाज भी अपना परीक्षोदधि उत्तीर्ण करने के लिए उसकी अपेक्षित सहायता लेता है।

निष्कर्ष

१२३. उपरिलिखित अनुच्छेदो में द्विवेदी-युग की समीक्षात्मक प्रवृत्तियो और प्रमुख समालोचको की उपलब्धियो का जो विवेचन किया गया, उससे समालोचना की संवर्धनशीलता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल के शोध-कार्य के विवरण का उल्लेख सामान्य परिचय के अन्तर्गत हो ही चुका है। अन्य आलोचको ने पत्र-पत्रिकाओ के कलेवर मे जिस प्रकार की समालोचनाएँ लिखी, उनमे साधारणतया पूर्व विवेचित विषयो का ही पिष्टपेषण रहने के कारण उनका विवेचन करने के लिए हमारे शोध-प्रबन्ध मे अधिक अवकाश नही है। अत. समालोचना के विकास के द्वितीय चरण को इस युग तक ही सीमित रख कर अब उत्तरवर्ती अध्याय मे उन आलोचको की कृतियो का विवेचन किया जायगा जिनसे द्विवेदी-युग के सवर्धन को वास्तविक विकास मिला है। यद्यपि इन आलोचको का समीक्षण कार्य द्विवेदी-युग मे ही प्रारम्भ हो गया था, किन्तु वे अनेक दृष्टियों से अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्थापित कर सके, अत उनका विश्लेषण स्वतन्त्र अध्याय के रूप मे करना मैने समुचित समझा है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल इस विकास के प्रमुख सूत्रधार है जिनकी मान्यताओ को स्वीकार कर अन्य समालोचक भी चलते रहे हैं।

विश्लेषण स्वतत्र पुस्तको के रूप मे हुआ है। विश्वविद्यालयो के स्नातको के साथ-साथ अन्य विद्वानो द्वारा शोध-कार्य के माध्यम से भी इस युग मे समालोचना की वृद्धि हुई है। पश्चिमी साहित्य मे व्याख्यात्मक प्रणाली के अन्तर्गत जिस ऐतिहासिक पद्धति का अनुगमन किया जाता है उसका यथेष्ट विकास इस युग की समालोचनाओ मे मिलता है। यद्यपि मनोविश्लेषणवादी, जीवन-चरितमूलक और समाजशास्त्रीय पद्धति का प्रसार इस युग मे अधिक नही हो सका, फिर भी उनके निर्माण और विकास के लक्षण इस युग मे सगठित होने लगे थे। इस युग के समालोचको मे निर्णयात्मक प्रवृत्ति भी कम न रही। साहित्य और भाषा विषयक अनेक इतिहास भी इस काल मे लिखे गये। कवियो की कलाओ और काव्यसाधनों का भी पर्याप्त प्रचार रहा। इस युग मे समालोचना-कार्य को विकसित बनाने मे जिन विद्वानो ने अधिक सहयोग दिया, उनमे विश्वविद्यालयो के प्राध्यापको का विशेष हाथ था। निष्कर्ष यह है कि इस युग की समालोचना द्विवेदी-युग का ही विकसित रूप है जिसको स्वतन्त्र विधान मे प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को है। शुक्ल जी के समीक्षण-कार्य का मूल्याकन उसका विकास समझने का सर्वोत्तम साधन है। यदि व्यक्तित्व का युग-निर्माण मे महत्त्व स्वीकार किया जाय तो समालोचना का विकास-काल शुक्ल जी का ही पर्यायवाची शब्द बन कर उपस्थित हुआ है। इस विचार से प्रायः सभी विद्वान सहमत है। सच तो यह है कि शुक्ल जी ने अपनी पूर्ववर्ती परम्पराओ को विकसित बनाकर ऐसे स्थान पर उपस्थापित किया है, जहाँ से भावी साहित्यालोचन को भी विकास मिला है। अतः प्रस्तुत अध्याय मे मुख्यतः शुक्ल जी की समीक्षाओ का विशद् विवेचन किया जायगा, जिससे उनकी उन उपपत्तियो का स्पष्टीकरण हो सके जिनसे विकास-काल का निर्माण हुआ है। तदुपरान्त अन्य समालोचकों के कार्यों का पूर्व-प्रयुक्त विधि से समीक्षण किया जायगा।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल

युग-परिस्थिति और साहित्य-प्रवेश

३. प० रामचन्द्र शुक्ल मे बाल्यकाल से ही साहित्य के प्रति अभिरुचि थी। किशोरावस्था से ही उन्होने साहित्यिक मित्रो की एक ऐसी गोष्ठी का निर्माण कर लिया था, जिसमे समय-समय पर विविध प्रकार की काव्य-चर्चाओ के साथ-साथ रचनात्मक साहित्योन्मेष के प्रयत्न भी चला करते थे। प्रारम्भ मे तो उनके पिता जी को उनकी इस प्रकार की प्रवृत्ति अरुचिकर लगी, किन्तु शनैः-शनैः वे भी सूर और तुलसी आदि काव्यकारों की कृतियो मे रुचि रखने लगे तथा उनके हृदय मे भी बालक रामचन्द्र की काव्य-प्रवृत्तियो के प्रति स्नेह सा उत्पन्न हो गया। अपने बाल्यकाल मे पं० केदारनाथ पाठक की कृपा से शुक्ल जी को हिन्दी का समृद्ध पुस्तकालय प्राप्त हुआ, जिसके द्वारा वे अत्यधिक लगन और तल्लीनता से अपनी ज्ञान-वृद्धि करने लगे। वय-क्रम के विकास के साथ-साथ उन्होने हिन्दी के प्राचीन और नवीन साहित्य का व्यापक अध्ययन करना आरम्भ किया और वे शनैः-शनैः प्राचीन और नवीन काव्यो के मौलिक विभेद को भी समझने लगे। उनका नवीन साहित्य से परिचय सर्वप्रथम नाटक और उपन्यासो से हुआ था और उनकी लालसा प्राचीन की अपेक्षा नवीन साहित्य की ओर अधिकाधिक बढने लगी थी।[1] मिर्जापुर मे रहते हुए उन्हे एक अच्छा-सा साहित्यिक वातावरण मिल गया। उन दिनो वही से भारतेन्दु मंडल के देदीप्यमान नक्षत्र स्वर्गीय पं० बदरीनारायण जी चौधरी 'प्रेमघन' अपनी प्रसिद्ध पत्रिका "आनन्द-कादम्बिनी"

---

१. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल (स० गुलाबराय तथा विजयेन्द्र स्नातक)
आत्म-सस्मरण, प्र. संस्करण, सन १९५२, पृष्ठ ४।

का संचालन करते थे। शुक्ल जी बडी मधुर भावनाओ से संचालित होकर उनके सम्पर्क मे आये और उस पत्रिका द्वारा उनके हृदय मे साहित्य के प्रति और भी अधिक आकर्षण उत्पन्न हो गया। वे उसमे अपनी रचनाएँ भी प्रकाशित कराने लगे।[1] इन्ही दिनो 'स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट का 'हिन्दी प्रदीप' भी गिरता-पडता चल रहा था तथा काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के प्रयत्नो की धूम भी मची हुई थी। साथ ही साथ कचहरियो मे हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के प्रवेश के आन्दोलन भी चल रहे थे।[2] सभा ने प्राचीन साहित्य की शोध तथा नवीन साहित्य की अभिवृद्धि के भी प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये थे। उसकी 'पत्रिका' मे अनेकानेक नवीन विषयो पर लेख भी निकलने लगे थे। इस प्रकार शुक्ल जी के साहित्य-क्षेत्र मे प्रविष्ट होने के समय हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि और भावी विकास के लिए ऐसे वातावरण का निर्माण हो गया था जिसमे उनका पदार्पण साहित्य-समीक्षा की अभिवृद्धि मे अत्यन्त मंगलमय सिद्ध हुआ। उन्होने काशी-निवास के समय से ही साहित्य-सेवा और उसकी समृद्धि का व्रत धारण किया जो जीवन पर्यन्त चलता रहा। निस्सन्देह उनके कार्यों की गुरुता साहित्य-ससार मे ऐसी व्यापक सत्ता प्राप्त कर सकी, जिसने उन्हे हमारे साहित्यालोचन के क्षेत्र का एक महारथी बनाया। कहना होगा, यद्यपि उनकी बहुमुखी प्रतिभा के विकास के और भी अनेक क्षेत्र थे, किन्तु साहित्य-समालोचना और निबन्ध-साहित्य मे उनके समान अन्य कोई मेधावी लेखक नही हुआ। यही कारण है कि उनका साहित्य-सेवाकाल समालोचना-साहित्य के विकास मे 'शुक्ल-युग' के नाम से प्रख्यात है।

समालोच्य विषय और रचनाए

४. आचार्य शुक्ल के साहिरियक कार्यों का प्रारम्भ एक प्रकार से काशी नागरी प्रचारिणी सभा की हिन्दी-कोष-योजना से हुआ था। वे सर्वप्रथम उक्त कोष के लिए शब्द-सग्रह का कार्य करने के लिये नियुक्त किए गये और तदुपरान्त 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के सहायक सम्पादक नियुक्त हुए। कोष-कार्य की समाप्ति के पश्चात् उन्हे काशी विश्वविद्यालय मे निबन्ध-लेखन की शिक्षा देने के लिए अध्यापनवृत्ति मिली और जब वहाँ के पाठ्यक्रम मे हिन्दी भाषा और साहित्य को एक स्वतत्र विषय के रूप मे स्थान दिया गया तो वे भी हिन्दी साहित्य के इतिहास तथा समीक्षण का अध्यापन कार्य करने लगे। डा० श्यामसुन्दरदास के अवकाश ग्रहण करने के पश्चान् वे हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए और उस पद पर ये जीवन-पर्यन्त अधिष्ठित रहे। साथ ही साथ उन्होने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का सम्पादन भी कई वर्षों तक किया। उनकी प्रतिभा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। जहाँ तक हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन का प्रश्न है, वे पहले ऐतिहासिक आलोचक है, जिन्होने हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन करते हुए प्रत्येक काल की सामान्य प्रवृत्तियो का परिचय देश की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियो के प्रभाव को लक्ष्यगत रखते हुए दिया और इतिहास के सुडौल गात मे कवियो तथा कृतियो की विवेचनात्मक समीक्षा कर उनका वास्तविक मूल्याकन करने की चेष्टा की। उनके इतिहास से साहित्य की प्रचुर सामग्री को नूतन प्रकाश मिला है। आज उनके पश्चात् और भी अनेक साहित्य के इतिहास ग्रन्थो का निर्माण हो चुका है, किन्तु वे प्रायः सभी घूम फिर कर शुक्ल जी की ऐतिहासिक प्रणाली के पार्श्ववर्ती क्षेत्र की ओर ही उन्मुख होते हुए प्रतीत होते है। उन्होंने सूर, तुलसी और जायसी पर

---

१. शुक्लजी का 'अपनी भाषा पर विचार' शीर्षक निबन्ध, सन् १९०७ ई० में 'आनन्द-कादबिनी' (ज्येष्ठ अग्रहायण) में छपा था जो कालांतर में परिवर्द्धित होकर 'भाषा की शक्ति' शीर्षक से नागरी प्रचारिणी पत्रिका में सन् १९१२ मे प्रकाशित हुआ।

२. 'आलोचक रामचन्द्र शुक्ल', प्रथम सस्करण, सन् १९५२, आत्म संस्मरण, पृष्ठ, ४।

जो गम्भीर विस्तृत समालोचनाएँ लिखी है, उनसे परवर्ती युग के समालोचको और अनुसधाताओं को भी प्रेरणाप्रद मार्ग-दर्शन मिला है। 'चिंतामणि' के दोनो भागो मे सकलित उनके मनोवैज्ञानिक और समीक्षात्मक निबन्ध तो अपना स्थायी गौरव प्राप्त किये हुए है। रस-मीमासा जैसे गम्भीर विषय को उन्होने नवीन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा है। इसी प्रकार आधुनिक युग की अनेकानेक प्रवृत्तियो का विश्लेषण उन्होने अपने व्यक्तित्व की चेतना से जिस प्रणाली मे किया है, वह हिन्दी समालोचना का आधारभूत प्रतिमान बन सकी है। उनके द्वारा निरूपित साहित्य-समालोचना का विवेचन और विश्लेषण करने के लिए साहित्य-चितको को अब भी पर्याप्त उपकरण प्राप्त हो सकते है। समालोचना के सिद्धान्त और प्रयोग पक्ष का उनके समान निर्वाह बहुत कम विचारको मे मिलता है।[1]

समालोचक-व्यक्तित्व और क्रान्त दृष्टि

५. शुक्ल जी निश्चय ही हिन्दी के गम्भीर समालोचक थे। उन्होने भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तो का व्यापक अध्ययन किया था। उस अध्ययन मे वे अपनी उपज्ञात प्रतिभा के बल पर मौलिक उद्भावनाओ का भी समावेश कर सके थे। किसी भी वाद-प्रवृत्ति अथवा मान्यता को वे तभी स्वीकार करते थे, जब वह उनके मस्तिष्क मे अच्छी प्रकार से समा जाती अथवा उनके मूल मे उन्हे अपने मनोनुकूल न्याय-भावना का तत्त्व सन्निहित मिलता। उनकी बौद्धिक चेतना और रसानुभूति इतनी उर्वर और प्रबल थी कि वे उनके द्वारा साहित्योदधि का सम्यक् मन्थन कर एक ऐसा अमृत प्राप्त कर सके, जिसने उन्हे वस्तुत. 'आचार्य' पद का अधिकारी बनाया। ऐसी तो कोई बात नही कि उनके पूर्ववर्ती युग मे समालोचना मे गाम्भीर्य पक्ष का प्रस्फुटन होना आरम्भ नही हुआ था, किन्तु वस्तुत· वह गाम्भीर्य शुक्ल जी के समकक्ष न था। विश्वविद्यालय की उच्च कक्षाओ का अध्यापन करने के साथ-साथ वे अपने अध्ययन को क्रमश· व्यापक बनाते गये और कालानुक्रम से

---

१ शुक्ल जी की समीक्षा-कृतियों का तिथि-क्रम के अनुसार विवरण इस प्रकार है·

(अ) 'साहित्य', सरस्वती पत्रिका भाग ५, सख्या ५, ६, मई, जून सन् १९०४ ई०।

(आ) 'अपनी भाषा पर विचार' 'आनन्दकादम्बिनी' (ज्येष्ठ अग्रहायण) सन् १९०७ ई०।

(इ) 'उपन्यास' नागरी प्रचारिणी पत्रिका सन् १९१० जुलाई अक।

(ई) 'भाषा की शक्ति' नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सन् १९१२ ई०।

(उ) 'गोस्वमी तुलसीदास' रचनाकाल स० १९८० विक्रमी तदनुसार १९२३ ई०।

(ऊ) जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, रचनाकाल स० १९८१ वि० तदनुसार सन् १९२४।

(ए) भ्रमरगीतसार की भूमिका रचना, काल स० १९८२ वि० तदनुसार सन् १९२५।

(ऐ) भारतेन्दु साहित्य, प्रकाशन काल पौष पूर्णिमा स० १९८५ वि. स सन् १९३८।

(ओ) हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रथम सस्करण १९८६ वि० तदनुसार सन् १९२९।

(औ) काव्य में रहस्यवाद, प्रकाशन काल विजयादशमी स० १९८६ तदनुसार सन् १९२९।

(अ) चिन्तामणि, प्रथम भाग, प्रकाशन काल सन् १९३९ ई०।

(क) सूरदास, प्रकाशन काल वसन्तपचमी २००० वि० तदनुसार १९४३ ई०।

(ख) चिन्तामणि, दूसरा भाग प्रकाशन काल स० २००२ वि० तदनुसार सन् १९४५ सम्पादक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

(ग) रस-मीमासा, रचना काल सन् १९२२ के आस-पास, प्रकाशन काल स० २००६ वि० तदनुसार १९४९ ई० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

(घ) चिन्तामणि तथा रस-मीमासा मे उनके भिन्न-भिन्न समयों में लिखे गये लेखों का सकलन और सचयन है जिनकी तिथियाँ अलग-अलग है, किंतु उन सब का एक ही स्थान पर समाहार होने के कारण विस्तार भय से अलग-अलग उल्लेख नहीं किया गया है।

उनमे गंभीरता का समन्वय भी होता गया। यह उनके गाम्भीर्य का ही प्रतिफल था कि वे हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं मे अपनी मानसिक शक्ति का उन्मेष कर सके और साहित्यालोचन का क्षेत्र तो उनकी भावयित्री और रसग्राहिणी प्रतिभा के द्वारा और भी अधिक उपकृत हुआ। यह उन्ही के समान तत्त्वाभिनिवेशी और सुधी समालोचक की ही देन है जिससे हिन्दी मे समालोचना का एक स्वतन्त्र मानदण्ड स्थापित हो सका और उसकी मूलभूत प्रेरणा उनके गाम्भीर्यवश विपुल मात्रा मे स्थायी और चिरंतन बन सकी। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनकी वे सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचनाएँ हैं, जो उनके गम्भीर व्यक्तित्व के तानो-बानो से निर्मित और स्वतन्त्र चेतना से उद्भावित है।

६. आचार्य शुक्ल का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि वे समालोचना-साहित्य मे एक अद्भुत क्रान्ति और युग-परिवर्तन कर गये है। उनका आविर्भाव-काल भारतेन्दु-युग का अवसान और द्विवेदी-युग का प्रारम्भ था, किन्तु वे अपने सम्मुख प्रवाहित युग-धारा के ही अनुवर्ती नही रहे, अपितु वे उसे बहुत दूर तक आगे ले गये। उन्होने एक सफल समालोचक के रूप मे अपने युग की प्रवृत्तियो का सम्यक् आलोचन किया और उन्हे यह समझने मे कोई कठिनाई नही हुई कि उनमे किन-किन अशो तक सकीर्णता अथवा दुराग्रह और पूर्वग्रह के भाव सन्निहित है। साथ ही साथ युग-धर्म की आवश्यकता और जीवन-साहित्य की सर्जना के तत्त्व-बिन्दु भी उन्हे प्रकृत्या अवगत हो गये। उनके रसग्राही मस्तिष्क मे रीतिकालीन काव्य-धारा की रूढिग्रस्तता और भारतेन्दु-युग की जागरण-भावना भली-भाँति प्रविष्ट हो गई और उन्होने अपनी सहज सम्वेदना के द्वारा वस्तु-परिस्थिति की नाडी-परीक्षा कर यह जान लिया कि साहित्य को किस दिशा की ओर उन्मुख करने की आवश्यकता है। उन्होने उस युग मे उद्भूत साहित्य-समालोचन के उस झाडझखाड का उन्मूलन करने मे भी कोई कमी नही रखी जो साहित्य-क्षेत्र की सजीवनी शक्ति को क्षीण कर रहा था तथा जिसके कारण वाद प्रतिवादो का घटाटोप उसके सहज और स्वाभाविक विकास मे अवरोधपूर्ण बनने लगा था। उन्होने समझ लिया कि साहित्य की प्रकृत भावभूमि मे परिष्करण की अत्यन्त आवश्यकता है और यह परिष्करण तभी हो सकता है जब कोई साहित्य-मेधावी समीक्षक विरोधी शक्तियो के साथ सतत सघर्षशील बनकर चले। यही कारण है कि उन्होने अपने अध्ययन को अधिकाधिक रूप मे व्यापक और गम्भीर बनाना समीचीन समझा और वे उस अध्ययन और चिंतन के बल पर ही साहित्य-जगत् मे अपने सुदृढ चरण स्थापित कर एक आचार्य के रूप मे साहित्य का सच्चा निर्देशन सफलतापूर्वक कर सके। उनकी मान्यताओ और धारणाओ के पीछे एक ठोस शास्त्रीय आधार था, और वे जीवन की अनुभूति का चर्वण कर उसे ऐसी स्वस्थ अभिव्यक्ति दे सके थे, जिसने उन्हे समालोचना-जगत् का एक स्थायी स्तम्भ बनाया। वस्तुत. वे साहित्यालोचन के महदाकाश मे इस प्रकार छा गये कि उस पर उनका उज्ज्वल आलोक अद्यावधि प्रोद्भासित है और उनकी परवर्ती समालोचना भी उनके महान् व्यक्तित्व की परिधि को लाघकर निरपेक्ष सत्ता का स्वरूप नही ग्रहण कर सकी है। उनकी मृत्यु के पश्चात् भी आज का समालोचक उनके साहित्य-सिद्धान्तो के सम्मुख नतमस्तक है और वह उन पर व्यग्य अथवा आक्षेप करता हुआ भी उनसे प्रभावित है। इसे उनकी क्रातदर्शी और युग-प्रवर्त्तक प्रज्ञा के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? निश्चय ही उनका व्यक्तित्व आधुनिक समालोचना का मेरुदण्ड है, जिसके बिना वह पगु और अशक्त ही मानी जायगी। डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कथन हमे समीचीन प्रतीत होता है कि "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के गौरव थे। समीक्षा क्षेत्र मे उनका कोई प्रतिद्वन्दी, न उनके जीवन-काल मे था, न अब कोई उनके समकक्ष समालोचक है। आचार्य शब्द ऐसे ही कर्त्ता साहित्य-

कारो के योग्य है। प० रामचन्द्र शुक्ल सच्चे अर्थों मे आचार्य थे।[1]"

आधारभूत सामग्री और मूल विचारधारा

७. आचार्य शुक्ल की सस्तुति मे जो कुछ कहा गया है उसका यह अभिप्राय नही कि उनका समालोचक-स्वरूप सर्वतोभावेन मौलिक और स्वावलम्बी था तथा वे साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र मे कोई अद्वितीय उद्भावना करने वाले अद्भुत चिंतक थे। वास्तविकता तो यह है कि उन्होने प्राचीन और नवीन ज्ञान-राशि का सचयन बडी कुशलता और सतर्कता से कर अपने समीक्षा-सिद्धान्तो का निर्माण किया था। वे एक ओर जहाँ सस्कृत-साहित्य की अपार शास्त्र-निधि से सुपरिचित थे, वहाँ दूसरी ओर पश्चिमी साहित्य की सैद्धान्तिकता भी उनके अध्ययन-क्षेत्र से बहिर्गत नही थी। यह सब कुछ होने पर भी वे किसी विशेष रूढ़ि या सकीर्णता से बधन-ग्रस्त कभी नही हुए। उन्होने अपने समालोचना-शास्त्र के निर्माण मे दोनो का यथोचित आधार और प्रभाव ग्रहण किया है, किन्तु उन्हे केवल उसी अश तक स्वीकार्य समझा है, जिस अश तक उन्हे उसमे औचित्य का आभास मिला है। उन्हे न तो प्राचीन परम्परावादी ही कहा जा सकता है और न विशुद्ध नवीनतावादी ही। वस्तुत वे प्राचीनता और नवीनता की सधि मे उभय कूलो का सस्पर्श कर चलने वाले ऐसे मर्यादावादी समालोचक है, जिनकी सस्कारजन्य मान्यताएँ वर्णाश्रम-धर्म से आपूरित है और वे द्विवेदी-युग की नैतिकता और आदर्शवादिता के ठोस धरातल कर स्थित होकर भी उससे दूरवर्तिनी दृष्टि भी रखते है। यही कारण है कि उनके समीक्षा-क्षेत्र मे कलावाद, सौन्दर्य-शास्त्र और अभिव्यजनावाद आदि नवीन तथा विविध विचारधाराओ के निर्देशक विवादग्रस्त विषय भी आने से नही बच सके हैं। उनकी विचारधारा पर किस वर्ग का अधिक प्रभाव है, इसका निष्पक्ष निर्णय करना तो कठिन है, किन्तु इसमे भी कोई सन्देह नही कि उनकी साहित्य-विषयक धारणाओ के निर्माण मे भारतीय रस-सिद्धान्त का अधिक प्रभाव है। कुछ भी हो, वे जो कुछ भी है अपने मे सच्चे और निर्भीक समालोचक है और उन्हे किसी का अन्धानुयायी बनकर चलना तो सर्वथा अरुचिकर लगा है। अपने विचारो की दृढतावश उन्होने इस बात की कभी चिन्ता नही की कि उनके दृष्टिकोण को कोई हठवादितापूर्ण कहेगा या उन्हे सकीर्णतावादी की सज्ञा से अभिहित करेगा। वे तो जिस विषय को जिस रूप मे हृदयगम कर सके थे, उसे उसी प्रकृत रूप मे विवेचित करते चले है। निश्चय ही यह उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का एक ऐसा विशिष्ट गुण है जिसके कारण उन्होने काव्य मे रहस्यवाद, अभिव्यंजनावाद और कल्पनावाद आदि को केवल वही तक स्वीकार किया, जहाँ तक वे उनमे अपनी मनोभूमि के अनुकूल तत्त्व पा सके। यहाँ तक कि विश्व-कवि रवीन्द्र के काव्य तथा टालस्टाय आदि की आदर्शवादिता भी उन्हे एक निश्चित स्वरूप तथा सीमा मे ही मोह सकी है। उनकी ऐसी दृढता तथा विवेचन-शक्ति को देख कर यदि उन्हे हिन्दी का ही नही, अपितु आधुनिक भारतीय साहित्य का एक समर्थ समालोचक कह दिया जाय तो इसमे अतिशयोक्ति का किंचित्‌मात्र भी अश न होगा।

८. आचार्य शुक्ल का साहित्यालोचन के क्षेत्र मे प्रवेश एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उनके पूर्व प्राचीन भारतीय-साहित्य शास्त्र को नवीन दृष्टिकोण से मूल्याकित करने का कोई गण्यमान प्रयत्न नही हुआ था। सस्कृत साहित्य में रस, अलकार, ध्वनि आदि को लेकर जो कुछ लिखा गया था, उसका शास्त्रीय आधार अवश्य था, किन्तु उसे नवीन-'मनोवैज्ञानिक दीप्ति' नही मिल सकी थी।[2] रीतिकाल में तो जो कुछ लक्षण-ग्रन्थ लिखे गए थे, वे अधिकाशत उनकी उद्धरणी मात्र ही बने रहे

---

१. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल : स० गुलाबराय और विजयेन्द्र स्नातक, में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का "आलोचक रामचन्द्र शुक्ल" शीर्षक लेख, पृष्ठ २५।

२. प० नददुलारे वाजपेयी, 'आचार्य शुक्ल का काव्यालोचन', पृष्ठ ५६।

और उनमे भी अनेक स्थलो पर एकांगी तथा अपूर्ण मीमासा का ही प्रादुर्भाव हुआ। भारतेन्दु-काल मे साहित्य-रचयिताओ का प्रमुख ध्यान रचनात्मक साहित्य के उद्भावन की ही ओर रहा। द्विवेदी-युग केवल नैतिकता और सुरुचिपूर्ण आदर्श तक ही परिसीमित रह गया और उसे प्राचीन रीति काव्य-शास्त्र मे श्रेयस्कर और ग्राह्य तत्वो की उपलब्धि नही हुई। इस प्रकार साहित्यालोचन के क्षेत्र में बनी हुई एकागिता को दूर कर व्यापक दृष्टि के अनुरूप कार्य करने की प्रबल आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति के लिए प्राचीन और नवीन साहित्य का निष्पक्ष विवेचन सर्वतोभावेन वाछनीय था। कहना होगा, शुक्ल जी ने इन समस्त बातो का सम्यक् चिंतन और गम्भीर मनन किया और वे प्राचीन साहित्य-शास्त्र को नवीन आलोक मे देख सके। उन्होने रसवाद की मीमासा भारतीय और पश्चिमी विचारधारा का सम्यक् सामंजस्य करते हुए की और वे अलंकारवाद की रूढिग्रस्तता को दूर कर उसे जीवन-सौन्दर्य का पर्याय बनाकर ग्रहण कर सके। यह उनकी उच्च काव्य-भावना का ही परिणाम था कि वे समालोचना के क्षेत्र मे एक नवीन रूप और प्रकार उद्भावित कर सके और उनकी विचारधारा का एक निश्चित मानदंड बन सका। यह बात अवश्य है कि उनकी मान्यताओ मे अनेक स्थलो पर वैयक्तिक रुचि-वैचित्र्य का प्राधान्य होने से भी नही बच सका, जिसके कारण वे अनेक स्थलो पर एकागी निर्णय ही दे पाए। उदाहरणार्थ उन्होने कथात्मक साहित्य या प्रबन्ध-रचना को मुक्तक-काव्य की समता मे श्रेष्ठतर माना और निर्गुण-सगुण के विवेचन मे वे सगुणवादी धारा की ओर ही अधिक झुके। इसी प्रकार उनके मानस मे तुलसी के प्रति इतना अधिक श्रद्धाभाव समाहित था कि वे मुख्यतः उन्हीं की काव्य-रचनाओ को अपनी समालोचना की सैद्धान्तिकता का आधार बनाकर चले और केशव को हृदयहीन तथा कबीर को मूर्खपन्थी तक कहने मे भी उन्हे किसी प्रकार का सकोच नही हुआ। रहस्यवाद और छायावाद के प्रति उनके मन मे एक ऐसी आक्रोश-भावना-सी प्रविष्ट हो गई थी जिसके कारण वे उसकें काव्यगत प्रयोग को विदेशी तथा अग्राह्य ही समझते रहे और उसका विवादग्रस्त स्वरूप उन्हे महत्त्वहीन सा लगा। क्रोचे का अभिव्यजनावाद तो उन्हे 'भारतीय वक्रोक्तिवाद के विलायती उत्थान' से अधिक वैशिष्ट्यपूर्ण नही प्रतीत हुआ। इसी प्रकार कलावाद, कल्पनावाद और स्वच्छन्दतावाद भी उनके मस्तिष्क मे उनकी निजी धारणा के अनुसार ही आकार ग्रहण कर सके। उन्हे डी० एल० राय की रचनाओ मे विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ की कृतियो की अपेक्षा जो उच्च भाव-सवेदन मिला, उसके मूल मे भी उनकी वैयक्तिक रुचि का प्राधान्य है। अभिप्राय यह है कि शुक्ल जी की अपनी निजी विचारधाराएँ तथा सीमाएं थी और वे प्रत्येक विषय को उन्ही के अनुरूप ही ग्रहण करते थे। इसे एक दृष्टि से उनकी मान्यता सम्बन्धी सकीर्ण परिधि भी कहा जा सकता है तो दूसरी ओर उनके समुन्नत व्यक्तित्व का मूर्तिमान निदर्शन भी माना जा सकता है। इसका एक दृष्टिकोण यह भी हो सकता है कि शुक्ल जी की ये मान्यताएँ अपने वैयक्तिक अवरोध मे ग्रस्त होने पर भी भविष्य के विकास की वे रक्त-शिराएँ है, जिनसे समालोचना-साहित्य आगे बढने का इगित पा सका है।

मर्यादित भावना और युग-प्रभाव

९. आचार्य शुक्ल की आलोचनाओ का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि उन्होने अपनी काव्य-समीक्षा मे बडे समारोह के साथ सामाजिक सम्पर्क का आह्वान किया है।[1] वे सर्वत्र लोकजीवन की पृष्ठभूमि के परिवेश मे ही अपना समीक्षण-कार्य करते चले है और उनका विवेचन जीवन-जगत् की प्रत्यक्ष अनुभूति के ठोस आधार पर स्थित है। इस प्रसग मे यह जानना भी आवश्यक है कि वे अपने युग के सशक्त समालोचक होने पर भी आधुनिक साहित्य की नवीनतम

१. प० नददुलारे वाजपेयी, आचार्य शुक्ल का काव्यालोचन, पृष्ठ ६१।

प्रवृत्तियो के साथ अधिक तादात्म्य नही कर सके थे। यही कारण है कि वे नव्यतर काव्य के प्रशसक बहुत कम बन सके। एक प्रकार से उनकी जीवन-सवेदना नवीन वादो और शैलियो के प्रति कुठित सी रही। वे यूरोप के साहित्य-क्षेत्र मे प्रचलित तथा अन्यान्य साहित्यो पर अपना प्रभाव अकित करने वाले वादो का समुचित समर्थन नही कर सके। उन्होने उन वादो को 'बदलते हुए फैशन' जैसी चीज बतलाया और पश्चिमी साहित्य की समृद्धि की पृष्ठभूमि मे उनसे उनका स्वस्थ निरूपण नही हो सका। वे न तो इन काव्यवादो की कलात्मकता और सौन्दर्य-वृत्ति का ही सम्यक् मूल्याकन कर सके और न परिवर्तित सामाजिक अथवा राजनीतिक क्षेत्र की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का ही समुचित लेखा-जोखा दे सके। परिणाम यह हुआ कि उनका साहित्य-विवेचन यथेष्ट रूप मे मध्ययुगीन विचारधारा की क्रोड मे ही सीमाबद्ध हो गया। उन्होने तुलसी के मानस को अपना आप्त-वाक्य बनाकर जिस लोक-धर्म के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की, वह भारतीय वर्णाश्रम-धर्म से ही अनुस्यूत था और उसमे मध्य वर्ग की वे आदर्शात्मक प्रेरणाएं थी, जिनका प्रस्फुटन बीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे हुआ था। अत यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी का दृष्टिकोण मानस मे निरूपित हिन्दू-समाज पद्धति और आदर्शवाद का ही परिणाम है जिसे उन्होने सार्वदेशिक व्यवस्था का स्वरूप देने का यथासाध्य प्रयास किया है।[1]

१० शुक्ल जी के समालोचक-स्वरूप के निर्माण मे उनकी समकालीन परिस्थिति और उसकी सीमाओ का भी यथेष्ट हाथ है। वे द्विवेदी-युग की देन थे, जो आदर्श, नीति और सुरुचिपूर्ण सवेदनाओ से निर्मित था। उन्होने इनका पूर्ण निर्वाह अपनी साहित्य-समालोचना मे किया। वे अपने उच्च कोटि के व्यक्तित्व और अध्ययन की छाप उस पर अकित करते चले और उनका निरूपण साहित्य के समस्त अगो का सम्यक् विन्यास करने की प्रवृत्ति से हुआ; यद्यपि उसमे मुख्य विवेचना काव्य-विषयक ही रही। उन्होने अपनी आलोचनाओ द्वारा साहित्य को यह संदेश दिया कि वह अपने सर्वांगीण विकास की ओर उन्मुख होकर चले। उन्होने उन आलोचको पर कठोर व्यग्य किया जो समीक्षा के एक ही अग अथवा उसकी सकीर्ण परिधि मे सिमट कर रह जाते है तथा जिनमे अधिकाशत अपने पक्ष के समर्थन का दुराग्रह प्रबल होता है। उन्होने ऐसी आलोचनाओ को किसी भी दृष्टि से साहित्याभिवृद्धि के लिए उपादेय नही बतलाया और यही कहा कि उनसे व्यर्थ ही भ्रातिपूर्ण वातावरण की सृष्टि होती है। जो आलोचक ऐसी प्रवृत्ति से चलते है, उन्हे उन्होने 'साहित्यिक कनकौओ को उडाने की प्रवृत्ति वाले कहा है', क्योकि उनके द्वारा साहित्य की अन्तरात्मा की दिव्य झलक कदापि नही प्राप्त हो सकती। अभिप्राय यह है कि आचार्य शुक्ल ने अपने मौलिक दृष्टिकोण से साहित्य का परीक्षण करने की चेष्टा की है। आगे के पृष्ठो मे उनकी वाद-समीक्षाओ तथा समीक्षागत सिद्धान्तो का विवेचन कुछ विस्तार के साथ किया जायगा, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि शुक्ल जी की मनोभूमिका कितनी उदात्त और परिपक्व थी और वे किस प्रकार का मानदड समीक्षा-क्षेत्र मे स्थापित करना चाहते थे। इसके लिए पहले हम उनके काव्य मे रहस्यवाद और अभिव्यंजनावाद विषयक विवेचन को लेगे, जो उनके 'चिन्तामणि द्वितीय भाग' मे सकलित है तथा तदुपरान्त 'रस-मीमासा' के आधार पर उनके सैद्धान्तिक विश्लेषण का स्पष्टीकरण करेंगे।

वाद-समीक्षा और आचार्य शुक्ल : काव्य में रहस्यवाद

मूल प्रेरणा और उद्देश्य

११. 'रहस्यवाद' आधुनिक हिन्दी-समालोचना के विकास-काल मे सैद्धान्तिक समीक्षा

१. प० नंद दुलारे वाजपेयी, आचार्य शुक्ल का काव्यालोचन १, पृष्ठ ६०-६२।

का एक ऐसा विषय रहा है, जिस पर हिन्दी के प्राय समस्त गण्यमान समालोचकों ने यथामति विवेचन प्रस्तुत किया है। आचार्य शुक्ल की समीक्षाओं के अन्तर्गत भी इस सम्बन्ध मे अनेक बार उल्लेख हुआ है, जो उनके एतद्विषयक दृष्टिकोण को समझने मे परम उपयोगी है। द्विवेदी-युग के सवर्धन काल मे रहस्यवाद के प्रकृत स्वरूप का विश्लेषण करने की भावना से उसके पक्ष-विपक्ष मे एक युग पर्यन्त सुधी समालोचको मे भी वाग्युद्ध चलता रहा, जिसमे अपने पक्ष का समर्थन करने की जितनी अधिक प्रवृत्ति थी, उतनी निष्पक्ष भाव से तथ्यनिरूपण की नही। ऐसी समालोचनाओ से जहाँ एक ओर अपरिपक्व अध्येताओ के लिए तत्त्व-ग्रहण करने की अपेक्षा (तत्त्वोपलब्धि के स्थान पर) विषय-विवेचन की ग्रन्थियो मे उलझने के लिए अधिक अवकाश थे, वहाँ दूसरी ओर मेधावी जिज्ञासुओ को उसके वाग्जाल से ऊपर उठकर वास्तविक चिन्तन की ओर अग्रसर होने के लिए भी प्रेरणा थी। यह समय आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के समालोचक-व्यक्तित्व के महिमामय विकास का था, अत उन्होने भी इस प्रकार की प्रवृत्ति मे सक्रिय भाग लिया, जिसका परिणाम था उनकी 'काव्य मे रहस्यवाद' नामक समीक्षा-कृति का प्रकाशन। इसका मूल उद्देश्य आचार्य के शब्दों मे यह था कि 'रहस्यवाद या छायावाद की कविता के सम्बन्ध मे भ्रान्तिवश या जान बूझ कर जो अनेक प्रकार की बेसिर-पैर की बातो का प्रचार किया जाता है, वह बद हो।"[1]

१२. आचार्य शुक्ल की 'काव्य मे रहस्यवाद' नामक पुस्तक का अध्ययन करने से यह सहज ही आभास हो जाता है कि उन्होने इसकी रचना तत्त्व-प्रकाशन की भावना से एक विशेष प्रकार की झुझलाहट की थी। बात यह थी कि उस समय कवीन्द्र रवीन्द्र की रहस्यपरक काव्य-कृतियो की प्रतिच्छाया हिन्दी के नवोदित स्वच्छन्दतावादी कवियो की अन्तश्चेतना पर सहज भाव से प्रतिबिम्बित होने लगी थी और हमारे काव्यकार द्विवेदा-युग की स्थूल नैतिकता के विरुद्ध विद्रोह करते हुए सूक्ष्म-सौन्दर्य-चित्रण की ओर क्षिप्रगति से बढ रहे थे जिन पर अकुश लगाना[2] उस युग के चोटी के समालोचको का कर्त्तव्य-सा हो गया। इसका यह आशय नही कि कवियो की इस प्रकार की आत्मपरक प्रवृत्ति मे उच्छृंखलता का ही अभिव्यंजन प्रधान था, जिसका दमन आवश्यक था। यदि गभीरतापूर्वक देखा जाय तो इन नवीन कवियो के काव्य का सौष्ठव-विधान अत्यन्त भव्य और शालीन था, किन्तु उनके अनुकरण पर जब काव्य-क्षेत्र मे वितडावाद की सृष्टि होने लगी और कतिपय साहित्यकारों द्वारा रहस्यवाद या छायावाद को 'वर्तमान युग की एकमात्र कविता' एवम् उसे ही काव्य का सर्वस्व मानकर साहित्य-क्षेत्र मे अनेक प्रकार के प्रवाद फैला दिये गये तो उनकी इस एकातिरेकता का निराकरण करना समयोचित प्रतीत होने लगा। अत. प० रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इस विस्तृत निबन्ध द्वारा काव्य के प्रकृत क्षेत्र का निर्धारण कर उसके अन्तर्गत रहस्यवाद की सस्थिति का निरूपण किया। निश्चय ही उनका प्रस्तुत विवेचन सर्वग्राह्य धरातल पर अधिष्ठित नही है, और उसके दृष्टिकोण की विशेष सीमाएँ भी हैं, जिनका उल्लेख रहस्यवाद के समर्थक कवियो और समालोचको ने अपनी समीक्षा-कृतियो मे किया है। किन्तु यह बात निर्भ्रान्त है कि शुक्ल जी के इस विवेचन ने एक बार समीक्षा-क्षेत्र मे आन्दोलन सा उत्पन्न कर दिया और उनके विवेचित सत्य के व्यावहारिक पक्ष ने अनेक कृत्रिम रहस्यवादी काव्यकारो के आसन हिला दिये।

विवेचना का आधार और रहस्यवाद की स्थिति

१३. आचार्य शुक्ल मे विषय-निरूपण की एक सतुलित दृष्टि थी, वे मुख्य विषय पर

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, दूसरा भाग, "काव्य में रहस्यवाद", तृतीय आवृत्ति, संवत २०१० वि०, पृ० ४६।

२. वही।

आने से पूर्व अपनी तर्कशक्ति द्वारा एक ऐसी पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर लेते थे, जिसके आधार पर अपनी विवेचना को अग्रसर किया जा सके। यही कारण है कि उन्होने काव्य मे रहस्यवाद का स्थान-निर्धारण करने के पूर्व काव्य का लक्षण निरूपित किया और तदुपरान्त इस विषय का सयोजन करने की चेष्टा की कि काव्य की प्रकृतभूमि मे रहस्यवाद की प्रतिष्ठा के लिए किस आकार-प्रकार मे गुजाइश हो सकती है। वैसे तो उन्होने 'कविता क्या है'[1] शीर्षक अपने एक समालोचनात्मक निबन्ध मे भी इस विषय का पर्याप्त विवेचन किया है, किन्तु इस प्रसग मे भी उनके लिए यह आवश्यक हो गया है कि वे काव्य या कविता का स्वरूप निरूपित करे। ऐसा करते हुए वे प्राचीन शास्त्रीय समालोचको की भाँति काव्य का कोई सूत्रबद्ध लक्षण तो नही निर्दिष्ट कर सके हैं, किन्तु उनकी परिभाषा से काव्य का उद्देश्य और प्रयोजन अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है। निश्चय ही उनका काव्य-प्रयोजन भारतीय आदर्शवाद की परम्परा के बहुत निकट है, जिसके द्वारा वे काव्य की सम्प्रेषण-शक्ति का आभास यह कह कर देते हैं कि 'कविता मनुष्य के हृदय को व्यक्तिगत सम्बन्ध के सकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है जहाँ जगत् के नाना रूपो और व्यापारो के साथ उसके प्रकृत सम्बन्ध का सौन्दर्य दिखाई पड़ता है।"[2] ऐसा कहते हुए वे काव्य का काम मनुष्य के सब भावो और सब मनोविकारो के लिए प्रकृति के आधार-क्षेत्र से आलम्बन या विषय चुन-चुन कर रखना निर्दिष्ट[3] कर, काव्य का सम्बन्ध जगत् और जीवन की अनेकरूपता के साथ स्वत: जोड देते हैं। इस प्रकार उनकी काव्य-विषयगत प्रत्यक्ष दृष्टि सगुणोपासना की भाँति व्यक्त और गोचर जगत् को काव्योपकरण बनाने मे अधिक संगति पाती है, और यही कारण है कि वे रहस्यवाद मे वर्णित अव्यक्त की लालसा को अपनी काव्य-सरणि मे कोई महत्त्व नही देते।

१४. शुक्ल जी का काव्य-प्रतिमान भावो का उदात्त और व्यापक विधान पर अवस्थित था। वे जीवन के सौन्दर्य को वैचित्र्यपूर्ण मानते हुए उसमे सभी प्रकार के भावों का समावेश आवश्यक समझते थे। यही कारण है कि उन्होने निष्क्रिय सौन्दर्य-चित्रण को केवल स्वप्न-द्रष्टाओ का उपजीव्य बतला कर उसमे उस व्यापक भावभूमि का अभाव सिद्ध किया है, जिसकी पवित्रता मे 'व्यक्ति-जीवन लोक-जीवन मे लय' होकर उसमे विश्व-हृदय का स्पदन पाता है।[4] उनकी काव्य-परीक्षण की इसी कसौटी ने उन्हें जहाँ एक ओर महात्मा टालस्टाय की लोकादर्शवादिता की एकागी मनो-वृत्ति के विपक्ष मे अपना मत देने के लिए बाध्य किया है, वहाँ दूसरी ओर वे विश्व-कवि रवीन्द्र की कविता मे भी अलौकिक स्वप्न-दर्शन की एक ऐसी अतिरेकता पाते हैं, जिसके कारण उसमे जीवन के वैविध्य का परिग्रहण न्यूनाश मे ही हुआ है। अत: शुक्ल जी रहस्यवादियो के उपर्युक्त परम्परा मे चित्रित सौन्दर्य को एकपक्षीय घोषित कर उसे काव्य का सर्वांगीण पक्ष नही मानते, क्योंकि उसमें केवल स्वप्न-सयोजन ही रहता है, जबकि जीवन मे जागरण की महत्ता उससे कम नही है।[5] कहने की आवश्यकता नही कि इस धारणा के मूल मे भी आचार्य शुक्ल का रहस्यवाद के उस स्वरूप पर व्यग्य है जो जीवन मे केवल प्रेम, शान्ति तथा स्वप्न-दर्शन की तो उपयोगिता

१. यह निबन्ध सर्वप्रथम सन् १९०८ में सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। तदुपरान्त सन् १९२१ ई० में हिन्दी निबन्धमाला, भाग २, में सकलित किया गया। सन् १९३९ में जब चिन्तामणि प्रथम भाग का प्रकाशन हुआ तो यह उसमें भी सगृहीत हुआ।

२. प० रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि दूसरा भाग, काव्य में रहस्यवाद, तृ० आ० स० २०१०, पृ० ४६-४७।

३. वही, पृष्ठ ४७।

४. वही, पृष्ठ ४९।

५. वही पृष्ठ ४९।

मानता है किन्तु जिसमे मानव-जीवन की लोम-विलोम प्रकृतियो के सामजस्यपूर्ण उद्घाटन की क्रियमाण चेष्टा नही है। इस प्रकार शुक्ल जी रहस्यवाद की अन्तर्जगत् विषयक एकांगिता का निरूपण कर उसके दुर्बल पक्ष का विवेचन इस प्रकार करते है .

'जगत् की विघ्न-बाधा, अत्याचार, हाहाकार के बीच ही जीवन के प्रत्यक्ष सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति तथा भगवान की मगलमयी शक्ति का दर्शन होता है अत. जो आँख मूँदकर काव्य का पता जगत् और जीवन से बाहर लगाने निकलते हैं, वे काव्य के धोखे मे या उसके बहाने से किसी और ही चीज के फेर मे रहते है । इसी प्रकार जो लोग ज्ञात या अज्ञात के प्रेम, अभिलाषा, लालसा या वियोग के नीरव-स्वर-क्रन्दन अथवा वीणा के तार-झंकार तक ही काव्य-भूमि समझते है उन्हे जगत् की अनेकरूपता और हृदय की अनेक भावात्मकता के सहारे अधकूपता से बाहर निकलने की फिक्र करनी चाहिए ।'[1]

१५. उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल द्विवेदी-युग की नैतिकता और सामाजिक आदर्श की दृष्टि का काव्य-परिवेश मे सयोजन एक अनिवार्य तत्त्व मानते है । उनकी इस प्रकार की धारणा के निर्माण मे अवतारवाद की निष्ठा और गोस्वामीजी की मर्यादावादी भूमिका का भी यथेष्ट भाग है । यह अवतरण उनकी अव्यक्त के प्रति अधिमानसिक प्रतिक्रिया का सूचक है, अन्यथा वे इतने कठोर शब्दो मे उसका प्रतिकार नही करते । गोस्वामी तुलसीदास ने भी अलख का राग अलापने वाले योगियो पर चिढकर अपने एक दोहे 'तुलसी अलखहिं कालखै राम नाम जपु नीच' मे ऐसी ही मनोवृत्ति प्रकट की थी । इससे यह भी स्पष्ट होता है कि शुक्ल जी काव्यानुभूति को किसी विशेष प्रकार की निराली और वायवी वृत्ति नही समझते थे, जिसका हमारे लौकिक और व्यक्त जीवन से कोई सम्बन्ध ही न हो । उनका यही दृष्टिकोण उन्हे रहस्यवादी कवियों की आध्यात्मिक चेतना से भिन्न स्तर पर अधिष्ठित करता है और वे इस प्रकार के काव्य-प्रयोगो को भारतीय मान्यताओ के विरुद्ध समझते है । इसमे कोई सन्देह नही कि शुक्ल जी का यह प्रतिमान काव्य के लोक-मगल पक्ष का अभिव्यजक है, और वे मुख्यत. इसी को अपनी समीक्षाओ का आधार बनाकर चले है, किन्तु जीवन की भाँति काव्य मे भी अध्यात्म-चिन्तन के कुछ विशेष क्षण होते अवश्य है, इस सत्य की उपेक्षा नही की जा सकती । संसार के सभी प्रमुख काव्यकारो की उत्कृष्ट रचनाएँ उनकी इसी आत्मपरक या स्वात सुखाय भावनाओ से लिखी गई हैं। यहाँ तक कि शुक्ल जी के आदर्श और लोकप्रिय महाकवि तुलसीदास भी रघुनाथ-गाथा को 'स्वात सुखाय' कह कर विनय-पत्रिका मे अपनी अंतस्साधना की अभिव्यक्ति के लिए अधिक अवसर पा सके हैं । वस्तुतः काव्य का निर्माण एक विशेष प्रकार की तन्मयता और असाधारण मन स्थिति मे होता है, अत काव्य को केवल गोचर जगत् और व्यक्त जीवन की सीमाओ के अन्तर्गत ही केन्द्रित नही किया जा सकता । हाँ, यह बात अवश्य है कि उसे एकमात्र हृत्तंत्री के नीरव तारो की झकृति तक ही परिबद्ध समझना भी उचित नही है । ऐसी स्थिति में शुक्लजी का प्रस्तुत दृष्टिकोण एक विशेष सीमा तक ही ग्राह्य समझा जा सकता है । सम्भव है. उन्होने काव्य-क्षेत्र को लोक-सामान्य भावभूमि तथा उपयोगितावादी शालीनता प्रदान करने के लिए इस प्रकार का प्रतिमान स्वीकार किया हो और पश्चिमी समीक्षा क्षेत्र मे प्रचलित 'कला के लिए कला' के अथवा 'काव्य के लिए काव्य' के सिद्धान्त की भारतीय साहित्य-शास्त्र मे एकनिष्ठ पुनरावृत्ति देखकर ही अपने इन विचारो को अधिक दृढता से निरूपित किया हो ।

काव्य की प्रकृत भूमि और रहस्यवाद का क्षेत्र

१६ रहस्यवाद को काव्य की प्रकृत भाव-भूमि से निष्क्रमित करने के लिए शुक्ल जी ने

१. प० रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि दूसरा भाग, काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ५०-५१ ।

पूरी मोर्चाबन्दी-सी की है। वे अपने विवेचन के प्रसंग मे बार-बार 'मनोमय कोश को काव्य की प्रकृत भूमि'[१] निर्दिष्ट कर जीवन के प्रयत्न-पक्ष से सम्बन्धित रचनाओ मे शाश्वत युगीन काव्य-कोटि की प्रतिष्ठा करते है। इसी प्रकार उन्हे काव्य की सामान्यभूमि मे किसी प्रकार की वाद-सृष्टि भी स्वीकार नही है, क्योकि उसके द्वारा उसे साम्प्रदायिक परिधि मे आबद्ध कर दिया जाता है। सच तो यह है कि वे सिद्धान्त रूप मे जगत् को अव्यक्त की अभिव्यक्ति कहकर भी काव्य को अव्यक्त की अभिव्यक्ति नही मानते, क्योकि काव्य-भूमि प्रत्यक्ष आलम्बन चाहती है और यह प्रत्यक्ष आलम्बन केवल अभिव्यक्त जीवन ही हो सकता है। अत वे प्रत्येक दशा मे काव्य का प्रादुर्भाव इसी जगत् रूपी अभिव्यक्ति को चित्रित करने की प्रेरणा से ही मानते है।[२] प्रत्यक्ष जगत् से दूर हटी हुई कविता उन्हे 'आलस्य, अकर्मण्यता और नैराश्य की वाणी ही'[३] लगती है। क्योकि उसमे मगल का सिद्ध रूप मुखरित नही होता तथा वह एक प्रकार से जगत् और जीवन से पलायन करना सिखलाती है। अत उनकी दृष्टि मे जगत् की अनेक रूपात्मकता की भाँति काव्य की अनेक भावात्मकता सग्राह्य है। यही कारण है कि वे रहस्यवादी कवियो द्वारा स्वीकृत प्रेम, अभिलाषा, विरह, औत्सुक्य, हर्ष आदि विशेष मनोवृत्तियो के सकीर्ण घेरे मे काव्य की व्यापकता को निगडबद्ध न कर, उसे क्रोध, भय, उत्साह, घृणा आदि अन्यान्य भावो तक भी परिव्याप्त करना चाहते है, जिससे जगत् और जीवन मे स्वस्थ सामजस्य की प्रतिष्ठा हो सके तथा हमारी रागात्मिका वृत्ति के लिए परिष्करण का व्यापक क्षेत्र मिल सके।[४]

१७. शुक्ल जी के रहस्यवाद विषयक विवेचन के सम्यक् आकलन से यह स्पष्ट ध्वनित हो जाता है कि वे उसकी अभ्यर्थना मे जो आशसापूर्ण निर्णय नही दे सके, उसका एक प्रमुख कारण उनकी मध्यकालीन विचारधारा है। इसमे कोई सन्देह नही कि रहस्यवाद का एक स्वरूप ज्ञान-साधना की क्रोड मे पनपने के कारण बहुत अधिक गूढ बन गया और उसमे साम्प्रदायिकता की गध आने लगी; किन्तु उसका एक सौष्ठवपूर्ण कलात्मक दृष्टिकोण भी रहा है, इस सत्य की भी उपेक्षा नही की जा सकती। हिन्दी-साहित्य की काव्य-परम्परा मे जिस रूप और प्रकार मे रहस्यवाद का उद्भव और विकास हुआ है, वह अपने काव्य-चमत्कार और अर्थ-सौरस्य की दृष्टि से अभिनन्दनीय है तथा वर्तमान काव्य निश्चय ही उसके द्वारा विकासोन्मुख और वैभवपूर्ण बना है, इसको अस्वीकार करना उसके विरोधी विचारको के लिए भी सहज नही है। अत· शुक्ल जी उसके जिस स्वरूप को विदेशी छाया मे पला हुआ सिद्ध करते है, वह कई स्थलो पर उनके पूर्वाग्रह का ही परिणाम है। पश्चिमी देशो मे इस प्रकार की काव्यगत आध्यात्मिकता को उन्होने भौतिक सघर्ष का प्रतिवर्तन कहकर उसे बनावटी फैशन से अधिक महत्त्व नही दिया है क्योकि उसमे कवियों के सन्देश के नाम पर केवल कृत्रिमता और एकागिता का ही प्रचार किया जाता है। सच तो यह है कि शुक्लजी का काव्यादर्श बाल्मीकि, कालिदास तथा तुलसीदास जैसे भारतीय महाकवियो की विचारधाराओ के अधिक निकट था, क्योकि वे काव्य-निर्माता भी सम्पूर्ण चराचर तक अपनी मनोभूमिका प्रसारित कर जीवन और जगत् की व्यापक सत्ता मे अपने व्यक्तित्व का समाहार करना अपनी चरम संसिद्धि समझते थे। यदि ऐसा न होता तो उनके काव्य मे भी अव्यक्त के एकात स्वप्न देखने की प्रवृत्ति मिलती। अतः शुक्ल जी के मतानुसार काव्य का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से स्वत सिद्ध है और "जो कोई यह कहे कि अज्ञात और अव्यक्त की अनुभूति से हम मतवाले हो रहे हैं, उसे काव्य-क्षेत्र

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृष्ठ ७३।

२. वही, पृष्ठ ५४।

३. वही, पृष्ठ ५३।

४. वही, पृष्ठ ५५-५६।

से निकलकर मतवालों (साम्प्रदायिको) के बीच अपना हाव-भाव और नृत्य दिखाना चाहिए।"[1]

१८. शुक्ल जी ने रहस्यवाद को जिस अर्थ मे विदेशी तत्त्व स्वीकृत किया है, उसका एक मान्यतागत आधार भी है। वस्तुत वे काव्य और दर्शन का क्षेत्र दो भिन्न-भिन्न रूपो मे मानते थे तथा अव्यक्त तथा अगोचर को केवल ज्ञान का विषय समझते थे। उनका यहाँ तक विश्वास था कि 'ज्ञानातीत दशा से चाहे वह कोई दशा हो या न हो काव्य का कोई सम्बन्ध नही है।'[2] वस्तुत उन्हे उपासना की भाँति काव्य की अधिकतर रागात्मिका वृत्ति मे ही अधिक आस्था थी। अत: वे वादग्रस्त काव्य को अधिकतर काव्याभास कहकर उसकी रहस्यपरक सरणियो को साम्प्रदायिक सृष्टि से अधिक महत्त्व नही देते थे। यही कारण है कि उन्होने रहस्यवादी प्रवृत्तियो का सर्वत्र विरोध किया और जो लोग अव्यक्त के प्रति अपनी लालसा व्यक्त करने लगे, उन्हे भारतीय काव्य-दृष्टि से सर्वथा प्रतिकूल सिद्ध किया ; क्योकि 'भारतीय दृष्टि के अनुसार अज्ञात और अव्यक्त के प्रति केवल जिज्ञासा हो सकती है, अभिलाषा या लालसा नही। जिज्ञासा केवल जानने की इच्छा है, उसका सम्बन्ध शुद्ध ज्ञान के साथ होता है। इसके विपरीत लालसा या अभिलाषा रतिभाव का एक अग है। अत. अव्यक्त या अज्ञात का अभिलाष बिलकुल विदेशी कल्पना है और मजहबी रुकावटों के कारण पैगम्बरी मत मानने वाले देशो मे की गई है।'[3]

१९. उपर्युक्त उद्धरण शुक्ल जी की रहस्यवाद विषयक उपपत्ति का मौलिक आधार है। इसी के प्रतिमान से उन्होने रहस्यवादी काव्यधारा को विदेशी प्रवृत्ति सिद्ध किया है। उनकी इस मान्यता मे भारतीय रस-निष्पत्ति के उस सिद्धान्त की भी छाया है जो काव्य मे विभाव की मूर्त्तता को अपरिहार्य अंग निर्दिष्ट करता है। उनका तो स्पष्ट मत है कि काव्य मे अव्यक्त की लालसा सर्वथा अवैज्ञानिक है, अत जो कवि अपनी कविता मे बार-बार अध्यात्म और ब्रह्मवाद की चर्चा करते है, उन पर वे आचार्य के सिद्ध-पीठ-से चिढते हुए लिखते हैं .

'जो यह भी नही जानता कि ब्रह्मवाद और कविता किन चिड़ियो के नाम हैं, जो अग्रेजी की अधी नकल पर बनी बगला की कविताओ तथा वैष्णव कवियो की बग-समीक्षाओ तक ही सारी दुनिया खतम समझता है, वह यदि मुँह बनाकर कहने लगे कि 'जब मैं ब्रह्मवाद की कोई कविता देखता हूँ तब हर्ष से नाच उठता हूँ' 'तो एक सुशिक्षित सुनने वाले पर क्या असर होगा ?'[4]

२०. शुक्लजी के इस कथन का मूल मन्तव्य यही है कि ब्रह्मवाद जैसे दार्शनिक सिद्धान्तों को काव्य-क्षेत्र मे घसीटना भारतीय काव्य-परम्परा के विरुद्ध है और कबीर तथा जायसी आदि कवियो ने अपनी कृतियो के बीच अद्वैतवाद, मायावाद, एकेश्वरवाद, प्रतिबिम्बवाद आदि की अभिव्यजना विभिन्न रूपको, अन्योक्तियो तथा साध्यवसान रूपको द्वारा की है, वह उनकी मान्यता मे साम्प्रदायिक है। इसी प्रकार संत-कवियो की बानियो मे इला, पिंगला और सुषुम्ना आदि विभिन्न नाड़ी-चक्रो की जो चर्चा की गई है, उसका भी वे काव्य की प्रकृत भावभूमि की दृष्टि से खण्डन करते हैं।

रहस्यवाद विषयक मान्यताओं का मूल्यांकन

२१. प्रश्न होता है कि शुक्ल जी ने जिस प्रतिमान के आधार पर रहस्यवाद को काव्य-भूमि से बहिष्कृत किया है, वह क्या भारतीय दृष्टिकोण के प्रतिकूल है अथवा उन्होने केवल अपनी बात जमाये रखने के लिए ही इस प्रकार का निर्णय दे दिया है ? वस्तुतः इस प्रकार की शकाओं

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल - चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृष्ठ ६३।

२. वही, पृष्ठ ७३।

३. वही, पृष्ठ ८१।

४. वही, पृष्ठ ८४।

का समाधान गणित-विज्ञान की निश्चित परिगणन-प्रणाली के अनुरूप नही किया जा सकता। बात यह है कि ज्ञान उपासना और कर्म की भारतीय साधना मे जो भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ निर्धारित की गई है, वे केवल तत्त्वोपलब्धि की सुगमता के दृष्टिकोण से ही निर्मित है, अन्यथा मानव-जीवन की अखडता को इस प्रकार के भिन्न-भिन्न साँचो मे विभक्त नही किया जा सकता। यह बात दूसरी है कि इन श्रेणियो के निर्माण मे मानव-मन की बोधमय तथा रागपूर्ण वृत्तियो का उभार अत्यधिक मात्रा मे रहने के कारण ही, किसी एक को प्राधान्य देते हुए उसके अनुरूप ही उसे ज्ञान, उपासना तथा कर्म की श्रेणियाँ प्रदान कर दी जाएँ। शुक्ल जी अपनी मानसिक रुचि और आस्थाओ के अनुसार काव्य को उसके विशुद्ध रागात्मक स्वरूप मे ग्रहण करने के पक्षपाती थे, अतः उन्होने रहस्य, गुह्य तथा योग-साधना जैसे अध्यात्मपूर्ण क्षेत्रो मे उसकी सीमा का संयोजन करना अनुचित समझा और उपनिषद् तथा दर्शन-ग्रन्थो की भिन्न कोटि निर्धारित कर वाल्मीकि को ही आदि कवि होने का गौरव प्रदान किया, जब कि प्रसाद जी ने अपने रहस्यवाद विषयक विवेचन मे सत्य की अभिव्यक्ति को ही काव्य का चरम उद्देश्य बतलाकर कवि और मनीषी को बहुत निकट लाकर उपस्थित किया। सुतराम् इस विषय मे सहसा यह निर्णय करना कठिन-सा है कि शुक्ल जी की काव्य-क्षेत्र विषयक मान्यता किस मानसिक मथन का परिणाम है, फिर भी उसमे से उनके कुछ स्थलो पर प्रतिष्ठित पूर्वाग्रह को निकाल देने पर उनका काव्य-प्रतिमान ग्राह्य समझा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि रहस्यवादी धारा के प्रति उनके मन मे एक प्रकार की प्रतिकूल प्रतिक्रिया ने ऐसा स्थान जमा लिया था जिसके कारण वे उसे काव्य मे औदात्य और सौरस्य प्रदान करने मे कुछ भी उपयोगी नही समझते थे। ऐसी स्थिति मे हमे बाध्य होकर यह कहना ही पडता है कि उनके रहस्यवाद विषयक विवेचन मे यथेष्ट ठोसता और तथ्य-परकता होते हुए भी, उसका दुर्बल पक्ष बिना प्रकट हुए नही रहता है।

रहस्यवाद के प्रसंग में अन्य विषयों का विवेचन

२२. शुक्ल जी ने काव्य मे रहस्यवाद का स्थान निर्धारित करने के प्रसग मे ही काव्य मे प्रकृति-चित्रण, कल्पना-संयोजन, अलकार-विधान, छन्द-प्रयोग और उक्ति-वैचित्र्य आदि के सम्बन्ध मे भी अपनी धारणाएँ व्यक्त की है और उनका काव्य-निर्माण मे आपेक्षिक महत्त्व निर्धारित किया है। वास्तव मे वे काव्य के प्रयोजन और उद्देश्य के सबन्ध मे जो दृष्टिकोण लेकर प्रारम्भ ही से चले हैं, उसी की सपुष्टि उन्होने अन्य विवेच्य विषयो के साथ भी की है। उनका विस्तृत विवेचन शुक्ल जी के काव्य-स्वरूप विषयक सिद्धान्तो का विश्लेषण करते हुए किया जाएगा। यहाँ तो मेरे कथन का मूल आशय यही है कि शुक्ल जी ने काव्य मे रहस्यवाद की योजना को एक सीमा तक ही स्वीकार किया था और वे उसे कविता की एक शाखा विशेष मानने के पक्ष मे थे।

२३ शुक्ल जी का 'काव्य मे रहस्यवाद' शीर्षक विस्तृत निबन्ध इस विषय का प्रत्यक्ष निदर्शन है कि वे सच्चे काव्य मे लोक-पक्ष और मूर्त-जगत् की ही अभिव्यक्ति पाते थे अतः उन्हे न तो यह ग्राह्य प्रतीत हुआ कि काव्यकार अज्ञात लोक के प्रति अव्यक्त कल्पनाएँ करे और न उन्हे यह ही अच्छा लगा कि प्राचीन ग्रन्थो की आध्यात्मिकता के नाम पर मनमानी व्याख्याएँ की जाएँ। उन्होने उन लोगो का विरोध किया है जो 'अभिज्ञान शाकुतल' की आध्यात्मिक व्याख्याएँ करते है अथवा मेघ की यात्रा को जीवात्मा का परमात्मा मे लीन होने का साधन-पथ निर्दिष्ट करते है। काव्य की वर्ण्यवस्तु और वर्णन-प्रणाली की दृष्टि से उन्होने इस विषय का पर्याप्त विवेचन कर दिया है कि किस प्रकार की कविताएँ विशुद्ध रहस्यभावना को लेकर चलती है और किन कविताओ मे केवल वादग्रस्त आडम्बर रहता है।[1] काव्य मे रहस्यवाद की स्थिति स्पष्ट करने के लिए उन्होंने

१. प० रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृष्ठ ८६।

इस बात पर विशेष जोर दिया है कि कवि-कर्म-विधान के द्विविध पक्षो मे जितने भी विषय जायेगे वे व्यक्त जीवन और जगत् के होगे और केवल उन्ही के द्वारा पूर्ण रस की अनुभूति की जा सकेगी। उनका तो स्पष्ट कहना है कि जिस भाव की कवि व्यजना करे, उसमे वह स्वय भी लीन हो जाय तथा पाठको का भी उससे तादात्म्य करा दे। वास्तव मे भावो का यह तादात्म्य ही पूर्ण रसानुभूति का रूप धारण करता है। हाँ, वैसे मध्यम श्रेणी की रसानुभूति भी हुआ करती है।[1]

अन्यान्य वादों की चर्चा

२४ वैसे तो शुक्ल जी ने काव्य मे रहस्यवाद की स्थिति का ही मुख्य विवेचन अपने प्रस्तुत निबन्ध मे किया है, किन्तु प्रसगवश उसमे अन्य विषयो का भी सयोजन होता गया है। उन्होने भारतीय साहित्य शास्त्र की, परम्परा मे विकसित होने वाले रसवाद, अलकारवाद, ध्वनिवाद और रीतिवाद आदि साहित्यिक वादो का उल्लेख किया है, किन्तु उक्ति-वैचित्र्य के आधार पर चलने वाले अभिव्यजनावाद की रहस्यवाद की भाँति ही कटु आलोचना की है। इस वाद मे वे अनुभूति और भाव-क्षेत्र के उपकरणो के स्थान पर केवल बाह्य-चित्र पाते हैं, जिनका हमारे जीवन की गम्भीर अनुभूतियो के साथ मे कोई सबन्ध नही है। अभिव्यजनावाद के सम्बन्ध मे उन्होने अपने इन्दौर वाले भाषण मे विशेष विवेचन किया था, अत. 'पुनरुक्ति दोष' से बचने के लिए हम उसका व्यापक विश्लेषण वही करेगे। यहाँ तो हमारे कहने का मुख्य प्रयोजन यही है कि शुक्लजी छाया-वाद या रहस्यवाद के नाम से रची जाने वाली कविताओ मे अभिव्यजनावाद के द्वारा बेल-बूटे बनाने वाली प्रक्रिया का विरोध करते है क्योकि उनमे अभिव्यंजना के बाह्य कौशल के अतिरिक्त और कुछ नही होता। कहने की आवश्यकता नही कि इसी विवेचन के प्रसग मे उन्होने यूरोपीय काव्य-क्षेत्र मे प्रचलित कलावाद, प्रतीकवाद, प्रभाववाद, प्रकृतवाद और संवेदनावाद आदि और भी अनेक वादो का विवेचन किया है और अन्त मे उनके अस्थायित्व की घोषणा कर उन्हे किसी भी रूप मे आदर्श नही समझा है। उनका यह विश्लेषण इन वादो का पश्चिमी देशो मे होने वाला क्रमिक विकास भी स्पष्ट करने मे सहायक हुआ है।

२५. शुक्ल जी ने यूरोप के साहित्यिक क्षेत्र मे उद्भूत होने वाले तथा मिटने वाले वादो मे अधिकतर प्रतिवाद या प्रतिवर्तन का रूप देखा है, जिसका अभिप्राय यह है कि उसमे जीवन का कोई चिरतन सत्य अथवा स्थायी मूल्य नही होता।[2] यही कारण है कि उन्होने उनके अनुगमन का विरोध किया है। प्रतीकवाद को अपना प्रेरणा-विषय बनाकर फ्रास के काव्य-क्षेत्र मे जिस प्रकार की गडबडी मची और उसका प्रभाव इगलैण्ड होता हुआ भारतवर्ष के विभिन्न प्रातीय साहित्यो तक चला आया, उसका शुक्ल जी ने अपनी दृष्टि से तार्किक विश्लेषण किया है। सच तो यह है कि वे काव्य मे प्रतीको के प्रयोग की परम्परा बहुत पुरानी मानते है और उनके द्वारा काव्यार्थ स्वरूप मे आने वाले चमत्कार या सौष्ठव की प्रशंसा भी करते है किन्तु भारतीय दृष्टि से उन्हे केवल अलकार-प्रणाली के अन्तर्गत ही रखना पर्याप्त समझते है।[3] वस्तुत. उनका विरोध तो उन प्रतीको से है जिनका रहस्यवादी कवियो ने उपयोग करते हुए उन्हे ऐसी अतिरेकता मे पहुँचा दिया है जहाँ काव्य की गम्भीर व्यजना केवल खिलवाड मात्र बन गई है। अत. वे प्रतीक-वाद तथा रहस्यवाद के नाम पर केवल अज्ञात और अगोचर की मूर्ति खडी करने के लिए निर्मित हुई कविता को केवल एक प्रवचना मात्र समझते है।

---

१. प० रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृष्ठ ८८।

२. वही, पृष्ठ, १०७।

३. वही, पृष्ठ ११०।

रहस्यवाद के दोष और भारतीय परम्परा से उसका विरोध

२६ शुक्लजी ने रहस्यवादी काव्य मे सब-से अधिक विरक्तिजनक दो बाते बतलाई है--वे है, उनमे 'भावो की सचाई का अभाव तथा व्यजना मे कृत्रिमता'।[1] इन्ही दोनो दुर्गुणो के कारण वे इस प्रकार की काव्यधारा मे अनेक प्रकार की दोषोद्‌भावना भी कर सके है। उन्होने काव्यगत रहस्यवाद के विकास का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत कर बतलाया है कि फारस, अरब तथा यूरोप के देशो मे किस प्रकार भक्ति की व्यापक व्यजना के लिए रहस्यवाद की उत्पत्ति हुई और वहाँ के ईसाई भक्तो ने साध्यवसान रूपको का सहारा लेकर अपनी भावनाओ का अभिव्यजन किया जो मजहबी रुकावटो के कारण बहुत ही दबे स्वर मे संभव हो सका। उन्होने भारतीय भक्ति-काव्य को, भगवान् की प्रत्यक्ष विभूति के प्रति निस्संकोच भाव से आत्म-निवेदन करने वाला सिद्ध कर उस पर किसी भी प्रकार के रहस्यवाद, प्रतिबिम्बवाद या वेदाती वादो का प्रभाव नही माना है और सिद्ध किया है कि 'मुसलमानी अमलदारी मे रहस्यवाद को लेकर जो निर्गुण भक्ति की बानी चली, वह बाहर से अरब और फारस की ओर से आई थी। वह देशी वेश मे एक विदेशी वस्तु थी'।[2] इसी प्रकार वे आधुनिक हिन्दी काव्य के रहस्यवाद की मूल प्रेरणा के सम्बन्ध मे लिखते है 'इधर अंग्रेजो के आने पर ईसाइयो के आन्दोलन के बीच जो 'ब्रह्म समाज' बगाल मे स्थापित हुआ, उसमे भी पौत्तलिकता का भय कुछ कम न रहा। अत: उनकी विजय और प्रार्थना, जब काव्योन्मुख हुई, तव उसमे भी रहस्यवाद का सहारा लिया गया। सारांश यह कि रहस्यवाद एक साम्प्रदायिक वस्तु है, काव्य का कोई सामान्य सिद्धान्त नही।"[3]

२७ शुक्लजी ने स्पष्ट रूप से इस बात को सिद्ध करने की चेष्टा की है कि भारत मे काव्य-क्षेत्र इस प्रकार के वादो से बिलकुल अलग रखा गया। यहाँ "रहस्य और गुह्य, योग तत्र आदि के भीतर ही रहे। यहाँ के अवतारवाद के मूल मे रहस्यवाद अवश्य रहा किन्तु आगे चलकर वह पूर्ण प्रकाशवाद के रूप मे पल्लवित हो गया।"[4] राम और कृष्ण के निर्दिष्ट रूप और लोक-विभूति की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति कला को लेकर ही हमारे यहाँ का भाव-काव्य अग्रसर हुआ है, जिसमे छिपे रहस्य की कोई गुजाइश नही है। अत. शुक्ल जी के मतानुसार भारतीय भक्ति-पद्धति और काव्य-धारा मे रहस्यवाद के लिए कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नही है। शुक्ल जी इसी प्रसग मे उन लोगो को कडी फटकार देते है जो 'तुलसी, सूर आदि भारतीय पद्धति के भक्तों मे भी रहस्यवाद सूँघा करते है।' उनका स्पष्ट मतव्य है कि "भारतीय भक्ति-काव्य अनुभूति की स्वाभाविक और वास्तविक पद्धति को लेकर ही चला है। इसमे किसी वाद के द्वारा विपर्यय करके नही, वह अभिव्यक्ति या प्रकाश की ओर उन्मुख है, रहस्य या छिपाव की ओर नही।"[5]

स्वाभाविक रहस्यभावना का समर्थन और साम्प्रदायिक रहस्यवाद की निंदा

२८. उपर्युक्त विवेचन से यह नही समझना चाहिए कि शुक्ल जी रहस्यवाद के कट्टर विरोधी थे। सच तो यह है कि वे स्वाभाविक रहस्य-भावना को अत्यन्त रमणीय और मधुर समझते थे।[6] उनका कहना था कि वह भावना मन की एक ऐसी अन्तर्दशा है जिसका अनुभव

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृष्ठ १२२।
२. वही, पृष्ठ १२५।
३. वही, पष्ठ १२५।
४. वही, पृष्ठ १२५-१२६।
५. वही, पृष्ठ १२८।
६. वही, काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ १३०।

ऊँचे कवि अन्यान्य अनुभूतियो के बीच कभी-कभी प्रकरण प्राप्त होने पर किया करते हैं; किन्तु उसे किसी वाद के साथ सम्बद्ध करके उसे काव्य का एक सिद्धान्तमार्ग स्वीकार करना कदापि उचित नही कहा जा सकता।[1] इस प्रकार शुक्ल जी ने इसी प्रसग मे जहाँ साम्प्रदायिक या सिद्धान्ती रहस्यवादियो की निन्दा की है, वहाँ उन कवियो के वाक्यांशो की प्रशंसा भी की है जिनमे सुन्दर और स्वाभाविक रहस्यभावना मिलती है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि वर्ड्स्वर्थ और शैली को उन्होने ऐसे कवि माना है जो रहस्य को 'वाद' के रूप मे लेकर नही चले, अपितु जिनकी रहस्य-भावना स्वाभाविक पद्धति पर होने के कारण हृदय मे सच्ची अनुभूति उत्पन्न करती है। उन्होने बतलाया है कि वर्ड्स्वर्थ की कविता ब्रह्म की प्रत्यक्ष विभूति, प्रकृति से सीधा प्रेम सम्बन्ध रखती है और कॉलरिज भी स्वाभाविक रहस्य-भावना को लेकर चलने वाला कवि है। दोनो के काव्य में व्यंजित भावना अत्यन्त स्वाभाविक और भव्य है और उनमे किसी वाद के भीतर निरूपित तथ्य की व्यंजना प्रकृति के रूपो और व्यापारो से जबरदस्ती नही कराई गई है। इसी प्रकार शुक्ल जी ने शैली, कीट्स और ब्राउनिंग के काव्य की भी प्रशंसा की है और बतलाया है कि जो समीक्षक इनकी स्वाभाविक रहस्य-भावना को साम्प्रदायिकता की दुर्गन्ध से धूमिल बनाते हैं वे सच्चे काव्य-पारखी नही है। कहना होगा, आचार्य ने सूफी रहस्य-भावना और यूरोपीय काव्य-कल्पना की प्रक्रिया को लेकर इसी निबन्ध मे एक ऐतिहासिक निरूपण भी प्रस्तुत कर दिया है। उनके इस निरूपण से जहाँ उनके गम्भीर अध्ययन और उनकी मौलिक सूझ का पता चलता है, वहाँ यह भी आभासित हो जाता है कि वे अपनी धारणा पर इतने अटल रहते थे कि उन्हे कोई विरोधी शक्ति नही हटा सकती थी। वे कलावाद और अभिव्यजनावाद के जिन रूपो के कटु आलोचक रहे, वह सदैव उनकी प्रवृत्ति मे बना रहा और वे बार-बार उन काव्यो और समीक्षाओ की निन्दा करते रहे, जो उनके भावो और विचारो से मेल नही खाते थे। सचमुच वे एक अत्यत सधे हुए समालोचक थे।

पश्चिमी रहस्यवाद विषयक विचार

२९. शुक्ल जी ने विलायती रहस्यवाद की कविताओ की विशेषताओ का उल्लेख भी किया हैं, जिनमे प्रमुख है उसकी लाक्षणिक प्रयल्भता और वाग्वैचित्र्य।[2] वे छन्द-बधन का त्याग और लय का, रहस्यवाद और छायावाद से कोई सम्बन्ध नही मानते। उन्होने इस प्रकार की हवा को अमेरिका की ओर से आई हुई कहा है और अपने कथन के प्रमाण मे अमेरिकी कवि वाल्ट ह्विटमैन की घास के पत्ते (लीव्ज ऑफ ग्रास) नाम की कविता का उदाहरण दिया है। इस प्रकार उनका, रहस्यवादी कवि निराला जी से प्रकट रूप से मतभेद है जो मुक्त छन्दो को विशुद्ध भारतीय परम्परा के अनुकूल मानते है। शुक्ल जी हिन्दी मे आ निकले हुए छायावाद को 'विलायती चीजो का मुरब्बा'[3] कहते हैं। उनके मतानुसार छायावाद या रहस्यवाद काव्य-वस्तु (मैटर) से सम्बन्ध रखता है और अभिव्यंजनावाद का सम्बन्ध विधान-विधि से होता है। उन्होने बतलाया है कि छायावाद के अन्तर्गत बहुत-सी रचनाएँ ऐसी भी हुई हैं जिनमे अभिव्यजनावाद के अज्ञात अनुकरण के कारण बहुत सुन्दर लाक्षणिक चमत्कार स्थान-स्थान पर मिलता है। वे हिन्दी के छायावादी और रहस्यवादी कवियो को अपना सत्परामर्श देते हुए कहते हैं कि "यदि वे वाद का साम्प्रदायिक पथ छोड अपनी समस्त विशेषताओ के सहित प्रकृत काव्य-भूमि पर उतर आयें और अंग्रेजी तथा बंगला आदि भाषाओ की अन्धी अनुकरण-वृत्ति को त्याग कर, लाक्षणिक प्रयोगो मे सावधानी से

---

१. प० रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, दूसरा भाग, काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ १३१।

२. प० रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृष्ठ १४२।

३. वही, पृष्ठ १४८।

चलने लगें तो निश्चय ही उनकी काव्य-धारा अधिक स्वाभाविक और सुष्ठु बन सकती है।[1] इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से शुक्ल जी के रहस्यवाद के सम्बन्ध मे बने हुए विचारो का परिचय भली भाँति किया जा सकता है।

निष्कर्ष और मूल्यांकन

३० आचार्य शुक्ल ने रहस्यवाद और छायावाद को बहुत निकट रूप मे देखा है। व जिस प्रकार चिंतना-क्षेत्र के अद्वैतवाद को भावना-क्षेत्र मे रहस्यवाद कहते है, उसी प्रकार छायावाद को वेदांत के पुराने प्रतिबिम्बवाद के निकट ला रखते हैं। उनकी धारणा है कि यह प्रतिबिम्बवाद सूफियो के यहाँ से होता हुआ यूरोप मे गया, जहाँ कुछ दिन पीछे प्रतीकवाद से संश्लिष्ट होकर धीरे-धीरे बंग-साहित्य के एक कोने मे आ निकला और नवीनता की धारणा उत्पन्न करने के लिए 'छायावाद' कहा जाने लगा। यह काव्यगत रहस्यवाद के लिए गृहीत दार्शनिक सिद्धान्त का द्योतक शब्द है। साराश यह हैं कि आचार्य शुक्ल ने एक तत्त्वदर्शी समालोचक की भाँति स्वमत्या काव्य मे रहस्यवाद की व्याख्या की और उसे भारतीय और पाश्चात्य विचारधाराओ की क्रोड मे समझाने का प्रयत्न किया। उनके विवेचन से सिद्ध होता है कि वे एक स्वतत्र रुचि के व्यक्ति थे और विदेशी अन्धानुकरण को अत्यत हेय समझते थे। उन्होने उस समय रहस्यवाद और छायावाद के नाम पर चलने वाली लच्छेदार पदावलियो का कडा विरोध किया है और उन्हे साहित्य के पवित्र मदिर मे गडबडझाला उत्पन्न करने वाली कहा है। साथ ही साथ वे इस बात से भी बडे क्षुब्ध हुए है कि हिन्दी पत्र-पत्रिकाओ मे सभ्रान्त समालोचक अग्रेजी की पदावली के अनुवाद करके मनमाने ढग से जो हिन्दी कवियो की काव्य-कृतियो की परख मे भिडा देते है, वे साहित्य का एक प्रकार से अनर्थ ही करते है। उनका यह लेख ऐसी गडबडियो को रोकने के निमित्त ही लिखा गया है। यद्यपि इस विस्तृत निबन्ध मे एक ही बात पुनरावृत्ति के रूप मे बार-बार आई है किन्तु इसमे शुक्ल जी को कोई दोष नही दिया जा सकता। इसका मूल कारण यह है कि उस समय की काव्य-विधाओ की अव्यवस्था उन्हे बहुत अखरती थी और उसको दूर करने के प्रसग मे एक ही बात को बार-बार कहकर सत्य का प्रकाश करने मे उनका जी नही भरता था। इस कथन मे दो मत हो ही नही सकते कि आचार्य के इस निबन्ध ने उस समय काव्य-जगत् और समीक्षण-क्षेत्र मे एक महान् क्रान्ति कर दी और उनके विपक्षियो का भी साहस नही हुआ कि वे खुलकर इसका विरोध करे। हाँ, आगे चलकर उनकी मान्यताओ के खडन-मडन की परम्परा भी चली, जिनमे उनकी कुछ बातो को ग्राह्य और कुछ को अग्राह्य कहा गया। उनका विवेचन हम यथाप्रसंग आगे करेगे।

अभिव्यजनावाद और कलावाद विषयक मान्यताएँ

इन्दौर का अभिभाषण और उसका उद्देश्य

३१ शुक्ल जी ने इन्दौर मे होने वाले चौबीसवे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की साहित्य परिषद् के सभापति-पद से जो भाषण दिया था वह हमारे समालोचना-साहित्य की एक स्थायी निधि बन गया है। वैसे तो उन्होने उक्त भाषण मे शुद्ध साहित्य के भीतर आने वाले समस्त वाङ्मय के सिहावलोकन की चेष्टा की है, किन्तु मुख्य रूप से उसमे काव्य तथा उसके क्षेत्र मे प्रचलित अभिव्यजनावाद का ही व्यापक विश्लेषण हुआ है। शुक्ल जी का वही भाषण 'काव्य मे अभिव्यजनावाद' के नाम से चिन्तामणि, दूसरा भाग के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है, जिससे शुक्ल जी के समीक्षात्मक विचारो की उपलब्धि मे पर्याप्त सामग्री मिलती है। इस भाषण मे भी

१. प० रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृष्ठ १४८-१४९।

शुक्ल जी ने काव्य-स्वरूप तथा उसके अगोपागो के सम्बन्ध मे प्राय· वे ही बाते कही हैं, जो उनकी अन्य रचनाओ मे उपलब्ध होती हैं, किन्तु अभिव्यजनावाद के सम्बन्ध मे कुछ विशेष विवेचन हुआ है। शुक्ल जी के मतानुसार "साहित्य के अन्तर्गत वह सारा वाड्मय लिया जा सकता है, जिसमे अर्थ-बोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन हो तथा जिसमे ऐसे वाड्मय की विचारात्मक समीक्षा या व्याख्या हो।"[1] इस परिभाषा के पश्चात् उन्होने एक व्याख्याकार आचार्य के रूप मे उपर्युक्त लक्षण मे प्रयुक्त एक-एक शब्द को लेकर अपना स्पष्टीकरण किया है, जिसको देखकर यह कहा जा सकता है कि वे भारतीय शास्त्र-पद्धति के अनुरूप पहले किसी विषय का सूत्र रूप मे लक्षण निर्धारित करते है और तदुपरान्त उसकी विवेचना करना समीचीन समझते है। उनकी यह पद्धति प्राय सभी समालोचनाओ मे मिलती है। उनके विवेचन की यह भी एक विशेषता है कि वे कही पर भी व्यर्थ की भावुकता के फेर मे नही पडते और समालोचना के लिए आवश्यक बौद्धिक रसानुभूति का सर्वत्र निर्वाह करते चलते हैं। उनकी साहित्य की परिभाषा से स्पष्ट है कि वे साहित्य का लक्ष्य केवल अर्थबोध मात्र कराना नही मानते और रचना तथा समीक्षा इन दोनो का समाहार उसमे करते है।[2] उन्होने श्रव्य-काव्य, दृश्य काव्य तथा कथात्मक गद्य-काव्य के रूप मे साहित्य-क्षेत्र मे आने वाली रचनाओ का विवेचन कर काव्यात्मक गद्य-प्रबन्ध या लेख तथा विचारात्मक निबध या लेख के नाम से साहित्य के दो रूप और माने हैं जिसका अभिप्राय यह है कि काव्य, नाटक, उपन्यास, गद्य-काव्य तथा निबध और समालोचना ये पॉच प्रमुख विषय साहित्य-विवेचन के अन्तर्गत आते है। शुक्ल जी ने अपने विवेचन मे यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इन पाँचो प्रकार की रचनाओ के रूप तथा प्रकार मे क्या अंतर है और वे किन-किन बातो मे एक दूसरे से वैशिष्ट्य रखते हैं। हाँ, यह बात दूसरी है कि उन्होने काव्य का विश्लेषण अत्यत व्यापक विधान मे किया है और अन्य रचनाओ पर केवल सामन्य सम्मतियाँ दी है, जिसका कारण यह है कि उनकी मानसिक अभिरुचि काव्य की ओर ही विशेष थी और वे उसी के रचनात्मक तथा समीक्षात्मक पक्ष का विवेचन करने मे ही अधिक उल्लास पाते थे।

उक्त वाद-विवेचना का मूल आधार

३२. शुक्ल जी ने काव्य-विश्लेषण मे भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा का यथेष्ट अनुगमन किया है। उन्होने भाषा-शक्ति, शब्द-योजना तथा अर्थ-व्यंजना मे भारतीय आचार्यों द्वारा निरूपित वाक्य कथन के आवश्यक अग योग्यता, उपपन्नता या प्रकरण-संबद्धता आदि का निरूपण कर अभिधा, लक्षणा और व्यजना का भी महत्त्व निर्धारित किया है। वे शब्द-शक्ति का काव्य-सौष्ठव के मूल मे बडा महत्त्व मानते है, किन्तु उन्होने उन समीक्षको का विरोध भी किया है जो समालोचना के नाम पर व्यर्थ का अर्थशून्य वाग्जाल प्रसारित करते हैं। अपने अध्ययन के बल पर उन्होने भारतीय काव्य-शास्त्र मे निरूपित शब्द-शक्ति का सामजस्य पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों के साथ करते हुए उन आलोचको की प्रशसा की है जो समालोचना मे विवेचना को प्रमुखता देकर तथ्य-विश्लेषण की ओर उन्मुख रहते है। ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिमी समालोचको मे उन्हे आई० ए० रिचर्ड्स पर विशेष आस्था है, क्योकि उसने भी उन्ही की भाँति समीक्षा-क्षेत्र मे उद्भूत अनेक प्रकार की भ्रांतियो के निवारण की चेष्टा की थी। उनके विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि वे 'कला कला ही के लिए है', 'अभिव्यजना ही सब कुछ है', 'अभिव्यज्य कोई वस्तु नही', 'काव्य मे अर्थ ध्यान देने की कोई वस्तु नही, काव्य मे बुद्धि घातक होती है', आदि साहित्यिक प्रवादो के घोर विरोधी हैं और उनकी काव्य के प्रकृत

---

१. प० रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि,दूसरा भाग, तृतीय आवृत्ति, २०१० वि०, पृष्ठ १५६।

२. वही, पृष्ठ १५६।

क्षेत्र में कोई आवश्यकता नही समझते।[1] उनकी इसी प्रसग मे एक विशेष मान्यता यह भी है कि काव्य की रमणीयता लक्ष्यार्थ या व्यग्यार्थ मे न होकर वाच्यार्थ मे है, चाहे वह वाच्यार्थ योग्य और उपपन्न हो अथवा अयोग्य और अनुपपन्न।[2] साकेत की एक रसात्मक उक्ति[3] के आधार पर अपनी विवेचना प्रस्तुत करते हुए उन्होने इस मान्यता की पुष्टि भी की है। इस विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि शुक्ल जी पश्चिमी समीक्षा-क्षेत्र मे प्रचलित कलावाद तथा अभिव्यंजनावाद आदि के आतिरेक्य का विरोध करने के लिए एक भूमिका प्रस्तुत कर रहे है। सच तो यह है कि उनकी दृष्टि मे, काव्य मे जीवन के किसी गभीर तथा वास्तविक तथ्य का उद्घाटन होना चाहिए, न कि केवल बाहरी चमक-दमक और कलाबाजी का। अपनी निर्भीक तथा स्वतन्त्र प्रकृति के कारण उन्होने आचार्यत्व के बल पर, क्रोचे के सौन्दर्य-शास्त्र मे निरूपित अभिव्यजनावाद का कठोर शब्दों मे खडन किया है जो वाच्यार्थ को ही काव्य का सर्वस्व मानने के फलस्वरूप कई स्थलो पर पूर्वाग्रही सा बन गया है। कालातर मे उनकी इस प्रकार की मान्यताओं का विरोध जिन समालोचको द्वारा किया गया, उनका विवेचन हम प्रसारकालीन समालोचना के अन्तर्गत करेंगे। यहाँ तो इस उल्लेख का मूल अभिप्राय यही है कि शुक्ल जी अपने सिद्धान्तो के कितने धनी थे और जो विचारधारा उनके मस्तिष्क मे जम जाती थी, उसका वे कितने प्रबल शब्दो मे समर्थन करते थे। कहने की आवश्यकता नही कि प० महावीर प्रसाद द्विवेदी के स्वभाव मे भी यही बात थी, किन्तु शुक्लजी की विवेचना के पीछे अपेक्षाकृत अध्ययन और गाम्भीर्य का विशेष बल था।

अभिव्यंजनावाद के प्रति दृष्टिकोण और उसका स्पष्टीकरण

३३. शुक्ल जी की समालोचनाओ मे यह भी एक विशेषता है कि वे किसी भी विषय पर अपना मत निर्णय प्रकट करने के पूर्व विवेच्य विषय की मान्यताओ के प्रमुख अशो का निष्कर्ष पूर्व-पक्ष के रूप मे प्रकट करते हैं और तदुपरान्त अपनी प्रतिक्रिया का आभास देते है। उन्होने क्रोचे के अभिव्यजनावाद की एकागी अयथार्थता सिद्ध करने के लिए प्रारम्भ ही से उसकी यह मान्यता ली है कि "कला मे अभिव्यजना ही सब कुछ है, अभिव्यंजना से अलग कोई और अभिव्यंग्य वस्तु या अर्थ नही होता।" कहने की आवश्यकता नही कि क्रोचे की यह मान्यता ही शुक्ल जी के विषय-प्रतिपादन अथवा क्रोचे का विरोध करने के लिए आधारशिला बन गई है। उनके विरोध का स्वर इसलिए भी तीव्र हो गया है कि क्रोचे ने काव्य की गणना कला के अन्तर्गत की है। यही से इन दोनों आचार्यों मे काव्य-कला के स्वरूप-विषयक मतभेद उत्पन्न हो जाता है, जिसके मूल मे दोनो का विभिन्न देशीय दृष्टिकोण तथा सास्कृतिक स्तर जितना अधिक उपादान कारण है, उतना तात्विक निरूपण नही। इसमे कोई संदेह नही कि क्रोचे के अभिव्यजनावाद मे भी अनेक ऊहापोह और विवादग्रस्त स्थल हैं, किन्तु शुक्ल जी ने उन्हे और भी अधिक अतिरजना का रूप दे दिया है। दोनो आचार्यों मे भ्रम का श्रीगणेश तभी से हो जाता है जब कि एक कला मे अभिव्यजना (व्यग्यार्थ) को प्रमुखता देता है और दूसरा वाच्यार्थ की पुष्टि करता है। वैसे तो क्रोचे ने भी अपने विवेचन मे सहजानुभूति को महत्त्व दिया था; किन्तु शुक्ल जी की दृष्टि उस ओर बहुत कम गई। उन्होने तो अपने 'प्रत्युत्पन्नमतित्व' के द्वारा शीघ्र ही यह निर्णय कर दिया कि क्रोचे ने जगत् और जीवन से स्वतन्त्र कला की जिस आत्मा का अभिव्यजन तथा विवेचन किया है, यह पुराने ईसाई भक्त और संतो का प्रभाव है जो इस प्रकार

१. चिन्तामणि, दूसरा भाग, काव्य में अभिव्यजनावाद, पृष्ठ १६६।
२. वही, पृष्ठ १६६।
३. आप अवधि बन सकू कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ।
मैं अपने को आप मिटाकर जाकर उनको लाऊँ। मैथिलीशरण गुप्त, 'साकेत'।

के दिव्य आभास का अनुभव करने की बातें प्राय: कहते रहते थे तथा जिनके अनुकरण पर ब्लेक आदि अंग्रेजी कवियो ने उन्ही 'सन्तो के आभास वाली बात पकडकर मनुष्य की कल्पना को इलहाम के दर्जे तक पहुँचा दिया था।'[1]

३४. आचार्य शुक्ल मे विषय-ग्रहण की एक अद्भुत प्रज्ञा थी। अपने व्यापक अध्ययन और गंभीर चिन्तन के द्वारा वे किसी भी विषय की मूल विचारधारा को सहज भाव से हृदयगम कर उसे अपनी बना लेते थे। पश्चिमी समीक्षा-क्षेत्र मे प्रचलित कल्पना की पुकार का समाहार उन्होने भारतीय रसवाद मे व्याख्यात भाव-योग के अन्तर्गत करते हुए उसे "काव्य का क्रियात्मक बोध-पक्ष"[2] माना और जो लोग उसके लोक को आध्यात्मिक तथा निराला मानते हैं, उनका विरोध किया। इसी प्रकार कला के साथ-साथ काव्य-समीक्षा के क्षेत्र मे चलने वाली सौन्दर्य की पुकार भी उन्हे अच्छी नही लगी और वे काव्य के स्वरूप-लक्षण मे सौन्दर्य के स्थान पर "रमणीय" शब्द को अधिक उपयुक्त समझने लगे। उनके विवेचन से स्पष्ट है कि वे "सौन्दर्य-शास्त्र" को किसी ठीक-ठिकाने का शास्त्र नही मानते थे और उसका काव्य के साथ तो किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नही समझते थे।[3] उनका यह विश्लेषण निश्चय ही उनके इस सम्बन्ध मे एकपक्षीय दृष्टिकोण का ही परिचायक है, तभी तो वे सुन्दर शब्द मे वाह्यार्थ का सकेत पाकर उसे काव्यानुभूति को संकुचित बनाने वाला कहते है क्योकि उनके मतानुसार 'प्रत्येक कविता का ग्रहण सौन्दर्यानुभूति के रूप मे नही होता।[4]' सभव है, कालान्तर मे उनकी एतद्विषयक विचारधारा मे परिवर्तन भी हो जाता; किन्तु उस युग की समीक्षा को देखते हुए उन्होने जो विवेचन प्रस्तुत किया है, वह निश्चय ही उनके प्रखर पाडित्य का परिचायक है। इसमे कोई सन्देह नही। कहा जा सकता है कि शुक्लोत्तर युग के समालोचको ने कला, अभिव्यंजना, सौन्दर्य तथा विभिन्न काव्य-वादो की जो समीक्षाएँ प्रस्तुत की हैं, उनकी मूल प्रेरणा आचार्य शुक्लजी के इन्ही निबन्धो मे सन्निहित रही है।

३५. शुक्ल जी की समालोचनाओ की यह भी एक विशेषता है कि वे अपनी धारणाओ तथा सिद्धान्तो की पुष्टि के लिए ऐसे विचारको के भी मतोद्धरण करते चलते है, जिनमे उन्हे अपने पक्ष के अनुकूल ध्वनि मिलती है और जो विचारक ख्यातनामा और साहित्य-क्षेत्र के मेधावी व्यक्ति माने जाते है। क्रोचे तथा अन्य सौन्दर्यवादियो की मान्यताओ का खण्डन करने के लिए उन्होने इग्लैण्ड के स्वर्गीय कवि रूपर्ट ब्रूक का उदाहरण दिया और तदुपरान्त भारतीय दृष्टि का उल्लेख करते हुए लिखा "हमारे यहाँ काव्य की गिनती चौसठ कलाओ मे नही की गई है। इसी से यहाँ वाग्वैचित्र्य के अनुयायियो द्वारा चमत्कारवाद, वक्रोक्तिवाद आदि चलाये जाने पर भी इस प्रकार वितडावाद नही खडा किया गया। इधर हमारी हिन्दी मे भी कला शब्द की बहुत अधिक उद्धरणी होने लगी है। मेरे देखने में तो हमारे काव्य-समीक्षा-क्षेत्र से जितनी जल्दी यह शब्द निकले, उतना ही अच्छा। इसका जड पकड़ना ठीक नही।[5]"

इस प्रकार, 'कला' शब्द के बहिष्कार की बात कहकर उन्होने क्रोचे तथा अन्य कला-वादियो की उन बातो का विवेचन किया है जो काव्य-विषयक भारतीय भावनाओ के प्रतिकूल पडती है। उनका क्रोचे से पहला विरोध तो यही है कि वह कला मे कल्पना-पक्ष को प्रधानता देकर उसका रूप 'ज्ञानात्मक' मानता है, जबकि 'भारतीय रस-सिद्धान्त के अनुसार उसका मूल

---

१. चिन्तामणि, दूसरा भाग, काव्य में अभिव्यजनावाद, पृष्ठ १७० ।
२. वही, पृष्ठ १७१ ।
३. वही, पृष्ठ १७७-७८ ।
४. वही, पृष्ठ १७८ ।
५. वही, पृष्ठ १८० ।

रूप भावात्मक या अनुभूत्यात्मक है ।[1]' उन्होने अपने कथन की पुष्टि आधुनिक मनोविज्ञान के तत्वो के आधार पर भी की है । उन्हे क्रोचे द्वारा प्रतिपादित ज्ञानात्मकता मे केवल साम्प्रदायिकता की ही गंध मिली है जिसे रहस्यात्मकता का पुट देकर यूरोप के अनेक कवियो ने अपनी काव्य-रचनाएँ प्रस्तुत की थी। इस प्रसग मे उन्होने फ्रास के दार्शनिक बर्गसा के उस मत का भी खडन किया है जिसमे उसने काव्य और कल्पना का सम्बन्ध 'पारमार्थिक ज्ञान' के साथ जोडकर उन्हे आध्यात्मिक चेतना निर्दिष्ट किया था । क्रोचे के मत का खण्डन करते हुए उन्होने लिखा है "जिसे क्रोचे आत्मा के कारखाने से निकले हुए रूप कहता है, वे वास्तव मे वाह्य-जगत् से प्राप्त किये हुए रूप हैं ।"[2] इसी विवेचन मे उनका स्वर इतना अधिक तीव्र हो जाता है कि वे भयकर आक्रोश मे आकर यहाँ तक लिख देते है कि 'कला कला ही के लिए' वाली बात को जीर्ण होकर मरे हुए बहुत दिन हो गये। एक क्या, कई क्रोचे उसे फिर जिला नही सकते ।[3]'

कलावाद तथा अन्यान्य मतों का खण्डन

३६. शुक्ल जी ने क्रोचे के अभिव्यजनावाद तथा कलावाद का खण्डन करते हुए प्रासगिक रूप से उन मत-मतान्तरो का भी विरोध किया है जो काव्य मे नीति तथा सदाचार का कोई महत्व नही मानते और यह समझते है कि कला और आचार का क्षेत्र पृथक्-पृथक् है । उनके मतानुसार इस प्रकार की मान्यताएँ भी अधकचरी और दूषित हैं, क्योकि इनके समर्थक काव्य के व्यापक तथा वास्तविक क्षेत्र को केवल अपनी संकुचित दृष्टि मे ही परिसीमित समझते है। शुक्ल जी ने इग्लैण्ड के प्रसिद्ध आलोचक आस्कर वाइल्ड तथा जे० ई० स्पिगर्न की एतद्विषयक मान्यताओ का कट्टर विरोध किया है और आई० ए० रिचर्ड्स तथा टी० के० ह्विपल की उन धारणाओ की प्रशसा की है जिनमे वे भारतीय साहित्य मे निरूपित साधारणीकरण तथा सदसत्-विवेक के बहुत निकट-वर्ती रहकर चले हैं। वस्तुत· उनका यह विश्लेषण भारतीय रस-निष्पत्ति के सिद्धान्त मे प्रति-पादित 'सत्त्वोद्रेकात्-सूत्र पर पूर्णतया आधारित है। काव्य को मूलत. भावानुभूतिजन्य सिद्ध करने के लिए उन्होने मनोविज्ञान को भी प्रमाणस्वरूप उपस्थित किया है और कुछ तर्कों के द्वारा क्रोचे के विचारो मे भी अन्तर्विरोध बतलाकर अन्त मे यही निर्णय दिया हे कि "सच्ची काव्यानुभूति भावा-नुभूति के ही रूप मे होती है ।[4]'

३७. शुक्ल जी ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद तथा यूरोपीय काव्य-सृजन के क्षेत्र मे प्रच-लित कलावाद का तो विरोध किया ही है, किन्तु इन्हे आदर्श मान कर चलने वाली समीक्षा-पद्धति को भी अग्राह्य और अवैज्ञानिक सिद्ध किया है । उनके विवेचन से यह स्पष्ट झलकता है कि वे 'पल्लवग्राही पाडित्य' के प्रति कितनी उग्रप्रतिक्रिया रखते थे और जो लोग भारतीय साहित्य-शास्त्र की परम्परा से अनभिज्ञ होने के कारण रस, अलकार और शब्दशक्ति को समय-बाह्य निर्णीत कर तथा पाश्चात्य प्रणाली की नवीन समीक्षा मे प्रयुक्त अनुभूति-भावना आदि को सर्वथा मौलिक मानकर उनका गुण-सस्तव करते थे, उन्हे वे ज्ञान के स्तर मे कितना अधिक हीन समझते थे । उनका तो स्पष्ट मत था कि जिसे नवीन समालोचक हृदय की अनुभूति कहते है, वही हमारे साहित्य मे रस और भाव के रूप मे व्याख्यात है और जो लोग केवल प्रभाववाद के फेर मे पड कर किसी कविता की समीक्षा करते समय कल्पनात्मक या भावात्मक पदावली का प्रयोग करते हुए 'हृदयवाद अथवा

---

१ प० रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, दूसरा भाग, काव्य में अभिव्यजनावाद, पृष्ठ १८१ ।

२. वही, पृष्ठ १८३ ।

३. वही, पृष्ठ १८४ ।

४. वही, पृष्ठ १८८ ।

हृदय की अनुभूति की रट लगाते रहते है वे समालोचना के नाम पर ऐसा काल्पनिक महल खडा करने की चेष्टा करते है जो धुएँ का घरहरा है ।[1]' उनका तो समीक्षा के स्वरूप के सम्बन्ध मे स्पष्ट कहना था कि 'केवल वैज्ञानिक या विचारात्मक समीक्षा ही सच्ची कला-निरूपिणी समीक्षा है[2]' और उसे कलावाद या अभिव्यंजनावाद की भाँति केवल लच्छेदार और अर्थ-शून्य पदावलियो मे उलझा कर चलना कदापि साहित्य-समीक्षा के लिए शोभनीय बात नही कही जा सकती । स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल का यह दृष्टिकोण आई० ए० रिचर्ड् स के अत्यत निकट और कलावादी समालोचको के प्रबल विरोध का सूचक है ।

प्रतिपादन की शैली और उसका निरूपण

३८. आचार्य शुक्लजी की समालोचनाएँ अत्यत गंभीर होने पर भी यथास्थान व्यंग्य और हास्य से भी सवलित है । इस प्रकार की प्रवृत्ति उन स्थलो पर विशेष रूप से मिलती है, जहाँ उन्हे किसी प्रतिकूल विचारक की मान्यता का विरोध करना होता है । काव्य मे अभिव्यजनावाद की वास्तविक स्थिति का स्पष्टीकरण करते समय भी उनके सामने ऐसे अनेक अवसर आये हैं । मिस्टर स्पिगर्न ने समालोचना के लिंग-भेद करते हुए उसे मरदानी (मेसक्युलीन) और जनानी (फेमिनिन) के भागो मे विभक्त करने की जो चेष्टा की है, उसकी उन्होने खिल्ली उडाई है और समालोचको को प्रथम प्रकार की समालोचनाएँ लिखने की सम्मति दी है । सच तो यह है कि शुक्ल जी अत्यत स्वतन्त्र रुचि के मेधावी समालोचक थे, जिन पर किसी भी नवीन वाद का बिना किसी ठोस आधार के प्रभाव पडना असंभव-सा था । उन्होंने अंग्रेजी की नकल पर चलने वाले बगला के साहित्य-समीक्षण-स्वरूप का सदैव विरोध किया और उसे हिन्दी की प्रकृति के भी विपरीत बतलाया । अपने इन्दौर वाले भाषण मे उन्होने उन प्रवृत्तियो का विशेष रूप से उल्लेख किया है जो कलावाद और अभिव्यजनावाद के प्रभाव को लेकर बगला की अनुकृति पर हिन्दी काव्य-समीक्षा मे आ धमकी हैं । उन प्रवृत्तियो का विश्लेषण उन्होने केवल अपनी मान्यताओ और दृष्टि के अनुरूप किया है । सबसे पहले उन्होने काव्य मे रहस्यवादी प्रवृत्ति को लिया है और उसका मूल स्वरूप तथा ऐतिहासिक विकास बतलाकर यह सिद्ध किया है कि यह प्रवृत्ति किस रूप मे भारतीय काव्य-परम्परा के लिए विदेशी वस्तु है, 'जिसमे प्रस्तुत धार्मिक रूप-विधान के प्रयत्न का त्याग और केवल प्रचुर अप्रस्तुत-विधान मे ही प्रतिमा या कल्पना का प्रयोग'[3] किया जाता है । उस प्रवृत्ति का विस्तृत विवेचन हमने शुक्ल जी के "काव्य मे रहस्यवाद" विषयक विचारो का स्पष्टीकरण करते हुए कर दिया है अत. उनका पिष्टपेषण व्यर्थ है । दूसरी प्रवृत्ति अभिव्यंजनावाद से ही सम्बन्धित है । इसके अन्तर्गत शुक्लजी ने बतलाया है कि आजकल की हिन्दी कविता मे "जीवन के किसी मार्मिक पक्ष को लेकर सच्ची भावानुभूति मे लीन करने का प्रयास छोड, किस प्रकार केवल अभिव्यजना या उक्ति मे वैलक्षण्य लाने का प्रयास" किया जाता है ।[4] शुक्ल जी का कहना है कि 'क्रोचे का अभिव्यजनावाद सच पूछिए तो एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद है ।'[5] उन्होने इसी प्रवृत्ति के विश्लेषण मे वक्रोक्तिजीवितकार कुंतक की 'उक्ति की वक्रता' का उल्लेख कर, यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति से काव्य मे लाक्षणिक मूर्तिमत्ता तथा व्यजन-प्रणाली मे सजीवता और स्वच्छन्दता तो अवश्य आती है, किन्तु जब वक्रता या अभिव्यजना को ही काव्य का सर्वस्व

१. प० रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, दूसरा भाग, काव्य में अभिव्यजनावाद, पृष्ठ १९१ ।
२. वही, पृष्ठ १९१ ।
३. वही, पृष्ठ १९४ ।
४. वही, पृष्ठ २१२ ।
५. वही, पृष्ठ २१२ ।

मान लिया जाता है तो उसके कारण अनिष्ट भी कम नही होते। शुक्ल जी ने बतलाया है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति का ही एक परिणाम यह हुआ है कि हिन्दी मे "जीवन की विविध मार्मिक दशाओं को प्रत्यक्ष करने वाले प्रबन्ध-काव्यो की ओर से उदासीनता और मुक्तको—विशेषतः प्रेमोद्गारपूर्ण प्रगीत मुक्तको (लिरिक्स) की ओर साहित्यकारो का ध्यान अधिक जा रहा है",[1] जिसके कारण जीवन के विविध पक्षो का उद्घाटन साहित्य मे नही हो पाता। उन्होने आधुनिक काव्य मे प्रचलित उस प्रवृत्ति का भी विरोध किया है जो 'असीम अनत ऐसे शब्दो द्वारा रचनाओ पर आध्यात्मिक रग चढाने की[2]' भावना से चल पडी है। उन्होने प्रसाद और पंत की काव्य-कृतियो मे जहाँ रवीन्द्र बाबू के अनुकरण पर इस प्रकार की प्रवृत्ति पाई है, उसका उन्होने विरोध किया है। वे काव्य मे उस प्रवृत्ति को भी अच्छा नही समझते 'जिसमे कला शब्द के कारण काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे शिल्पवाली बेल-बूटे और नक्काशीवाली हलकी धारणा'[3] का प्रचार किया जाता है। इस प्रकार इन प्रमुख प्रवृत्तियो का विश्लेषण कर अन्त मे उन्होने इस विषय पर हार्दिक खेद प्रकट किया है कि कलावादियो के प्रभाव से हिन्दी-समालोचना भी ठोस भूमिका त्याग कर जिस रूप मे वायवी बनने की चेष्टा कर रही है, वह हमारे लिए गौरव की बात न होकर केवल विचारशीलता के ह्रास का ही विषय है। उनका तो इस विषय मे बार-बार आग्रह है कि भारतीय काव्यशास्त्र की रसवादी पद्धति के आधार पर किसी भी देश अथवा काल का साहित्य सुचारु रूप से समीक्षित किया जा सकता है, अत· उसके प्रति हमारा सौहार्द होना आवश्यक है।

३६. जैसा कि पहले सकेत कर दिया गया है शुक्ल जी का इन्दौर वाला भाषण मुख्यतः कलावाद और अभिव्यजनावाद के भले-बुरे प्रभावो का ही समीक्षण करता है, किन्तु उसमे साहित्य के इतर विषयो पर भी यत्किचित् विवेचन अवश्य हुआ है। शब्द-शक्ति के अतिरिक्त शुक्ल जी ने इसमें भारतीय काव्य-समीक्षा-पद्धति में प्रयुक्त रस, रीति और अलकार सम्प्रदायो का भी विवेचन किया है जिनका विश्लेषण हम उनके समालोचना के सैद्धान्तिक पक्ष के अन्तर्गत करेंगे। यहाँ तो हमारे कहने का मूल आशय यही है कि शुक्ल जी के मेधावी व्यक्तित्व मे तत्त्व-चिन्तन की कितनी अधिक कुशल शक्ति थी, जिसके कारण वे प्राय सभी स्थानो पर अपना मानसिक सतुलन रखते हुए मुख्य विषय से कही पर भी दिग्भ्रमित नही होते थे। उनके इस भाषण से हिन्दी-साहित्य का तो सामान्य सिंहावलोकन हो ही जाता है, किन्तु साथ ही साथ यूरोपीय समीक्षा-क्षेत्र मे प्रचलित कलावाद, अभिव्यंजनावाद, प्रकृतिवाद, मूर्त्तविधानवाद और सवेदनावाद आदि का भी परिचय मिल जाता है, जिनका हमारे आधुनिक साहित्य-समीक्षण मे यथेष्ट हाथ है।

आचार्य शुक्ल की समालोचना का सैद्धान्तिक पक्ष

चिन्तन-दृष्टि और काव्य-विषयक धारणा

४०. आचार्य शुक्ल जी के चिंतन की आधार-भूमि गोस्वामी तुलसीदास जी की भाँति अत्यंत मर्यादित और सधी हुई थी। वे जीवन और जगत् से परे किसी अलौकिक क्षेत्र मे काव्य की साधना के लिए कोई गुजाइश नही समझते थे। उनका तो स्पष्ट मतव्य था कि मुक्त हृदय की अवस्था मे ही सच्चे काव्य की अनुभूति होती है और "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा।" उनके मतानुसार "कविता हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए किया गया मनुष्य की वाणी का शब्द-विधान मात्र है और उसकी

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, दूसरा भाग, काव्य में अभिव्यजनावाद, पृष्ठ २१४।

२. वही, पृष्ठ २१८।

३. वही, पृष्ठ २१८।

साधना ऐसे भाव-योग की साधना है, जिसे कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष रखा जा सकता है।"[1]

४१. आचार्य शुक्ल जी की कविता-विषयक धारणा लोकपक्ष की आदर्शनिष्ठा से भी सर्वथा सम्पृक्त थी। वे कविता को बहुत ऊँचे धरातल पर स्वीकार करते थे, क्योकि उनके मतानुसार 'कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-बन्धनों के संकुचित मडल के ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत् की नाना गतियो के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियो का सचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नही रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता मे लीन किये रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति-योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारो का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।"[2]

४२. शुक्ल जी ने जगत की अनेक रूपात्मकता की भाँति हमारे हृदय की अनेक भावात्मकता मानी है। इन भावो के परिष्करण के लिए वे जगत् के विभिन्न रूपो के साथ हमारे हृदय की सामञ्जस्यपूर्ण अनुभूति आवश्यक समझते है। उनके मतानुसार मार्मिक स्वरूप मे किया गया कवि का दृश्य-विधान ही सर्वथा काव्योपयोगी बनता है। जगत् के साथ भावो के इस तादात्म्य मे उन्होने हमारे वासनाजन्य संस्कारो को बडा महत्त्व दिया है। वे काव्य का 'सृष्टि प्रसार के साथ अविच्छेद सम्बन्ध' स्वीकार करते है जो कही तो 'नरक्षेत्र' के भीतर ही अपना दृष्टि-विधान करता है और कही मनुष्येतर बाह्य सृष्टि अथवा समस्त चराचर के अन्तर्गत आविर्भूत होता है।[3] उन्होने अपने विवेचन को सर्वांगीण बनाने के लिए शास्त्रीय ज्ञान की अनुभूति के आधार पर अतीतकालीन साहित्य से उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि किन-किन युगो मे काव्य-दृष्टि अपनी किन-किन विशेषताओ अथवा न्यूनताओ के साथ अपना प्रसार करती रही है। वे काव्य की नरक्षेत्र विषयक महत्ता स्वीकार तो अवश्य करते है किन्तु केवल उसी के सीमाबन्धन मे काव्य की सर्वोच्च भव्यता का आभास उन्हे नही मिलता। उनके मतानुसार मनुष्येतर बाह्य प्रकृति चिरतन काल से इस चराचर विश्व के रूप मे मानव हृदय को ग्राह्य रही है और साहित्य के परिवेश-मडल मे कवियो ने उसे अपेक्षित महत्ता देने मे कभी सकोच नही किया है। उन्होने सस्कृत-साहित्य के आदिकवि महर्षि वाल्मीकि, काव्य-गुरु कालिदास तथा करुण-रस के सर्वस्व कविवर भवभूति आदि के ग्रन्थो से उदाहरण देकर सविवेचन सिद्ध किया है कि प्रकृति का स्वरूप उन्हे कितनी गभीरता और व्यापकता मे आकर्षित करता रहा था और उनकी साधना मे उसके अनत रूपो की झलक साधारण अथवा असाधारण प्रकारो मे किस भाँति समन्वित होकर अभिव्यक्त हुई थी। शुक्ल जी का यह विवेचन अत्यत भावप्रवण और विचारपूर्ण है। वे काव्य के लिए जिस रागात्मक सत्व का विवेचन करते है, वह उनकी काव्य-विषयक धारणा को पूर्ण स्पष्टता के साथ व्यक्त करने मे समर्थ है।

काव्य, सूक्ति, कल्पना, मनोरजन और सौन्दर्य पर विचार

४३ आचार्य शुक्ल ने काव्य और "सुभाषित अथवा सूक्ति" मे अन्तर माना है।[4] "सूक्ति मे जहाँ केवल अभिव्यक्ति का अनूठापन, रचना-वैचित्र्य का चमत्कार तथा ऊपरी साज-बाज होता है, वहाँ काव्य मे हमारे भावात्मक हृदय का प्रकृत विषय के साथ समन्वय रहता है।" अतः उनकी दृष्टि मे सूक्तिकार की अपेक्षा काव्यकार की महत्ता सर्वतोभावेन अधिक है। उनके विवेचन मे जीवन और जगत् का जिस रूप में तत्त्वान्वेषण हुआ है, वह निश्चय ही उनकी आदर्शवादी दृष्टि

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : रस मीमासा प्रथम सस्करण, पृष्ठ ५।

२. वही, काव्य की साधना, पृष्ठ ६।

३. रामचन्द्र शुक्ल' रस मीमासा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ८।

४. वही, काव्य और सृष्टि-प्रसार, पृष्ठ १४।

और मध्यवर्गीय विचारधारा का निदर्शन है। वे ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार मानते है और काव्य का व्यावहारिकता से सम्बन्ध स्थापित कर उसे मनुष्यता की ऐसी उच्च भूमि पर अधिष्ठित करते है, जहाँ सच्चे भावयोगी कवि का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है तथा जिसके हृदय की विश्वजनीन एकता मे उसके हृदय की कोई अलग भावसत्ता नही रहती। वस्तुत उस स्थिति मे "उसकी अश्रुधारा मे जगत् की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास मे आनन्द-नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन मे जगत् के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।"[1]

४४. आचार्य शुक्ल ने काव्यान्तर्गत भावो के प्रवर्त्तन के लिए भावना या कल्पना की वाछनीयता उसी रूप मे स्वीकार की है, जिस रूप मे भक्ति के क्षेत्र मे उपासना या ध्यान स्वीकृत किये जाते है। वे काव्य मे कल्पना का प्रयोग वही तक सौष्ठवपूर्ण मानते है, जहाँ तक वह भावो को मार्मिक, सजीव और स्पष्ट मूर्ति-विधान की अवस्था तक प्रस्थापित कर दे। उनके मतानुसार कवि मे जहाँ 'विधायक कल्पना' अपेक्षित है, वहाँ श्रोता या पाठक मे अधिकतर 'ग्राहक कल्पना'। वे कल्पना को काव्य का साधनमात्र मानते है और जो पश्चिमी साहित्यालोचक उसे भाव-लोक से उच्चतर भूमि पर प्रतिष्ठित करते है, उन्हे वे अपना आदर्श नही स्वीकार करते, क्योकि कल्पना के आधर पर केवल विचित्र मूर्ति-विधान प्रस्तुत करना उसे कदापि रस-कोटि तक नही पहुँचा सकता।[2]

४५. शुक्ल जी कविता मे मनोरजन का महत्त्व एक सीमा तक ही स्वीकार करते है। यदि काव्य का उद्देश्य मनोरजन मात्र ही होता तो वह भी केवल कलाओ की भाँति हमारे विलास की एक सामग्री मात्र बनकर रह जाता। अतः वे उसका अन्तिम लक्ष्य मनोरजन के स्थान पर 'जगत् के मार्मिक पक्षो का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामंजस्य स्थापन' मानते है।[3] उन्होने रीतिकाल के उन कवियो के काव्य की निंदा की है जो काव्य का उद्देश्य केवल कामोत्तेजना ही समझते थे। वे काव्य मे सौन्दर्य की उपयोगिता यूरोपीय कला-समीक्षा की उस मान्यता तक नही स्वीकार करते जिस मात्रा तक वहाँ के तत्त्व-मीमासको ने उसे खीच-तान कर वायवी स्थिति की ऐकान्तिक सीमा मे पहुँचा दिया है। वे सौन्दर्य को 'बाहर की वस्तु' न मानकर मन के भीतर की वस्तु मानते है और पश्चिमी विचारको की सौन्दर्य विषयक धारणा उन्हे भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नही लगती।[4] उनका सौन्दर्य-विषयक दृष्टिकोण अत्यंत व्यापक है। उसके अन्तर्गत बाह्य और आभ्यतरिक जगत् के समस्त रग-रूप तो आते ही है, साथ ही साथ कर्म और मनोवृत्ति का सौन्दय भी अपनी दिव्य विभूति के साथ समाविष्ट हो जाता है। इस प्रकार उनके सौन्दर्य-पक्ष मे कोरी बाह्य-शोभा-निरूपिणी एकागिता न होकर जीवन-व्यापिनी ऐसी सर्वागीणता है, जिसमे काव्य के अन्तरंग और बहिरग दोनो शोभा-सम्पन्न बनते है। यही कारण है कि उन्होने तुलसी के काव्य मे चित्रित राम और भरत ऐसे रूपवानों की रम्य अन्तः प्रकृति की छटा चित्रकूट ऐसे रम्य स्थानो मे अधिक अनुपम और दिव्य मानी है।

ऐकान्तिक चमत्कार का विरोध तथा भाषा और अलंकार के प्रति दृष्टिकोण

४६ शुक्ल जी चमत्कार को मनोरजन की सामग्री कहकर भी चमत्कार मात्र को ही काव्य नही मानते। उनका चमत्कार से अभिप्राय 'केवल प्रस्तुत वस्तु के अद्भुतत्त्व या वैलक्षण्य से नही, जो अदभुत रस के आलम्बन मे होता है अपितु चमत्कार से उनका अभिप्राय उक्ति के उस

---

१. प० रामचन्द्र शुक्ल, रस-मीमासा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २५।
२. वही, पृष्ठ २६।
३. वही, पृष्ठ २६।
४. वही, पृष्ठ २१

चमत्कार से है, जिसके अन्तर्गत वर्ण-विन्यास की विशेषता, शब्दो की क्रीडा, वाक्य की वक्रता या वचनभगी, अप्रस्तुत वस्तुओ का अद्भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओ के साथ उनके सादृश्य या सम्बन्ध की अनहोनी या दूरारूढ कल्पना इत्यादि बाते आती हैं।[1] यदि कोई भावुक कवि किसी भाव की अनुभूति को तीव्र करने के लिए चमत्कार का प्रयोग करता है तो वे उसे बुरा नही समझते; किन्तु जहाँ चमत्कार केवल कुतूहलवर्द्धन या वैचित्र्य मात्र के रूप मे प्रयुक्त होता है, वहाँ वह भावो को रस-परिपाक की अवस्था मे कभी नही पहुचा सकता, ऐसी उनकी दृढ धारणा हैं। उनके मत से काव्य की गति मे रसपूर्ण सवेदना या मार्मिक भावना की महत्ता कोरी चमत्कारपूर्ण सूक्ति की अपेक्षा कही अधिक रहती है। अनेक बार तो केवल उक्ति का अनूठापन भावो के भास्वर स्वरूप को आच्छादित कर रस-निष्पत्ति के मार्ग मे एक प्रकार का अवरोध सा उत्पन्न कर देता है। अतएव आचार्य ने रीतिकालीन कवियो विशेषत बिहारी के काव्य की केवल चमत्कारावादिनी उक्तियो को विशुद्ध काव्य की श्रेणी से हीन माना है क्योकि उनसे भावो का तादात्म्य और बिम्ब-ग्रहण न होकर केवल मनोरंजन मात्र होता है। यही कारण है कि आचार्य शुक्ल एक ओर जहाँ यूरोप के अभिव्यजनावाद के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त करते है, वहाँ दूसरी ओर भारतीय वक्रोक्तिवाद को भी अतिरेकता मे नही स्वीकार करते।

४७. आचार्य शुक्ल ने काव्य के अभिव्यक्त-पक्ष के अन्तर्गत जगत् और जीवन का अनत प्रसार मान कर तदनन्तर उसके अभिव्यक्ति-पक्ष भाषा को लिया है, जिसके कलेवर मे भाव-चित्र साकार बनते है। उन्होने काव्य-भाषा की प्रथम विशेषता का उल्लेख करते हुए बतलाया हैं कि भाषा अभिव्यक्ति का साधन अवश्य है, किन्तु काव्य में उसके द्वारा जो अभिव्यक्ति होती है, वह अर्थ-ग्रहण मात्र की न होकर, बिम्बग्रहण तथा पूर्ण दृश्य-विधान की होनी चाहिए क्योंकि यदि ऐसा न हो तो उसकी साधना के लिए कवि को वस्तु या तथ्य के पूर्ण प्रत्यक्षीकरण तथा भाव या मार्मिक वृत्तियो के अनुरूप व्यजना के लिए लक्षण का बहुत कुछ सहारा ही नही लेना पडे। उन्होने कविता की भाषा मे दूसरी विशेषता यह मानी है कि 'उसमे जाति-संकेत वाले शब्दो की अपेक्षा विशेष रूप-व्यापर-सूचक शब्द अधिक रहते हैं',[2] जिनसे भावनाओ का मूर्ति-विधान अधिक कौशल के साथ हो जाता है। इसी प्रकार काव्य-भाषा की तीसरी विशेषता 'वर्ण-विन्यास की सुष्ठुता'[3] और चौथी विशेषता कही कही व्यक्तियो के नामो के स्थान पर उनके रूप या गुण या कार्य बोधक शब्दो का व्यवहार' है।[4] आचार्य ने इन विशेषताओ के विवेचन का आधार यद्यपि सस्कृत-साहित्य-शास्त्र ही रखा है और इन विशेषताओ का निरूपण भी उसीके अनुरूप किया है, फिर भी अपने व्यक्तित्व की छाप विषय-स्पष्टीकरण पर अवश्य अकित कर दी है।

४८. काव्य विवेचन के अन्तिम अंग के रूप मे शुक्लजी ने अलकारो को लिया है। वे काव्य मे उन्हे केवल साधन-रूप मे ही ग्राह्य समझते है, साध्य रूप मे नही, क्योकि उनके प्रयोग द्वारा प्रस्तुत भाव या भावना का उत्कर्ष केवल साधन मात्र ही होता है। आचार्य ने अलंकार-योजना की विविध शैलियो का विवेचन कर अपने मत की पुष्टि की है और बतलाया है कि काव्य के साध्य पक्ष की अवहेलना कर जब साधन पक्ष को ही सर्वस्व मान लिया जाता है तो उसके द्वारा कविता मे रसापकर्षक विकृति का समावेश हुए बिना नही रहता। उन्होने आचार्य-कवि केशव तथा "गागर मे सागर भरने वाले" बिहारी के काव्य से उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि

---

१ प० रामचन्द्र शुक्ल, रस-मीमासा, पृष्ठ ३३-३४

२ वही, पृष्ठ ४२

३ वही, पृष्ठ ४६

४. वही, पृष्ठ ४७

उनकी अनेक स्थलो पर की गई अलकार-योजना द्वारा दूर की सूझ भले ही प्रकट हो, किन्तु उसमें प्रस्तुत सौन्दर्य की भावना की कुछ भी पुष्टि नही होती। अभिप्राय यह है कि आचार्य शुक्ल की मान्यता मे अलकार वर्णन-शैली या कथन-पद्धति के ऐसे रूप है, जिनसे काव्य मे भावोत्कर्ष या रमणीयता की वृद्धि होती है। अतः जो अलकार किसी भाव या मार्मिक भावना से असपृक्त रहते है, वे केवल चमत्कार या खिलवाड मात्र है। अपनी इसी मान्यता के बल पर उन्होने स्वभावोक्ति, उदात्त तथा अत्युक्ति आदि को अलकार ही नही माना है, क्योकि इनमे वर्णन करने की प्रणाली न होकर प्रस्तुत या वर्ण्य वस्तु से सम्बन्धित सामग्री रहती है। उदाहरणार्थ उनके मतानुसार 'स्वभावोक्ति अलकार मे प्रयुक्त बालक की रूप-चेष्टाओ आदि के वर्णन के कारण उसे अलकार-कोटि मे न मानकर वात्सल्य के विभाव-पक्ष के अन्तर्गत मानना अधिक समीचीन है। वे अपने आचार्यत्व का उद्घोष करते हुए स्पष्ट कहते है कि "बालक आदि की रूप-चेष्टाएँ आदि का वर्णन रस-क्षेत्र के अन्तर्गत ही समझा जाना चाहिए और उसे घसीटकर अलंकार-क्षेत्र मे ले जाना उचित नही है।[1] स्मरण रखने की बात है कि वक्रोक्तिवादी आचार्य कुतल ने भी 'स्वभावोक्ति' को अलंकार नही माना था।

आनन्द की साधनावस्था और सिद्धावस्था के अनुसार काव्य की श्रेणियाँ

४६ आचार्य शुक्ल ने सत्‌चित् और आनन्द, ब्रह्म के इन तीन स्वरूपो मे काव्य और भक्ति-मार्ग के लिए केवल उसके 'आनन्द' स्वरूप को स्वीकार्य समझा है। लोक मे इस आनन्द की अभिव्यक्ति की, उन्होने दो अवस्थाएँ मानी है, जिनको दृष्टिगत रखकर वे काव्य के दो विभाग करते है:—(१) आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य (२) आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य'[1] कहा जा सकता है कि यह विभाग पश्चिमी विचारक डटन की 'पोएट्री एण्ड दि रिलेसा ऑव वण्डर' नामक पुस्तक मे वर्णित शक्ति-काव्य (पोएट्री एज एन इनर्जी) तथा कला-काव्य (पोएट्री एज एन आर्ट) के विभाजन के बहुत निकट है। साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यो मे उन्होने सस्कृत मे रामायण, महाभारत, रघुवश, शिशुपाल-वध तथा किरातार्जुनीय की गणना की है और हिन्दी में 'पृथ्वीराज-रासो', 'रामचरित मानस', 'पद्मावत' (उत्तरार्द्ध), 'हम्मीर रासो' तथा 'छत्र-प्रकाश आदि प्रबन्ध' काव्यो तथा भूषण आदि कवियो के वीररसात्मक मुक्तक तथा आल्हा आदि प्रचलित वीरगाथात्मक गीतों की। इसी प्रकार वे इस प्रयत्न-पक्ष वाले काव्यो मे यूरोपीय भाषा के इलियड, औडेसी, पैराडाइज लास्ट, रिवोल्ट ऑव इस्लाम तथा पुराने वैलेड्स की गणना करते है। उर्दू के वीर रसात्मक मरसियो को भी उन्होने इसी श्रेणी के अन्तर्गत रखा है। आचार्य ने विवेचन के इसी प्रसंग मे आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों मे सस्कृत मे आर्या सप्तशती, गाथासप्तशती, अमरु-शतक, गीत-गोविन्द तथा शृगार के फुटकल पद्य माने हैं और हिन्दी मे सूरसागर, कृष्णभक्त कवियो की पदावली, बिहारी-सतसई, रीतिकालीन कवियो के फुटकल शृंगारी पद्य, रासपंचाध्यायी ऐसे वर्णनात्मक काव्य तथा आजकल की अधिकाश छायावादी कविताओं को स्थान दिया है। फारसी, उर्दू की शेर, गजलें तथा अग्रेजी की लीरिक कविताओ को भी उन्होने इसी विभाग के अन्तर्गत समाविष्ट किया है। इस प्रकार विश्व-साहित्य के प्रमुख काव्य ग्रन्थो का इन दो विभागो मे परिगणन कर शुक्ल जी ने दोनो पक्षो की अवस्थाओ का विशद् विवेचन उनकी मौलिक विशेषताओ का उद्घाटन करते हुए किया हैं।[2]

---

१. रस-मीमासा 'काव्य के विभाग पृष्ठ ५१-५२।

२. रस-मीमांसा : वही, पृष्ठ ५७-५८।

५०. कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल ने काव्य की कर्मभूमि और भोगभूमि के आधार पर उसके जो उपर्युक्त विभाग किए हैं, उनमे उन्हे आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यो मे अधिक उदात्त भावना मिली है। गोस्वामी तुलसीदास जी की रचनाओं के प्रति उनका अनन्य भाव केवल इसी विशेषता के कारण है। रामचरितमानस को शुक्ल जी द्वारा निरूपित साधनावस्था वाले प्रयत्न-पक्ष का आदर्श कहा जा सकता है। उनके द्वारा आनन्द की साधनावस्था का किया गया सैद्धान्तिक विवेचन मुख्यत तुलसी के 'मानस' की उत्कृष्टता का ही परोक्ष रूप मे संस्तव है। यह बात दूसरी है कि आचार्य ने उस पर अपने व्यक्तित्व की छाप अकित कर उसे सर्वसामान्य धरातल पर अधिक व्यापक और बहुग्राह्य बना दिया है। उनकी तो दृढ धारणा है कि 'मंगल-अमगल के द्वन्द्व मे कवि लोग अन्त मे मगल शक्ति की जो सफलता दिखा दिया करते है, उसमे सदैव शिक्षावाद या अस्वाभाविकता की गंध समझ कर नाक भौ सिकोडना ठीक नही।'[1] वे राम और कृष्ण के कर्म-सौन्दर्य और रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा कर उनके प्रति बने हुए वासनाजन्य स्वाभाविक आकर्षण की काव्याभिव्यक्ति ऐसी चिरतन शक्ति के रूप मे मानते है, जिसकी दीप्ति शाश्वतभाव से मानव-हृदय को आकर्षित करती रहेगी। यही कारण है कि उन्होने "अपने समय मे उठी हुई किसी खास हवा की झोंक मे प्राचीन आर्ष काव्यो के पूर्णतया निर्दिष्ट स्वरूप वाले आदर्श पात्रो को एकदम कोई नया मनमाना रूप देना भारती के पवित्र-मदिर मे व्यर्थ गडबड मचाना"[2] बताया है। शुक्ल जी की यह मान्यता उनके परम्परागत सस्कारो की भित्ति पर आधारित है। इसी आधार पर वे उन कवियो की कुत्सा करते हैं जो केवल अपने समय की परिस्थिति-विशेष को लेकर प्राचीन आदर्शो को विकृत कर नये आख्यानो और नये पात्रो की उद्भावना मे पुरानी धारणा तोडने की बहादुरी दिखाने का दम्भ भरते हैं। बंग-भाषा के प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदनदत्त तथा नवीनचन्द्रराव ने क्रमशः 'मेघनाद-वध' और 'कुरुक्षेत्र' मे उनके नायको का चरित्र जिन नवीन रूपो मे चित्रित किया है, उन्हे शुक्ल जी हमारी चिरतन सस्कार-सापेक्षता के अधिक अनुकूल नही मानते है। शुक्ल जी की इस आस्था को लेकर भले ही कोई नवीनतावादी विचारक इसे उनकी परम्पराभुक्त मान्यता का ही प्रतिफल सिद्ध करे, किन्तु साहित्य का सस्कृति के साथ जो एक चिरन्तन तथा अपरिहार्य सम्बन्ध है, उसकी सत्यता शुक्ल जी की उक्त धारणा मे निहित है, ऐसा मेरा मत है। सच तो यह है कि प्रत्येक देश की एक सास्कृतिक और साहित्यिक परम्परा होती है, जिसको युगवर्त्तिनी बनाते हुए उसे नया रग भले ही प्रदान किया जाय, किन्तु उसके मूलाधार आदर्शो को विकृति प्रदान करना किसी स्थिति मे शोभनीय नही कहा जा सकता।

५१. आचार्य शुक्ल ने साहित्य की अत प्रेरणा मे स्थित मूल मनोभावो का विवेचन कर करुणा और प्रेम को मगल-विधान के अनन्य साधनो के रूप मे स्वीकार किया है। वे लोक मे रंजन की समता मे रक्षण को प्राथमिकता देते है और उसकी अतस्सज्ञा मे करुणा की स्थिति स्वीकार कर साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यो को सौन्दर्य की गत्यात्मकता के कारण अधिक सुग्राह्य समझते है। (उन्होने मनुष्य के शरीर के दक्षिण और वाम पक्षों की भाँति हृदय के भी कोमल और कठोर तथा मधुर और तीक्ष्ण पक्ष निर्दिष्ट कर इन दोनो के समन्वय मे काव्य की रमणीयता अथवा मंगल-सौन्दर्य का विकास अनुबद्ध किया है।) यही कारण है कि टालस्टाय की एकागी आदर्शवादिता और भ्रातृसंचार की भावना भी उन्हे एक प्रकार से साम्प्रदायिक-सी लगी है और वे उससे निर्मित आध्यात्मिकता की काव्य-क्षेत्र मे कोई महत्ता नही समझते। उनका तो स्पष्ट मतव्य है कि विदेशी अर्थ मे प्रचलित आध्यात्मिक शब्द का जो प्रचार हमारी

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल रस-मीमांसा पृष्ठ ६१।

२. वही, पृष्ठ ६४

देशी भाषाओ मे हो रहा है उसके नितात बहिष्कार की अात्यधिक आवश्यकता है, क्योकि "अध्यात्म" शब्द की काव्य या कला के क्षेत्र मे कही कोई जरूरत नही है।[1]

५२. जिस प्रकार आचार्य शुक्ल ने करुणा को लोक-मगल की साधनावस्था का मूल उद्गम सिद्ध किया है, उसी प्रकार प्रेम को सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष का आदि कारण। वे उपभोग-पक्ष की तुष्टि को ही काव्य की व्यापक रसात्मकता न मानकर उसे केवल काव्य का एकात लक्ष्य-मात्र समझते है।[2] उनका करुणा-विषयक विवेचन इतना अधिक व्यापक है जिसके अन्तर्गत प्रेम-तत्व का भी समावेश हो जाता है। वे करुणा और प्रेम मे कोई तत्वभेद न मानें कर केवल दृष्टि-भेद मानते है और इस प्रकार काव्य की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष के भीतर ही सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष का अन्तर्भाव कर लेते है।[3] करुणा को उन्होने प्रत्येक सात्त्विक कार्य की मूल-वृत्ति और काव्य-रचना की आदि प्रेरणा सिद्ध किया है और बतलाया है कि जिसके प्रति करुणा का भाव होगा उसके प्रति निश्चय ही प्रेमवृत्ति भी रहेगी ही। यही कारण है कि वे रक्षण और रंजन की प्रवृत्तियो मे रक्षण को प्राधान्य देते है और उन्हे राम का लोकरक्षक रूप उनके लोकरजक रूप से अधिक मनोमुग्धकारी लगता है। करुणा और प्रेम तथा रक्षण और रजन की आधारशिला पर ही उन्होने विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ के काव्य को एक निश्चित सीमा मे ही अनुपम और अद्वितीय माना है। विवेचन के इसी प्रसग से हमे यह भी पता चलता है कि आचार्य शुक्ल तात्विक विश्लेषण की अखड एकता के कितने प्रबल समर्थक थे और जो समीक्षक या काव्यकार अपने रुचि-वैचित्र्य के आधार पर वाद-सरणियो की सृष्टि कर अपने दृष्टिकोण के सीमित प्रतिमान से काव्य के सम्पूर्ण क्षेत्र का मूल्याकन करना चाहते थे, उन्हे वे किसी रूप मे सम्यक्-दृष्टि-सम्पन्नता से विहीन समझते थे।

५३. शुक्ल जी ने आनन्द की सिद्धावस्था को लेकर चलने वाले काव्यो के विभाव पक्ष मे असामान्य शोभा, दीप्ति माधुर्य, प्रफुल्लता, कोमलता और सुकुमारता आदि के द्वारा अद्भुत या अलौकिक रजन को महत्त्व देकर बतलाया है कि इनकी भावभूमि मे केवल मन और इन्द्रियो के सुखद विषय ही आते हैं। एक प्रकार से इनका विवेच्य विषय केवल बाहरी चमक-दमक और बनावट-सजावट की विचित्रता अथवा अनुपमता से युक्त होता है, जिसे आचार्य काव्य के प्रकृत और व्यापक क्षेत्र के लिए एकपक्षीय मानते है। फ्रास और इटली के प्रभाव से यूरोप मे जिस कलावाद या अभिव्यजनावाद की सृष्टि हुई अथवा भारत मे विश्व-कवि रवीन्द्र की साहित्य-धारा ने काव्य को लोकोत्तरता प्रदान की, उसे उन्होने इसी पक्ष का एक अग सिद्ध किया है और इस प्रकार काव्य के इस माधुर्य पक्ष मे रमणीयता की व्यापकता नही मानी है जो सब अवस्थाओ मे अपना अस्तित्व रखती है।

काव्य-समीक्षण : समालोचना का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय

५४. आचार्य शुक्ल ने साहित्य की अन्यान्य विधाओ की अपेक्षा काव्य पर ही अधिक विवेचन किया है। नाटक, उपन्यास, कथा-साहित्य आदि पर उन्होने लगे हाथ कुछ कह दिया है; पर काव्य के लक्षण, गुण और वैशिष्ट्य का निर्देश कर उसके लक्ष्य का सैद्धान्तिक निरूपण करते हुए उसे तीन भागो मे विभक्त किया है : जैसे 'शब्द-विन्यास द्वारा श्रोता का ध्यान आकर्षित करना, भावो का स्वरूप प्रत्यक्ष करना तथा नाना पदार्थों के साथ उनका प्रकृत सम्बन्ध प्रत्यक्ष करना।'[4] वे तीसरे लक्ष्य को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं, क्योकि इसमे कवि की रागात्मिका वृत्ति को अधिक

---

१. रस-मीमासा : पृष्ठ ६९।
२. वही : पृष्ठ ७३।
३. वही : पृष्ठ ७४।
४. वही : पृष्ठ ८८।

सत्त्वपूर्ण भाव-तल्लीनता मिलती है तथा इसमे रस-निष्पत्ति के अधिक अवकाश रहते हैं। उन्होने बतलाया है कि लक्ष्य की दृष्टि से वही काव्य अधिक प्रभावपूर्ण या व्यापक हो सकता है जिसका विभावपक्ष अधिक से अधिक मानव-जाति के भावो को सस्पर्श करने वाला हो तथा जिसके आलम्बन की उत्कृष्टता विशेषत्व को लिए हुए हो। उनके मतानुसार रामायण, महाभारत तथा पौराणिक उपाख्यानो मे वर्णित महापुरुषो के जीवन को लेकर जिन महाकाव्यो का सृजन हुआ है, वे अपने आलम्बन की सर्वग्राह्यता के कारण ही हमारा अधिकाधिक भाव प्रसादन कर पाते हैं। रीति-ग्रन्थों की रूढिग्रस्तता ने जीवन की व्यापकता को वासना की सकीर्ण नालियो मे अवरुद्ध कर उसका काव्य की लोक-व्यापक भावभूमि से जो सम्बन्ध-विच्छेद करा दिया था, उसका आचार्य ने सोदाहरण समीक्षण कर सिद्ध किया है कि वह प्रवृत्ति किसी भी रूप मे जनकल्याणकारी नही कही जा सकती है। शुक्ल जी का स्पष्ट वक्तव्य है कि रीति-काल की कविता को केवल वाह्य मनोरंजन तथा अमीरो के शौक तथा विलास की सामग्री बनाने के फलस्वरूप कवियो द्वारा उसका जो दुरूपयोग किया गया, वह उसे काव्य के पावन लक्ष्य से भ्रष्ट बनाने का कारण बना और उसमे रसात्मक प्रतीति का वह स्वरूप नही आ सका जिससे पूर्ण रस की निष्पत्ति तथा विभावन-व्यापार का साधारणीकरण होता है। उन्होने रीतिकालीन कवियो की चमत्कारवादिनी उक्तियो को ऊहात्मक होने के कारण उन्हे सूक्तिमात्र कहा है और उनकी अद्भुतता मे काव्य-सौरस्य का अभाव माना है। इसी प्रकार वे काव्य का लक्ष्य केवल असाधारण व्यापारो मे ही संकेन्द्रित न कर उसका क्षेत्र साधारण-असाधारण दोनो के सामञ्जस्यपूर्ण सगठन मे निरूपित करते है। यदि ऐसा न हो तो केवल असाधारणत्व का आग्रह काव्य-क्षेत्र को केवल अजायबखाना या नुमाइशगाह बना दे। इस प्रकार स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल के मतानुसार काव्य का आभ्यंतर स्वरूप आत्मभाव या रस है और अलंकार उसके वाह्य अंग बन कर आते हैं। अत. कवि को वस्तुतः अपने हृदय को मुक्त दशा मे लय कर लोक-सामान्य भावभूमि पर जीवन तथा जगत् के अन्तर्गत ही अपने विषय का प्रसार करने का सद्प्रयत्न करना चाहिए। कहने की आवश्यकता नही कि शुक्ल जी का इस प्रकार काव्य-विश्लेषण एक ऐसी आधार-भूमि है जिस पर उनकी रस-मीमासा अवलम्बित है।

विभाव और भाव का आपेक्षिक क्षेत्र तथा उनके विविध पक्ष

५५. शुक्ल जी की इस विषय मे स्पष्ट धारणा थी कि कोई भी साहित्य-मीमासक काव्य के उपादान-क्षेत्र को लेकर चाहे जितनी कलाबाजी और अलौकिकता का स्वाग भरे, किन्तु कवि-कर्म-विधान विभाव और भाव-पक्ष के परिवेशमडल से अलग भिन्न सत्ता मे हो ही नही सकता।[1] उन्होने विभाव-पक्ष मे तो मनुष्य से लेकर सृष्टि के छोटे-बड़े सभी प्राणियो और पदार्थों को परिगणित किया है किन्तु भाव-पक्ष मे केवल हृदय-सम्पन्न मनुष्य को ही।[2] उन्होने प्राकृतिक दृश्य विधान को काव्य के उद्दीपन रूप मे ही नही, अपितु आलम्बन रूप मे भी ग्राह्य बतला कर उसके सश्लिष्ट चित्रण मे बिम्बग्रहण की शक्ति मानी है और कहा है कि उसकी क्रोड मे मानव-जीवन का जो तादात्म्य होता है वही हमारे हृदय को मुक्त दशा मे प्रक्षिप्त कर उसका साधारणीकरण करा सकता है। वे प्राकृतिक वर्णन के मूल मे भी रसोद्बोधक रतिभाव निर्दिष्ट कर उनका स्वतंत्र रूप भी सिद्ध करते है, क्योकि उसके दृश्य अथवा चित्रण से जो हर्षोद्भावन होता है, वह उस रतिभाव का अंग बनकर ही आता है। जिन रीतिवादी विचारको ने प्रकृति-चित्रण को केवल उद्दीपन या अलकार-विधान के रूप मे ही सीमित कर दिया था, उन्हें वे संकीर्ण दृष्टि से परिव्याप्त सिद्ध करते है और उनके विवेचन को रस-विवेचन के विस्तार-क्षेत्र मे अवरोधोत्पादक कहते है।

---

१. 'रस-मीमासा' पृष्ठ १०६।

२. वही, पृष्ठ १०६

५६. आचार्य शुक्ल का 'काव्य मे प्राकृतिक दृश्य' विधान विषयक जो अभिमत था, उसका विस्तारपूर्वक विवेचन तो उन्होने अपने 'काव्य मे प्राकृतिक दृश्य' शीर्षक समालोचनात्मक निबन्ध मे किया है,[१] किन्तु उसके प्रमुख अगो के-प्रति अपने निर्धारित दृष्टिकोण की झलक यथावसर प्रत्येक समालोचना ग्रन्थ मे दी है। वे काव्य मे प्राकृतिक दृश्य-विधान को व्यापक स्वरूप मे प्रतिष्ठित करना अधिक समीचीन समझते है। यही कारण है कि उन्हे उसके मधुर और भीषण दोनो पक्ष समान रूप से मुग्ध करने वाले विषय लगे है। उन्होने फारस की उस काव्य-पद्धति की निंदा की है, जिसमे यूरोप और भारत की भाँति मनुष्य को प्रकृति के विशाल प्रागण मे विचरण करने का बहुत कम अवकाश दिया गया है तथा जो केवल ऊपरी चटक-मटक और कलाबाजी को ही अपना कर चली है।

५७. शुक्ल जी भाव-पक्ष के अन्तर्गत केवल असाधारणत्व प्रदर्शन की रुचि को सच्ची सहृदयता की पहिचान नही समझते।[२] उन्होने प्रकृति के खुले क्षेत्र मे विचरण करने वाली मानव-जाति की वशपरम्परागत वासनाओ के चित्रण मे ही सहृदयता का स्वरूप निर्दिष्ट किया है और बतलाया है कि जो व्यक्ति अपनी रागात्मिका वृत्ति का जितना अधिक सत्त्वपूर्ण समन्वय उसके साथ कर पाता है, वही उतना अधिक काव्य की रस-कोटि को पहुँच सकता है। जिन महाकवियो की वाणी मे जीवन, जगत् और प्रकृति का सश्लिष्ट विधान मिलता है, उनकी कृतियो की उन्होने भूरि-भूरि प्रशसा की है। महर्षि वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति इसी कारण उन्हे अधिक लुभा सके है। इस विवेचन से शुक्ल जी की प्रकृति से सम्बन्धित काव्य की विभाव विषयक धारणा का सहज ही बोध हो जाता है। उन्होने बतलाया है कि विभाव को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए जिस अप्रस्तुत-विधान या अलकार-चित्रण को महत्त्व दिया जायँ, वह अधिक से अधिक बिम्ब-ग्रहण कराने वाला हो। केवल नाम-परिगणन की परम्परायुक्त प्रणाली से आधार-आधेय की वह सश्लिष्ट योजना नही प्रस्तुत की जा सकती जो हमे रसोद्बोधन करा सके।

५८. आचार्य शुक्ल को हिन्दी काव्य के प्राकृतिक दृश्यो के चित्रण मे वह सूक्ष्मता नही मिलती, जो संस्कृत की प्राचीन कविताओ मे उपलब्ध है। रीति-काव्य मे प्रकृति-चित्रण को जो विकृति प्रदान की गई थी, उसकी तो उन्होने बडी कुत्सा की है। एक प्रकार से उस काल के कवियो ने प्रकृति के स्वतंत्र आलम्बन-स्वरूप को तो पूर्णत. क्षत-विक्षत कर उसे केवल अपनी भोगवृत्ति का निष्क्रिय साधन मात्र बना लिया था। सूर, तुलसी, केशव और जायसी के काव्यो मे विभाव-पक्ष के अन्तर्गत प्राकृतिक दृश्यो का जैसा विधान हुआ है, उनका आचार्य ने सर्वांगीण विवेचन किया है। वे इसी विवेचन के ऐतिहासिक अनुक्रम से बढते-बढते भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र तक चले आये हैं और उन्होने सम्यक् रूप से इस विषय का यथेष्ट स्पष्टीकरण कर दिया है कि हिन्दी काव्य मे प्रकृति के स्थूल और सूक्ष्म रूपो का उद्घाटन कहाँ तक सश्लिष्ट चित्रण के रूप मे है और कहाँ तक परम्परायुक्त अथवा चमत्कारोत्पादक अलंकार-प्रणाली के रूप मे। वे बार-बार इस सिद्धान्त का आग्रह करते हैं कि काव्य मे आलम्बन विभाव को सर्वतोभावेन प्राधान्य मिलना चाहिए और जो कवि वर्ण्य-विषय से सम्बन्धित वस्तुओ और व्यापारो के शब्द-चित्र अकित कर पाठक या श्रोता को भाव-जागृति करा देता है, वही सफल काव्यकार हैं। इस प्रकार शुक्ल जी का विभाव-पक्ष रहस्यवादी और छायावादी कवियो की अलौकिकता और अमूर्तता से भिन्न केवल जीवन और जगत् की परिधि में समावेष्टित ऐसा साकार और स्थूल विधान है, जिसमे वायवी लोक की दूरारूढ कल्पना के लिये अवकाश नही है।

---

१. माधुरी, जून-जुलाई सन् १९२३।
२. रस-मीमांसा, पृष्ठ ११७।

५९. जहाँ तक काव्य के भाव-पक्ष का सम्बन्ध है, शुक्ल जी 'काव्य का लक्ष्य भावो के उपयुक्त विषयो को सामने रख कर सृष्टि के नाना रूपो के साथ मानव-हृदय का सामजंस्य स्थापित करना' मानते हैं।[1] उन्होने भाव को ही 'कर्म के मूल प्रवर्तक और शील संस्थापक'[2] कहा है और उनके प्रतीक मानव-जीवन की सच्ची झलक देना ही काव्य का चरम लक्ष्य सिद्ध किया है। भाव और वासना के मौलिक अतर को स्पष्ट कर शुक्ल जी ने मनोविज्ञान के आधार पर साहित्य की मूलभित्ति की विवेचना की है और बतलाया है कि भाव को 'मन की वेगयुक्त' अवस्था-विशेष कहा जा सकता है जो क्षुत्पिपासा, कामवेग आदि शरीर वेगो से भिन्न हैं।[3] वे सभ्यता और ज्ञान-वृद्धि के साथ-साथ मानव-व्यापार की जटिलता और भावो की संकुलता में स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित कर इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठिा करते है कि सभ्यता की वृद्धि काव्य की आवश्यकता और कवि-कर्म की कठिनता की जन्मदात्री है। उनका तो दृढ विश्वास है कि आज का सभ्यताभिमानी मनुष्य अपने आपको प्रकृतिजन्य स्वाभाविक संस्कारो से चाहे कितना ही दूर रखने का प्रयास करे, किन्तु काव्य के लिए अनेक स्थलो पर हमे भावो के विषय के मूल और आदिम रूपो तक जाना ही होगा और वे रूप निश्चय ही मूर्त और गोचर होगे। इस प्रकार उनके मतानुसार भाव में 'प्रत्यय-बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति' इन तीनो का गूढ संश्लेषण अवश्य रहना चाहिए जिनसे चेतना के भीतर आलंबन आदि प्रत्यय रूप से प्रतिष्ठित हो सकें[4]।

६० शुक्लजी ने रस-निष्पत्ति से सम्बन्धित भावो के मुख्य उपादान, उनके स्थायित्व और सचारित्व तथा वर्गीकरण आदि का विवेचन शास्त्रीय परम्परा और आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर किया है। वे भावो की स्थायी दशा का निर्देश कर उसके अनुक्रम मे भारत और पश्चिम का मौलिक विभेद भी स्पष्ट कर सके हैं और दोनो तत्व-निरूपणो की विशिष्टता को भी पहिचान सके है। उनका भावो को प्रकृतिस्थ हो जाने की अवस्था को लेकर किया गया 'शील-दशा' का विवेचन अपने निजी दृष्टिकोण से हुआ है और इस प्रकार भावो की भाव दशा, स्थायी दशा और शीलदशा का पारस्परिक सबन्ध भी उनके द्वारा स्थिर कर दिया गया है। उन्होने यह भी बतलाया है कि काव्य मे इन तीनो दशाओ का उपयोग किस प्रकार होता है और विशेषतः गोस्वामीजी के रामचरित मानस मे उनका किस प्रकार से सम्यक् निर्वाह हुआ है।[5]

६१ आचार्य शुक्ल ने जिस दृष्टिकोण से भावो का वर्गीकरण किया है, वह भारतीय विचारधारा के अधिक अनुकूल है। साथ ही साथ उसमे पाश्चात्य मनोविज्ञान का भी पुट है। सर्वप्रथम उन्होने भावो (इमोशन्स) को सुखात्मक और दुखात्मक इन दो वर्गों मे विभक्त कर उनके चेतन धारण या आलम्बन (कागनिशन), इच्छा या सकल्प (कानेशन), कायिक गति या प्रवृत्ति (टेण्डेन्सी), सात्विक लक्षण (सिम्पटम्) आदि का निरूपण किया है और इस प्रकार सुखात्मक वर्ग मे राग, हास, उत्साह और आश्चर्य को रखा है तथा शोक क्रोध, भय और जुगुप्सा को दुखात्मक वर्ग के अन्तर्गत।[6] उन्होने काव्य को रसात्मक कहकर रस को भावात्मक सिद्ध किया है और उनके साथ जीवन की सवेदना अथवा सहजानुभूति को अविच्छेद्य भाव से स्वीकार किया है। उनके निरूपण-क्रम मे संचारी भावो का भी व्यापक विश्लेषण हुआ है और वे पाश्चात्य विचारक

१ रस-मीमासा, 'भाव' विश्लेषण, पृष्ठ १६२।
२. वही, पृष्ठ १६२।
३ रस-मीमासा, पृष्ठ सख्या १६४।
४. वही, पृष्ठ सख्या १६८।
५ वही पृष्ठ सख्या १७८-१८६।
६. रस-मीमांसा, भावों का वर्गीकरण, पृष्ठ १९२-१९३।

शैंड की विचारधारा का भी विवेचन कर सके हैं। उन्होने स्वतत्र विषय वाले भावो, मन के वेगों, अन्य अन्त:करण-वृत्तियो तथा मानसिक और शारीरिक अवस्थाओ की भी सोदाहरण व्याख्या की है और अन्त मे यह बतलाया है कि काव्य मे असंबद्ध भावो का रसवत् ग्रहण किस प्रकार होता है। आश्रय, आलबन और श्रोता की दृष्टि से जिन-जिन परिस्थितियो मे रस-विरोध होता है, उनका विचार-विमर्श करते हुए आचार्य ने कतिपय उदाहरणो द्वारा सिद्ध किया है कि साहित्य मे इस प्रकार की परम्परा किस रूप में रही है और काव्यकारो ने उनका किस प्रकार निरूपण किया है।

भावों का आलम्बन-विस्तार और उसके रूप-विधान

६२. शुक्ल जी की इस विषय मे यह सुदृढ धारणा है कि हमारे प्रेम, भय, आश्चर्य, क्रोध और करुणा इत्यादि भावो की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आलम्बन इसी चारो ओर फैले हुए रूपात्मक जगत् से भिन्न किसी अलौकिक तथा अतीन्द्रिय जगत् के नही हो सकते और जो लोग कल्पना या संभावना के द्वारा मानसिक रूप-विधान भी करते है, वह भी वाह्य जगत से सम्पृक्त होकर ही व्यक्त होता है।[१] उन्होने प्रत्यक्ष, स्मृत और संभावित या कल्पित सज्ञा से तीन प्रकार के रूप-विधानो का उल्लेख किया है और बतलाया है कि इन तीनो मे भावो को इस रूप मे जागरित करने की शक्ति होती है जिससे वे रस-कोटि मे आ सके।[२] उनके मतानुसार सभावित या कल्पित रूप-विधान द्वारा जागरित मार्मिक अनुभूति तो सर्वत्र काव्यानुभूति या रसानुभूति मानी जाती है किन्तु प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओ मे ही रसानुभूति की कोटि में आ सकती है।[३] आचार्य ने इन तीनो रूप-विधानो का व्याख्यात्मक और निदर्शनपूर्वक विवेचन कर बतलाया है कि 'भावुकता की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आधार या उपादान प्रत्यक्ष रूप ही हैं और इनकी जिनमे जितनी अधिक मार्मिक अनुभूति होती है उतने ही अधिक रसानुभूति के उपयुक्त सिद्ध होते हैं।'[४] आचार्य के दृष्टिकोण से काव्य मे रूप-विधान की महत्ता शाश्वत भाव से स्वीकार्य समझी जानी चाहिए अन्यथा केवल चामत्कारिक चित्रण और कलापूर्ण चटक-मटक साहित्य को क्रीडा-वृत्ति मात्र बना देगी। वे पश्चिमी साहित्य-शास्त्र मे प्रयुक्त "कला" शब्द की व्याख्या से चिढकर उसका साहित्य-चर्चा के विषयो से शीघ्रातिशीघ्र छुटकारा करना चाहते है और उसे काव्य कोटि से अवर श्रेणी का समझते है, जिसका ज्वलत प्रमाण तो यही है कि हमारे प्राचीन साहित्य-मीमासकों ने काव्य को ६४ कलाओ मे गिनना उचित नही समझा।

६३. आचार्य शुक्ल ने प्रत्यक्ष रूप-विधान के अन्तर्गत रसानुभूति की उस विशेषता पर भी विचार किया है जो उसे प्रत्यक्ष विषयो की वास्तविक अनुभूति से पृथक् करती हुई प्रतीत होती है। इस विशेषता का निरूपण उन्होने साधारणीकरण के अन्तर्गत किया है और बतलाया है कि जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप मे नही लाया जाता कि वह सामान्यत सब के उसी भाव का आलबन हो सके तब तक उसमे रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नही आती। इसी रूप मे लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।[५] शुक्ल जी इस सिद्धात-निरूपण के पश्चात् सच्चा कवि केवल उसे ही मानते हैं जिसे लोक-हृदय की पहिचान हो तथा जो अनेक विशेषताओ

---

१. रस-मीमांसा, पृष्ठ २५६-२६०

२. वही, पृष्ठ २६०।

३. वही, पृष्ठ २६०।

४. रस-मीमांसा, "प्रत्यक्ष-रूप-विधान", पृष्ठ २६१।

५. वही, पृष्ठ संख्या २६६।

श्रौर विचित्रताश्रो के बीच से मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय को श्रलग करके देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा को ही वे रस-दशा कहते है।[१]

'साधारणीकरण' श्रौर रसानुभूति के विविध स्वरूप

६४ शुक्ल जी का साधारणीकरण विषयक विवेचन इस बात का श्राभास देता है कि वे 'सत्ता या व्यक्ति के स्थान पर प्रभाव का साधारणीकरण' मानते हैं।[२] उनका मत है कि भाव श्रौर विभाव के सामजस्य के श्रभाव मे सच्ची श्रौर पूर्ण रसानुभूति हो ही नहीं सकती। भावपूर्ण काव्यो मे श्रोता या पाठक को श्रपनी श्रोर से श्रपनी भावना के श्रनुसार श्रालंबन का श्रारोप करना ही पडता है। वे साधारणीकरण स्वरूप का ही मानते है, व्यक्ति या वस्तु का नही। उनका साधारणीकरण से सीधा श्रभिप्राय यही है कि "किसी काव्य मे वर्णित श्रालबन केवल भाव की व्यंजना करने वाले मात्र (श्राश्रय) का ही न रह कर प्रत्येक पाठक या श्रोता का श्रालंबन हो जाय श्रौर वह निर्विशेष, शुद्ध श्रौर मुक्त हृदय से उनका रसात्मक श्रनुभव कर सके।"[३] शुक्ल जी का मंतव्य है कि यह स्थिति पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति मे श्रह का विसर्जन श्रौर नि.संगता (इमपरसनेलिटी एण्ड डिटेचमेण्ट) की स्थिति कहलाती है, जिसे चाहे रस का लोकोत्तरत्व कह दिया जाय श्रथवा ब्रह्मानन्द सहोदरत्व।[४] वस्तुत. रहता उसमे विभावन-व्यापार का श्रलौकिकत्व ही है। वे इस श्रलौकिकत्व का सीधा-सादा यही श्रर्थ लेते है कि वह हृदय की मुक्त दशा से सम्बन्धित हो। पाश्चात्य समीक्षा मे डा० ब्रैडले श्रादि ने लच्छेदार पदावलियो मे "कला कला के लिए" के प्रसग मे काव्य की लोकोत्तरता की जो व्याख्या की है, उसे वे "श्रर्थशून्य वागाडम्बर" से श्रधिक महत्त्व नहीं देते श्रौर बंग-भाषा के प्रसाद मे हिन्दी मे भी जो इस प्रकार के मधुर श्रालाप प्रसार पा रहे है, उन्हे साहित्य समीक्षा के ठोस धरातल के लिए सर्वथा श्रनुपयुक्त मानते है। वे तो बार-बार इस बात का उल्लेख करते हैं कि "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप मे नही लाया जाता कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का श्रालम्बन हो सके तब तक इसमे पूर्णतया तल्लीन करने की शक्ति नही रहती।"[५]

६५. श्राचार्य शुक्ल जी ने रति, हास, करुणा, क्रोध, भय, जुगुप्सा, शोक तथा प्रकृति के नाना रूपो को लेकर बतलाया है कि वे किस प्रकार हमे विभावानुसार संचारिभावो के सयोग से रसानुभूति कराते हैं। इस प्रसंग मे वे करुण-रस को लेकर श्रपनी एक मान्यता का निर्देश करते हुए लिखते है कि जो लोग करुणरस-प्रधान नाटको के दर्शको के श्राँसुश्रो के सम्बन्ध मे यह कहते हैं कि "श्रानन्द मे भी तो श्राँसू श्राते है वे एक प्रकार से बात टालते हैं।[६] शुक्ल जी की तो मान्यता है कि दर्शक वास्तव मे दु:ख ही का श्रनुभव करते है, किन्तु हृदय की मुक्त दशा मे होने के कारण वह दु ख भी रसात्मक होता है। साराश यह है कि शुक्ल जी के मत से "रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तिविक श्रनुभूति से सर्वथा भिन्न कोई श्रन्तर्वृत्ति नही है, बल्कि उसी का एक उदात्त श्रौर श्रवदान स्वरूप है श्रौर वस्तुत. वासना रूप मे स्थित भाव ही रस-रूप मे जगा करते हैं। श्रत. इन भावों का

---

१ रस-मीमासा, "प्रत्यच रूप विधान", पृष्ठ संख्या २६६

२. वही, पृष्ठ सख्या २६६।

३. रस-मीमासा, पृष्ठ २६८-२६६।

४. वही, पृष्ठ २६६।

३. वही, पृष्ठ २७०।

४. वही, पृष्ठ २७२।

जागरित अवस्था मे लाना ही एक सफल काव्याकार का प्रमुख कार्य होना चाहिए और इसे ही साधारणीकरण की अवस्था कहना चाहिए ।[1]

स्मृत रूप-विधान

६६ आचार्य शुक्ल ने प्रत्यक्ष रूप-विधान की भाँति स्मृत रूप-विधान मे भी रसानुभूति मानी है। स्मृति के अंतर्गत उन्होने विशुद्ध स्मृति और प्रत्यक्षाश्रित (मिश्रित) स्मृति या प्रत्यभिज्ञान नामक दो उप-विभाग किए है। उन्होने बतलाया है कि वैसे तो स्मरण सचारी भावो के अन्तर्गत आता है, किन्तु जब उसका सम्बन्ध किसी स्थायीभाव से हो जाता है तो वही रस-कोटि मे पहुँच जाता है। विशुद्ध स्मृति मे उन्होने प्रिय-जन, बाल्य-काल, यौवन-काल तथा अतीत जीवन के स्मरण को रखा है और प्रत्यभिज्ञान मे अल्पाश रूप मे स्मृति का प्रत्यक्ष रूप, तथा अधिकाश रूप मे स्मरण रूप निर्दिष्ट किया है। उन्होने प्राचीन कवियो के काव्याशो के उदाहरण देकर बतलाया है कि वे किस प्रकार प्रत्यभिज्ञान के रसात्मक स्वरूप का बराबर विधान करते रहे है। उनके मतानुसार प्रसिद्ध अग्रेज कवि गोल्डस्मिथ की ऊजड ग्राम (डेजर्टेड विलेज) नामक रचना हमे प्रत्यभिज्ञान द्वारा ही रसात्मक अनुभूति कराती है। आचार्य का मत है कि स्मृत रूप-विधान के अतिरिक्त हमारी स्मृत्याभास कल्पना भी रसानुभूति का साधन बनती है, जिसका आधार या तो आप्त वचन या इतिहास होता है अथवा शुद्ध अनुमान-मात्र। उन्होने आप्त वचन या इतिहास द्वारा ज्ञात बातो की मूर्त भावना, तथा शुद्ध अनुमान मात्र से प्राप्त कल्पना हम दोनो मे जीवन की मार्मिकता और तल्लीनता के तत्त्व पाये हैं और इनमे भी रसानुभूति की अवस्था का उल्लेख किया है। इस प्रकार शुक्ल जी के मत से 'स्मृत रूप-विधान मे भी रसानुभूति प्रदान करने की अपूर्व शक्ति है'।[2]

कल्पित रूप-विधान

६७. शुक्ल जी के मतानुसार कल्पित रूप-विधान रसानुभूति की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके निर्माण मे कल्पना-शक्ति का प्रयोग वाछनीय है। कल्पना का यह क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसमे प्रस्तुत रूप-विधान तथा अप्रस्तुत रूप-विधान इन दोनो का समावेश हो जाता है। आचार्य शुक्ल उसी कल्पना को काव्य के लिए उपयोगी समझते हैं जो हृदय की प्रेरणा से प्रवृत्त होकर प्रस्तुत का सम्यक् विधान करती है। उनके मतानुसार सारा रूप-विधान कल्पना ही के द्वारा होता है और अप्रस्तुत योजना मे भी उसका यथेष्ट हाथ रहता है। इसके द्वारा भाषा-शैली मे व्यजकता, मार्मिकता और चमत्कारपूर्णता की वृद्धि होती है। आधुनिक काव्य-धारा मे जिस लाक्षणिकता का समावेश हुआ है, उसमे भी कल्पना का यथेष्ट हाथ है। आचार्य शुक्ल ने कविवर घनानन्द तथा श्री सुमित्रानदन पंत के काव्य से उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि उनकें काव्य में लाक्षणिकता तथा व्यजना-शक्ति का प्रसार किस प्रकार संवलित है और उनकी कल्पना किन-किन रूप-चित्रो द्वारा हमे भावो का बिम्ब ग्रहण कराती है।

प्रस्तुत रूप-विधान

६८. रस-मीमासा के विषय में आचार्य शुक्ल ने प्रस्तुत रूप-विधान पर भी पर्याप्त विवेचन किया है। इसके विभाव-पक्ष के अन्तर्गत उन्होने आलम्बन और उद्दीपन को प्रतिष्ठित कर बतलाया है कि कवि-कल्पना उनमे किस प्रकार का रूप-विधान कैसी-कैसी अभिव्यंजनाओ से करती है। वे इसमे प्रयुक्त कल्पना को केवल उसी अंश तक ग्राह्य समझते है, जिस अश

१. रस-मीमासा, पष्ठ २७५।
२ रस-मीमासा, पृष्ठ २७६-९०।

तक वह श्रोता या पाठक के मन मे कोई भावना जगा सके और जीवन या जगत् का कोई मार्मिक रहस्य सामने रख सके। वे प्रस्तुत विधान के अन्तर्गत प्रयुक्त कल्पना और व्यक्तित्व की उस अतिरेकता का कठोर विरोध करते है जो पश्चिमी साहित्य-समीक्षा-शास्त्र मे अपनी एकांगितावश अनेक प्रकार का बहुरूपियापन दिखला रही है तथा जिसके कारण काव्य का विशुद्ध क्षेत्र राजनीति की भाँति वादो का अड्डा बन रहा है। वे ब्रैडले, क्रोचे आदि के कलावाद और अभिव्यंजनावाद के आडम्बरपूर्ण पक्ष का उद्घाटन कर उनकी एकदेशीयता सिद्ध करते है और वर्तमान हिन्दी-समालोचना के क्षेत्र मे समीक्षा की यथार्थता के स्थान पर कलाप्रियता आदि से सम्बन्धित जो प्रलाप-शैली चल पडी है, उसे इसी पाश्चात्य प्रवृत्ति का अनुकरण कह कर साहित्य के स्वस्थ दृष्टिकोण के लिए विघटनकारी समझते है। उनकी तो यह दृढ धारणा है कि साहित्य मे वैयक्तिकता को महत्त्व देने वाले समालोचक कुछ भी कहे, किन्तु इस तथ्य का कदापि निषेध नही किया जा सकता कि काव्य मे जिसे साधारणीकरण कहा गया है, वह विभावन व्यापार का ही होता है और उसमे मनुष्य की लोक-साधना का तत्त्व पूर्णतया सन्निहित रहता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि 'काव्य का विषय रहेगा सदा विशेष ही और वह व्यक्ति ही सामने लायेगा न कि सामान्य जाति।'[1] वे आधुनिक कला-समीक्षा के इस सिद्धान्त का साम्य हमारे यहाँ प्रतिपादित साधारणीकरण से करते हुए लिखते हैं कि "साधारणीकरण का अभिप्राय भी यही है कि पाठक या श्रोता के मन मे जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य मे वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठको या श्रोताओ के भाव का आलंबन हो जाती है।"[2] इस प्रकार वे साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का मानते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि "आलम्बन रूप मे प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सब के भावो का आलम्बन हो जाता है।"[3]

व्यक्तिवाद की एकांगिता

६६ साधारणीकरण के विवेचन के समानान्तर आचार्य शुक्ल ने यूरोपीय साहित्य-क्षेत्र मे पुनरुत्थान-काल के पश्चात् उद्भूत "व्यक्तिवाद" की एकागिता और अग्राह्यता की पर्याप्त मात्रा मे निन्दा की है। इस व्यक्तिवाद को वे साधारणीकरण से सर्वथा विपरीतगामी निर्दिष्ट करते हैं। उनका कहना है कि यही व्यक्तिवाद स्वच्छदता के आन्दोलन (रोमैण्टिक मूवमेण्ट) के उत्तर-काल मे इतना अधिक विकृत हो चला था कि उसके द्वारा यूरोपीय काव्य-समीक्षा के क्षेत्र मे उन्मत्त प्रलाप सा होने लगा। उसके समकालीन युग मे नवीनता और मौलिकता के नाम पर और भी अनेक वाद वहाँ के साहित्य-क्षेत्र मे प्रचलित होते रहे; किन्तु उनकी वास्तविकता थोडे-थोडे समय के पश्चात् ही प्रकट होती गई और वे अस्तित्वहीन बनते गये। आचार्य शुक्ल ने ऐसे क्षणिक आभा विकीर्ण करने वाले वादो मे रहस्यवाद, प्रतीकवाद, मुक्तछदवाद तथा कलावाद की गणना की है। उनका कथन है कि आज भी वहाँ के समीक्षा-क्षेत्र मे अभिव्यजनावाद (एक्सप्रेसनिज्म), जॉर्जकाल-प्रवृत्ति (जियो-जियेनिज्म), मूर्तिमत्तावाद (इमेजिनिज्म), सवेदनावाद (इम्प्रेसनिज्म) और नवीन मर्यादावाद (न्यू क्लासिसिज्म) आदि प्रमुख वाद चल रहे है, जो अपनी अल्पकालीन चमक-दमक दिखाकर एक दिन नष्ट हो जायेगे। शुक्ल जी के मतानुसार इस प्रकार काव्य-क्षेत्र मे वादो का प्रचार धीरे-धीरे उसकी सार-सत्ता को नष्ट कर देता है और लोग कविता न लिख कर वाद लिखने लगते हैं।[4] उन्हे इस बात का हार्दिक क्षोभ है कि "पश्चिम मे जो साहित्य-प्रवाद नष्ट भी हो गये, उनके

१. रस मीमासा, पृष्ठ ३०६।
२. वही, पृष्ठ ३११-३१२।
३ वही. पृष्ठ ३१३।
४. वही, पृष्ठ ३२१।

प्रेत बंगला और उसके माध्यम से हिन्दी-जगत् मे उत्पात मचाने से बाज नही आते।"[1] वे लोक-मगल और काव्य की पावन-स्थली मे उनका यह पद-निक्षेप काव्य-रचना तथा आलोचना के लिए अत्यन्त भयावह समझते हैं, क्योकि इनमे मानव-सत्ता की अखडता तथा भावो की पवित्र भूमि को खडित तथा पकिल बनाने का एकागी दुराग्रह जीवन-विघातक बनकर सामने आता है। यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि आचार्य शुक्ल ने यूरोपीय साहित्य-क्षेत्रो मे प्रचलित इन वादो का सामान्य परिचय देकर उनके प्रति अपनी अभिज्ञता बतलाई है और कहा है कि जार्जकाल की प्रवृत्ति को रूपर्ट ब्रूक, हैराल्ड मोनरो तथा डी० ला० मेयर ने किस प्रकार प्रकृति का फिर से आश्रय लेना कहकर निरूपित किया तथा मूर्तिमत्तावाद के विवेचक एफ० एस० फिलण्ट और अल्डिंगटन तथा वाट्सडंटन आदि ने किस प्रकार मूर्त-भावना खडी करने वाले शब्द को ही काव्योपयोगी बतलाया। इसी प्रकार सवेदनावाद के विवेचन मे उन्होने ई० ई० कमिंग्ज की "सन सेट" कविता को लेकर उनकी विचार-सरणि उपस्थित की। अभिप्राय यह है कि शुक्ल जी ने पश्चिमी जगत मे प्रचलित इन काव्यवादो का स्वरूप-विधान विवेचित कर इस बात का भी सकेत कर दिया है कि वे वाद आज-कल किस प्रकार पश्चिमी संसार मे भी अपना सम्मान खोने लगे हैं और उनकी एकागी अपूर्णता वहाँ के मीमासक किस प्रकार पहिचानने लगे है। प्रस्तुत रूप-विधान-विवेचन के अन्तर्गत आचार्य का यह निर्णय हमे तो सर्वग्राह्य सा प्रतीत होता है जिसमे उन्होने लिखा है कि "कविता या उसकी समीक्षा जब तक भेद-भाव का आधार हटाकर अभेद-भाव के आधार पर न प्रतिष्ठित होगी, तब तक उसका स्वरूप उसी प्रकार झझट और खीचतान मे पडा रहेगा। अभेद-भाव की भूमि तैयार करने का नाम ही साधारणीकरण है।"[2]

काव्य में वास्तविक रूप-विधान-पक्ष

७०. आचार्य शुक्ल जी की काव्य के रूप-विधान-पक्ष के विषय मे यह सुदृढ मान्यता थी कि अभिव्यंजनावादी भले ही काव्य मे कोई वस्तु या विषय न स्वीकार करें और कलावाद तथा उक्ति-वैचित्र्य को ही काव्य का सर्वस्व मानते रहे, किन्तु इस तथ्य का कदापि निषेध नही किया जा सकता कि काव्य मे जगत् या जीवन से सम्बन्धित कोई न कोई वस्तु अथवा तथ्य अवश्य रहता है। जो लोग काव्य की स्थिति वस्तु अथवा तथ्यविहीन वार्त्ता मे देखते हैं उन्हे वे "बैठकबाजी" से अधिक और कुछ नही कहते। वे काव्य के प्रभाव को अधिक से अधिक गम्भीर और अन्तस्तल-स्पर्शी मानकर उसे जीवन की एक शक्ति सिद्ध करते हैं, जिसके अन्तर्गत जगत् या जीवन का कोई तथ्य तथा उसके प्रति किसी प्रकार की अनुभूति का सन्निवेश अवश्यमेव रहता है। यहाँ तक कि शुक्ल जी के मतानुसार तो आध्यात्मिक कविताएँ भी अव्यक्त की ओर सकेत करने वाले किसी तथ्य का निरूपण अवश्य करती है। इस प्रकार उनके मत से काव्य मे जगत् या जीवन को लेकर प्रस्तुत विधान तो होना ही चाहिए। हाँ, यदि उसके अतिरिक्त उसकी दीप्ति के लिए अप्रस्तुत विधान भी हो जाय तो बुरा नही है, क्योकि वह अलकार अथवा लक्षणा के रूप मे आकर काव्य के भाव-सौन्दर्य अथवा वस्तु-निरूपण को अधिक उत्कर्ष प्रदान करता है।

७१. आचार्य शुक्ल ने अप्रस्तुत रूप-विधान के अन्तर्गत बतलाया है कि इनमे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह, अप्रस्तुत प्रशसा इत्यादि अलंकारो को लेकर जो वस्तु-योजना की जाती है उसका आधार या तो सादृश्य होता है या साधर्म्य। साथ ही साथ इन दोनो मे प्रभाव-साम्य भी अन्तर्निहित रहता है। उनके मतानुसार सिद्ध कवियो मे ऐसी प्रतिभा होती है, जिसके द्वारा वे प्रस्तुतो समान ही अप्रस्तुतो के सौन्दर्य, कोमलता, प्रचण्डता इत्यदि का विधान करते है और जिनमे केवल

१. रस-मीमांसा, पृष्ठ ३२७.
२. वही, पृष्ठ ३३५।

क्योकि उसमे भावोत्कर्ष अथवा कटि की कमनीयता का बिम्ब नही प्राप्त होता। इसी प्रकार शृगार के अन्तर्गत विरह-दशा का चित्रण करते समय फारस के साहित्य मे मवाद, खून, हड्डी, फफोले आदि के जो वीभत्स दृश्य सामने लाये जाते है, वे भी रसापकर्षक ही होते हैं। अभिप्राय यह कि शुक्ल जी की दृष्टि से काव्य मे अप्रस्तुत रूप-विधान के लिए चाहे अलंकार-प्रणाली का प्रयोग किया जाय, चाहे लक्षणा-शक्ति का, वह वस्तुतः होनी ऐसी चाहिए जिसके द्वारा साहित्य का चरम लक्ष्य सिद्ध हो। यही कारण है कि आचार्य ने अधिकता या न्यूनता सूचित करने के लिये ऊहात्मक या वस्तु-व्यजनात्मक शैली का विधान कवियो मे तीन प्रकार का मानकर ही उस शैली को अधिक ग्राह्य समझा है जिसमे ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप तो सत्य रहे, किन्तु उसके हेतु की कल्पना की गई हो। वे कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध ऊहा की आधारभूत वस्तु के असत्य को लेकर बिहारी के उन काव्याशो के उद्धरण देते है जिनमे नायिका के विरह-ताप के चित्रण मे पडोसियो को भी जाडे की रातो मे बेचैन करने की बात कही गई है। इसी प्रकार ऊहा की आधारभूत वस्तु के स्वरूप को सत्य या स्वत सम्भवी कह कर बिना किसी कल्पना के उसका चित्रण उनकी दृष्टि से मध्यम श्रेणी की शैली का काव्य है[१]।

रस-मीमांसा से सम्बन्धित अन्य विचार

७४. आचार्य शुक्ल ने रस-मीमासा का विषय काव्य के लक्षण, विभाग तथा उसके सैद्धान्तिक स्वरूप का निरूपण कर भाव-विभाव के व्यापक विवेचन के साथ स्पष्ट किया है और बतलाया है कि रसानुभूति के प्रमुख तात्त्विक आधार कौन-कौन से होते है। 'रस-मीमासा' के अनन्तर उन्होने शब्द-शक्ति के सम्बन्ध मे प्राचीन सस्कृत साहित्य-शास्त्र के अनुरूप विवेचन कर अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य-वृत्ति का भी समीक्षण किया है। उनका यह विवेचन प्राचीन लक्षण ग्रन्थो पर आधारित है। वे 'साहित्य-दर्पण' तथा 'काव्य-प्रकाश' के उदाहरणो द्वारा उनकी पुष्टि करते हैं। साथ-ही-साथ पश्चिमी समीक्षा और मनोविज्ञान की झलक भी उनके विवेचन-प्रसंग मे यथास्थान आती रही है। उनका व्यजना सम्बन्धी विवेचन सर्वथा परम्पराभुक्त-सा है और ध्वनि-निरूपण भी शास्त्रीय है। सकर और ससृष्टि, ध्वनि तथा गुणीभूत व्यग्य के पश्चात् उन्होने बतलाया है कि व्यजना की स्थापना किस प्रकार होती है और आधुनिक मनोविज्ञान उसे किस विधान से ग्रहण करता है। शुक्ल जी का रस-निर्णय तथा रस-चक्र सम्बन्धी विवेचन भी पठनीय है। रस-मीमासा के परिशिष्ट मे उनके उद्धरण के लिए दिये हुए उदाहरण तथा काव्य वाली पुस्तक के लिए मनोविज्ञान सम्बन्धी टिप्पणियाँ भी दर्शनीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य शुक्ल इस विषय को अधिक-से-अधिक व्यापक और पूर्ण बना कर अभिव्यक्त करना चाहते थे, किन्तु उनके असामयिक निधन से उनकी वह योजना उनके जीवन के साथ ही समाप्त हो गई। वे पाश्चात्य और भारतीय विचारको की साहित्यिक समीक्षाओ और विवेक-बुद्धि का एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के आकाक्षी भी थे। वस्तुत. वे ऐसा कर पाते तो हमारा आधुनिक समालोचना-साहित्य अपूर्व आभा से आलोकित हो उठता। उन्होने अपनी कार्य-परिणति की योजना मे जो अग्रेजी के फुट-नोट तैयार किये थे, उनका भी एक स्थायी महत्त्व बना हुआ है और वह विवेचन भावी समालोचको के लिए मार्ग-दर्शन का कार्य करता है। वस्तुत· उसके अन्तर्गत समालोचना के भावी विकास के तन्तु गुम्फित हैं और यदि उनके अन्तेवासी उनके इस अपूर्ण कार्य को विकसित तथा पूर्ण बनाने मे सक्रिय प्रयत्नशील हो, तो निश्चय ही वे आचार्य के प्रति अपने वास्तविक शिष्यत्व का निर्वाह कर सकेगे।

रस-मीमांसा का मूल्यांकन

७५. आचार्य शुक्ल मे साहित्य के तात्त्विक निरूपण की एक अद्भुत प्रज्ञा थी।

१. रस-मीमांसा, पृष्ठ ३५३।

उन्होने सन् १६२२ के आस-पास काव्य-मीमासा सम्बन्धी विभिन्न शीर्षको मे अपने फुटकर लेख लिखे थे, जिनका पारस्परिक सम्बन्ध भी था।[1] आगे चलकर उनके उन निबन्धो की बहुल सामग्री वृहदाकार बनकर प्रकाशित हुई, किन्तु उसके अनेक अग अप्रकाशित ही रहे। उन्होने शब्द-शक्ति का विचार भी टिप्पणियो के रूप मे किया था और वे टिप्पणियाँ अग्रेजी मे थी। उनकी इस उपादेय सामग्री का यथोचित सयोजन, उनके सुयोग्य शिष्य प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'रस-मीमासा' नामक पुस्तक के रूप मे किया, जिसमे शुक्ल जी की रसोन्मुखी काव्य-सम्बन्धी विचारधारा की सारी सामग्री आ सकी। कहा जा सकता है कि शुक्लजी की सैद्धान्तिक समीक्षा का प्राय सम्पूर्ण विधान इस ग्रन्थ मे आ गया है और इसके अध्ययन के पश्चात् यह जानने की कम अपेक्षा रहती है कि आचार्य का साहित्य के प्रतिमान के विषय मे क्या दृष्टिकोण था और वे भारतीय तथा पश्चिमी समीक्षा-शास्त्र को रस तथा मनोविज्ञान की दृष्टि से कितना निकट ला सके थे। यह एक उलझन की बात है कि उनके कुछ अध्येताओ ने उन्हे एक रूढ़िवादी और परम्परा-भुक्त विधान मे रखकर उनके स्वच्छन्द चिन्तक के रूप को धूमिल बना दिया है तो उनके कुछ प्रशसक उनकी सीमाओ और मर्यादाओ का विचार किये बिना ही उन्हे सर्वागपूर्णता से ओत-प्रोत सिद्ध करते हैं। उभय पक्षो मे अपने-अपने समर्थन की मात्रा का ही आग्रह विशेष है, अतः आज की बडी आवश्यकता यह भी है कि शुक्ल जी के साहित्यिक मूल्याकन का निष्पक्ष निर्णय किया जाय और हमारी प्रस्तुत गवेषणा का यह प्रयास हा कि उन्होने समालोचना को जिस स्तर पर लाकर छोड दिया है, उसे किस प्रकार प्रगतिमान और प्रौढ बनाया जा सकता है।

शुक्ल जी की समालोचना का व्यावहारिक क्षेत्र

(अ) 'गोस्वामी तुलसीदास' और उसकी समीक्षा-शैली

७६. शुक्ल जी ने 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक समीक्षा-ग्रन्थ मे विशुद्ध आलोचनात्मक दृष्टि से गोस्वामी जी के काव्य-विषयो से सम्बन्धित जिन अशो का व्याख्यात्मक प्रणाली से विवेचन किया है, वे उनकी व्यावहारिक समीक्षा के उच्च धरातल के प्रतीक हैं। उक्त पुस्तक के प्रथम सस्करण मे गोस्वामी जी का जीवन-वृतान्त भी सम्मिलित था, किन्तु सशोधित सस्करण (राम नवमी, सन् १६६०) मे उसे स्थान नही दिया गया है, जिसका कारण यह है कि शुक्ल जी की मुख्य प्रवृत्ति गोस्वामी जी के साहित्य-पक्ष-विवेचन की ओर ही अधिक थी। यद्यपि शुक्लजी ने अपनी शालीनता और विद्वद्जन-सुलभ विनय-भावनावश अपनी इस समीक्षा-कृति को 'गोस्वामी जी के महत्त्व के साक्षात्कार और उनकी विशेषताओ के प्रदर्शन का लघु प्रयत्न मात्र'[2] कहा है, किन्तु उसमे विवेचित,'गोस्वामी जी की भक्तिपद्धति','प्रकृति और स्वभाव','लोक-धर्म', 'धर्म और जातीयता का समन्वय', 'मगलाशा', 'लोकनीति और मर्यादावाद', 'शील-साधना और भक्ति', 'ज्ञान और भक्ति', 'तुलसी की काव्य-पद्धति', 'तुलसी की भावुकता', 'शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण', 'वाह्य दृश्य-चित्रण,' 'अलकार-विधान', उक्ति-वैचित्र्य', 'भाषा पर अधिकार', 'कुछ खटकने वाली बातें' तथा 'हिन्दी-साहित्य मे गोस्वामी जी का स्थान' विषयो पर जो गम्भीर और तात्विक विश्लेषण हुआ है, वह हमारे समालोचना साहित्य का गौरव है। इस विवेचन मे शुक्लजी ने शास्त्रीयता, व्याख्यात्मकता तुलनात्मकता, निर्णयात्मकता और प्रभावाभिव्यजकता आदि विभिन्न शैलियो के नाम से परिगणित होने वाली समीक्षा-पद्धतियो का यथोचित संयोजन और समन्वय करने की प्रशसनीय चेष्टा की है। तुलसी की भक्ति-पद्धति के विश्लेषण मे उन्होने ऐतिहासिक प्रणाली का अनुगमन कर देश की तत्कालीन

१. पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र . 'रस-मीमासा' प्रस्तावना, पृष्ठ ४।
२. प० रामचन्द्र शुक्ल, गोस्वामी तुलसीदास, सशोधित संस्करण का वक्तव्य।

राजनीतिक, सामाजिक और सास्कृतिक परिस्थितियो के मध्य होने वाले भक्ति के विकास को उसकी पूर्व-परम्परा का अनुसधानपूर्ण विवेचन कर स्पष्ट किया है और बतलाया है कि विशुद्ध भारतीय दृष्टि से भक्ति का क्या स्वरूप है और गोस्वामी जी की काव्य-कृतियो मे उनका किस रूप मे निर्वाह हुआ है। शुक्ल जी के इस विवेचन से उनके शास्त्रीय अध्ययन और मौलिक चिन्तन का भी सहज ही आभास हो जाता है। उससे यह भी स्पष्ट होता है कि उनकी सगुण भक्ति की ओर विशेष अभिरुचि थी और वे निर्गुण भक्ति-परम्परा मे अपने मानसिक उल्लास के उपयुक्त बहुत कम सामग्री पाते थे। गोस्वामी जी के भक्ति विषयक विश्लेषण को पूर्ण बनाने के लिए उन्होने निर्गुण भक्तो और सूफियो की साधना-पद्धतियो का भी यथाप्रसग विवेचन किया है। उनके मतानुसार "भक्ति रागात्मिका वृत्ति है, हृदय का एक भाव है। प्रेमभाव उसी स्वरूप और उसी गुण समूह पर टिक सकता है जो हमे दृश्य जगत् की ओर आकर्षित करता है।"[1]

गोस्वामी जी के साहित्य-विश्लेषण के विविध पक्ष

७७ शुक्ल जी ने गोस्वामी जी की प्रकृति और स्वभाव के सम्बन्ध मे अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले हैं, उनमे आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र के अवचेतन तथा उपचेतन का भले ही शल्य-विधान न हो, किन्तु उनके द्वारा कवि की प्रकृति और काव्य-निर्माण के अन्तर्वर्ती सूत्र का उद्घाटन अत्यन्त प्राजलता से उपलब्ध होता है। इसी विवेचन मे उन्होने उन भ्रान्तियो का भी निराकरण करने का प्रयत्न किया है जो गोस्वामी जी की अन्त प्रकृति का सम्यक् विचार किये बिना साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र मे प्रचलित हो गई हैं। शुक्ल जी का लोक-धर्म विषयक विवेचन तो अत्यन्त ही प्रौढ और शास्त्र-सम्मत है। उन्होने कर्म, ज्ञान और उपासना को लोक-धर्म के प्रमुख अवयव निर्धारित कर[2] इस विषय का ऐतिहासिक अनुसधान किया है कि भारतीय जीवन-परम्परा मे उनके संतुलित और मर्यादित विकास का किस रूप मे विधान रहा है और गोस्वामी जी ने अपनी रचनाओ मे उनका किस प्रकार निर्वाह किया है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि गोस्वामीजी ने 'भक्ति और प्रेम के पुटपाक द्वारा धर्म को रागात्मिकता के साथ सम्मिश्रित करके एक ऐसा रसायन तैयार किया जिसके सेवन से धर्ममार्ग मे कष्ट और श्रान्ति न जान पडे और लोग आनन्द तथा उत्साह के साथ उसकी ओर स्वत प्रवृत्त हो'।[3] वस्तुत. उन्हे गोस्वामी जी की रचनाओ मे धर्म और जातीयता का ऐसा सुन्दर समन्वय मिला है जिसके कारण मंगलाशा की उपलब्धि और लोकनीति तथा मर्यादावाद की पुष्टि हुई है। उन्होने इसी विवेचन मे उन लोगो का खण्डन किया है जो 'सिद्धान्त और अर्थवाद मे भेद न समझने के कारण गोस्वामी जी की उक्तियो को लेकर उनमे परस्पर विरोध आदि दिखाया करते हैं'।[4] सच तो यह है कि शुक्ल जी को गोस्वामी जी के काव्य मे शील-साधना और भक्ति का ऐसा अपूर्व सामजस्य प्रदर्शित हुआ है, जिसके द्वारा उन्होने शील, शक्ति और सौन्दर्य के लोकमंगलकारी स्वरूप की भव्य प्रतिष्ठा की है। शुक्ल जी का ज्ञान और भक्ति विषयक विवेचन भी समन्वयपूर्ण है। उनका यह सारा विश्लेषण इतना अधिक तारतम्यपूर्ण है कि उसमे कही पर भी अस्पष्टता नही आ सकी है और विद्वान् समालोचक ने गोस्वामी जी को विशुद्ध भक्ति-मार्गी सिद्ध किया है "जिनकी वाणी मे भक्ति के गूढ रहस्यो को ढूंढना ही अधिक फलदायक होगा ; ज्ञान मार्ग के सिद्धान्तो का ढूंढना नहीं।"[5] आगे

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल 'गोस्वामी तुलसीदास', सशोधित सस्करण, पृष्ठ ६।
२. वही, पृष्ठ २३।
३. वही, पृष्ठ ३६।
४. वही, पृष्ठ ५७।
५. वही, पृष्ठ ७४।

चलकर शुक्ल जी ने काव्य के अनुकृत या प्रकृत (इमीटेटिव और रियलीस्टिक) तथा अतिरंजित या प्रगीत (एग्जागेरेटिव और लीरिकल) नामक दो स्वरूप निर्धारित कर प्रथम रूप मे कवि की भावुकता की सच्ची झलक मानी है[1] और उसी के आधार पर गोस्वामीजी की काव्य-पद्धति का विवेचन किया है। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी अपनी मान्यताओ के प्रति कितने दृढ थे और उन्हे जहाँ अपने मनोनुकूल विचारो और भावधाराओ का अभाव मिलता था, वहाँ वे उसका विरोध करने के लिए कितने अधिक तीव्र हो जाते थे। वास्तव मे शुक्ल जी को गोस्वामी जी के काव्य मे उच्च कोटि की भावुकता मिली है, जिसका परीक्षण उन्होने अपने इस सिद्धान्त पर किया है कि 'प्रबन्धकार कवि की भावुकता का सब से अधिक पता यह देखने से लग सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्थली स्थलो को पहिचान सका है या नही।"[2]

रससिद्ध समालोचना और निर्णयात्मक प्रवृत्ति

७८. शुक्लजी की व्यावहारिक समालोचनाओ मे रससिद्ध समालोचक की भावुकता का भी समावेश है, किन्तु वे कही पर भी उसके प्रवाह मे ऐसे नही बह गए हैं कि उनकी शैली मे 'वाहवाही' अथवा 'महफिली तर्ज' आ गई हो और उनका समालोचक-व्यक्तित्व कुठित हो गया हो। जो लोग प्रभावाभिव्यजकता को समालोचना का प्रधान गुण मानते है, उन्हे उसका शालीन स्वरूप शुक्ल जी द्वारा लिखे गए 'तुलसी की भावुकता' शीर्षक विवेचन मे मिलेगा। न जाने शुक्ल जी कितनी बार इस विवेचन मे आत्मलीन से हो गए है। उन्होने गोस्वामीजी की भावुकता का स्पष्टीकरण करने के लिए 'राम का अयोध्या-त्याग' और 'पथिक के रूप मे वन-गमन', 'चित्रकूट मे भरत और राम का मिलन', 'शबरी का आतिथ्य', 'लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप' तथा 'भरत की प्रतीक्षा' आदि प्रमुख स्थल चुने है और उन पर उन्होने गोस्वामी जी की भावुकता का रग चढा कर अपनी मानसिक अभिरुचि व्यक्त की है। इमी विवेचन के अन्तर्गत उन्होने गोस्वामीजी द्वारा किए गए शब्द-शोधन और व्यापार-शोधन का भी विश्लेषण किया है और इस दृष्टि से भी उन्हे महान् कवि सिद्ध किया है। शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से तो गोस्वामी जी उन्हे हिन्दी के अद्वितीय कवि प्रतीत हुए है। उन्होने 'मानस' के विविध पात्रो को लेकर अपने कथन की पुष्टि की है और बतलाया है कि उनके विश्लेषण मे गोस्वामी जी ने कितने व्यापक अग मे अपनी जीवन-अनुभूति का सफलतापूर्वक सचार किया है। शुक्ल जी के ये सारे विवेचन गोस्वामी जी की अतर्दृष्टि की सूक्ष्मता का अभिव्यंजन करने वाले है। इसके अतिरिक्त उन्हे वाह्य दृश्य-चित्रण के रूप मे गोस्वामी जी द्वारा वर्णित प्रकृति चित्रण का बिम्ब-विधान भी अत्यन्त सजीव और आकर्षक लगा है, क्योकि उसमे केवल वस्तु-नाम-परिगणन की प्रणाली न होकर दृश्य का मूर्त-विधान करने का प्रमुख प्रयास है। इसी प्रकार शुक्लजी ने 'भावो का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने मे कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलकार है'[3] कहकर इसी दृष्टि से गोस्वामी जी का अलकार-विधान स्पष्ट किया है। जिस उक्ति-वैचित्र्य को कुछ विद्वान् काव्य का सर्वस्व मान कर उसकी विवेचना करते है, उसका सयमित स्वरूप विवेचित कर शुक्ल जी ने गोस्वामी जी मे उसका भी आभास पाया है। इसी प्रकार उन्होने गोस्वामी जी का भाषा पर असाधारण अधिकार सिद्ध कर उनके काव्य मे ऐतिहासिक दृष्टि की न्यूनता, भक्ति सम्प्रदाय वालों की इधर की कुछ भक्तमाली कथाओ पर उनकी आस्था, नाम-प्रताप को राम-प्रताप से बडा कहने की प्रवृत्ति, दोहो और सवैयो मे मात्रा-दोष तथा अंगद और रावण सवाद मे राजसभा के गौरव तथा सभ्यता का अभाव आदि कुछ

१ प० रामचन्द्र शुक्ल, गो० तुलसीदास, सशोधित सस्करण, १९३५ ई०, पृष्ठ ७५।

२. वही, पृष्ठ ८८।

३. वही, पृष्ठ १६१।

खटकने वाली बाते[1] भी बतलाई हैं किन्तु उनके द्वारा गोस्वामी जी की अगाध रत्न-राशि मे उन्हें कोई न्यूनता नही मिलती जिससे उनके गौरव मे कमी आती हो। अपने व्यापक विश्लेषण और गम्भीर चिंतन के बल पर ही शुक्ल जी ने अन्त मे हिन्दी साहित्य मे गोस्वामी जी का स्थान निर्धारित करते हुए यह निर्णय दिया है, 'यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखने वाला हिन्दी का सबसे बडा कवि कौन है तो उसका एकमात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय, भारती-कठ, भक्त-चूडामणि गोस्वामी तुलसीदास।'[2]

(आ) 'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका और उसकी समीक्षा-पद्धति

७९ शुक्ल जी की व्यावहारिक समालोचनाओ मे 'जायसी-ग्रंथावली' की भूमिका का भी अत्यन्त महिमामय स्थान है। इसका प्रथम सस्करण कृष्ण-जन्माष्टमी सवत् १९८१ मे उस समय प्रकाशित हुआ, जब हिन्दी-समालोचना मे इस प्रकार की विस्तृत और गम्भीर समीक्षाएँ लिखने के बहुत कम प्रयत्न हुए थे। शुक्ल जी ने प्राचीन उपलब्ध प्रतियो के आधार पर आवश्यक टिप्पणियाँ देते हुए उसके मूल पाठ का सम्पादन तो किया ही है, किन्तु उसके प्रारम्भ मे भूमिका के रूप मे जो विस्तृत समालोचना जोडी है, उससे न केवल जायसी का काव्य-सौरस्य ही साहित्य-जगत् के सम्मुख प्रकट हो सका है, अपितु उसके द्वारा प्रेमगाथा की परम्परा और सूफी काव्य की विभिन्न विशेषताओ का भी सम्यक् उद्घाटन हो गया है। अन्य समीक्षा-कृतियो की भाँति इस समालोचना मे भी शुक्ल जी अत्यन्त सतुलित और सुलझे हुए हैं। प्रारम्भ मे जायसी की अवतारणा के पूर्व हिन्दी-साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियो का उल्लेख कर शुक्लजी ने एक ऐसी पृष्ठभूमि तैयार कर ली है, जिसके आधार पर उन्हे जायसी का वास्तविक मूल्याकन करने मे अधिक सुविधा रही है। उनके मतानुसार वैसे तो और भी भावुक मुसलमान 'प्रेम की पीर' की कहानियाँ लेकर साहित्य-क्षेत्र मे उतरे थे, किन्तु जायसी का महत्त्व उनमे इसलिए विशेष है कि 'कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास अवश्य दिया, किन्तु प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की जो आवश्यकता बनी हुई थी, वह जायसी द्वारा पूरी हुई।'[3]

८०. शुक्ल जी ने प्रेमगाथा की परम्परा का विकास लोक-जीवन के साथ सयोजित कर उसकी कतिपय विशेषताओ का उल्लेख किया है और तदुपरान्त प्राप्त सूत्रो के आधार पर जायसी का जीवन-वृत्त भी प्रस्तुत किया है। 'पद्मावत की कथा' तो केवल कहानी का साराश उपस्थित करने के लिए लिखी गई है जिसके बीच-बीच मे उसके ऐतिहासिक सूत्रो का अन्वेषण करने का भी प्रयत्न है। वस्तुत. उनकी समालोचना का व्यवस्थित पक्ष तब से आरम्भ होता है, जब वे पद्मावत की प्रेम-पद्धति का निरूपण करने के पूर्व कवियो द्वारा वर्णित दाम्पत्य प्रेम के आविर्भाव की विभिन्न प्रणालियों का विवेचन करने के लिए उद्यत हुए हैं। शुक्ल जी ने पद्मावत को उस प्रणाली के अन्तर्गत माना है जिसमें 'गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन आदि से बैठे-बिठाए प्रेम उत्पन्न होता है और नायक या नायिका को वह सयोग के लिए प्रयत्नवान करता है।'[4] उनके मतानुसार 'जायसी शृगार के चित्रण मे मानसिक पक्ष को प्रधानता तथा शारीरिक पक्ष को गौणता देकर उस प्रेम-पद्धति मे विशेषता भी ला सके है।'[5] वे जायसी के प्रेम-चित्रण मे केवल इश्क के दास्तान वाली मसनवी

---

१. प रामचन्द्र शुक्ल, गोस्वामी तुलसीदास, सशोधित सस्करण, सन् १९३५, पृष्ठ १८८-८९।

२. वही, पृष्ठ १९१।

३. प० रामचन्द्र शुक्ल जायसी ग्रन्थावली ' भूमिका : पंचम संस्करण, स० २००८ वि०, पृ० २।

४. वही, पृष्ठ ४-५।

५. वही, पृष्ठ २८।

६. वही, पृष्ठ २८।

पद्धति ही नही पाते, अपितु उन्हे उसमे भारतीय जीवन के लोकपक्ष का भी दर्शन हुआ है।[1] 'बिना परिचय के प्रेम नही हो सकता' यह कह कर शुक्ल जी ने पहले से ही रहस्यवाद के अन्तर्गत वर्णित की जाने वाली अज्ञात के प्रति लालसा का खण्डन करने के लिए एक प्रकार से भूमिका-सी प्रस्तुत कर ली है। उन्होने जायसी के सभोग-शृंगार और विप्रलम्भ शृगार का शास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक प्रणाली मे विवेचन किया है और बतलाया है कि जायसी के वर्णन में अत्युक्ति होने पर भी किस प्रकार गाम्भीर्य पक्ष बना रह सका है और वे बिहारी आदि कवियों की भाँति केवल ऊहात्मक चमत्कार के फेर मे क्यो नही पडे है। अपने विवेचन को पुष्ट बनाने के लिए शुक्ल जी ने 'आधिक्य या न्यूनता सूचित करने के लिए ऊहात्मक या वस्तु-व्यजनात्मक शैली का कवियों मे पाए जाने वाले विधान' का भी विवेचन किया है[2] और जायसी मे पाए जाने वाले ऊहा के उस स्वरूप की प्रशंसा की है जिसकी आधारभूत वस्तु का स्वरूप तो सत्य होता है, किन्तु जिसमे उसके हेतु की कल्पना कर ली जाती है। कहने की आवश्यकता नही कि शुक्ल जी के काव्य-समीक्षण-प्रतिमान मे इस प्रकार की मान्यता का भी विशेष महत्त्व था और वे सभी कवियो का काव्य-परीक्षण करते समय इस मान-दण्ड का प्रायः सर्वत्र प्रयोग किया करते थे। उन्होने अपने कथन की पुष्टि के लिए विवेचन के प्रसंग के अन्तर्गत जायसी के अनेक काव्यांशो के व्याख्या-पुरस्सर उद्धरण देकर उनका सौष्ठव स्पष्ट किया है। उन्होने नागमती के विरह-वर्णन मे प्रयुक्त बारहमासा को 'आशिक माशूको का निर्लज्ज प्रलाप न मानकर हिन्दू गृहिणी की विरह वाणी मानी है जिसका सात्त्विक मर्यादापूर्ण माधुर्य परम मनोहर है।'[3] इसी प्रकार शुक्ल जी ने सभोग-शृंगार के विश्लेषण मे षट्-ऋतु-वर्णन का विवेचन उसके उद्दीपन स्वरूप के अन्तर्गत किया है और पद्मावत मे उसकी स्वरूप-सगति सिद्ध की है।

जायसी की समीक्षा के मुख्य उपादान और उनका विवेचन

८१. जायसी की समीक्षा मे शुक्ल जी ने पद्मावत मे प्रयुक्त 'ईश्वरोन्मुख प्रेम' की विशेषता बतलाते हुए लिखा है कि 'एक प्रबन्ध के भीतर शुद्ध भाव के स्वरूप का ऐसा उत्कर्ष जो पार्थिव प्रतिबन्धों से परे होकर आध्यात्मिक क्षेत्र मे जाता दिखाई पडे, जायसी का लक्ष्य है।'[4] उनका एतद्-विषयक उत्तरवर्ती विवेचन केवल इस कथन की पुष्टि के लिए हुआ है और उन्होंने अग्रेजी के कवि वर्ड्सवर्थ तथा अन्य भारतीय आख्यानकारो द्वारा गृहीत प्रणालियो का तुलनात्मक विश्लेषण कर जायसी के मर्यादित प्रेम-तत्त्व की बडी प्रशसा की है। कहने की आवश्यकता नही कि शुक्ल जी ने पद्मावत मे प्रयुक्त पात्रो के मनोभावो का विश्लेषण जिस सूक्ष्म बुद्धि और सरस भावुकता से संवलित होकर किया है, वह वस्तुत. पठनीय है। इसी प्रकार किसी भी श्रेष्ठ महाकाव्य के लिए आवश्यक प्रबन्ध-कल्पना और सम्बन्ध-निर्वाह के लिए भी उन्होने अपना एक निकष प्रस्तुत किया है, जिसके अनुसार किसी भी श्रेष्ठ प्रबन्ध-काव्य मे मानव-जीवन का एक पूर्ण दृश्य-विधान करने के लिए उसमे 'घटनाओ की सम्बद्ध शृंखला और स्वाभाविक क्रम के ठीक-ठीक निर्वाह के साथ-साथ हृदय को स्पर्श करने वाले उसे नाना भावो का रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसगो का समावेश रहना चाहिए।'[5] उन्होने प्रबन्ध-कल्पना के सम्बन्ध-निर्वाह के लिए भी माघ का आदर्श ग्रहण किया है।[6] सच तो यह है कि शुक्ल जी के मत से प्रबन्ध-कल्पना के सम्बन्ध-निर्वाह के लिए

---

१ प० रामचन्द्र शुक्ल जायसी ग्रन्थावली भूमिका भाग, पचम सस्करण, स० २००८ वि०, पृ० ३० ।
२. वही, पृष्ठ ३८ ।
३. वही, पृष्ठ ४६ ।
४. वही, पृष्ठ ५५ ।
५. वही पृष्ठ ६८ ।
६. बह्वपि स्वेच्छया काम, प्रकीर्णमभिधीयते ।
अनुज्झितार्थसंबन्ध. प्रबन्धो दुरुदाहर: । माघ, शिशुपाल वध, द्वितीय सर्ग ।

आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं की इतिवृत्तात्मकता और रसात्मकता के मध्य ऐसा अन्तरसूत्र रहना चाहिए जिससे इस विषय का स्पष्ट निरूपण हो सके कि कवि द्वारा वस्तु-वर्णना तथा पात्र द्वारा भाव-व्यजना मे किस प्रकार का संतुलन हो सका है और कथा-क्रम मे किस प्रकार का प्रवाह आ सका है। अपने इसी प्रतिमान के आधार पर शुक्ल जी ने 'पद्मावत' महाकाव्य का व्यापक रूप से परीक्षण किया है, जो समालोचना के व्यावहारिक पक्ष का अत्यन्त भव्य निदर्शन है।

८२. शुक्ल जी ने जायसी के पदमावत की विवेचना मे काव्य के बहिरग पक्ष से सम्बन्धित अलकार-विधान का भी व्यापक विवेचन किया है। उनकी काव्य मे अलकार-विषयक क्या धारणा थी, इसका विवेचन उनकी समालोचना के सैद्धान्तिक पक्ष के अन्तर्गत किया ही जा चुका है, अत. उसके पिष्टपेषण की हम यहाँ आवश्यकता नही समझते। यहाँ तो हमारे कथन का मूल अभिप्राय इतना ही है कि शुक्ल जी ने जायसी के काव्य मे सादृश्य मूलक अलकारो के अन्तर्गत परिगणित होने वाले उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा के भेदोपभेदो का विवेचन केवल शास्त्रीय पद्धति पर ही नही किया है, अपितु उसे नवीन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी देखा है। उनके विवेचन मे अतिशयोक्ति, तद्गुण, अन्योक्ति, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विरोध, प्रत्यनीक, दृष्टान्त आदि अलकारो की विवेचना भी हुई है और वे जायसी के काव्य मे इनकी युक्ति-संगति का शास्त्रीय आधारो पर मूल्याकन भी कर सके है। जायसी ने इन अलकारो के प्रयोग मे जहाँ केवल ऊहात्मक चमत्कार ही प्रदर्शित किया है, वहाँ शुक्ल जी को उनमे रस-रमणीयता नही मिली है और वे इस विवेचन मे प्राचीन तथा समकालीन कवियों के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत कर सके है। उन्होने प्रबन्ध-काव्य मे स्वभाव-व्यजना की विधियो का उल्लेख कर जायसी को इस क्षेत्र मे अधिक सफल नही माना है, क्योकि उनकी मानवी प्रकृति-चित्रण की ओर कदाचित प्रवृत्ति ही नही थी। इस सम्बन्ध मे शुक्ल जी का मूल मतव्य गोस्वामी जी की एतद्विषयक सफलता का विवरण देकर यही सिद्ध करना रहा है कि 'जायसी मे भिन्न भिन्न परिस्थितियो की अन्तर्वृत्ति का सूक्ष्म निरीक्षण बहुत कम है।'[1]

८३. शुक्ल जी ने जायसी के मत और सिद्धान्त का विवेचन करने के पूर्व उन आधार-सूत्रो का क्रमिक विकास स्पष्ट किया है जिनका जायसी की आस्थाओ के निर्माण मे हाथ रहा है। इस विवेचन मे एक ओर भारतीय अद्वैतवाद तथा दार्शनिक विचारधारा का विश्लेषण है तो दूसरी ओर पैगम्बरी एकेश्वरवाद तथा सूफी भावनाओ का। शुक्ल जी ने तथ्यग्राहिणी बुद्धि द्वारा दोनो प्रकार की मूल भावनाओ का अन्तर स्पष्ट करते हुए यह स्पष्ट करने की पूर्ण चेष्टा की है कि जायसी के मत और सिद्धान्त के निर्माण मे इन दार्शनिक प्रपत्तियो का कितना अश है। प्रसगवश उन्होने पाश्चात्य दर्शन तथा कुछ अंग्रेज कवियो की काव्य-कृतियो का उल्लेख कर उनमे अन्तर्निहित प्रवृत्तियाँ का उद्घाटन करने की चेष्टा भी की है। इस सम्बन्ध मे शुक्ल जी ने ज्ञान, कर्म तथा उपासना के अलग-अलग क्षेत्रों का निरूपण कर रहस्यवाद के सम्बन्ध मे प्राय. वे ही बातें कही हैं जो उनके 'इतिहास', 'काव्य मे रहस्यवाद' तथा 'रस-मीमांसा' के अन्तर्गत निरूपित है। सच तो यह है कि शुक्ल जी को इस विषय मे दृढ विश्वास है कि 'ज्ञानकाड के निर्गुण ब्रह्म को यदि उपासना-क्षेत्र में ले जायेगे तो उसे सगुण करना ही पडेगा।'[2] उन्होने जायसी के ग्रन्थो से विभिन्न काव्याशों का चयन कर यह भी स्पष्ट किया है कि उन पर भारतीय तथा सूफी भावना का किन-किन स्थानो पर कैसा प्रभाव है। जो लोग काव्य मे रहस्यवाद का निरूपण करते हुए उसके अन्तर्गत उपनिषदो के अद्वैतवाद की स्वाभाविकता अनिवार्य समझते हैं उनके प्रति इस विवेचन मे भी शुक्लजी के कठोर व्यंग्य है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि 'अद्वैतवाद मूल मे दार्शनिक सिद्धान्त है, कवि कल्पना या

---

१. प० रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रथावली की भूमिका, पचम संस्करण, २००८, पृष्ठ १३३.

२. पं० रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, पंचम संस्करण, २००८, पृ० १४५।

भावना का विचार नही ।'[1] इस निर्णय द्वारा उन्होने रहस्यवाद की अद्वैत प्रवृत्तियो के प्रति अपना विरोध प्रकट किया है, जिसका विवेचन उनके 'काव्य मे रहस्यवाद' विषयक विचारों के प्रसग मे किया जा चुका है।

जायसी के काव्य-समीक्षण के अन्यान्य अंग

८४. जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका का अध्ययन करने से पता चलता है कि शुक्ल जी ने उसके प्रमुख प्रसगो के साथ-साथ फुटकल प्रसंगो की भी चर्चा की है। जैसे पद्मावत मे वर्णित दान-महिमा, द्रव्य-महिमा तथा विनय इत्यादि। इस प्रकार के विवेचन का उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि शुक्ल जी जायसी की बहुज्ञता का आभास देकर यह बतलाना चाहते थे कि उन्होने अपने ग्रन्थों मे अपने बहुश्रुत ज्ञान का किस प्रकार प्रयोग किया है। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जायसी ने पूर्व प्रचलित काव्य-पद्धतियो का प्रयोग अपने ग्रन्थो मे किस रूप में किया और उनसे किन-किन स्थानो पर भूले भी हो गई। वैसे तो पडित पद्मसिंह शर्मा ने भी बिहारी की बहुज्ञता सिद्ध करने के लिए अनेक विषयो के प्रति उनका ज्ञान प्रदर्शित किया था, किन्तु उनके विश्लेषण मे उछल-कूद की मात्रा ही अधिक थी। शुक्लजी ने ऐसा कही पर भी नही किया। जायसी की साहित्य-विषयक अभिज्ञता, पौराणिक वृत्तो और ऐतिहासिक घटनाओ की जानकारी, भौगोलिक ज्ञान आदि के सम्बन्ध मे शुक्लजी ने जहाँ उनकी प्रशंसा की हैं, वहाँ उनके एतद्विषयक अज्ञान की ओर भी संकेत किया है। यह सारा विश्लेषण इस बात का द्योतक है कि शुक्ल जी अपनी शक्ति और प्रतिभा के अनुरूप सत्य का प्रकाशन करने मे कदापि नही हिचकिचाते थे और उन्हे समीक्षा-क्षेत्र मे उच्च गौरव प्रदान करने में उनकी यह प्रवृत्ति भी एक प्रमुख कारण थी।

८५. शुक्ल जी ने जायसी की भाषा के सम्बन्ध मे जो विवेचन किया है, वह भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। चूंकि जायसी ने अपनी काव्य-रचना अवधी भाषा मे की थी, अत. उन्होने प्रारम्भ मे अवधी भाषा की मुख्य-मुख्य विशेषताओ का विवेचन संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, लिंग, वचन और अव्यय आदि व्याकरणांगो की दृष्टि से किया है और तदुपरान्त यह बतलाया है कि जायसी की भाषा मे विशुद्धता के प्रतिमान से इनका किस प्रकार परिपालन हुआ है। उनका यह विवेचन इस बात का निर्देशक है कि शुक्लजी न केवल काव्यात्मा के ही पारखी थे, अपितु भाषा-विज्ञान के क्षेत्र मे भी अपना व्यापक अधिकार रखते थे। आजकल सूर तथा तुलसी आदि कवियो के भाषा-विषयक शोध-प्रबन्धो मे भले ही विस्तार का स्वरूप अधिक मिले, किन्तु उनमे शुक्लजी के एतद्विषयक विवेचन की ठोसता तथा गम्भीरता का अभाव ही मिलेगा। इसी विवेचन में उन्होने तुलसी की भाषा के साथ जायसी की भाषा की तुलना कर भाषा-विज्ञान के क्षेत्र मे भी तुलनात्मक अध्ययन के लिए मानो प्रेरणा सूत्र प्रदान किया है। अत मे कहा जा सकता है कि प्राय. २०६ पृष्ठो मे जायसी के काव्य की विस्तृत समीक्षा कर शुक्ल जी ने संक्षिप्त समीक्षा के रूप मे जायसी के उन गुणों और विशेषताओ का भी सार-तत्त्व प्रस्तुत कर दिया है जो उनके काव्यों मे उपलब्ध है।[2] अन्यान्य कवियो की आलोचनाओ की भाँति इस आलोचना मे भी उनकी निर्णायक प्रवृत्ति परिलक्षित हुई है और उन्होने "प्रबन्ध के भीतर आई हुई मानव जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं के साथ जो अपने हृदय का पूर्ण सामजस्य दिखा सके वही पूरा और सच्चा कवि है"[3] के सिद्धान्त के आधार पर प्रबन्ध-क्षेत्र मे गोस्वामी जी को तो सर्वोच्च स्थान दिया ही है किन्तु अन्त मे यह निर्णय भी कर

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल ' जायसी ग्रन्थावली भूमिका, पचम सस्करण. २०००, पृ० १५६।

२. वही, पृष्ठ २०६।

३. वही, पृष्ठ २१०।

दिया है कि 'जायसी का क्षेत्र तुलसी की अपेक्षा परिमित है, पर प्रेम-वेदना उनकी अत्यन्त गूढ है ।'[1]

(इ) 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका और सूर का काव्य-विश्लेषण

८६. शुक्ल जी ने 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका के रूप मे महाकवि सूरदास की विशेषताओ का अन्वेषण करने के लिए एक समालोचनात्मक निबन्ध लिखा था, जो उनकी व्यावहारिक समालोचनाओ का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इस समीक्षा मे भी शुक्ल जी की वही समीक्षा-पद्धति है जो तुलसी तथा जायसीका काव्य-विवेचन करते समय प्रयुक्त हुई थी। इस विवेचन मे भी शुक्ल जी ने सर्व प्रथम ऐतिहासिक प्रणाली का अनुगमन कर सूर के पूर्ववर्ती तथा समकालीन वातावरण का एक सामान्य चित्र प्रस्तुत कर कृष्णोपासक वैष्णव कवियो की यह विशेषता बतलाई है कि उन्होने "मनुष्यता के सौन्दर्यपूर्ण और माधुर्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर जीवन के प्रति अनुराग दिखाया या कम-से-कम जीने की चाह बनी रहने दी।"[2] ऐसा लिखते हुए शुक्ल जी ने सूर-काव्य के भाव-पक्ष का विश्लेषण करने के लिए एक पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत कर ली है, क्योकि इसके अनन्तर ही वे बाल्यकाल तथा यौवन काल की मनोहारिता के प्रति अपना सहज आकर्षण प्रकट कर अपना यह निर्णय दे सके है कि "वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्रो का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बद आँखो से किया, उतना किसी और कवि ने नही। इन क्षेत्रो का कोना-कोना वे झाँक आये। उक्त दोनो रसों के प्रवर्तक रतिभाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियो और दशाओ का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके, उतनी का और कोई नही। हिन्दी साहित्य मे शृगार का रसराजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया तो सूर ने।"[3]

८७ कहा जा सकता है कि शुक्ल जी का सूर के सम्बन्ध मे यह निर्णय उनकी सूर-विषयक आलोचना का मूलाधार है और आगे चल कर उन्होने विविध तर्कों और उदाहरणो द्वारा इसी निर्णय का एक प्रकार से भाष्य किया है। इस विवेचन के बीच उन्होने परोक्ष रूप से उन कवियो के काव्य के प्रति भी व्यग्य किया है जो केवल "गिनाये हुए संचारियो" के अन्तर्गत ही काव्य-धारा का प्रवाह मानते थे तथा जिन्हे उसकी व्यापक भाव-धारा के प्रति आस्था नही थी। शुक्ल जी का यह समीक्षण अत्यंत भावप्रवण और विचारपूर्ण दोनो है, विवेक-तरी उनके हाथ से कही पर भी नही छूटी है जिससे प्रभाव वादी समालोचको के एकागी दृष्टिकोण का विधान उसमे नही हो सका है। शुक्लजी ने अपने विवेचन को शास्त्रीय बनाने की भावना से भाव-पक्ष और विभाव-पक्ष के अन्तर्गत आने वाली वस्तुओ के स्वरूपो का विवेचन कर यह भी स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि सूर के काव्य मे उनका किन रूपो मे और किस स्तर पर निर्वाह हुआ है। इस विवेचन मे वे यह भी स्पष्ट कर सके हैं कि किन-किन कारणो से सूर ने अपने काव्य के लिए परिमित क्षेत्र चुना और उस मे भी वे किस प्रकार का अद्वितीय कौशल अभिव्यक्त कर सके। कहने की आवश्यकता नही कि शुक्ल जी के इस विवेचन मे व्याख्यात्मक प्रणाली का पर्याप्त संयोजन है, जिसके द्वारा वे सूर-काव्य के वर्ण्य विषय तथा उसकी परिमितता का विश्लेषण और अधिक तार्किकता से कर सके हैं। इस विवेचन के अन्तर्गत उनका ध्यान अपने मानस-प्रिय महाकवि तुलसीदास की व्यापकता की ओर बराबर बना रहा है, जिनका काव्य शुक्लजी के साहित्य-प्रतिमान का मूलाधार था।

सूर-काव्य की विशेषताएँ तथा उनका निरूपण

८८. शुक्लजी ने सूर की रचनाओ की सामान्य दृष्टि से परीक्षा करने के पश्चात् उनकी

१. प० रामचन्द्र शुक्लः जायसी ग्रन्थावलीः भूमिका, पंचम सस्करण, पृष्ठ २१०.

२. प० रामचन्द्र शुक्ल, भ्रमरगीतसार की भूमिका, नवम सस्करण, पृष्ठ २.

३. वही पृष्ठ २०३.

उन विशेषताओ का दिग्दर्शन कराया है जिनके कारण सूर को हिन्दी साहित्य मे इतना ऊँचा स्थान दिया जाता है।[1] इस विवेचन मे उन्होने सूर की भाषा के साथ-साथ उन प्रसगो का विशेष रूप से उद्घाटन किया है, जिनमे सूर की प्रतिभा पूर्णतया लीन हुई है।[2] कृष्ण-जन्म की आनन्द-बधाई से लेकर उनके मथुरा-गमन के बीच कृष्ण द्वारा जो-जो लीलाये की गई उनका सूर-काव्य की आधार-शिला पर विवेचन कर शुक्ल जी ने एक रसग्राही समालोचक के रूप मे सूर-काव्य के सौन्दर्य का जो भावपरक और विचारपूर्ण चित्रण किया है, वह समीक्षा के सतुलित पक्ष का निर्वाह करने के साथ-साथ पाठको को भी अपनी विवेचन-कला मे रससिक्त बना लेता है। वस्तुत. यह विवेचन उन पाठको के लिए भी पठनीय है जो शुक्ल जी को शुष्क विचारक तथा उनकी शैली को 'ऊँघ दिलाने वाली शैली की सज्ञा से अभिहित करते है। कहने की आवश्यकता नही कि शुक्ल जी ने 'तुलसी की भावुकता' का विश्लेषण करने मे भी इसी शैली का प्रयोग किया था। इस विवेचना की एक विशेषता यह भी है कि शुक्ल जी सूर के भावगत सौन्दर्य के विश्लेषण के बीच-बीच समीक्षा के निर्धारित मूल्यो का भी विवरण देते चले है, जिससे पाठक इस बिषय को न भूल जायँ कि उनका मूल उद्देश्य सूर-काव्य की समालोचना करना है और ये रस-सीकर तो उनकी यात्रा मे आने वाले ऐसे तुहिन-कण है जो वाष्पयंत्रिका से यात्रा करने वाले व्यक्तियो को मार्ग मे पडने वाले प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लेते हुए अपने गंतव्य पथ की ओर उल्लासपूर्ण भाव से अग्रसर होने के लिए स्फूर्ति तथा प्रेरणा देते रहते है।

८९. भाव-पक्ष के विवेचन के साथ साथ शुक्ल जी को भाषा-पक्ष का भी असाधारण ज्ञान था। उन्होने सूर-काव्य मे वर्णित सयोग-पक्ष की विस्तृत विवेचना के पश्चात् उसके विप्रलम्भ पक्ष का जो विश्लेषण किया है, उसके अन्तर्गत इसका आभास सहज ही मिल जाता है। उन्होने रस-सिद्धान्त मे विवेचित भावो का विश्लेषण करते हुए नद-यशोदा के वार्तालाप मे सूर द्वारा रचित पद "तब तू मारबोई करति" का उल्लेख करते हुए एक स्थान पर लिखा है :

"यह झुँझलाहट वियोगजन्य है, प्रेमभाव के ही अन्तर्गत है और कितनी स्वाभाविक है। आगे देखिये गहरी "उत्सुकता" और अधीरता के बीच विरक्ति (निर्वेद) और तिरस्कार-मिश्रित "खिजलाहट" का यह मेल कैसा अनूठा उतरा है।"[3] इसी प्रकार शुक्लजी ने यशोदा की एक उक्ति "नंद ब्रज लीजै ठोकि बजाय" का विवेचन करते हुए लिखा है

"ठोकि बजाय" मे कितनी व्यंजना है। एक-एक वाक्य के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखाई दे रहा है। एक वाक्य दो तीन भावो से लदा हुआ है।... इसमे कुछ निर्वेद, कुछ तिरस्कार और कुछ अमर्ष इन तीनो की मिश्र-व्यंजना जिसे भावशबलता ही कहने से सन्तोष नही होता, पाई जाती है।"[4]

समीक्षा का मूल्यांकन और महत्त्व

९०. अभिप्राय यह है कि शुक्ल जी ने सूर-काव्य के विविध पक्षो का उद्घाटन करते हुए सूर की सहृदयता तथा साहित्यिक निपुणता का विश्लेषण हृदय-पक्ष और कला-पक्ष के विविध अंगो के आधार पर जिस रूप मे किया है, उसका रसास्वादन केवल उनकी समालोचना को ही पढकर किया जा सकता है। इस विषय मे उन्होने सूर-काव्य मे प्रयुक्त रीति, अलकार, छंद आदि

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल; भ्रमरगीतसार की भूमिका, नवम सस्करण पृष्ठ १०.

२. वही, पृष्ठ ११.

३. वही, पृष्ठ २२.

४. वही, पृष्ठ २३.

का भी विवेचन किया है और सूर की सहृदयता तथा भावुकता के साथ-साथ उनकी चतुरता और वाग्विदग्धता का भी विश्लेषण किया है। अपने विवेचन की पुष्टि के लिए उन्होने 'सूरसागर' से ऐसे अनेक रत्न शोध निकाले है जो सूर-काव्य के प्राण और भावुकजनो के लिए सर्वस्व हैं। अन्त मे उन्होने सूर-काव्य के सम्बन्ध मे अपना मत भी स्थिर किया है और उपासना-पद्धति की दृष्टि से उनकी तुलसी के साथ तुलना कर उन प्रसगो का भी विवेचन किया है जो सूर तथा तुलसी के सम्बन्ध मे भ्रात धारणाओ के कारण बने हुए थे । कहने की आवश्यकता नही कि इस विवेचन मे भी शुक्लजी का ध्यान फिर एक बार सूर के काव्य-सौन्दर्य को छोड कर तुलसी की ओर चला गया है और तुलसी के प्रति भक्त बना हुआ उनका मन "सूर मे साम्प्रदायिकता की छाप तुलसी की अपेक्षा अधिक है"[1] कहने से भी नही सकुचाया है। तदनन्तर सूर-काव्य के संगीत की प्रशसा कर शुक्ल जी ने सूर के भ्रमर गीत के विविध पक्षो का सौन्दर्य विवेचित किया है। साराश यह कि शुक्लजी का यह विवेचन उनकी व्यावहारिक समीक्षा का अत्यन्त भव्य स्वरूप है और हमे यह स्वीकार करना पडता है कि शुक्ल जी ने एक ओर जहाँ काव्य के सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन कर अपनी तथ्यग्राहिणी प्रज्ञा का परिचय दिया था वहाँ दूसरी ओर वे अपनी व्यावहारिक समीक्षाओ द्वारा भी समालोचना का प्रतिमान बहुत उच्च और व्यापक बना सके थे।

शुक्ल युग के प्रमुख समालोचक

१. डा० गुलाबराय

समालोचक दृष्टि और उसके क्षेत्र

६१. बाबू गुलाबराय जी (अब डाक्टर) का आधुनिक हिन्दी-समालोचना के विकास-क्रम मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्हे शुक्ल-युग के प्रमुख समालोचक कहा जा सकता है। अपने जीवन-काल मे उन्होने द्विवेदी-युग से लेकर अद्यावधि चलने वाली साहित्य-धाराओ का अत्यधिक मनस्विता से अवगाहन किया है और आधुनिक युग की प्राय. समस्त साहित्य-प्रवृत्तियो और प्रक्रियाओ पर एक तटस्थ नीतिपरक अध्येता के रूप मे अपनी गम्भीर गवेषणाएँ प्रस्तुत की हैं। यह उनके अध्ययन और चिन्तन का ही परिणाम है कि वे प्रत्येक विषय को अधिकाधिक स्पष्टता से समझने के पश्चात् ही उसे लेखबद्ध करना समीचीन समझते है जिससे न तो उनके पाठको को ही मतिभ्रम होता है और न उनके मन मे ही ऐसी कोई कुण्ठा रह जाती है जिसके कारण वे पूर्णतया खुलकर अपनी मान्यताओं का स्पष्ट विवेचन न कर सकें। अपने जीवन के विविध कार्य-क्षेत्रो की भाँति उनकी साहित्याराधना मे भी प्रारम्भ ही से समन्वयवादी नीति रही है। वैसे तो वे शुक्ल-युग की उपज हैं, किन्तु उसके परवर्ती काल मे विकसित होने वाली रचना और समालोचना की विभिन्न विधाओ के साथ भी उनकी अपेक्षित सहानुभूति रही है। उनकी समालोचनाओ मे कदाचित् ही ऐसा कोई अवसर आया हो, जब उन्होने अत्यन्त तीव्र शब्दो मे किसी साहित्यकार अथवा उसकी कृति का आत्यंतिक विधि से विरोध किया हो। उन्हे हिन्दी का भक्ति-काव्य भी उतना ही प्रिय है, जितना छायावादी युग। इसी प्रकार वे प्रगतिवादियो की भी मर्यादित प्रशसा करते रहे हैं तो प्रयोगवादियो के सम्बन्ध मे भी कई स्थलो पर अपना शालीन मनोभाव व्यक्त कर उनसे अनागत की उज्ज्वल उपलब्धि की आशा रख कर मौन हो जाते हैं। उनके हृदय मे भारतीय साहित्य-शास्त्र के प्रति भी आदर है और पश्चिमी विचारधारा के प्रति भी। ज्ञान-राशि की उपलब्धि कही से हो, वे उसे प्राप्त करने के लिए सदैव तत्पर रहे हैं। यदि उन्हे किसी विचारधारा का विरोध भी करना पड़ा है तो उसे उन्होंने अत्यन्त मृदुल शब्दों मे व्यक्त किया है। फिर भी उनके साहित्य के अध्ययन से यह तो

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल : भ्रमर गीत सार की भूमिका: नवम सस्करण, पृष्ठ ४६।

स्पष्ट हो ही जाता है कि वे शुक्ल जी के अधिकांशतः अनुगामी हैं, किन्तु परिवर्तित युग की विकासमान परम्पराओ के साथ रहकर वे उनसे अधिक उदार और सवेदनशील भी बन गये है ।

९२. बाबूजी की समालोचनाएँ एक कुशल अध्यापक की परिष्कृत लेखनी से निकली हुई समालोचनाएँ है । यद्यपि उनमे वय-क्रम के विकास के साथ-साथ अध्ययन, चिन्तन और मनन मे भी उत्तरोत्तर-वृद्धि और प्रौढि आती गई है, फिर भी उनमे अन्तर्भूत एक व्यापक दृष्टिकोण का सूक्ष्म आभास पा लेना तत्त्वदर्शी पाठको के लिए सर्वथा सुगम कार्य है । समालोचना जैसे बौद्धिक और तत्त्व-निरूपक विषय को उन्होने जिस सुबोध, सरल, सरस और स्पष्ट अभिव्यंजन-शैली मे विवेचित किया है, वह उनके तथ्य-निर्णायक स्वभाव का ही प्रतिफल है । वे अपनी मान्यताओ मे कही पर भी उलझे हुए नही है और उन्हे जो विषय जिस रूप मे दृष्टिगोचर हुआ है, उसे उन्होने बडी सचाई और ईमानदारी से विश्लेषित किया है । उनमे न तो मिथ्याभिमान की प्रवृत्ति है और न पाडित्यपूर्ण प्रदर्शन करने की ही भावना । यही कारण है कि वे हिन्दी की उच्चतर कक्षाओ के छात्रो को भी उतने ही प्रिय हैं, जितने गम्भीर विचारको को । उनके विवेचन मे पराजित ज्ञान-राशि का उपयोग उसे मौलिक का सा रूप देकर किया गया है । एक उदार और सुसस्कृत समालोचक के हृदय मे समालोच्य विषय के प्रति जिस प्रकार की सहानुभूति और निष्पक्षता होनी चाहिए, वह बाबूजी मे पर्याप्त मात्रा मे है । उनकी समालोचनाओ की मूल भित्ति उनका अध्यवसायपूर्ण अध्ययन ही है, जिसके द्वारा वे विभिन्न विचारको की मान्यताओ मे सन्तुलन अथवा समन्वय स्थापित करने मे भी समर्थ हुए है । उन्होने अपने इसी अध्ययन के बल पर ही अपने प्रतिपादन मे यथासम्भव शास्त्रीयता और परम्परा का आधार लिया है । वे शुक्ल जी की भाँति साहित्य-शास्त्र का मन्थन कर किन्ही नवीन उद्भावनाओ की सृष्टि तो बहुत कम कर सके, फिर भी उन्होने साहित्य-समीक्षण की सैद्धान्तिकता और व्यावहारिकता मे एक सुलझा हुआ दृष्टिकोण अवश्य दिया है । उनकी समालोचनाओ से यह स्पष्ट झलकता है कि बाबूजी के मन मे तथ्योपलब्धि की तीव्र लालसा है और वे उसका निष्कर्ष अपने पाठको तक पहुँचाने के लिए विशेष रूप से लालायित है । दर्शन-शास्त्र के अध्ययन ने उन्हे तत्त्व-ग्रहण की जो परिमार्जित प्रज्ञा प्रदान की है, उसका उपयोग उन्होने अपनी प्राय समस्त समालोचनाओ मे भी किया है । इन सब बातो के होने पर ही बाबूजी को 'अध्यापक-समालोचक' कहना ही उचित प्रतीत होता है, क्योकि उन्होने आचार्य के सिद्धपीठ पर आसीन होकर कही पर भी अपने फतवे नही दिये है । हाँ, यह बात अवश्य है कि उनकी समालोचनाएँ भावी अध्येताओ और समीक्षको के लिए प्रेरणा तथा उनके द्वारा सुझाये हुए क्षेत्र मे विकासमान बनने का कारण रही हैं ।

९३. बाबूजी की समालोचनाओ मे सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो पक्षो का सम्मिलन है। 'काव्य के रूप' तथा 'सिद्धान्त और अध्ययन' उनकी सैद्धान्तिक समालोचना के चरम निदर्शन है । इनकी रचना कर बाबूजी ने 'साहित्यालोचन' की शृ खला मे एक नवीन कड़ी जोडी है। इन समालोचना-ग्रन्थो का प्रयोजन उन्होने अपने दृष्टिकोण मे प्रकट कर दिया है । डा० श्यामसुन्दरदास के 'साहित्यालोचन' के पश्चात् उनके इन्ही ग्रन्थो का महत्त्वपूर्ण स्थान है । इनमे भी बाबूजी का समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रकट हुआ है । इनके कुछ परिच्छेद तो विशुद्ध समालोचनात्मक निबन्ध है और कुछ शास्त्रीय सिद्धान्तो की व्याख्यामात्र । यद्यपि बाबूजी ने विवेचन के अन्तर्गत अपनी वैयक्तिक अभिरुचि भी प्रकट की है, किन्तु वह कही पर भी शास्त्रीयता से विहीन नही है । इसका मूल कारण उनकी आस्तिक बुद्धि और शास्त्र-निष्ठा है । उन्होने अपने विश्लेषण मे पश्चिमी साहित्य-शास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तो का भी विवेचन किया है और भारतीय काव्यालोचन की परम्पराओ मे भी उनकी झलक देखी है । उनकी मान्यता है कि "भारतीय मनीषियो ने जो सैद्धान्तिक चिन्तन किया है, वह किन्ही अशों में तो नवीन सिद्धान्तों से आगे बढ़ा हुआ है और कम-से-कम उसके साथ

टक्कर लेने में समर्थ है।"[1] कहना होगा, बाबूजी की इस धारणा को सम्पुष्टि सर्वश्री एस० के० डे, काले, कीथ, शकरन, दासगुप्त, राघवन् जैसे संस्कृत-साहित्य के आधुनिक विद्वानो तथा प० रामचन्द्र शुक्ल जैसे हिन्दी-समीक्षको के विवेचन से भी मिली है।

शुक्ल-युग की मान्यताओं में उदार दृष्टिकोण का समावेश

६४. जैसा कि पहले सकेत कर दिया गया है कि गुलाबराय जी आधुनिक हिन्दी समालोचना के शुक्ल-युग की उपज हैं किन्तु अपने दृष्टिकोण मे विशेष उदार भी है। उनकी समालोचना का सैद्धान्तिक पक्ष मुख्यतः साहित्य के स्वरूप-विवेचन से सम्बन्धित है जिसमे दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य की विभिन्न विधाओ का विश्लेषण हुआ है। 'काव्य के रूप' की अपेक्षा 'सिद्धान्त और अध्ययन' मे उनका विवेचन अधिक गम्भीर है, क्योकि उसमे उन्होने केवल काव्य की विधाओ पर ही सर्वमान्य सैद्धान्तिक निरूपण ही नही किया है, अपितु प्रसगानुसार अपनी मान्यताओ का एक दृष्टिकोण भी प्रकट किया है। 'काव्य के रूप' की रचना मे तो उनकी छात्र-हितकारी भावना ही अधिक झलकी है। एक प्रकार से 'काव्य के रूप' को उनके 'सिद्धान्त और अध्ययन' का पूर्वार्द्ध भी कहा जा सकता है। इसमें बाबूजी ने समालोचना की सर्वधित ज्ञान-राशि का पूरा-पूरा उपयोग करने का प्रयत्न किया है।

६५. बाबू गुलाबरायजी की समालोचना-विषयक मान्यताओ मे उनके जीवन-दर्शन और सस्कारो का भी बड़ा हाथ है। अपने पारिवारिक जीवन और शिक्षा-दीक्षा से भी उन्होने साहित्य-परीक्षण का मानदण्ड निर्धारित किया है। उनमे समालोचकोचित सहानुभूति और उदारता भी कम नही है, यहाँ तक कि उन्हे दूषित कृतियो मे भी कुछ-न-कुछ सार मिल ही जाता है। उन्होने यथा-सम्भव शास्त्रीय आधारो पर अपना समीक्षण-कार्य किया है, किन्तु उसमे व्याख्यात्मक प्रणाली का समावेश कर उसे अपना वैशिष्ट्य प्रदान कर दिया है। एक कुशल अध्यापक मे कठिन-से-कठिन विषय को भी सरल और सुबोध बनाने की जो क्षमता होनी चाहिए, वह बाबूजी मे पर्याप्त मात्रा मे है। आधुनिक समालोचना के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक क्षेत्रो मे चलने वाली प्राय समस्त प्रवृत्तियो का यथोचित विवेचन उन्होंने 'साहित्य-सन्देश' के सम्पादन-काल मे तथा फुटकर निबन्ध-रचनाएँ करते हुए भी किया था, किन्तु उन सब मे उनका सुलझा हुआ दृष्टिकोण अन्य समालोचको से विशिष्ट श्रेणी का ही रहा है। उनकी समालोचना प्रणाली मे यथाप्रसग शास्त्रीयता, प्रभावाभिव्यजकता, व्याख्यात्मकता और ऐतिहासिकता का प्रयोग भी है, जिसके द्वारा वे समालोच्य-विषय की गहराई मे जाने के लिए सदैव सचेष्ट रहे है। उनकी समालोचना-प्रणालियो मे एकागिता अथवा रूढ़िग्रस्तता तो कही पर भी देखने को नही मिलती। उन्होने ज्ञान-चेतना का यथा-सम्भव प्रयोग अपनी सभी प्रकार की समालोचनाओ मे किया है। वे शुक्लोत्तर-युग मे विशेष रूप से प्रचलित समाज-शास्त्रीय और मनोविश्लेषणवादी समालोचना-पद्धतियो के भी निन्दक नही है, किन्तु उनकी सीमाओ से भी अनभिज्ञ नही हैं। अपनी सारग्राहिणी प्रज्ञा के बल पर उन्होने इन पद्धतियो से भी तत्त्व-चयन कर अपनी समालोचना के शास्त्रीय पक्ष को और अधिक सम्पुष्ट बनाया है और इस प्रकार उनके द्वारा हिन्दी-समालोचना की प्रणालियो मे भी समन्वय लाने की चेष्टा हुई है। बाबूजी मे शुक्ल-युग की समालोचना का किस स्तर तक परिष्कार हो सका है, इसका ज्वलन्त निदर्शन उनकी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समालोचनाएँ है। कहा जा सकता है कि बाबूजी ने अपना समालोचक-व्यक्तित्व बहुत अधिक अशो मे शुक्ल-युग की मनोवृत्तियों से निर्मित करते हुए भी उसमे यथासम्भव व्यापक

---

१. डा० गुलाबराय : "सिद्धान्त और अध्ययन", "अपना दृष्टिकोण"।

ग्रहण का क्षेत्र रखा है। यही कारण है कि वे शुक्ल जी की भाँति केवल प्रबन्ध-काव्य, सगुणवाद और लोक-पक्ष के एकागी दृष्टिकोण तक ही अपने को सीमित न रखकर मुक्तक काव्य-परम्परा, निर्गुण-भक्ति तथा काव्य की आध्यात्मिक स्थिति की भी प्रशसा कर सके हैं। निस्सन्देह बाबूजी मे सौन्दर्य-बोध और कला-परीक्षण की स्वच्छन्द दृष्टि भी है, किन्तु वह कही पर भी पाश्चात्य जगत् मे चलने वाले साहित्यिक वादो-प्रवादो से निर्मित न होकर भारतीय आदर्श के नैतिक मूल्यो पर अधिक आधारित है, जिसमे शालीनता का भव्य-भावन अधिक सफलता के साथ हो सका है।

९६ बाबू साहब ने 'रस और मनोविज्ञान' के विश्लेषण मे भारतीय और पाश्चात्य विचारधाराओ का निरूपण कर अपना अभिमत प्रकट किया है। उन्होने अपने विवेचन का मूल आधार भरत-मुनि के नाट्यशास्त्र' को माना है और बतलाया है कि हमारे जीवन मे भाव और मनोवेगो का कितना अधिक महत्त्व है। वस्तुत वे रस को 'मनोवेग नही, वरन् मनोवेगो का आस्वादन'[1] मानते है और साधारणीकरण द्वारा दुःख मे भी जो सुख की अनुभूति होती है उसे विभावन व्यापार का ऐसा रसायन बतलाते है जिसके द्वारा मनोवेगो से 'ममेति वा परस्येति' का क्षुद्रत्व दूर कर दिया जाता है।"[2] उन्होने रस के साथ मनोविज्ञान का सहज सम्बन्ध जोडकर पाश्चात्य विद्वान् विलियम जेम्स, मैकड्यूगल तथा शैंड आदि की मान्यताओ का भी विवेचन किया है और उनका भारतीय रस-सिद्धान्त के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर यही निर्णय प्रदान किया है कि 'पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुकूल रस-सिद्धान्त की पूरी-पूरी व्याख्या नही हो सकती है, क्योकि आज का मनोविज्ञान केवल साइक या आत्म-विज्ञान के सीमित रूप तक ही रह जाता है, जबकि हमारे यहाँ रस का सम्बन्ध आत्म-दर्शन के सहज आनन्द के साथ है।[3] रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध मे भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक तथा अभिनवगुप्त की मान्यताओ का समीक्षण करते हुए उन्होने भारतीय साहित्य की सामान्य मान्यता के अनुरूप यही स्वीकार किया है कि "वह (रस) तो काव्यगत विभावादि द्वारा उद्बोधित एव रजोगुण, तमोगुण-विमुक्त सतोगुण प्रधान, आत्मप्रकाश से जगमगाते हुए सहृदय के वासनागत स्थायीभाव का आस्वादजन्य आनन्द है।"[4] इसी प्रकार साधारणीकरण के विषय मे भी उन्होने भट्टनायक के विभावन व्यापार पर की गई आचार्य शुक्ल तथा डा० श्यामसुन्दरदास की विवेचनाओ का साराश उपस्थित कर इस सम्बन्ध मे पश्चिमी साहित्य-शास्त्रियो के भाव-तादात्म्य (एम्पेथी) का विश्लेषण कर अन्त मे अपना यही निष्कर्ष दिया है कि 'साधारणीकरण व्यक्ति का नही, वरन् उसके सम्बन्धो का होता है। उनमे न ममत्व-जन्य दुःख और न परत्वजन्य ईर्ष्यादि भावो की गुजाइश रहती है। पाठक का साधारणीकरण इस अर्थ मे होता है कि वह अपने व्यक्तित्व के क्षुद्र बन्धनों को तोडकर लोक सामान्य भाव-भूमि मे आ जाता है। भावो का साधारणीकरण इस अर्थ मे होता है कि उनसे भी 'अय निजः परो वा' की भावना जाती रहती है।[5]

९७. समालोचना-साहित्य के विकास मे यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है कि बाबू गुलाबराय जी ने भी इन्दौर मे होने वाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन की साहित्य-परिषद् मे पढे जाने के लिए 'रहस्यवाद' पर भी एक निबन्ध लिखा था जो अनवकाशवश पढा नही जा सका। उनके

---

१. डा० गुलाबराय "सिद्धान्त और अध्ययन", प्रथम सस्करण, पृष्ठ १५।

२ वही, पृष्ठ १५।

३. वही, पृष्ठ २८।

४ वही, पृष्ठ ४०।

५. वही, पृष्ठ ५४।

उसी निबन्ध का परिवर्द्धित और डा० शम्भूनाथ पाण्डेय द्वारा सोदाहरण व्याख्या सवलित-स्वरूप 'रहस्यवाद और हिन्दी कविता' के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है जिससे पता चलता है कि बाबूजी मे उस समय की रहस्यवाद के मूल सिद्धान्त का विश्लेषण करने की कितनी अधिक प्रतिभा थी। रहस्यवाद की परिभाषा करते हुए उन्होने लिखा है :

"रहस्यवाद उस भाव-प्रधान मनोदशा की शाब्दिक अभिव्यक्ति को कहते हैं जो व्यक्ति और विश्व के मूल मे स्थित चरम सत्ता के अव्यक्त या व्यक्त रूप के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने पर या करने की इच्छा से प्राप्त होती है।"[1]

९८. बाबूजी की इस परिभाषा मे रहस्यवाद के भाव-पक्ष की प्राय सभी विशेषताओ का सामान्य उल्लेख हो गया है और उससे यह ध्वनित होता है कि उनकी यह परिभाषा बिना किसी प्रकार के पूर्वाग्रह के रहस्यवाद का विशुद्ध स्वरूप विवेचित करने मे पर्याप्त समर्थ है। उन्होने प्रारम्भ ही मे रहस्यवाद को भाव-प्रधान मनोदशा कह कर उसका सम्बन्ध चरम सत्ता के अव्यक्त और व्यक्त इन दोनो रूपों के साथ जोडकर जिस रागात्मक सम्बन्ध का संकेत किया है, वह उसे बौद्धिकता के स्थान पर हृदय की सवेदनाओ के साथ निकटतर रखने वाला है, जिसका अभिप्राय यह है कि वे काव्य की इस धारा के नैसर्गिक विधान के प्रति किसी भी प्रकार की कोई शका नही रखते हैं। कहने की आवश्यकता नही कि आचार्य शुक्ल जी ने कविता का सम्बन्ध केवल ब्रह्म की व्यक्त सत्ता अथवा चारो ओर फैले हुए गोचर जगत् के साथ जोडकर अव्यक्त सत्ता से उसका कोई प्रयोजन नही रखा था,[2] और यही धारणा उन्हे रहस्यवाद की प्रणालियो का विरोध करने के लिए बाध्य कर रही थी, जबकि बाबूजी ने अत्यन्त उदारता से अव्यक्त का समावेश भी रहस्यवादी कविता के लिए आवश्यक निर्दिष्ट कर अपने विवेचन को और अधिक व्यापक बना दिया। उनके विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि वे रहस्यवाद को मूलत· अनुभूतिजन्य और भावाश्रित मानते हैं तथा तन्त्र-साधना और हठयोग की क्लिष्ट और अस्पष्ट प्रणालियो को उसकी कला तथा अभिव्यंजना मे कोई स्थान नही देते। उन्होने रहस्यवाद के स्वरूप तथा उसकी साहित्यगत परम्परा का विश्लेषण करने मे वेदो, उपनिषदो तथा सतो और सूफी कवियो के जीवन-दर्शन का भी विश्लेषण किया है, जिससे भारतीय साहित्य मे रहस्यवादी परम्परा का विकास और अधिक वैज्ञानिक तथा तारतम्य पूर्णविधि से हो सका है।

९९. बाबूजी द्वारा लिखी हुई समालोचना का फुटकर स्वरूप उनके उन लेखो और सम्पादकीय टिप्पणियो मे मिलता है जो उन्होने 'साहित्य-सन्देश' के सम्पादन-काल मे लिखे थे। उन लेखो मे सम-सामयिक साहित्य-चर्चाओ के साथ-साथ प्राचीन साहित्य के मूल्याकन का भी यथोचित प्रयास हुआ है। उनमे सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की समालोचना का समावेश है। आधुनिक काव्य मे प्रचलित वाद-समीक्षा के साथ-साथ उन्होने प्राचीन साहित्य-शास्त्रियो द्वारा निर्धारित समालोचना के मानदण्डो का भी विश्लेषण किया है। ऐसी आलोचनाओ मे आचार्य द्विवेदी तथा शुक्ल जी के कार्यों का मूल्यांकन, प्रसाद जी की काव्य-प्रतिभा तथा विवेचन-शक्ति, हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों की प्रमुख प्रवृत्तियो, कुछ प्रमुख कृतियो का काव्य-सौन्दर्य, कतिपय साहित्य-शास्त्र मे प्रचलित सूक्तियो का स्पष्टीकरण आदि अनेक विषयो का समावेश है जिनसे उच्चतम कक्षाओ के छात्रवर्ग का भी कम कल्याण नही हुआ है। इन सभी विवेचनाओ मे बाबूजी का दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट और सधा हुआ है। अभिप्राय यह है कि बाबूजी शुक्ल-युग के एक समन्वयकारी समालोचक हैं जिनके विचारो में सधी हुई शालीनता और सयम-भावना का सुन्दर समावेश है और वे अपनी मानसिक भूमिका के अनुरूप सर्वत्र आस्तिक-भावना को हा लेकर चलते

१. डा० गुलाबराय · रहस्यवाद और हिन्दी कविता, प्र० संस्करण २०१३, पृष्ठ १।

२. पं० रामचन्द्र शुक्ल : 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ ११।

है जिनके फलस्वरूप उनका किसी भी प्रकार के मतवादो से कोई स्पष्ट विरोध नही है।

२. पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'

समालोचना में प्रवेश

१०० प० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' का समालोचना-क्षेत्र मे आगमन उसी समय से समझना चाहिए जब विश्व-विद्यालयो की उच्चतम परीक्षाओ मे हिन्दी भाषा और साहित्य के अध्ययन-अध्यापन को पाठ्यक्रम मे स्वीकार किया गया था। यह समय आज से प्राय ३५ वर्ष पूर्व का था। इन्ही दिनो बाबू श्यामसुन्दर दास और पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे साहित्य-मीमासक अपने निरन्तर अध्यवसाय के द्वारा हिन्दी-साहित्य को समालोचनागत विभिन्न विषयो से पूर्ण बनाने का प्रयत्न कर रहे थे। आचार्य द्विवेदी की प्रौढ प्रतिभा इन्ही दिनो अपनी प्रखर रश्मियाँ विकीर्ण कर रही थी। शिलीमुख जी ने ऐसे ही समय मे पत्र-पत्रिकाओ के कलेवर मे समालोचनात्मक निबन्धो के द्वारा अपनी विचार-धारा का अभिव्यंजन किया, जिसमे उस युग को देखते हुए अत्यधिक मौलिकता के अश समाविष्ट थे। उन्होने प्राचीन कवियो के साथ-साथ आधुनिक जीवित साहित्यकारो पर भी अपने विचार निर्भीक भाव से व्यक्त किये, जिनमे उनकी अपनी सूझ-बूझ और अन्तर्दृष्टि की उद्भावना मिलती है। प्रसाद के नाटको और प्रेमचन्द के उपन्यासों पर अपनी विस्तृत समालोचना प्रस्तुत करने के साथ-साथ उन्होने जिन कवियो की समीक्षाएँ प्रस्तुत की, उनकी प्रशसा प० रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास मे की है।[1] अपनी प्रारम्भिक कृतियो के रूप मे शिलीमुख जी जिस प्रकार की समालोचक-दृष्टि लेकर साहित्य-क्षेत्र मे अवतीर्ण हुए थे, उसका यदि उनकी लेखनी द्वारा क्रमिक विकास किया जाता तो वे साहित्य-जगत् तथा समालोचना-क्षेत्र मे और भी उच्च स्थान के अधिकारी हो सकते थे।

१०१. शिलीमुख जी की समालोचनाओ मे सिद्धान्त-पक्ष और प्रयोग-पक्ष का सुन्दर समन्वय हुआ है। वे किसी भी आलोच्य कृति के गुण-दोष का निरूपण करने के पूर्व उसके उपयुक्त एक प्रतिमान प्रस्तुत कर लेते है जिसके आधार पर विवेचित कृति का समीक्षण अधिक स्पष्ट रीति से हो जाता है। उदाहरणार्थ उन्होने गोपालशरण सिह की 'माधवी' की समालोचना[2] करने के पूर्व काव्य की 'सद्य. पर निर्वृत्ति' और 'सद्यो निर्वृत्ति' नामक दो श्रेणियाँ बनाकर माधवी मे प्रथम श्रेणी के काव्य की प्रधानता मानी है और उसे चमत्कारी काव्य की उस श्रेणी से उच्चतर सिद्ध किया है जिसका प्रस्फुटन उन्हे रीति-काल की भाँति आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे भी कम नही मिलता।[3] निश्चय ही उनका 'माधवी'-समीक्षण कवि की काव्य-दृष्टि और प्रतिभा, भाव-चित्रण और रस-व्यजना, अलंकार-विधान और भाषा-सौष्ठव, शब्दार्थ-माधुर्य और कवि-कल्पना आदि विभिन्न दृष्टिकोणो से अत्यन्त सारग्राहिणी प्रवृत्ति मे हुआ है, जिससे 'माधवी' के गुण-विवेचन के साथ-साथ समालोचना की अनेक सैद्धान्तिक चर्चाओ का भी बोध हो जाता है।

१०२. शिलीमुखजी के समीक्षात्मक निबन्धो का प्रचुर अश हिन्दी के वर्तमान साहित्य के अन्तर्गत प्रेमचन्द-साहित्य की विवेचना को ही उद्देश्यगत रख कर निर्मित हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि शिलीमुख जी का प्रेमचन्द जी के प्रति उदार दृष्टिकोण न था और वे उन्हे प्रचारात्मक साहित्य-स्रष्टा से अधिक महत्त्व नहीं देते थे। उन्होने उनके 'सेवासदन' उपन्यास की समालोचना[4]

---

१ प० रामचन्द्र शुक्ल . हिन्दी साहित्य का इतिहास, नवा सस्करण, पृष्ठ ५६३।

२ सरस्वती पत्रिका, भाग ३१, सख्या ४।

३ प० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' 'शिलीमुखी', प्र० सस्करण, सन् १९५१, पृष्ठ १५-१६.

४. सम्मेलन-पत्रिका, भाग १, सख्या ३ और ४।

करते हुए उसमे ऐसे साहित्य का अभाव पाया है जो मानव-जीवन की चिरंतन शक्तियो और रहस्यो का उद्घाटन करता हुआ चलता है। वस्तुत उन्हे प्रेमचन्द जी के उपन्यासो मे उस समय देश में चलने वाले असहयोग आन्दोलन का ही प्रभाव प्रधानत दृष्टिगोचर हुआ है, जिसके कारण प्रेमचन्द जी अन्य समालोचको द्वारा अपने युगधर्मी साहित्य के कारण अधिक प्रशसा प्राप्त कर सके थे। शिलीमुख जी का दृष्टिकोण अन्य समालोचको से भिन्न है। वे भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि से किसी भी श्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थ अथवा साहित्य-कृति का विश्लेषण करने के मूल मे साहित्यकार की सजग चेतना, कल्पना और मनोवेग को अधिक महत्त्व देते है।[1] यही कारण है कि प्रेमचन्द जी उन्हे अधिक नही लुभा सके और उन्हे उनमे उपदेश-वृत्ति, अहमन्यता, दुराग्रह और ब्राह्मण-विरोधी भावना ही मिली। प्रेमचन्द जी की कहानियाँ तो शिलीमुख जी को फिर भी ठीक लगी है, किन्तु उनका उपन्यास-साहित्य तो उन्हे हल्की श्रेणी का ही प्रतीत हुआ है। इसी प्रकार 'चाँद' के गल्पाक मे प्रकाशित प्रेमचन्द जी का 'कहानी की उपयोगिता' शीर्षक लेख भी उन्हे किन्ही तथ्यपूर्ण रहस्यो का विश्लेषक नही प्रतीत हुआ है। हाँ, नाटक-साहित्य के क्षेत्र मे किये गये प्रेमचन्द जी के प्रयोग को उन्होने जिस रूप मे असफल बतलाया है, वह पूर्वाग्रहरहित और अधिक प्रामाणिक है।

१०३. विवेचन के प्रसंग मे यह जानना आवश्यक है कि जिस समय शिलीमुख जी ने प्रेमचन्द जी के विषय मे आलोचनाएँ लिखी, उस समय (सन् १९३० के आसपास) प्रेमचन्दजी के साहित्य को लेकर समालोचना-क्षेत्र मे एक बडे जोर का अधड चल रहा था, जिसमे एक ओर तो उनका प्रशंसक समाज मुशी जी की सृजन-प्रतिभा का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करने मे नही अघाता था, तो दूसरी ओर उनका विरोधी दल उनमे अनेक प्रकार की वर्गवादी और साम्प्रदायिक भावनाएँ पाता था। प्रेमचन्द जी के 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' के विज्ञापनो और बाबू रामदास गौड की लिखी हुई प्रेमचन्दजी के उपन्यासो की भूमिकाओ को लेकर अनेक प्रकार की प्रशसात्मक और विरोधात्मक समालोचनाएँ साहित्य-जगत मे चैल रही थी। इन आलोचनाओ मे विशुद्ध आलोचना-प्रवृत्ति का अभाव और वैयक्तिक आक्षेपो का प्राधान्य होता था। उन दिनो की पत्र-पत्रिकाओ मे प्रेमचन्द-साहित्य बडी हलचल का विषय था। पंडित अवध उपाध्याय ने गणित के चिन्हो द्वारा हिन्दी मे तुलनात्मक आलोचना का एक नया ढग निकालकर प्रेमचन्द जी के उपन्यासो की तुलना पाश्चात्य कृतियो से की तो प० हेमचन्द्र जोशी, इलाचन्द जोशी तथा राजबहादुर लमगोडा आदि ने उनके साहित्य की अपने ढग से प्रशंसा की। श्री रामचन्द्र टडन ने भी इस प्रकार के वाद-विवाद मे भाग लिया, किन्तु वे इन सबकी अपेक्षा अधिक संयत और साधु शैली मे विवेचन करते हुए चले। शिलीमुख जी के समालोचक-व्यक्तित्व को तत्कालीन समालोचना के इस ज्वलत विषय (प्रेमचन्द-साहित्य) से विशेष प्रेरणा मिली और वे और अधिक विस्तार के साथ प्रेमचन्द-साहित्य की विवेचना करने के लिए उद्यत हुए। उन्होने 'प्रेमचन्द जी की कला'[2] मे अपनी मानसिक प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करते हुए इस बात पर विशेष बल दिया कि किसी भी साहित्यकार के लिए साहित्य को निर्विकार स्वरूप मे ग्रहण करते हुए चलना ही अधिक श्रेयस्कर है। उन्होने इस बात को स्वीकार किया कि प्रेमचन्द जी हमारे साहित्य के प्रमुख साधक है, किन्तु उनमे ऐसी अनेक अपूर्णताएँ भी है, जिनका विश्लेषण किये बिना हम उनके साथ न्याय-भावना का निर्वाह नही कर सकते। उन्होंने प्रेमचन्द जी की 'उच्छृखलवृत्ति' और 'बौखलाहट' का आभास उनकी उन लेखमालाओ के उद्धरण देकर दिया जो प्रेमचन्द जी ने 'समालोचक' आदि पत्रो मे लिखी थी। जैसे 'मै क्या टामस हार्डी से कुछ कम हूँ...मैं कोई लडका या नया लेखक नही, पुराना खुर्राट हूँ' आदि। अंत मे शिलीमुख जी

१. प० रामकृष्ण शुक्ल, 'शिलीमुखी', प्रथम संस्करण, पृष्ठ २९।
२. प० रामकृष्ण शुक्ल : 'सरस्वती', भाग ३०, सख्या २।

ने प्रेमचन्द जी को एक हितचिन्तक समालोचक के रूप में यही परामर्श दिया है कि वे 'अपनी साधारण त्रुटियों और कट्टरताओ से ऊपर उठकर और अधिक उज्ज्वल रूप मे हमारे सामने आये और झूठी भावुकता मे अपना समय और शक्ति नष्ट न करे।''[1] कहना होगा, शिलीमुखजी के इस निर्देश का प्रेमचन्द जी पर आगे चलकर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रभाव भी पडा, जिसका आभास हमे उनकी उत्तरवर्ती कृतियों के अध्ययन से मिल सकता है।

१०४. शिलीमुख जी ने प्रेमचन्द जी के पाँचवें उपन्यास "कायाकल्प" की समालोचना[2] प्राय: तीस पृष्ठो मे की है, जिसमे विद्वान समालोचक ने अपनी साहित्य-विश्लेषण की व्यापक दृष्टि से प्रेमचन्द जी की लेखन-कला का समीक्षण किया है। उस युग मे इस प्रकार की समालोचनाएँ बहुत कम निकलती थी। शिलीमुख जी ने काव्य का रसात्मक दृष्टिकोण अभिव्यक्त कर पहले समालोचना की पृष्ठभूमि के रूप मे प्राच्य और पाश्चात्य काव्य-कला और कल्पना का सामंजस्य-पूर्ण निरूपण किया है और तदुपरान्त 'कायाकल्प' उपन्यास के कथानक को लेकर उसके सामाजिक पक्ष का स्पष्टीकरण हुआ है। उन्होने उपन्यास के प्रमुख चरित्रो (चक्रधर और मनोरमा) के साथ-साथ अन्य गौण चरित्रो का भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर 'कायाकल्प' की उन साधारण भूलो पर भी दृष्टिपात किया है जो लेखक द्वारा थोडी सावधानी रखने पर दूर की जा सकती थी। उपन्यास मे प्रयुक्त सुन्दर लोकोक्तियो और मुहावरो की साधारण जानकारी कराते हुए शिलीमुख जी ने उसकी भाषा-विषयक अशुद्धियों का भी विवरण दिया है। शिलीमुख जी को तो उपन्यास का नामकरण 'कायाकल्प' भी उपयुक्त नही लगा हैं, क्योकि उपन्यास के कथानक का विषय काया-कल्प शब्द की सार्थकता सिद्ध करने मे असमर्थ है।[3] इस प्रकार हमे 'कायाकल्प' पर उस युग मे शिलीमुख जी की प्रस्तुत समालोचना अपना वैशिष्ट्यपूर्ण स्थान रखती हुई प्रदर्शित होती है।

१०५. प्रेमचन्द जी के उपन्यास-साहित्य के साथ-साथ शिलीमुख जी ने उनके कथा-साहित्य का भी समीक्षण किया है। उन्होने प्रेमचन्द जी के 'प्रेम-प्रमोद' सग्रह की पहली कहानी 'विश्वास" की अत्यत खरी और कटु आलोचना की है।[4] उन्होने हालकेन के प्रसिद्ध उपन्यास 'इटर्नल सिटी' की छाया पर इसका वस्तुगठन निर्दिष्ट कर पर्याप्त उदाहरणो द्वारा उन दोनो का साम्य प्रदर्शित किया है, जिसका मुख्य आशय यही है कि प्रेमचन्द जी ने उस प्रसिद्ध उपन्यास के कथानक को उडाकर ही इसकी रचना की है, जिसमे किसी प्रकार की मौलिक विशेषताये नही हैं। शिलीमुख जी का दावा है कि "प्रेमचन्द जी उसका आधार लेकर भी देशकालीन परिस्थिति के अनुसार उन्हे नही ढाल सके और उनकी यह कृति कई अशो मे दोषपूर्ण ही रही।"[5] साथ-ही-साथ शिलीमुखीजी ने 'प्रेम-प्रमोद' की दूसरी प्रधान कहानी "कौशल"[6] को भी फ्रॉस के कथाकार 'गाइडि मोपासा' का अनुवाद-मात्र कहा है, जिसमे कोई मौलिक विशेषता नही है। अपने कथन की पुष्टि मे शिलीमुख जी ने अनेक प्रमाण भी उद्धृत किये हैं।

१०६. शिलीमुखजी द्वारा "प्रेमचन्द जी की समाज-भावना और उनके आदर्शवाद"[7] को लेकर लिखा गया समालोचनात्मक निबन्ध विशेष गभीर और पठनीय है। उसका मूल अभिप्राय यही सिद्ध करने का है कि प्रेमचन्द जी मे किसी व्यापक मानव-समाज की कोई स्पष्ट भावना नही

१. प० रामकृष्ण शक्ल . 'शिलीमुखी' प्र० सस्करण, पृष्ठ ४७।
२. सरस्वती, भाग २९, सख्या ३-४।
३. प० रामकृष्ण शुक्ल ' शिलीमुख, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ७६।
४. "सुधा" वर्ष १, खड १, सख्या ३।
५. प० रामकृष्ण शुक्ल, शिलीमुख, पृष्ठ ९१।
६. "सुधा" वर्ष ३, खड १, सख्या ४, पृष्ठ ४४५८।
७. सम्मेलन पत्रिका, भाग [illegible], सख्या १।

थी और उनके विधान में समाज केवल सिद्धान्तो का ही बना हुआ है।[1] उनके आदर्शवाद को शिलीमुख जी ने काल्पनिक और परोक्ष वस्तु ही माना है और उन्हे प्रेमचन्दजी की यथार्थ-भावना भी अत्यन्त सकीर्ण लगी है। शिलीमुख जी के मतानुसार प्रेमचन्द जी का आदर्शवाद वास्तव मे एक "पेशेवर का आदर्शवाद है, जिसमे किसी स्वास्थ्यप्रद मानसिक विकास का स्वरूप उपलब्ध नही है।"[2] इस प्रकार शिलीमुख जी का यह निबन्ध प्रेमचन्द-साहित्य की विचारधारा को रूढिग्रस्तता से अलग हटकर समीक्षण करने की प्रेरणा देता है। वस्तुत: इसमे ऐसी अनेक विवादग्रस्त बाते हैं जिनको स्वीकार करने के पूर्व एक बार प्रेमचन्द जी के कथा-साहित्य को निष्पक्ष-भाव से टटोलने की आवश्यकता है।

अन्य समालोच्य निबन्ध और 'प्रसाद जी की नाट्य-कला'

१०७. शिलीमुखजी ने उच्च कोटि के आलोचनात्मक निबन्धो के अतिरिक्त छात्रोपयोगी दृष्टि से भी कुछ निबन्ध लिखे है, किन्तु उनका समालोचना-साहित्य के सवर्धन मे कोई विशेष महत्त्व नही है। ऐसे निबन्धो मे 'वर्तमान हिन्दी', 'तुलसीदास जी का रामचरितमानस मे सुन्दर काड', राष्ट्रभाषा का प्रश्न, 'भारतीय नाट्यकला', 'साहित्य और साहित्य-शास्त्र', 'साहित्य मे कहानी और उपन्यास', 'नाटक की सामाजिकता' और 'हिन्दी मे जनपदवाद' आदि प्रमुख है। इन निबन्धो में अधिकांशत: छात्रोपयोगी दृष्टि से ही विवेचन किया गया है और इनका सग्रह "निबन्ध प्रबन्ध" नामक पुस्तक मे हो चुका है। इनके अतिरिक्त शिलीमुख जी ने काव्य मे रस-निष्पत्ति की प्रणाली तथा साधारणीकरण पर भी कुछ विचारात्मक निबन्ध लिखे हैं, जिनमे शास्त्रीय पद्धति से प्रमुख आचार्यों के मतो का निष्कर्षमात्र दिया गया है। इनमे मौलिकता का समावेश बहुत कम है, अत: हमे उनकी विवेचना की कोई आवश्यकता नही प्रतीत होती। "निबन्ध-प्रबन्ध" के अतिरिक्त "कला और सौन्दर्य" नामक पुस्तक मे शिलीमुख जी के साहित्यिक तथा सास्कृतिक लेखो का सग्रह है जो समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित होते रहे थे। इनमे पुरातत्त्व विषय के साथ-साथ साहित्य-शिक्षा, अध्यात्म और सस्कृति-विषयक निबन्ध भी है। इन निबन्धो मे 'कला और सौन्दर्य', 'साहित्य के गुण', 'शिक्षा और सस्कृति', 'जीवन और साहित्य', 'आधुनिक कहानी', 'पाश्चात्य देशो मे वेदोका अध्ययन' आदि हैं। शिलीमुखजी के इन निबन्धो का इस दृष्टिसे भले ही महत्त्व स्वीकार कर लिया जाय कि वे जिस समय लिखे गये थे, उस समय उनका पत्र-पत्रिकाओ के कलेवर मे विशेष स्थान रहा हो, किन्तु आधुनिक युग की विकसित परम्परा मे वे बहुत पीछे रह गये है। हाँ, इन निबन्ध-संग्रहो की समता मे उनके "शिलीमुखी" मे संकलित निबन्धो का अवश्य ही विशेष महत्त्व है, क्योकि उनमे उनके समालोचक-व्यक्तित्व का गभीर पक्ष अधिक स्पष्टता से व्यक्त हो सका है।

१०८. शिलीमुख जी द्वारा लिखी गई समालोचनाओ मे 'प्रसाद की नाट्य-कला' नामक कृति व्यावहारिक समीक्षा की दृष्टि से अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है। इसके लिखने की मूल प्रेरणा यद्यपि उन्हे इण्टरमीजियेट तथा बी० ए० के विद्यार्थियों से मिली थी[3] किन्तु विद्वान् समालोचक ने इसमें यथास्थान गम्भीर विवेचना भी प्रस्तुत की है। इसके प्रारम्भ मे प्राच्य और पाश्चात्य नाट्यकला पर जो सामान्य विवेचन हुआ है, वह दोनो प्रकार की नाटक-रचना-प्रणालियो का सामान्य चित्र उपस्थित करने मे पूर्ण समर्थ है। शिलीमुख जी ने 'अनुकरण' को नाटक की मूल प्रवृत्ति बतलाकर कथोपकथन, नृत्य और सगीत को नाटक के तीन मूल तत्त्व माने है और वे भी

१. प० रामकृष्ण शुक्ल : शिलीमुख, प्र० सस्करण, पृष्ठ १०१।

२. वही, पृष्ठ ११०।

३. पं० रामकृष्ण शुक्ल : शिलीमुखी, 'प्रसाद की नाट्यकला', प्र० सस्करण; निवेदन।

भारतीय परम्परा के अनुसार वस्तु, नेता और रस को नाटक के तीन प्रधान अंग मानते हैं। उन्होने वस्तु के प्रकार, अर्थ-प्रकृतियाँ, पचसंधियाँ, नाट्य-वस्तु के निषिद्ध प्रसग आदि का भी सामान्य परिचय दिया है और पाश्चात्य नाट्य-साहित्य मे निरूपित कॉमेडी और ट्रेजेडी आदि का भी सामान्य विश्लेषण किया है। जिस समय उनकी 'प्रसाद की नाट्य-कला' नामक कृति का प्रकाशन हुआ, इस प्रकार की समालोचनाएँ बहुत कम लिखी जाती थी, अतः इस दृष्टि से शिलीमुखजी की इस रचना का विशेष महत्त्व है। उन्होंने प्रसादजी की नाट्यकला का विश्लेषण कला, रचना-शैली का विकास, विचारधारा, रहस्यवाद, वस्तु और घटना-संगठन, अद्भुत और विचित्र कथोपकथन, चरित्र-चित्रण, नाट्य और अभिनय आदि दृष्टियों से किया है और अंत मे 'अजात शत्रु' नाटक की समालोचना विशेष रूप से की है। इस विवेचन मे भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों प्रकार की नाट्य-समीक्षा-पद्धतियो का प्रयोग किया गया है। प्रसाद जी की विचारधारा का विश्लेषण करते हुए उन्होने उनके सुखान्त का आधार निराशावाद माना है और उसके विभिन्न रूपो का भी विवेचन किया है[1]। इसी प्रकार शिलीमुख जी प्रसाद के आदर्शवाद का यथार्थ रूप पारमार्थिक आदर्शवाद मानते है। प्रसाद के नाटको को, 'प्रसादात' कहने की परम्परा का प्रवर्तन उन्होने ही किया है, जिसका उल्लेख आज भी हमारे सुधी समालोचक सम्मानपूर्वक करते हैं।

३. पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

१०९. पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के समालोचक-व्यक्तित्व का निर्माण द्विवेदी-युग और शुक्ल-युग के धूपछाँही रंगीनी सूत्रो के संयोजन से हुआ है। वे इन दोनो युगो के बीच की एक ऐसी विचारधारा लेकर चले हैं जो नवीन युग की अपेक्षा मध्यकालीन और स्वच्छन्दता का अपेक्षा शास्त्रीयता के अधिक निकट है। मिश्र जी के साहित्यिक जीवन के प्रारम्भिक वर्षों मे लाला भगवानदीन की मान्यताओ का अधिक प्रभाव रहा और तदुपरान्त वे प० रामचन्द्र शुक्ल के घनिष्ठ सम्पर्क मे आये। अतः इन दोनो आचार्यो के कृतित्व और व्यक्तित्व का उनके मानसिक सस्थान पर स्थित्यनुरूप प्रभाव पडा। उस प्रभाव से वे आज भी मुक्त नही हैं, जिसका एक सशक्त प्रमाण तो यही है कि उनकी समालोचनाओ मे युग-परिस्थिति के अनुरूप विशेष परिवर्तन नही हुआ है और वे छायावाद, प्रगतिवाद और कलावाद के प्रति आज भी वे ही आस्थाएँ रखते हैं जो उनके प्रवर्तन-काल के समय उनके मानस मे थी।[2]

११०. विश्वनाथप्रसाद जी की समालोचनाओ का अधिकाश क्षेत्र मध्ययुगीन हिन्दी-काव्य का मूल्याकन रहा है। भूषण, बिहारी, केशव, पद्माकर, रसखानि, भिखारीदास और घनानंद उनके प्रिय कवि हैं। इन कवियो के काव्य मे जिस प्रकार का रचना-कौशल और भाव-सौन्दर्य प्रतिष्ठित है, उसी के अनुरूप उन्होने अपने समीक्षा-सिद्धान्तो का निर्माण किया है। मिश्र जी किसी भी कृति का वास्तविक मूल्याकन करने के लिये सस्कृत-साहित्य शास्त्र मे निर्धारित प्रतिमानो को अधिक उपयुक्त समझते है और उन्हे पाश्चात्य पद्धति के कला-विवेचन तथा सौन्दर्य-विधान मे किसी भी प्रकार का समीचीन विधान नही मिलता। अपनी समालोचना के मानदड के आधार उन्होने भाव, भाषा, अलकार, छद, रस, ध्वनि, गुण और दोष आदि ही रखे है। 'बिहारी की वाग्विभूति' नामक इनकी समालोचना-कृति ऐसे ही निर्धारित खंडो मे अनुक्रमित होकर विवेचना का विषय बनी है। उसमे मिश्र जी ने बिहारी की सक्षिप्त जीवनी, तत्कालीन लोकरुचि, शृगार-

---

१. पण्डित रामकृष्ण शुक्ल, शिलीमुखी', पृष्ठ ६६।

२ पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र : 'हिन्दी का सामयिक साहित्य', पृष्ठ ६५ तथा 'वाङ्मय-विमर्श', प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३४८-३४९।

भावना, मुक्तक रचना, बाहरी प्रभाव, सतसई की परम्परा, प्रसंग-विधान, दोहे की समासपद्धति, बिहारी की जानकारी, अलकार-योजना और अप्रस्तुत-विधान, रूप-चित्रण और अनुभाव-विधान, प्रेम का सयोग-पक्ष, विप्रलभ एव विरहवर्णन, भक्ति-भावना, भाव-व्यंजना, वाग्वैदग्ध्य और उक्ति-वैचित्र्य, भाषा, दोष-दर्शन, बिहारी का प्रभाव, बिहारी-सम्बन्धी साहित्य तथा बिहारी का महत्त्व आदि विषयो पर सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्षो के आधार पर विवेचन किया है। उनकी इस प्रकार की समालोचनाओ से स्पष्ट है कि वे समालोचना मे भी रचनात्मक साहित्य की भाँति स्पष्टता और सुबोधता चाहते हैं, अत. उन्होने अपने दृष्टिकोण से जिस विषय को जिस विधान मे ग्राह्य समझा है, उसका विश्लेषण उसी के अनुसार कर दिया है। इन्हे व्यर्थ के ऊहापोहो मे पडना समालोचना के क्षेत्र मे गडबडझाला उत्पन्न करना लगता है। यही कारण है कि अपनी व्यंजना मे स्पष्ट भावभूमि पर अधिष्ठित कवि ही इन्हे विशेष लुभा सके है। यह एक बडे महत्त्व की बात है कि पं० रामचन्द्र शुक्ल भी कालातर मे स्वाभाविक रहस्य-भावना को अत्यत रमणीय और मधुर मानकर चलने लगे थे और उसकी वास्तविक अनुभूति केवल उच्च श्रेणियो के कवियो के वश की ही बात समझते थे, किन्तु मिश्र जी ने उसे शुक्ल जी के ज्ञात और अज्ञात का सहारा लेकर केवल दर्शन-शास्त्र के विषय तक ही सीमित रखा है।[1] वे आज भी अपनी मान्यताओ के प्रति दृढ है, जिसका प्रमुख कारण उनकी विशिष्ट मनोदशा ही है, अन्यथा ऐसी कोई बात नही कि युग-परिस्थिति के अनुरूप विभिन्न मोड लेने वाली साहित्यिक प्रवृत्तियो के साथ सामजस्य नही स्थापित किया जा सके।

१११. हिन्दी के रीतिकाल के विवेचन मे मिश्र जी की समालोचनाओ की विशेष देन है। इसे उन्होने युग की प्रबल भावना के अनुरूप 'शृगारकाल'[2] की सज्ञा दी है। शुक्ल जी के सम्मुख भी इस काल को रस की दृष्टि से 'शृगारकाल' कहने का आधार था और उन्होने अपने इतिहास मे इस ओर संकेत भी किया था[3], किन्तु उस काल की परम्परागत प्रणाली और विशेष प्रकार की शिल्प-विधिवश उसे उन्हे 'रीतिकाल' कहना ही समुचित प्रतीत हुआ। मिश्र जी ने शुक्ल जी की मान्यताओ के निकट रह कर भी रीतिकाल को 'शृंगार-काल' की सज्ञा दी है और अपने पक्ष-समर्थन मे अनेक तर्क भी प्रस्तुत किये है। इसी प्रकार उनका वीरगाथा-काल का विवेचन भी कई अशो मे शुक्ल जी के विचारों की ही उद्धरणी-मात्र है। आज इतिहास के शोधकर्त्ताओ द्वारा हिन्दी साहित्य के आदिकाल मे वीरगाथाओ की परम्परा के पूर्व जिस सिद्ध-साहित्य, जैन-साहित्य और अपभ्रंश-साहित्य के नवीन उपकरण प्रस्तुत किये गये है, उनका मिश्रजी ने कोई विशेष विवेचन नही किया है। उनका साहित्य के इतिहास के प्रति कई स्थलो पर ऐसा दृष्टिकोण बन गया है जिससे उसकी अनेक प्रवृत्तियो के समीक्षण मे अपूर्णताएँ भी रह गई है।

११२ मिश्र जी की समालोचनाओ पर लाला भगवानदीन की मान्यताओ और पद्धतियो का भी बहुत प्रभाव है। इन्होंने भी अपने इष्टगुरु की भाँति 'गीतावली' 'कवितावली' और 'सुदामा चरित्र' आदि काव्य-पुस्तको की टीकाएँ लिखी हैं, जिनका उपयोग छात्र-वर्ग के लिए विशेष रूप से है। इन टीकाओ के प्रारम्भ मे मिश्र जी ने विवेच्य कवियो के सम्बन्ध मे भूमिकाएँ भी लिखी हैं, जिनसे उनके काव्य का सामान्य परिचय प्राप्त हो जाता है। मिश्र जी की समालोचनात्मक कृतियो में 'घनानन्द-कवित्त', 'पद्माकर-पचामृत', 'घनानन्द और आनन्दघन', 'भिखारीदास-ग्रन्थावली' 'केशव-ग्रन्थावली','भूषण-ग्रन्थावली','बिहारी-सतसई'और'हमीर हठ'की भूमिकाएँ तथा उनका स्वतन्त्र विश्लेषण

---

१. प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाङ्मय विमर्श, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २३७।
२. वही, पृष्ठ २८५।
३. पं० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, नवाँ संस्करण, पृष्ठ २४१।

महत्त्वपूर्ण प्रयास कहे जा सकते हैं। इनमे भी घनानन्द-विषयक कार्य का विशेष महत्त्व है। 'नागरी प्रचारिणी-पत्रिका' का सम्पादन करते हुए भी उन्होने अनेक प्रकार की साहित्य-सामग्री का सकलन किया है जिसमे उनका शोध-विषयक दृष्टिकोण झलकता है। हाँ, कही-कही पर उनके शोध-विषयक निकाले गये निष्कर्ष उनकी निजी मान्यताओ का द्योतन विशेष रूप से करते हैं। उदाहरणार्थ उन्होने आधुनिक युग की विविध प्रवृत्तियो का अध्ययन कर उसे जो प्रेम-काल[1] की सज्ञा दी है और सभी प्रकार की रचनाओ को प्रेम-व्यजना से सवलित सिद्ध किया है, वस्तुतः वह मिश्र जी का एक दृष्टिकोण-मात्र है, क्योकि इस प्रकार की प्रवृत्तियो के विश्लेषण द्वारा तो ऐसा सामान्य नामकरण किसी भी काल का किया जा सकता है। आचार्य शुक्ल जी ने इस काल मे गद्य की प्रचुरता देखकर उसे 'गद्यकाल' कहा है[2] तथा अपने पक्ष-समर्थन मे अनेक प्रमाण भी दिये हैं। इसी प्रकार मिश्र जी ने छायावाद को केवल पद्यभाग तक ही सीमित कर उसके क्षेत्र को सीमित बना दिया है। सच तो यह है कि छायावाद अपने युग की एक ऐसी प्रवृत्ति रही है जिसका प्रभाव पद्य-काव्य की भाँति साहित्य की अन्यान्य विधाओ पर भी कम नही रहा है। छायावादी कवियो और उनके समर्थक समालोचको द्वारा भी इस विषय का यथेष्ट विवेचन किया जा चुका है, फिर भी मिश्र जी अपनी धारणाओ पर दृढ और विश्वस्त हैं और उन्हे उससे दूर ले जाना बडा कठिन है।

११३. प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने वाड्मय-विमर्श मे वाड्मय शब्द का व्यवहार शुद्ध साहित्य के अर्थ मे करते हुए उसके विमर्श के लिए काव्य, शास्त्र, साहित्य का इतिहास, भाषा-विज्ञान तथा नागरी लिपि इन पाँच अंगो का विवेचन अत्यन्त सुबोध और स्पष्ट शैली मे किया है। इस ग्रन्थ मे मिश्रजी की विचारधाराओ और मान्यताओ का प्राजल स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है, क्योकि उन्होने इसका मूल प्रयत्न यही रखा है कि 'शास्त्र के आलोडन, काव्य के अनुशीलन, इतिहास के अवलोकन, भाषा के विवेचन और लिपि के सवर्धन मे लगने वालो को हिन्दी के परम्परागत स्वरूप का आभास मिल सके और भारतीय एवं अभारतीय प्रवृत्तियो की रूपरेखा उनके समक्ष खिच सके।'[3] प्रवेश के अनन्तर काव्य के स्वरूप, प्रयोजन, भेद, हेतु, व्यतिरेक, सम्बन्ध और कर्त्ता के विवेचन मे शास्त्रीय परम्परा का पालन है और उसके द्वारा मिश्र जी की काव्य के प्रति बनी हुई धारणाओ का अनुमान लगाया जा सकता है। इसी प्रकार उन्होने पद्य के विश्लेषण मे पद्य की विशेषताएँ, पद्य-शैली की रचनाएँ, महाकाव्य, एकार्थ-काव्य, खडकाव्य, काव्य-निबन्ध, मुक्तक, गीत और प्रगीत पर अपने विचार प्रकट किये हैं, तो गद्य शैली की रचनाओ के अन्तर्गत उपन्यास, नाटक, कहानी आदि के अगोपागो का निरूपण है। इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि मिश्रजी वाड्मय के इन अंगो का उदात्त स्वरूप भारतीय काव्य-शास्त्र मे निरूपित लक्षणो और प्रयोगो का परिपालन करने मे ही पाते है और हिन्दी मे इधर जो नवीन प्रकार की काव्य-प्रवृत्तियाँ आई है, उनके प्रति उनकी कोई सहानुभूति नही है। सच तो यह है कि मिश्र जी को प्राचीन भारतीय समीक्षा मे ऐसे अनेक तत्व उपलब्ध हुए है जिनमे आधुनिक प्रवृत्तियो का समावेश कर वे आत्मतोष-सा प्राप्त कर लेते हैं। उन्होने शास्त्र-पक्ष का विवेचन करते हुए अलकार-व्यजना, रस और उससे सम्बन्धित काव्यानुभूति, रसो के अवयव-भेद तथा रस-निष्पति सम्बन्धी विभिन्न आचार्यो के मत आदि का साराश उपस्थित कर पिंगल मे परिगणित होने वाले छद, गण, शुभाशुभ-विचार, गति, संख्या, तुक और प्रत्यय आदि पर भी विचार किया है। समीक्षा का विकास समझाते हुए उन्होने भारतीय समीक्षा के प्रधान मानदण्ड अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति और औचित्य सम्प्रदायो का विवेचन किया है और तदनन्तर पाश्चात्य समीक्षा के स्वरूप तथा मानदण्ड पर भी अपनी धारणाएँ व्यक्त की हैं। इस विश्लेषण मे

१. प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाड्मय विमर्श, पृष्ठ ३०८।

२. प० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, 'काल-विभाग', नवाँ सस्करण, पृष्ठ १।

३. प० विश्वनाथ मिश्र, वाड्मय-विमर्श, उपक्रम, पृष्ठ १।

काव्य-स्वरूप और समालोचना से सम्बन्धित अनेक प्रकार की समस्याओ और मान्यताओ का भी सामान्य रेखाचित्र उपस्थित हो गया है। इस विवेचन मे प्रसंग-प्राप्त विधि मे, काव्य और कला काव्य और सौन्दर्य, काव्य और अध्यात्म, काव्य की अलौकिकता, काव्य और व्यक्ति, काव्य की अभि-व्यंजना, काव्य और रहस्यवाद, काव्य और लोकजीवन तथा काव्य के अन्यान्य विषयो पर मिश्रजी के विचारो का साराश है, जिनका अध्ययन करने पर इस विषय का पूर्ण प्रमाण मिल जाता है कि उनकी विचारधारा के निर्माण मे प० रामचन्द्र शुक्ल के दृष्टिकोण का कितना अधिक हाथ रहा है और वे शुक्ल जी की मान्यताओं के कितने अधिक निकट हैं। वस्तुत काव्य-शास्त्र का यह सैद्धान्तिक पक्ष हमे मिश्र जी के 'वाङ्मय विमर्श' के समर्पण की उन पक्तियो का स्मरण दिला देता है, जो उन्होने स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को समर्पित करते हुए लिखी थी कि "तेरा तुझ को सौपते क्या लागे है मोर"। आगे चलकर मिश्र जी ने साहित्य का इतिहास, भाषा-विज्ञान और नागरी लिपि के सम्बन्ध मे जो विमर्श किया है, वह विवेचन शैली की दृष्टि से भले ही मौलिक कहा जा सके, किन्तु उसमे सामान्यत वे ही प्रसिद्ध बाते है जिनका उल्लेख समालोचना के साधारण स्वरूप-विश्लेषण मे किया जाता है। अभिप्राय यह है कि मिश्र जी का 'वाङ्मय-विमर्श' इस दृष्टि से तो अवश्य महत्त्वपूर्ण है कि उसमे एक ही स्थान पर वाङ्मय के विभिन्न अगो के विषय मे सुलझे हुए विचार मिल जाते है, किन्तु उनके द्वारा समालोचना को विकास की कोई नवीन दिशा मिली है, ऐसा सहसा नही कहा जा सकता।

११४. मिश्र जी द्वारा लिखित 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' उनके समय-समय पर लिखे गये सामयिक साहित्य से सम्बन्धित लेखो का सकलन है, जिसमे वर्तमान साहित्य के सामान्य स्वरूप का सिंहावलोकन करने की चेष्टा की गई है। चूँकि इसमे भिन्न-भिन्न समय के लेख हैं, अत. कई स्थानो पर पुनरुक्ति भी होती गई है। उन्होने अपने लेखो के प्रस्तुत सकलन के 'निवेदन' मे उन लेखको पर व्यग्य भी किया है जिनके दूध के दांत नही गिरे किन्तु उनके संग्रह-संकलन धडल्ले से निकल रहे है और उनके भी ग्राहक-पाठक है। ऐसी स्थिति मे मिश्र जी ने अपने मित्रो के आग्रह पर प्रस्तुत सकलन का प्रकाशन करना समुचित समझा है। इस सकलन के विवेच्य विषय साहित्य और लोकजीवन, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हरिऔध जी की लोकदृष्टि, गुप्तजी की साहित्य-साधना, वर्तमान काव्य-धारा, महा-देवी जी का रहस्य-काव्य, जयशकर प्रसाद, प्रगतिवाद कथा-कहानी, स्केच या रेखामात्र निबन्ध, पुस्तकालोचन और निबन्ध-कविता आदि है। परिशिष्ट के अन्तर्गत काव्य-पुरुष, व नाटक, वक्रोक्ति और अभिव्यजना, हिन्दी भाषा, त्रिविध रूप तथा साहित्य मे व्यष्टि और समष्टि का विचार किया गया है। लेखो का आकार-प्रकार अत्यन्त सीमित और व्यवस्थित है, जिसमे मिश्र जी ने अपनी सुलझी हुई दृष्टि से साहित्य-जिज्ञासुओ के लिए मनन करने योग्य सामग्री प्रस्तुत कर दी है। इन निबन्धो द्वारा भले ही नवीन उद्भावनाओं को मूर्त स्वरूप न मिला हो, किन्तु समालोचनाओ मे जिस प्रकार का स्पष्ट प्रतिमान होना चाहिए वह भली-भाँति अभिव्यक्त है। निस्सदेह मिश्र जी का शुक्ल-युग के समालोचक के रूप मे प्रमुख व्यक्तित्व है। वे केवल समालोचक ही नही, अपितु अपने विषय के अत्यन्त कुशल अध्यापक भी हैं। अपने शालीन और मधुर व्यक्तित्व द्वारा वे अनेक उदी-यमान लेखको को निरन्तर प्रोत्साहन देते रहते हैं। उनकी मान्यताओ पर शुक्ल जी की विचारधारा का पूर्ण प्रभाव है और वे उनकी निष्पत्तियो का आप्तवचन की भाँति सम्मान करते हैं। उनके द्वारा मध्यकालीन कवियो के साहित्य का पाठालोचन तथा समीक्षण अत्यन्त भव्य स्वरूप मे हुआ है। एक वाक्य मे उन्हे शुक्ल जी का वास्तविक उत्तराधिकारी कह दिया जाय तो अनुचित नही होगा, क्योकि इस कथन मे उनके व्यक्तित्व का मूलभूत तत्त्व प्रकट हो जाता है।

४. श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

११५. सुधाशु जी आधुनिक हिन्दी-समालोचना के विकास-काल के ऐसे सैद्धान्तिक समालोचक हैं जिनकी विचारधारा पर भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तो का सतुलित प्रभाव पडा है। उनकी समीक्षा-जगत् मे प्रतिष्ठा का प्रारम्भिक कारण उनकी 'काव्य मे अभिव्यजनावाद' शीर्षक कृति है जिसमे उन्होने इटली के क्रोचे के सौन्दर्य-सम्बन्धी प्रमुख सिद्धान्तो की विवेचना कर उनका भारतीय सिद्धान्तो के साथ विनियोग प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यद्यपि इनकी प्रस्तुत पुस्तक मे क्रोचे के अभिव्यजनावाद का सर्वांगीण विवेचन नही हो सका है, फिर भी सहजानुभूति तथा रसानुभूति के तत्त्व और अभिव्यजना एव कला-विषयक निरूपण मे क्रोचे की प्रमुख मान्यताओ का उद्‌घाटन अवश्य हो गया है। ऐसा लगता है कि सुधाशु जी को क्रोचे के सौन्दर्य-शास्त्र तथा अभिव्यजनावाद मे जो विश्लेषण भारतीयता के निकट प्रतीत हुआ, उसका तो उन्होने विस्तृत विवेचन कर दिया और शेष पर केवल सामान्य सम्मतियाँ देकर ही उसे चलता कर दिया। काव्य मे अभिव्यजनावाद का स्वरूप निर्धारित करने के पूर्व सुधाशु जी ने सस्कृत के साहित्य-शास्त्र का संक्षिप्त परिचय दिया है जिससे यह स्पष्ट हो सके कि उसके कौन-कौन से सैद्धान्तिक पक्ष हैं और उनसे आधुनिक काल के अभिव्यजनावाद का किन-किन अशो मे साम्य तथा वैषम्य है। वे भी आचार्य शुक्ल की भाँति अभिव्यंजनावाद को पश्चिमी साहित्य की उपज कह कर उसका भारतीय साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तो के साथ पूरा-पूरा मेल नही पाते और यदि उन्हे भारतीय ध्वनि तथा वक्रोक्ति सिद्धान्त मे अभिव्यजनावाद का कुछ साम्य दृष्टिगोचर भी हुआ है तो उसे उन्होने स्वतंत्र रूप मे ही विवेचित किया है।[1] वास्तव मे सुधांशु जी यूरोपीय अभिव्यंजनावाद मे भारतीय अलंकार-शास्त्र तथा रस-सिद्धान्त के समकक्ष गुरुता और व्यापकता नही पाते, अतः उन्होने उसका विवेचन अधिकाशत वहीं तक सीमित रखा है जहाँ तक उसने हिन्दी काव्य-जगत् को प्रभावित किया है। उनका 'सहजानुभूति का तत्त्व' विषयक विवेचन काव्य का स्वरूप निर्दिष्ट करने के साथ-साथ इस विषय का भी स्पष्टीकरण करता है कि काव्य मे सहजानुभूति का क्या महत्त्व है और इस सम्बन्ध मे क्रोचे के अतिरिक्त लॉक, अरिस्टॉटल, बर्कले हॉब्स तथा डेकोर्टे आदि पाश्चात्य विचारको के क्या अभिमत हैं। इसी प्रसग मे उन्होने भारतीय दृष्टि का विश्लेषण कर सहजानुभूति से सम्बन्धित कला के बोध-पक्ष तथा कल्पना-पक्ष का सामान्य आभास देकर भारतीय काव्य-रचनाओ के उदाहरणो द्वारा उनकी उपयोगिता स्पष्ट की है और क्रोचे ने वस्तु, आकृति तथा अभिव्यजना मे जो अन्त सूत्र विवेचित किया है उसका भी स्पष्टीकरण किया है। सुधांशु जी का यह विवेचन काव्य-सृजन मे स्वप्न-विधान, अनुभूतिवाद, अध्यात्मवाद, इन्द्रियबोध, सवेदन, यथार्थ और अयथार्थ आदि का सामान्य परिचय प्रस्तुत करने वाला है जिसके द्वारा वे अत मे सहजानुभूति और अभिव्यजना मे एकात्मकता सिद्ध करने मे सफल हुए हैं।

११६. सुधाशु जी का अभिव्यजना और कला-विषयक निरूपण अधिकांशत: क्रोचे के अनुरूप है। वे अभिव्यक्ति और मानव-प्रकृति का अटूट सम्बन्ध मानते हैं, क्योकि सृष्टि का सारा प्रसार मुख्यतया इन्ही से सम्बन्धित होकर चला है। उन्होने प्रकृत सत्य और काव्यगत सत्य का अतर स्पष्ट कर अरस्तू के अनुकरणवाद, ब्रैडले के कलावाद, रिचर्ड्स के मनोवैज्ञानिक उपयोगितावाद तथा विश्वकवि रवीन्द्रनाथ तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के एतद्‌विषयक विचारो का सामान्य विश्लेषण कर अभिव्यजनावाद और वक्रोक्तिवाद का अंतर स्वमत्या स्पष्ट किया है। उनका यह समस्त विवेचन पठनीय है, क्योकि इसके द्वारा अभिव्यजना और कला से सम्बद्ध अनेक प्रकार की भ्रान्तियो का निवारण हो जाता है। अपने रसानुभूति के तत्त्व-विषयक विवेचन मे

---

१ लक्ष्मीनारायण सुधाशु : 'काव्य में अभ्विंजनवाद, तृ० संस्करण: पृष्ठ २

सुधाशु जी ने सौन्दर्य और आनन्द, सौन्दर्य मे निजत्व, काव्यानुभूति और साधारणीकरण, काव्यानुभूति और रसानुभूति, काव्य मे जातीयता, संस्कार और रसानुभूति, रसानुभूति के योग्य कथानक, प्रकृति-वैचित्र्य और आलम्बनत्व धर्म का काव्यगत पात्र के साथ तादात्म्य, तादात्म्य और शील-दर्शन, तात्कालिक रसानुभूति और अन्तर्वृ त्ति का सौन्दर्य, अतिप्राकृत सौन्दर्य और रसानुभूति, वैचित्र्य का साक्षात्कार, आश्चर्यपूर्ण प्रसादन तथा अवसादन, रसानुभूति के स्वरूप आदि विभिन्न पक्षों का पाश्चात्य तथा भारतीय विचारको के उद्धरणो द्वारा उद्घाटन कर इस विषय का विशेष रूप से प्रतिपादन किया है कि रस का मूल प्रयोजन क्या है और उसके नवीन ढंग से विवेचन की कैसी आवश्यकता है। इसी प्रकार उन्होने अलकार और प्रभाव का निरूपण, अलकार का उद्देश्य और भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे उसका प्रवेश बतलाकर क्रोचे के उस मत का स्पष्टीकरण किया है जिसके अनुसार वह अलंकार और अलकार्य मे कोई भेद नही मानता।[1] वे क्रोचे के इस प्रकार के विवेचन से सहमत नही है, क्योकि भारतीय दृष्टि से अलकार वाणी के केवल उत्कर्ष-विधायक और शोभाकारक बाह्य धर्म ही सिद्ध होते है। उन्होने सूर, तुलसी, मैथिलीशरण गुप्त, निराला और पत के काव्याशो के उद्धरण देकर अलकारो की उपयोगिता और उनका प्रभाव विवेचित किया है और कुछ ऐसे उदाहरण भी दिये है जिनसे अलकारो की प्रभाव-हीनता भी सिद्ध होती है। उनका अन्योक्ति, रूपक और उपमा अलकार-विषयक निरूपण विशेष महत्त्वपूर्ण है। सच तो यह है कि सुधाशु जी अलकार को रस के सहायक-मात्र मानते हैं और यदि किसी अलंकार से रसानुभूति मे बाधा पहुँचती है तो उसे अलंकार की सज्ञा देना व्यर्थ समझते है।[2] उन्होने आधुनिक काव्य मे प्रचलित प्रतीक-योजना और उपमानो के भेदोपभेद तथा उनकी विशेषताएँ निरूपित कर बतलाया है कि उनके द्वारा काव्य मे किस प्रकार लाक्षणिकता और प्रभावान्विति की वृद्धि हुई है। वस्तुत वे काव्य मे नवीन प्रतीको और उपमानो की अत्यन्त आवश्यकता समझते है जिससे उसकी रसोद्भावना मे और अधिक सौष्ठव का संचार हो सके।[3] इस दृष्टि से उन्हे पत और प्रसाद का काव्य अत्यन्त भव्य और प्रभावपूर्ण प्रतीत हुआ है। आधुनिक काव्य मे लाक्षणिक प्रयोगो को महत्त्व प्रदान करते हुए जिस प्रकार की मूर्तिमत्ता का चित्रण किया जाता है, उसे सुधाशु जी लाक्षणिक विकास का ग्राह्य स्वरूप मानते हैं और उस पर विदेशी साहित्य की प्रवृत्तियो का भी आभार स्वीकार करते है। सच तो यह है कि उन्हे काव्य मे प्रयुक्त मूर्त का अमूर्त विधान और अमूर्त का मूर्त विधान लाक्षणिक प्रयोगो की दृष्टि से उचित लगा है, किन्तु वे भी आचार्य शुक्ल जी की भाँति उसकी अतिरेकता मे विश्वास नही करते। आजकल विदेशी साहित्य के अनुकरण पर हमारे काव्य मे जिस प्रकार की अभिव्यजना-विषयक प्रवृतियो की वृद्धि हो रही है, उसका विश्लेषण सुधाशु जी ने अनेक काव्याशों के उदाहरण देकर किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सुधाशु जी का यह समस्त विवेचन क्रोचे के अभिव्यजनावाद के ही अनुगमन पर न होकर भारतीय काव्यशास्त्र की प्रकृति के अनुरूप ही हुआ है और इसके द्वारा वे हिन्दी-काव्य की लाक्षणिक विशेषताओ का अधिकाधिक विश्लेषण कर सके है। अपने प्राय. डेढ सौ पृष्ठ के विवेचन मे सुधाशुजी ने काव्य मे अभिव्यजनावाद से सम्बन्धित जो विचार-सामग्री प्रदान की है, वह अत्यन्त गम्भीर है और सन् १९३६ के आसपास इस प्रकार के विश्लेषण मे तो इसका प्रमुख महत्त्व रहा है। उनकी इस कृति का आज भी कम उपयोग नही है, क्योकि इसमे पूर्वाग्रह-रहित वृत्ति से विवेचन को अधिकाधिक सतुलित बनाने की चेष्टा लेखक का प्रधान उद्देश्य रहा है।

११७. सुधाशु जी ने 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त" नामक समीक्षा-ग्रन्थ की

१. लक्ष्मीनारायण सुधाशु काव्य में अभिव्यंजनावाद · तृतीय संस्करण, सवत् २००७, द्वि-पृ-८६।

२. वही, पृष्ठ ११३।

३. वही, पृष्ठ १२१।

रचना "हिन्दी मे जीवन की प्रतिष्ठा पर काव्य के विश्लेषक समीक्षा ग्रन्थो का अपेक्षाकृत अभाव देखकर उसकी पूर्ति की भावना से की।" इस पुस्तक मे उन्होने काव्य या साहित्य के मूल सिद्धान्तो का विवेचन मानव-जीवन के शाश्वत तत्त्वो के साथ उनका सम्बन्ध जोडते हुए किया है। ऐसा करने मे उन्हे साहित्य-शास्त्र, मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान तथा भारतीय और पाश्चात्य दर्शनो से भी सहायता मिली है। इस पुस्तक मे दस अध्याय है जिनमे क्रमश. नौ अध्यायो मे भाव-विन्यास और जीवन, जीवन का वातावरण और प्रकृति, आत्मभाव और काव्य-विधान, मन का ओज और रस, काव्य का अर्थ-बोध, काव्य की प्रेरणा-शक्ति, लय और छन्द, ग्राम-गीतो का मर्म तथा कला-गीत की प्रवृत्तियो का सैद्धान्तिक विवेचन है और अन्तिम अध्याय मे अन्तर्दर्शन शीर्षक से हिन्दी के नौ आधुनिक कवि सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी. जयशकरप्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, जनार्दनप्रसाद झा, 'द्विज', सुमित्रानन्दन पन्त, रामधारीसिह 'दिनकर', महादेवी वर्मा और हरिवशराय 'बच्चन' की प्रवृत्तिमूलक मान्यताओ का विवेचन हुआ है। इन विषयो पर इस प्रकार की लघु किन्तु तथ्यपूर्ण समीक्षाएँ उस समय बहुत कम लिखी जाती थी। शुक्ल-युग के समालोचको मे सुधाशु जी को इसी दृष्टि से विशेष महत्त्व दिया जाता है। उनकी विचारधारा और विवेचन-पद्धति पर शुक्ल जी का पर्याप्त प्रभाव है और वे अधिकाशत उन्ही की मान्यताओ को लेकर चले है, किन्तु कला और अभिव्यजना के विषय मे उनकी कुछ अपनी विचारणाएँ भी हैं, जिन्हे लेकर उन्होने अत्यन्त नम्र शब्दो मे आचार्य के दृष्टिकोण के प्रति ईषत् विरोध भी प्रकट किया है।

११८ सुधाशु जी का भाव-विन्यास और जीवन-विषयक विवेचन भारतीय दर्शन और पश्चिमी मनोविज्ञान के अध्ययन का प्रतिफल है। वे भी अन्य आचार्यो की भाँति सुख और दुख को जीवन के मूल भाव मानते है, "जिनसे उद्भूत राग तथा द्वेष, आश्रय और आलम्बन के विचार से मनोविकारो के कई रूपो मे परिवर्तित हो जाते है।"[1] वस्तुत उनके मतानुसार ये ही साहित्य-शास्त्र मे प्रतिपादित रस-निष्पत्ति के मूल तत्त्व है जो जीवन की क्रियाशील प्रवृत्ति मे अन्यान्य भावो का समवाय लेकर चलते रहते है। उन्होने भावो और क्रियाओ के विधान मे भारतीय तथा पश्चिमी दृष्टिकोणो का अन्तर स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि भारत जहाँ भावो की प्रेरक स्थिति को महत्त्व देता है, वहाँ पश्चिमी मत उसके परिणाम का प्राधान्य स्वीकार करता है।[2] सुधाशु जी का यह कथन उचित है क्योकि दोनो दृष्टियो मे आदर्श और यथार्थ तथा आध्यात्मिक और भौतिक भावो मे जो अन्तर मिलता है, वह इसी दृष्टि-भेद का परिणाम है। वास्तव मे देखा जाय तो काव्यकार के जीवन दर्शन के निर्माण मे उसके आन्तरिक सस्कारो और वाह्य परिस्थितियो का कम प्रभाव नही होता, जिसके कारण उसकी काव्य-प्रकृति बनती है। मैथ्यू आर्नल्ड ने इसी दृष्टि से काव्य को जीवन की व्याख्या अथवा आलोचना माना है। सुधाशु जी ने भी इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है, किन्तु वे उसके साथ साथ यह भी मानते है कि "काव्य मे प्राकृत जीवन की सत्ता एक प्रभाव के रूप मे प्रकट होती है और जिस जीवन मे प्रभाव की जितनी क्षमता रहती है, काव्य मे उसे वैसा ही स्थान प्राप्त होता है।"[3] उन्होने उन कारणो का भी विवेचन किया है जिनसे काव्यकार का जीवन प्रभावित होता चलता है और वह वर्तमान तथा अतीत के बीच एक अटूट शृंखला का सयोजन करने मे सफल होता है। इस विवेचन मे वे काव्य मे नैतिकता का पक्ष भी स्वीकार करते है, किन्तु केवल उसी के कारण उसे महान् नही मानते क्योकि उसमे जीवन की क्रियाओ का ही मूल रूप मे

१. लक्ष्मीनारायण सुधाशु जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, द्वितीय सस्करण, जून १९५०, पृष्ठ ५।
२. वही, पृष्ठ ११।
३. वही, पृष्ठ २७।

प्राधान्य होना चाहिए।[1]

११६ सुधाशु जी ने आत्मभाव और काव्य-विधान का विश्लेषण करने के पूर्व विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अन्विति-सिद्धान्त और टालस्टाय ने मानवतावादी सिद्धान्त का विवेचन किया है और बतलाया है कि उक्त विचारको के दोनो सिद्धान्त किस प्रकार कला की परिभाषा को पूर्ण बनाने मे सहायक हुए है। उन्हे काव्य मे आत्मभाव की प्रतिष्ठा और जीवन की आस्था पर इतना अधिक विश्वास है कि वे उनके अभाव मे श्रेष्ठ काव्य-सृष्टि की सत्ता ही नही मानते। उनके शब्दो मे "काव्य मे कलाकार अपने आत्मभाव को स्रष्टा के अनुरूप ही रखता है। सृष्टि मे ब्रह्म की जो व्यापक सत्ता है, वही काव्य मे कवि की रहती है। सृष्टि के अणु-परमाणु मे ब्रह्म व्याप्त हैं, परन्तु वह लक्षित कही भी नही होता। काव्य के वर्ण-वर्ण मे कवि का आत्मभाव परिव्याप्त रहता है, किन्तु वह स्पष्ट कही भी लक्षित नही होता।"[2] उन्होने सच्चे कलाकारो का कार्य यही बतलाया है कि वे हमारे हृदय मे अन्तर्निहित शक्ति के अविकसित अकुरो को विकसित कर प्रकाश मे लाने की चेष्टा करे। इस प्रकार उनके मतानुसार सच्ची कला, ज्ञान-ग्रन्थो से बहुत ऊँची होती है। वे काव्य मे आत्म-भाव को प्रधानता देते है किन्तु उसे समाज-परम्परा से विच्छिन्न करना अच्छा नही समझते।[3] इस प्रकार जो लोग यह समझते है कि पुराने छन्दो मे नवीन जीवन का उल्लास व्यक्त नही किया जा सकता, उनकी मान्यता को भी वे भ्रमपूर्ण सिद्ध करते हैं।[4] उन्होने अनेक तर्कों द्वारा इस मत का खण्डन किया है कि नये-नये भावो को अभिव्यक्त करने के लिए नई-नई विधियाँ अथवा नये-नये छन्द होने ही चाहिए। सच तो यह है कि उनके मतानुसार भावो की नवीनता कोई काव्य-क्षेत्र की मौलिक अभिनव वृत्ति नही, अपितु वह तो केवल हमारे वर्तमान जीवन की विविधता है; अत. वे छन्द या रचना-कौशल को गौणता प्रदान कर केवल इस बात पर जोर देते हैं कि काव्यकार को अपनी कृति तथा जीवन मे तारतम्य लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

१२०. सुधाशु जी ने काव्य का रसास्वादन मन के ओज पर आधारित बतला कर यही सिद्ध करने की चेष्टा की है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्म-शक्ति अथवा ओज की मात्रा के अनुरूप ही काव्य का आनन्द ग्रहण करता है।[5] सच तो यह है कि जो व्यक्ति अपने जीवन मे जितना अतिरिक्त ओज सचित करता हुआ चलता है, काव्य के द्वारा उतना ही अधिक आनन्द उपलब्ध कर सकता है। ओज का यह सचय केवल काव्य के लिए ही नही, अपितु व्यावहारिक जीवन मे भी अपेक्षित है। सुधाशु जी ने हमारे दैनिक जीवन से अनेक उदाहरण देकर अपने कथन की पुष्टि की है और बतलाया है कि सचित ओज की वास्तविक उपयोगिता इसी बात मे है कि हम उसके द्वारा आनन्दोपलब्धि और विवाद-निवृत्ति का प्रयास करे। उनके मतानुसार "कवि किसी के हृदय मे नया भाव नही भरता बल्कि वह केवल अनुभूत भावो को ही जागृत तथा उत्तेजित करता है, जिससे पाठक या श्रोता को रस की प्रतीति होने लगती है।[6] वे काव्य मे वैचित्र्य अथवा चमत्कार को महत्त्व देते है किन्तु उसे साध्य रूप मे स्वीकार नही करते। इसी प्रकार शुद्ध मनोरजन-मात्र को भी वे काव्य का उद्देश्य नही मानते। उनके अनुसार "रस-पद्धति एक प्रकार का मानसिक

---

१ लक्ष्मीनारायण सुधांशु : जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, द्वितीय संस्करण, १९५०, पृष्ठ ३६।

२. वही, पृष्ठ ४३-४४।

३. वही, पृष्ठ ४५।

४ वही, पृष्ठ ४६।

५. वही, पृष्ठ ६२।

६. वही, पृष्ठ ६१।

व्यायाम है जिसके द्वारा हम भिन्न-भिन्न भावो को विकसित करने मे समर्थ होते हैं।[1] महाकाव्यो की महत्ता उन्होने इसीलिए मानी है कि उनके द्वारा हम जीवन की विविधताएँ ग्रहण करते हैं जिनके द्वारा हमे विश्व-जीवन को आत्मसात् करने की प्रेरणा मिलती है। उनके मत से सच्चा कवि आनन्द और विषाद को अलग-अलग मानसिक वृत्तियो के रूप मे चित्रण करने की अपेक्षा दोनो मे एक जैसा अद्भुत रासायनिक मिश्रण लाने की चेष्टा करता है, जिससे पाठक का मन उनमे अन्तर्लीन होकर तादात्म्य का अनुभव करने लगता है। कहने की आवश्यकता नही कि सुधाशु जी की इस प्रकार की काव्य-रस-ग्रहण-विषयक मान्यता आचार्य शुक्ल जी की भावभूमि के अत्यन्त निकट है।

१२१. सुधाशु जी अपने सैद्धान्तिक विवेचन मे अत्यन्त स्पष्ट हैं। वे गम्भीर से गम्भीर विषय का विश्लेषण दृष्टान्तो की योजना करते हुए सहज भाव से कर देते हैं। काव्य के अर्थबोध के सम्बन्ध मे उन्होने बुद्धितत्त्व की अपेक्षा हृदय-पक्ष को महत्त्व दिया है, क्योकि अनेक रचनाओ का भले ही हमे पूर्व-अर्थबोध न हो किन्तु वे हमारे हृदय के साथ आत्मसात् करती हुई सी प्रतीत होती हैं। सुधाशु जी ने 'किसी रचना का प्रिय लगना ही जीवन के साथ उसके हार्दिक सम्बन्ध का द्योतक' बतलाया है और इस कथन की पुष्टि करते हुए यही सिद्ध करने की चेष्टा की है कि "जो वस्तुतः हृदय के भाव हैं वे किसी-न-किसी रूप मे हृदय मे स्थान पाने का प्रयत्न अवश्य करते है।"[2] वे काव्य के आनन्द का सम्बन्ध हमारे जीवन की अन्तर्शक्ति के साथ जोडकर तर्कवादपूर्ण अर्थबोध को उसका कोई प्रधान पक्ष नही मानते, क्योकि उसके द्वारा हमारा मन केवल वैचित्र्य मात्र से ग्रस्त होकर केवल हेत्वाभास ही कर सकता है, सच्ची रस-प्रतीति नही। सच तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी वृत्ति, सस्कार या विचार-पद्धति के अनुकूल ही काव्य का बोध होता है, अतः सुधाशुजी के मत से "नवीन और तीव्र" अनुभूतिपूर्ण काव्य के मर्म को समझने के लिए केवल विद्वत्ता या उच्च शिक्षा का अपेक्षा नही रहती, अभिव्यक्ति करने वाले हृदय के साथ जिसकी पूर्ण सहानुभूति रहेगी, वही उस कविता के मर्म को अच्छी तरह समझ सकता है।"[3]

१२२. काव्य की प्रेरणा-शक्ति प्राय सभी देशो के साहित्य मे समीक्षको के विचार का विषय रही है, जिस पर उन्होने विभिन्न दृष्टिकोणो से अपने अभिमत प्रकट किये है। सुधाशु जी ने जीवन और उसके रहस्य का स्पष्टीकरण करते हुए आत्म-विस्तार को ही जीवन का लक्ष्य बतलाया है, जो पुरुषार्थ-चतुष्टय के रूप से विषयानद से ब्रह्मानन्द की उपलब्धि के लिए अग्रसर होने का प्रयत्न करता है। साधारण दृष्टि से प्रत्येक का कार्य अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही होता है, किन्तु वही उसका एकमात्र लक्ष्य नही है। वास्तव मे व्यक्ति की आत्म-प्रसार की भावना मे विश्व-बन्धुत्व अथवा चराचर-एकत्व का दृष्टिकोण भी रहता है, अत सुधाशु जी ने काव्य दृष्टि तथा साधारणीकरण का काव्यगत तात्पर्य यही बतलाया है कि व्यक्ति उसके द्वारा अपने आत्म-विस्तार को मानवता की एक सामान्य कोटि मे सन्निहित करने की चेष्टा करे और वह अनेकत्व मे एकत्व दर्शन के लिए अग्रसर हो।[4] वस्तुत सुधाशु जी के मतानुसार काव्य-सृजन की मूल प्रेरणा स्रष्टा के अन्तस्तल मे निहित आत्म-विस्तार की भावना ही है। उन्होने अन्त.करण और उसकी वृत्तियो का विवेचन कर भावो की विभिन्न कोटियाँ निर्धारित की है और बतलाया है कि प्रत्यक्ष जीवन और काव्य मे भावो की

---

१ लक्ष्मीनारायण सुधाशु . जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, द्वितीय संस्करण १९५०, पृष्ठ ७१।

२. वही, पृष्ठ ७६।

३. वही, पृष्ठ ८५।

४. वही, पृष्ठ १९५।

परिणति किस प्रकार होती है। उनका स्वपीडन और आत्म-पीडन विषयक विश्लेषण आधुनिक मनोविज्ञान के अनुकूल है और वे भी जीवन मे काम की प्रेरणा को प्रधानता देते हुए काव्य के आनन्द मे भी उसको आधार स्वरूप मानते है।[1] काम-वासना और उसके प्रयत्न-विस्तार के विवेचन को उन्होने केवल फ्रायड तक ही सीमित नही रखा है, अपितु वे उसके स्वरूप का विवेचन वैदिक काल से लेकर आधुनिक युग की मनोविश्लेषणवादी प्रवृत्तियो तक करते चले है, जिनके अन्तराल मे उपनिषद्, मनुस्मृति, पुराण-साहित्य, धर्म-सहिताएँ आदि विभिन्न शास्त्रीय प्रमाण भी उद्धृत होते गये है। इस प्रकार के प्रतिपादन का मूल प्रयोजन यही सिद्ध करने का है कि फ्रायडवादी विचारक भले ही यौन-सम्बन्ध को प्राकृतिक व्यापार कह कर उसका उच्छृखल प्रदर्शन करे, किन्तु भारत ने उसकी जीवन मे अनिवार्यता स्वीकार करते हुए भी "प्रकृति की मर्यादा रखने के लिए समाज-धर्म के अन्तर्गत लाकर उसको आध्यात्मिक विकास के मार्ग पर उपस्थित कर दिया है जो अधिक उपयुक्त है"।[2] इस प्रकार सुधाशु जी के मतानुसार प्रेम काव्य की प्रेरणा का एक मौलिक आधार है[3] और प्रत्येक कवि अपनी-अपनी वासना के अनुकूल ही काव्य-रचना करता है।[4] उन्होने सस्कृत साहित्य-शास्त्र मे निरूपित काव्य-प्रयोजनो के अन्तर्गत भी काव्य की प्रेरणा-शक्ति के अनुसन्धान का प्रयत्न किया है और उसका प्रधान कारण 'आत्मसुख' ही माना है।[5] वे स्वात सुखाय और जन-हिताय की भावना मे तत्त्व-दृष्टि से कोई अन्तर नही मानते और सच्चे कवियों की रचनाओ मे इन दोनो का समन्वय और सन्तुलन पाते है। उनका स्पष्ट कहना है केवल स्वात· सुखाय होने से ही किसी का कोई कर्म अभिनन्दनीय नही माना जा सकता, उसमे लोक-रंजन या लोक-कल्याण किस सीमा तक हो सकता है, यह भी उसका एक मानदण्ड है।"[6]

१२३. जैसा कि पहले सकेत कर दिया गया है कि सुधाशु जी लय और ताल का घनिष्ठ सम्बन्ध मानते है, किन्तु यह कोई आवश्यक नही समझते कि पुराने छन्दो की आधुनिक काव्य मे कोई उपयोगिता नही रही है। उन्होने शास्त्रीय तथा दार्शनिक प्रमाण जुटाकर इस बात का विवेचन किया है कि लय का आदि स्वरूप क्या था और उसे काव्य-साहित्य मे किस प्रकार स्थान मिला। उन्होने लय की महिमा निर्दिष्ट कर आकाश को पचतन्मात्रा मे सर्वश्रेष्ठ माना है और उसके गुण, रूप, कार्य, ध्वनि या शब्द द्वारा सभी तत्त्वो पर अधिकार करना सम्भव बतलाया है।[7] वे काव्य के लिए छन्दों की अविच्छिन्न सत्ता तो नही मानते, किन्तु इतना अवश्य स्वीकार करते है कि काव्य-भाषा के लिए लय की अत्यन्त आवश्यकता है। सच तो यह है कि उनके मत से लय ही छन्द मे प्राण-प्रतिष्ठा करने वाला प्रमुख तत्त्व है और उसका बहिष्कार करने का तात्पर्य एक प्रकार से मानव-प्रकृति के साथ विद्रोह करना है। लय की प्रमुखता के कारण ही उन्होने मुक्त छन्द की भी प्रशंसा की है जिसमे चाहे कवि कितना ही अधिक छन्द का बन्धन लाघकर चले, किन्तु लय के कारण उसका सौन्दर्य नष्ट नही होता। इस सम्बन्ध मे उन्होने पं० रामचन्द्र शुक्ल के साथ-साथ छायावादी कवि निरालाजी और पत जी के छन्दो तथा विचारो के उद्धरण देकर उनका सौष्ठव विवेचित किया है और यह भी बतलाया है कि यूरोप मे फ्लिण्ट तथा कमिंग्ज ने किस प्रकार

---

१. लक्ष्मीनारायण सुधाशु, जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त द्वि० स०, पृष्ठ ११०।
२. वही, पृष्ठ ११६।
३. वही, पृष्ठ १२१।
४. वही, पृष्ठ १२५।
५. वही, पृष्ठ १२७।
६. वही, पृष्ठ १२८।
७. वही, पृष्ठ १३४।

मूर्तविधानवाद (इमेजिनिज्म) तथा सम्वेदनावाद (इम्प्रेशनिज्म) का प्रवर्त्तन करते हुए छन्द-विधान मे उनकी महत्ता स्वीकृत की है। सुधाशुजी यूरोपीय देशो मे प्रवर्तित इस प्रकार के काव्य-विषय तथा छन्द-विधान मे गम्भीरता नही पाते और हिन्दी काव्य की प्रकृति के लिए यही उचित समझते हैं कि उसमे छन्दो का प्रयोग बिना किसी प्रकार के प्रतिबन्ध के स्वाभाविक क्रम मे किया जाय। इसी प्रसग मे उन्होने ग्राम-गीतो का मर्म स्पष्ट करते हुए उनकी छन्द-लय का भी विवेचन किया है और बतलाया है कि किसी भी देश के काव्योद्‌भव मे ग्राम-गीतो अथवा दन्त-कथाओ का क्या महत्त्व है। उनके मतानुसार ग्राम-गीतो मे मानव-जीवन के उन प्राथमिक चित्रो के दर्शन होते है जिनमे मनुष्य साधारणत अपनी लालसा, वासना, प्रेम, घृणा, उल्लास, विवाद को समाज की मान्य धारणाओ से ऊपर नही उठा सका है और अपनी हृद्‌गत भावनाओ को प्रकट करने मे कृत्रिम शिष्टाचार का प्रतिबन्ध भी नही माना है।'[1] सच तो यह है कि उनके मत से ग्राम-गीत हमारे जीवन का नैसर्गिक पक्ष है, जिनसे कला-गीतो की उद्‌भावना के साथ-साथ प्रेम-दशा और भावुकता का चित्रण अत्यन्त सजीवता के साथ होता है। उन्होने ग्राम-गीतो की प्रेम-दशा के अन्तर्गत विकसित होने वाले दूत-काव्य का विश्लेषण कतिपय ग्राम-गीतो के उद्धरण देकर किया है और बतलाया है कि उनमे करुणापूर्ण उपाख्यानो, वियोग-मिलन की वार्त्ताओ और जीवन के सामाजिक तथा सास्कृतिक पक्षो के विविध रूपो का कितना सुन्दर उद्‌घाटन है। वास्तव मे सुधाशुजी के मतानुसार कला-गीत की प्रवृत्तियो के सृजन मे भी ग्राम-गीतो का पर्याप्त हाथ है और वे अधिकाशत. उन्ही से अनुभूति और कल्पना का आधार लेकर विकसित हुई है। इस विवेचन द्वारा सुधाशुजी के कलावाद, राष्ट्रवाद, रहस्यवाद, छायावाद और प्रगतिवाद विषयक विचारो का भी बोध हो जाता है और इस विषय की भी यथेष्ट जानकारी हो जाती है कि हिन्दी मे वीरगाथा काल से लेकर आज तक कला-गीत की प्रवृत्तियो का विकास किन-किन परिस्थितियो मे किस विधान मे हुआ है। अभिप्राय यह है कि सुधाशुजी शुक्ल-युग के एक प्रमुख सैद्धान्तिक समालोचक है और उन्होने यद्यपि जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त के अन्तर्दर्शन के अन्तर्गत कतिपय आधुनिक कवियो के जीवन और काव्य का विनियोग विवेचित करने का भी प्रयत्न किया है, किन्तु उस विवेचन को उनकी सैद्धान्तिक समालोचना की समता मे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान नही दिया जा सकता।

५. श्री पदुमलाल पुन्नलाल बख्शी

१२४ श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी अब भी यदा-कदा पत्र-पत्रिकाओ मे स्फुट समालोचनाएँ लिखते रहते हैं, किन्तु अपनी मान्यताओ मे वे समालोचना के संवर्धनयुग और विकास-काल की मध्यवर्त्ती स्थिति के अधिक निकट है। उनके समालोचना-क्षेत्र मे पदार्पण करने के समय प० महावीर-प्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था, किन्तु शनै.-शनै शुक्लजी तथा छायावादी कवियो की विचारधाराओ का महत्त्व भी स्थापित होने लगा था। उस समय तक देव और बिहारी को लेकर समीक्षा-क्षेत्र मे चलने वाला वाद-विवाद भी यथेष्ट मन्द हो गया था और हिन्दी-साहित्य के अध्ययन की व्यवस्था विश्वविद्यालयों की उच्चतर कक्षाओ मे होने के कारण समालोचक-समाज का ध्यान उसकी अग-वृद्धि की ओर विशेष रूप से आकृष्ट था। बख्शीजी ने ऐसे ही समय मे युग की आवश्यकताओ का अनुभव कर अपनी समालोचनाएँ प्रस्तुत की और उनका 'विश्व-साहित्य' साहित्यालोचन मे एक नवीन कडी जोडता हुआ उपस्थित हुआ। यह कहना तो बड़ा कठिन है कि बख्शीजी ने इस कृति मे कितना मौलिक निरूपण किया है, किन्तु यह बात अवश्य है कि काव्य और जीवन का अन्तरग सम्बन्ध लेकर जिस प्रकार की समालोचनाएँ शुक्लोत्तर-युग मे लिखी गईं उनके

---

१. श्री लक्ष्मीनारायण सुधाशु जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, द्वितीय संस्करण सन्, १९५०, पृष्ठ १७३।

प्रवर्त्तन-सूत्रो का पर्याप्त अश उनकी इस पुस्तक मे मिलता है। उनकी भाषा-शैली पर भी पश्चिमी विचारको और विश्व-कवि रवीन्द्र का प्रभाव अनुलक्षित है। काव्य, नाटक, कथा-साहित्य और निबन्ध-समालोचनाओ के विश्लेषण मे उन्होने अपनी 'मधुपवृत्ति' का ही सामान्यतः परिचय दिया है, जिससे उनकी बहु अधीत प्रवृत्ति का जितना परिचय मिलता है, उतना स्वतन्त्र चिन्तन का नही। अनेक स्थलो पर तो वे अपने प्रकृत विषय-विवेचन का सम्यक् निर्वाह भी नही कर सके हैं।

१२५. बख्शीजी ने कई वर्षों तक 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन भी किया है; अत. उनके सम्पादक-व्यक्तित्व के आगे उनका समालोचक-व्यक्तित्व दब भी गया है। सम्पादन-कार्य से उन्हे यह लाभ अवश्य हुआ कि वे सम-सामयिक परिस्थितियो से बराबर परिचित रहे और उन्हे साहित्य-क्षेत्र मे समीक्षित करने की ओर भी ध्यान दे सके। यद्यपि उनके मानस मे भारत के स्वर्णिम अतीत के प्रति विशेष मोह रहा है, फिर भी वे पाश्चात्य साहित्य की गरिमा को भी बराबर स्वीकार करते हुए चले है। अपने दृष्टिकोण की उदारतावश ही उन्होने उस युग की मान्यताओ से आगे बढकर छायावादी कवियो की यथोचित अभ्यर्थना की है। सन् १९३० के आसपास उन्होने 'सरस्वती 'पत्रिका के जो सम्पादकीय लेख लिखे हैं, उनमे अभिव्यक्त विचारधारा से वे आज भी अधिक विकासोन्मुख नही है। 'विश्व-साहित्य' के अतिरिक्त 'प्रबन्ध-पारिजात', 'साहित्यशिक्षा', 'हिन्दी कथा-साहित्य', 'पंचपात्र', 'कुछ', 'प्रदीप' 'और कुछ' आदि उनके साहित्यिक निबन्धो के संग्रह प्रकाशित हुए है, जिनसे उनकी समालोचना-शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। बख्शीजी की समीक्षा-साहित्य को कोई विशेष मौलिक देन नही है, किन्तु द्विवेदी-युग के अवसान और शुक्ल-युग के प्रारम्भ मे जो समालोचक अपना स्थान बना रहे थे, उनकी समता मे इनका भी महत्त्व है, अतः शुक्ल-युग के समालोचको की नाम-गणना से उन्हे पृथक् नही समझा जा सकता।

६. डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

१२६. डा० बडथ्वाल ने 'हिन्दी काव्य की निर्गुण भक्ति-धारा' पर अपना गवेषणात्मक प्रबन्ध अंग्रेजी भाषा मे प्रस्तुत कर हिन्दू विश्वविद्यालय काशी से डी० लिट् की उपाधि सन् १९३३ मे प्राप्त की। उसके पश्चात् भी उन्होने अनेक आलोचनात्मक और शोधपूर्ण निबन्ध लिखे जो उनके पुराने कागज-पत्रो के बीच अस्त-व्यस्त रूप मे पडे हुए थे। डा० भगीरथ मिश्र ने उस बिखरी हुई सामग्री का संग्रह 'मकरन्द' नामक निबन्ध-सकलन मे किया है, जिसमे छोटे-बडे सब मिलाकर तेईस लेख है। सग्रह के सम्पादक ने अपने वक्तव्य मे सकलित लेखो के विषय मे सामान्य परिचय दिया है और स्पष्ट रूप से यह बात स्वीकार की है कि इन लेखों को किसी विशेष तारतम्य से न सजाकर उपलब्ध सामग्री के क्रम से प्रकाशित किया गया है। सभी लेखो के शीर्षक डा० बडथ्वाल के ही दिये गये है, केवल पुस्तक के अन्तिम लेख को सम्पादक महोदय ने विषय-सामग्री के अनुरूप 'हिन्दी काव्य की निरजन-धारा' से अभिहित किया है।

१२७ मकरन्द मे सकलित निबन्धो की सामग्री प्रकीर्णक समालोचना के रूप मे श्रेणी-बद्ध की जा सकती है। नाथपथ मे योग, सन्तो का सहज ज्ञान, उत्तरखण्ड के मन्त्रो मे गोरखनाथ, चौरंगीनाथ तथा हिन्दी काव्य की निरजन धारा शीर्षक निबन्धो मे डा० बडथ्वाल की साहित्यिक गवेषणा और शोधपूर्ण चेतना प्रदर्शित है। वस्तुतः स्वर्गीय डा० साहब का नाथपथ, और सन्तमार्ग का विशेष अध्ययन था। यही कारण है कि इन विषयों पर वे जो कुछ सामग्री प्रदान कर सके है, उसका आज भी अनुसन्धानगत महत्त्व बना हुआ है।

१२८. 'गाधी और कबीर' शीर्षक निबन्ध मे डाक्टर बड़थ्वाल ने तुलनात्मक समालोचना का एक आदर्श प्रस्तुत किया है। 'मूल गोसाई चरित और रामनरेश त्रिपाठी' नामक निबन्ध मे समालोचना की खडन-मडन प्रवृत्ति का आधिक्य है। 'आचार्य कवि केशवदास', 'भूषण का असली

नाम' तथा 'भूषण की शृंगारी कविता' मे रीतिकालीन सामान्य प्रवृत्तियो के दिग्दर्शन के पश्चात् उक्त कवियो की विशेषताओं का उल्लेख है। बडथ्वालजी ने भूषण की शृगारी कविता की विवेचना करते हुए अपनी नवीन शोध के द्वारा इस मान्यता का सस्थापन किया है कि जो लोग भूषण को केवल वीर-रस का ही कवि समझते है, वे भ्रान्ति मे है, क्योकि रीतिकालीन शृंगारी प्रवृत्तियो से वे भी अनाक्रान्त नही रह सके थे और उनके फुटकल छन्दो मे तत्कालीन युग-चेतना की झलक शृगारी छन्दो मे झलक ही गई थी। 'कीर्तिलता की भाषा', 'व्रजभाषा और रसकलश' 'ज्ञ' का हिन्दी उच्चारण, 'गढवाली भाषा के परवाणा' और 'मेलणो की जीवन कथा' शीर्षक निबन्धो को साहित्यिक समालोचना की अपेक्षा भाषा-वैज्ञानिक प्रक्रिया के अधिक निकट रखा जा सकता है। 'स्वर्गीय प० रामचन्द्र शुक्ल', 'निबन्धकार द्विवेदी', डाक्टर हीरालाल', 'बाबू श्यामसुन्दरदास की हिन्दी-सेवा' और 'तारा पाण्डेय' शीर्षक निबन्ध परिचयात्मक समालोचना के नमूने हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को एक नवीन रस के उद्भावक कह कर उन्हे देशभक्ति की भावनाओं से ओत-प्रोत सिद्ध किया गया है। 'हमारी कला और शिक्षा' उनका १९४० ई० की कोटद्वार ग्रामसुधार प्रदर्शिनी के अवसर पर शिक्षा-विभाग की प्रदर्शिनी का उद्घाटन करते समय दिया गया लिखित भाषण है जिसमे डा० बडथ्वाल ने सभ्यता और सस्कृति के तारतम्य को लेकर बडा सुन्दर विवेचन किया है। अभिप्राय यह है कि 'मकरन्द' के सकलित निबन्धो मे यद्यपि हमे डा० बडथ्वाल का साहित्य-समीक्षण विषयक साहित्यिक दृष्टिकोण तो नही ज्ञात होता, किन्तु गवेषणा की दृष्टि से इन निबन्धो का विचार-संचयन आलोचना के क्षेत्र मे अपनी यत्किंचित् देन रखता अवश्य है। इन निबन्धों की विवेचना-शैली और चिन्तन-शक्ति से इतना अवश्य अनुमान किया जा सकता है कि यदि डा० बडथ्वाल हमारे बीच आज तक विद्यमान रहते और उन्हे अल्पायु मे ही काल-कलवित न होना पड़ता तो वे निश्चय ही समालोचना के शोध-क्षेत्र मे एक विशेष प्रकार की प्रौढि लाकर अपना और भी महत्त्वपूर्ण स्थान बना सकते थे।

१२९. डा० बडथ्वाल के नाथ-पन्थ और सन्त-मार्गी आलोचनात्मक निबन्धो का एक महत्त्व यह भी है कि वे उनके शोध-कार्य के द्वारा हमे निर्गुणी सन्त कवियो की पूर्ववर्ती पृष्ठभूमि को स्पष्ट कर ऐतिहासिक समालोचना की अभिवृद्धि मे सहयोग देते है। वस्तुत. उस समय तक हिन्दी साहित्य के इतिहासकारो ने इन क्षेत्रो मे बहुत कम काम किया था, अतः इतिहास-निर्माण मे भी इन लेखो का अत्यधिक महत्त्व सिद्ध होता हैं। 'मूल गोसाईं चरित' और 'ज्ञ' के उच्चारण को लेकर बडथ्वालजी ने जो विवेचन किया है उससे स्पष्ट होता हैं कि उनमे सामयिक साहित्य-प्रवादो और समस्याओं को लेकर व्यंग्यपूर्ण विधि मे विरोधी पक्ष की अपूर्णताओं को अभिव्यक्त करने की जितनी अधिक क्षमता थी, वे तुलनात्मक दृष्टि का निर्वाह भी उतनी ही प्रखरता से किया करते थे। इन निबन्धो से उनकी सहज भावुकता का भी पता चलता है और सस्मरण लिखने की योग्यता का भी। निश्चय ही उनमे एक अद्भुत विवेक-शक्ति थी, जिसके कारण वे सत्य की खोज मे कभी पीछे नही हटते थे और डा० भगीरथ मिश्र ने उनमे एक साहित्यिक तपस्वी की जो साधना देखी है, वह यथार्थ है। वस्तुतः डा० बडथ्वाल के देहावसान से हिन्दी-साहित्य के समालोचना-जगत् को बडी हानि हुई है, इसमें मतभेद हो ही नही सकता।

७. डा० रामकुमार वर्मा

१३०. डा० रामकुमार वर्मा आजकल हिन्दी एकाकीकारो की श्रेणी मे अपना अग्रगण्य स्थान रखते है, किन्तु इनका कवि और समालोचक का व्यक्तित्व भी अपने ढंग का अनुपम है। वर्माजी का साहित्य-क्षेत्र मे सर्वप्रथम आगमन रहस्यवादी कवि के रूप मे हुआ था, किन्तु शनैः-शनैः वे विश्वविद्यालयी अध्ययन-अध्यापन के द्वारा समालोचना के क्षेत्र मे भी अपनी प्रतिभा प्रदर्शित

करने लगे। 'साहित्य-समालोचना' उनकी प्रारम्भिक समीक्षा-कृति है जिसमे उन्होने काव्य, नाटक, उपन्यास और समालोचना आदि विभिन्न साहित्यागो पर सैद्धान्तिक विश्लेषण किया है। उनके विश्लेषण पर पाश्चात्य समालोचना-पद्धति का अधिक प्रभाव है और उनकी यह पुस्तक भी एक प्रकार से विश्वविद्यालयो के स्नातको के लिए ही लिखी हुई प्रतीत होती है। इसमे गंभीर गवेषणा के स्थान पर साहित्य के सामान्य सिद्धान्तो का ही सुबोध विश्लेषण हुआ है। हाँ, रामकुमारजी की भावप्रवण भाषा शैली का प्रभाव उस पर अवश्य दृष्टिगोचर होता है।

१३१ डा० वर्मा के समालोचक-स्वरूप का परिष्करण हमे उनकी 'कबीर का रहस्य-वाद' नामक पुस्तक मे मिलता है। वस्तुत· कबीर-साहित्य के अनुशीलन ने ही उन्हे साहित्य-जगत् का समालोचक बनाया था। उसमे कबीर का प्रामाणिक जीवन प्रस्तुत करने का तो प्रयत्न है ही, किन्तु उसके साथ-साथ उनके काव्य के आधार पर रहस्यवाद, आध्यात्मिक विवाह, हठयोग, सूफीमत तथा गुरु और विभिन्न चक्रो का भी अत्यन्त सुलझा हुआ विवरण है। इस पुस्तक की रचना मे वर्माजी ने अग्रेजी तथा बगला के अनेक ग्रन्थो का भी आधार लिया है, वह उनके उद्धरणो और प्रमाणो से सिद्ध होता है। आज कबीर के जीवन-दर्शन और साहित्य-समीक्षण को लेकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वानो ने एतद् विषयक अध्ययन की दिशा को बहुत आगे बढा दिया है, किन्तु किसी समय रामकुमारजी का 'कबीर का रहस्यवाद' कबीर-विषयक समीक्षाओ मे सर्वोपरि स्थान रखता था। इसके अतिरिक्त वर्माजी ने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' भी लिखा है जिसके सात प्रकरणो मे हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और विकास, सिद्ध-जैन-साहित्य, चारणकाल और भक्तिकाल की प्रवृत्तियो और कृतिकारो का अत्यन्त विशद विवेचन किया गया है। उन्होने अपने इस इतिहास ग्रन्थ से पूर्व किए गए साहित्येतिहासो का क्रमबद्ध विश्लेषण कर इतिहास ग्रन्थ से सम्बन्धित प्राय. समस्त उपलब्ध सामग्री का सकलन एक ही पुस्तक मे कर दिया है, जिसके कारण साहित्यानुशीलक को इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नही रहती। उनके पूर्व इस प्रकार का प्रयत्न किसी अन्य विद्वान् द्वारा नही किया गया था। इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९३८ मे हुआ और उन्हे इसी पर नागपुर विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० की उपाधि भी प्रदान की। हमे आशा थी कि वर्माजी इसी प्रकार का विवरण-प्रधान विवेचन हिन्दी साहित्य के अवशिष्ट भाग रीति-काल और आधुनिक काल पर भी करेगे, किन्तु अभी तक उनकी लेखनी से इस ओर किसी भी रचना के रूप मे इसके पूरक ग्रन्थ का प्रकाशन नही हुआ है। इस प्रकार उनके इतिहास-लेखन का यह कार्य अपूर्ण-सा है। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्माजी ने किन्ही विशेष प्रकार की परिस्थितियो से अभिभूत होकर ही इस आलोचनात्मक इतिहास की रचना की थी, किन्तु कालान्तर मे इन्हे इसकी पूर्ति के लिए प्रयत्नशील होने की कोई आवश्यकता नही अनुभव हुई। कहने की आवश्यकता नही कि उनके इस ग्रन्थ मे साहित्य के इतिहास-लेखन की किसी व्यक्तित्व प्रधान-सतुलित शैली का निर्वाह बहुत कम हुआ है, अत इसे साहित्येतिहास-विषयक आदर्श रचना कहने मे सकोच रहता है।

१३२. 'साहित्य-शास्त्र', डा० वर्मा के शुक्लोत्तर-युग की समालोचना-कृति है। इसमे उन्होंने 'पूर्व और पश्चिम के आलोचना सिद्धान्तो की सन्धि मे हिन्दी-साहित्य की मूल प्रकृति पर मौलिक विवेचना' प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इसका प्रमुख उद्देश्य साहित्य के इतिहास तथा समालोचना का एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण उपस्थित करने के साथ-साथ यह भी प्रतिपादित करना है कि हिन्दी-साहित्य मे समालोचना की अन्तर्दृष्टि क्या होनी चाहिए। लेखक ने अपने बीस वर्षों के समालोचना-सिद्धान्तो के अध्यापन की अनुभूति का निचोड़ इस पुस्तक मे भर दिया है। इसका प्रतिपाद्य विषय मुख्यत· साहित्य है जिसका अत सम्बन्ध जीवन, राष्ट्र और विज्ञान से जोड़ने के पश्चात् इस विषय की भी विवेचना की गई है कि उसकी मूलभूत सृजन

प्रेरणा क्या है और उसमे रस तथा मनोविज्ञान की स्थिति किस रूप मे रहती है। इनके अतिरिक्त इसमे साहित्य का प्रयोजन और इष्ट, साहित्य की शैली तथा उसके विस्तार की दृष्टि का भी विश्लेषण हुआ है। इसका 'अलिखित साहित्य' शीर्षक प्रकरण भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि इस कृति मे गम्भीर गवेषणा और सूक्ष्म चिंतना तो नही मिलती, जिसके आधार पर वर्माजी ने समालोचना के सैद्धान्तिक पक्ष मे कोई अभिनव मान्यताओ का प्रस्फुरण किया हो, किन्तु इसके प्रतिपादन मे जिस भावमयी मधुरिमा का सरस प्रवाह है, वह निश्चय ही मौलिक और हृदयहारी है। उनका साहित्य का मूल्याकन विषयक दृष्टिकोण भी अत्यन्त व्यापक है और इसके अध्ययन मे कई स्थलो पर तो काव्य का सा आनन्द उपलब्ध होता है। वर्माजी की एक अन्य समालोचना पुस्तक 'विचार-दर्शन' के नाम से भी प्रकाशित हुई है, किन्तु उनके एकाकी नाटककार के व्यक्तित्व के आगे उनकी समालोचक-प्रतिभा हतप्रभ है। वैसे वे प्रयाग विश्वविद्यालय मे हिन्दी प्राध्यापक होने के कारण समयानुकूल साहित्यालोचन करने मे यथावसर उद्यत रहते हैं।

अन्यान्य समालोचक

१३३. विकास-काल के अन्य समालोचको मे डा० केसरीनारायण शुक्ल, डा० कन्हैया लाल सहल, श्री कृष्णानन्द गुप्त, श्री कृष्णशंकर शुक्ल, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डा० श्रीकृष्णलाल, श्री गणेशशकर द्विवेदी, प० चन्द्रबली पाण्डेय, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, डा० दीनदयाल गुप्त, पं० परशुराम चतुर्वेदी, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० भगीरथ मिश्र, श्री प्रभुदयाल मित्तल, डा० माता-प्रसाद गुप्त, डा० सोमनाथ गुप्त, डा० मुन्शीराम शर्मा, डा० देवराज उपाध्याय, डा० देवराज, श्री राहुल साकृत्यायन, डा० रामरतन भटनागर, प० रामनरेश त्रिपाठी, पं० रामदहिन मिश्र, व्यौहार राजेन्द्रसिंह गौड, प्रो० शिवनाथ, डा० सत्येन्द्र, डा० सुधीन्द्र, प० गिरिजादत्त शुक्ल आदि प्रमुख है। इनमे से अधिकाश विद्वान् विश्वविद्यालयो मे हिन्दी-साहित्य के प्राध्यापक हैं और उन्होने शोध-कार्य के माध्यम से ही हिन्दी-समालोचना को विकसित बनाने का प्रयत्न किया है। जहाँ तक ऐतिहासिक और विवेचनात्मक प्रणाली से समालोच्य विषय का तथ्यपरक विश्लेषण करने का क्षेत्र है, इन विद्वानो ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। डा० केसरीनारायण शुक्ल ने शुक्ल-युगीन मान्यताओ और परम्पराओ का अनुगमन करते हुए 'आधुनिक काव्यधारा' नामक अपनी शोध-कृति प्रस्तुत की है, जिसमे आधुनिक युग के विभिन्न उत्थानो का देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सास्कृतिक स्थिति का ध्यान रखते हुए विवेचन किया गया है। इस पुस्तक का डी० लिट् के प्रारम्भिक अधिनिबन्धो मे विशेष महत्त्व है। यद्यपि इसके विश्लेषण मे लेखक अधिक गहराई तक नही गया है, फिर भी प्रतिपादन की स्पष्टता और सुबोधता की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसके अतिरिक्त केसरीनारायणजी ने 'आधुनिक काव्य-धारा का सास्कृतिक स्रोत' भारतेन्दु के निबन्ध, 'किंजलक', 'मानस की रूसी भूमिका' तथा रूसी साहित्य' नामक अन्य पुस्तके भी लिखी है। इनमे कुछ तो निबन्धो के सकलन और सम्पादन है तथा कुछ आधुनिक साहित्य की गतिविधियो को निर्दिष्ट करने वाली रचनाएँ हैं।

१३४. डा० कन्हैयालाल सहल राजस्थान के एक उदीयमान समालोचक है। वे कई वर्षों से 'साहित्य-सन्देश' पत्र मे अपने स्फुट समालोचनात्मक निबन्ध लिखते रहे हैं, जिनके अधिकाश निबन्धो के सग्रह पुस्तको के रूप धारण कर चुके है। 'आलोचना के पथ पर', 'समीक्षायण' 'दृष्टि-कोण' तथा 'विवेचन' इसी प्रकार के निबन्धो के सग्रह हैं, जिन मे उनकी स्फुट समालोचक-प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। उनकी समालोचना के विषय सामयिक तथा छात्रोपयोगी ही अधिक हैं। साधारणीकरण, रसानुभूति तथा वाद-समीक्षाओ पर भी उन्होने बहुत कुछ लिखा है, किन्तु उनमे मौलिक उद्भावनाएँ बहुत कम हैं। इसका कारण यह है कि सहल जी का अधिकतर ध्यान

राजस्थान के प्राचीन साहित्य की शोध और ख्यातो तथा बातो का चयन करने की ओर ही विशेष रहा है। हाँ, उन्होने 'साकेत' के नवम सर्ग का 'काव्य वैभव' जिस व्याख्यात्मक प्रणाली मे लिखा है, वह विशेष महत्त्वपूर्ण है। 'कामायनी-दर्शन' प्रो० विजयेन्द्र स्नातक के साथ लिखी हुई उनकी समीक्षा-कृति है, जिसमे प्रसादजी के साहित्य का विश्लेषण अत्यन्त उदारतापूर्वक किया गया है। वैसे राजस्थान की कहावतो पर अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर उन्होने अन्य प्रान्तीय साहित्यो की कहावतो पर भी इसी प्रकार का शोध-कार्य करने की एक प्रेरणा दी है।

१३५. श्री कृष्णशकर शुक्ल की प्रसिद्धि का मूल कारण उनका आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास है, जिसमे उन्होने पं रामचन्द्र शुक्ल के पदचिन्हो का अनुगमन करते हुए ही आधुनिक युग की विभिन्न प्रवृत्तियो और साहित्यधाराओ का विवेचन किया है। साहित्यकारो के विवेचन मे उनकी दृष्टि आचार्य शुक्ल जी के ही अधिक अनुरूप है और शैली मे भी उसी का अनुकरण है। हाँ, छायवादी और रहस्यवादी कवियो के प्रति वे आचार्य से कुछ उदार रह सके हैं। वैसे इनकी मान्यताएँ भी शास्त्रीय और नवीन की अभिसधि से सरक्षित है। 'केशव की काव्य-कला' नामक कृति तो शुक्ल-युग मे विशेष सम्मान-प्राप्त पुस्तक रही है और आज भी उसका महत्त्व है। 'कविवर रत्नाकर' का भी इन्होने जो विशुद्ध विवेचन किया है, वह विकास-काल की समालोचना के उदात्त मानदण्ड का प्रतीक है।

१३६. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का प्रमुख क्षेत्र सन् १८५७ की राज्य-क्रान्ति के पश्चात् भारतेन्दु-युग तक के साहित्य का शोधपूर्ण और तथ्यपरक अध्ययन करना रहा है। विश्वविद्यालयो के स्नातको ने आधुनिक ढग की वैज्ञानिक प्रवृत्ति का अनुसरण करते हुए जिस प्रकार की तथ्यपरक ऐतिहासिक पद्धति को अपनी समालोचनाओ का विषय बनाया था, उनमे वार्ष्णेय जी का स्थान प्रमुख है। फोर्ट विलियम कालेज (१८२० से १८५४ तक) पर सब से अधिक सामग्री इन्होने ही प्रदान की है। सन १७५७ से १८५७ तक विकसित होने वाले हिन्दी साहित्य की सास्कृतिक भूमिका का विश्लेषण कर इन्होने प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की है। आधुनिक हिन्दी साहित्य तो उनके डी० फिल की थीसिस का ही हिन्दी रूपान्तर है। जिसमे सन् १८५० से १९०० तक हिन्दी साहित्य की प्रमुख साहित्य-विधाओ के विकास का विश्लेषण किया गया है। शोध-कार्य के लिये जिस प्रकार की व्यवस्थित और सयत शैली होनी चाहिए, वह वार्ष्णेय जी की रचनाओ मे उपलब्ध हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनकी विचारधारा पर भी इन्होने महत्त्वपूर्ण समीक्षण किया है। 'साहित्य-चिन्तन' और 'निबन्ध-नवनीत' उनके भिन्न-भिन्न समयो पर लिखे गये निबन्धो के सग्रह हैं, जिनका प्रमुख विषय आधुनिक हिन्दी साहित्य ही है। वस्तुत वार्ष्णेय जी का विवेच्य क्षेत्र भी हमारा आधुनिक काल ही है। उन्होने 'भारतदुर्दशा' और 'चन्द्रावली नाटिका का सम्पादन कर भारतेन्दु-युग की नाट्य-परम्परा और इन कृतियो का विश्लेषण भी किया है। अभी हाल ही में उनका फ्रासीसी विद्वान् तासी द्वारा लिखे गये हिन्दी साहित्य के इतिहास का अनुवाद 'हिन्दुई साहित्य का इतिहास' के नाम से प्रकाशित हुआ है, जो एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रथ है।

१३७. इसी प्रसग मे डा० श्री कृष्णलाल का नामोल्लेख करना भी आवश्यक है। डा० वार्ष्णेय ने आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास को अपने शोध-कार्य द्वारा सन् १९०० तक लाकर छोड दिया था, उसको आगे बढाने का कार्य डा० लाल ने किया है। "आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास" उनकी डी० फिल० की थीसिस है, जिसमे सन् १९०० से १९२५ तक की साहित्यिक प्रवृत्तियो का विवेचन हुआ है। उनकी अन्य समीक्षा-कृतियो मे 'मानस-दर्शन' 'मीराबाई' आदि हैं। वैसे हिन्दी कहानियाँ शीर्षक कहानी-सग्रह की भूमिका भी पठनीय है।

१३८. पं० गणेशशकर द्विवेदी वैसे तो शुक्ल-युग के समालोचक हैं, किन्तु उनकी विचार-

धारा मध्यकालीन साहित्य का तत्त्वान्वेषण करने मे अधिक सहानुभूति पा सकी है। वीर-काव्य, संत-काव्य, और प्रेमगाथा-काव्यो के सग्रहो की भूमिकाएँ इसका प्रमाण है। उनकी प्रतिपादन-शैली मे समालोचना की उस सर्वग्राह्य पद्धति का ही परिपालन हुआ है, जिसमे किसी भी समालोचक अथवा कृति का विश्लेषण शास्त्रीय परम्परा के प्रमुख सिद्धान्तो के आधार पर किया जाता है। प० परशुराम चतुर्वेदी को भी मध्यकालीन साहित्य-कोष का ही पारखी समालोचक कहा जा सकता है। 'सूफी काव्य' 'सत-काव्य 'मध्यकालीन प्रेम-साधना 'हिन्दी काव्य-धारा मे प्रेम-प्रवाह' 'कबीर-साहित्य की परख' तथा 'भारतीय साहित्य की सास्कृतिक परम्परा' इनकी समालोचनात्मक पुस्तकें है। वैसे 'उत्तरी भारत की संत परम्परा' लिखकर इन्होने इस क्षेत्र मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

१३६. भक्ति काल की कृष्णभक्ति शाखा के प्रमुख अंग वल्लभ सम्प्रदाय और अष्ट छाप का दो भागो मे व्यापक अध्ययन प्रस्तुत कर डा० दीनदयाल गुप्त ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उनके पूर्व इस प्रकार के अध्ययनो की कोई समृद्ध परम्परा नही थी। उन्ही के क्षेत्र मे श्री प्रभुदयाल मित्तल का 'अष्टछाप-परिचय' भी गण्यमान विवेचन है। ब्रजभाषा साहित्य का 'नायिका भेद' तथा 'ब्रजभाषा साहित्य का ऋतु सौन्दर्य' 'मित्तल जी की महत्त्वपूर्ण समीक्षा कृतियाँ' हैं। सूरदास के सम्बन्ध मे की गई शोधो का सदुपयोग करते हुए इन्होने 'सूर-निर्णय' नामक पुस्तक भी लिखी है जिसमे शोध प्रिय छात्रो को सूर-विषयक सभी प्रकार की आवश्यक सामग्री का समन्वय मिल जाता है। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने भी अष्टछाप और सूरदास-साहित्य को वैज्ञानिकसरणि से प्रस्तुत करने का अच्छा प्रयास किया है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने तुलसी-साहित्य, डा० मुन्शीराम शर्मा ने सूर-साहित्य और डा० भगीरथ मिश्र ने रीतिकालीन काव्य-शास्त्र के अच्छे अध्ययन प्रस्तुत किये हैं। डा० सत्येन्द्र की 'गुप्त जी की कला' और 'साहित्य की झाँकी' भी विकास-काल की अच्छी रचनाएँ हैं। डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने 'प्रसाद के नाटको का शास्त्रीय अध्ययन' प्रस्तुत कर इस दिशा मे कार्य करने वाले अनुसन्धाताओ को नवीन मार्ग प्रदर्शित किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि शुक्ल-युग मे हिन्दी-समालोचना का जो विकास हुआ है उसे अनेक विद्वानो ने अपनी-अपनी अभिरुचि और क्षमता के अनुसार सहयोग दिया है। इन समालोचको और शोध-कर्त्ताओ, का समीक्षण-कार्य अब भी चल रहा है; किन्तु अपनी विचारधाराओ और विश्लेषण-प्रवृत्तियो मे वे शुक्ल-युग के अधिक निकट होने के कारण ही इस विकास-काल के अन्तर्गत ही विवेचित किये गये हैं, जिन पर तिथि-निर्धारण की सीमा का कठोर सिद्धान्त के रूप मे सगठन करना अनुचित नही है।

अष्टम अध्याय

समालोचना का प्रसार-काल—१

(शुक्लोत्तर-युग)

प्रसार की विकासमान दिशा

१. 'शुक्लोत्तर-युग' वस्तुत. आधुनिक हिन्दी-समालोचना का प्रसार-काल है। इस युग के समालोचको मे शुक्लजी के कृतित्व और व्यक्तित्व के समान भले ही प्रौढि न मिले, किन्तु इस तथ्य का भी निषेध नही किया जा सकता कि उनके द्वारा जीवन के विकासमान दृष्टिकोणो को साहित्य-क्षेत्र मे अवतीर्ण करने की स्वतन्त्र चेष्टाएँ की गई है। वर्तमान जीवन-दर्शन के अन्तर्गत सौष्ठव-विधान-सयोजन तथा समाजशास्त्रीय और मनोविश्लेषणवादी व्यवस्थाओ का प्रस्फुरण जिस रूप मे हुआ है, वह इस युग की समालोचना का मूलाधार है। इनके साथ ही साथ इस युग ने साहित्य-धारा को रूढि-परम्परा से मुक्त कर उसे एक सौन्दर्य-विधायक प्रतिमान से समीक्षित करने का भी दृष्टिकोण प्रदान किया है, जो कतिपय समालोचको की दृष्टि से सौष्ठववादी विधान कहा जा सकता है। इसमे कोई सन्देह नही कि इस युग की प्रवृत्तियो द्वारा शुक्ल-युग का विकास प्रसारित हुआ और उसमे व्यापकता भी आई, किन्तु समालोचना के क्षेत्र मे जिसे प्रौढ-वशिष्ट्य का निर्माण कहा जा सकता है, वैसा कतिपय तत्वाभिनिवेशी समालोचको की कृतियो को छोडकर अधिक नही हो सका। माना कि इस युग ने प्राचीन परम्पराओ और मान्यताओ की सकीर्णता को दूर करने मे अथक प्रयत्न किये, किन्तु साहित्यालोचन के क्षेत्र मे भी जो सम्मिलन और समन्वय की भावभूमि का महत्त्व होता है, वह वादैषणाओ की प्रबलता के कारण अधिक अशो मे उद्घाटित नही हो सका। इसका एक प्रमुख कारण तो यही प्रतीत होता है कि इस युग के समालोचको के मानसिक धरातल के मूल मे अध्ययन का विशेष बल तो है, किन्तु उनमे चिन्तन और मनन की उस चर्वण-शक्ति की न्यूनता है जो उन्हे स्वतन्त्र प्रतिमान-सृजन के लिए भावन-वृत्ति प्रदान करती है। इसमे कोई सन्देह नही कि इस युग की मान्यताओ का स्पष्टीकरण अधिकांशत. समालोचनात्मक निबन्धो के कलेवर मे ही सकेन्द्रित हो गया, जिनमे पिष्ट पेषण और पुनरावृत्ति के अश भी समाविष्ट है, किन्तु सब कुछ होते हुए भी इस युग की समालोचना को प्रसारपूर्ण मानना सर्वथा युक्तिसगत ही है, क्योकि उसके द्वारा हमारा समालोचना-साहित्य निश्चय ही अपने विकास की परवर्ती स्थिति उपलब्ध कर सका है।

नामकरण और प्रसार-काल के दृष्टि-बिन्दु

२. आधुनिक हिन्दी समालोचना के प्रसार काल को 'शुक्लोत्तर-युग' के नाम से अभिहित करने का प्रमुख कारण यही है कि इस युग मे शुक्लजी के समकक्ष ऐसा कोई व्यक्तित्व दृष्टि-गोचर नही होता, जिसकी समन्वयकारिता और प्रभाविष्णुता के आधार पर यह कह दिया जाय कि उसमे युग-संचालन की पूर्ण क्षमता है। इस युग के अधिकाश समालोचक अपनी-अपनी मान्यताओ और जीवन-आस्थाओ मे सग्रस्त होकर केवल एकपक्षीय प्रतिमानो से ही साहित्य-समीक्षण करते हैं, जिसका स्पष्ट आशय यही है कि उनमे युग-नेतृत्व की शक्ति की न्यूनता है। इसमे कोई सन्देह नही कि प्रत्येक विचारक की भाँति समालोचक का भी एक मानसिक धरातल होता है, जिसका

के प्रसार-काल की प्रमुख प्रवृत्ति माना है। इस श्रेणी की समालोचना ने हमारी विकास-परम्परा को किस प्रकार आगे बढाया, इसका विवेचन यथास्थान किया जायगा। यहाँ पर तो केवल इसी बात का सामान्य सकेत करना अभीष्ट है कि जीवन-दर्शन और काव्य-निर्माण के स्वाभाविक क्रम के अनुरूप ही हिन्दी-समालोचना को भी 'विकास' से 'प्रसार' की दिशोपलब्धि हुई है।

प्रसार-काल की अन्तश्चेतना और उसके विभिन्न स्वरूप

४. शुक्ल-युग की मान्यताओ को उसके परवर्ती शुक्लोत्तर-युग ने जिन कारणो से स्वीकार नहीं किया, उसका एक सास्कृतिक, साहित्यिक और सामाजिक आधार भी है। बात यह है कि समालोचना-क्षेत्र में शुक्ल-युग का प्रवर्त्तन जिन-जीवन-आस्थाओ के अनुरूप हुआ था, उनमे देश की परिवर्तित परिस्थिति के अनुसार उत्क्रान्ति होने लगी थी। राजनीतिक वातावरण मे राष्ट्रपिता महात्मा गाधी के जीवन-दर्शन ने जिस प्रकार की विचारधारा को अधिक प्रश्रय दिया, उसका साहित्य-रचयिताओ के मानस पर भी अपेक्षित प्रभाव पडा, जिसके फलस्वरूप साहित्य की मनोभूमिका मे अन्तर आने लगा। साथ ही साथ अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण और जीवन-प्रतिमानो ने भी उसमे परिवर्तन के लक्षण संघटित कर दिये, जिसकी प्रतिक्रिया साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र मे भी हुई। यही समय था जब विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीताजलि' की धूम साहित्य-ससार मे मच गई, जिससे अप्रभावित रहना साहित्यकारो के लिए असम्भव सा था। इस समय तक शिक्षित वर्ग मे अंग्रेजी साहित्य की स्वच्छन्दतावादी धारा के कवियो जैसे वर्डस्वर्थ, कीट्स, शैली तथा टेनीसन आदि काव्य-कृतियों का जादू सर पर चढ़कर बोलने लगा था, अत वे स्वभावत. उनकी भाव-माधुरी और काल्पनिकता की ओर आकर्षित होने लगे। अपने भौतिक जीवन की प्रतारणा और विश्व की वेदनाजनक विषमता ने काव्यकारो को अतर्जगत् की ओर विशेष उन्मुख किया, जिसके कारण वे कल्पनाजीवी बनकर अज्ञात लोक से अपना सम्बन्ध जोडने लगे। इन काव्यकारो को भौतिक जीवन की स्वार्थपूर्ण दृष्टि मे ऐसी क्षुब्धता मिली, जिसके कारण वे अपने को भुलावा देकर अध्यात्म लोक की ओर बढचले। कहना होगा, इस आध्यत्मिकता मे वास्तविकता की झकृति तो बहुत कम लोगो मे थी, किन्तु युग-प्रवाह मे वैयक्तिक अनुभूति का दुरुपयोग भी कम नही हुआ। इस प्रकार का परिवर्तित वातावरण साहित्य-समालोचना के क्षेत्र मे भी किसी अभिनव मार्ग को ग्रहण करने की प्रेरणा का कारण बना, जिसके फलस्वरूप एक नूतन भाव-शैली और रचना-प्रक्रिया की सृष्टि अनिवार्य हो गई। शुक्ल-युग के उत्तरवर्ती युग की समीक्षाओ मे विकास की इस दिशा का अनुसन्धान स्वाभाविक-क्रम मे किया जाना सर्वथा सम्भव है।

५. आधुनिक हिन्दी-समालोचना के प्रसार-काल मे जिन प्रमुख समालोचको को स्थान दिया गया है, वे आज भी अपने समीक्षण-कार्य मे दत्तचित्त है और उनके द्वारा सामयिक साहित्यालोचन के उपयुक्त मार्गानुसन्धान के प्रयास अब भी निरन्तर गति से किये जा रहे है। वैसे तो इन समालोचको का साहित्य-क्षेत्र मे आगमन द्विवेदी-युग तथा शुक्ल-युग में ही हो गया था, किन्तु उन युगो मे इनके व्यक्तित्व का ऐसा निर्माण नही हो सका जो प्रौढ़ तथा स्थायी कहा जा सके। द्विवेदी-युग मे तो इन समालोचकों ने कलम पकडनी सीखी ही थी और शुक्ल-युग मे वे प० रामचन्द्र शुक्ल की प्रखर प्रतिभा के आगे हतप्रभ थे, अत: वे समालोचन-साहित्य को उस समय ऐसी उपलब्धि नही प्रदान कर सके जो साहित्य के मूल्याकन का महत्त्वपूर्ण प्रतिमान बन सकने मे असमर्थ हो। इन समालोचको मे स्वच्छन्दवादिता की प्रवृत्ति प्रारम्भ ही से रही, किन्तु प्रारम्भिक वर्षों मे वह स्वतन्त्र चेतना के प्रौढ निर्माण का स्वरूप नही ग्रहण कर सकी। शनैः-शनैः देश के राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन मे होने वाले परिवर्तनों ने उसे अपनी नवीन दिशा में ही विकासोन्मुख बनने को प्रेरणा दी, जिसको परिपुष्ट बनाने मे तत्कालीन रचनात्मक साहित्य भी सहयोगी बना।

कहना होगा, शुक्ल-युग के अवसान के कुछ पूर्व साहित्य में जिस सौन्दर्य-विधायिनी और प्रगतिवादी विचारधारा का प्रचलन होने लगा था, उसने इन समालोचको को परम्परा का परित्याग कर साहित्य के प्रति मानव-जीवन की मूल भावनाओ को लेकर चलने का दृष्टिकोण प्रदान किया और ये समीक्षक यथार्थ की मनोभूमि मे उतर कर अपना सौन्दर्य-परक, समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने लगे। इन समालोचको ने केवल भारतीय साहित्य-शास्त्र की सैद्धान्तिक परम्परा को ही पूर्ण नही माना, अपितु ये पाश्चात्य साहित्यालोचन की ओर भी महती जिज्ञासा से अनुधावित हुए। यद्यपि इन समालोचको मे अधिकाश केवल पश्चिम की नवीन चमक-दमक से चकित होकर उन्हीं के प्रवादो को साहित्य-समीक्षण का अगी मानकर चलने लगे, किन्तु कतिपय ऐसे समालोलक भी रहे जिन्होने अपनी भावुकता और बिछलन पर विवेक का अकुश रखते हुए दोनो मे अपेक्षित समन्वय और सन्तुलन लाने का भी प्रयत्न किया। कहने की आवश्यकता नही कि तब तक विश्वालोक मे विकसित होने वाली समालोचना-प्रणाली पर भी विविध प्रकार की मान्यताओ की छाया प्रतिविम्बित होने लगी थी, अत इन समालोचको ने भी अपने मानसिक स्तर के अनुरूप उससे उपयोगी विचार-सामग्री ग्रहण की। इन समालोचको ने अधिकतर साहित्यालोचन की निबन्ध-प्रणाली मे ही अपनी समीक्षाएँ प्रस्तुत की थी. अत उनमे शुक्लोत्तर-युग की विभिन्न आस्थाओ का यथाक्रम आभास मिला। यही कारण है कि मैंने प्रसार-युग की प्रमुख प्रवृत्तियो के साथ उन समालोचको का अलग-अलग मूल्यांकन कर इन प्रवृत्तियो के विश्लेषण के पश्चात् ही उनका समीक्षण किया है जिसके द्वारा इस विषय की अभिज्ञता मे कोई कठिनाई नही हो कि उनकी विचारधारा पर मनोविश्लेषणवाद का अधिक प्रभाव है या समाजशास्त्रीय प्रगतिवाद का। वैसे तो समालोचना के इस प्रसार-काल की भाँति समालोचकों की सख्या मे भी पर्याप्त प्रसार हुआ है किन्तु उनकी मौलिक उपलब्धि हमारी आधुनिक समालोचना की एक विचारणीय विषय-सरणि बनी हुई है। अतः मैंने केवल उन्ही समालोचको पर विमर्श किया है जो अपनी किन्ही विशेष मान्यताओ अथवा धारणाओं द्वारा समालोचना-साहित्य के सृजन मे अपना स्थान बना सके है।

६. प्रसार-काल की समालोचनाओ का मूल प्रेरक भी काव्य-साहित्य ही रहा है, जिसका उसके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों पर यथेष्ट प्रभाव है। यद्यपि नाटक, उपन्यास और कहानियो पर भी इस युग मे सैद्धान्तिक निरूपण हुआ है, किन्तु प्राधान्य काव्य-साहित्य का ही है। एक प्रकार से इस युग की समालोचनात्मक मान्यताओ और शिल्प-प्रणालियों का निर्माण भी काव्य-साहित्य के माध्यम से ही हुआ। अतः मैंने उनको अपने विवेचन का केन्द्र-बिन्दु बनाकर इस युग की चार प्रमुख प्रवृत्तियाँ मानी हैं, जिन्हे छायावादी, प्रगतिवादी, मनोविश्लेषणवादी और प्रयोगवादी प्रवृत्तियाँ कहा गया है। इन प्रवृत्तियो द्वारा हिन्दी समालोचना को जो कुछ भी उपलब्धि हुई है, उसमे कुछ तो अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और कुछ केवल अनुकरणमूलक है। इनमे कुछ प्रवृत्तियाँ तो अब भी अपना स्वरूप-निर्माण करने की ओर उन्मुख है। आगे के पृष्ठो मे इन प्रवृत्तियों का सामान्य विश्लेषण कर यही स्पष्ट किया जायगा कि उनकी कौन-कौन सी विशेषताएँ अथवा न्यूनताएँ हैं तथा वे हमारे साहित्यालोचन के विकास मे कहाँ तक सहायक बनी है।

छायावाद-युग और सौन्दर्यमूलक स्वच्छदतावादी समालोचना

स्वच्छंदतावादी समालोचना का जन्म और उसका अभिनव परिवेश

७. द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता और बाह्य निष्ठा की प्रतिक्रिया मे जिस छायावाद का जन्म हुआ, उसे प्रारम्भ में अपनी स्थिति को सुदृढ बनाने के लिए बडी कठिनाई झेलनी पडी, क्योकि उसके विरोध मे समालोचको का ऐसा प्रबल दल उठ खड़ा हुआ था, जिसने उसे किसी भी

परिस्थिति मे काव्य-क्षेत्र मे नहीं जमने दिया। अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए छायावादी कवियो को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा अन्यान्य समालोचको से यथेष्ट सघर्ष लेना पडा और वे अनवरत परिश्रम और निरन्तर अध्यवसाय के बल पर ही अपनी सत्ता स्थापित कर सके। छायावादी कवियो की विचारणा और मान्यताओ मे वस्तुत आत्मानुभूति की व्यजना का प्राधान्य था और उनके स्वर मे नैतिकता, आदर्श और सुधारवादिता की अतिरेकपूर्ण वस्तुपरकता के प्रति विद्रोह-सा था। अत युग की वांछनीयता को उसमे स्वेच्छावादिता के प्रति एक ललक-सी मिली और तत्कालीन साहित्यानुशीलक-वर्ग अपने सहज-भाव से उसकी ओर उन्मुख हो गया। सुतराम् छायावाद के नाम पर साहित्य मे रचनात्मक और विचारात्मक साहित्य की वृद्धि होने लगी, जिसके द्वारा विचार-क्षेत्र और भाव-लोक मे क्रान्ति का सृजन हुआ। निश्चय था कि इस छायावादी प्रवृत्ति के जन्म से हमारा समालोचना-साहित्य भी गति पाता और उसके दृष्टिकोण मे नवीनता का सचार होता और वस्तुतः हुआ भी ऐसा ही। छायावाद ने अपनी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के द्वारा रूढिग्रस्त शास्त्रीयता को एक कोने मे धकेल कर अपना डिण्डिमनाद करना आरम्भ किया और उसकी स्थिति सुदृढ बनती गई। कहना होगा, इस युग की रचनात्मक प्रवृत्तियो के साथ-साथ समालोचनात्मक मान्यताओ मे ऐसे भाव-स्फुलिंग प्रोद्भासित हो उठे थे, जिनमे आध्यात्मिकता, काव्य-सौष्ठव, स्वच्छदवादिता और सौन्दर्य-भावना की व्यापकता और प्रौढि थी। अत उसने निश्चय ही हमे विकास के चिन्ह प्रदान किए। अभिप्राय यह है कि छायावादी काव्य द्विवेदी-युग की साहित्य-प्रक्रियाओ को विकासोन्मुख बनाने का एक सुन्दर प्रयास था, जिसका सूत्र-संचालन काव्यकारों के रूप मे प्रसादजी, पतजी, निरालाजी और महादेवीजी ने किया तो उनके प्रशंसक समालोचको के रूप मे प० नन्ददुलारे वाजपेयी और श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि प्रमुख व्यक्ति आए।

८ छायावाद-युग के प्रवर्त्तन से जैसे नवीन कविता द्विवेदी-युग का अचल छोड कर अपने रूप-रग, वेश-भूषा और आकृति-प्रकृति मे अपने पूर्ववर्ती युग से भिन्न प्रणाली धारण कर सकी, वैसे ही उसके समानान्तर चलने वाली समालोचना ने भी अपना नूतन परिवेश ग्रहण किया। रचनात्मक साहित्य की भाँति समालोचना-साहित्य भी इस समय सैद्धान्तिकता और व्यावहारिकता की नई मान्यताओ और विवेचन की नूतन शैलियो के रूप मे प्रस्फुटित हुआ। यद्यपि अपने प्रारम्भिक रूप मे छायावादी काव्य दृष्टि मे कोई शास्त्रीय आधार अथवा सर्वमान्य प्रवृत्ति नही आ सकी थी, किन्तु कालक्रम से उसका विकास अवश्य होता गया, और विभिन्न आलोचको ने जिनमे प्रमुखता छायावादी कवियो की भी थी—अपनी अनुभूतियो और संवेदनाओ का आन्तरिक लेखा-जोखा करते हुए उन्हे निर्माण की एक निश्चित अवस्थिति देने का प्रयास किया। उनके सिद्धान्त-निरूपण मे वैभिन्य और समीक्षा-दृष्टि मे अवान्तर अर्थभेद होते हुए भी काव्य-परीक्षण का ऐसा सर्वग्राह्य प्रतिमान अवश्य प्रदर्शित होने लगा, जिसमे वैयक्तिकता की परिधि को व्यापक दिशा मे प्रमुख बनाने का जो प्रयत्न किया गया, वह कोरी शास्त्रीयता से बोझिल न होकर अपनी अनुभूतिजन्य विशुद्ध सौन्दर्य-भावना और विकासोन्मुख सास्कृतिकता के आश्रय पर अवलम्बित था। वस्तुत इन आलोचको ने काव्य का निरूपण किसी नीति अथवा आदर्श को उपलक्षण बना कर नही किया, अपितु उसे प्रकृत स्वरूप मे ही परिभाषित करने की चेष्टा की। उनकी विवेचना मे एक ओर जहाँ जगत् और जीवन से सामजस्य-स्थापन का प्रयत्न था तो दूसरी ओर उसे आध्यात्मिक चेतना से अनुप्राणित करने की सक्रिय चेष्टा भी थी। यदि इस युग के रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य का आकलन विशेष जागरूक दृष्टि से किया जाय तो यह सत्य सहज भाव से झलक जायगा कि इस युग के स्रष्टा और विचारक शनैः-शनै द्विवेदीजी और शुक्लजी के निर्धारित प्रतिमानों से दूर रह कर किसी व्यापक धरातल की ओर प्रगतिमान है, जिसमे सौन्दर्य और कला को उसकी विशुद्ध प्रकृति मे स्वीकार करने का अधिक आग्रह है। उनके विवेचन मे साहित्य-परीक्षण

का मनोवैज्ञानिक और सामाजिक दृष्टिकोण भी है अवश्य, किन्तु उसमे वैसा उभार नही मिलता, जैसा उसके परवर्ती काल मे दृष्टिगोचर होता है। इतना ही नही, इस युग के विवेचको ने काव्य के चरम साध्य रस और आनन्द को भी किसी मतवाद की सकीर्णकारा मे ग्राह्य न समझकर उसके चिरन्तन स्वरूप मे देखने का आयाम किया है। वस्तुत इन आलोचको की अभिव्यक्तियो मे साहित्य को सामाजिकता और राजनीतिकता के बाह्य परिवेश मे न ग्रहण कर भाव और कला की ऐसी पीठिका मे विवेचित किया गया है जिनसे कोई भी साहित्य और संस्कृति अमर बन सकती है।

९. यह तो एक स्पष्ट सत्य है कि छायावाद-युग की समालोचना अपने रचनात्मक साहित्य की भाँति रूढिग्रस्त शास्त्रीयता का निर्मोक छोड कर चली है, किन्तु उसकी उद्भावना स्वय कालान्तर मे अपना शास्त्रीय-आधार निर्माण कर सकेगी, ऐसा अनुमान अवश्य किया जा सकता है। आज छायावाद का युग समाप्त हो चला है, किन्तु उसका एक निश्चित स्वरूप और निर्धारित प्रतिमान भी बन सका है, इसमे कोई सन्देह नही किया जा सकता। सच तो यह है कि छायावादी समीक्षण के अतराल से ऐसे मूलभूत तथ्यो की उपलब्धि अवश्य की जा सकती है जो भले ही रस और अलकार की प्राचीन शैली का परित्याग कर चली हो, किन्तु जिसके मूल मे भावात्मकता और मनोवैज्ञानिकता की ऐसी दीप्ति अवश्य है, जिसके आधार पर उसका परिष्कृत सैद्धान्तिक निरूपण शास्त्रीयता की बानगी धारण कर सका है। इस युग की समालोचना का आकलन हमे रस, अलकार की स्थूल प्रणाली तथा निर्धारित लक्षण-वृत्ति का भले आभास न दे सके, किन्तु उसके अन्तर्गत समीक्षित साहित्य के कल्पना-पक्ष, भाव-सौन्दर्य और कला-वैशिष्ट्य का सास्कृतिक मनोभावनाओ के अनुरूप जो विश्लेषण हुआ है, वह निश्चय ही अपनी अभिव्यजना मे अत्यन्त मनोरम और ग्राह्य है। इस युग की समीक्षा का एक सत्य तो यही है कि उसके पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती समालोचको ने उसके एकागी और पलायनवादी दृष्टि-बिन्दु का जो संकेत अनेक स्थलो पर भर्त्सनापूर्ण शब्दो मे किया था, उसका कलात्मक परिहार इस युग के समीक्षको ने प्रस्तुत कर दिया है। वे अपने युग की स्वच्छदवादी भावुकता और अतश्चेतना का आधार सास्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक धरातल से भी स्पष्ट कर सके हैं।

१० छायावाद की समालोचना का विकास उसकी रचनात्मक साहित्य-प्रक्रिया के समानान्तर भी हुआ है। जैसे इस युग की साहित्य-कृतियो मे काव्य की वस्तुपरकता, कृत्रिम आलंकारिता, शास्त्रीयता, रूढिवादिता का एकात अभाव है, वैसे ही इस युग की समालोचना मे भी विषयो की नवीनता, भावो की स्वच्छदवादिता, भाषा की लाक्षणिकता और कल्पना की प्रचुरता तथा अभिव्यजना की विशिष्टता पर अधिक ध्यान दिया गया है। इस युग की रचनात्मक और विचारात्मक दोनो प्रकार की प्रवृत्तियो को पाश्चात्य साहित्य-धारा और चिरन्तन-भावना ने भी प्रभावित किया और साहित्य के विविध विषयो की भाँति समालोचना के प्रतिमानो मे भी नवीनता और व्यापकता का समावेश हुआ। काव्य-दृष्टि मे आत्माभिव्यजना और व्यक्तिपरकता का समावेश भी इस युग की एक विशिष्ट देन है। प्रबन्ध-काव्य के स्थान पर मुक्तक-काव्य और इतिवृत्त के स्थान पर गीति-परम्परा का ग्रहण भी इसी युग मे हुआ था। इस युग के समालोचको ने अपने-आपको केवल सामयिक साहित्य तक ही सीमित रखा हो, ऐसी बात भी नही है। वे परम्परागत साहित्य-प्रतिमानो को नवीन दीप्ति मे ग्रहण करने की ओर भी उन्मुख हुए है और उनके द्वारा प्राचीन साहित्य का अध्ययन और अनुशीलन भी किया गया है। प्राचीन कवियो की कृतियो मे उन्हे जहाँ भाव-प्रवणता और सौष्ठव की मात्रा अपने विशुद्ध स्वरूप मे मिली है, उनके काव्य-सौष्ठव मे भी वे आत्म-विभोर होते हुए चले है। यह इस युग के समीक्षको की ही देन है कि समालोचना मे प्रेम-प्रगीतो और जीवन की मूल प्रवृत्तियो का चित्रण करने वाले काव्य को प्रबन्ध-काव्यो और नीतिवादी साहित्य-सृष्टि से उच्चतर स्थान प्रदान किया गया है। उनकी समीक्षण-पद्धति मे एक

विशेष प्रकार की आत्मविभोरता और भावमयता का पुट भी स्थान-स्थान पर है, जिसे केवल प्रभाववादी समीक्षा के क्षेत्र तक ही परिसीमित नही किया जा सकता, अपितु जिसमे अनुभूति और सवेदना के माध्यम से शनै -शनै विश्लेषण-प्रवृत्ति के द्वारा शास्त्रीय संस्थापनो के निकटतर पहुँचने की भी चेष्टा है। उनके विश्लेषण मे काव्य के अतरग और बहिरग पुलिनो का भावमय सस्पर्श भी है और उसके वस्तु-सगठन और रचना-कौशल का विवेचन भी। अभिप्राय यह है कि छायावाद-युग की समालोचना अपने रूप और प्रकार मे आचार्य शुक्ल की मान्यताओ को आगे बढाने वाली और प्राचीनता की अपेक्षा नवीनता की ओर अधिक परिमाण मे उन्मुख है और उसके द्वारा जहाँ एक ओर रचनात्मक साहित्य को सौष्ठव-विधि से समझने और हृदयग्राही बनाने का कार्य हुआ है वहाँ दूसरी ओर नवीन सजना और प्रेरणा का प्रादुर्भाव भी होने से नही बच सका है। अत इस प्रणाली की समालोचना को शुक्लोत्तर युग अथवा आधुनिक हिन्दी समालोचना के प्रसार-काल की एक प्रमुख प्रवृत्ति के रूप से मान्यता प्रदान करना सर्वथा न्यायसगत है।

११ छायावाद युग की स्वच्छन्दतावादी साहित्य-समीक्षा मुख्यतः काव्यालोचन के रूप मे ही रही है। इस युग के प्रतिमान बहुत कुछ स्वच्छदवादी अथवा रोमाटिक है; किन्तु इसका रोमाचक स्वरूप किसी पाश्चात्य परिपाटी का प्रतिफल न होकर भारतीय जीवन के यथेष्ट निकट है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग के समालोचको की दृष्टि मे साहित्य के भौतिक उपकरण बहुत स्थूल जँचने लगे थे और वे मानस-अतरालवर्त्ती मर्म-भेदो के रहस्योद्घाटन की प्रज्ञा लेकर समीक्षण-क्षेत्र मे आगे बढ़ना चाहते थे। यही कारण है कि उन्होने अपने प्रतिमान-निर्धारण मे जीवन की व्यापक सवेदना को महत्त्व दिया और शास्त्रीयता का समावेश भी उनकी मूल्याकन की कसौटी मे युग-प्रवृत्ति के अभिव्यजन के स्थान पर एक शाश्वतकालीन मनोभूमिका के सगठन मे हो सका, जिसमे निश्चय ही शुक्ल-युग की अपेक्षा अधिक लचीलापन था।

१२ छायावाद-युग की समीक्षा मे उसके रचनात्मक साहित्य की प्राय समस्त उद्भावनाओ का समावेश है। उसका विवेचन द्विवेदी-युग की स्थूल मान्यताओ की आदर्शवादी धारणा के स्थान पर अंतर की सूक्ष्मता को अपनी पीठिका बना कर चला है, जिसमे कल्पना, स्वच्छदता, भावुकता, आत्माभिव्यक्ति तथा अभिनव जीवन-दर्शन और नूतन मूल्याकन की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति के निर्माण के उस युग के सास्कृतिक वातावरण और गाधीवाद की रूपरेखा का भी बडा हाथ है, जिनसे ये छायावादी काव्य-समीक्षक किसी न किसी रूप मे प्रभावित हुए बिना रह ही नही सके है। इस युग के कवि-समीक्षको ने काव्य-दर्शन पर आध्यात्मिकता का एक हल्का सा आवेष्टन सर्वत्र रखा है, जिसका प्रमाण उनकी काव्य-सर्जनाएँ और उनकी भावक-शक्तियाँ है। वैसे तो इस युग के छायावादी समालोचको की दृष्टि मे अवातर अर्थभेद भी है, किन्तु सब मिलाकर वे साहित्य-दर्शन के उद्भावन मे एक-सी आत्म-स्पदना पाते है।

१३ छायावादी काव्य-समीक्षा मे अपने युग की अन्य प्रवृत्तियो की ओर झाँकने की अभिरुचि है। इस प्रकार की समीक्षा का प्रतिपाद्य विषय रावीन्द्रिक शैली मे काव्य-साहित्य का सौष्ठव निर्दिष्ट कर उसे कला की दृष्टि से अत्यधिक उच्च श्रेणी प्रदान करना रहा है। ये समीक्षक युग-परिस्थिति की महत्ता एक सीमा तक ही स्वीकार कर चल सके है। आधुनिक साहित्य की अन्य प्रवृत्तियो की ओर भी इनका ध्यान गया है और वे उनके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षो के विवेचन की ओर भी उन्मुख हुए है। काव्य की गीति तथा मुक्तक प्रवृत्ति की ओर इनकी विशेष रुझान है। प्रगतिवादियो और मनोविश्लेषण-शास्त्रियो के यथार्थ से इनका विरोध है। इन्हे अपना काव्य-प्रवर्त्तन सभी दृष्टियो से स्वाभाविक और प्रकृतभाव भूमि पर आधारित लगता है। पश्चिमी काव्य-शास्त्र मे प्रचलित कला और अभिव्यंजना के सिद्धान्तो का भी इन पर प्रभाव है। ये समालोचक काव्य-प्रेरणा को हृदय के स्वाभाविक मनोवेगो की भाँति एक नैसर्गिक स्फूर्ति के रूप

मे स्वीकार करते है और अन्तर्जगत् का बहिर्जगत् के साथ साम्य-संस्थापन काव्यगत उच्चता का एक मुख्य उपादान मानते हैं। इन समीक्षको मे यत्र-तत्र भावुकता भी दृष्टिगोचर होती है और शैली-सौष्ठव तथा अभिव्यजन-कौशल भी मिलता है। प्रभाववादी समालोचना की गरिमा भी इन काव्य-समीक्षको को ग्राह्य है। कृतिकार की मनःस्थिति का निरूपण कर उसमे भाव-विभोर होते हुए इन समीक्षको ने अपनी समीक्षाओ का एक उद्देश्य यह भी रखा है कि उसका प्रेषण रसज्ञ पाठक के हृदय तक अधिक से अधिक सवेदनात्मक अनुभूति से करा दिया जाय। समालोचना के सैद्धान्तिक निरूपण की सामग्री ये समालोचक शास्त्र-ग्रन्थो से न लेकर जीवन से लेते हैं, क्योंकि उनमें रस-ग्रहण की एक ऐसी शक्ति है जिससे जीवन-सत्व का सहज भाव प्राप्त किया जा सकता है। इस मान्यता मे कदाचित् ही किसी को आपत्ति हो कि छायावाद-युग की समीक्षा-दृष्टि द्विवेदी-युग और शुक्ल-युग की परम्परागत मान्यताओ और आदर्शवादी धारणाओ से अधिक विकसित है, जिसमे समालोचना को बौद्धिक रसानुभूति प्रदान करने का सुष्ठ, प्रयास है।

१४ छायावाद-युग और उसके काव्यालोचन के सम्बन्ध मे जो कुछ पूर्वोक्त पक्ष-समर्थन किया गया उसका यह अभिप्राय नही कि इस युग की काव्य-विषयक मान्यताएँ और सर्जनात्मक प्रवृत्तियाँ विशुद्ध काव्य-दृष्टि से इतने उच्च स्तर की थी कि उसमे किसी प्रकार की एकागिता का अवकाश ही न था। वास्तविकता तो यह है कि इस युग की साहित्य-समीक्षा ने काव्यालोचन के मानदण्ड को कही-कही इतना अधिक आत्मपरक और अध्यात्ममूलक बना दिया जिससे उसका समाजशास्त्रीय अथवा ऐतिहासिक पक्ष दब सा गया। वस्तुतः इस युग की समीक्षा-दृष्टि कलात्मक और सौदर्यपूर्ण अधिक थी, जिससे जीवन की यथार्थ ठोसभूमि को अधिक उपलब्धि नही हुई। इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि छायावादी काव्य की भाँति उसकी समालोचना भी कई स्थलो पर हृदय और आध्यात्मिक कुहरे से व्याप्त केवल धूमिल भावमूर्ति सी बन गई जिसमे तथ्य-प्रकाशन का अश झिलमिलाते वायवी तन्तुओ के बीच सिमट कर रह गया, जिसमे उसके विरोधी समालोचको को भी भुलावा देने की प्रवृत्ति ही अधिक मिली और उन्होने उसे पलायनवादी कह कर सामाजिक-दर्शन अथवा सामाजिक-आदर्श से विहीन सिद्ध किया। यह आक्षेप छायावादी काव्य और उसकी समीक्षा-प्रवृत्ति की अतिरेकतावश ही किया गया था। यदि छायावादी काव्य-समीक्षा मे सामाजिक दृष्टिकोण की प्रेषणीयता कुछ स्थिर धरातल पर होती तो संभवत उससे शिकायत करने का कम अवसर होता, पर परिस्थितिवश ऐसा नही हो सका। यही कारण है कि छायावादी काव्य-प्रवृत्ति और समीक्षा-दृष्टि के विपरीत चलने वाली समालोचना ने छायावाद को सर्वथा व्यक्तिवादी दृष्टि से देखा है और उस काव्य मे उसे ब्रह्म और रहस्यवाद के महत्त्व का कोई सकेत नही मिला है। उसके विरोधी समालोचको ने उसे दैवी या पारलौकिक धरातल पर स्वीकार करना किसी भी तर्क पर समुचित नही समझा है, क्योकि वे प्रकृति मे चेतनसत्ता का आरोप और प्रेम-निरूपण को ब्रह्म विषयक अभिव्यक्ति स्वीकार करना किसी भी आधार पर उचित नही समझते. और उन्हे छायावादी काव्य इहलौकिक प्रेम और सौन्दर्य भावना से अलग ही नही लगता।

१५. छायावादी कवियो ने अपनी काव्य-कृतियो की भूमिकाओ तथा स्वतन्त्र निबधो के रूप मे आधुनिक हिन्दी-साहित्य के अतर्गत समालोचना का विकास करने मे महान् योग दिया है। इनकी समालोचनाएँ शास्त्रीयता की परम्परागत रूढिबद्ध प्रवृत्ति से विहीन और कोरी लक्षण-निरूपण पद्धति से रहित है। इन कवियो के काव्य-समीक्षण का दृष्टिकोण साहित्य को उसके विशुद्ध सवेदनशील स्वरूप मे ग्रहण करने का रहा है और वे अन्तर्मुखी साधना की स्वच्छन्दवादिता को सौष्ठवपूर्ण विधि से अभिव्यक्त करने मे ही साहित्य की चरम सिद्धि समझते रहे हैं। इन कवियो की समालोचना का एक पक्ष अपनी मान्यताओ और विचार-धाराओ को जीवन के चिरतन सत्य के साथ संग्रथित कर उन्हे व्यक्त करना तथा अपने-अपने

विवेचन को अत्यधिक व्यापक धरातल पर नियोजित करना भी रहा है। काव्य, कला, रस, गीति, रहस्यवाद, छायावाद और प्रगतिवाद आदि विभिन्न विषयो पर इन छायावादी कवियो ने यथावसर जो आत्म-निष्कर्ष प्रदान किये है, वे हमारे समालोचना-जगत् के अद्भुत वैभव है। वस्तुत अपनी जीवन-दृष्टि के अधिक सुलझी हुई होने के कारण ये छायावादी कवि अपनी समालोचनाओ को अधिक प्राजल, प्रखर और प्रसारपूर्ण बना सके है, अन्यथा अन्य विवेचको के हाथो मे पड कर काव्य-समीक्षा के इन अतर्मूल्यो के विकृत होने की भी संभावनाएँ हो सकती थी।

१६. छायावाद-युग की साहित्य-समालोचना के उपर्युक्त स्वरूप-विवेचन के पश्चात् यह स्पष्ट है कि इसमे युग-जीवन के विकासमान ततुओ का सम्यक् सयोजन है। निश्चय ही उसमे शुक्लोत्तर-युग की प्रसार प्रवृत्ति अधिक मात्रा मे मिलती है। इस युग के प्रमुख कवि श्री प्रसाद, पत, महादेवी और निराला तथा इसकी भूमिका मे अधिष्ठित होने वाले समालोचक श्री नददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, शातिप्रिय द्विवेदी और गगाप्रसाद पाण्डेय आदि ने जिन विधियो से छायावाद के माध्यम से काव्य-स्वरूप के प्रकृत विधान का विवेचन किया है, उसका हिन्दी-समालोचना के विकास मे महत्त्वपूर्ण श्रेय है। आगे के पृष्ठो मे छायावादी कवियो के विचारक तथा समालोचक व्यक्तित्व का विश्लेषण उनके काव्य-सिद्धान्तो का विशुद्ध विवेचन तथा मूल्याकन करते हुए किया जायगा, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि वे हमारे कल्पनाजीवी सुकुमार कलाकार ही नही, अपितु विचार की ठोसभूमि पर कितनी गम्भीर दृष्टि से ओत-प्रोत जीवन-साहित्य के समालोचक भी है। साथ ही साथ इसी विवेचन के प्रसग मे उन प्रमुख स्वच्छन्दतावादी समालोचको के कार्यों का भी समीक्षण करना हमे अभीष्ट है जो छायावाद-युग के अत्यन्त निकट होने पर भी समन्वयवादी प्रवृत्ति से भी सवलित है।

छायावादी कवि-समीक्षक और उनकी समालोचनाएँ

(१)

स्वर्गीय श्री जयशकर 'प्रसाद'

मानसिक पृष्ठभूमि और समालोचना के विषय

१७. प्रसादजी मूलत कारयित्री प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार थे। उन्होंने प्राचीन भारतीय वाङ्मय के आधारभूत ग्रन्थो का व्यापक और चिन्तनपूर्ण अध्ययन कर साहित्य-निर्माण की मौलिक दृष्टि प्राप्त की थी। आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे छायावादी काव्यधारा को उन्नयन प्रदान कर वे इस क्षेत्र मे युग-प्रवर्त्तक काव्य-स्रष्टा के रूप मे महत्कार्य कर गए है। साहित्य और दर्शन-शास्त्र के मन्थन से उन्हे जो मानसिक प्रौढि मिली, उसका आभास उनकी कृतियो के द्वारा पा लेना कोई कठिन कार्य नही है। आर्य सस्कृति के प्रति उनके हृदय मे असाधारण आस्था थी, जिसकी झलक उन्होने अपनी रचनाओ मे यथास्थान दी है। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध और समालोचना-साहित्य को उनकी प्रतिभा के भास्वर कणो का मौलिक स्वरूप प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त है। यद्यपि वे समालोचक के रूप मे बहुत कम हमारे सामने आए है, तथापि 'इन्दु' पत्रिका की किरणो मे उसका अन्वेषण सहज ही किया जा सकता है। 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' नामक पुस्तक उनकी साहित्यिक समीक्षाओ का सकलन है, जिसके द्वारा उनकी मान्यताओ का यथेष्ट बोध हो जाता है।

१८ प्रसादजी की समालोचनाएँ मुख्यत. शोधपरक और विचारप्रधान है। काव्य और नाटक उनके मूल प्रतिपाद्य विषय है। वाद-समीक्षा और रस-निष्पत्ति पर भी उन्होंने तात्विक

विवेचन किया है। 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' नामक पुस्तक मे उन्होने 'काव्य और कला', 'रहस्यवाद', 'रस', 'नाटको मे रस का प्रयोग', 'नाटकों का आरम्भ', 'रगमच', 'आरम्भिक पाठ्य काव्य' तथा 'यथार्थवाद और छायावाद' शीर्षक आठ विषयो पर अपनी उद्भावनाएँ और उपपत्तियाँ निरूपित की है। इस विवेचन मे प्रसादजी ने 'भारतीय दार्शनिक अनुक्रम का साहित्यिक अनुक्रम से युगपत सम्बन्ध तो स्थापित किया ही है, प्रसगवश दर्शन और साहित्य की समानता भी मानवात्मा के सम्बन्ध से सिद्ध की है। मुख्य-मुख्य दार्शनिक-धाराओ के साथ मुख्य-मुख्य काव्यधाराओ का समीक्षण करके इन दोनो का इतिहास भी प्रसादजी ने प्रस्तुत पुस्तक मे हमारे सामने रखा है।[1]

काव्य-कला का स्वरूप और वर्गीकरण

१९ काव्य और कला के स्वरूप तथा वर्गीकरण के सम्बन्ध मे अपना निजी मत प्रकट करने के पूर्व प्रसादजी ने तत्व-दृष्टि से उन भारतीय तथा पश्चिमी विचारको की मान्यताओ का सामान्य विश्लेषण किया है, जो इस विषय मे मूर्द्धन्य और प्रामाणिक समझे जाते है। ऐसा करते समय उन्होने उन विचारको की मतोद्धरणीमात्र न कर यथाप्रसग अपना सैद्धान्तिक विवेचन भी प्रस्तुत किया है। इस विवेचन मे जहाँ एक ओर भारतीय विचारधारा के प्रतीक उपनिषद्, आरण्यक, आगम-ग्रथ तथा काव्यशास्त्र आदि विभिन्न उपजीव्य ग्रथो से उपलब्ध सामग्री का तथ्यपरक समीक्षण है, वहाँ दूसरी ओर पश्चिमी जगत के महान् दार्शनिक अरस्तू, प्लेटो, हीगेल आदि की काव्य-कला विषयक धारणाओ का भी समालोचन है। ज्ञान और सौन्दर्य-बोध का विश्वजनीन स्थिति होते हुए भी देश, काल, परिस्थिति और सस्कृति की भिन्न-भिन्न सीमाओ के कारण उपर्युक्त विषयो के सम्बन्ध मे जो दृष्टि-भेद सहज सभाव्य है, उसके मूल कारणो का अनुसधान करने का प्रयास भी प्रसादजी ने किया है। इस प्रसग मे उनका उन आलोचको के प्रति शिष्ट तथा सयतविधि मे यत्किञ्चित् आक्रोश भी व्यक्त हुआ है जो काव्य-कला, रहस्यवाद, छायावाद आदि प्रवृत्तियो का विश्लेषण पाश्चात्य दृष्टिकोण को प्रधानता देते हुए करते हैं तथा भारतीय साहित्य मे उनका मौलिक प्रतिष्ठान नही मानते।[2] कहने की आवश्यकता नही कि ऐसा करते समय स्वय प्रसादजी काव्य और कला को दार्शनिक तथा सास्कृतिक प्रक्रिया मे ग्रहण करने की दृष्टि से अलग नही रह सके है। इस प्रकार उनका विवेचन भी उनसे प्रतिकूल मान्यता रखने वाले विद्वानो को अतिवादपूर्ण और एकदेशीय प्रतीत हो सकता है।

२० काव्य को कला के अन्तर्गत प्रतिष्ठित करने का आधार प्रसादजी ने भी प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् हीगेल की विचारधारा का अनुकरण ही माना है, यद्यपि यूनानी दार्शनिक प्लेटो द्वारा प्रतिपादित काव्य-सगीत के अन्तर्गत उसकी प्रतिष्ठा से भी वे अनवगत नही है।[3] इसी प्रकार स्थूल (मूर्त) और सूक्ष्म (अमूर्त) दृष्टि-विधान से कला को वस्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत तथा काव्य की जो निम्नोन्नत श्रेणियाँ प्रदान की जाती है, उसकी व्यावहारिक सुगमता भी वे स्वीकार करते है, यद्यपि भारतीय दृष्टि से वे उसकी उपयोगिता एक सीमा तक ही ग्राह्य समझते है। वस्तुत उनकी आध्यात्मिक चेतना काव्य और शास्त्र के दो प्रकारो मे सत्य का अभिव्यंजन पाती है और वे भारतीय ज्ञान को इन दो प्रधान मार्गों मे विभक्त कर काव्य की गणना विद्या मे और कलाओ का वर्गीकरण उपविधाओ मे करना समीचीन समझते है, क्योकि इस विभाजन द्वारा भारतीय-दर्शन का दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार विशुद्ध रूप मे काव्य की

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, प्राक्कथन, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, चतुर्थ सस्करण, पृष्ठ ४।

२ जयशकर प्रसाद काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ स० ३०।

३. वही, पृष्ठ ३०।

सत्ता को अध्यात्म की कोटि मे प्रतिष्ठित कर तथा कवि को ऋषि की समता मे उपस्थित कर वे एक ओर उसे जहाँ मूर्त और अमूर्त की सीमित परिधि से उच्च स्थान प्रदान करते है, वहाँ दूसरी ओर कामसूत्र मे वर्णित सगीत, चित्र तथा अन्यान्य कलाओ के साथ 'काव्य-समस्यापूर्ण' की संयोजना कर उसे कला की साधारण श्रेणी मे भी निर्दिष्ट करते है जिसका स्पष्ट आशय यही है कि काव्य और कला के स्वरूप-विधान के विषय मे पाश्चात्य विचारधारा और भारतीय दृष्टिकोण मे तात्विक अन्तर की वस्तुस्थिति का उन्हे पूर्ण अवबोध है।

काव्य की परिभाषा और कलाओ का क्षेत्र

२१ प्रसाद का काव्य और शास्त्र-विषयक निरूपण अत्यन्त सुलझा हुआ है। उसका एक शास्त्रीय तथा दार्शनिक आधार है। काव्य को 'आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति'[१] कह कर वे उसे 'विश्लेषण, विकल्प तथा विज्ञान से भिन्न' मानते है। इसका प्रमुख कारण यह है कि 'शास्त्र मे श्रेय का आज्ञात्मक ऐहिक और आमुष्मिक विवेचन होता है और काव्य मे श्रेय और प्रेय दोनो का सामजस्य होता है। शास्त्र मानव-समाज मे व्यवहृत सिद्धातो के सकलन है। उपयोगिता उनकी सीमा है। काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियो का नित्य नया-नया रहस्य खोलने मे प्रयत्नशील है, क्योकि आत्मा को मनोमय, वाड्मय और प्राणमय माना गया है।[२]

२२. काव्य की परिभाषा मे प्रसादजी द्वारा प्रयुक्त आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति पद विशेष महत्वपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण मे किसी प्रकार का तात्पर्य-भ्रम न हो जाय, अतः उन्होने स्वय इसकी विवेचना कर दी है। उनके मतानुसार 'आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेयसत्य को उसके मूल चारुत्व मे सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य मे सकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।'[३] इस विश्लेषण मे असाधारण अवस्था का उल्लेख इसलिए किया गया है कि वह (असाधारण अवस्था) युगो की समष्टि अनुभूतियों मे अन्तर्निहित रहती है; क्योकि सत्य अथवा श्रेयज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नही, वह एक शाश्वत-चेतनता है या चिन्मयी ज्ञानधारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रो के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है।"[४]

२३. प्रसादजी ने यद्यपि ज्ञान की अखड सत्ता स्वीकार की है और वे देशकाल, और परिस्थिति के कारण उद्भूत सास्कृतिक रुचि-भेद के अनुसार इसके व्यावहारिक भेद भी सुग्राह्य समझते है, किन्तु उन्हे भारतीय दृष्टि मे जो मौलिक-चिंतन और प्रतीक-विधान मिला है वह पश्चिमी विचारको की मान्यताओ से निश्चय ही बहुत ऊँचा है। हमारे यहाँ ब्रह्म की मूर्त्त और अमूर्त्त इन दोनो रूपो मे कल्पना होने के कारण उसे जिस आध्यात्मिक आलोक मे देखने का प्रयत्न किया गया है, वह प्रसादजी की शैव-दर्शन और आनन्दवादी विचारधारा के अत्यत निकट है। यही कारण है कि वे मूर्त्त और अमूर्त्त की दृष्टि से कलाओ का श्रेणी-विभाजन उचित नही समझते, क्योकि कलाओ के मूल्याकन का यह कोई सर्वग्राह्य प्रतिमान नही हो सकता। इस सम्बन्ध मे उनका यह निर्णय अत्यन्त गम्भीर और तथ्यपूर्ण है कि "सौन्दर्यबोध बिना रूप के हो ही नही सकता। सौन्दर्य की अनुभूति के साथ ही साथ हम अपने सवेदन को आकार देने के लिए, उनका प्रतीक बनाने के

---

१. जयशकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ सख्या ३१।

२ वही, पृष्ठ ३७।

३. वही, पृष्ठ ३८।

४. वही, पृष्ठ ३८।

लिए बाध्य है। इसलिए अमूर्त्त सौन्दर्य-बोध कहने का कोई अर्थ ही नही रह जाता।"[1] इस प्रसग मे उनका पाश्चात्य तत्व-दर्शन का मूर्त्त और अमूर्त्त विषयक विवेचन अत्यन्त पठनीय बन गया है और वे काव्य-दर्शन के विषय मे एक प्रकार से मूर्त्त और अमूर्त्त का झगडा ही समाप्त कर सकने मे असमर्थ हुए है।[2]

२४ 'कला' के सम्बन्ध मे भारतीय मान्यता का क्या दृष्टिकोण है, इसका सामान्य निर्देश प्रसादजी ने कई प्राचीन आचार्यों के मतानुसार किया है। वस्तुत. भारतीय दृष्टि कला को उपविद्या के अन्तर्गत सयोजित कर उसे विज्ञान के निकट उपस्थित कर देती है जिसका प्रमाण हमारे यहाँ काव्य-समस्या-पूरण, छन्दशास्त्र तथा पिंगल के नियमो को "काव्योपयोगी कला के शास्त्र" के निकट रख कर देखना है। इसी प्रकार दण्डी ने भी नृत्य-गीत-प्रभृति कलाओ को कामार्थ-सश्रय कलाएँ कहा है और भरतमुनि तथा अभिनवगुप्त भी कलाओ की श्रेणी मे गीत, वाद्य आदि की ही गणना करते है। आचार्य भामह भी काव्य का विषय सम्बन्धी विभाजन करते हुए यही प्रतिपादित करते हैं कि काव्य का एक विषय कला भी हो सकता है। प्रसादजी ने इन आचार्यों के मतो का उल्लेख तो किया ही है, किन्तु साथ ही साथ वे शैवागमो के छत्तीस तत्वो मे प्रतिपादित कलासज्ञक तत्व की महत्ता पर विशेष बल देते है क्योकि उसके विवेचक क्षेमराज ने शिवसूत्र विमर्शिनी मे "कलयति स्वस्वरूपावेशेन तत्तद्वस्तु परिच्छिनत्ति इति कलाव्यापार" कह कर उसका सम्बन्ध आत्मानुभूति के साथ जोड दिया है। प्रसादजी ने आत्मानुभूति की व्यजना मे 'स्व को कलन करने का उपयोग अनुकूल, प्रतिकूल और अद्भुत नामक तीन प्रतीक-विधानो मे निर्दिष्ट किया है जो उनके मतानुसार 'क्रमश आदर्शवाद, यथातथ्यवाद और व्यक्तिवाद के मूल उद्गम' कहे जा सकते है।[3] इस प्रकार कला के सम्बध मे उनका यह दृष्टिकोण अत्यन्त गम्भीर और दार्शनिक विचारधारा का परिचायक है कि कला और आत्मानुभूति दो अभिन्न सत्ताएँ हैं जिनके लिए "शब्द-विन्यास-कौशल तथा छन्द आदि की अत्यन्त आवश्यकता नही।"

२५ काव्य और कला का इस प्रकार भारतीय स्वरूप निर्धारित कर प्रसादजी ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। वह यह कि "काव्य मे शुद्ध आत्मानुभूति की प्रधानता है या कौशलमय आकारो या प्रयोगो की।"[4] इसके उत्तर मे उन्होने महाकवि सूर और तुलसी के काव्य-विषय को लेकर यही मान्यता स्थापित की है कि काव्य-सृजन मे आत्मानुभूति की ही प्रधानता होती है और उसी के कारण अभिव्यक्ति मे भी चारुता तथा पूर्णता का सचार हो जाता है। सूर के वात्सल्य-वर्णन मे संकल्पात्मक मौलिक अनुभूति की तीव्रता थी, जिसके कारण वे कृष्ण के शिशु-रूप का अधिक मर्मस्पर्शी चित्र अकित कर सके जबकि गोस्वामीजी के हृदय मे भगवान राम की "भक्त रक्षण समर्थ दयालुता और न्यायपूर्ण ईश्वरता" का प्राचुर्य था जिसके कारण वे उनका केवल मर्यादा-पुरुषोत्तम रूप ही चित्रित कर सके। अत· प्रसादजी के मतानुसार अनुभूति और अभि-व्यक्ति काव्य के अतरग और बहिरंग है जिनका सम्बन्ध अपरिहार्य है और कला को केवल अल-कार, वक्रोक्ति, रीति तथा शब्द-विन्यास-कौशल मे ही अन्वेषित करना उसके प्रधान तत्व की अव-हेलना करना है क्योकि "काव्य मे जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा है वही सौन्दर्यमयी और सकल्पनात्मक होने के कारण अपनी श्रेयस्थिति मे रमणीय आकार मे प्रकट होती है।"[5]

---

१. जयशकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृष्ठ ३५।
२. वही, पृष्ठ ३५।
३ वही, पृष्ठ ४३-४४
४. वही, पृष्ठ ४४-४५।
५ वही, पृष्ठ ४४।

रहस्यवाद का उद्‌गम और उसकी भारतीय प्रवृत्ति

२६ सैद्धातिक समालोचना की दृष्टि से प्रसादजी का रहस्यवाद विषयक विवेचन अत्यन्त प्रौढ और शास्त्रसम्मत है। इसके विवेचन का मूल प्रयोजन रहस्यवाद को काव्य मे आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा निर्दिष्ट कर इस भ्रान्ति का निराकरण करना है कि उसका मूल उद्‌गम सेमेटिक धर्म भावना है और इसीलिए भारत के लिए यह बाहर की वस्तु है।'[१] शामी धर्मो मे रहस्यवाद की आध्यात्मिक भूमि अद्वैत-भावना के लिए कोई स्थान नही था, अत जब वहाँ की धार्मिक मान्यताओ के विरुद्ध चलने का साहस ईसा, सरमद तथा मसूर जैसे तत्व-दर्शियो ने अपने को ईश्वर का पुत्र तथा 'अनलहक' घोषित करते हुए किया तो उन्हे प्राण-दण्ड दिए गए, क्योकि उनकी विचारधारा भारतीय रहस्य-भावना के अधिक निकट थी। अतः प्रसादजी की दृष्टि मे 'भारतीय रहस्यवाद ठीक मेसोपोटामिया से आया है, यह कहना वैसा ही है जैसा वेदो को 'सुमेरियन डाकुमेण्ट' सिद्ध करने का प्रयास।'[२] इससे यह अभिप्राय नही कि प्रसादजी जातियो के पारस्परिक साहचर्यवश विचार-विमर्श के क्षेत्र मे होने वाले आदान-प्रदान के क्रम को अस्वीकार करते है। उनका तो स्पष्ट आशय यही है कि जिस अर्थ मे रहस्यवाद को विदेशी प्रवृत्ति कहा जाता है, वह असमीचीन है, क्योकि वैदिक काल की ऋचाओ से लेकर अद्यतन युग के साहित्य-निर्माण पर्यन्त उसके विकास-तन्तुओ का अन्वेषण भारतीय साहित्य की क्रमागत निधि मे स्वाभाविक विधान मे किया जा सकता है।

२७. रहस्यवाद के स्वरूप-विवेचन के अन्तर्गत प्रसादजी ने ऐतिहासिक अनुशीलन के आधार पर विभिन्न भारतीय ग्रन्थो और विचारको की उद्धरणियाँ प्रस्तुत कर भारतीय चिन्ता-धारा के अन्तर्क्षेत्रो मे आने वाले परिवर्तनो का जो तथ्यपरक विश्लेषण किया है, वह उनके प्रगाढ पाण्डित्य तथा मौलिक चिंतन का परिचायक है। उसके द्वारा इस विषय की उपलब्धि मे हमे विशेष आयास नही करना पडता कि रहस्यवादी काव्यधारा भारत की निजी सम्पत्ति है। उन्होने शोधपूर्ण दृष्टि-विधान से शास्त्रानुमोदित प्रमाण जुटा कर हिन्दी के उन गण्यमान आलोचको की मान्यताओ का भी खण्डन किया है जो रहस्यवाद की वर्तमान प्रवृत्ति को विदेशी प्रमाणित करने के लिए उससे सम्बद्ध अन्यान्य विषयो पर भी विदेशी छाया का प्रभाव निर्दिष्ट करते है। यद्यपि प्रसादजी ने अपनी शालीनतावश ऐसे समालोचको के नाम निर्दिष्ट करते हुए प्रत्यक्ष रूप से व्यक्तिगत आक्षेप नही किए है, किन्तु उन्होने उनकी जिन उपपत्तियो को भ्रातिग्रस्त बतलाया है, वे साहित्य-समीक्षण मे उस युग से ही इतना अधिक गौरव प्राप्त करती आ रही है कि अध्ययनशील साहित्य जिज्ञासुओ को उनकी आक्षेप-विवृत्ति का ज्ञान हुए बिना नही रहता। कहने की आवश्यकता नही कि आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने "काव्य के रहस्यवाद" शीर्षक विस्तृत निबन्ध मे लोकसामान्य भावभूमि की मूर्त्त विचारणा के आधार पर रहस्यवाद की अन्तश्चेतना मे जिन विदेशी प्रवृत्तियो का उल्लेख किया था, उनका समाहार प्रसादजी ने प्रस्तुत विवेचन मे मुख्य रूप से किया है। ऐसा करने मे उनका व्युत्पन्न व्यक्तित्व और शास्त्र ज्ञान बहुत सहायक हुआ है।

रहस्यवाद विषयक अन्य मान्यताएँ

२८ प्रसादजी ने रहस्यवाद को मूलत भारतीय काव्य-परम्परा मे स्थान देने के लिए उन प्रसगो का भी विवेचन किया है, जिनको उपजीव्य बनाकर उनके विरोधी विचारको ने उसे साम्प्रदायिक और विदेशी छाया मे पनपने वाला सिद्ध किया था। सबसे पहले उन्होने रहस्यवाद

---

१ काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ सख्या ४६।

२. वही, पृष्ठ ४८

मे निरूपित सूफी-सम्प्रदाय की अद्वैत भावना को भारतीय दर्शन की क्रोड मे पनपने वाली निर्दिष्ट कर आचार्य शुक्ल की इस मान्यता का खण्डन किया है कि वह भारत के लिए विदेशी वस्तु है। इसी प्रकार उनका दूसरा व्यग्य उन लोगो के प्रति है जो 'मेसोपोटामिया या बाबिलन के बाल, ईस्टर प्रभृति देवताओ के मन्दिरो मे रहने वाली देव दासियो को ही धार्मिक प्रेम का उद्गम' बतलाकर 'वही से धर्म और प्रेम का मिश्रण' तथा 'उपासना मे कामोपयोग इत्यादि अनाचार का आरम्भ' मानते है तथा जिनके मत से 'यह प्रेम ईसाई धर्म के द्वारा भारतवर्ष के वैष्णव धर्म को मिला' है। प्रसादजी ने ऐसे लोगो का खण्डन 'काम' को प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप' कहकर उसकी व्यापकता की प्रशसा करते हुए किया है। कालान्तर मे 'काम' शब्द की महत्ता सभवत विवेकवादियो की आदर्श-भावना के कारण कम हो गई, अत प्रसादजी उसकी उपासना को 'सौन्दर्य आनन्द तथा उन्मद भाव की साधना-प्रणाली' से सयुक्त कर इस मत की प्रतिष्ठा करते है कि 'इसी वैदिक काम की आगम शास्त्रो मे काम-कला के रूप मे उपासना भारत मे विकसित हुई थी जो कालान्तर मे अन्य देशो की साधना पद्धति मे कुछ भिन्न स्वरूप धारण कर स्वीकृत हुई।''[1]

२९ प्रसादजी भारतीय विचारधारा मे रहस्यवाद का प्रमुख स्थान मानते है और जो लोग उसमे सेमेटिक भावना पाते है उसका प्रमुख कारण वे उन लोगो की थोथी आदर्शवादिता और जातिगत निवीर्यता बतलाते है। उनका तो इस विषय मे दृढ विश्वास है कि आर्यो के जीवन मे आनन्द, उल्लास और प्रमोद के संस्कार प्रारम्भ ही से रहे है जिनका रहस्यवाद के आनन्दपथ से गहरा सम्बन्ध है। इतना ही नही, वैदिक-कालीन प्रकृतिपूजा और बहुदेवोपासना मे भी उन्हे आनन्द वाली आत्मवादी धारा के दर्शन हुए हैं जिसकी प्रतिष्ठा देवराज इन्द्र ने की तथा जिसका विरोध कालातर मे विवेकवादी व्रात्य सघो ने किया। उनकी इस प्रसग मे एक मौलिक मान्यता यह भी है कि 'पिछले काल मे भारत के दार्शनिक अनात्मवादी ही भक्तिवादी बने और बुद्धिवाद का विकास भक्ति के रूप मे हुआ'।[2] ऐसा कहते हुए भी वे इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि 'आनन्दवादवाली मुख्य अद्वैतधारा मे भक्ति का विकास एक दूसरे ही रूप मे हो चुका था।[3] वैदिक काल के पश्चात् उपनिषद्-काल तथा ब्राह्मण-ग्रन्थो मे भी आर्यो की आनन्दवादी विचारधारा का पल्लवन होता गया, जो क्रमश गूढ और रहस्यपूर्ण बनने लगी। श्रुतियो और निगम-काल के पश्चात् आगम-ग्रथो मे भी यह आत्मवादी आनन्दमयी धारा विकसित होती रही, जिसका कालातर मे सिद्ध-सम्प्रदाय पर भी प्रभाव पडा। सिद्ध पाशुपत-योग की प्राचीन साधना-पद्धति के उपासक थे और उन्होने अद्वैत की प्रतिष्ठा के साथ आनन्द की योजना करने के लिए काम उपासना-प्रणाली भी दृष्टात के रूप मे स्वीकृत की थी।[4] इस प्रकार प्रसादजी के मतानुसार आनन्द और अद्वैत-भावना का स्वरूप भारतीय साधना मे वैदिक काल ही से रहा है जिसकी आधारशिला पर रहस्यवाद यहाँ की प्रमुख काव्यधारा सिद्ध होती है।

३०. प्रसादजी ने रहस्यवाद के मूल मे भारतीय दर्शन के आनन्दवाद की प्रतिष्ठा कर उसके आनुषंगिक रूप मे रति-प्रीति, सौदर्य तथा अद्वैत भक्ति का भी सामान्य निरूपण किया है। उन पर शैवागम-दर्शन का तो इतना अधिक प्रभाव है कि वे 'अद्वैतमूलक रहस्यवाद के व्यावहारिक रूप मे विश्व को आत्मा का अभिन्न अग मानते हैं और 'जगत् तथा अन्तरात्मा की व्यावहारिक अद्वयता मे आनन्द की सहज भावना का विकास[5]' पाते है। पौराणिक-युग मे कृष्ण-भक्ति का

१. काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृष्ठ ४७।
२. वही, पृष्ठ ५२।
३. वही, पृष्ठ ५२।
४. काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृष्ठ ५७।
५. ,, ,, ,, ,, ५७-५८।

अभ्युत्थान होने के कारण जब उसमे द्वैत-भावना और समर्पण-बुद्धि का आधिक्य रहा तो निसर्गतः प्रेममूलक रहस्यवाद के विकास के लिए अधिक अवसर उपस्थित हुए। शनै-शनै रहस्यवाद कई धाराओ मे विभक्त होकर हिन्दी काव्य-धारो की कृतियो मे विकसित हुआ, जिसका आदि-स्वरूप सिद्धो, नाथपंथियो और कबीर आदि सतो की वाणियो मे मिलता है। इस प्रकार प्रसादजी ने रहस्यवाद को काव्य मे आत्मा की सकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा सिद्ध कर भारतीय साहित्य मे उसका नैसर्गिक विकास प्रतिपादित किया है। ऐसा करने मे उनके काव्य के प्रति बने हुए आध्यात्मिक दृष्टिकोण ने पूर्वपीठिका प्रस्तुत की है।

विरोधी समालोचकों को प्रत्युत्तर और रहस्यवाद का प्रकृत स्वरूप

३१ जैसा कि पहले सकेत कर दिया गया है कि प्रसादजी रहस्यवाद को काव्य की प्रकृत भावधारा मानते थे, अत उनके विरोधी समालोचको ने जब उन पर कई प्रकार के आक्षेप किये तो उन्होने अपने शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर उनका निराकरण करने का प्रयत्न किया। यहाँ यह बात स्मरण रखने की है कि आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल रहस्यवाद की कई प्रवृत्तियो को विदेशी मानते थे, जिनका प्रत्युत्तर प्रसादजी ने अपने विवेचन के प्रसग मे दिया। उदाहरणार्थ उन्होने कबीर आदि सतो को अटपटी वाणी का प्रयोग करने वाले कहा तथा ज्ञान, उपासना और कर्म को सर्वथा अलग-अलग रूप मे निर्दिष्ट कर रहस्यवाद का सम्बन्ध ज्ञान-काण्ड से जोडा जिनके लिए प्रसादजी ने वेदो और उपनिषदो के उद्धरण देकर उनकी मान्यता का खण्डन किया। हाँ, यह बात अवश्य है कि ऐसा करने के पूर्व प्रसादजी ने श्रुतियो को भी सकल्पात्मक काव्य कहकर कविर्मनीषी की अभेदता स्वीकार कर ली थी। इस सम्बन्ध मे अपनी ओर से अधिक कुछ न लिखकर स्वयम् प्रसादजी के उद्धरण देना प्रस्तुत कथन की वास्तविकता स्पष्ट कर देगा—

३२. (अ) 'जो लोग यह सोचते है कि आवेश मे अटपटी वाणी कहने वाले शामी पैगम्बर ही थे, वे कदाचित् यह नही समझ सके कि वैदिक ऋषि भी गुह्य बातो को चमत्कारपूर्ण साकेतिक भाषा मे कहते थे। 'अजामेका लोहितशुक्लकृष्णाम् तथा तमेकनेमिं त्रिवृत षोडशान्तं शतार्धारम्' इत्यादि मत्र इसी तरह के है।[1]"

(आ) "यह भी कहा जाता है कि यहाँ उपासना, कर्म के साथ ज्ञान की धारा विशुद्ध रही और उसमे आराध्य से मिलने के लिए कई कक्ष नही बनाये गये। किन्तु छान्दोग्य मे जिस शून्य आकाश का उल्लेख दहरोपासना मे हुआ है, उसी से बौद्धो के शून्य और आगमो की शून्य भूमिका का सम्बन्ध है। फिर कबीर की शून्य महलिया शाम देश की सौगात कैसे कही जा सकती है?' ' श्रुतियों मे नीवारशूकवत् तन्वी शिखा के मध्य मे परमात्मा का जो स्थान निर्दिष्ट किया गया है, वह मन्दिर या महल कही विदेश से नही आया है। आगमो मे तो इस रहस्य-भावना का उल्लेख है ही।[2]"

(इ) "वेदो, उपनिषदो और आगमो मे रहस्यमयी आनन्द-साधना की परम्परा के उल्लेख है। अपनी साधना का अधिकार उन्होने कम नही समझा था। आज तुलसी साहब के 'जिन जाना तिन जाना नाही' इत्यादि को देखकर इसे एक बार ही शाम देश से आई हुई समझ लेने का जिन्हे आग्रह हो, उनकी तो बात ही दूसरी है, किन्तु केनोपनिषत् के 'यस्यामतं तस्य मत यस्य न सवेद स.' का ही अनुकरण यह नही है, यह कहना सत्य से दूर होगा। 'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र' इत्यादि श्रुति मे बाहर और भीतर की पिंड और ब्रह्माण्ड की एकता का जो प्रतिपादन किया गया

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ ६३।

२ वही, पष्ठ ६४।

है, संत-मत में उसी का अनुकरण किया गया है।[1]"

३३. प्रसादजी ने रहस्यवाद का एक स्वरूप प्रकृतिमूलक भी माना है और उसे स्वाभाविक क्रम मे विकसित बतलाया है। रहस्यवाद की धारा मे उन्हे भारतीय तत्त्व-सन्निहिति इतनी अधिक उपलब्ध होती है कि वे तुलसी जैसे सगुण भक्त कवियों मे भी उसका आभास पा लेते हैं। कृष्ण-भक्त कवियो के प्रेम मे उन्होने विरह और माधुर्य की परोक्ष अनुभूति का जो निरूपण किया है वह अत्यन तात्विक है। इसी प्रकार सिद्धो की सन्ध्या भाषा मे भी उन्होने आनन्दवाद की झलक देखी है और उसी परम्परा मे तुकनगिरि और रसालगिरि आदि उन्हे शुद्ध रहस्यवादी कवि लगे है जिनकी लावनियो मे आनन्द और अद्वैत का सर्वत्र समावेश है। प्रसादजी के मतानुसार रहस्यवाद के स्वरूप का स्पष्टीकरण निम्नलिखित अवतरण से और अधिक तारतम्यपूर्ण विधान से हो सकेगा:—

'साहित्य मे विश्वसुन्दरी-प्रकृति मे चेतनता का आरोप सस्कृत वाङ्मय मे प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद सौन्दर्य-लहरी के 'शरीर त्व शम्भो' का अनुकरण मात्र है। वर्तमान हिन्दी मे इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यजना होने लगी है, वह साहित्य मे रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमे अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहम् का इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बनकर इसमे सम्मिलित है।[2]

रस-विवेचन के सम्बन्ध में प्रसादजी के विचार

३४. प्रसादजी की समालोचना का एक प्रमुख विषय रस-विवेचन भी है। इसका निरूपण करने मे उन्होने काव्य के सम्बन्ध मे प्रतिष्ठित शैवागमो की आनन्दवादी धारा का उपयोग किया है। वैसे तो 'रसो वै स' के अनुसार रसवाद की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है, किन्तु उसकी वास्तविक प्रतिष्ठा भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' मे की जिसका कालातर मे विभिन्न परवर्ती आचार्यों ने अपनी-अपनी विचारधाराओ के अनुरूप विश्लेषण किया। प्रसादजी ने उन आचार्यो की मान्यताओ का सामान्य उल्लेख कर मुख्य रूप से अभिनवगुप्त, आनन्दवर्द्धन तथा पडितराज जगन्नाथ के उन दृष्टिकोणो का स्पष्टीकरण किया है जिनके अनुसार रस काव्य की आत्मा सिद्ध होता है तथा जिस की अनुभूति आनन्द-तत्व से समन्वित रहती है। ऐसा करते हुए उन्होने इस धारणा पर विशेष बल दिया है कि रसवाद मूलत. आनन्दपरक है और उसकी नाट्यान्तर्गत उद्भावना केवल इस लिए की गई है कि उसके द्वारा सर्वसाधारण मे भी धार्मिक बुद्धिवादियो से भिन्न कोटि मे आनन्द-प्रसार किया जा सके।

३५. प्रसादजी ने रस-विवेचन के प्रसंग मे इस विषय का भी निरूपण किया है कि रसवाद के विरोध मे अलंकारवाद की स्थापना क्यो हुई और रीति तथा वक्रोक्ति सम्प्रदाय ने किस प्रकार अपनी विकल्प वृत्ति से काम लेकर अपने विवेचन को व्यापक बनाने का प्रयास किया। उनके मतानुसार 'आनन्द परम्परावाले शैवागमो की भावना मे प्रकृत रस की सृष्टि सजीव थी। रस की अभेद और आनन्दवादी व्याख्या हुई। भट्ट नायक ने साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रचारित किया, जिसके द्वारा नट, सामाजिक तथा नायक की विशेषता नष्ट होकर, लोकसामान्य प्रकाश-आनन्दमय आत्म चैतन्य की प्रतिष्ठा रस मे हुई।'[3]...'आनन्दवर्धन ने आगमानुयायी आनन्द सिद्धान्त के रस को

१ काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृष्ठ ६४
२. वही, पृष्ठ ६६।
३. काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृष्ठ ७४-७५

तार्किक अलंकार मत मे सम्बद्ध किया। अभिनवगुप्त ने अभेदमय आनन्दपथ वाले शैवाद्वैतवाद के अनुसार साहित्य मे रस की व्याख्या की।'[1] अभिप्राय यह है कि प्रसादजी के मतानुसार रस के सम्बन्ध मे की गई आनन्दवादियो की व्याख्या सबसे अधिक पूर्ण और तात्विक है और उनके रस-सिद्धान्तो मे साहित्य-दर्शन का जो सुमधुर समन्वय है वह दार्शनिक रहस्यवाद से दूर हटा हुआ नही है।

३६ वैसे तो प्रसादजी ने रस का विवेचन अधिक विस्तार मे नही किया है, किन्तु फिर भी उसमे जो सघन वैशिष्ट्य और तात्विक निरूपण हुआ है, वह अभूतपूर्व है। वे पाश्चात्य दृष्टि के अनुसार कला को अनुकरण-मात्र नही मानते क्योकि ऐसा मानने से भारतीय रस-सिद्धान्त के अनुसार साहित्य मे अभेदपूर्ण दार्शनिक सत्य की प्रतिष्ठा नही हो सकती। उन्होने वस्तुत काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदरत्व की तत्व-योजना से संयुक्त कर नाट्य रसो मे 'आत्मा के अभिनय को, वासना या भाव को अभेद आनन्द के स्वरूप मे ग्रहण करने' की पुष्टि की है।[2] वे अभिनवगुप्त आदि प्रमुख आचार्यो की भाँति सामाजिको, नटो तथा कवि इन तीनो मे रसानुभूति का साधारणीकृत त्रिवृत् मानते है जिसके अनुसार इन तीनो मे अभेद भाव मे एक रस हो जाता है। उनके मत से रसानुभूति फलयोग की दृष्टि से सदैव पूर्ण होती है अत उसमे निम्नोन्नत कोटियो के अवधारण का कोई अवकाश नही रहता अत जो लोग रगमच पर अभिनीत किये जाने वाले किसी अत्याचारी के अत्याचार को देखकर अपनी सद्वृत्ति के कारण नट से साधारणीकरण न होने के कारण उसमे निम्नकोटि की रसानुभूति की कल्पना करते है, उनका प्रसादजी खण्डन करते है। कहने की आवश्यकता नही कि आचार्य शुक्लजी ने तुलसी की काव्य-रचनाओ का विवेचन करते हुए जिस प्रकार की निम्न कोटि की रसानुभूति का विश्लेषण किया था, उसका प्रसादजी ने इस कथन द्वारा खण्डन किया है। वे तो बार-बार 'भारतीय रसवाद मे मिलन अभेद सुख की सृष्टि' को मुख्यता देते हैं 'जिसमे लोक मगल की कल्पना भी प्रच्छन्न रूप से अन्तर्निहित' रहती है। उनका रसवाद के सम्बन्ध मे क्या दृष्टिकोण है, इसका सूत्र रूप मे निष्कर्ष इस प्रकार है—

"रसवाद मे वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तियाँ, जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती है, इसलिए वह वासना का सशोधन कर के उनका साधारणीकरण करता है। इस समीकरण के द्वारा जिस अभिन्नता की रससृष्टि वह करता है, उसमे व्यक्ति की विभिन्नता, विशिष्टता हट जाती है, और साथ ही सब तरह की भावनाओ को एक धरातल पर हम एक मानवीय वस्तु कह सकते है। सब प्रकार के भाव एक दूसरे के पूरक बनकर, चरित्र और वैचित्र्य के आधार पर रूपक बनाकर रस की सृष्टि करते हैं। रसवाद की यही पूर्णता है।"[3]

३७ प्रसादजी ने रस-विवेचना के प्रसग मे उसका भक्ति के साथ भी सम्बन्ध सूत्र जोडने का प्रयास किया है। वे आगमो मे प्रतिपादित अद्वैत-मूला भक्ति के मधुर-सम्प्रदाय मे रस-परिपाक की पूर्णावस्था पाते है और परकीया प्रेम मे दार्शनिक दृष्टि से जीवन और ईश्वर की अभिन्नता के लिए तीव्र-सवेगो की योजना के अधिक अवसर देखते है, किन्तु उनकी दृष्टि से द्वैत भाव की भक्ति केवल रसाभास ही करा सकती है। उनका तो रस-सम्प्रदाय की श्रेष्ठता पर इतना अधिक विश्वास है कि वे ध्वनि, रीति, अलकार और वक्रोक्ति पर उसकी प्रभु-सत्ता स्वीकार करना समुचित समझते हैं। सच तो यह है कि एक प्रकार से उन्होने रस और अलकार की कोटियो मे ही साहित्य

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ ७५-७६

२. वही, पृष्ठ ८३

३. वही, पृष्ठ ८६

का विभाजन किया है जो क्रमशः आनन्द और विवेक वाले अद्वैत और द्वैत दर्शन से अनुप्राणित है। इस प्रकार प्रसादजी का रसवाद-विषयक विवेचन अत्यन्त तात्त्विक और मप्रेरक है जिसकी मान्यताओ को लेकर अब भी भाष्य की गुंजायश बनी हुई है।

यथार्थवाद और छायावाद का विश्लेषण

३८. प्रसादजी का यथाथवाद और छायावाद-विषयक विवेचन अत्यन्त सतुलित और सारगर्भित है। उसमे उन्होने इन वादो के स्वरूप-निर्माण मे अन्तर्व्याप्त सूत्र का तात्त्विक विश्लेषण कर दोनो की मूलवर्ती प्रवृत्तियो का सामान्य परिचय अत्यधिक सधी हुई शैली मे दिया है। जिस समय उनके एतद्विषयक विचारो का सुलाभ हिन्दी-जगत् को मिला, हमारे साहित्य का विचार-पक्ष कई विषयो मे दुराग्रही बनकर चल रहा था। प्रसादजी ने शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर छायावाद को भारतीय साहित्य की परम्परा मे नैसर्गिक महत्ता प्रदान की और उसके अनुभूति तथा अभिव्यक्ति पक्षो का सबल समर्थन किया। उनके विवेचन से स्पष्ट है कि वे छायावाद को 'वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति'[१] मानते है, जिसका दृष्टिकोण निश्चय ही वाह्य वर्णन-प्रधान कविताओ से भिन्न है। कहने की आवश्यकता नही कि छायावादी काव्य का सृजन द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया मे हुआ था और उसमें स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह था, अतः प्रसादजी ने उसके विकास-क्रम को एक मनोवैज्ञानिक विवृति भी प्रदान की है। छायावादी काव्य मे प्रयुक्त 'आभ्यंतर सूक्ष्म भावो', नवीन वाक्य-विन्यासो तथा नूतन शब्द-भगिमाओ को उन्होने हिन्दी मे नवीन अभिव्यजना के उपकरण निर्दिष्ट कर उन्हे काव्य-जगत् के लिए अत्यन्त अनिवार्य बतलाया है। छायावादी वैशिष्ट्य के प्रति उनका सहज आकर्षण इसलिए भी है कि वे उसमे प्राचीन आचार्यों द्वारा निरूपित काव्य-स्वरूप का सौष्ठव भी पाते हैं, क्योकि छायावादी काव्य मे 'शब्द और अर्थ की स्वाभाविक वक्रता-विच्छिति', 'स्वानुभव सवेदनीय वस्तु की अभिव्यक्ति', 'आतर अर्थ-वैचित्र्य' तथा 'अनुभूतिमय आत्मस्पर्श' के लिए अधिक अवकाश है। 'छाया' शब्द की गम्भीर अर्थ-व्यंजना मे उन्हे सस्कृत काव्य-साहित्य का अत्युन्नत काल दृष्टिगोचर हुआ है तभी तो वे उसे काकु या श्लेष की सामान्य वक्रोक्ति से भिन्न तथा 'आन्तरिक स्पर्श से पुलकित' मानते हैं। इस प्रकार प्रसादजी के मतानुसार छायावादी काव्य 'पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के वाह्य वर्णन से भिन्न है'[२] और उसकी अभिव्यक्ति मे जो विशिष्ट प्रकार की विचित्रता मिलती है, उसका मूल कारण आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा ही है।

छायावाद की नवीन व्याख्या और उसका सौन्दर्य

३९. छायावादी काव्य को प्रसादजी ने प्राचीन साहित्य मे एक स्वाभाविक क्रम मे निरूपित किया है। उनका 'छाया' शब्द का विवेचन शास्त्रीय और प्रमाण-सम्मत है, जिसमे छायावाद की विशेषताओ का सौष्ठवपूर्ण संगुम्फन है। वे ध्वनिकार के मत से सहमत होते हुए 'छाया' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है, वैसी ही कान्ति की तरलता अग मे लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत-साहित्य मे छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था। शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और काति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है।"[३]

२. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ १२३।

१ वही पृष्ठ १२३

३ वही, पृष्ठ १२४-१२५।

४० वैसे तो प्रसादजी ने छायावाद की अभ्यर्थना मे बहुत कुछ लिखा है और वे उसके अनुभूति तथा अभिव्यक्ति पक्ष की विशेषताओ को किसी भी भाषा-साहित्य के लिए वरदान-स्वरूप समझते है, किन्तु वे इस तथ्य से भी अनभिज्ञ नही हैं कि 'जहाँ कवि ने अनुभूति का पूर्ण तादात्म्य नही कर पाया हो, वहाँ अभिव्यक्ति विश्रृंखल हो गई हो, शब्दो का चुनाव ठीक न हुआ हो, हृदय से उसका स्पर्श न होकर मस्तिष्क से ही मेल हो गया हो, परन्तु सिद्धान्त मे ऐसा रूप छायावाद का ठीक नही कि जो कुछ अस्पष्ट, छायामात्र हो, वास्तविकता का स्पर्श न हो, वही छायावाद है।'[1] इसी प्रकार वे छायावाद और रहस्यवाद मे भी मौलिक अतर मानते है और जो विचारक 'प्रकृति को विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिम्ब कहकर उसको काव्यगत व्यवहार मे ले आने मे ही छायावाद की सृष्टि' समझते है उनकी धारणा को मिथ्या सिद्ध करते है क्योकि 'प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली कविता को ही छायावाद नही कहा जा सकता।'[2]

४१. प्रसाद जी का छायावाद-विषयक विवेचन अत्यन्त सारगर्भित और तथ्यपरक है। उसमे इस वाद से सम्बन्धित उन समस्त विशेषताओ का उल्लेख हो गया है जिनकी आधारशिला पर इस प्रवृत्ति की काव्यधारा अवलम्बित है। वैसे तो छायावाद-युग की विशेषताओ का उद्घाटन करते हुए अन्यान्य समालोचको ने भी अनेक विस्तृत निबध और स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे है किन्तु जो सूत्रबद्ध निरूपण प्रसादजी ने प्रस्तुत निबंध मे किया है वह अधिक विश्वसनीय और प्रामाणिक है। उनका निम्नलिखित निर्णय इस सम्बन्ध मे विशेष उल्लेखनीय है :—

"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आतर-स्पर्श करके भाव-समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कांतिमयी होती है।"[3]

४२. यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात है कि प्रसादजी मूलत छायावाद के कवि होने पर भी अत्यत गम्भीर अध्येता थे और अपने युग की विभिन्न प्रवृत्तियो से भी परिचित थे। साहित्य के इतिहास का उन्हें सम्यक् बोध था और उसकी क्रोड मे उन्होने युग-जीवन की गतिविधियो को समझा था। यही कारण है कि वे अपनी समीक्षाओ मे शास्त्रीय ज्ञान का आधार लेते हुए भी उदार दृष्टिकोण को अपना कर चल सके हैं और छायावाद के साथ-साथ पनपने वाले यथार्थवाद का स्वरूप-विवेचन भी निष्पक्ष-विधि से कर सके हैं। सभवतः प्रसादजी हिन्दी के प्रथम समालोचक हैं जिन्होने भारतेन्दु-युग को साहित्य का पुनरुद्धार-काल कहकर इस तथ्य का उद्घाटन किया है कि भारतेन्दुजी के समय से ही 'राष्ट्रीय वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण आरम्भ'[4] हो गया था। इस प्रकार उन्होने यथार्थवाद की अवतारणा के उपयुक्त उस पृष्ठभूमि का भी ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है जिसके कारण आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे उसके पल्लवित होने के अधिक अवसर आ सके। उनका यथार्थवाद का स्वरूप-विवेचन भी अत्यंत तात्त्विक और चिंतनपूर्ण है और उन्होने उसके जो लक्षण निरूपित किए है वे आज भी अकाट्य है। वे यथार्थवाद की प्रमुख विशेषता का विवेचन करते हुए लिखते हैं—

"यथार्थवाद की विशेषताओ मे प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमे स्वभावत. दु:ख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है

---

१. जयशकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृष्ठ १२७।
२. वही, पृष्ठ १२८।
३. वही, पृष्ठ १२८।
४. वही, ११६।

साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःखो और अभावो का वास्तविक उल्लेख।"[1]

यथार्थवाद का संयत निरूपण

४३. यद्यपि प्रसादजी ने यथार्थवाद पर अधिक नही लिखा है, फिर भी उनके लघु विवेचन मे उक्त वाद से सबधित प्रायः समस्त मुख्य तथ्यो का उद्‌घाटन हो गया है। उन्होंने भारतेन्दुजी को इस प्रकार के काव्य-निर्माण का प्रथम सूत्रधार कह कर उन यथार्थवादियो का मुह बन्द कर दिया है जो छायावाद की प्रतिक्रिया मे प्रगतिवाद तथा यथार्थवाद की धारा का प्रवर्त्तन समझते हैं। वस्तुत यथार्थ की प्रवृत्ति साहित्य मे अत्यत प्राचीन है जिसका पुनरुद्धार भारतेन्दुजी ने सामयिक वस्तुपरिस्थिति से प्रेरणा लेकर किया। अत प्रसादजी का यथार्थवाद के मूल प्रवर्त्तन के सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्धरण आप्तवचन के रूप मे ही ग्रहण किया जा सकता है :—

"भारतीय नरेशो की उपस्थिति भारत के साम्राज्य को बचा नही सकी। फलत· उनकी वास्तविक सत्ता मे अविश्वास होना सकारण था। धार्मिक प्रवचनो ने पतन मे और विवेकदम्भ-पूर्ण आडम्बरो ने अपराधो मे कोई रुकावट नही डाली। तब राजसत्ता का कृत्रिम और धार्मिक महत्त्व व्यर्थ हो गया और साधारण मनुष्य, जिसे पहले लोग अकिंचन समझते थे, वही क्षुद्रता मे महान् दिखलाई पडने लगा। उस व्यापक दु ख-सम्वलित मानवता का स्पर्श करने वाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है। इस यथार्थवादिता मे अभाव, पतन और वेदना के अश प्रचुरता से होते है।"[2]

४४. प्रसादजी के यथार्थवाद-विषयक विवेचन मे उनका स्वच्छदतावादी दृष्टिकोण परिलक्षित है, तभी तो वे उसके निर्माण मे सामाजिक रूढियों तथा अभिशापो की प्रतिक्रिया स्वाभाविक समझते हैं। उनके मतानुसार 'जाति मे जो धार्मिक और साम्प्रदायिक परिवर्तनों के स्तर आवरण स्वरूप बन जाते हैं, उन्हे हटाकर अपनी प्राचीन वास्तविकता को खोजने की चेष्टा भी साहित्य मे तथ्यवाद की सहायता करती है।'[3] इसी प्रकार वे मानवीय दुर्बलता की स्वाभाविकता को स्वीकार कर वेदना को यथार्थवाद की मूलभावना मानते हुए उसे क्षुद्रो के साथ-साथ महानो का साहित्य मानते हैं क्योकि यदि ऐसा नही होता तो कोरा आदर्शवाद केवल कल्पना और धार्मिक प्रवचन का ही विषय बन कर रह जाता। वस्तुत· उनके मतानुसार आदर्श और यथार्थ दोनो साहित्य के अनिवार्य पक्ष हैं और उसी के अनुसार वे साहित्य की परिभाषा करते हुए लिखते हैं—

"दु·खदग्ध जगत् और आनंदपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है, इसीलिए असत्य और अघटित घटना पर कल्पना को वाणी महत्त्वपूर्ण स्थान देती है, जो निजी सौन्दर्य के कारण सत्य-पद पर प्रतिष्ठित होती है। उसमे विश्व-मगल की भावना ओत-प्रोत रहती है।"[4]

४५. प्रसादजी अत्यन्त गम्भीर और शास्त्रीय विचारक थे। वे नवीनता की झोक मे बहने वाले किसी भी साहित्यिक प्रवाद को तबतक स्वीकार नही करते थे जब तक उन्हें उसकी उपादेयता और श्रेय-सिद्धि का पूर्ण विश्वास नही हो जाता। उनके समय मे प्रगतिवाद का आन्दोलन प्रारम्भ हो गया था, किन्तु वे उसकी विशेष वर्गगत भावनाओ के कभी समर्थक नही बने। वस्तुतः उन्हे प्रगति को किसी वाद-विशेष के कठघरे मे बद्ध करना अशोभनीय लगता था। प्रगति के व्यापक विधान के सम्बन्ध मे उनका दृष्टिकोण इस प्रकार का था—

---

१ श्री जयशंकर प्रसाद · काव्य और कला तथा अन्य निबंध' पृष्ठ १२०।

२. वही, पृष्ठ १२१।

३. वही, पृष्ठ १२०।

४. वही, पृष्ठ १२३।

"प्रगतिशील विश्व है, किन्तु अधिक उछलने मे स्खलन का भी भय है। साहित्य मे युग की प्रेरणा भी आदरणीय है. किन्तु इतना ही अलम् नही। जब हम यह समझ लेते है कि कला को प्रगतिशील बनाये रखने के लिए हम को वर्तमान सभ्यता का—जो सर्वोत्तम है—अनुसरण करना चाहिए, तो हमारा दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण हो जाता है। अतीत और वर्तमान को देखकर भविष्य का निर्माण होता है, इसलिए हमको साहित्य मे एकागी लक्ष्य नही रखना चाहिए। ·· पश्चिम ने भी अपना सब कुछ छोडकर नये को नही पाया है।"[1]

समालोच्य विषयों का मूल्यांकन

४६ अब तक प्रसादजी के काव्य, कला, रहस्यवाद, छायावाद, यथार्थवाद, रसवाद तथा आनन्दवाद आदि जिन विचार-पक्षो का विवेचन किया गया, वे उनके सैद्धान्तिक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करने के साथ-साथ समालोचना-साहित्य के मानदण्ड-निर्धारण में भी सहयोगी बने है। उनके द्वारा साहित्य-दर्शन को द्विवेदी-युग मे अधिक व्यापक और गम्भीर दृष्टि मिली है। काव्य और अध्यात्म को समकक्ष निर्दिष्ट कर उन्होने आनन्द और विवेकवादी दृष्टिकोण से समीक्षण का जो प्रतिमान निर्धारित किया है, वह अभूतपूर्व है। इसी प्रकार उनके द्वारा प्रयुक्त अभिव्यंजन-शैली, शास्त्रीय शब्द-योजना तथा पाण्डित्य-पद्धति उनकी तथ्य-ग्राहिणी मेधा-शक्ति की परिचायक है। उनके समान साहित्य और दर्शन का स्वस्थ समन्वय करने वाले समालोचक हिन्दी मे बहुत कम हुए हैं। यही कारण है कि उन्होने अपने कुछ ही लेखों मे ज्ञान-राशि की जो प्रभूत सामग्री शोध कर प्रस्तुत की है, वह परिमाण मे कम होने पर भी गुण-गरिमा मे अप्रतिम है। कहने की आवश्यकता नही कि प्रसादजी ने आज से प्राय: पच्चीस वर्ष पूर्व जिस समय अपने इन समालोचनात्मक निबन्धो की रचना की; हिन्दी समालोचना मे या तो केवल पश्चिमी विचारो की उद्धरणी हो रही थी या पुरातनता का पल्ला कस कर पकडा हुआ था। उस समय दोनो प्रकार की विचारधाराओ मे समन्वय लाने की सफल चेष्टाएँ बहुत कम हुई थी। यह तो नही कहा जा सकता कि प्रसादजी इस प्रकार का सर्वांगीण समन्वय ला सके, फिर भी उन्होने भारतीय वाङ्मय को केवल रूढिग्रस्त रखना अनुचित समझ कर उसे व्यापक धरातल पर अवश्य ही उपस्थित किया। उनकी समीक्षाएँ ऐसे अनेक साहित्यिक प्रवादो का खडन करती हैं जो उस समय सुधी समालोचको द्वारा कई बार तो अपनी हठधर्मी का पालन करते हुए फैला दिये गये थे। इसमे मेरा यह अभिप्राय नही कि प्रसादजी की मान्यताएँ सर्वथा विश्व-जनीन और अनवद्य हैं, किन्तु इतना आशय अवश्य है कि उनमे प्रतिपादित सत्य को सहसा अस्वीकार करना विरोधी विचारक के लिए भी सम्भव नही है। इस सम्बन्ध मे आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयीजी के इस निर्णय से हम पूर्णतया सहमत है कि "शास्त्रीय वस्तु को ही उन्होने इतिहास और मानव-मनोविज्ञान के दोहरे छन्नो से छानकर संग्रह किया है। इस छनी हुई वस्तु को अशुद्ध या अप्रामाणिक कहने के लिए साहस चाहिए।"[2]

(२)

श्री सुमित्रानंदन पंत

मानसिक चेतना और व्यक्तित्व निर्माण

४७. पंतजी आधुनिक हिन्दी-काव्य के सौन्दर्य प्रबुद्ध कलाकार ही नही, प्रत्युत अत्यन्त सुलझी हुई दृष्टि वाले गम्भीर विचारक भी हैं। युग-जीवन और सास्कृतिक जागरण की झलक उनके शालीन व्यक्तित्व पर प्रारम्भ ही से पडती रही है, जिसके कारण वे अपने मानसिक

१ श्री जयशंकर प्रसाद : 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृष्ठ १०८।

२ पं० नन्ददुलारे वाजपेयी : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, प्राक्कथन, पृष्ठ ५।

संस्थान को क्रमशः पुष्ट और प्रौढ बनाने मे समर्थ हो सके है। 'ग्रन्थि' से लेकर आज तक उनके जितने काव्य-सग्रह प्रकाशित हुए है, उनके प्रारम्भ मे संलग्न भूमिकाओ द्वारा जहाँ एक ओर हमे उनकी अंतश्चेतना और कवि-स्वरूप की अनुभूति का बोध होता है, वहाँ दूसरी ओर वे हमे उनकी समालोचना-प्रज्ञा का भी आभास देती हैं। इन भूमिकाओ के कलेवर मे पतजी ने सामान्य रूप मे छायावाद के प्रवर्त्तन-काल से लेकर अद्यावधिक युग पर्यन्त होने वाले परिवर्तनो का विवेचन सास्कृतिक प्रवृत्तियो के साथ साहित्यिक प्रक्रियाओ का स्वस्थ ग्रन्थि-बधन करते हुए किया है। उनसे यह प्रकृत्या स्पष्ट हो जाता है कि पतजी की प्रखर बुद्धि में तत्वग्रहण की कितनी अधिक आकर्षण-शक्ति है और वे अपने आत्मचिंतन मे प्रकृति सौन्दर्य, छायालोक, प्रगतिवाद, गाधीवाद, अरविन्द-दर्शन तथा अध्यात्मवाद की किन-किन भूमियो को पार कर वर्तमान स्वरूप मे अवस्थित हुए हैं। उनके बौद्धिक विकास को समझने मे आकाशवाणी द्वारा प्रसारित उनकी वार्ताओ, पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित लेख-मालाओ तथा सास्कृतिक और साहित्यिक आयोजनो पर प्रदत्त प्रवचनो का भी यथेष्ट उपयोग किया जा सकता है।

समालोचना की आधारभूत सामग्री

४८ पतजी की समालोचनाओ की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि उनमे उनके जीवन-दर्शन का तारतम्यपूर्ण विधि से विवेचन हुआ है। उनके काव्य-ग्रंथो की प्रारम्भिक प्रस्तावनाएँ इसका प्रमाण है। सन् १९२६ मे 'पल्लव' की भूमिका द्वारा उन्होने मुख्य रूप से 'काव्य के बहिरग' का विश्लेषण किया था। उसके प्राय पन्द्रह वर्ष पश्चात् सन् १९४१ मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा प्रकाशित आधुनिक कवि (भाग २) के 'पर्यालोचन' मे उन्होने 'अपने विकास की सीमाओ के भीतर से काव्य के अन्तरग का' विवेचन किया। इस विवेचन मे उनके 'काव्य की आत्मा को स्पष्ट और सम्यक् रूप से' प्रस्तुत करने का प्रयास है तथा उनके दृष्टिकोण को समझने मे भी सहायता मिल सकती है।

४९. 'पर्यालोचन' के प्राय छ वर्ष पश्चात् पतजी की 'युगवाणी' का तृतीय संस्करण प्रकाशित हुआ। उसका 'दृष्टिपात' पतजी की इस कृति के 'कलापक्ष' के साथ-साथ 'युग-दर्शन के प्रमुख तत्वो पर भी प्रकाश' डालने वाला है। तदनन्तर पतजी ने जनवरी, सन् १९४९ मे अपने काव्य-सग्रह 'उत्तरा' की 'प्रस्तावना' लिखी, जिसका उद्देश्य 'कम से कम शब्दो मे अपने दृष्टिकोण' को इस रूप मे उपस्थित कर देना है, जिससे उनकी 'स्वर्णकिरण' और स्वर्णधूलि' नामक काव्य-कृतियो को लेकर उनकी काव्य-चेतना के सम्बन्ध मे प्रचारित भ्रान्तियो का निराकरण किया जा सके। सभव है, पंतजी का भावी काव्य-सकलन उनके 'युगान्त' की उत्तरवर्ती रचनाओ के सम्बन्ध मे विस्तृत आलोचनात्मक निबन्ध प्रस्तुत करे, जैसा कि उन्होंने अपनी 'प्रस्तावना' मे इस ओर संकेत किया है।

५० पतजी के काव्य ग्रन्थो की भूमिकाओ से उनके समालोचक-व्यक्तित्व का क्रमिक विकास भली-भाँति समझा जा सकता है। उनमे उनके काव्य-दर्शन के साथ-साथ युग-जीवन का भी सास्कृतिक निरूपण हुआ है। आज से प्राय बत्तीस वर्ष प्रकाशित 'पल्लव' का 'प्रवेश' कवि के केवल किशोरकण्ठ का ही व्यंजक नही, अपितु उसकी उस तथ्यनिरूपणी मेधा का भी परिचायक है, जिसके द्वारा उसने अत्यन्त भाव-प्रवण और अलकृत शैली मे हिन्दी के मध्यकालीन काव्य-साहित्य का सिहावलोकन कर आधुनिक काव्य के विश्लेषण की भूमिका प्रस्तुत की है। इस 'प्रवेश' मे पंतजी ने ब्रजभाषा बनाम खडी बोली के महत्त्व-निर्धारण विषयक वाद-विवाद के सम्बन्ध मे भी अपनी सुरुचिपूर्ण प्रवृत्ति का परिचय दिया है। वे ब्रजभाषा की काव्य-माधुरी पर भी कम मुग्ध

नही है, किन्तु उन्हे युग-आह्वान के कारण खडी बोली का पक्ष-समर्थन अधिक समीचीन लगा है, क्योकि "अब भारत के कृष्ण ने मुरली छोड पाचजन्य उठा लिया, सुप्त देश की सुप्त वाणी जाग्रत हो उठी, खडी बोली उस जागृति की शख-ध्वनि है। ब्रजभाषा मे नीद की मिठास थी, इसमे जागृति का स्पन्दन, उसमे रात्रि की अकर्मण्य स्वप्नमय ज्योत्स्ना, इसमे दिवस का सशब्द कार्यव्यग्र प्रकाश।"[1]

भाषा और काव्य-विषयक दृष्टिकोण

५१. पतजी ने ब्रजभाषा से अभिप्राय 'प्राचीन साहित्यिक हिन्दी' से लिया है और ऐसा करते हुए 'अवधी' को भी उसके अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया है, जो भाषा-विज्ञान के तात्त्विक विवेचन की दृष्टि से चिन्त्य है। वस्तुत ब्रजभाषा और अवधी हिन्दी-प्रदेश की दो भिन्न-भिन्न विभाषाएँ है, जिनका स्वरूप-सगठन, शब्द-रचना, क्रिया-पद तथा वाक्य-योजना मे पर्याप्त अन्तर रहता है। सभव है, पतजी ने मध्ययुगीन साहित्य मे अवधी की समता मे ब्रजभाषा का सार्वभौम ग्रहण और प्रचार देखकर उसे अगीभाव मे निक्षिप्त करना अनुचित न समझा हो और वे कृष्ण-काव्य की भाव-माधुरी के चित्रण मे इस पक्ष की उपेक्षा कर गये हो। उन्होने इस विवेचन की ऐतिहासिक पीठिका की शान्तिपूर्ण व्यवस्था के अतराल मे सूर, तुलसी, देव, बिहारी और केशव प्रभृति काव्यकारो के रचना-सौष्ठव और भाव-पक्ष का जिस तन्मयता से चित्रण किया है, वह अपनी रस-सिक्त मधुरिमा मे हमे गद्य-काव्य की सी छटा प्रदान करता है। स्पष्ट है कि इस निरूपण मे पंतजी रीतिकालीन रूढिग्रस्त काव्य-रचना-प्रणाली के उन दुर्बल पक्षो का उद्घाटन भी कर सके हैं, जिनके कारण वह 'तीन फुट के नख-शिख के ससार' के भीतर सिमट कर रह गई थी और जिसका प्रस्तुत-अप्रस्तुत-विधान परम्परामुक्त प्रवृत्तियो से बहुत कम ऊपर उठ सका था।

५२. पंतजी के इस भाषा-विषयक विवेचन मे सामयिकता की भी छाप है। उनकी दृष्टि उस युग के एक ज्वलत प्रश्न 'राष्ट्रभाषा' की आवश्यकता पर भी गई है। वे गद्य और पद्य के लिए भिन्न-भिन्न भाषाओ के प्रयोग को सर्वथा कृत्रिम और समय-बाह्य निर्दिष्ट कर खडी बोली मे युग-भावो के वहन का पूर्ण सामर्थ्य मानते है, क्योकि उसने अपने अल्पकालीन विकास मे उन शक्ति-पुंजो का पर्याप्त संयोजन कर लिया है जिनके कारण किसी भाषा मे व्यापक चेतना का सचार होता है। इस प्रसग मे उन्होने ब्रजभाषा पर जो कठोर व्यग्य किये हैं वे अत्यत निर्मम है। सैद्धातिक समालोचना के लिए अपेक्षित विशेष-विशेष स्थलो पर जिन पारिभाषिक शब्दो के लक्षण-निरूपण की आवश्यकता होती है, उनकी व्याख्या भी पंतजी ने इसी प्रसंग मे अपने स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण से की है, जो शास्त्रीय परिभाषा-प्रणाली पर भले ही घटित न हो, किन्तु जिसका काव्यमय निरूपण अवश्य ही हृदयहारी है। जैसे—

(अ) "भाषा ससार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है। वह विश्व के हृतत्री की झकार है, जिसके स्वर मे वह अभिव्यक्ति पाता है।"[2] आदि।

(आ) "कविता हमारे परिपूर्ण क्षणो की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप हमारे अतरतम-प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही सगीतमय है, अपने उत्कृष्ट क्षणो मे हमारा जीवन छद ही मे बहने लगता है, उसमे एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा सयम आ जाता है।[3]"

'प्रवेश' में काव्य का बहिरंग परीक्षण

५३. पतजी का 'प्रवेश' मुख्यत: काव्य के बहिरग-पक्ष का समीक्षण करता है। यद्यपि

१. श्री सुमित्रानन्दन पत 'गद्य-पथ', 'प्रवेश', पृष्ठ २।
२. वही, पृष्ठ १४।
३. वही, पृष्ठ २२।

इसमें शास्त्रीय और गम्भीर विवेचन-वृत्ति की न्यूनता है, फिर भी कविवर पत ने उसमें अपनी उर्वर मेधा-शक्ति के द्वारा भाषा से सम्बन्धित जिन प्रश्नो का समाधान किया है, वे उस युग की प्रचलित काव्य-परम्परा और विचार-दृष्टि से अत्यधिक अग्रगामी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पंतजी का भाव-प्रवण कवि रसग्राही समालोचक की बानगी धारण कर समीक्षण मे एक प्रकार की चित्रमयता सी उपस्थित करने मे यथेष्ट समर्थ है। समीक्षण की यह पद्धति प्रभावाभिव्यंजन और सुरुचिपूर्ण सस्थान के अत्यत निकट हैं। इस विवेचन के द्वारा कवि का स्वच्छदतावादी दृष्टिकोण प्रकट होता है। काव्य मे प्रयुक्त ध्वन्यात्मकता का आधार लेकर कवि ने भाषा का और मुख्यत. कविता की भाषा का प्राण 'राग' तथा 'राग' का अर्थ 'आकर्षण' बतला कर 'भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्दो की प्राय सगीत-भेद के कारण एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपो'[1] को प्रकट करने की जिस शक्ति का विवेचन किया है, वह कई स्थलो पर दोषपूर्ण होने पर भी कवि के उन मानसिक-चित्रो की प्रति-छाया अवश्य है, जो शब्दो की प्राण-शक्ति का परीक्षण करते समय उसके मस्तिष्क मे स्वत प्रतिबिम्बित हो गई थी। कहने की आवश्यकता नही कि इस प्रकार के विश्लेषण मे कवि ने उन्मुक्त विचार-कल्पना से अधिक काम लिया है, जिसके फलस्वरूप शास्त्रीयता और सैद्धातिकता के परम्परा-पालन की उसके लिए कोई आवश्यकता नही रही है। वस्तुत. पंतजी ने यह समीक्षण द्विवेदी-युग मे चलने वाले भाषा-परिष्कार आन्दोलन के समय किया था, अत. इसमे उस युग को देखते हुए अनुभूति और अभिव्यक्ति की दृष्टि से कई विशेषताएँ स्वत: आ गई है।

५४ पतजी के 'प्रवेश' मे काव्य के अभिव्यजन-पक्ष से सम्बन्धित शब्द-योजना, समास-गुफन, लिग-निर्णय, अलंकार विधान, छन्द-रचना और संगीत-संचार आदि प्रमुख अगो का जो विशद विवेचन हुआ है, वह कवि के काव्य-निकष को हृदयगम कराने मे परम सहायक है। उन्होने 'कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता' और 'भाव तथा भाषा मे सामजस्यपूर्ण एकता' की महत्ता निरूपित कर इस तथ्य की ओर सकेत किया है कि भाषा मे भाव-वहन की कुशल क्षमता होनी चाहिए। इसी प्रकार उनके मतानुसार 'अलकार केवल वाणी की सजावट के लिए नही, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार है। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव है। कविता मे विशेष अलंकारो, लक्षणा-व्यजना आदि विशेष शब्द-शक्तियो तथा विशेष छन्दो के सम्मिश्रण और सामजस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने मे सहायता मिलती है।"[2] उन्होने कविता तथा छद के बीच भी घनिष्ठ सम्बन्ध माना है। "कविता हमारे प्राणो का सगीत है, छन्द हृत्कम्पन, कविता का स्वभाव ही छन्द मे लयमान होना है। ' ' छन्द का भाषा के उच्चारण, उसके संगीत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।"[3] आदि।

५५. पतजी के 'प्रवेश' का एक महत्त्वपूर्ण अश उनके छन्द-विषयक विचार है। उनकी काव्य-ग्राह्यता के सम्बन्ध मे उन्होने अपनी स्वतंत्र अभिरुचि से काम लिया है। जिस प्रकार उन्होने विवेचन के प्रसग मे रीतिकालीन काव्यधारा के ऐन्द्रयिक और सकीर्ण दृष्टिकोण की दुर्बलता का विरोध किया था, उसी प्रकार उन्होने ब्रजभाषा के लोकप्रिय छन्द, कवित्त और सवैया को हिन्दी-काव्य के लिए अनुपयुक्त माना है। पतजी के इस प्रकार के निर्णय मे उनकी वैयक्तिक मनोवृत्ति ही प्रधान कारण है, अन्यथा सच पूछा जाय तो ब्रजभाषा का काव्य-सौन्दर्य जिस कला-सौष्ठव के साथ इन छदो मे मूर्तिमान हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कवित्त छंद को हिन्दी का औरसजात न मानना तथा बगला के छदो ने हिन्दी-कविता के लिए सम्यक् वाहन न समझना पतजी की निजी

---

१ श्री सुमित्रानदन पत गद्य-पथ—'प्रवेश', पृष्ठ १७।

२ वही, पृष्ठ २०।

३. वही, पृष्ठ २२।

मान्यताओ का ही प्रतीक है। हाँ, उन्होने रोला, हरीगीतिका, रूपमाला, सखी, पीयूष-वर्षण, अरिल्ल, राधिका, प्लवगम आदि हिन्दी के प्रचलित छन्दो के विषय मे जो भावानुरूप आत्मव्यजना की है, वह अत्यत सुग्राह्य है। उसके द्वारा कवि-समालोचक की तथ्य-निरूपिणी अतर्दृष्टि का बोध सहज भाव से हो जाता है।

५६. जिस समय पंतजी ने पल्लव का 'प्रवेश' लिखा, हिन्दी-काव्य मुक्त-छदो की ओर बडी ललक से आगे बढ रहा था। वस्तुत परम्परागत छन्द-प्रणाली के प्रति यह एक बहुत बडा अतर्विद्रोह था। छायावादी कवियो ने जिस प्रकार भाव-जगत् मे आतरस्पर्श करते हुए क्राति की थी, उसी प्रकार भाषा-पक्ष मे छन्दो की मुक्तावस्था की घोषणा कर उन्हे निर्बन्ध बना दिया था। फलत द्विवेदी-युग की आदर्शवादी मान्यताओ के द्वारा उनका विरोध किया गया और कई गण्यमान समालोचको ने मुक्त छन्दो को रबर-छन्द, कगारू-छन्द आदि व्यग्यपूर्ण नाम से लाछित किया। इस प्रकार की प्रवृत्ति मे प० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सुकवि किकर' आदि प्रच्छन्न नामो से[1] सबसे अधिक भाग लिया था। ऐसी स्थिति मे मुक्त छन्दो के रचयिता-कवियो के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे स्वयम् इन छदो की विशेषताओ का उद्‌घाटन करे। 'पल्लव' की रचना के समय पतजी छद मे 'लय' को प्राधान्य देते हुए मुक्त छदो के प्रति विशेष आकृष्ट हो चुके थे, अत उन्होने इस विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन किया कि मुक्त छन्द अपनी राग, लय, गति तथा स्वर-योजना के कारण किसी भी भाषा-काव्य के लिए गौरव हो सकते है और उनमे किसी भी प्रकार की दोष-वृत्ति का अन्वेषण करना अनुचित है। इसी प्रसंग मे उन्होने छायावाद के अन्यतम कवि प० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के छंदो को लेकर यह लिखा कि 'उनके कुछ छन्द बगला की तरह अक्षरमात्रिक राग पर, कुछ हिन्दी के ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत पर चलते है, तथा कुछ इस प्रकार सबसे मिश्रित है कि उनमे कोई भी नियम नही मिलता"[2] जिसका प्रतिफल हुआ निरालाजी द्वारा लिखी गई 'पंतजी और पल्लव' शीर्षक समीक्षा, जिसमे निरालाजी ने पतजी के पल्लव की अत्यन्त कटु आलोचना कर अपने छन्दो की मौलिकता का प्रतिपादन किया था। इस प्रकार पतजी ने 'प्रवेश' के अतर्गत काव्य मे छन्द-स्थिति का जो मूल्याकन किया है, वह युगधारा को विकासोन्मुख बनाने के साथ साथ समालोचना के रचनात्मक पक्ष का भी अनुप्रेरक है।

५७. पतजी के 'प्रवेश' का मूल्याकन करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि वह उस युग की समीक्षा है कि जब हिन्दी मे अग्रेजी ढंग की समालोचना का प्रचार विशेष रूप से होने लगा था और साहित्य-विचारक शनै-शनैः शास्त्रीयता का प्राचीन निर्मोक छोडकर नवीन प्रतिमानो की ओर बढ़ने लगे थे। स्वभावतः पतजी की भी नवीनता की ओर अधिक अभिरुचि रही। वे भी समालोचना मे समयानुकूल रूपान्तर चाहने लगे। फलत उन्होने 'रस-गगाधर', 'काव्यादर्श' आदि प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो के ढंग की समालोचना-प्रणाली का विरोध किया। इस विरोध का एक प्रमुख कारण उनका जीवन के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण तो था ही, पर दूसरा कारण यह भी था कि वे उस समय पर्यन्त उन प्राचीन ग्रन्थो की गम्भीर-गरिमा मे केवल चचु-प्रवेश-मात्र ही कर सके थे। यदि ऐसा न होता तो वे यह नही लिखते—

'रसगंगाधर, काव्यादर्श आदि की वीणा के तार पुराने हो गये, वे स्थायी, सचारी, व्यभिचारी आदि भावो का जो कुछ संचार अथवा व्यभिचार करवाना चाहते थे करवा चुके।.. हम लोग अब 'काव्य रसात्मकम् वाक्य', 'रमणीयार्थ प्रतिपादक. शब्द काव्यम्' को अच्छी तरह समझ

---

१. 'सरस्वती पत्रिका', मई सन् १९२७ 'आजकल के हिन्दी कवि और कविता' शीर्षक लेख

२. श्री सुमित्रानन्दन पत ' 'गद्य-पथ' 'प्रवेश', पृष्ठ ३५

गये है ।'[1] कहने की आवश्यकता नही कि भारतीय साहित्य-शास्त्र का रस सिद्धान्त ऐसे व्यापक और प्रौढ धरातल पर स्थित है, जिसे आधुनिक मनोवैज्ञानिक दीप्ति के साथ संयुक्त कर विश्व के किसी भी महान् साहित्य का मूल्याकन किया जा सकता है । अत पंतजी का यह निर्णय केवल उनके तत्कालीन किशोर-मस्तिष्क का ही प्रतिफल है, इसमे कोई सन्देह नही । फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पडेगा कि पतजी के पल्लव का 'प्रवेश' वस्तुत एक युग-प्रवर्त्तक भूमिका है जिसे छायावाद-युग के आविर्भाव का 'ऐतिहासिक घोषणा-पत्र' कहा जा सकता है और जिसका ऐतिहासिक महत्व बहुत कुछ वैसा ही है जैसा कि अंग्रेजी-साहित्य मे वर्ड्सवर्थ के 'लिरिकल बैलड्स' की भूमिका का ।"[2]

'पर्यालोचन' और पंतजी का आत्म-विश्लेषण

५८ वैसे तो पतजी के काव्य का समीक्षण शुक्लोत्तर-युग के विभिन्न समालोचको ने स्वतन्त्र समीक्षा-पुस्तको और फुटकर निबधो के रूप मे उनकी काव्यगत विशिष्टताओ के वाह्य तथा आभ्यान्तरिक पक्षो का विश्लेषण करते हुए किया है, किन्तु इस सम्बन्ध मे पतजी का आत्म-परक 'पर्यालोचन' सबसे अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय है । उसके द्वारा कवि के मानसिक विकास और काव्य-स्फुरण का क्रमबद्ध वैज्ञानिक बोध हो जाता है । कवियो के काव्य-विश्लेषण के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि सर्वप्रथम उनकी उन अन्त प्रेरणाओ और वाह्य परिस्थितियों का निरूपण किया जाय, जिन्होने उन्हे काव्य-निर्माण का जागरण प्रदान किया हो । पतजी समालोचना के इस आवश्यक तत्व-विधान की महत्ता से अवगत होने के कारण सर्वप्रथम इसी के उद्घाटन की ओर प्रवृत्त हुए है । एक प्रकार से उनका यह आत्म-निरीक्षण उनकी काव्य-कृतियो के सम्पन्न कोष का रहस्योद्घाटन कराने के लिए कुजी का काम देता है । वे प्रकृति-निरीक्षण को अपने काव्य-सृजन की मूल प्रेरणा मानकर उसी के माध्यम से अव्यक्त सौन्दर्य की उपलब्धि के लिए उन्मुख हो सके है, यह एक ऐसा सत्य है जिसे उनकी प्रतिभा-चातुरी का मेरुदण्ड कहा जा सकता है । पतजी के काव्य मे सौन्दर्य-कल्पना, स्वप्न-दृष्टि तथा जनभीरुता के जिन तत्वो का समावेश उनकी पल्लव-कालीन रचनाओ मे मिलता है, उसका मूल कारण उनका प्रकृति के प्रति चिरमोह ही है जिसने उन्हे कभी तो 'प्रकृति को अपने से अलग सजीव सत्ता रखने वाली नारी' के रूप मे देखने की अन्त-र्दृष्टि दी है तथा कभी वे स्वय उसमे आत्मविभोर होकर अपने आपको भी नारी रूप मे चित्रित करने मे नही हिचकिचाये हैं ।[3]

५९ पतजी ने अपने काव्य-समीक्षक के रूप मे प्रकृति को अपनी काव्य-प्रेरणा का मूल विषय बतलाकर उसकी क्रोड मे सगठित होने वाले अपने मानसिक सस्थान का जो क्रमबद्ध व्याख्यान किया है, वह उनके काव्य-विकास को समझाने मे परम उपयोगी है । एक समय था, जब वे प्रकृति के कोमल और मधुर रूप की ही ओर आकृष्ट थे किन्तु शनै-शनै उनकी अनुभूतियो के विस्तार और गाम्भीर्य के कारण उसमे परिवर्तन भी आने लगे । यद्यपि पतजी का सुकुमार स्वभाव अधि-कांशत प्रकृति के सुचारु स्वरूप मे ही आत्मलीनता का अनुभव करता रहा, किन्तु वे उसके उग्र स्वरूप के चित्रण की वास्तविकता से भी तटस्थ नही रह सके । इसी समय उनके विचार-दर्शन पर उपनिषदो के साथ-साथ स्वामी विवेकानद और रामतीर्थ की दार्शनिक उपपत्तियो का भी प्रभाव पडा, जिन्होने उनके मधुर-मानस मे आन्दोलन उत्पन्न कर दिया और जिसकी झलक उन्होने

१ श्री सुमित्रानन्दन पत गद्य पथ, 'प्रवेश', पृष्ठ ४१ ।

२. डा० नगेन्द्र, 'विचार और विश्लेषण' 'पतजी की भूमिकाए', पृष्ठ ८७ ।

३ गद्य-पथ 'पर्यालोचन', पृष्ठ सख्या, ४८ ।

अपनी 'परिवर्तन' शीर्षक कविता मे दी। कहना होगा, पतजी का यह अंतर्लोक उन्हे प्रकृति के नितात आत्यतिक स्तर से उतार कर मानव-जीवन की मूल-मनोवृत्तियो के चित्रण की ओर प्रेरित करने लगा था, जिसके कारण वे इस विषय की अनुभूति करने लगे कि सामाजिक जीवन से निरपेक्ष रहने वाला प्राकृतिक दर्शन हमे आत्मस्फुरित करने के स्थान पर निष्क्रिय और अकर्मण्य बना देता है। अत. पतजी ने इसी प्रसंग मे अपने व्यक्तिगत जीवन के रेखाचित्रो को अकित कर एक सच्चे समालोचक के रूप मे इस रहस्य का उद्घाटन किया है कि उनका बिम्बग्राही मानस प्रस्तुत सघर्ष की विषमता को झेलने मे असमर्थ होने के कारण किस प्रकार भावी समाज की कल्पना की ओर प्रधावित हुआ है।

६०. विवेचन के इस प्रसग मे इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि अन्यान्य छायावादी कवियो की भाँति पतजी को भी अपने विरोधी समालोचको का कोपभाजन बनना पडा था, जिनके आक्षेपो का निराकरण करना उनके लिए आवश्यक हो गया। उनके समालोचको ने यद्यपि उनके काव्य-गुणो की प्रशसा करते हुए उसके सुन्दरम और शिवम् रूप की तो अभ्यर्थना की किन्तु वे उसमे सत्य की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक जीवनानुभूति की तीव्रता का अभाव पाने लगे। पतजी को उनका यह आक्षेप बहुत अखरा था। इसमे कोई सदेह नही कि पत जी सत्य के विविध पक्षो से भी परिचित थे और व्यक्तिगत सुख-दु ख के सत्य का काव्याभिव्यजन करना अपने स्वभाव के प्रतिकूल समझते थे, किन्तु उन्हे अपने काव्य-स्वरूप मे ऐसी कोई बात नही मिली, जिसमे सत्य-चित्रण का निरपेक्ष अभाव रहा हो। वस्तुतः पतजी की विचारधारा मे 'सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम्' तादात्म्य-भाव से सम्पृक्त है और उन्हे अलग-अलग श्रेणियो मे विभक्त करना अनुचित है तभी तो वे उनके सम्बन्ध मे लिखते है—

'मुझे लगता है कि सत्य शिव मे स्वय निहित है। जिस प्रकार फूल के रूप-रग है, फल में जीवनोपयोगी रस, और फूल की परिणति फल मे सत्य के नियमो ही द्वारा होती है, उसी प्रकार सुन्दरम् की परिणति शिवम् मे सत्य ही द्वारा हो सकती है। यदि कोई वस्तु उपयोगी (शिव) है तो उसके आधारभूत कारण उस उपयोगिता से सम्बन्ध रखने वाले सत्य मे अवश्य होने चाहिएँ, नही तो वह उपयोगी नही हो सकती। इसी प्रकार अनुभूति की तीव्रता भी सापेक्ष है।'[1]

छायावाद-विषयक मान्यता

६१. यह एक स्मरण रखने योग्य बात है कि कवि की मानसिक भूमिका का उसकी कृतियो पर नैसर्गिक विधान मे प्रभाव पडता है और यदि सौभाग्यवश कोई कवि भावुक के साथ-साथ चिंतक भी होता है तो वह एक बौद्धिक विश्लेषक के रूप मे उसका समीक्षण भी कर सकता है। पतजी के व्यक्तित्व पर यह सिद्धान्त पूर्णतया चरितार्थ होता है। एक समय था, जब वे केवल प्रकृति-सौन्दर्य और ऐन्द्रयिक चित्रण मे ही अधिकतर खोए रहे, किन्तु वयक्रम के विकास के साथ-साथ उनमे क्रमश. प्रौढि आती गई, जिसके कारण उनकी मानसिक वृत्तियाँ सौन्दर्य-लोक का अतिक्रमण कर वस्तुपरक और ज्ञानप्रधान बनने लगी। इसका मूर्त्तिमान प्रमाण उनका 'गु जन-काल' है, जिसमे वे मानव-जीवन के सुख-दु ख और जन-कल्याण की भावनाओ का चित्रण करने की ओर विशेष उन्मुख हुए है। अपनी इस प्रकार की परिवर्तित मनःस्थिति का पर्यालोचन उन्होने वस्तु-जगत् की सामाजिकता के स्थूल धरातल से किया है जो क्रमश· प्रकृति के कल्पनापूर्ण क्रीडास्थल को छोड़कर जीवन के प्रति अधिक आस्थावान बन कर चल सका है। कहना होगा, पतजी का समालोचक-व्यक्तित्व अपने प्रस्तुत परिवर्तन की मूलभूत विचारणो का स्पटीकरण करने मे पर्याप्त

---

१. श्री सुमित्रानंदन पत, 'गद्य-पथ', 'पर्यालोचन', पृष्ठ सख्या ५१।

सचेष्ट है और यही से वे छायावाद के वायवी स्वप्नो को छोडकर अपनी काव्यसाधना के दूसरे युग मे प्रवेश करते है जिसका कारण उन्होने इस प्रकार विवेचित किया है—

"छायावाद इसलिए अधिक नही रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावनाओ का सौन्दर्यबोध और नवीन विचारो का रस नही था। वह काव्य न रहकर केवल अलकृत सगीत बन गया था। द्विवेदी-युग की तुलना मे छायावाद इसलिए आधुनिक था कि उसके सौन्दर्य-बोध और कल्पना मे पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड गया था, और उसका भाव-शरीर द्विवेदी-युग के काव्य की परम्परागत सामाजिकता से पृथक् हो गया था। किन्तु वह नए युग की सामाजिकता और विचारधारा का समावेश नही कर सका था। उसमे व्यावसायिक क्रांति और विकासवाद के बाद का भावना-वैभव तो था, पर महायुद्ध के बाद की 'अन्नवस्त्र' की धारणा (वास्तविकता) नही आई थी। उसके 'हास-अश्रु आशाकाक्षा' खाद्यमधुपानी' नही बने थे। इसलिए एक ओर वह निगूढ, रहस्यात्मक, भावप्रधान (सबजेक्टिव) और वैयक्तिक हो गया, दूसरी ओर केवल टैकनीक और आवरण-मात्र रह गया।"[1]

६२ पतजी ने उपर्युक्त अवतरण मे छायावादी काव्य की जिन सीमाओ का उल्लेख किया है, वे वस्तुत सत्य है। सभी देशो के साहित्य मे युग-परिवर्तन के फलस्वरूप जीवन-विषयक दृष्टिबिन्दुओ मे जो अतर उपस्थित होता है, वह अपने स्वाभाविक क्रम मे वाछनीय रहता है। महायुद्ध के पश्चात् अग्रेजी काव्य मे भी इसी प्रकार की 'अतिवैयक्तिकता, बौद्धिकता, दुरूहता, संघर्ष, अवसाद और निराशा' का सचार हुआ था जिसकी प्रतिक्रिया उसके उत्तरवर्त्ती युग मे हुई। छायावाद-युग भी इस नियम का अपवाद नही रहा। पतजी ने उस युग की कविताओ को उत्तर-युद्ध कालीन अंग्रेजी काव्य की भाँति 'भिन्न-भिन्न रूप से, संक्रान्ति युग के स्नायविक विक्षोभ की प्रतिध्वनियाँ'[2] कह कर उपर्युक्त उद्धरण मे इस बात का सकेत किया है कि साहित्य के लिए छायावाद का अचल छोडकर प्रगतिवाद की ओर बढना सर्वथा समुचित था, क्योकि युग की माँग उसे सामाजिक धरातल पर उतर कर काव्य के प्रति वस्तुपरक दृष्टिकोण लेकर चलने का आमंत्रण दे रही थी। कहने की आवश्यकता नही कि पतजी ने प्रगतिवाद को उपयोगितावाद का ही दूसरा नाम दिया है और उनके मतानुसार वैसे सभी युगो का लक्ष्य सदैव प्रगति की ओर रहा, पर आधुनिक प्रगतिवाद ऐतिहासिक विज्ञान के आधार पर जन-समाज की सामूहिक प्रगति के सिद्धान्तो का पक्षपाती है।'[3]

प्रगतिवाद तथा अन्यान्य प्रवृत्तियो का विश्लेषण

६३ पंतजी ने किसी समय जिस प्रकार छायावाद की अभ्यर्थना की थी, उसी प्रकार प्रगतिवाद के सम्बन्ध मे भी अत्यत आशासापूर्ण शब्दो मे अपना मंतव्य प्रकट किया है। उनके मतानुसार 'प्रगतिवाद, उपयोगितावाद का ही दूसरा नाम है।'[4] वे युगवाणी के लिए प्रगतिवादी दृष्टिकोण आवश्यक समझते है किन्तु उनका उन प्रगतिवादियो से विरोध है जो केवल राजनीतिक तथा आर्थिक आधार पर अपना नवीन सामाजिक सगठन करना चाहते है। वस्तुत पंतजी को प्रगतिशीलता की सास्कृतिक पीठिका पर अधिक विश्वास है जिसका अर्थ यह है कि वे प्रगतिवाद को केवल 'वर्गयुद्ध की भावनाओ से सम्बद्ध साहित्य तक ही सीमित'[5] नही रखना चाहते। इसमे कोई संदेह नही कि वे 'मार्क्सवाद की उपयोगिता एक व्यापक समतल सिद्धान्त की तरह स्वीकार'

१ श्री सुमित्रानन्दन पत . गद्य पथ, 'पर्यालोचन', पृष्ठ ५६।
२ वही, ५७।
३ वही, ७६।
४ वही, ८६।
५. वही, पठ ८७।

करते है किन्तु 'सास्कृतिक दृष्टिकोण से उसके रक्त-क्रांति और वर्ग-युद्ध के पक्ष को मार्क्स की सीमाएँ मानते है।[1] । पतजी की इस प्रकार की मान्यताओ को उनकी काव्य-कृतियो मे भी वाणी मिली है और वे प्रगतिवाद की ओर प्रवृत्त होकर भी अपनी विचारधारा मे अत्यत उदार रह सके है। यही कारण है कि उन्होने अपने काव्य-निर्माण का सपर्क आधुनिक युग-चेतना के साथ करते हुए इस तथ्य की उपेक्षा नही की है कि आज का युग राजनीतिक दृष्टि से जनतत्र का युग तथा सास्कृतिक दृष्टि से विश्वमानवता का युग है जिसके वर्ग-युद्ध को इस युग के विराट सघर्ष का एक राजनीतिक चरणमात्र कहा जा सकता है।[2]

६४. यद्यपि पंतजी ने आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियो और वाद-समीक्षाओ का विश्लेषण अपने अतर्लोक की भूमिका के आधार पर अधिकाशत. किया है जिसे समालोचना के सैद्धातिक पक्ष का ही भव्य निदर्शन कहा जा सकता है, किन्तु यह भी एक निर्भ्रान्त सत्य है कि उनके विवेचन की आधारशिला उनके विवेकशील विचारक का दृष्टिपथ सर्वत्र अनुस्यूत किये हुए है। 'पर्यालोचन' के अन्तर्गत उन्होने जिस युग-जीवन की व्याख्या विश्वालोक के माध्यम से की थी, वह 'उत्तरा' की 'प्रस्तावना' मे अधिक विकसित और प्रौढ बनकर उपस्थित हुई है। इसका प्रमुख कारण पतजी की अध्ययननिष्ठा और चितन-प्रवृत्ति हैं। वस्तुत तत्वग्राही के लिए अपेक्षित जिस उदार बुद्धि की आवश्यकता होती है, वह पतजी के शालीन व्यक्तित्व मे अतर्निहित है और उसी के द्वारा वे भारतीय सस्कृति और जीवन-चेतना के प्रति अटूट आस्था रखते हुए भी विश्व जीवन और मानववाद की ओर अग्रसर हुए है। कहना होगा, प्रगतिवाद के अनतर अध्यात्मवाद की भूमिका मे प्रवेश करते समय पतजी का यह विचारक व्यक्तित्त्व काव्य-सर्जना को भी इतना अधिक अभिभूत किये हुए है कि उसके आकलन से इस विषय का सहसा यह बोध ही नही हो पाता कि किसी समय कविवर पत केवल कल्पना-जीवी और प्रकृति-प्रेमी सौन्दर्य-स्रष्टा कवि ही रहे थे। उनका भौतिक अध्यात्मवाद, जड़-चेतनवाद, यथार्थवाद, तथा आदर्शवाद आदि विषयक विवेचन दार्शनिक उपपत्तियो से भी प्रभावित है और वे आधुनिक मनोविश्लेषणवाद की प्रक्रियाओ का यथातथ्य विश्लेषण करने मे भी पीछे नही रहे है। इस प्रकार पतजी का यह आत्मनिरीक्षण एक ओर उनकी जीवन-आस्था और भावी विश्व-निर्माण की कल्पना का मुखर प्रतीक है, वहाँ उसके अतर्प्रदेश मे उन स्थलो का भी तत्त्वान्वेषण है जिनसे अनुप्रेरित होकर वे अपने कवि-जीवन की विविध भूमिकाओ मे क्रमश विकासोन्मुख बने तथा जिनके मूलवर्ती दर्शन को हृदयगम न कर सकने के कारण उनके आलोचको ने उनके विकास-क्रम पर अनेक प्रकार के अवरोधपूर्ण प्रश्नवाचक चिह्न भी लगाये। उनका प्रत्युत्तर देते हुए उन्होने लिखा है—

'ग्राम्या' के लिए 'युगवाणी' पृष्ठभूमि का काम करती है। ग्राम्या की भूमिका मे मैने ग्रामीणो के प्रति अपनी जिस बौद्धिक सहानुभूति की बात लिखी है, उस पर मेरे आलोचको ने मुझ पर आक्षेप किये है। 'ग्राम-जीवन' मे मिलकर उसके भीतर से मै इसलिए नही लिख सका कि मैने ग्राम-जनता को 'रक्तमास के जीवो' के रूप मे नही देखा है, एक मरणोन्मुखी सस्कृति के अवयव स्वरूप देखा है और ग्रामो को सामतयुग के खण्डहर के रूप मे।[3]"

सांस्कृतिक मान्यताएँ और उनके तत्त्व

६५. पतजी की समालोचनाएँ इस दृष्टि से और अ धिक महत्त्वपूर्ण है कि उनमे विश्व-

---

१ श्री सुमित्रानदन पत 'गद्य-पथ', 'पर्यालोचन', पृष्ठ ८६।

२ श्री सुमित्रानदन पत 'गद्य-पथ', 'पर्यालोचन', पृष्ठ ८७।

३. वही, पृष्ठ ७१।

जीवन का सास्कृतिक दृष्टिकोण एक ऐसा आलबाल बनकर उपस्थित हुआ है जिसकी परिधि में उन्होने युग-जीवन और साहित्य-सचरण की प्रक्रियाओ को परखने की चेष्टा की है। उनकी विवेचन-पद्धति और विचारणाओ पर आस्तिकता का ऐसा मधुर संभार है, जिसके कारण वे सर्वत्र विनम्र बनकर अपना आत्म-प्रकाशन करते चले है। ऐसा प्रतीत होता है कि यदि उनके कवि-रूप के अतरतम का तलस्पर्शी अवगाहन करने मे सुधी समालोचको को मति-भ्रम नही होता तो वे इस प्रकार के समीक्षात्मक निबध लिखने की ओर कदापि उन्मुख ही नही होते किन्तु जब उनके विकास-क्रम की सीमाओ को आवश्यकता से अधिक आशसा या निंदा का स्वरूप प्रदान किया गया तो उन्हे उन भ्रातियो का निवारण करने के लिए उद्यत होना ही पडा। उनका इस प्रकार का प्रयास एक ओर समीक्षा-क्षेत्र मे उनके काव्य-निर्माण का सर्वाधिक विश्वस्त और प्रामाणिक निदर्शन उपस्थित करने का आधार बना, वहाँ दूसरी ओर उनके मेधावी मस्तिष्क के विचार-स्फुलिगो का भी ज्ञान उसके द्वारा हो सका। यदि उनके विवेचन का गम्भीरतापूर्वक अनुशीलन किया जाय तो समय-समय पर उनके काव्य-विषयक किये गये अनुकूल तथा प्रतिकूल समीक्षण के उन पूर्व-पक्षो का सम्यक् समाधान मिल सकता है जो उनके आलोचको ने अपनी विशिष्ट वार्ताओ, निबध-मालाओ मे समय-समय पर अभिव्यक्त किये थे।

६६. पंतजी की प्रमुख मान्यताएँ कुछ विशेष तत्त्वो पर आधारित हैं जिनकी पुष्टि वे सर्वत्र यथाप्रसग करते रहे हैं। उन्होने एक युगजीवी साहित्यकार की भाँति वर्तमान युग-चेतना का प्रभाव सदैव स्वीकार किया है और इस विषय मे उनका यह दृढ विश्वास है कि वे वय-क्रम के साथ-साथ अपनी विचार-प्रौढि मे सर्वथा तारतम्यपूर्ण विधि से ही विकासशील बनते चले है। इस सम्बन्ध मे उनकी तो यह सुनिश्चित धारणा है कि उनके कतिपय आलोचको को उनकी विकास-रेखाओ मे भले ही किसी प्रकार का व्यवधान परिलक्षित हो, किन्तु 'ज्योत्स्ना-काल' से उनके अधिमानस मे जो क्रातदृष्टि प्रादुर्भूत हो गई थी, वही क्रमश विकसित होकर परवर्ती रचनाओं मे मूर्तिमान बनती चली है।' उन्होने अपने विवेचन मे बार-बार साहित्य की सत्ता को राजनीति तथा अर्थव्यवस्था से उच्चतर स्थान प्रदान करते हुए उसकी चरम सन्निहिति विश्व-मानवता मे विलीन होने तथा सास्कृतिक सचरण का नवीन निर्माण करने मे मानी है। यही कारण है कि वे लोक सगठन और मन सगठन मे तादात्म्य स्थापित करने के पक्षपाती है और वस्तुवाद तथा अध्यात्मवाद मे सतुलित सामजस्य लाने के अभिलाषी हैं। उनकी इस प्रकार की मान्यताओ का ही यह प्रतिफल है कि वे वाद-विश्लेषण को सत्यग्रहण करने का एक सुन्दर प्रयास मानते हुए भी उसके दलदल से ऊपर रहकर चलने मे ही जीवन का श्रेयस्कर विधान पाते है और आज के यन्त्रयुग मे कदर्थित की जाने वाली मानवता का समुद्धार केवल इसी ग्राहकता मे समीचीन समझते है कि यत्रो का मानवी-करण कर दिया जाय, जिससे दिन-प्रतिदिन संवर्द्धित होने वाली स्पर्धा और लोभ-भावना का अन्त किया जा सके। इसी प्रकार उन्होने चेतना और पदार्थ की अन्योन्याश्रित संस्थिति निरूपित कर अध्यात्मवाद और मार्क्सवाद को एक ही सत्य के दो पलडे सिद्ध किये है जिनके सतुलन की आज भी युगानुरूप प्रबल आवश्यकता बनी हुई है। वस्तुत पतजी आदर्शवाद, वस्तुवाद, जड-चेतन तथा पूर्व-पश्चिम के श्रेणिभेदों को समाप्त कर इस प्रकार के कृत्रिम आवरण को नष्ट करना चाहते हैं जिससे आज के मनुष्य को युग-सघर्ष के अतराल मे जन्म लेने वाली नव मानवता का वास्तविक आभास हो जाय और वह विश्व के भावी साहित्य-निर्माण के लिए भास्वर ज्योतिष्कण उपलब्ध कर सके।

६७. पंतजी के विचारक-स्वरूप का अब तक जो कुछ विवेचन किया गया, उससे उनके मानसिक धरातल का बोध कर लेना कोई कठिन कार्य नही है। उनकी जीवन-आस्थाएँ काव्य-भूमि पर सजग बन कर इस प्रकार चित्रित हुई हैं जिनमे उनका काव्य-विकास और कला-सौष्ठव युग-जीवन के साथ-साथ निरूपित हुआ है। उनकी समालोचना से यह भी पता चल जाता है कि वे

वर्तमान युग की प्रमुख प्रवृत्तियो के प्रति क्या दृष्टिकोण रखते हैं तथा उनके अन्तर्गत अपना कैसा योगदान निर्धारित करते है। 'कला का प्रयोजन', 'स्वान्त. सुखाय या बहुजन हिताय', 'आधुनिक काव्य-प्रेरणा के स्रोत', 'यदि मै कामायनी लिखता', आदि विषयो पर उन्होने साहित्यिक विधि से जो निरूपण किया है, उससे उनकी सधी दृष्टि और तीक्ष्ण मेधा का पता चलता है। 'काव्य-संस्मरण', 'पुस्तकें, जिनसे मैंने सीखा', 'जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण', 'भारतीय सस्कृति क्या है ?' आदि विषय विशुद्ध समालोचना के अन्तर्गत नही आते, फिर भी उनका पतजी के विचार-पक्ष का निर्धारण करने मे यथोचित महत्त्व है। उनके विश्लेषण मे जहाँ आधुनिक मनोविज्ञान की फ्रायडवादी कामग्रथि तथा निरोध-भावना के प्रति आक्रोश व्यक्त हुआ है वहाँ वे भारतीय दर्शन की सर्वोपरि सत्ता की भूरि-भूरि प्रशसा करने मे भी पीछे नही रहे है। यद्यपि उन्होने आधुनिक काव्य की नव्यतम प्रवृत्ति प्रयोगवाद पर अधिक नही लिखा, फिर भी उनके तुलनात्मक समीक्षण मे उसके सम्बन्ध मे जो विचारणाएँ व्यक्त की गई है, वे यथेष्ट प्रौढ और ग्राह्य है। सच तो यह है कि कालातर मे उनके समक्ष छायावाद और प्रगतिवाद का दुर्बल और अतिरेकपूर्ण पक्ष उपस्थित हुआ उसी प्रकार वे प्रयोगवाद का भी यथामति विश्लेषण कर सके है।

समालोच्य विषयों के पक्ष और उनका मूल्यांकन

६८ पंतजी की समालोचनाओ का निष्पक्ष मूल्याकन करने के लिए इस बात का ध्यान आवश्यक है कि पंतजी उत्तर-द्विवेदी-काल के कवि हैं, अत उन्होने अपनी समालोचनाओ मे मुख्यत: अपनी युग-आस्थाओ को ही वाणी प्रदान की है। वे छायावादी युग के कवियो पर द्विवेदी-युग के कवियो के काव्य-सौष्ठव का कोई प्रभाव स्वीकृत नही करते और न उनसे भावना तथा काव्य-निर्माण के सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार की सृजन-प्रेरणा ही पाते है। उन्होने छायावादी कवियो के लक्ष्य को हिन्दू जाति के जागरण तक ही सीमित न रखकर उनके आध्यात्मिक दृष्टिकोण को पौराणिक आचार-विचारो का अतिक्रमण तक करने वाला निर्दिष्ट किया है, जिस पर सर्वात्मवाद तथा विश्ववाद का प्रचुर प्रभाव है। कालान्तर मे ये छायावादी कवि युग-जीवन से प्रभावित होकर अपनी सूक्ष्म तथा आध्यात्मिक भूमि छोडकर स्थूल तथा भौतिकता की वस्तुपरक दृष्टि पर जिन कारणों से उतर आये, उनका पतजी ने अत्यन्त तर्कपूर्ण दृष्टि से विवेचन किया है। छायावाद के अनन्तर प्रगतिवाद की अवतारणा के मूल दर्शन का उद्घाटन करते हुए उन्होने लिखा है कि 'सत्य के खोज को उडती हुई अस्पष्ट अभीप्सा युग-परिवेश, सामाजिक वातावरण और वैयक्तिक तथा सामूहिक परिस्थितियो से प्रभावित एव घनीभूत होकर वास्तविकता की भूमि पर विचरण करने लगी।'[1]

६९ पतजी द्वारा की गई वाद-समीक्षा का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह भी है कि उन्होने प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद को छायावाद की उपशाखाओ के रूप मे माना है क्योकि 'मूलत' ये तीनो धाराएँ एक ही युग-चेतना अथवा युग-सत्य से अनुप्राणित हुई है।' वे इन तीनो धाराओ को एक दूसरे की पूरक मानते है क्योकि वे अपने रूप विन्यास, भावना-सौष्ठव और विचार-दर्शन मे शनै' शनै एक-दूसरे के निकट आ रही है। इसका कारण उन्होने आज के युग-जीवन को समन्वय तथा सतुलन की ओर बढ़ने के लिए सतत क्रियमाण बने रहना बतलाया है।[2]

७०. पंतजी के काव्य की भाँति उनकी समालोचनाओ मे भी समन्वयवादी दृष्टिकोण परिलक्षित है। उनमे आदर्शवाद तथा वस्तुवाद मे सतुलन लाने का सुन्दर प्रयास है। वे आध्या-

---

१. 'गद्य-पद्य' : आज की कविता और मैं, पृष्ठ १३३

२. वही, पृष्ठ १३९.

त्मिक तथा भौतिक अतिरंजनाओ का विरोध कर दोनो को एक ही सत्य के दो पहलुओ के रूप मे ग्रहण करते हैं, जिनके कारण लोक-कल्याण के लिए महत्तर सास्कृतिक समन्वय मे वे एक दूसरे के पूरक से बनकर सयोजित किये जा सकते हैं। यद्यपि उन्होने काव्य के इन प्रमुख आधुनिक वादो पर स्वतन्त्र रूप से निबन्ध नही लिखे हैं, फिर भी वे 'आज की कविता और मैं' तथा 'आधुनिक काव्य-प्रेरणा के स्रोत' शीर्षक निबन्धो मे तथाकथित वादो का सारगर्भित विवेचन करने मे समर्थ हो सके हैं। उन्होने एक गुणग्राही समालोचक के रूप मे हिन्दी छायावाद के रूप-सगठन के अन्तराल मे युग-परिवेश के साथ-साथ उन आध्यात्मिक, सास्कृतिक तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी भावनाओ का प्रभाव स्वीकार किया है जिनके कारण हमारे छायावादी कवि अपने काव्य के अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के पक्ष मे अभिनव क्रान्ति कर सके। इस प्रसग मे उन्होने छायावाद के ऊपर विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा अंग्रेजी कवि शैली का प्रभाव सबसे अधिक स्वीकार किया है। ऐसा करते हुए वे अपने काव्य निर्माण के प्रेरणा-स्रोतो का विवरण देना भी नही भूले हैं।

७१ अंत मे कहा जा सकता है कि पंतजी की समालोचनाओ का प्रधान स्वरूप उनका निजी काव्य-विश्लेषण रहा है, जिसके अतराल मे युग-प्रवृत्तियो के विविध विधानो का समीक्षण तात्विक दृष्टि से हुआ है। उनकी समालोचनाओं से यह स्वत· सिद्ध हो जाता है कि वे भारतीय सस्कृति मे प्रगाढ आस्था रखने वाले एक ऐसे विचारक हैं जिन पर भारतीय दर्शन, गाधीवाद और अरविन्द के भागवत-जीवन का यथेष्ट प्रभाव है। उनके इस प्रकार के दृष्टिकोण-निर्माण मे पाश्चात्य दर्शन और विचार धाराओ ने भी प्रभूत साहाय्य प्रदान किया है। आज के युग मे प्रचलित राजनीतिक, साहित्यिक और सास्कृतिक वादो के सार-तत्व चुनकर पतजी ने उनके उज्ज्वल पक्ष का सदैव समर्थन किया है और वे यथासम्भव पूर्वग्रहो से दूर रहे है। यद्यपि उनका प्रमुख क्षेत्र कारयित्री प्रतिभा द्वारा काव्य-सृजन करना ही रहा, किन्तु समय-समय पर उनके समालोचको ने उनके काव्यगत विचार-पक्ष को लेकर जो कटु आलोचना की, उनका प्रतिवाद उन्होने अत्यन्त संयत और विवेकपूर्ण विधान मे किया है। अपने विकास की युग-सीमाओ मे क्रमश संचरण करते हुए वे युग-धरातल पर जिन-जिन परिस्थितियो मे विकासोन्मुख बन सके है, उनकी झलक उन्होंने अपनी समीक्षाओ मे ठोस तर्कभित्ति पर दी है। उनके काव्य-समीक्षण मे तुलनात्मक प्रवृत्ति का भी समावेश है और वे कई स्थलो पर भाव-विभोर बनकर विवेच्य विषय मे आत्मसात् भी हो गये है। भाषा-शैली और अभिव्यजन-प्रणाली पर तो पतजी को इतना अधिक अधिकार है कि वे अपनी अनुभूतियो को सर्वत्र सतुलित रखकर उन्हे अपनी सक्षमता मे पूर्ण कौशल के साथ शब्दो मे बांध देते हैं। उनकी समालोचनाओ मे कही पर भी स्वैरवादी उच्छृंखलता का लेशमात्र भी नही है और मेरी मान्यता मे तो पतजी का विचारक अपने विश्लेषण मे इतना अधिक सजग है कि उसके लिए कही पर भी पद-स्खलन के अवसर नही आये हैं। आजकल वे अपने रचना-मे अत्यन्त बौद्धिक और तत्वदर्शी बने हुए हैं, अत. क्या ही अच्छा हो यदि वे आज के साहित्य की युगीन आवश्यकताओ का अनुभव कर अपनी समीक्षण-प्रतिभा द्वारा भावी निर्माण का पथ प्रशस्त करें और समालोचना को सास्कृतिक विधि मे और अधिक प्रौढ और व्यापक बनाकर अभिनवता प्रदान करें।

(३)
पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

७२. पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' का हिन्दी-साहित्य मे अद्वितीय व्यक्तित्व है। अभी तक उनके साहित्य-सौष्ठव का सर्वांगीण परीक्षण नही हो सका है। उनकी कविताओ ने जिस

प्रकार अपने निरालेपन से काव्य-जगत् मे क्राति की है, उसी प्रकार उनके उपन्यास-साहित्य ने भी उपन्यास-विधा को एक नवीन दिशा दिखलाई है। वस्तुत वे एक मौलिक विचारक भी हैं, जिन पर पुस्तकीय अध्ययन की अपेक्षा आत्म-चिंतन और मनन का अधिक प्रभाव है। निबध-समालोचना भी उनका प्रिय विषय रहा है, पर काव्य-उपन्यासो की समता मे उसका आकार-प्रकार बहुत कम है। उनके निबध किसी व्यवस्थित क्रमबद्ध प्रणाली मे न लिखे जाकर जीवन की विशेष परिस्थितियो मे उद्भूत उनके मानस की आतरिक प्रेरणा के उद्गार हैं, जो उन्होने 'मतवाला', 'समन्वय', 'सुधा' 'देशदूत', 'माधुरी', 'हंस', 'सरस्वती' आदि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे समय-समय पर प्रकाशित किए थे। उनके निबधो के सग्रह 'प्रबध-पद्म', 'प्रबध-प्रतिमा', 'चाबुक' तथा 'चयन' नामक पुस्तको के रूप मे प्रकाशित हो चुके है, जिनमे पिछले प्राय चालीस वर्षों की हिन्दी साहित्य की गतिविधि का सामान्य लेखा-जोखा प्रकीर्ण रूप मे मिल जाता है और जिसका कार्यकाल सन् १६२० से लेकर साधारणतया सन् १६५६ तक की परिस्थितियो के निरीक्षण से सम्बन्धित है। वैसे तो निरालाजी ने सास्कृतिक, सामाजिक, आत्मपरक और सामयिक विषयो पर भी निबध लिखे है, किन्तु हमारा उनसे विशेष प्रयोजन नही है। हमे तो केवल उनके समालोचनात्मक निबधो की ही आधारभित्ति ग्रहण करनी है, जिससे उनकी मान्यताओ के परीक्षण के साथ-साथ यह भी जाना जा सके कि उनके द्वारा उन्होने समालोचनात्मक साहित्य को प्रगतिशील दिशा प्रदान करने मे कहाँ तक सहयोग दिया है। निरालाजी ने 'रवीन्द्र कविता कानन' के अतिरिक्त अन्य कोई स्वतन्त्र पुस्तकाकार समालोचना नही लिखी, अत उनकी समालोचक-प्रतिभा केवल निबधो के कलेवर मे ही परिलक्षित की जा सकती है। वस्तुत उनके निबध उनके समालोचक-व्यक्तित्व का आभास देने के एकमात्र साधन हैं।

सैद्धांतिक पक्ष और भाषा-विषयक विचार

७३. निरालाजी की समालोचना का एक सैद्धातिक पक्ष है। वे साहित्य और भाषा का अटूट सम्बन्ध मानते है, पर उन्हे यह बात पसद नही कि सर्वत्र सरल भाषा को ही प्रोत्साहन दिया जाय। वास्तव मे वे विषयानुकूल भाषा के पक्षपाती है। उनके मतानुसार "यथार्थ साहित्य नेताओं के दिमाग के नपे-तुले विचारो की तरह, आय-व्यय की संख्या की तरह प्रकोष्ठो मे बन्द होकर नही निकलता। वह किसी उद्देश्य की पुष्टि के लिए नही आता, वह स्वय सृष्टि है। इसीलिए उसका फैलाव इतना है, जो किसी सीमा मे नही आता।"[1] छायावाद की अभ्यर्थना मे भी उन्होने यही तर्क उपस्थित किया है और जो लोग उसमे दुर्बोधता पाते है, उसे वे छायावाद का दोष न मानकर उन्ही के मस्तिष्क की कमजोरी सिद्ध करते है। वस्तुत निरालाजी के मतानुसार तो "छायावाद की कविताएँ भाषा-साहित्य के विकास के विचार से अधिक विकसित रूप है।"[2] वे छायावादी प्रणाली के मुक्त-काव्य और मुक्त-छन्द की आवश्यकता का समर्थन भी अत्यन्त प्रबल शब्दो मे करते हैं। उन्होने मनुष्यो के कर्म बन्धन-मोक्ष की भाति कविता की भी मुक्ति मानी है, जो उसके छन्दो के शासन से अलग होने पर होती है।[3] उनके मतानुसार मुक्त काव्य साहित्य के लिए किसी भी काल मे अनर्थकारी नही हो सकता, क्योकि उसके द्वारा साहित्य और समाज मे कल्याणमयी स्वाधीन-भावना का सचार होता है। उन्होने वैदिक कालीन काव्य-साहित्य की स्वच्छद सृष्टि की प्रशंसा कर परवर्त्तीकाल के उस साहित्य की निंदा की है जो अनुशासन के नाम पर अनेक प्रकार से बन्धनो से युक्त बना दिया गया है। उनके मतानुसार "मुक्त छन्द वह है जो छन्द की भूमि

१. प्रबन्ध : 'पद्म', 'साहित्य और भाषा', पृष्ठ १०।

२. प्रबन्ध-पद्म, पृष्ठ १२।

३. प० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला 'परिमल' की भूमिका, पृष्ठ १४।

मे रहकर भी मुक्त है तथा जिसकी विषम गति मे भी एक ही साम्य का अपार सौन्दर्य झलकता है।" उनके मतानुसार वस्तुत 'मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह' होता है।"[१]

तुलनात्मक प्रवृत्ति और उसकी आधारशिला

७४ निराला जी की समालोचनाओ मे तुलनात्मक प्रवृत्ति भी है। वे विवेचनात्मक शैली द्वारा दो भिन्न-भिन्न भाषाओ के काव्यकारो मे विचार-साम्य की झलक बडी कुशलता से अन्वेषित कर सके हैं। ऐसा करने मे उनका साहित्य-ज्ञान और उनकी ग्राहिका-शक्ति परम सहायक रहे हैं। उन्होने एक समन्वयकारी साहित्यकार की भाँति भारत की सास्कृतिक एकता में अखंड विश्वास रखकर 'मुसलमान और हिन्दू कवियो मे जो विचार-साम्य'[२] विवेचित किया है, उसने कालातर मे अनेक समालोचको को इस विषय का विशेष अध्ययन करने की प्रेरणा दी है। ऐसा करते हुए निरालाजी ने जो प्रतिमान बनाया है, वह यही है कि 'बाह्य-रूपो मे भले ही दो विभिन्न जातियो के मानसिक स्तर मे साम्य न ढूँढा जा सके, किन्तु उनके अतरात्मा की आभा तो एक ही चिरतन सत्य से आलोकित रहती है।' निरालाजी की ऐसी समालोचनाओ की यह भी एक विशेषता है कि वे अपने मूल विषय पर आने के पूर्व जिस सैद्धान्तिकता की अवतारणा कर लेते हैं, वह उन्हे उसके प्रकृन प्रतिपादन मे बराबर सहायता देती चलती है। उनका सर्वत्र यही प्रयत्न रहता है कि वे अपनी मान्यताओ के अनुकूल तथ्योपलब्धि करा सकें। यही कारण है कि जहाँ उनका अन्य विचारको से मतभेद भी होता है, वे उसे निर्भीकता के साथ व्यक्त करने मे नही हिचकिचाते। उनकी इस प्रकार की दृढनिष्ठा के कारण ही उनका हिन्दी-साहित्य मे विशिष्ट व्यक्तित्व बन सका है और उनकी समालोचना कृतियो मे भी इसी स्वतंत्र चिंतन की छाया है, जिसमे प्राचीन काव्य-शास्त्र की परम्परायुक्त परिपाटी के अनुसार सैद्धान्तिकता और शास्त्रीयता का तत्वानुसंधान करने वाले जिज्ञासुओ को निराश ही होना पडेगा।

व्याख्यात्मक प्रणाली और उसका निदर्शन

७५. निरालाजी की समालोचनाएँ व्याख्यात्मक प्रणाली और तर्क-शक्ति से भी आपूरित है। वे अपने विषय-प्रतिपादन को तब तक विस्तार देते चलते हैं, जब तक उन्हे यह विश्वास न हो जाय कि वे अपना मूल मतव्य पूर्णता के साथ प्रकट कर चुके हैं। जो बात उनके मन के अत्यन्त अनुकूल अथवा अत्यधिक प्रतिकूल होती है, उसकी तो वे बाल की खाल निकालकर ही छोडते हैं। उस समय उन्हे इस विषय का बहुत कम ध्यान रह पाता है कि उनके इस प्रकार के विवेचन की साहित्य-जगत् मे क्या प्रतिक्रिया होगी। ऐसे अवसरो पर वे इधर-उधर से बटोर कर ऐसे अनेक प्रमाणो का सकलन कर लेते हैं, जिनके द्वारा वे बलपूर्वक अपने मान्यतागत सत्य की पुष्टि कर सकें। हाँ, यह बात दूसरी है कि ऐसी स्थिति मे तथ्यग्राही पाठक उनकी मनोवृत्ति का आभास अवश्य पा लेते है। उनकी इस प्रकार की समालोचनाएँ अत्यन्त प्रखर और ओजस्विनी हैं। न जाने किन परिस्थितियो से बाध्य होकर निरालाजी ने 'पंतजी और पल्लव' शीर्षक विशद और व्यापक समालोचना इसी प्रकार की प्रणाली मे लिखी। उनकी यह समालोचना अपने आकार-प्रकार मे अत्यन्त विस्तृत समालोचना है जिसमे व्यग्य और कटाक्ष का स्थान-स्थान पर प्रयोग हुआ है। उसका मूल उद्देश्य सम्भवत: पतजी की काव्य-कला के दुर्बल पक्ष का ही उद्घाटन करना रहा है, तभी तो वे 'पल्लव' की अनेक पंक्तियो का साम्य डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा अग्रेज कवि

---

१ प० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' 'परिमल' की भूमिका; पृष्ठ २१।

२ 'प्रबन्ध-पद्म', पृष्ठ १६-४४।

शैली आदि की काव्य-रचनाओ के साथ विवेचित कर वे पतजी को 'चोर कवि' तक कह गये है। पतजी पर निरालाजी का यह प्रहार अत्यन्त मर्मबेधी है, जिसे पतजी का सुकुमार व्यक्तित्व न जाने किस प्रकार सहन कर सका। सम्भव है, इसी प्रहार को न झेल सकने के कारण ही पतजी ने आगे चलकर अपने एक काव्य का समर्पण अपने इस कठोर आलोचक को किया। यदि पतजी अपने 'पल्लव' की एक प्रति यथासमय निरालाजी को भेज देते और अपने पल्लव के 'प्रवेश' मे निरालाजी के छन्दो को बगला-काव्य से प्रभावित न बतलाते तो सम्भवत निरालाजी का वह अह जागृत न होता जिसके वशीभूत होकर उन्होने पल्लव की ऐसी कठोर आलोचना की। स्पष्ट है कि पतजी के 'पल्लव' की जिस भूमिका को 'छायावादी काव्य का घोषणापत्र' कहा जाता है, उसे निरालाजी ने निरर्थक सिद्ध कर उसका शोषण-सा कर लिया। इस समालोचना के एक-एक वाक्य मे तीव्र व्यंग्य भरा पडा है। इस आलोचना मे निरालाजी पतजी के वैयक्तिक स्वभाव पर भी चुटकी लेने मे नही चूके है। वे लिखते है—

"स्वभाव मे 'फीमेल ग्रेसेज' की प्रधानता के कारण पतजी कवित्त छद की मौलिकता, उसका सौन्दर्य, मन को उच्च परिस्थिति मे ले जाने वाली उसकी शक्ति, उसकी स्वर-विचित्रता आदि समझ नही सके।"[1]

'पंतजी और पल्लव' : समालोचना का विशद स्वरूप

७६ निरालाजी की 'पतजी और पल्लव' शीर्षक समालोचना को मै उनके व्यक्तित्व-विकास की एक कडी मानता हूँ। 'प्रबन्ध-पद्म' का दो-तिहाई कलेवर तो केवल यही समालोचना घेरे हुए है। उसके ६४ पृष्ठो मे न जाने कितनी बार निरालाजी का पतजी पर आक्रोश अभिव्यजित हुआ है। अपने समालोच्य विषय की भूमिका मे उन्होने पतजी के पल्लव के 'प्रवेश' भाग के उन-उन विशेष अशो का कटु-सत्य-समन्वित-शैली मे रहस्योद्घाटन करने की चेष्टा की है जिन्हे 'पंतजी ने कविता, ब्रजभाषा, खडी बोली, अतीत के कवि, कवित्त, स्वच्छद छद, बगला की कविता, निरालाजी के छद, शब्दो के रूप-राग, स्वर आदि अनेक विषयो को नवाविष्कृत वैज्ञानिक सत्य की हैसियत से हिन्दी के दरिद्र-भण्डार मे लाने की चेष्टा की है।[2] पतजी ने 'अपनी कविता की कारीगरी' की व्याख्या जिस साँचे से की है, उसे निरालाजी ने कदर्थित करने मे कोई कसर नही रखी है। वैसे तो प० पद्मसिह शर्मा ने भी तुलनात्मक समालोचना का एक दृष्टिकोण रखा था, किन्तु वह बिहारी की वकालत से बढकर और अधिक कुछ न था। निरालाजी ने अपनी इस आलोचना मे उसका विध्वसात्मक रूप ही अधिक ग्रहण किया। उन्होने पतजी के काव्य की न केवल निन्दा ही की, अपितु यह भी सिद्ध किया कि उन्होने जहाँ कही से भावापहरण किया है, उसे सौन्दर्यपूर्ण और मौलिक न बनाकर और भी अधिक बिगाड दिया है। हाँ, यह बात अवश्य है कि निरालाजी ने पंतजी की मौलिकता की भी प्रशंसा उनकी 'मधुरता' के रूप मे की है। उन्होने 'पल्लव' की समालोचना के कुल तीस विषय चुने थे, किन्तु वे केवल आठ विषयो पर ही प्राय: एक सौ पृष्ठो मे विवेचन कर गये।[3] यदि उनके द्वारा कही सारा विश्लेषण किया जाता तो 'पल्लव' की आलोचना स्वत एक स्वतंत्र ग्रंथ बन जाती। वैसे तो 'पल्लव' की आलोचना मुख्यतया उसके दोष-दर्शन को लेकर ही लिखी गई है, किन्तु कुछ स्थलो पर निरालाजी पतजी की काव्य माधुरी की भी प्रशसा करने मे पीछे नही रहे हैं। जैसे—

"पतजी मे सबसे जबरदस्त जो कौशल है, वह शैली की तरह अपने विषय को अनेक

---

१. 'प्रबन्ध-पद्म'—'पतजी और पल्लव', पृष्ठ ८७।

२. 'प्रबंध-पद्म'—'पंतजी और पल्लव' पृष्ठ ५६।

३. दे०, पतजी और पल्लव।

उपमानो से संवार कर मधुर से मधुर और कोमल से कोमल कर देना। भावना की जागृति तो नही, परन्तु सौन्दर्य के मनोहर रूप-जगत पंक्ति-पंक्ति मे मिलते हैं। रूपक और अलंकार बाँधना उनके बाएँ हाथ का खेल है। सफलता जैसे स्वय उनकी उपासना से प्रसन्न हो रही है।"[1]

'रवीन्द्र-कविता-कानन' और दार्शनिक पक्ष

७७ निरालाजी की समालोचनाओ का एक दार्शनिक पक्ष भी है। 'काव्य में रूप और अरूप', 'शून्य और शक्ति' तथा 'साहित्य का फूल अपने ही वृत्त पर'[2] शीर्षक निबधो से इस कथन की पुष्टि होती है। उन्होने 'रवीन्द्र कविता कानन' के अतर्गत भी रवीन्द्र बाबू के काव्य-दर्शन का एक विशेष पक्ष विवेचित किया है। वास्तव मे जिस समय उनकी इस पुस्तक का हिन्दी समालोचना-जगत् मे प्रकाशन हुआ, उस समय रवीन्द्र-साहित्य को हिन्दी-भाषी प्रदेश मे बोधगम्य और प्रसारित बनाने का अन्य कोई महत्त्वपूर्ण प्रयत्न नही हुआ था। उन्होने इस पुस्तक मे रवीन्द्र-काव्य मे प्रदर्शित उनकी प्रतिभा का विकास, स्वदेश-प्रेम, महाकवि का सकल्प, शिशु-सबंधिनी रचना, शृंगार तथा संगीत काव्य का विवेचन अत्यन्त भाव-प्रवण शैली मे किया है। प्रसगानुसार अपने विवेचन को पुष्ट बनाने के लिए जिन काव्याशो के उद्धरण दिए गए है, वे अत्यन्त आह्लादजनक है। इस समालोचना मे व्याख्यात्मक शैली का प्रयोग अधिक है। वास्तव मे विशुद्ध समालोचनात्मक प्रबध की दृष्टि से निरालाजी ने यही एक पुस्तक लिखी है, अन्यथा उनकी अन्य समालोचनात्मक कृतियो मे तो केवल स्फुट निबध ही आते है, जिनसे तत्वग्रहण करने के पश्चात् ही निरालाजी की विचारधारा का आकलन किया जा सकता है।

आत्म-विश्लेषण की भावना

७८. निरालाजी के समालोचक-व्यक्तित्व के निर्माण मे उनके सम्बन्ध मे की गई प्रतिकूल समालोचनाओ ने भी बडा सहयोग दिया है। उनकी अच्छी से अच्छी कविताएँ प्रारम्भ मे केवल इसीलिए प्रकाशित नही हो सकी, क्योकि उनमे छन्दो का विधान पिंगलशास्त्र के अनुसार ठीक नही था। द्विवेदी-युग के बाह्यमूलक और इतिवृत्तात्मक दृष्टिकोण के सम्मुख उन्हे अपनी स्थिति सुदृढ बनाने के लिए यथेष्ट संघर्ष करना पडा। छायावादी कवियो के सिर पर किसी भी महान् आचार्य का सरक्षणशील वरद हस्त न था, अत इन कवियो को स्वय अपने विषय की युक्तिसगत विवेचना के लिए प्रस्तुत होना पड़ा। निरालाजी भी इसके अपवाद नही रहे। उन्होने भी प्रसाद, पत और महादेवी की भाँति अपने काव्य-पक्ष के विविध विधानो का विश्लेषण किया। उनका यह आत्मनिरीक्षण भी हमारे समालोचना-साहित्य की वृद्धि का कारण बना। 'मेरे गीत और कला' शीर्षक निबध मे उन्होने अपने काव्य की जो समालोचना की है, वह उनकी अन्तश्चेतना को अवगत कराने के लिए सर्वोत्तम साधन है। वैसे तो प० नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी इसके पूर्व भी 'भारत' पत्र मे उनके काव्य सौष्ठव का विश्लेषण प्रसाद और पंत की विवेचना के साथ किया था, किन्तु उनके विरोधी समालोचको ने भी उनके विपक्ष मे कम नही लिखा। अत सभी दृष्टियो से निरालाजी को अपने काव्य-विवेचक के रूप मे समालोचना के क्षेत्र मे आना ही पडा।

कला विषयक दृष्टिकोण

७९ अपने 'गीत और कला' का विवेचन करने के पूर्व निरालाजी ने अपने कला-

---

१ 'प्रबध-पद्म', पृष्ठ १४८।

२. ये तीनों लेख 'प्रबध-पद्म' में सकलित है।

विषयक दृष्टिकोण का निरूपण किया है। यह निरूपण इसलिए किया गया कि उनकी काव्य-सौन्दर्य सम्बन्धी मान्यताओ मे किसी प्रकार का भ्रम न हो जाय। वस्तुत निरालाजी का कला के प्रति जो दृष्टिकोण है, वही उनकी काव्य-रचनाओ मे प्रस्फुटित है। अत उनके कला-विषयक प्रतिमान की महत्ता उनके मानसिक विधान को निकटतम रूप से समझने मे परम सहायक है। यहाँ इस बात का स्मरण रखना भी आवश्यक है कि छायावादी काव्यकारो का समीक्षण प्रतिमान स्वच्छन्दतावादी सौन्दर्यमयी वृत्तियो से निर्मित था, अत निरालाजी के इस विवेचन मे भी उनकी प्रतिध्वनि पा जाना सहज स्वाभाविक है। वे लिखते है—

"कला केवल वर्ण, शब्द, छन्द, अनुप्रास, रस, अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नही, किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है, पूरे अगो की सत्रह साल की सुन्दरी की आँखो की पहचान की तरह—देह की क्षीणता—पीनता मे तरग की उतरती-चढती हुई, भिन्न वर्णों की बनी वाणी मे खुल कर क्रमश मद मधुरता होकर लीन होती हुई—जैसे केवल बीज से पुष्प की पूरी कला विकसित नही होती, न अकुर से, न डाल से, न पौदे से, जड से लेकर तना, डाल, पल्लव और फूल के रंग रेणु गध तक फूल की पूरी कला के लिए जरूरी है, वैसे ही काव्य की कला के लिए काव्य से सभी लक्षण, और जिस तरह फूलो की सुगन्ध पेड के दृश्य समस्त भाग को ढके हुए, अपने सौन्दर्यतत्व के भीतर रखती हैं पेड की काष्ठ-निष्ठुरता दिखती हुई भी छिपी रहती है, उसी तरह काव्य-कला आवश्यक अशोभन वर्ण-सम्प्रदाय को अपनी मनोज्ञता के भीतर डाले रहती है।"[1]

८०. कहने की आवश्यकता नही कि निरालाजी का यह कला-विषयक विश्लेषण किसी भावमयी और कल्पनापूर्ण कविता से कम नही है। उन्होने इसी प्रतिमान से सस्कृत के सुमधुर कवि कालिदास की कृतियो का परीक्षण किया है और इसी से वे अपनी प्रथम रचना 'जूही की कली' का काव्य-सौन्दर्य अर्थ-विवेचन के साथ स्पष्ट कर सके है।[2] वस्तुत उन्होने 'जूही की कली' नामक कविता के भाव-सौन्दर्य और कला-सौष्ठव की जो व्याख्या की है, उसकी समता मे हिन्दी साहित्य मे बहुत कम विवेचनाएँ मिलती हैं। उनके विवेचन का निष्कर्ष यही है कि वे कला को खण्ड रूप मे न देखकर सम्पूर्ण या 'सकल' रूप मे देखते हैं और केवल सूक्ति अथवा उपदेश को कवि की कमजोरी मानते हैं। 'जूही की कली' मे उनके मतानुसार केवल अलकार, रस या ध्वनि ही नही, अपितु इन तीनो का समन्वय है। इस प्रकार उनकी कला-विषयक धारणा के अनुसार इस कविता मे कला की पूर्णता अभिव्यक्त है।

निजी काव्य-सौष्ठव की व्याख्या

८१. निरालाजी ने 'मेरे गीत और कला' शीर्षक आलोचनात्मक निबध मे जहाँ अपने काव्य का सौष्ठव विधान 'जूही की कली नामक रचना का विश्लेषण करते हुए प्रस्तुत किया है, वहाँ पतजी के गुजन की 'चाँदनी' शीर्षक कविता की अनेक असगतियाँ भी सिद्ध की हैं।[3] उन्होने अलग-अलग उसके छन्दो मे अतारतम्य, सिद्ध कर उसे पतजी की 'बिगडी कला' कहा है।[4] इसी निबन्ध मे उन्होने अपने 'परिमल' सग्रह की 'निवेदन' रचना का भी व्याख्यात्मक संस्तव उसे 'मुक्त प्रेम की तस्वीर'[5] कहकर किया है। इसी प्रकार उनकी 'मौन रही हार', 'जागो जीवन धनिके' तथा

१. 'प्रबध-प्रतिमा'—'मेरे गीत और कला', पृष्ठ २७२।
२. वही, पृष्ठ २८६ २९०।
३ वही, पृष्ठ २९१-२९५।
४ वही, पृष्ठ २९५।
५. वही, पृष्ठ २९६।

'बादल राग' शीर्षक 'मुक्त गीत पद्धति' की छ रचनाओ का विश्लेषण भी उक्त निबन्ध मे हुआ है।[1] स्पष्ट है कि यह निबन्ध निरालाजी को बाध्य होकर उस समय लिखना पडा, जब उनकी कविता की अनेक कटु आलोचनाएँ की जाने लगी थी। इस समालोचना द्वारा निरालाजी ने अपने अध्येताओ को अपने काव्य-सौष्ठव को हृदयग्राही बनाने की एक दृष्टि दी है, जिसके द्वारा उनके साहित्य-जलधि का सतरण करने मे सहायता मिलती है। यही इस समालोचना का प्रमुख प्रयोजन अथवा उद्देश्य है।

आलोचना-प्रत्यालोचनाओं मे आक्रोश

८२ आधुनिक हिन्दी समालोचना के इतिहास मे यह एक अत्यन्त खेदजनक विषय रहा कि कतिपय समालोचको ने अपने वैयक्तिक स्वार्थों और विरोधो के कारण साहित्यालोचन के उदात्त पक्ष को कलकित करने मे भी कोई कसर नही रखी। वस्तुत आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे समालोचना का जन्म भी कुछ विद्वेषपूर्ण परिस्थिति मे ही हुआ था और उसका आज भी अन्त नही है। इससे यह तो अभिप्राय नही कि समालोचना के नाम पर सदैव विकृत साहित्य ही सामने आया, क्योकि यदि ऐसा ही होता तो आज समालोचना-साहित्य इतना समृद्ध विकास नही कर पाता। फिर भी पारस्परिक विद्वेष की भावना भी अपना स्थान रखती रही। इस विद्वेष-वृत्ति का स्वरूप छोटे-बड़े सभी श्रेणियो के समालोचको मे न्यूनाधिक मात्रा मे मिलता है। इसका एक उद्देश्य यह भी होता है कि अपनी सत्ता सर्वोच्च सिद्ध की जाय और अपनी समता मे किसी उदीयमान साहित्यकार को आगे न बढने दिया जाय। वस्तुत यह स्थिति शोभनीय नही कही जा सकती। जिस छायावाद और रहस्यवाद को कालान्तर मे इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया गया, उसे कितने सघर्षो से जूझने के पश्चात् सफलता मिल सकी थी, यह हमारे साहित्यालोचन में एक ऐतिहासिक विवेचना की सामग्री बन गई है। यदि इस धारा के काव्यकारो मे विशेष प्रतिभा न होती तो वे अपना अस्तित्व कभी स्थापित कर ही नही सकते थे। उन साहित्यकारो मे निराला जी को तो सबसे अधिक सघर्ष करना पडा। उनके पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित समालोचनात्मक निबन्धो से यह स्पष्ट ध्वनित हो जाता है। न जाने उन्हे कितने समय पर्यन्त आलोचना-प्रत्यालोचना के इस दगल मे अपने दाँव-पेच दिखलाने पडे। उन पर विरोधियो के आक्रमण भी कम कठोर न थे। छोटा-मोटा साहित्यकार होता तो कभी पलायन कर जाता, पर निरालाजी अपने रुद्र रूप मे सदैव सुस्थिर बने रहे। उनकी ऐसे समय मे लिखी गई समालोचनाओ मे जो तिलमिलाने वाला व्यंग्य है, वह पाशुपत अस्त्र की मार से कम नही कहा जा सकता। इन समालोचनाओ मे वे पूरे साहित्यिक मल्ल बनकर अखाडे मे उतरे हैं। अत. उनकी समालोचनाओ का जो एक प्रत्यालोचना-विषयक पक्ष है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और ओजस्वी है। सन् १६२८ मे 'कला के विरह मे जोशीबन्धु'[2] और सन् १६३२ मे 'साहित्यिक सन्निपात या वर्तमान धर्म'[3] शीर्षक जो उन्होने समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं, उनमे उनका कुठित मनोभाव जिस वेग वे फूत्कार उठा है, वह किस ज्वाला से कम है? इन निबन्धो मे उन्होने क्रमश तत्कालीन 'विशाल-भारत' सम्पादक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और जोशी-बन्धुओं (डा० हेमचन्द्र जोशी और पं० इलाचन्द्र जोशी) को जो मुँह की खिलाई है, वह उनके व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण अश है। ऐसे ही निबन्धो और कृतियो ने उन्हे हमारे साहित्य का 'निराला' बनाया है। अत. उनकी

१ प्रबध-प्रतिमा, पृष्ठ २६६ से ३०२।

२ प्रबध-प्रतिमा, प्र० सस्करण, पृष्ठ १६२-२१६।

३ वही, पृष्ठ ८०-१२१।

इस प्रकार की समालोचनाओ को सर्वांगीण और निर्दोष न मानता हुआ भी मैं उन्हे उनकी समालोचना-विधा का एक महत्त्वपूर्ण अग अवश्य समझता हूँ।

सम लोचना के अन्यान्य वषय

८३ निरालाजी का सस्कृत और बगला साहित्य का अध्ययन भी व्यापक है। उनका हिन्दी साहित्य से तो परिचय उनके पश्चात् ही हुआ था। यही कारण है कि उन्हे सस्कृत और बगला के काव्यकारो ने कम नही लुभाया। उनके काव्य पर दार्शनिकता की जो छाया पडी, उसका बहुत कुछ श्रेय 'रामकृष्ण-मिशन' के सम्पर्क के साथ-साथ उक्त साहित्यो के मनन और चिन्तन को भी है। निरालाजी इन साहित्यो के भाव-सौष्ठव पर मुग्ध रहे हैं और अपनी समालोचनाओ मे उन्होने इनके महान् कवियो का भी विवेचन किया है। यद्यपि वह विवेचन सामान्य श्रेणी का ही है, किन्तु उसके बीच-बीच कही-कही पर बडी गम्भीर और पते की बाते कही गई है। ऐसी विवेचनाओ मे 'बगाल के वैष्णव कवियो की शृगार वर्णना'[1] 'विद्यापति और चण्डिदास का तुलनात्मक अध्ययन'[2] कविवर श्री चण्डिदास[3] और कवि गोविन्ददास[4] की कुछ कविताओ का भाव-सौष्ठव मुख्य है। इनके अतिरिक्त निरालाजी ने हमारी नाटक-समस्या[5] और उपन्यास विधा[6] पर भी सैद्धान्तिक विश्लेषण किया है। यह विवेचन निरालाजी की अपनी उपलब्धियो के अनुसार हुआ है। उन्होने अपनी समालोचनाओ मे सर्वत्र साहित्य की सत्ता को राजनीति से श्रेष्ठ माना है और जो नेता उसे अपेक्षाकृत हीन मानते है, उनकी निन्दा की है। साधारणतया निराला जी की कुछ समालोचनाएँ उनकी स्वैरवादिता-सी व्यक्त करती हैं, किन्तु वे उसे अपना दुर्बल पक्ष न मानकर सबल पक्ष मानते हैं, क्योकि उसमे उनकी विचाराभिव्यक्ति अकृत्रिम विधि से प्रकट हो सकी है। ऐसा प्रतीत होता है कि निरालाजी के व्यक्तित्व मे एक उद्दाम प्रवेग-है जो अपने आत्मसम्मान के विरुद्ध सामान्य परिस्थिति के उदय होते ही चोट खाकर झनझना उठता है। उस समय उनके लिए अपने निबन्धो और समालोचनाओ मे विचारधारा को संयत और मर्यादित करना कठिन-सा हो जाता है, अन्यथा ऐसी कोई बात नही कि उनमे गुणग्राहकता न हो। इसका एक बडा प्रमाण तो यही है कि वे किसी समय पतजी के काव्य के कठोर आलोचक रह कर भी उन्हे 'कवि की हैसियत से उस युग के कवियो मे लोकमत द्वारा सबसे अधिक सफल कवि'[7] मानते है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि 'आलोचना मे उनकी (पतजी की) आलोचना करना मेरा उद्देश्य नही था, कला का विवेचन ही लक्ष्य था, इसीलिए कबीर, तुलसी जैसे हिन्दी के योग्यतम रत्नो को बिगडे काव्य के उदाहरण मे मैंने पहले रखा है।[8]

व्यंग्यपूर्ण शैली का प्रयोग

८४. निरालाजी की समालोचनाओं मे 'भाषा की गति और हिन्दी की शैली' पर भी विचार हुआ है। आज से प्राय ३४ वर्ष पूर्व सवत् १९८० के समन्वय के वर्ष २ अक ९ मे उनका

---

१ प्रबध-प्रतिमा, पृष्ठ ३१३-३४०।
२ वही, पृष्ठ १४८-१७१
३ वही, पृष्ठ १७२-१७८।
४ वही, पृष्ठ १७८-१९०।
५ वही, पृष्ठ ६३-७३।
६. वही, पृष्ठ २२०-२२५।
७ वही, भूमिका, पृष्ठ २।
८. वही, पृष्ठ २।

चावल ज्यो के त्यो टंगे हुए रह जाते है, इनकी प्रतिभा के पानी तक कविता की जाँच पहुँचाती ही नही।"[१]

इसी प्रकार निरालाजी ने द्विवेदी-मण्डल के अन्य कवियो पर भी चुलबुले व्यग्य किए है। सौभाग्यवश बाबू मैथिलीशरण गुप्त इनकी प्रशसा के भाजन अवश्य बने रह गए है, जिसका प्रमुख कारण गुप्तजी का काव्य ही की भाँति सरल और शालीन व्यक्तित्व कहा जा सकता है।

सूत्र-प्रणाली का सौकर्य

८६. निरालाजी की समालोचनाओ मे सूत्र-प्रणाली के सिद्धान्त-वाक्य भी मिलते हैं, जिन्हे उनकी व्याख्या और विवेचना के अन्तर्गत ढूँढा जा सकता हैं। उनकी समालोचना-शैली मे यह प्रवृत्ति प्रारम्भ ही से रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि समालोचना करते समय आलोच्य विषय का विश्लेषण उन्हे इस प्रकार का स्वाभाविक उद्भावन करने के लिए प्रेरित-सा करता रहता है। ऐसे वाक्यो मे उनकी समालोचना का सत्व आ जाता है। साथ-ही-साथ उनसे निरालाजी की तत्त्व-चयनिका बुद्धि का भी आभास मिलता है। काव्य, साहित्य, जीवन-दर्शन और कल्पना आदि के विवेचन मे उन्होने इस प्रकार की प्रवृत्ति दिखलाई है। उनसे यह भी अनुमान होता है कि निरालाजी यदि समालोचना के सैद्धान्तिक पक्ष का शास्त्रीय विवेचन करते तो उन्हे इस क्षेत्र मे भी यथेष्ट सफलता मिल सकती थी। पर वे ऐसा नही कर सके, क्योकि परिस्थितियाँ उनके प्रतिकूल थी। उन्हे ऐसे समालोचको से जूझना था जो केवल भाव, भाषा, अलंकार और रस की श्रेणियो मे ही की गई शास्त्रीय विवेचना को ही काव्य का सर्वस्व मानते थे। जिन समालोचको ने कवियो की एक विशिष्ट श्रेणी (छायावाद से तात्पर्य है) पर एकदेशीयता का दोष लगाकर उनकी समालोचनाएँ की, उन्हे निरालाजी ने 'अपनी ही दिशा मे ऊँट बनकर चलने वाले'[२] कहा। इसी प्रकार जिन आलोचको ने अपनी समालोचनाओ मे समालोच्य कवि अथवा साहित्यकारो की केवल प्रशंसा की, उसे उन्होने 'बेवक्त की शहनाई'[३] से अधिक महत्त्व नही दिया। समालोचक के कर्त्तव्य का निर्देश करते हुए उन्होने तत्कालीन हिन्दी समालोचना की स्थिति का जो विवरण अपने उक्त निबन्ध (काव्य-साहित्य) मे दिया है, उसका उद्धरण निरालाजी के समीक्षक दृष्टिकोण को समझने मे यथेष्ट सहायक है—

'जिस तरह व्याकरण भाषा का अनुगामी है, समालोचक उसी तरह कृति का। कृति की दुर्दशा करके यदि उस कृति के फूल खिले है और उनमे सुगन्ध है, समालोचक अपना जितना भी जबरदस्त ठाट खडा कर दे, वह कभी टिक नही सकता। इसलिए समालोचक को कृति के साथ ही रहना चाहिए। 'प्रसाद जी' की आजकल जैसी आलोचनाएँ निकल रही है, उनमे अस्सी फी सदी आलोचना सहानुभूति से रहित और आक्रमण है। प० रामचन्द्र शुक्ल की 'काव्य मे रहस्यवाद' पुस्तक उनकी समालोचना से पहले उनके अहंकार, हठ, मिथ्याभिमान, गुरुडम तथा रहस्यवादी या छायावादी कवि कहलाने वालो के प्रति उनकी अपार घृणा सूचित करती है। ऐसे दुर्वासा समालोचक कभी भी किसी शकुन्तला का कुछ बिगाड नही सके, अपने शाप से उसे और चमका दिया है।"[४]

---

१. माधुरी, वर्ष ८, खण्ड १, सख्या १, अगस्त, १६२६।
२. माधुरी, दिसम्बर, सन् १६३०, 'काव्य साहित्य' शीर्षक लेख।
३ वही।
४"चयन' 'काव्य-साहित्य', पृष्ठ ५२-५३।

'पुस्तकालोचन' की सामान्य वृत्ति और निष्कर्ष

८७. निरालाजी ने समालोचना-साहित्य के अन्तर्गत परिगणित होने वाले उसके परिचयमूलक स्वरूप पुस्तकालोचन को लेकर भी आज से प्राय. पच्चीस-तीस वर्ष पूर्व अत्यन्त लघ्वाकार मे कुछ समालोचनाएँ लिखी थी, जिनका प्रकाशन 'सुधा' और 'माधुरी' जैसी पत्रिकाओ मे हुआ था। ऐसी आलोचनाओ मे कविवर श्री जयशकर 'प्रसाद' लिखित 'कामायनी महाकाव्य परीक्षा'[१], बोलचाल[२] (प्रणेता—प० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'), श्री रामकृष्ण आश्रम, धंतौली की पुस्तकें'[३] प्राच्य और पाश्चात्य[४] (लेखक स्वामी विवेकानन्द) प्रमुख हैं। इन आलोचनाओ मे निराला जी ने लेखको और प्रकाशको के नाम, पुस्तको की पृष्ठ सख्या, मूल्य तथा छपाई-सफाई का विवरण देकर अत्यन्त सामान्य विधि मे आलोच्य कृतियो का स्वरूप-निर्धारण किया है जिनसे उनका आशसापूर्ण दृष्टि-विधान परिलक्षित होता है। बहुत सी बातो मे तो ये आलोचनाएँ भारतेन्दु-युगीन पुस्तक-परिचय वाली शैली अथवा टिप्पणियो का आभास देने वाली है। इनके अतिरिक्त उन्होने 'हिन्दी के आदि प्रवर्त्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' (सगम १७ सितम्बर, १९५०), कवि-अचल', (देशदूत सितम्बर, १९४५) प० बनारसीदास का अग्रेजी ज्ञान (सुधा, मई, १९३५), श्री भुवनेश्वर की तारीफ (माधुरी, जनवरी, १९३७), 'ज्ञान और भक्ति पर तुलसीदास' (समन्वय, वर्ष २ अंक ५, सौर ज्येष्ठ, स० १९८०) आदि विषयो पर अपनी मौज और धुन मे छोटी-बडी आलोचनाएँ लिखी हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि निरालाजी अपनी प्रकृति के कितने बडे धनी है और आवश्यकता पडने पर अपने विरोधियो के प्रति कितने कठोर हो जाते हैं। उनकी अभिव्यजना और शैलीगत मौलिकता तो सर्वत्र दर्शनीय है। उसमे उनकी विवेचन-पटुता, निर्भीकता, दृढता, अहंभावना और तीक्ष्ण दृष्टि का आभास सहज ही मिल जाता है। 'चाबुक' नामक सग्रह मे उनके ऐसे अनेक परिचय-मूलक निबन्ध हैं जो उन्हे पत्र-सम्पादक के रूप मे लिखने पडे थे।

(४)

श्रीमती महादेवी वर्मा

समालोचक-व्यक्तित्व

८८. हिन्दी-समालोचना के प्रसार-काल मे सौन्दर्यमूलक दृष्टि-विधान और तत्वचिन्तन-प्रवृत्ति को लेकर जिन छायावादी कवियो ने काव्य-समीक्षण प्रस्तुत किया, उनमे अपनी काव्य-साधना की ही भाँति शुभश्री महादेवी वर्मा का विशिष्ट स्थान है। यद्यपि उन्होने शास्त्रीय और पूर्वार्जित सैद्धान्तिक पक्ष को लेकर समालोचनाएँ नही लिखी है, फिर भी उनकी जीवन-अनुभूति और करुण-सवेदना चिंतन के क्षणो मे काव्य के अन्तरग पक्ष का ऐसा तथ्यपरक विश्लेषण कर सकी है, जो उनकी विचारधारा को स्पष्ट करने के साथ-साथ परोक्ष विधि मे उनके काव्य-सृजन की मूल प्रेरणाओ को भी हृदयस्थ बनाने मे सहयोग प्रदान करती है। वैसे तो देवीजी का प्रधान क्षेत्र काव्य-सृजन ही रहा है, फिर भी उन्होने अपने काव्य-ग्रन्थो की भूमिकाओ मे साहित्य के सनातन और चिरतन सत्यो का विवेचन आधुनिक युग-प्रवृत्तियो को दृष्टिगोचर रखते हुए अत्यत भावप्रवण और गम्भीर शैली मे किया है। 'यामा', 'दीपशिखा', 'साध्यगीत' तथा 'आधुनिक कवि' प्रथम भाग

१ 'सुधा' वर्ष ११' खण्ड १' सख्या ३' स० १९९४' अक्टूबर सन १९३७।
२. 'सधा' वर्ष ३' खण्ड १' सख्या ५' स० १८८६' दिसम्बर सन १९२९।
३ माधुरी, जनवरी, सन् १९४०।
४. माधुरी, जनवरी, सन १९४०।

की भूमिकाओ के अतिरिक्त उन्होने 'साहित्य-सन्देश' और 'चाँद' आदि पत्र-पत्रिकाओ मे जिस प्रकार का चिन्तन प्रस्तुत किया है, वह उनकी समीक्षक-दृष्टि का परिचायक है। प० गंगाप्रसाद पाण्डेय ने महादेवी का विवेचनात्मक गद्य नामक पुस्तक मे उनके समीक्षापरक विचारो का विषयानुक्रम से जो तारतम्य-विधि से संकलन प्रस्तुत किया है, वह देवीजी के काव्य-कला, छायावाद, रहस्यवाद, गीतिकाव्य, यथार्थ और आदर्श तथा सामयिक समस्या-विषयक प्रमुख अंगो पर उनकी मान्यताओ का विश्लेषण करने मे यथेष्ट सफल है। उसके सम्यक् आकलन से इस विषय का सहज ही ज्ञान हो जाता है कि महादेवीजी मे किस प्रकार की आत्मनिष्ठा और रसग्राही दृष्टि है। निश्चय ही उनकी विषय-प्रतिपादन की निजी शैली और मौलिक सूझ है, जिसकी पृष्ठभूमि मे उन्होने हिन्दी समालोचना को अभिनव दृष्टि प्रदान करने की चेष्टा की है। वस्तुत उसका आतरिक और वाह्य पक्ष इतना अधिक सधा हुआ और अनुभूतिजन्य है कि उसका अनुकरण करना सहज कार्य नही है। 'उनका एक-एक वाक्य, एक एक सकेत और एक-एक शब्द पाठको के अन्त करण मे अनुभूति तथा चिंतना की समवेदनीय आकुलता जमाने मे समर्थ है,[१] यह निर्णय अतिशयोक्तिपूर्ण नही कहा जा सकता।

काव्य-कला विषयक विचार

काव्य-कला का क्षेत्र और व्यापकता

८९ महादेवीजी के काव्य-कला विषयक विचार अत्यत उदार और तथ्यपूर्ण है। उन्होने 'कला' शब्द की विवेचना मे भारतीय विचार-परम्परा और पाश्चात्य-दर्शन-प्रक्रिया की क्रमागत मान्यताओ को समन्वित स्वरूप मे प्रस्तुत करने का सुन्दर प्रयास किया है। मूल विषय पर आने के पूर्व देवीजी ऐसी दार्शनिक और चितनमयी भूमिका प्रस्तुत कर लेती है, जिसकी परिपुष्ट आधारशिला पर विषय का नियोजन करने मे उन्हे कोई कठिनाई नही होती। उनके विवेचन का प्रमुख दृष्टि-बिन्दु जीवन है, जिसके अन्तर्गत उन्होने सत्य और सौन्दर्य का अभिव्यंजन कला के माध्यम से स्वीकार किया है। कला के क्षेत्र को उन्होने इतनी अधिक व्यापक भूमिका प्रदान की है, जिसके अन्तर्गत ज्ञान-विज्ञान की शिराएँ भी सम्मिलित की जा सकती है। काव्य उनकी दृष्टि से सर्वोत्तम कला है और 'सत्य उसका साध्य तथा सौन्दर्य उसका साधन है।'[२] कला और काव्य के सृजन के मूल मे उन्होने अपनी यह मान्यता प्रस्तुत की है कि "मनुष्य ने इनका आविष्कार बहिर्जगत् तक फैले और ज्ञान तथा भाव-क्षेत्र मे समान रूप से व्याप्त सत्य की सहज अभिव्यक्ति के लिए माध्यम खोजते-खोजते कर लिया होगा और कला मे उसकी अभिव्यक्ति ज्ञान के स्थान पर जीवन की अनुभूति से हुई होगी।"[३] इस प्रकार देवी जी के मतानुसार काव्य का सत्य जीवन-परिधि से बहिर्गत सिद्ध नही होता और सौन्दर्य उसका माध्यम बनता है। स्पष्ट है कि ऐसा निर्णय देते समय देवीजी ने काव्य और कला को 'हृदय तथा मस्तिष्क का सधिपत्र'[४] निर्दिष्ट किया है जिसमे रागात्मिका वृत्ति का प्राधान्य और बौद्धिक भावना का हल्का चीनाकुश रहता है।

९० इसमे कोई सदेह नही कि काव्य और कला विषयक सत्य का यथार्थ सौन्दर्य ही है, किन्तु देवीजी के मतानुसार वह सौन्दर्य जितना अधिक जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति के निकट रह कर प्रकट होता है, उतना ही वह महान् कहा जा सकता है। इससे देवीजी का यह अभिप्राय

१ प० गगाप्रसाद पाण्डेय, 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य'—'निवेदन', पृष्ठ २।
२ 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' काव्य-कला, पृष्ठ १।
३ वही, पृष्ठ ५-६।
४. वही, पृष्ठ ८।

है कि कला-सृष्टि के लिए पार्थिव जगत् की कठोरता, सघर्ष और जय-पराजय का मूल्य नही, अपितु उसमे हमारे अन्तर्जगत् की भावनाओ और कल्पनाओ का भी उन्ही के समकक्ष महत्त्व है। इसी प्रकार उन्होने कला-जगत् का विस्तार सुन्दर और असुन्दर तथा छोटे और बडे सभी विषयो तक परिव्याप्त मानकर एक ओर आचार्य शुक्लजी की मान्यताओ का ही सपोषण किया है तो दूसरी ओर उसकी सत्ता को अखण्ड अभिव्यक्ति, तथा उपयोग तथा सौन्दर्य के अन्तर्गत किए जाने वाले वर्गीकरण को व्यावहारिक कहकर हेगेल तथा क्रोचे के निकटवर्ती सिद्धान्त की पुष्टि की है। वे कला मे उपयोगिता के प्रश्न को जीवन की अन्तर्दृष्टि के व्यापक तथा उच्चतम धरातल पर स्वीकार करती है, जिसमे निश्चय ही उनके मन का अन्तर्गूढ भाव स्वत सगुम्फित है।

कलाकार का व्यक्तित्व और सौन्दर्य-चेतना

९१ काव्य-कला के साथ-साथ महादेवीजी के कलाकार-विषयक विचार भी पठनीय है। उन्हे कलाकार के स्वतन्त्र व्यक्तित्व मे आस्था है और वे उसका जीवन-दर्शन ऐसे उच्च धरातल पर अधिष्ठित करती हैं जिस पर आसीन होकर वह अपनी आत्माभिव्यजना मे विश्व-हृदय की भावनाओ को मूर्तिमान बना सकता है और जिसकी सहज सवेदना और आत्मीयता की समता मे नीति, आचार तथा धर्म का पक्ष हलका पड जाता है। उन्होने कलाकार के व्यक्तित्व मे दार्शनिक का अन्तर्भाव भी माना है किन्तु दोनो की भिन्न-भिन्न सत्ताओ के प्रति भी अपनी धारणा व्यक्त की है, जिसका एक प्रमाण यह है कि वे कलाकार (कवि) की कृति मे उसके जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति सम्पूर्ण आस्था के साथ होना अनिवार्य समझती है जबकि दार्शनिक की चेतना मे नास्तिक भावना का समावेश भी रह सकता है।[1] इस प्रकार देवीजी के मतानुसार कला मे जीवन की विविधता का विकास स्वत अन्तर्निहित है जिसको एकांगिता से ग्रस्त करना कदापि शोभनीय प्रयास नही कहा जा सकता?

९२. महादेवी जी का काव्य-कला विषयक प्रतिमान किसी भी प्रकार की पूर्वग्रह-प्रवृत्ति से विहीन है। उन्होने प्रस्तुत विवेचन मे अपने अध्ययन और चिन्तन का सत्व सयोजित कर दिया है। उनके मतानुसार कला-क्षेत्र मे केवल व्यष्टि और समष्टि के द्वन्द्वात्मक भाव ही नही आते, अपितु यथार्थ और आदर्श की भी कणिकाएँ समाविष्ट रहती है। यदि ऐसा नही होता तो देवीजी कला के क्षेत्र मे गोचर जगत् की अभिव्यक्ति के साथ-साथ अन्तर्जगत् की सौन्दर्यमयी चेतना का सामंजस्य नही करती। हाँ, यह बात अवश्य है कि रहस्यवादी कवयित्री होने के कारण उनकी अन्तर्जगत् के प्रति अधिक प्रवृत्ति है, जिसके कारण वे जीवन-सवेदना की तीव्र अनुभूति को काव्य-कला के निर्माण का मूल उत्स सिद्ध करती है। कहने की आवश्यकता नही कि इसी विवेचन के प्रसग मे महादेवी जी ने आधुनिक कलाकार की उस मनोभूमि का भी महत्त्व स्वीकार किया है जो युगीन वातावरण की जीवन-व्यापी शक्तियो का अभिव्यंजन अपनी कला मे करता है तथा जिसके व्यक्तित्व मे राजनीतिक, सामाजिक और साँस्कृतिक परिस्थितियाँ अनेक प्रकार की क्रान्तियो और क्रिया-प्रतिक्रियाओ को जन्म देती हैं। इससे स्पष्ट है कि महादेवीजी की मान्यता मे कला और कलाकार का महत्त्व बहुरगी है। यदि ऐसा न होता तो वे भारतीय कला का विश्लेषण उन आधार-बिन्दुओ से न करती जिनके कारण हमारे सास्कृतिक जीवन मे एक विशेष प्रकार की चेतना और सप्राणता का सचार हुआ है। महादेवी जी का यह विवेचन ऐतिहासिक अनुशीलन की दृष्टि से भी अत्यन्त गवेषणापूर्ण है।

---

१ 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य', 'काव्य कला', पृष्ठ २१।

काव्य-कला की तात्विक भूमिका

६३ काव्य-कला के विवेचन के इसी प्रसग मे महादेवीजी का हमारे अभिनव कलाकारो के लिए एक सन्देश भी है। वह यह कि उन्हे आधुनिक भौतिक विज्ञान के प्रभाव से आक्रान्त होकर बुद्धिजीवियो के एकागी अनुयायी बनने की भावना का परित्याग कर देना चाहिए। सच तो यह है कि महादेवी जी के मतानुसार कलाकार के लिए जीवन की भावानुभूति और तन्मयता जितनी अधिक वाछनीय है, उतनी भौतिक दृष्टि नही। वास्तव मे कला मे व्यष्टि और समष्टि का सन्तुलन, उसे उदातत्व प्रदान करता है। और तो और, काव्य-कला की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए उन्होने स्वय मनुष्य को 'एक सजीव-कवि' का रूप दिया है जिसमे जीवन की एकता का तत्व देशकालावच्छिन्न होकर प्रकट होता है। इस प्रकार देवीजी के मतानुसार कलाकार की कृति अथवा साहित्यकार की सर्जना, जड-चेतन की क्रिया-प्रतिक्रिया के मूर्तिमान प्रतीक हमारे समग्र जीवन का एक ऐसा सजीव चित्र हे जो राजनीति से शासित, समाज-शास्त्र से नियमित, विज्ञान से विकसित और दर्शन से व्याप्त रहता है।[1] उन्होने कला के सर्वोत्कृष्ट स्वरूप कविता (काव्य) को मानव-हृदय के समान ही पुरातन निर्दिष्ट कर उसे मानव-विज्ञान की अन्यान्य शाखाओ से अग्रणी और आदिकालीन माना है और उसकी सवेदना को ऐसी चिरन्तन स्थिति प्रदान की है जिसके लिए युग-विशेष की आस्थाओ का केवल सीमित महत्त्व है। उनका यह निर्णय तो मुझे अत्यन्त समीचीन प्रतीत होता है, जिसमे उन्होंने जीवन मे कविता का वही महत्त्व माना है जो "कठोर भित्तियो से घिरे कक्ष के वायुमण्डल को अनायास ही बाहर के उन्मुक्त वायुमण्डल से मिला देने वाले वातायन" का होता है।[2]

छायावाद

आधार-शिला और स्वरूप

६४. महादेवीजी की समालोचना-प्रणाली मे व्याख्यात्मकता और ऐतिहासिकता का भी सुन्दर सामजस्य है। छायावाद का विवेचन इस कथन के प्रमाण-स्वरूप उपस्थित किया जा सकता है। उन्होने छायावादी काव्य का स्वरूप-समीक्षण करने के पूर्व ऐतिहासिक आधार-शिला पर उस वातावरण और परिस्थिति की झलक दी है, जिसकी क्रोड मे इस काव्य-प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ। उनके मतानुसार छायावाद के जन्म के मूल मे आधुनिक युग का जागरण और अग्रेजी शासन के प्रभाव की प्रतिक्रिया प्रधान है, जिन्होने छायावाद के लिए सास्कृतिक और सामाजिक भूमिका प्रस्तुत की थी। महादेवीजी ने उन लोगो का विरोध किया है जो छायावाद को केवल व्यर्थ का प्रलाप समझ कर उसके अस्तित्व को सारहीन सिद्ध करते है। उनका तो कहना है कि छायावाद का प्रवर्त्तन सर्वथा स्वाभाविक और अनिवार्य क्रम मे हुआ है। इसके लिए भारतेन्दु-युग की चेतना, द्विवेदी-युग की आदर्शनिष्ठा और रीति-कालीन शृगारी प्रवृत्तियाँ भी उत्तरदायी हैं। कहने की आवश्यकता नही कि महादेवीजी का यह विवेचन छायावाद के अन्यतम कवि सर्वश्री जयशकर 'प्रसाद', सुमित्रानदन पत और सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की साहित्यिक धारणाओ के अत्यन्त निकटवर्ती है, किन्तु उनकी अभिव्यंजन-शैली उनसे भिन्न और अधिक भावप्रवण है। वे छायावाद के जन्म का रहस्य और कारण मानव-जीवन के स्वाभाविक चक्रभ्रमण के रूप मे मानती है जिसमे "वह स्वच्छंद घूमते-घूमते थक कर अपने लिए सहस्र बधनो का आविष्कार कर डालता

---

१. 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य', पृष्ठ सख्या ४६।

२. वही, पृष्ठ ४८।

है और फिर बधनो से ऊब कर उनको तोडने मे अपनी सारी शक्तियाँ लगा देता है।[1]" इस सामान्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करने के पश्चात् देवीजी ने छायावाद के जन्म का रहस्य विवेचित करते हुए लिखा है—

"उसके जन्म से प्रथम कविता के बन्धन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छन्द मे चित्रित उन मानव अनुभूतियो का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त लगता है।"[2]

९५. प० महावीरप्रसाद द्विवेदी के समीक्षा-सिद्धातो के विवेचन के प्रसग मे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि उन्होने छायावादी कवियो की कृतियों मे किस प्रकार अस्पष्टता और दोषोद्भावना प्रकट की थी। देवीजी के सामने भी उनकी एतद्विषयक लेखमालाएँ और वार्ताएँ थी, जिनका प्रतिवाद करना आवश्यक था। जिन आचार्य द्विवेदी ने 'छाया' शब्द का उपहास करते हुए उसे काव्य जगत् के लिए सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध किया, उसे देवीजी ने अत्यधिक शालीनता के साथ ग्रहण किया। उनके मतानुसार 'छाया-चित्रो की सृष्टि के लिए और भी अधिक कुशल-चित्रकारो की आवश्यकता होती है, क्योकि उन चित्रो का आधार छूने या चर्म-चक्षु से देखने की वस्तु नही। यदि वे मानव-हृदय मे छिपी हुई एकता के आधार पर उसकी संवेदना का रग चढाकर न बनाए जायँ तो वे प्रेत-छाया के समान लगे या नही, इसमे कुछ ही सन्देह है।"[3] इस कथन का अभिप्राय यह है कि छाया-सृष्टि करना कोई साधारण कार्य नही है और उसके लिए विशेष प्रकार की प्रतिभा और क्षमता की आवश्यकता है।

तत्व-चिन्तन और ऐतिहासिक विकास

९६ महादेवीजी के छायावाद-विषयक विवेचन से स्पष्ट है कि उनकी इसके चिरन्तन और सनातन स्वरूप पर दृढ आस्था है। वे उसे अत्यन्त व्यापक धरातल पर अधिष्ठित समझती हैं जिसका प्रमाण यह है कि उन्होने उसका अन्तर्सूत्र हमारे प्राचीन कालीन वेदो और दर्शन-शास्त्रो से जोडकर उसे उदात्त और चिन्तनपूर्ण पृष्ठभूमिका प्रस्तुत की है। यदि ऐसा न होता तो वे छायावाद पर धर्म के अध्यात्म के साथ-साथ दर्शन के ब्रह्म की छाया आरोपित नही करती। उनका तो स्पष्ट कहना है कि छायावाद की यह दार्शनिक चेतना ही उसे मूर्त्त या अमूर्त्त विश्व को समन्वित कर उसे पूर्णता प्रदान करती है। इस विषय मे उनका निम्नलिखित निर्णय अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक समझा जा सकता है —

"बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव-भूमि पर उसने प्रकृति मे बिखरी सौन्दर्य सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनो के साथ स्वानुभूत सुख-दु खो को मिलाकर ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक नामो का भार सँभाल सकी। छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध मे प्राण डाल दिए जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप मे चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दु ख मे प्रकृति उदास और सुख मे पुलकित जान पडती थी।"[4]

---

१. 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य'—छायावाद, पृष्ठ ५९।
२ वही, पृष्ठ ५९-६०।
३. वही, पृष्ठ ६०।
४ वही, पृष्ठ ६०-६१।

९७. महादेवीजी का छायावाद-विश्लेषण अत्यन्त शोधपरक और गम्भीर है। उसके पीछे उनका गहन अध्ययन और तत्वदर्शन छिपा हुआ है। वेदो और उपनिषदो के अध्ययन से वे उसमे विकास का स्वाभाविक क्रम अन्वेषित कर सकी है। कहने की आवश्यकता नही कि छायावादी कवियो की भाँति ही वैदिक कालीन ऋषियो ने अपनी ऋचाओ मे प्रकृति के नियामक उषा, मरुत, सविता आदि देवताओ के प्रति इसी प्रकार की भावना प्रकट की थी, जिसमे उन्हे चेतन व्यक्तित्व प्रदान कर उनका सहज सौन्दर्य चित्रित किया गया था। इसका सबसे बडा प्रमाण पुरुष-सूक्त है, जिसमे विश्व पर एक विराट् शरीरत्व के आरोपण का ऐसा प्रयास है जिसे सर्व-वाद का मूल कारण कहा जा सकता है। महादेवीजी ने उसी को छायावाद का आदि उत्स मान कर उसका सम्बन्ध केनोपनिषद् आदि दर्शन-ग्रथो की तत्व-चिन्तन धारा के साथ जोड दिया है, जिनमे अज्ञात सत्ता के प्रति एक भावमयी जिज्ञासा का अभिव्यजन किया गया है। इसी प्रसग मे उन्होने छायावाद के विकास को भारतीय साहित्य मे एक स्वाभाविक क्रम मे निरूपित कर उन समालोचको की मान्यताओ का खण्डन किया है जो अपनी एकागी तथा विरोधी दृष्टि के कारण छायावादी काव्य की नवीनता मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव, यथार्थ से पलायन-वृत्ति तथा अस्पष्टता आदि अनेक प्रकार के अभियोगो से लाञ्छित करते है।[1] उनका यह विवेचन अत्यन्त ऊर्जस्वित और तत्वपूर्ण है, क्योकि उस काल मे छायावाद के नाम पर जिस प्रकार के वितण्डा-वाद की सृष्टि हो रही थी, उसका परिशमन करने के लिए इस प्रकार के शास्त्र-सम्मत और तर्क-पूर्ण विश्लेषण की प्राथमिक आवश्यकता थी। सच तो यह है कि देवीजी को छायावाद-विरोधियो के आक्षेपों मे जीवन-सत्य के अनुभूत तथ्यो का अभाव मिलता है, क्योकि उनकी धारणाएं भी रूढिग्रस्त और एकागी है और वह इस विषय की निर्देशिका है कि वे अपनी विचार-सरणि केवल छायावाद का विरोध करने के लिए ही प्रस्तुत करते हैं। यदि ऐसा न होता तो वे छायावाद की सृजन-प्रेरणा के मूल मे खडी बोली के सौन्दर्यहीन इतिवृत्त की उपेक्षा न करते और छायावादी कवियो के जीवन-दर्शन मे अभिव्यक्ति स्वप्नों मे पूर्णरूपेण जीवन से पलायन-वृत्ति नही पाते। निश्चय ही छायावाद का सृजन भी हमारे वर्तमान जीवन की विभीषिकाओ को अपना अंगभूत बनाकर हुआ है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति इतनी अधिक कलात्मक और सूक्ष्म है जिसके कारण वह वायवी लोक का अधिवासी प्रतीत होता है। इस प्रकार महादेवीजी के मतानुसार छायावाद के प्रति सहानुभूति-पूर्ण दृष्टि से विचार किया जाना परम वाछनीय है।

अन्यान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण

९८ महादेवीजी ने छायावाद के विवेचन के प्रसग मे और भी अनेक प्रवृत्तियो का विश्लेषण किया है जिनके कारण गण्यमान समालोचको ने उसके रूप-निर्माण और वाह्य विधान पर व्यंग्य-दृष्टि रखी थी। वे अपने विश्लेषण मे उन तथ्यो का उद्घाटन करने की ओर विशेष उन्मुख प्रतीत होती हैं, जिनके आशिक सत्य ने छायावाद के उदात्त-स्वरूप को यन्त्रणाग्रस्त बनाकर कदाचित उसके प्रति न्याय-भावना का निर्वाह नही किया है। महादेवीजी ने भी अपने पक्ष-समर्थन मे प्राय. वे ही तर्क उपस्थित किए है जो छायावाद के अन्य कवियो और आशसक समालोचको ने दिए थे किन्तु उनकी अभिव्यक्ति उनसे अधिक ममतामयी और हृदयहारिणी है। वे भी छायावाद को विदेशी प्रवृत्ति मानने का स्पष्ट विरोध करती है और छायावादी काव्यकारो को केवल पश्चिमी और बंगला-काव्य का अनुगामी सिद्ध करने को एकपक्षीय निर्णय मानती है क्योकि इन कवियो का भारतीय साहित्य और संस्कृति-विषयक अध्ययन उन्हे बहुत ऊँची भूमिका प्रदान करता है। इसी प्रकार 'प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप, कल्पनाओ की समृद्धि, स्वानुभूत सुख-दु:खो की अभिव्यक्ति'[2]

१. 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य', पृष्ठ ६६।
२. वही, पृष्ठ ७८।

आदि को छायावाद की अन्यतम और सापेक्षिक विशेषताएँ निर्दिष्ट कर उनकी संस्थिति उन्होंने वैदिक कालीन साहित्य से लेकर भारतीय जीवन की शिराओं में निनादित लोक-गीतों तक में सप्रमाण सिद्ध की है, जिसका अभिप्राय यह है कि छायावाद न केवल विशुद्ध भारतीय धारा है अपितु वह निस्सदेह काव्य का ऐसा उदात्त पक्ष भी है जिसमे सर्ववाद, जड-चेतन-ऐक्य सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति तथा भावात्मक दर्शन के तत्त्व-कण देखकर उसे केवल ज्ञान-काड का विषय ही स्वीकार करना न्याय-दृष्टि से समुचित नही है। इसी प्रसग मे महादेवीजी ने छायावाद की उन विशेषताओं का भी उद्घाटन किया है जिनके कारण नारी के चरित्राकन मे नवीन दृष्टि का संचार हुआ है। वे छायावाद की गीति-परम्परा का सम्बन्ध भारतीय जीवन के आदि प्रतीक वेदकालीन ऋचाओं से जोडकर जयदेव आदि की परम्परा मे विकसित लौकिक संस्कृत की रचनाओं मे भी उसी का प्रस्फुटन पाती हैं जो कालातर मे हिन्दी के भक्त कवियो की सरस पदावली मे अभिव्यक्त हुआ और जिसकी स्वानुभूति प्रकारातर मे छायावादी कवियो द्वारा साकेतिकता और अभिनव लाक्षणिकता द्वारा विकसित बनाई गई। अभिप्राय यह है कि महादेवीजी के मतानुसार छायावाद की भारतीय साहित्य मे एक नैसर्गिक परम्परा है और उसकी स्वानुभूति और गीतात्मकता किसी भी प्रबन्ध-चातुरी अथवा वर्णनात्मकता से हीन-कोटि की नही है।

९९ जैसा कि पहले सकेत कर दिया गया है महादेवीजी ने छायावाद से सम्बन्धित प्रायः उन समस्त प्रश्नो पर अपनी सुलझी हुई दृष्टि से विचार किया है जो उसके प्रति सहानुभूति न रखने वाले आलोचको ने कुछ अतिरेकपूर्ण शब्दावली मे व्यक्त किए थे। कल्पना की उडान भी उनमे से एक था। महादेवीजी ने काव्य मे कल्पना का विशेष महत्त्व स्वीकार कर भारतीय-साहित्य मे प्रकृति सौन्दर्य से उद्भूत ऐश्वर्यमयी कल्पना के चित्रमय स्वरूप की अत्यन्त प्रशंसा की है, जो हमारे जीवन-दर्शन और संस्कारो के सर्वथा अनुकूल है। इसी प्रकार काव्य और करुणा मे घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित कर जिस भव्यता के साथ उसे काव्य की मूलभूत प्रेरणा सिद्ध किया गया है, वह भी हृदयग्राह्य है। कहा जा सकता है कि इस विवेचन मे विदुषी कवयित्री ने परोक्ष रूप से उन आक्षेपो का भी निराकरण कर दिया है जो छायावाद को दुखवाद का पर्याय मानकर अनेक समालोचको द्वारा किए गए थे तथा जिनके मतानुसार भारतेन्दु-युग से ही आधुनिक काव्य-धारा मे करुणा का नैसर्गिक विधान नही था। एक प्रकार से यह समीक्षण महादेवीजी के काव्य की मूल करुण-भावना का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने मे पर्याप्त समर्थ है। वे लिखती हैं—

"छायावाद का काव्य अनुभूतिमयी रचनाओं पर आश्रित है, अत व्यापक करुणा भाव और व्यक्तिगत विषाद के बीच की रेखा और भी अस्पष्ट हो जाती है। गीत मे गाया हुआ पराया दुख भी अपना हो जाता है और अपना भी सबका, इसी से व्यक्तिगत हार से उत्पन्न व्यथा एक समष्टिगत करुण-भाव मे एकरस जान पडती है। इस व्यक्तिप्रधान युग मे व्यक्तिगत सुख-दुख अपनी अभिव्यक्ति के लिए आकुल थे, अत छायावाद-युग का काव्य स्वानुभूति प्रधान होने के कारण वैयक्तिक उल्लास विषाद की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बन सका।[1]"

१०० वैसे तो महादेवीजी ने छायावाद का विश्लेषण उसके विभिन्न पक्षो को लेकर और भी व्यापकता से किया है किन्तु उनके सारभूत तथ्यो का निरूपण उपर्युक्त विश्लेषण मे आ गया है, अत हम उनके अधिक विस्तार की यहाँ आवश्यकता नही समझते। इतना विश्लेषण भी केवल इसलिए किया गया जिससे महादेवीजी की छायावादी जीवन-दर्शन की मान्यताओं का प्रमुख अंश दृष्टिपथ मे आ सके। उन्होने छायावाद के साथ ही साथ उसी युग मे प्रचलित यथार्थवाद, निराशावाद और दुखवाद आदि अनेकानेक प्रवृत्तियो पर भी अपनी धारणाएँ व्यक्त

---

१ 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य'—छायावाद, पृष्ठ ९७।

की है, पर वे सब छायावाद की पृष्ठभूमि मे ही ग्रहण किए गए है। सच तो यह है कि महादेवीजी को छायावादी काव्य की व्यापक भावधारा पर इतना अधिक विश्वास है कि उन्हे उसका दुर्बल पक्ष दृष्टिगोचर ही नही होता। डा० नगेन्द्र ने महादेवीजी के छायावादी विवेचन को कुछ विशेष सीमाओ तक ही स्वीकार किया है। वे छायावाद को महादेवीजी की भाँति कविता के परिपूर्ण क्षणो की वाणी नही मानते और न उसकी सूक्ष्मता, सुकुमारता और अरूप-चिन्तन मे अपेक्षित शक्ति, तीव्रता और माँसल रस ही पाते है। नगेन्द्रजी का यह निर्णय वस्तुत माननीय है, क्योंकि महादेवीजी द्वारा छायावाद का रूप-दर्शन भले ही उदात्त भावभूमि पर चित्रित किया गया हो, किन्तु उसकी आत्यान्तिक एकागी दृष्टि भी अप्रकट नही है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि महादेवीजी अपनी स्वात सुखाय साधना मे छायावादी धारा को भले ही काव्य की सर्वोच्च भूमि स्वीकार करे, किन्तु पार्थिव जगत् की परिस्थिति ने हमे जो अभिनव दृष्टि प्रदान की है, वह छायावादी परम्परा को आज बहुत पीछे छोड चुकी है। पतजी और निरालाजी का अन्य दिशा की ओर प्रयाण इस का सर्वाधिक पुष्ट प्रमाण है।

रहस्यवाद और महादेवीजी की मान्यताएँ

१०१. साधारणतया छायावाद के साथ रहस्यवाद शब्द की संलग्न प्रवृत्ति होने के कारण उन दोनो का प्राय समरूप समझने की जो भ्रान्ति हो जाती है, उसका निराकरण महादेवी जी के रहस्यवाद विषयक विचारो से हो जाता है। इसमे कोई सदेह नही कि इन दोनो वादो मे अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है और उनके रचनाकारो का व्यक्तित्व धूप-छाँही रगो से निर्मित हुआ है किन्तु दोनो मे तात्विक अन्तर भी है, यह भी एक स्पष्ट सत्य है। वस्तुत रहस्यवाद नाम के अर्थ मे छायावाद से प्राचीन है किन्तु प्रयोग के रूप मे वह उसका उत्तरवर्ती है। महादेवी जी ने रहस्यवाद की मूल अवतारणा का विवेचन करते हुए लिखा है—

'जब प्रकृति की अनेकरूपता मे, परिवर्तनशील विभिन्नता मे, कवि ने एक ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम हृदय मे समाया हुआ था, तब प्रकृति का एक-एक अश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा। परन्तु इस सम्बन्ध मे मानव-हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी, क्योकि मानवीय सम्बन्धो मे जब तक अनुराग-जनित आत्म-विसर्जन का भाव नही घुल जाता तब तक वे सरस नही हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नही हो जाती, तब तक हृदय का अभाव दूर नही होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म-निवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना, जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिया गया।"[1]

१०२ रहस्यवाद के विवेचन मे महादेवीजी ने उन प्रेरक-शक्तियों का भी उल्लेख किया है, जिन्होने इस श्रेणी के काव्यकारो को सृजन के लिए आधार-शिला प्रदान की। वस्तुत इसके अकुर पुरातन युग की परा या ब्रह्म विद्या के अन्तर्गत गुम्फित थे, किन्तु उस समय उन्हे रागात्मक स्वरूप नही प्रदान किया गया। कालान्तर मे वेदान्त के विभिन्न वादो, योगियो और सूफियो की रहस्यमयी प्रवृत्तियों तथा कबीर आदि सन्तो की योग तथा प्रेम से सवलित भावनाओ को उपजीव्य बनाकर रहस्यवाद का सृजन जिस समन्वयपूर्ण साधना मे किया गया, उसका उल्लेख कर महादेवीजी ने वर्तमान-युगीन रहस्यवाद को उन विभिन्न विशेषताओ से पूर्ण निर्दिष्ट किया

१ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य—'रहस्यवाद', पृष्ठ १०५।

है । महादेवीजी के मतानुसार "उसने (रहस्यवाद) परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सब को कबीर के साकेतिक दाम्पत्य भाव-सूत्र मे बाँध कर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्ब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम मे ऊँचा उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका ।'[1]

१०३. महादेवीजी के रहस्यवाद-विषयक विवेचन से स्पष्ट है कि वे उसके मूल मे भारतीय काव्य-परम्परा के ऐसे अनेक तत्वो का आभास पाती है, जिन्हे रहस्यवाद के प्रति विपरीत मान्यता रखने वाले विद्वानो ने उपेक्षित कर दिया था । इसमे कोई संदेह नही कि हिन्दी काव्य की रहस्यवादी धारा पाश्चात्य साहित्य तथा रावीन्द्रिक बगला-काव्य से यथेष्ट प्रभावित रही, किन्तु महादेवीजी के मतानुसार उसे केवल उनका अनुकरणमात्र नही कहा जा सकता । वस्तुत रहस्य-भावना मानव-जीवन की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, जिसे देवीजी ने विश्व-साहित्य के आलोक मे अत्यन्त नैसर्गिक विधान मे स्पष्ट किया है । व्यावहारिक सुविधा के लिए उसे भले ही वाद की सज्ञा दी जाय, किन्तु महादेवीजी उसे हमारी अतःशक्ति और बाह्य-जगत् के विकास-क्रम मे अनिवार्य मानती है, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन मे ऐसे एकान्त क्षण अवश्य आते है जब वह आत्मपरक भावनाओ मे तल्लीन सा हो जाता है। महादेवीजी का यह निर्णय भी अत्यन्त विवेक-सम्मत है कि 'मूर्त्त जगत् का यथार्थदर्शी ही अमूर्त्त जगत् का रहस्यद्रष्टा बन कर ही पूर्णता प्राप्त करता है।'[2] उन्होने रहस्यवादी की अलौकिक और अपार्थिव मनोवृत्ति को एक विशेष दृष्टिकोण से व्यक्त किया है जो शुक्लवादी परम्परा से भिन्न है। उनका तो स्पष्ट अभिमत है कि कवि भले ही अपनी अभिव्यक्ति मे लौकिक रह कर अपने अलौकिक आत्मसमर्पण का स्पष्टीकरण लौकिक आधार पर करे, किन्तु उसके हृदय मे अलौकिक रहस्यानुभूति का आभास रहता अवश्य है, जो उसे अपनी सीमित क्षमता के कारण स्थूल आधार लेने के लिए बाध्य सा करता है । स्पष्ट है कि इस निर्णय द्वारा महादेवीजी ने रहस्यवादियों के उस पक्ष को आरक्षित कर दिया है, जिसकी अभिव्यक्ति मे मानसिक कुठाओ को अन्वेषित करने की प्रवृत्ति है । सच तो यह है कि देवीजी के मतानुसार 'बुद्धि का श्रेय ही हृदय का प्रेय हो जाता है और रहस्यवादी का आत्मसमर्पण बुद्धि की सूक्ष्म व्यापकता से सौन्दर्य की प्रत्यक्ष विविधता तक फैल जाने की क्षमता रखता है ।'[3]

१०४ महादेवीजी का रहस्यवाद-विषयक विवेचन भारतीय दर्शन की उपपत्तियो से अनुप्राणित है । उन्होंने उसके द्वारा रहस्यमयी काव्यधारा की विविध प्रवृत्तियो का तात्विक पक्ष निर्धारित कर उसकी मनोभूमि को अधिक प्रौढ बना दिया है । अपनी साधना मे तल्लीन रहस्यवादियो के आत्मदान की भावना को उन्होने साम्प्रदायिक न मानकर स्वभावगत माना है और अपने कथन की पुष्टि मे ऐसी अनेक वैदिक ऋचाएँ उद्धृत की है, जिनमे आत्मसमर्पण और माधुर्यसिक्त रहस्यात्मकता अभिव्यजित हुई है । उनके इस विश्लेषण पर भारतीय चिन्तन के एक प्रमुख अग सर्ववाद का तो इतना अधिक प्रभाव है कि उन्हे उसकी काव्यगत अभिव्यक्ति अत्यधिक स्पृहणीय और मधुर लगी है । इसी प्रकार उन्होने रहस्य-भावना के लिए द्वैत की स्थिति और अद्वैत का आभास पूर्वापर सम्बन्ध के रूप मे स्वीकार किए है, जिनमे विरहानुभूति और तादात्म्य-लालसा रहनी स्वाभाविक है। रहस्यवादियो ने परमतत्व और आत्मा के बीच माधुर्यभावमूलक सम्बन्ध की

---

१ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, 'रहस्यवाद', पृष्ठ १०६ ।

२. वही, पृष्ठ १११ ।

३. वही, पृष्ठ ११२ ।

स्थापना के लिए दोनो मे क्रमशः पुरुष और नारी भाव का जो आरोप किया है,[1] उसका प्रमाण उन्होने अदाल, मीरा तथा चैतन्य महाप्रभु के कृष्ण पर आश्रित माधुर्य-भाव का विश्लेषण करते हुए दिया है। इस प्रकार महादेवीजी के मतानुसार 'नारी के रूपक से सीमाबद्ध आत्मा का असीम मे लय होकर असीम हो जाना कोई अनहोनी बात नही, अपितु भारतीय काव्य-दर्शन की परम्परा के सर्वथा निकट है।"[2]

१०५. महादेवीजी के रहस्यवाद-विषयक विवेचन से उनके व्यापक तथा गम्भीर अध्ययन का भी पता चलता है। भारतीय साहित्य और दर्शन मे तो उनकी अद्‌भुत गति है ही, किन्तु इसके साथ ही साथ उन्होने तुलनात्मक पद्धति से पश्चिमी विचारको का दृष्टिकोण भी उपस्थित किया है। वे प्लेटो और प्लेटोनिस की रहस्य-भावना के उद्‌गम और विकास का रेखाचित्र उपस्थित कर उसकी स्थिति को ब्रह्म और जगत् के बीच बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से मानती है, जब कि भारतीय विचारधारा ब्रह्म और जीव की एकता पर आश्रित है।[3] इस प्रकार इस विषय मे वे आचार्य शुक्ल की इस मान्यता से सहमत है कि ईसाई-मत का रहस्यवाद धर्म की परिधि मे उत्पन्न होने के कारण अपनी सकीर्णतावश साम्प्रदायिक बन गया, जबकि भारतीय रहस्यवाद मे उसके लिए ऐसी कोई परिस्थिति उत्पन्न ही नही हुई। सच तो यह है कि महादेवीजी के मतानुसार 'जहाँ धर्म की इति होती है, वही रहस्य का अथ होता है, अत धार्मिक मान्यताओ मे परिगणित होने वाले नरक-स्वर्ग, मृत्यु-पुनर्जन्म तथा परलोक-भावना का कोई महत्त्व नही।'[3] उन्होने इसी प्रसग मे पश्चिमी रहस्यवाद का तात्विक विश्लेषण कर उसके काव्य मे चित्रित प्रकृतिवाद का विवेचन प्रसिद्ध अग्रेज कवि ब्लैक और वर्डस्वर्थ के काव्य-पक्ष के आधार पर किया है। निष्कर्ष यह है कि महादेवीजी का रहस्यवाद-विषयक विवेचन उनके भारतीय और पाश्चात्य दर्शन के अध्ययन और चिन्तन का परिणाम है और उन्होने उसके द्वारा प्रस्तुत वाद के सम्बन्ध मे उस ज्ञान-राशि का भी सयोजन कर दिया है जो इसके स्वरूप-विवेचको द्वारा अवशिष्ट रह गई थी तथा जिसके कारण रहस्यवाद की सस्थिति कुछ आलोचको की दृष्टि मे शकास्पद बनी हुई थी। मेरी समझ मे महादेवीजी का यह विवेचन समालोचना-साहित्य के प्रसार-काल मे अपना असाधारण गौरव रखता है और वह अपने विचाराभिव्यक्ति-पक्ष मे निस्सन्देह अद्वितीय है, जिसका स्पष्टीकरण करने के लिए मैंने अपने शोध-प्रबन्ध की सीमा का ध्यान रखते हुए कुछ विस्तार मे वर्णन किया है, क्योकि उसके बिना इस क्षेत्र मे देवीजी की उपलब्धि का बोध किया ही नही जा सकता था।

यथार्थ, आदर्श तथा सामयिक समस्याओं का विश्लेषण

१०६. अभी तक महादेवीजी की समालोचना के जिन विचार-पक्षो का विवेचन किया गया, वे उनकी मूल मनोवृत्तियो के प्रधान केन्द्र-बिन्दु हैं। इनके अतिरिक्त उन्होने गीति-काव्य, यथार्थ और आदर्श तथा सामयिक समस्या पर भी अपने विचार प्रकट किए है, जिनकी प्रधान भूमि उनकी छायावादी मान्यताएँ ही है। कहा जा सकता है कि उन मान्यताओ के अन्तर्गत उन्होने हमारे साहित्य के प्रस्तुत प्रश्नो को समझने की चेष्टा की है। यह बात अवश्य है कि इस विवेचन में महादेवीजी का दृष्टिकोण कही पर भी दिग्भ्रात नही हुआ है और उसका जो एक निश्चित प्रतिमान बन गया है, वही सर्वत्र परिलक्षित है। रहस्यवाद की प्रमुख कवयित्री होने के कारण उनका गीतिकाव्य की ओर अधिक झुकाव है, अतः वे अपने स्वानुभूत चिन्तन के बल पर

१. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ १२६।
२. वही, पृष्ठ १२७।
३. वही, पृष्ठ १३१।
४. वही, पृष्ठ १३२।

उसका विश्लेषण विशेष तथ्यपरक दृष्टि से कर सकी है। उनके मतानुसार 'सुख-दु:ख की भावावेशमयी अवस्था-विशेष का, गिने-चुने शब्दो मे स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।"[1] इस विवेचन मे मानव-जीवन की चिरन्तन वृत्तियो के परिवेश मे गीतों का जो महत्त्व निर्धारित किया गया है, वह देवीजी की निजी अनुभूतियो पर अधिक आधारित है। 'काव्य की ऊँची-ऊँची हिमालय-श्रेणियों के बीच मे गीति-मुक्तक को एक सजल कोमल मेघखण्ड निर्दिष्ट करना'[2] देवीजी के भावुक हृदय का परिचायक है। साथ ही साथ उन्होने वेद-गीति से लेकर आधुनिक गीति-परम्परा तक का सक्षिप्त विकास समझा कर थेर गाथाओ, भक्तिकालीन रचनाओ तथा आधुनिक गीत-प्रवृत्तियो के विभिन्न पक्षो का जो रहस्योद्घाटन किया है, वह इस विषय मे हमे विविध प्रकार की अभिज्ञता कराने मे परम सहायक है। उनका स्पष्ट मन्तव्य है कि 'गीति का चिरन्तन विषय रागात्मिका वृत्ति से सम्बन्ध रखने वाली सुख-दु:खात्मक अनुभूति ही रहेगी, पर अनुभूति-मात्र गीत नही क्योकि गेयता तो अभिव्यक्ति सापेक्ष है। साधारणत गीत व्यक्तिगत सीमा मे सुख-दु:खात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता मे गेय हो सके।'[3] इसी प्रकार महादेवीजी का गीति-काव्य विषयक विवेचन विशुद्ध साहित्यिक समालोचना न होकर उनके एतद् विषयक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति कराने मे पूर्ण है, इसमे कोई सन्देह नही।

१०७. जैसा कि पहले सकेत किया जा चुका है कि महादेवीजी ने आधुनिक साहित्य-क्षेत्र मे प्रचलित यथार्थ और आदर्श के प्रश्नो और मूल्यो पर भी अपनी मान्यताएँ व्यक्त की हैं। इन मान्यताओ के मूल मे उनका विशुद्ध सास्कृतिक और साहित्यिक दृष्टिकोण है। यही कारण है कि उन्होने साहित्य और कलाओ को तत्वत. सृजनशील मानकर उनकी पावन-स्थली मे राज-नीति और अर्थ-व्यवस्था के परिवर्तनशील मानदण्डो के अनुसार यथार्थ और आदर्श का अभिनिवेश उत्कर्ष-विधायक नही माना है। देवीजी के मतानुसार आदर्श और यथार्थ हमारी जीवन-व्यापी एकता को अभिव्यक्त करने के लिए दो भिन्न-भिन्न शैलियों के रूप मे ग्राह्य समझे जाने चाहिएँ क्योकि उन्हे दो भिन्न-भिन्न शिविरो और विरोधी भूमिकाओ मे उपस्थित करने से साहित्य का सम्मिलन भाव क्षत-विक्षत होकर विघटन का कारण बन जाता है। अपने विवेचन को विशेष गाम्भीर्य और पुष्टि प्रदान करने के लिए देवीजी ने ऐतिहासिक अनुक्रम के आधार पर रामायण और महाभारत-काल की आदर्श-निष्ठा तथा यथार्थ-दृष्टि का विश्लेषण कर यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उन दोनो कालो की जीवन-आस्थाओं मे किस प्रकार वैभिन्न्य का एकागी दृष्टिकोण समाविष्ट हो गया था, जिससे हमारी मूल सस्कृति पर्याप्त समय के लिए आच्छादित कर दी गई। अतः देवीजी के मतानुसार साहित्य के आदर्श और यथार्थ की प्राण-प्रतिष्ठा और शोभा इसी मे है कि वे प्राण और शरीर के रूप मे समन्वित होकर चले क्योकि "वह यथार्थ जिसके पास आदर्श का स्पंदन नही, केवल शवमात्र है और वह आदर्श जिसके पास यथार्थ का शरीर नही प्रेतमात्र है।"[4] महादेवीजी का यह दृष्टिकोण उनके समन्वयकारी समीक्षक-स्वरूप का भव्य निदर्शन कहा जा सकता है।

१०८. महादेवीजी ने यथार्थ और आदर्श के प्रश्न को सामयिक समस्या के रूप मे उपस्थित कर उसका समाधान-पथ अनुसधित करने का भी प्रयास किया है। आधुनिक युग उन्हे इन्ही दो दृष्टिकोण के वृत्तो मे व्याप्त और अपने-अपने को पूर्ण मान लेने की भ्रांति से आक्रात प्रतीत होता है, जिसमे अपने से भिन्न शिविर के उदात्त पक्ष के प्रति किसी भी प्रकार की कोई

१. महादेवीजी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ १४१।
२. वही, पृष्ठ १४४।
३. वही, पृष्ठ १४७।
४. वही, पृष्ठ १६१।

सहानुभूति नही है। उनके मतानुसार यदि द्विवेदी-युगीन आदर्शवाद केवल उपयोगिता के मानदण्ड से काव्य-सौष्ठव का परीक्षण करना चाहता है तो उत्तर-छायावादी युग छायावाद से विविध क्षेत्रीय प्रेरणाएँ ग्रहण करके भी अपने आपको प्रतिक्रियावादी के रूप मे उपस्थित करने में गौरव समझता है। देवीजी के मत से दोनों ही विचारधाराएँ सत्य का एक अश ग्रहण कर उसे ही पूर्ण मानने की भूल कर बैठती है। यद्यपि देवीजी ने द्विवेदी-युगीन उपयोगितावादी दृष्टि पर अधिक आक्रोश व्यक्त नही किया है, किन्तु आदर्श की प्रतिक्रिया मे उत्पन्न उस काव्यधारा का घोर विरोध किया है, जिसमे एक ओर यथार्थ की छाया मे हमारी सामाजिक विकृति से सम्बन्ध रखने वाले वासना के चित्र है, तो दूसरी ओर जीवन का वह घृणित और कुत्सित रूप है जो हमारी समष्टिगत चेतना के अभाव से उत्पन्न हुआ है।[1] हाँ, उनका उस यथार्थ से कोई विरोध नही है जो हमारी सवेदनीय अनुभूति का यथातथ्य चित्रण करता हुआ चलता है।[2] वस्तुत. उनकी दृष्टि मे हमारे साहित्यजगत् की यह एक समस्या ही है। मध्यवर्गीय साहित्यकार की वाणी मे प्रस्फुरित श्रमिक वर्ग की विवशता का चित्रण किन अंशो तक वास्तविक और किन अशो तक बौद्धिक प्रयासमात्र है, ऐसा लिखते समय महादेवीजी का उन काव्यकारो के प्रति भी व्यग्य हुआ है जो छायावाद मे केवल पलायन-वृत्ति और वायवी स्वप्नो की धूमिल छाया देखकर प्रगतिवाद की ओर प्रयाण कर गये थे। ऐसे काव्यकारो मे जीवन की सच्ची सवेदना का अभाव निरूपित कर उनकी काव्य-सृष्टि को देवीजी ने इस दृष्टि से एक प्रकार की समस्या ही माना है कि उनके काव्य का उदात्त स्वरूप अथवा मनोभूमि किन रेखाओ से निर्मित आकार मे सत्य समझी जाय।

१०९. महादेवीजी ने सामयिक समस्या के विवेचन मे बार-बार उस प्रगतिवाद का उल्लेख किया है जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के तत्वकणो से निर्मित और मार्क्सवादी विचारधारा से अनुप्राणित है। उन्हे तो प्रस्तुत प्रगतिवाद की यथार्थमयी दृष्टि से भारतेन्दु-युग का वह जागरण विशेष प्रिय है जिसमे हमारी देश-भक्ति और राष्ट्रीय-भावना जीवन के यथेष्ट निकट रह कर यथार्थ दृष्टि से प्रस्फुटित हुई थी। सच तो यह है कि देवीजी को वर्तमान प्रगतिवाद मे जीवन की उस रागवृत्ति का कोई उद्रेक नही मिलता, जो प्राणिमात्र को सहजानुभूति प्रदान कर सके। अत देवीजी ने उसकी वर्गगत संकीर्ण भावनाओ की कुत्सा कर उसकी शालीनता इसी मे मानी है कि वह केवल दलित वर्ग तक ही सीमित न रहे, क्योंकि साहित्य का चरम उद्देश्य तो अखंड मानवता का अभिव्यंजन करना होता है।

११० स्पष्ट है कि महादेवीजी के सामयिक-समस्या विषयक विवेचन का मूलाधार प्रगतिवाद तथा यथार्थवाद है जो छायावाद की प्रतिक्रिया मे उद्भूत होकर राजनीति और अर्थ-व्यवस्था की भाँति साहित्य-क्षेत्र मे भी अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहता था। इस वाद ने 'नारी की वैज्ञानिक शव-परीक्षा कर उसे पुरुष के केवल उच्छृंखल विलास का साधन'[3] मात्र माना तो देवीजी के लिए उसका विरोध करना जैसे अनिवार्य हो गया। उन्होने नारी के व्यक्तित्व, चेतना और हृदय के उज्ज्वल पक्ष का विवेचन कर यथार्थवादियो के उक्त दृष्टिकोण की घोर निन्दा की है। इसी प्रसग मे उन्होने फ्रायडवादी विचारो के साहित्यगत प्रयोगो को भी अशोभनीय समझा है जो यथार्थवाद के नाम पर प्रचलित अभुक्त काम-वासनाओ के नग्न-चित्रो को साहित्य-मदिर मे स्वैरवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करता है। महादेवीजी का इस बात से कोई विरोध नही कि "आज का किशोर कवि अपने जीवन मे स्वप्न न देखे किन्तु क्या यह कोई अनिवार्य नियम है कि उसके

१. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ २१३।
२. वही, पृष्ठ २१४।
३. वही, पृष्ठ २२३।

स्वप्न केवल विकृत वासनाओं से ही निर्मित हों ?"[1]

१११. महादेवीजी का प्रगतिवाद-विषयक विवेचन उन समालोचकों से यथेष्ट विचार-साम्य रखता है, जिन्होने सौन्दर्य-मूलक स्वच्छदतावादी दृष्टिकोण ग्रहण कर काव्य-सौष्ठव का विश्लेषण किया है। वे प्रगति को जीवन के स्वाभाविक क्रम मे स्वीकार कर उसके रूढि-विहीन और अभ्युदयशील स्वरूप को ही ग्राह्य समझती है, जो परुष भावनाओ के साथ-साथ कोमल वृत्तियो का भी भव्य चित्रण कर सके। स्पष्ट है कि महादेवीजी ने अपने विवेचन के अंतर्गत उन समालोचको की विचारधारा और समीक्षाओ को अपूर्ण तथा एकागी निर्दिष्ट किया है जो प्रगतिवाद के उदात्त स्वरूप की उपेक्षा कर उसे केवल राजनीतिक प्रवाद का ही एक अग मान कर चलते है। इसी प्रसंग मे उन्होने द्विवेदी-युगीन मान्यताओ वाले समालोचको के प्रति भी व्यग्य किया है जो नवीन काव्यधारा के प्रति किचित् मात्र भी सहानुभूति नही रखते। समालोचको का यह दृष्टिकोण निश्चय ही हमारे काव्यालोचन की एक समस्या है, जिसके निराकरण का प्रयास युग की बहुत बडी आवश्यकता है। इसी प्रकार उन्होने आधुनिक आलोचको की अंतश्चेतना का जो मनोवैज्ञानिक निरूपण किया है, वह भी पठनीय है। उनका तो स्पष्ट निर्णय है कि जब तक हमारे आलोचक और कवि एक-दूसरे के प्रति उदासीन अथवा सशक बन कर चलते रहेगे, हमारी साहित्यगत समस्याओ का समाधान नही हो सकता।

११२. महादेवीजी के सामयिक समस्या-विषयक समीक्षण का निष्कर्ष यही है कि साहित्यकार युग-जीवन का अपेक्षित प्रभाव ग्रहण करके भी अपने महान् व्यक्तित्व और उत्तरदायित्व के परिवहन की सृजनात्मक शक्ति का सचय करे और समालोचक अपनी विशेष मान्यताओ मे छायावाद को पलायनवादी, सूर, तुलसी को सामत युग के प्रतीक, कबीर को विक्षिप्त रहस्यवादी, कालिदास जैसे कवियो को राज-दरबार के भाट तथा वेदकालीन ऋषियो को केवल प्रकृति-पूजक[2] के रूप मे ही न देखे अपितु अपने प्रतिमान को उदात्त और जीवन-व्यापी बनाकर साहित्य-परीक्षण के महान् उत्तरदायित्व का निर्वाह करे। महादेवीजी ने इस प्रकार की सकीर्ण मनोवृत्ति वाले विचारको की अतश्चेतना मे दीर्घकालीन पराधीनता, शिक्षा की अपूर्णता और जीवन की समष्टिगत विकृति को ही उत्तरदायी सिद्ध किया है। उनका यह विश्लेषण अत्यन्त प्रखर और व्यग्यपूर्ण भी है जिसमे उनकी साहित्य-सम्बन्धी मान्यताओ का प्रधान दृष्टिबिन्दु प्रतिबिम्बित है। स्पष्ट है कि यह समस्त विवेचन प्रगतिवादियो के उस मूल्याकन का प्रबल शब्दो मे विरोध करने के लिए किया गया है जो विश्व-साहित्य के महान् रत्नो और उनकी कृतियो को सामन्तीयुग का प्रतीक कहकर उनके असाधारण व्यक्तित्व के प्रति प्रश्नवाचक चिन्ह लगा देते है। उनके मतानुसार हिन्दी-साहित्य मे प्रचलित प्रगतिवाद के मूल उत्स मे भी उतनी विकृति नही जितनी इसके अनुकृत रूप मे गुम्फित है। इसका कारण उन्होने हमारी "गतिरुद्ध पराधीन जाति की दासवृत्ति" ही बतलाया है।[3]

समीक्षा का मूल्यांकन और महत्त्व

११३ जैसा कि प्रारम्भ मे सकेत कर दिया गया है कि महादेवीजी का साहित्य-प्रतिमान जीवन की चिरंतन और सनातन भावनाओ के अधिक निकट है, अत उन्होने साधारणीकरण तथा 'मधुमती-भूमिका' के आधार पर विश्व-कलाकारो की एक वर्गहीन श्रेणी मानी है जिसकी सत्ता तात्त्विक दृष्टि से अखंड है। इसी प्रकार उन्होने आदर्श और यथार्थ के भी समन्वित स्वरूप का

१. महादेवी का विवेचनात्मक 'गद्य', पृष्ठ २२६।
२. वही, पृष्ठ २३५।
३. वही, पृष्ठ २३६।

समर्थन किया है। वे साहित्य-स्रष्टाओं और समालोचकों की विदेशी तथा पराजित ज्ञान-राशि पर ही अवलम्बित बनकर चलने की मनोवृत्ति को उनकी दुर्बलता मानती है, क्योंकि उससे आत्मस्फूर्ति का सृजन और विवेकपूर्ण समीक्षण नही हो पाता। उनका इस विषय मे वह विवेचन तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसमे उन्होने मार्क्स के शिक्षा, सस्कृति और कला-विषयक विवेचन के उस पक्ष का उद्घाटन किया है जिसमे वर्गवादी भावनाओ से ऊँचे उठकर साहित्य-निर्माण करने की प्रेरणा दी गई है। साराश यह है कि यद्यपि महादेवीजी ने साहित्यिक समालोचना की कोई स्वतंत्र पुस्तक नही लिखी, किन्तु उनकी प्रकीर्णक सामग्री मे भी साहित्य का जो विचार-पक्ष व्यक्त हुआ है, वह अत्यन्त प्रेरक और अनुभूतिजन्य है। इस प्रकार का सतुलित और सयत विवेचन हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र मे बहुत कम हुआ है, जिसमे सामयिक समस्याओं को कलात्मक दृष्टि से विवेचित कर उनके समाधान का स्वरूप निरूपित किया गया हो। उनके विवेचन पर रावीन्द्रिक शैली का यथेष्ट प्रभाव है, जिसमे विवेकी पाठक के लिए तन्मय होने के पर्याप्त अवसर है। डा० नगेन्द्रजी ने उनकी आलोचक-दृष्टि का विवेचन करते हुए अपना यह अत्यन्त उपयुक्त निर्णय दिया है कि "उन्होने (महादेवीजी ने) छायावाद को पढा नही है, अनुभव किया है। अतएव साहित्य का विद्यार्थी उनकी विवेचना का आप्तवचन के समान ही आदर करेगा।"[1]

(५)

आचार्य प० नददुलारे वाजपेयी

'हिन्दी साहित्य. बीसवीं शताब्दी' समालोचना का प्रारम्भिक प्रतिमान

११४ वाजपेयीजी को आधुनिक हिन्दी-समालोचना के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान कराने मे उनकी समीक्षा-कृति 'हिन्दी साहित्य, बीसवी शताब्दी' को सर्वप्रथम स्थान दिया जा सकता है, जिसका प्रथम सस्करण सवत् १९९९ ई० मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तक मे उनके विभिन्न तिथियो मे लिखे हुए लेखो का सग्रह है जिनकी रचना-तिथि 'विज्ञप्ति' के अत मे दी गई है। विद्वान् लेखक ने पुस्तक की 'विज्ञप्ति' के अंतर्गत अपने समीक्षा-विषयक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करते हुए बीसवी शताब्दी की प्रमुख साहित्य-प्रवृत्तियो का भी विश्लेषण किया है, जिनसे उनकी सुलझी हुई दृष्टि और स्वच्छदतावादी विचारणा का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। उनकी इस कृति मे जिन साहित्यकारो का स्वतत्र निबधो के रूप मे विवेचन नही किया जा सका है, उनके सम्बन्ध मे आवश्यक निर्देश विज्ञप्ति मे दे दिये गये है जिनसे बीसवी शताब्दी की अवशिष्ट उपलब्धियो और गतिविधियो का भी ज्ञान हो जाता है। इस पुस्तक की प्रमुख विशेषता यह है कि वाजपेयीजी ने पूर्वाग्रह अथवा दुराग्रह की भावना से दूर रह कर एक निर्णायक समीक्षक के रूप मे समालोच्य साहित्यकारो के सम्बन्ध मे अपनी विवेकपूर्ण सम्मति निस्सकोच भाव से प्रकट की है। कहा जा सकता है कि जो साहित्यकार इस पुस्तक मे विवेचित नही हो सके, वे उनकी परवर्ती रचनाओ मे स्वतत्र निबधो का स्थान पा सके है और इस प्रकार उनकी यह कृति बीसवी शताब्दी के विश्लेषण मे एक प्रकार की प्रस्तावना का रूप धारण कर कालातर मे उनकी पूर्ण प्रौढि का कारण बन सकी है। वाजपेयीजी ने युग-विश्लेषण के साथ-साथ अपना साहित्य-मीमांसा विषयक प्रतिमान भी इसकी भूमिका मे प्रस्तुत किया है जो इस बात का प्रतीक है कि वे शुक्ल-युग की नैतिकता और मर्यादा मे ही काव्य-समीक्षण का व्यापक रूप न देख

१. डा० नगेन्द्र : काव्यचिंतन, द्वितीय बार, सन् १९५१, पृष्ठ ७२।

कर उसे सौन्दर्यमूलक स्वच्छदतावादी दृष्टि से विवेचित करना अच्छा समझते है। वस्तुत अद्यतन युग मे इस प्रकार की प्रवृत्ति ने यथोचित विकास कर लिया है किन्तु उस युग को देखते हुए इस प्रकार की परम्परा को प्रश्रय प्रदान करने की मनोवृत्ति के कारण वाजपेयीजी का हिन्दी समीक्षको की श्रेणी मे विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके इस प्रकार के प्रतिमान का आभास निम्नलिखित उद्धरण से लग सकेगा —

"काव्य का महत्त्व तो काव्य के अतर्गत ही है, किसी भी बाहरी वस्तु मे नही। सभी बाहरी वस्तुएँ काव्य-निर्माण के अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियो का निर्माण कर सकती हैं, वे रचयिता के व्यक्तित्व पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव डाल सकती है और डालती भी है, पर इन स्वीकृतियो के साथ हम यह अस्वीकार नही कर सकते कि काव्य और साहित्य की स्वतत्र सत्ता है, उसकी स्वतत्र प्रक्रिया है और उसकी परीक्षा के स्वतत्र साधन हैं। काव्य तो मानव की उद्भावनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है। उसके उत्कर्ष-अपकर्ष का नियत्रण बाह्य-स्थूल व्यापार या बाह्य बौद्धिक सस्कार और आदर्श थोडी ही मात्रा मे कर सकते है।"[1]

११५. वाजपेयीजी ने उपर्युक्त प्रतिमान को अपना आदर्श बनाकर विवेच्य साहित्यकारो के सम्बन्ध मे अपनी सम्मति प्रकट की है। वे द्विवेदी-युग के साहित्य की प्रशंसा करते हुए भी उसकी सीमाओ से अनभिज्ञ नही है, क्योकि उसकी 'बौद्धिकता और नीतिमत्ता सृजनात्मक मन के समस्त द्वारो का उद्घाटन' करने मे उन्हे असमर्थ प्रतीत हुई है। इस दृष्टि से उन्होने श्रीधर पाठक को प्रारम्भिक महत्त्व दिया है जिसका विकास उन्हे कालान्तर मे प्रसादजी के व्यक्तित्व मे मिला।[2] कहा जा सकता है कि वाजपेयीजी के मानसिक सस्थान का साम्य प्रसादजी के साहित्य के साथ सुचारु रूप से अभिव्यजित है। उन्हे उनके साहित्य मे जीवन की बहुरूपता का जो व्यापक चित्रण मिला है, वह उनके साहित्यिक मानदण्ड का एक प्रमुख अग कहा जा सकता है। इसी मानदण्ड का ही परिणाम है कि उन्हे प्रेमचदजी का वर्गगत चित्रण नही लुभा सका और वे प्रसादजी के व्यक्तित्व मे रवीन्द्रनाथ की भाँति बहुमुखी जीवन का स्वरूप पा कर उनके अन्यतम प्रशसक बन सके। उन्होने प्रसादजी के रहस्यवाद की प्रशंसा मुख्य रूप से इसीलिए की है कि उसमे उन्हे 'विशाल और बहुमुखी जीवनानुभूति का स्वाभाविक परिणाम' मिला है और यही प्रतिमान उनके स्वच्छदतावादी दृष्टिकोण का आधार बना है। इस प्रसग मे उन्होने रहस्यवाद का समर्थन करते हुए उसे जीवन से पलायन न मानकर जिस रूप मे उसे जीवन की वास्तविक विशालता की स्वीकृति कहा है, वह केवल कथनमात्र के लिए कथन न होकर पुष्ट प्रमाणो से भी सवलित है।[3] इस विवेचन द्वारा वाजपेयीजी ने उन भ्रान्तियो के निवारण का भी प्रयत्न किया है जो उन दिनो साहित्य-समालोचना के क्षेत्र मे रहस्यवाद और छायावाद के सम्बन्ध मे अधिकाशतः फैली हुई थी। ऐसा करते हुए उनका स्वर रहस्यवाद के विरोधी समालोचको के प्रति कुछ स्थलो पर अत्यन्त व्यंग्यपूर्ण और तीव्र भी हो गया है जो इस बात का प्रतीक है कि वाजपेयीजी रहस्यवाद और छायावाद पर किये जाने वाले आक्रमणो की सारहीनता प्रबल शब्दो मे सिद्ध करना चाहते थे। उन्होने तत्कालीन परिस्थितियो का सारगर्भित विश्लेषण कर उस आधारशिला का भी प्रतिष्ठान किया है जिन्होने रहस्यवाद और छायावाद को नैसर्गिक भाव से विकसित होने की प्रेरणा दी थी तथा जिसके कारण प्रसादजी के पश्चात् पत और निराला की जोडी इस क्षेत्र मे अवतीर्ण होकर अपनी प्रतिभा का विस्तार कर सकी थी। कहने की आवश्यकता नही कि उन्ही दिनो पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी विवेचना के अतर्गत पतजी के

१. प० नददुलारे वाजपेयी हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, प्रथम सस्करण, १६६६ विज्ञप्ति, पृष्ठ ८।
२. वही, पृष्ठ ६।
३. वही, पृष्ठ ११-१३।

'पल्लव', 'ज्योत्स्ना' और 'गुंजन' की अपेक्षा 'युगवाणी' में जिस स्वच्छंदतावाद की झलक देखी थी, वह वाजपेयीजी के मानसिक परिताप का कारण बनी जिसका आभास उन्होने यह कहकर दिया है कि 'काव्यात्मक परम्परा मे इतने गहरे पैठे हुए समीक्षक भी जब इस प्रकार की सम्मति देते है तब मानना पडता है कि इस युग की काव्य-सृष्टि के साथ किसी अशुभ ग्रह का योग अवश्य हो गया था।"[1]

समालोचना का मूल दृष्टिकोण और सप्त-सूत्री मान्यता

११६ 'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी' का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमे वाजपेयीजी ने भले ही विभिन्न साहित्यकारो की समीक्षाएँ प्रस्तुत की हो, किन्तु उन्हे छायावादी कवियो का काव्य ही अपने विवेचन का केन्द्र प्रतीत हुआ है। इस सम्बन्ध मे स्वय उन्होने इस सत्य को स्वीकार किया है।[2] वस्तुत वे द्विवेदी-युग की राष्ट्रीयता से छायावादी काव्य की भावनाओ मे विश्व मानव के ग्रहण करने योग्य भावभूमि की अधिक गुजाइश समझते है, जिसका प्रमाण उन्होने प्रसाद और निराला के गीतो को उद्धृत करते हुए दिया है। इस दृष्टि से उन्हे गुप्तजी की राष्ट्रीयता का भी दृष्टिकोण एक अर्थ मे सकुचित ही प्रतीत हुआ है। उन्होने पंत और निरालाजी की काव्यगत विशेषताओ का विवेचन करने के साथ-साथ महादेवीजी के काव्य का समीक्षण अत्यधिक सँयत विधान मे किया है और उन आलोचको को मुँहतोड उत्तर दिया है जो नए परिवर्तन का स्वाँग भरते हुए महादेवीजी के काव्य-लोक मे चित्रित उनके प्रियतम का पता असाहित्यिक मनोवृत्ति से ढूँढते फिरते है। ऐसे आलोचको को उत्तर देते हुए वाजपेयीजी ने जो विवेचन प्रस्तुत किया है, उसके उद्धरण का हम लोभ-सवरण नही कर सकते क्योकि उनके द्वारा जहाँ एक ओर महादेवीजी के काव्य का रहस्योद्घाटन होता है वहाँ दूसरी ओर प्रतिक्रियावादी साहित्य-समालोचना के प्रति भी व्यग्य प्रकट होता है। वाजपेयीजी लिखते है—

"महादेवीजी की कविता चाहे जिस लोक मे विचरण करती हो और चाहे जिस प्रियतम के पीछे पड़ी हो—उसकी ऊपरी रूपरेखा चाहे जैसी भी हो—उसमे नवीन विषम स्थितियो की प्रतिक्रिया काव्य के करुण सवेदनो के रूप मे दिखाई देती है। परवर्ती कवियो के निराशामूलक सवेदनो और महादेवीजी के इन करुण सवेदनो मे यदि कुछ अन्तर है तो इतना ही कि आध्यात्मिक आधार ग्रहण कर लेने के कारण उनके काव्य मे अब भी एक आस्तिकता और आश्वासन है जबकि नवीनतर काव्य अपने सारे आश्वासन खोकर नग्न निराशा और विद्रोह मे परिणत हो गया है।"[3]

११७ वाजपेयीजी की उक्त कृति मे कविवर रत्नाकर से लेकर अचल तक जितने साहित्यकार विवेचित हुए है उन्हे उन्होने क्रमश परम्परावादी, आदर्शवादी, स्वच्छन्दतावादी और यथार्थवादी धाराओ की प्रतिनिधि पीढियो के स्रष्टा माना है।[4] इनके अन्तर्गत प्रथम पीढी मे रत्नाकर, द्वितीय मे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल तथा प्रेमचन्द, तीसरी मे मुख्यत प्रसाद, निराला, पत और महादेवी तथा अशत भगवतीप्रसाद वाजपेयी और जैनेन्द्र कुमार, तथा चौथी मे कविवर अंचल की गणना की गई है। इन सब का विवेचन करते हुए उन्होंने उक्त पीढियो की प्रवृतियो और साहित्यकारो की कृतियो का तुलनात्मक तथा व्यापक विश्लेषण भी किया है, जिससे उनकी प्रतिभा का अनुमान लगाना सहज सम्भव है। इस पुस्तक

---

१. पं० नंददुलारे वाजपेयी हिन्दी साहित्य, बीसवी शताब्दी, प्रथम सस्करण, १९९९, विज्ञप्ति, पृष्ठ १०।
२. पं० नंददुलारे वाजपेयी नया साहित्य नये प्रश्न, 'निकष', पृष्ठ ४।
३. पं० नन्ददुलारे वाजपेयी . हिन्दी साहित्य, बीसवीं शताब्दी, प्रथम सस्करण, १९९९ वि०, विज्ञप्ति, पृष्ठ १७।
४. नया साहित्य : नये प्रश्न, निकष, विज्ञप्ति, पृष्ठ १।

की समीक्षा-प्रणाली और उपलब्धियों का विशेष विवेचन करने का यहाँ अवसर नही है, अत हम केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि स्वय वाजपेयीजी ने उनकी समीक्षा 'नया साहित्य नए प्रश्न' के अन्तर्गत कर दी है[1] जिससे और अधिक विश्वस्त और प्रामाणिक विवेचन अन्य हो ही नही सकता। यहाँ तो हम केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि 'हिन्दी साहित्य. बीसवी शताब्दी' मे सकलित समीक्षात्मक निबन्ध उनकी व्यावहारिक समीक्षाओ के भव्य निदर्शन है जिनका विकास हमे उनकी उत्तरवर्ती समालोचनाओ मे मिलता है। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है कि जिस प्रकार प० रामचन्द्र शुक्ल के प्रारम्भिक निबन्धो मे उनका साहित्य-प्रतिमान निर्मित होकर क्रमश विकसित बनता गया था, उसी प्रकार वाजपेयीजी के इन प्रारम्भिक निबन्धो मे उनका जो समीक्षा-स्तर अपने किशोर-काल मे है, वही क्रमश पुष्ट और व्यापक बनता गया है। इस विषय के प्रमाण-स्वरूप उनकी वे मान्यताएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं जो उन्होने सर्वश्री जैनेन्द्र कुमार, भगवतीप्रसाद वाजपेयी आदि कथाकारो के सम्बन्ध मे प्रकट की है। इस विषय मे उनका वह निर्णय भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जो उन्होने उस समय साहित्य-क्षेत्र मे चलने वाले कलागत श्लीलता और अश्लीलता के सम्बन्ध मे दिया था।[2] उनके इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे आचार्य शुक्लजी द्वारा निर्धारित काव्यालोचन के प्रतिमान की सीमाएँ कहाँ तक समझते है तथा उनकी समीक्षा-दृष्टियो मे शुक्लजी की मान्यताओ से कितना अन्तर है।[3] अन्त मे उन्होने सात सूत्रो के रूप मे अपनी साहित्य-समीक्षा सम्बन्धी उन दिशाओ का उल्लेख किया है जो उनके समीक्षात्मक निबधो को समझने मे सहायक हो सकती हैं।[4]

विवेच्य विषय और उसके प्रमुख अग

११८ वाजपेयीजी का मूल विवेच्य विषय आधुनिक हिन्दी-साहित्य है। यद्यपि उन्होने हिन्दी-साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास नही लिखा है फिर भी उनकी समालोचना-कृतियो और समीक्षात्मक निबन्धो मे उसके उपकरण इतने अधिक गुण और परिमाण मे व्याप्त हैं कि एक तत्वान्वेषी पाठक को उनके अतर्गत इतिहास के कलेवर मे आने वाली सामग्री का विवेचनात्मक स्वरूप उपलब्ध हो जाता है। 'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी' से लेकर 'नया-साहित्य. नये प्रश्न' पर्यन्त उनकी जितनी रचनाएँ प्रकाशित हुई है, उनसे वाजपेयीजी की विकासमान प्रतिभा और तत्वाभिनिवेशी विवेक-शक्ति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। आज से प्राय तीस वर्ष पूर्व वाजपेयीजी ने साहित्य को जिस सौष्ठव-विधान और सौंदर्यमूलक स्वच्छदतावादी दृष्टि मे ग्रहण कर बीसवी शताब्दी के साहित्यकारो का समीक्षण बिना किसी प्रकार के मतवाद का आधार लिए नवीन प्रतिमानो द्वारा किया था, वह शुक्ल-युग की विचारधाराओ से अधिक विकसित और गम्भीर था। साहित्य के अध्येताओ और अनुसंधाताओ से यह बात छिपी नही है कि यह वाजपेयीजी की प्रतिभा का ही चमत्कार था जिसने द्विवेदी-युग मे कदर्थित किये जाने वाले छायावादी कवियो को साहित्य-जगत् मे उच्च स्थान प्रदान किया और उनके काव्य-परीक्षण के लिए जिस प्रकार का प्रतिमान होना चाहिए, उसकी समालोचना-क्षेत्र मे प्रतिष्ठा की। इस दृष्टि से वे 'शुक्लोत्तर-युग' की प्रमुख प्रवृत्ति सौंदर्यमूलक स्वच्छदतावाद के प्रवर्त्तको मे से है और कालान्तर मे इस समीक्षा-धारा ने जो विकास किया है, उसके अधिकाश तत्त्वो के निर्माण का श्रेय आचार्य वाजपेयीजी को ही है। इनका

१ प० नददुलारे वाजपेयी नया साहित्य नये प्रश्न, 'निकष', पृष्ठ ४-११।

२ प० नन्ददुलारे वाजपेयी . हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी, विज्ञप्ति, पृष्ठ २३।

३ वही, पृष्ठ २८।

४ वही पृष्ठ २९।

छायावादी काव्य की ओर आकृष्ट होना इस बात का प्रतीक है कि वे शुक्ल-युग की उपज होने पर भी उसकी सीमाओ और मर्यादाओ से परिचित थे और साहित्य को अत्यन्त व्यापक क्षेत्र मे प्रनिष्ठित करना चाहते थे। इसमे कोई सदेह नही कि शुक्लजी ने अपनी प्रतिभा के द्वारा आधुनिक हिन्दी-समालोचना का स्वतन्त्र प्रतिमान स्थापित किया, किन्तु उस प्रतिमान मे जहाँ एक प्रकार का अवरोध आ गया था, उसे हटाकर वाजपेयीजी ने उसे और अधिक व्यापक-क्षेत्र मे सचरण करने का अवसर दिया। ऐसा करते हुए उन्होने समीक्षा-धारा की गगा-यमुना (द्विवेदी-युगीन तथा शुक्ल-युगीन) मे अपने विचार-प्रवाहो की सरस्वती का सयोजन कर उसे ऐसे तीर्थ-संगम का स्वरूप प्रदान िया जो आज भी शुक्लोत्तर-युग की प्रमुख समालोचना-प्रवृत्ति बनी हुई है तथा जिसके समानान्तर चलने वाली अन्य पद्धतियाँ शनै -शनै उसी की ओर उन्मुख होती हुई प्रतीत हो रही हैं। वाजपेयीजी ने अपने समीक्षा-क्षेत्र मे आगमन का परिचय स्वयं इस प्रकार दिया है—

'मेरा आगमन हिन्दी के छायावादी कवि प्रसाद, निराला और पत की नई कविता के विवेचक के रूप मे हुआ था। नए जीवन-दर्शन, नई भावधारा, नूतन कल्पना-छवियो और अभिनव भाषा-रूपो को देखकर मैं इनकी ओर आकृष्ट हुआ था। इनके जीवन-दर्शन मे मानवीय आदर्शों की एक सम्पूर्णता थी, इनकी भावधारा मे गाम्भीर्य था, इनकी कल्पना-छवियाँ निसर्गजात, समग्र और एकतान थी तथा इनके भाषा-रूप एक चमकती हुई मोहक लाक्षणिकता लिए हुए थे। इन तत्वो ने मुझे इतना आकृष्ट किया कि दूसरे कवि और दूसरी शैलियाँ मुझे अनाकर्षक लगने लगी।'[१]

आचार्य वाजपेयी और वाद-समीक्षण : 'छायावाद'

११६. वाजपेयीजी की समालोचनाओ का एक प्रमुख अंश साहित्य के क्षेत्र मे समय-समय पर उद्भूत होकर विकास करने वाले विभिन्न वाद-प्रवादो की समीक्षा है। उन्होने छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद जैसे प्रमुख साहित्यिक वादो के साथ-साथ यथार्थवाद, आदर्शवाद, परम्परावाद, स्वच्छदतावाद, अनुकृतिवाद और अभिव्यंजनावाद आदि काव्य-मतो का विवेचन अत्यन्त प्राजल शैली मे किया है। ये विवेचन उनकी अध्ययनशील-प्रज्ञा और चिन्तनशील विचारणा के मुखर प्रतिबिम्ब हैं। वाजपेयीजी का छायावाद-विषयक विवेचन तो अत्यन्त प्रौढ और व्यापक धरातल पर अधिष्ठित है। उनके पूर्व जिन आचार्यो ने छायावाद की विवेचना की थी, उसमे उसके प्रति आक्रोश का स्वर ही उदात्त था, जिसका परिणाम यह हुआ कि छायावाद का सौन्दर्य-पक्ष उनसे उद्घाटित नही हो सका। उस युग मे छायावादी कवियो ने स्वय उक्त वाद के विषय मे अपनी धारणाएँ व्यक्त की, किन्तु उनके समर्थन की आवश्यकता सर्वत्र अनुभव की जा रही थी। वाजपेयीजी का छायावाद-विषयक विश्लेषण ऐसे समय मे अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध हुआ। उन्होने सर्वप्रथम तो उस भ्राति के निवारण की चेष्टा की जिसके कारण छायावाद को भक्तिकालीन काव्य की भाँति एक विशेष प्रकार की आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाता था और जिसके रचयिताओ की मानसिक सस्थान भक्त-कवियो की कोटि मे प्रक्षिप्त करने की एक विचार-परम्परा बन रही थी। वाजपेयीजी ने पर्याप्त प्रमाण देकर इस विषय का स्पष्टीकरण किया कि "छायावाद मे भक्ति-काव्य की साकार वर्णनाओ के विपरीत निराकार पद्धति तो है ही, किन्तु वे निराकार व्यजनाएँ भी कबीर जैसे ज्ञानमार्गी और जायसी जैसे सूफी कवियो से भिन्न कोटि की है।"[२] सच तो यह है कि उनके मत से केवल 'अध्यात्मवाद' की तुला से ही कवियो के मानसिक धरातल का

१ प० नन्ददुलारे वाजपेयी नया साहित्य - नये प्रश्न 'निकष', पृ० २।

२. प० नन्ददुलारे वाजपेयीः 'आधुनिक साहित्य,' द्वि० सस्करण, पृष्ठ ३६१।

विवेचन करने की अपेक्षा उन प्रेरक शक्तियों को विशेष महत्त्व दिया जाना चाहिए, जिनसे इस विषय का बोध हो सके कि काव्यकारों ने किस प्रकार का मौलिक विधान अपनी रचनाओ मे प्रस्तुत किया है। उनका तो स्पष्ट निर्णय है कि 'नई छायावादी काव्य-धारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवी शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं।'[1] वाजपेयीजी ने इसी विवेचन के प्रसग मे मध्यकालीन हिन्दी काव्य और आधुनिक छायावादी काव्य के उन मौलिक विभेदो का पर्यवेक्षण भी किया है जिनके कारण 'मध्यकालीन काव्य की सीमा मे मानव-चरित्र और दृश्य-जगत्, अपने प्रकृत रूप मे उपेक्षित ही रहे, जबकि नवीन काव्य मे समस्त मानव-अनुभूतियों की व्यापकता पूरा स्थान पा सकी।'[2]

१२० वाजपेयीजी की समालोचनाओ मे किसी भी विषय को केवल साम्प्रदायिक अथवा सीमित दृष्टिकोण से विवेचित करने की प्रवृत्ति का विरोध मिलता है। यद्यपि उनका मुख्य विवेच्य विषय आधुनिक साहित्य है, किन्तु उन्होने पुरातन साहित्य को भी नवीन प्रतिमानो मे परीक्षित करने की आवश्यकता पर अधिक बल दिया है। वे मध्यकालीन हिन्दी-काव्य को एक विशेष अर्थ मे साम्प्रदायिक मानते हुए भी उसके समीक्षण मे केवल धार्मिक अथवा साधनात्मक प्रणालियो को ही उपयुक्त नही समझते, अपितु उनकी विचारधारा मे उस काव्य का विश्लेषण मुख्यत उसके रचयिताओ की मानसिक स्थिति और जीवन-दृष्टि को प्रधानता देते हुए करना अधिक समीचीन है, क्योकि ऐसा करने पर काव्य का प्रमुख तत्त्व भावाभिव्यजन उसके द्वारा विशेष रूप से स्पष्ट किया जा सकता है। उन्होने महाकवि सूरदास के काव्य का समीक्षण करते समय इसी प्रकार के प्रतिमान का प्रयोग किया था, जिसका विवेचन हम उनकी व्यावहारिक समीक्षाओ का मूल्याकन करते समय करेंगे। यहाँ तो इस प्रकार के उल्लेख का मूल प्रयोजन यही है कि वाजपेयीजी ने छायावाद को अपना प्रिय विषय बनाकर भी ऐसे अनेक प्रतिमान प्रस्तुत करने की चेष्टाएँ की है जिनका स्वरूप शुक्ल-युग की समीक्षा-पद्धति को विकासोन्मुख बनाने वाला कहा जा सकता है। उन्होने इस प्रकार के प्रतिमानो द्वारा मध्यकालीन कवियो को नवीन मनोवैज्ञानिक तथा साहित्यिक विधान मे प्रस्तुत करने का जो दृष्टिकोण उपस्थित किया है, वह व्यापक भावभूमि पर आधारित है। कहने की आवश्यकता नही कि शुक्लोत्तर-युग की समीक्षा-पद्धतियो पर उनके इस प्रकार के प्रतिमान-निर्धारण का भी पर्याप्त प्रभाव पडा और शुक्लजी समालोचना मे कवियो की अन्त प्रवृत्तियो की छानबीन की आवश्यकता पर जो अधिक जोर देते थे, वह वाजपेयीजी द्वारा और अधिक विकसित किया गया। वाजपेयीजी ने अपने इसी निर्धारित मानदण्ड पर मध्यकालीन कवियो के आन्तरिक तथा सामाजिक परिवेश का विवेचन किया है और छायावादी काव्य को मध्य-युग की काव्यधारा से इस अर्थ मे विशेष रूप से भिन्न माना है कि 'वह किसी क्रमागत साम्प्रदायिकता या साधना-परिपाटी का अनुगमन नही करता।'[3] इतना ही नही, वाजपेयीजी ने उन समालोचको की प्रतिमान-पद्धतियो का भी विरोध किया है जो समीक्षा मे कलात्मक तथा साहित्यिक दृष्टि को प्राथमिकता दिए बिना केवल धार्मिक और साम्प्रदायिक परम्पराओ को साहित्य-परीक्षण का आधार बनाकर अपनी विवेचनाएँ प्रस्तुत करते है जिनके कारण भक्ति-काव्य अथवा छायावाद का कलात्मक और साहित्यिक विवेचन पूर्णतया नही हो पाता। सच तो यह है कि वाजपेयीजी

---

१. प० नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, द्वितीय सस्करण, स० २०१३ वि०, पृष्ठ ३७१।

२. वही, पृष्ठ ३७२।

३. वही, पृष्ठ ३७४।

के मतानुसार छायावाद 'नवीन जीवन-प्रगति में आत्मसौन्दर्य का चितेरा और प्रकृति की चेतन सत्ता मे पुरुष या आत्मा का अधिष्ठानकर्ता है जिसकी मूल चेतना अत्यन्त भव्य और अद्वितीय है।'[1] उन्होने अपने इस कथन की पुष्टि छायावाद के प्रमुख कवियो की आत्मानुभूति का विवेचन करते हुए की है।

१२१ वाजपेयीजी के छायावाद-विषयक विवेचन मे समीक्षा-क्षेत्र की एक प्रमुख पद्धति प्रभावाभिव्यजन-प्रणाली की भी झलक मिलती है। वे छायावाद की व्यापकता और सफलता का सबसे बडा प्रमाण तो यही मानते है कि इस काव्य को 'जिन लोगो ने केवल सौंदर्य-वादी अथवा स्वप्न-लोक का विषय' बतलाया है या जो लोग इसे "विवशकारी सामाजिक अथवा राजनीतिक स्थिति की 'न्यूरोटिक प्रतिक्रिया' मानते है, वे भी छायावादी कवियो के व्यक्तित्व और प्रतिभा के प्रशसक है।"[2] सच तो यह है कि वाजपेयीजी के मतानुसार उसके विरोधी समालोचक अपनी भौतिकवादी दृष्टि के कारण उसकी अध्यात्म-भावना को नही समझ पाते और उन्हे इस धारा के कवियो मे विद्रोह तथा स्वातन्त्र्य और निष्ठा तथा सजगता का स्वर नही मिलता।[3] उन्होने छायावादी काव्य के मूल मे समाज-सापेक्षता, भारतीय काव्य-प्रकृति, उच्च कोटि की नैतिकता और मानववादी दृष्टिकोण आदि गुणो का उल्लेख कर उसे एक सशक्त काव्य माना है और इसके सम्बन्ध मे लगाये जाने वाले आरोपो का तीव्र शब्दो मे खण्डन किया है। इतना ही नही, उन्हे छायावादी काव्य मे कल्पना और अनुभूति का तो ऐसा सुन्दर मणिकाचन सयोग मिला है जिसके कारण यह काव्य अपनी गीतात्मक अभिव्यक्ति मे किसी विशिष्ट धारा का ही अनुगमन न कर अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी स्थापित कर सका है और जिसका प्रभाव हिन्दी काव्य-क्षेत्र के दो दशको (सन् १९२०-४०) तक तो व्याप्त रहा ही था, किन्तु जिसकी परवर्ती धाराओ ने भी उससे कम काव्योप-करण नही ग्रहण किए है।

प्रगतिवादी साहित्य के प्रति वाजपेयीजी की दृष्टि

१२२ वैसे तो वाजपेयीजी ने छायावाद की प्रतिक्रिया मे जन्म लेने वाले प्रगतिवादी साहित्य के सम्बन्ध मे अपने विचार यथाप्रसग विभिन्न समीक्षात्मक निबन्धो मे प्रकट किये हैं किन्तु इस विषय मे अखिल भारत हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पूना अधिवेशन (सन् १९४०) की साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष-पद से दिया गया उनका भाषण विशेष महत्त्वपूर्ण है। कहा जा सकता है कि जिस प्रकार आचार्य शुक्लजी ने काव्य मे अभिव्यंजनावाद और कलावाद के सबध मे अपनी मान्य-ताओ का स्पष्टीकरण इन्दौर वाले भाषण मे किया था, उसी प्रकार वाजपेयीजी ने भी उक्त भाषण मे प्रगतिशील साहित्य के विषय मे अपना दृष्टिकोण प्रकट करने की चेष्टा की है। यद्यपि यह भाषण शुक्लजी के भाषण के समान अधिक विस्तृत नही है, किन्तु फिर भी इसमे विद्वान् समालोचक ने अपनी सधी हुई शैली मे प्रगतिशील साहित्य के उन सभी पक्षो का तात्विक विवेचन किया है, जिनके सम्बन्ध मे साहित्य-समालोचको मे परस्पर पर्याप्त मतभेद है। वाजपेयीजी प्रगति को जीवन-साहित्य की एक अनिवार्य प्रक्रिया मानते हुए उसकी सस्थिति प्रत्येक युग मे अनिवार्य समझते हैं, क्योंकि उसके बिना हमारे सास्कृतिक और सामाजिक जीवन मे विकास की कल्पना की ही नही जा सकती। उन्होने मनुष्य की सामाजिकता को महत्त्व देकर साहित्य को केवल व्यक्तिगत

---

१ पं० नन्ददुलारे वाजपेयी : 'आधुनिक साहित्य', द्वितीय सस्करण, सं० २०१३ वि०, पृष्ठ ३७५।

२ वही, पृष्ठ ३९५।

३ वही, पृष्ठ ३९५।

भावो के प्रदर्शन की ही भूमि नही माना है, अपितु उसका सम्बन्ध हमारी सामाजिक चेष्टाओ से भी जोडा है, जिनके कारण हमारे व्यक्तित्व को उन्नयन प्राप्त होता है।[1] उनके मतानुसार व्यक्ति या समाज के बीच चलने वाले स्वाभाविक आदान-प्रदान को सचेत होकर ग्रहण करना काव्य-साहित्य को प्रगतिशील ही नही बनाता, अपितु उसे उत्थान भी प्रदान करता है।[2] इस प्रकार उन्होने प्रगतिशील साहित्य के लिए किन्ही विशेष प्रकार की जीवन-आस्थाओ अथवा बधी-बंधाई परम्पराओ मे चलना अहितकर माना है, क्योकि ऐसा करने से हम साहित्य के उस उदात्त लक्ष्य की अवहेलना कर देते हैं जिसके कारण उसे शाश्वत गौरव प्राप्त होता है।

१२३. वाजपेयीजी के प्रगतिशील साहित्य-विषयक विवेचन से स्पष्ट है कि वे प्रगति को जीवन के साथ ऐसे स्वरूप मे सगठित करना उचित समझते है जिससे "जीवन सम्बन्धिनी आधार-भूत-चेतना साहित्य से लुप्त न हो जाय, हम मृत्यु के अथवा अगति के उपासक न बन जाएँ, निराशा और आत्मपीडन को अर्घ्य न देने लगे।"[3] इससे उनका यह अभिप्राय नही कि "साहित्य मे करुण रस अथवा ऊँचे आदर्श की कल्पनाओ का कोई स्थान नही है" अपितु यह आशय अवश्य है कि 'साहित्य मे आशा, निराशा, करुण और वीर आदि के लिए समान स्थान है किन्तु उनकी नियोजना प्रगतिमूलक और उद्देश्ययुक्त होनी चाहिए।"[4] उन्होने साहित्य का युग-जीवन के साथ सम्बन्ध स्वीकार किया है किन्तु वे यह उचित नही समझते कि युग-जीवन की निराशा के पीछे हम आत्मविस्मृत हो जाएँ। सच तो यह है कि उन्हे मृत्यु से अधिक वरेण्य जीवन लगता है अतः प्रगतिशील साहित्य मे उसका अभिव्यंजन ऊर्जस्वित रूप मे किया जाना ही सर्वथा समीचीन है।

१२४ वाजपेयीजी ने बुद्धिवादी सूत्र के आधार पर कुछ मनोवैज्ञानिक निदर्शन प्रस्तुत करते हुए अति शृगारोन्मुख, अति उदासीन, केवल कौतूहलपूर्ण तथा केवल मनोरंजक प्रवृत्तियो को प्रगतिमूलक नही माना है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि 'बाह्य सघर्ष की अपेक्षा बौद्धिक और मानसिक सघर्ष का प्रगतिशील साहित्य मे अधिक महत्त्व है।[5] उन्होंने प्रगतिशील साहित्य को समय-सापेक्ष निर्दिष्ट कर ऐसे तीन सूत्रो की आयोजना की है जिसके द्वारा प्रगतिशील साहित्य का स्वरूप अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है। उन सूत्रो मे पहला सूत्र आत्मचेतना या जीवन-चेतना का है जिसके अभाव मे साहित्य अथवा कला का वास्तविक निर्माण हो ही नही सकता। उन्होने प्रगतिशील साहित्य का दूसरा सूत्र यह माना है कि वह परिवर्तन के क्रम को समझते हुए नवीन समस्याओ के सम्पर्क मे आवे और नवीन ज्ञान का उपयोग करना जाने।[6] तीसरे सूत्र के अंतर्गत उन्होने कला-निर्माण के पक्ष को महत्त्व दिया है।[7] इन तीनो सूत्रो मे उन्हे प्रगतिशील साहित्य की बाह्य तथा आभ्यतरिक विशेषताओ का सम्पूर्ण सयोजन मिला है, जिसको स्वीकार करते हुए चलने से किसी भी प्रकार की रूढि का साहित्य मे सचार नही हो सकता और वह अधिकाधिक उत्थानमूलक बन सकता है। वाजपेयीजी ने इन तीनो सूत्रो के सम्बन्ध मे होने वाली भ्रांतियो का भी निराकरण किया है और बतलाया है कि आधुनिक युग मे समाजवादी विचारो का क्षेत्र श्रेष्ठ साहित्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है किन्तु वह किसी विशेष प्रकार की संकीर्ण मतवादी

---

१ प० नददुलारे बाजपेयी · आधुनिक साहित्य : द्वितीय सस्करण, स० २०१३, पृष्ठ ३७९।
२. वही, पृष्ठ ३७९।
३. वही, पृष्ठ ३८०।
४. वही, पृष्ठ ३८०।
५. वही, पृष्ठ ३८१।
६. वही, पृष्ठ ३८१।
७. वही, पृष्ठ ३८४।

धारा के अतर्गत सकुचित होकर नही प्रकट होना चाहिए।[1] सच तो यह है कि वाजपेयीजी के मतानुसार 'कला का लक्ष्य प्रचार न होकर सृष्टि होता है और कला की प्रगतियाँ नई प्राण-प्रतिष्ठा, नए तौर-तरीके (टेकनीक), नूतन छंद, नवीन भाषा और नई भावाभिव्यक्ति आदि है जो विशुद्ध साहित्यिक स्वरूप मे प्रकट होती है।'[2]

१२६. जैसा कि पहले सकेत कर दिया गया है कि वाजपेयीजी का प्रगतिशील साहित्य के प्रति अत्यन्त व्यापक दृष्टिकोण है, अतः वे प्रगतिवादियो की मार्क्सवादी विचारधारा अथवा वर्गवादी भावना के विश्लेषण मे अधिक आस्था नही रखते। उन्हे तो साहित्य की प्रगतिशीलता ऐसे व्यापक विधान मे दृष्टिगोचर हुई है जिसके कारण उन्होने रवीन्द्रनाथ और बकिमचन्द्र की महत्ता का कारण भी अपने द्वितीय सूत्र के सिद्धान्त के आधार पर स्वीकार किया है। सच तो यह है कि उन्हे मार्क्सवादी प्रगतिवादियो की मान्यताओ मे अधिक ग्राह्य तत्व इसलिए भी प्रदर्शित नही होते कि वे जिन कार्यों मे आज प्रगति देखते है, वे सम्भवत अनागत मे रूढियाँ सिद्ध हो जाएँ। इस प्रकार वाजपेयीजी कला-निर्माण के पक्ष को साहित्य का प्रधान पक्ष निर्दिष्ट कर अपने मानदण्ड के अनुसार प्रसाद, पंत, मैथिलीशरण गुप्त आदि कवियो को भी प्रगतिशील साहित्य का निर्माता समझते है, क्योकि उनकी प्रगति जीवन और साहित्य की नैसर्गिक विधि मे हुई है, न कि वह किन्ही विशेष प्रकार के सिद्धान्तो के हल्के प्रचार द्वारा सम्पन्न बनी है। अभिप्राय यह है कि वाजपेयीजी ने प्रगतिशील साहित्य का विश्लेषण सब प्रकार की रूढियो से दूर रहते हुए किया है जिसमे लोक-मंगलविधायक साहित्य के स्वरूप-लक्षण भली-भाँति सगठित हो गये है।

प्रयोगवादी काव्यधारा और वाजपेयीजी

१२६. प्रगतिवाद के पश्चात् हिन्दी काव्य-क्षेत्र मे जिस प्रयोगवादी धारा ने प्रवेश किया उसके प्रति वाजपेयीजी ने अपनी धारणाएँ व्यक्त करने के पूर्व उस वाद से सम्बन्धित उन विशेष स्थलो का विवेचन किया है, जिनको आधार बनाकर प्रयोगवाद के प्रवर्त्तक उसकी प्रशसा मे अनेक प्रकार के तर्क प्रस्तुत करते है। सच तो यह है कि वाजपेयीजी के मतानुसार "हिन्दी काव्य-परम्परा मे प्रयोगवादी शैली कभी भी अधिक सम्मानसूचक नही रही। प्रयोग शब्द से प्रायः नए अभ्यास, नवीन प्रयास या नई निर्माण-चेष्टा का अर्थ लिया जाता है। प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारणत उस व्यक्ति का बोध होता है, जिसकी रचना मे कोई तात्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रम-विकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो। वास्तविक सृजन और कातदर्शिता के बदले सामान्य मनोरंजन और शैली-प्रसाधन ही उसकी विशेषता होती है। अधिकार और उत्तरदायित्व की अपेक्षा अनिश्चय और उद्देश्यहीनता की भावना ही वह उत्पन्न करता है। स्रष्टा और सदेशवाहक न होकर वह प्रणेता और प्रवक्ता-मात्र होता है।"[3] उन्होने प्रयोगवादी काव्य के आप्त-ग्रन्थ 'तार-सप्तक' मे श्री अज्ञेय तथा प्रभाकर माचवे आदि की उद्भावनाओ के उद्धरण देते हुए अत्यन्त तर्कपूर्ण शैली मे उन्ही के शब्दों की व्यजनाओ के आधार पर प्रयोगवाद की अनिश्चित स्थिति सिद्ध की है और उनके तथ्यो और निर्णयो मे अनेक प्रकार की असंगतियाँ बतलाई है। अपने समालोचक-व्यक्तित्व मे सौंदर्यमूलक रस-ग्राही दृष्टि को प्रधानता देने के कारण वाजपेयीजी को प्रयोगवाद मे मानसिक उलझनो और बौद्धिक चेष्टाओ के अतिरिक्त अन्य कोई विशेष बात नही मिलती, अतः उन्होने अज्ञेयजी की 'विवृत्ति' का ही आधार लेकर प्रयोगवादी काव्य की एक सामान्य परिभाषा इस

---

१ पं० नददुलारे वाजपेयी आधुनिक साहित्य, द्वितीय सस्करण, स० २०१३ वि०, पृष्ठ ३८९।

२. वही, पृष्ठ ३८९।

३. वही, पृष्ठ ६९।

प्रकार की है—

१२७ "उलझी हुई संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए अभेद्य क्षेत्रो मे जाने की स्वाभाविक प्रेरणावश सीधी-तिरछी लकीरो, सीधे या उल्टे अक्षरो आदि का उपयोग करते हुए कभी किसी विषय पर सहमत न होने वाले अन्वेषियों की रचना।"[१] स्पष्ट है कि वाजपेयीजी ने इस परिभाषा मे प्रयोगवादी काव्य-विश्लेषकों का मूल दृष्टिकोण अन्तर्निहित कर दिया है। इसमे उनके प्रति प्रच्छन्न व्यग्य और आन्तरिक आक्रोश की भावनाओ का भी समावेश है। जिस प्रकार उन्होने 'प्रयोगवाद' का वास्तविक स्वरूप उद्‌घाटित करने के पूर्व उसके आविष्कार-कर्ताओं की वाक्यावली का विवेचन किया है, उसी प्रकार उसके आधार पर निर्मित उक्त परिभाषा के द्वारा इस काव्य के प्रति अपने निष्कर्ष निकाले है। उदाहरणार्थ 'उलझी हुई संवेदना की अभिव्यक्ति' से उन्होने इस धारा के कवियो पर 'एक अतिरिक्त बुद्धिवादिता का शासन' तथा 'कवि-कर्म के अभाव' का भार माना है[२] तो 'अभेद्य क्षेत्रो मे जाने की स्वाभाविक प्रेरणा' मे वैचित्र्यवाद की हल्की भावना का आभास पाया है, जिसके कारण प्रयोगवादी काव्यकार सीधी-टेढी लकीरो और सीधे-उल्टे अक्षरो को चुनते हुए अपनी कलाविहीन असाहित्यिक रुचि का ही परिचय देते है।[३] उनके मतानुसार प्रयोगवादी काव्य-स्रष्टाओ की कृतियो मे आधुनिक मनोविज्ञान जीवविज्ञान तथा समाज-विज्ञान की बहुलता की झलक भले ही मिल सके, किन्तु उनका इस प्रकार का प्रयोग-बाहुल्य वास्तविक साहित्य-सृजन का स्थान प्राप्त करने मे असमर्थ ही माना जायगा।[४] वाजपेयीजी के इस विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे काव्यात्मक सृजन और प्रयोग मे मौलिक अन्तर मानते हैं और उनके मतानुसार कवि का सर्वप्रथम उत्तरदायित्व अपनी रसात्मक अनुभूतियों के प्रति होता है जबकि प्रयोग को ही सब कुछ मानने वाला साहित्यकार उसकी मूल चेतना से बहुत अधिक दूर और हटा हुआ रहता है। उन्होने प्रयोगवाद की परिभाषा के तीसरे वाक्याश 'कभी किसी विषय मे सहमत न होने वाले अन्वेषियो' का विश्लेषण करते हुए यही संकेत किया है कि इस प्रकार की दृष्टि सामाजिक सहयोग की भावना के स्थान पर एक ऐसी उपेक्षा-वृत्ति का प्रदर्शन है जिससे समाज-कल्याण की कोई आशा की ही नही जा सकती।[५] अभिप्राय यह है कि वाजपेयीजी की मान्यता से कवि का उत्तरदायित्व व्यक्तिगत अनुभूति के साथ-साथ सामाजिक जीवन और काव्य-सत्ता के प्रति विशेष रूप से होना चाहिए और प्रयोगवादी रचनाओ मे उनमे से किसी भी पक्ष की पुष्टि न मिलने के कारण वे काव्य-क्षेत्र मे परिगणित होने की क्षमता नही रखती।[६]

१२८. वाजपेयीजी का प्रयोगवाद-विषयक विवेचन अत्यन्त व्यापक और युक्तिसंगत है। उसका शुक्लोत्तर युगीन समालोचना मे इसलिए और भी अधिक महत्त्व है कि उसके कारण अनेक प्रयोगवादियो की विचारधाराओ मे कालक्रम से परिवर्तन आए हैं और वे अपनी दुर्बलताओ से परिचित होकर अन्वेषण के सही मार्ग की ओर उन्मुख होने के लिए सचेष्ट बने हैं। वस्तुतः प्रयोगवाद के नाम पर जब साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र मे एक प्रकार का विघटनशील वातावरण बनने लगा था और छायावाद तथा प्रगतिवाद को क्रमशः 'हिस्टीरिया की भाँति हिन्दी कविता का मानसिक रोग' तथा 'दमित इच्छाओ से निर्मित होने वाली औद्धत्य की सीमा पर पहुँचा

---

१. प० नददुलारे बाजपेयी : आधुनिक साहित्य : द्वितीय सस्करण, स० २०१३ वि०; पृष्ठ ७५।
२. वही, पृष्ठ ७५-७६।
३. वही, पृष्ठ ७६।
४. वही, पृष्ठ ७७।
५. वही, पृष्ठ ७७।
६. वही, पृष्ठ ७८।

हुआ पर पीडित प्रेम'[1] सिद्ध करने की चेष्टाएँ की जा रही थी तब उनकी उच्छृखलताओ पर अकुश इस लगाने के लिए इस प्रकार के तीव्र और तथ्यपरक विश्लेषण की अत्यन्त आवश्यकता थी। वाजपेयीजी ने ऐसे समय प्रयोगवादी काव्य के भाव-पक्ष, कला पक्ष, पद-प्रयोग, छद-रचना आदि विभिन्न अगो को लेकर जो सोदाहरण विवेचन किया है, वह प्रयोगवाद का वास्तविक स्वरूप प्रकट करने मे पूर्ण समर्थ है। उन्होने छायावाद और प्रगतिवाद पर आक्षेप करने वाले आलोचको की शब्दावली के उद्धरण देकर उक्त दोनो वादो की सतति के रूप मे जन्म लेने वाले प्रयोगवाद की बेमेल और सकर-सृष्टि को काव्य-गुणो की दृष्टि से सर्वथा हीन बतलाया है, क्योकि उसमे काव्योपयोगी समन्वयपूर्ण भावनाओ का अभाव है। वाजपेयीजी के इस विवेचन की एक विशेषता यह भी है कि उन्होने केवल प्रयोगवाद का ही विश्लेषण कर उसकी न्यूनताओ का निर्देश नही किया, अपितु आधुनिक काव्य की अन्य प्रवृत्तियो का भाव-सौष्ठव और रचना-विधान निरूपित करते हुए जहाँ एक ओर उनका काव्य-ग्राह्य स्वरूप निर्दिष्ट किया है, वहाँ दूसरी ओर प्रयोगवादी काव्य की अनेक अपूर्णताएँ भी बतलाई हैं। इस विवेचन के प्रसग मे रत्नाकरजी से लेकर छायावादी काव्य-धारा के प्रमुख कवियो की सामान्य विशेषताओ का भी उद्घाटन हुआ है जिनकी समता मे प्रयोगवादी रचनाओ का महत्त्व किसी भी रूप मे सिद्ध नही होता। वस्तुत वाजपेयीजी की इस प्रकार की समालोचनाओ मे उनका स्वस्थ और सयत दृष्टिकोण झलकता है और उससे यह भी स्पष्ट ध्वनित होता है कि उनके मानस मे साहित्य को उसके विशुद्ध संवेदनात्मक स्वरूप मे ग्रहण करने की कितनी अधिक लालसा है। उन्होने 'तार-सप्तक' की कुछ पक्तियो को लेकर उनकी निस्सारता और असबद्ध योजना का जो सप्रमाण विवेचन किया है, वह अत्यन्त उपयुक्त है। प्रयोगवाद के सम्बन्ध मे उनके विचारो का निष्कर्ष इस प्रकार है—

'प्रयोगवाद हिन्दी मे बैठे-ठाले का धन्धा बन कर आया था। प्रयोक्ताओ के पास न तो काव्य-सम्बन्धी कोई कौशल था और न किसी प्रकार की कथनीय वस्तु थी। धीरे-धीरे इस मजाक मे भी सच्चाई जान पडने लगी और कुछ लोग इस अर्थहीन वस्तु मे भी एक नए 'वाद' की सम्भावना देखने लगे। क्रमश यह भाषा-सम्बन्धी बीहड प्रयोगों का अड्डा बन गया जिससे पाठको को भी थोडी-बहुत दिलचस्पी होने लगी। आगे चलकर इसमे टी० एस० इलियट की शैली मे आधुनिक जीवन के खोखलेपन का परिचय कराया जाने लगा। यह वाद हिन्दी मे आरम्भ से ही मध्यवर्ग के हार खाए और फिर भी शौकीन तबियत वाले व्यक्तियो के हाथ मे रहा है। पिछले कुछ दिनो से इसमे इन निष्क्रिय व्यक्तियो की निराशा और गिरा हुआ मन प्रतिबिम्बित होने लगा है। आश्चर्य नही, यदि निकट भविष्य मे यह वही रगत धारण करे जो पश्चिम मे अति यथार्थ-वादियो (Surrealistic) की रचनाओ ने धारण किया है।"[2]

अन्यान्य वाद-समीक्षाओं के प्रति वाजपेयीजी के विचार

१२६. वाजपेयीजी के छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद-विषयक विचारो का विशेष उल्लेख इसलिए किया गया कि उक्त वाद मे हमारे आधुनिक साहित्य के तीन प्रमुख अंग रहे है जिनका रचनात्मक तथा समालोचनात्मक साहित्य पर विशेष प्रभाव पडा है। उन्होने आदर्श और यथार्थ की जीवन-दृष्टियो का भी विवेचन भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य का ऐतिहासिक अनुक्रम से विश्लेषण करते हुए किया है। इन वादो से सम्बन्धित विचारो को सूत्र-प्रणाली मे अभिव्यजित करने की वाजपेयीजी मे पूर्ण क्षमता है।[3] यूरोपीय ससार मे ग्रीक-साहित्य से लेकर आधुनिक

१. प्रभाकर माचवे, तार सप्तक।

२ पं० नन्ददुलारे वाजपेयी : 'नया साहित्य - नये प्रश्न', प्रथमावृत्ति सन् १९५६ 'निकष', पृष्ठ २१।

४. प० नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, द्वितीय संस्करण सं० २०१३ वि०, पृष्ठ ४४३।

साहित्य पर्यन्त आदर्श और यथार्थ का निर्वाह जिन साहित्यकारो मे जिन-जिन रूपो में मिलता है उनका सामान्य परिचय देकर उन्होंने आधुनिक साहित्य की मूल भावना को हृदयंगम कराने के लिए एक प्रकार से पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर दी है। उनके इस विवेचन से यह ध्वनित होता है कि वे काव्य में कल्पना का यथेष्ट संयोग होने के कारण उसमे आदर्शवाद का निर्वाह अधिक सफल समझते हैं; जबकि उनके मतानुसार उपन्यासो और कहानियों मे यथार्थवादी दृष्टि की अधिक गुंजाइश हो सकती है। यह सब कुछ होते हुए भी वे यथार्थ और आदर्श के सतुलन की महत्ता कम नही मानते। सच तो यह है कि उन्हे साहित्य मे किसी भी वाद की अतिरेकता पर विश्वास नही है। उन्होने धार्मिक और नैतिक मूल्यों को प्रधानता देकर चलने वाले आदर्शवाद के लिए यथार्थ दृष्टि की आवश्यकता अनिवार्य बतलाई है तो आधुनिक यथार्थवाद मे मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा फ्रायड और एडलर के सिद्धान्तो के अनुयायी अतश्चेतनावाद के दुर्बल पक्ष का भी उद्घाटन किया है जिनके अध्ययन से वाजपेयीजी के इन वादो की साहित्यगत महत्ता विषयक विचारो का सहज ही बोध हो जाता है।

१३०. वाजपेयीजी ने पश्चिमी काव्यमत के मूल प्रेरक अनुकृतिवाद का विश्लेषण प्लेटो और अरस्तू की विचारधारा के अनुरूप किया है जो सामान्यतः परिचय-मूलक कहा जा सकता है। उन्होने क्रोचे के अभिव्यजनावाद का विश्लेषण करने के पूर्व यूरोपीय काव्य-शास्त्र के क्षेत्र मे किए गए लैसिग, विकैलमेन तथा कांट के उन सौन्दर्यमूलक और कलाभिव्यजक विचारों का उद्घाटन किया है जिनसे क्रोचे को काव्यगत अभिव्यंजनावाद की प्रतिष्ठा करने मे प्रेरणा मिली है। उनके क्रोचे के अभिव्यजनावाद-विषयक विवेचन मे उक्त वाद की प्रमुख विशेषताओं के साथ-साथ इस विषय का भी सामान्य निरूपण हो गया है जो क्रोचे के अभिव्यजनावाद के सम्बन्ध में आक्षेप करते हुए विवेचित किए जाते हैं। इसी प्रकार पश्चिमी साहित्य मे परम्परा (क्लेसीसिज्म) और स्वच्छन्दता (रोमेटिसिज्म) सम्बन्धी जिन दो प्रमुख काव्य-शैलियो का युग-परिस्थिति के अनुकूल जिस रूप मे विकास हुआ है उनका मूल विभेद स्पष्ट करते हुए उन्होंने यह बतलाया है कि 'प्रथम प्रकार की शैली मे वस्तु और शैली दो पृथक् सत्ताए है जबकि द्वितीय प्रकार की शैली मे काव्य की मूल वस्तु भावना है जिसके अन्तर्गत उसके अन्य उपादान सन्निविष्ट किए जा सकते है।'[1] पश्चिम के इन विभिन्न काव्य-मतो के अतिरिक्त वाजपेयीजी ने भारतीय काव्य-मतों का भी विश्लेषण किया है, जिनमे 'अलकारमत, रीतिमत, गुणमत, वक्रोक्तिमत, ध्वनिमत, और रसमत' प्रमुख है। इस विवेचन द्वारा भारतीय काव्य-शास्त्र मे विकसित होने वाले उपर्युक्त मतो का क्रमिक विकास तथा उनकी मुख्य विशेषताओ का उद्घाटन तो हुआ ही है किन्तु साथ ही साथ उनके महत्त्वपूर्ण अंशो पर अनिवार्यतः वाजपेयीजी की मान्यताओ का भी स्पष्टीकरण हुआ है। उन्होंने ध्वनि और रस-सिद्धान्त पर नवीन विधि से दृष्टिपात करते हुए उन्हे आधुनिक मनोविज्ञान तथा सौन्दर्य-शास्त्र के विधान द्वारा जिस रूप मे विवेचित किया है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस विषय मे उनकी यह उपलब्धि विशेष उल्लेखनीय है कि 'भरत मुनि के नाट्यशास्त्र मे प्रतिपादित रस-निष्पत्ति विषयक सूत्र के आधार पर आचार्य भट्ट लोल्लट ने उत्पत्तिवाद, आचार्य शकुक ने अनुमितिवाद, आचार्य भट्ट नायक ने भुक्तिवाद और आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिव्यक्तिवाद को प्रधानता देकर क्रमश. जिन रूपो मे अपना विवेचन प्रस्तुत किया है, वह परस्पर विरोधी न होकर क्रमागत परम्परा का ऐसा विकास है जिसमे तत्वोपलब्धि की चेष्टाएँ सर्वत्र अन्तर्भूत रही हैं। उन्होने लोल्लट के उत्पत्तिवाद को 'काव्य की निर्माणात्मक प्रक्रिया' से सम्बन्धित[2] बतलाया है तो शंकुक के अनुमितिवाद को 'अभिनय-योजना द्वारा रस-प्रक्रिया' को

१. पं० नन्ददुलारे बाजपेयी : आधुनिक साहित्य : द्वितीय सस्करण, स० २०१३ वि०, पृष्ठ ४४४।

२. वही, पृष्ठ ४१६

स्पष्ट करने का साहित्यिक विधान सिद्ध किया है।[1] इसी प्रकार उन्हे भट्ट नायक का भुक्तिवाद काव्य में निहित प्रेषणीयता के तत्व को उद्घाटित करने की दिशा में अनुमिति सिद्धान्त की अपेक्षा एक कदम आगे लगा है[2] तो अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करता हुआ 'सहृदय द्वारा किए जाने वाले रसास्वाद के मनोवैज्ञानिक आधार की भी विवृति करता हुआ प्रतीत हुआ है।[3] अभिप्राय यह है कि आचार्य वाजपेयी के मत से रस-निष्पत्ति विषयक ये चारों सिद्धान्त क्रमशः काव्य की प्रेषणीयता और काव्य-रस के आस्वादन की समस्या को समझाने का प्रयत्न करते हैं जिनकी क्रमबद्ध योजना को देखकर यही कहा जा सकता है कि 'जिस प्रकार वेदान्त मत के रहते हुए भी अपने-अपने स्थान पर मीमासा, न्याय और साख्य मतों की भी पूर्ण प्रतिष्ठा है, उसी प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त के ध्वनि-मत का निरूपण हो जाने पर भी पूर्ववर्त्ती तीनो आचार्यों की उपपत्तियां निरी निरर्थक नही हो जाती।'[4]

साधारणीकरण और वाजपेयीजी

१३१. वाजपेयीजी की इसी सैद्धान्तिक विवेचना के प्रसंग मे उनके 'साधारणीकरण' विषयक विचारों की जानकारी भी आवश्यक है। वास्तव मे 'साधारणीकरण' का मूल सिद्धान्त भट्टनायक के 'भुक्तिवाद' के अन्तर्गत सन्निहित है, जिसमे आचार्य ने अनुमान के स्थान पर 'भावन' शब्द का प्रयोग शास्त्रीयता के अधिक निकट रह कर किया था और जिसका उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि अभिनय मे भावन-व्यापार द्वारा नायक और नायिका का स्वरूप निर्विशेषत्व या साधारणीकरण को प्राप्त होता है जिसे देखकर सामाजिक अभिनेता या नट मे नायक का अनुमान कर एक सुखद भ्रम मे पडकर दोनो के अन्तर को भूल जाता है। इस सिद्धान्त को लेकर आधुनिक हिन्दी समालोचना मे भी अनेक प्रकार के मतवाद चले है और जिनका आज भी अन्त नही है। अतः वाजपेयीजी ने विवेचन की तथ्यपरकता की दृष्टि से साधारणीकरण का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

"साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि और दर्शक) के बीच भावना का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण वास्तव मे कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है, केवल किसी पात्र विशेष का नहीं। इस तथ्य को न समझने के कारण ही साधारणीकरण के प्रश्न पर अनेक निरर्थक विवाद होते रहे है।"[5] उन्होने इसी प्रसग में उन प्रवादो का भी विवेचन किया है जो साधारणीकरण के साथ असाहित्यिक विधि मे जोड दिए जाते हैं, जैसे देवताओ और पूज्य व्यक्तियो के रति-भाव का साधारणीकरण प्रेक्षक को न होना आदि। वाजपेयीजी को इस प्रकार की दलीलें असाहित्यिक लगती है क्योकि उनके मतानुसार "रचियता या कवि के लिए भी तो वे देवता या पूज्य चरित्र उतने ही पूज्य है जितने दर्शक या श्रोता के लिए। ऐसी अवस्था मे, कवि द्वारा वर्णित देवताओं का रतिभाव दर्शकों को उसी प्रकार प्रभावित करेगा—उसी भाव की सृष्टि करेगा, जिस भाव की अनुभूति कवि या नाटककार ने स्वत. की है। उससे भिन्न भाव की सृष्टि हो ही नहीं सकती, क्योकि कवि की रचना में उससे भिन्न भाव की स्थिति ही नही है।"[6]

१. पं० नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य : द्वितीय सस्करण, स० २०१३ वि०, पृष्ठ ४२०।
२. वही, पृष्ठ ४२१।
३. वही, पृष्ठ ४२२।
४. वही, पृष्ठ ४१६।
५. वही, पृष्ठ ४२२।
६. वही, पृष्ठ ३२१-२२।

सैद्धान्तिक पक्ष और मान्यताएँ—साहित्य का प्रयोजन और आत्मानुभूति

१३२. अन्यान्य आलोचकों की भाँति वाजपेयीजी भी साहित्य का मूल प्रयोजन या हेतु आत्मानुभूति मानते हैं जिसका अभिप्राय यह है कि "साहित्य की सृष्टि आत्मानुभूति की प्रेरणा से होती है।"[1] वैसे तो आत्मानुभूति शब्द दर्शन-शास्त्र का है और उस पर भिन्न-भिन्न दार्शनिक अलग-अलग मत रखते हैं किन्तु वाजपेयीजी उस ऊहापोह मे न जाकर केवल साहित्य-क्षेत्र मे अनुभूति शब्द की व्याख्या ही पर्याप्त समझते है। उन्होने गोस्वामीजी के स्वान्त सुखाय भाव का विश्लेषण करते हुए रसवादियो के सिद्धान्त-निरूपण के आधार पर यही बात सिद्ध की है कि 'साहित्य मात्र के मूल मे अनुभूति या भावना ही रहती है जिसकी सत्यता रस-सिद्धान्त की प्रक्रिया से ही स्पष्ट की जा सकती है।'[2] इतना ही नही, वाजपेयीजी काव्यगत अनुभूति की व्यापकता भारतीय साहित्य-शास्त्र के ध्वनि-सिद्धान्त से भी निरूपित करते है। उनका कथन है कि "काव्य और साहित्य की बाहरी रूप-रेखा के मर्म मे आत्मानुभूति या विभावन-व्यापार ही काम करता है। काव्य की सम्पूर्ण विविधता के भीतर एकात्म्य स्थापित करने वाली यही शक्ति है। सम्पूर्ण काव्य किसी रस को अभिव्यक्त करता है। काव्य का वह रस किसी स्थायी भाव का आश्रित होता है और वह स्थायीभाव रचयिता की अनुभूति से उद्गम प्राप्त करता है।"[3]

१३३. वाजपेयीजी ने अनुभूति के विवेचन के प्रसंग मे वर्तमान युग के प्रसिद्ध कलाशास्त्री बेनिडीटो क्रोचे को भी लिया है जो काव्य या कलाओ के रूप मे की गई अभिव्यक्ति को ही अनुभूति मानता है। क्रोचे का कहना है कि अनुभूति हमारे आत्मिक व्यापार का ही परिणाम है जो सौन्दर्य-रूप मे अभिव्यक्त हुए बिना नही रह सकता तथा जिसकी अखण्डता देशकालावच्छिन्न होती है। वाजपेयीजी ने क्रोचे की इस स्थापना के निकट भारतीय विचारधारा को भी ला रखा है और यही सिद्ध किया है कि यहाँ पर भी काव्य की जो सार्वजनीनता और सार्वभौमिकता जिस रूप मे सिद्ध की गई है उसमें अनुभूति की अखण्ड एकरूपता का ही अनवरत प्रवाह है। वाजपेयीजी स्वय इस मत से सहमत है और जो आलोचक व्यक्तिगत और वस्तुगत के नाम से काव्य के जो विभेद करते हैं उनमें वे विरोध प्रकट करते है, क्योंकि अनुभूति के क्षेत्र मे व्यक्तिकता और वस्तुपरकता अथवा अभिव्यंजकता और आत्माभिव्यंजन-हीनता का विभाजन अनुचित है।[4] इसी दृष्टि से वाजपेयीजी महाकाव्य, खण्ड-काव्य और प्रगीत-मुक्तक इन सबको अनुभूति की दृष्टि से समान-भूमि पर स्वीकार करते हैं और किसी रस-विशेष की रचना को किसी अन्य रस की रचना से श्रेष्ठ या हीन बतलाना भी अव्यावहारिक मानते है।[5] अपने इसी सिद्धान्त के आधार पर ही उन्होने सूर और तुलसी, देव-बिहारी, कबीर और जायसी आदि के काव्य का विवेचन करते समय उन्हे अनुभूति के दृष्टि-बिन्दु से समान स्तर का सिद्ध किया है और शुक्लजी के लोकरजन और लोकरक्षण तथा शक्ति, शील और सौन्दर्य के प्रतिमान को अधिक महत्त्व नही दिया है। वस्तुतः वाजपेयीजी के मतानुसार अनुभूति और अभिव्यक्ति मे ऊपरी दृष्टि से सापेक्षता रहते हुए दोनो की अन्तरग अनन्यता में सन्देह नही किया जा सकता और जो समीक्षक आत्मानुभूति को गौणता देकर अन्य दृष्टियो से किसी साहित्यकार की कृति का मूल्याकन करते है, वह वाजपेयीजी को स्वीकार नही है। उनका तो दृढ़ विश्वास है कि "काव्यानुभूति स्वत. एक अखण्ड आत्मिक व्यापार है, जिसे किसी भी दार्शनिक, राजनीतिक, सामा-

---

१. प० नन्ददुलारे वाजपेयी आधुनिक साहित्य द्वितीय सस्करण, स० २०१३ वि०, पृष्ठ ४६४।
२. वही, पृष्ठ ४६५।
३. वही, पृष्ठ ४६६।
४ वही, पृष्ठ ४६८।
५. वही, पृष्ठ ४६८।

जिक या साहित्यिक खण्ड-व्यापार या वाद से जोडने की कोई आवश्यकता नही ।"[1] इस प्रकार उनके मतानुसार मानव-कल्पना का अनुभूति-लोक नित्य और शाश्वत है और साहित्य-समीक्षण मे इस सिद्धान्त की उपेक्षा नही की जानी चाहिए।

साहित्य और सामाजिकता का सम्बन्ध

१३४. वाजपेयीजी के साहित्य और सामाजिक प्रगति-विषयक विचार भी पठितव्य हैं। उन्होने बतलाया है कि मार्क्स ने अर्थ-योजना को लेकर साहित्य की सामाजिकता का जो वैज्ञानिक निरूपण किया है, वह आज के भौतिकवादी सघर्ष तथा देश की परिस्थिति की दृष्टि से यथेष्ट समुचित है, किन्तु उसे इस अतिवाद तक घसीट कर ले जाना कि 'साहित्य की कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है और वह किसी सामाजिक मत-विशेष का अनुकरण-मात्र है' वाजपेयीजी को स्वीकार नही है।[2] उनका कहना है कि मार्क्स के सिद्धान्त को यदि कडाई के साथ साहित्य-क्षेत्र मे अपना लिया जाय तो हमारा पुराना साहित्य किसी काम का नही रहेगा। उनके मतानुसार मार्क्सवाद या किसी भी अन्य वाद को काव्य की कसौटी बनाना ठीक नही है, क्योकि ये वाद-सिद्धान्त किसी काव्य की प्रेरक शक्तियाँ, समय तथा सामाजिक कर्त्तव्य को समझने मे सहायता दे सकते हैं किन्तु उन्हे काव्य का नियामक-पक्ष नही बनाया जा सकता। इस प्रकार वाजपेयीजी के मतानुसार कवि की सामाजिकता और युग-विशेष की परिवर्तनशीलता का महत्त्व होने पर भी इस सत्य की उपेक्षा नही की जानी चाहिए कि साहित्य सामाजिक-इतिहास का अग-मात्र ही नही, अपितु वह एक स्वतन्त्र कला-वस्तु है जिसे वाणी और मानव-भावना का ऐसा साकार वैभव कहा जा सकता है जिसमे सामाजिकता-मात्र का निर्वाह ही सब कुछ नही होता।[3] तात्पर्य यह है कि वाजपेयीजी साहित्य से समाज, सामाजिक जीवन तथा सामाजिक विचारधाराओ और वादो का सम्बन्ध अवश्य मानते है किन्तु यह सम्बन्ध अनुवर्ती रूप मे ही माना जाना चाहिए, क्योकि साहित्य की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है और उसके अन्तर्गत ही सामाजिक प्रगति एक अग बनकर आ सकती है। साथ ही साथ वाजपेयीजी का यह भी कहना है कि गद्य, पद्य, श्रव्य, दृश्य, प्रबन्ध, मुक्तक आदि विभेदो की दृष्टि से साहित्य के देशकालगत अनेक प्रकार और प्रकृतियाँ भी हो सकती है किन्तु उनकी बाह्य बहुरूपता मे भी एक ऐसी अन्तर्व्यापिनी एकता भी रहती है जिसकी खोज करना बच्चे साहित्य का कार्य होता है। वाजपेयीजी ने अपनी इस मान्यता के अनुसार ही काव्य की परिभाषा करते हुए उसे 'प्रकृत मानव-अनुभूतियो का नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण माना है जो मनुष्य-मात्र मे स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-सवेदन उत्पन्न करता है।' यही सौन्दर्य-संवेदन भारतीय पारिभाषिक शब्दावली मे रस-सज्ञा से अभिहित होता है।[4]

१३५. वाजपेयीजी ने साहित्य की सामाजिकता और प्रगतिशीलता को किसी रूढिवाद या दलगत विचारधारा मे ग्रहण न कर उसे तात्विक रूप मे श्रेयस्कर बतलाया है। उनकी तो मान्यता है कि मानव-जीवन की शाश्वत संवेदनाओं मे भी ससृति के अनुरूप विकास या प्रगति होना स्वाभाविक है और देश काल और वातावरण का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति और समाज पर पड़ता है जिसमें कवि की ग्राहिका शक्ति तो उसे और भी अधिक तीव्रता और सजगता से ग्रहण करती है, जिसका अभिप्राय यह है कि सच्चे कवि और साहित्यकार स्वतः ही प्रगतिशील

१. प० नन्ददुलारे वाजपेयी आधुनिक साहित्य : द्वितीय संस्करण, सं० २०१३ वि०, पृष्ठ ४७० ।
२. वही, पृष्ठ ४५७ ।
३. वही, पृष्ठ ४५८ ।
४. वही, पृष्ठ ४५९ ।

होते है किन्तु वह प्रगतिशीलता किसी विशेष प्रकार मे ही न होकर सामाजिक प्रेरणाओं, स्वरूपो और प्रवृत्तियो को शाश्वत सौन्दर्य-सवेदन का स्वरूप प्रदान करने के अर्थ मे होनी चाहिए ।[१] वाजपेयीजी की प्रगतिशीलता-विषयक धारणा इतनी व्यापक भूमिका पर आधारित है जिसमे कालिदास, शेक्सपीयर, होमर, मिल्टन, वाल्मीकि, व्यास, सूर, तुलसी, कबीर आदि प्राचीन काव्यकार और वर्तमान तथा भविष्य के साहित्यकार भी अपनी चिरन्तन भावनाओं के रस-सवेद्य चित्रण मे आ जाते हैं । साथ ही साथ वाजपेयीजी का उन समीक्षको से भी इस विषय मे स्वत विरोध प्रकट हो जाता है जो प्रगतिवाद के नाम पर तथाकथित प्राचीन कवियों को प्रतिगामी, प्रतिक्रियाशील अथवा पिछडा हुआ कहते हैं । ऐसे समालोचकों के सम्बन्ध मे वाजपेयीजी की यह धारणा है कि "वे काव्यकारो का मूल्याकन विशुद्ध काव्य-दृष्टि से न कर केवल उस सामाजिक सगठन से करते हैं जिसमे काव्य की रचना की जाती है ।"[२] अतएव वाजपेयीजी के मतानुसार किसी वाद या संकीर्ण विचारधारा को ही काव्य का प्रतिमान स्वीकार करना भी ठीक नही कहा जा सकता । जो लोग यह मानते है कि परिस्थिति के परिवर्तनो के साथ-साथ समाज की नैतिक और आध्यात्मिक मर्यादाएँ बदल जाएँगी और काव्य की माप मे भी अन्तर आ जायगा, यह भी वाजपेयीजी की दृष्टि मे भ्रमपूर्ण धारणा है । उनकी मान्यता मे वादो की अपेक्षा जीवन की व्यापकता को काव्य मे प्रश्रय मिलना चाहिए और काव्य मे वादो की स्थिति एक समुचित और सतुलित सीमा-रेखा मे ही समझी जानी चाहिए, अन्यथा उन्ही को प्रधानता देने से जीवन की सम्पूर्ण सवेदना खण्ड-खण्ड हो जायगी जिससे उसका जीवन्त रस सूखने लगेगा ।[३] वे काव्य का कार्य सवेदना की सृष्टि करना और वाद का कार्य केवल एक देशीय ज्ञान-विस्तार करना मानकर अन्त मे इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'काव्य और वाद दोनो मानव-जीवन से सम्बद्ध होते हुए भी दोनो की पृथक्-पृथक् सत्ताएँ हैं और वे एक-दूसरे के सहकारी होते हुए भी अपनी कार्य-शैली मे भिन्न है ।'[४] इस प्रकार साहित्य और सामाजिक प्रगति का पूर्वापर क्या सम्बन्ध है, इसका आभास उक्त विवेचन से निसर्गत प्राप्त किया जा सकता है ।

साहित्य और जीवन-विषयक दृष्टि

१३६ वाजपेयीजी साहित्य और जीवन का सम्बन्ध अत्यन्त व्यापक अर्थ में मानते है और उसको समझने मे देश-काल की सुविधा के मोह में पड़ना उचित नही समझते । उन्होने उन विचारको से अपना मतभेद प्रकट किया है जो साहित्य को राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलनों के आगे अपदस्थ कर उसकी स्वतत्र सत्ता पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगा देते है । साथ ही साथ उनका जीवन से अभिप्राय अत्यन्त व्यापक है । वे जीवन की तुलना ऐसे धारा-प्रवाह से करते हैं जिसकी प्राणदायिनी और रमणीय बूँदे साहित्य मे एकत्र की जाती हैं ।[५] उनके मतानुसार 'जीवन के अनन्त आकाश मे साहित्य के विविध नक्षत्र आलोक-वितरण करते है ।'[६] वे साहित्यकार को केवल युगीन परिवेश मे ही कारावद्ध करना उचित नही समझते, क्योकि वह वर्तमान मे रहता हुआ भी अतीत और भविष्य को अकस्थ किये रहता है । उनके मतानुसार महान् कलाकारो के लिए सामयिक जीवन का केवल इतना ही महत्त्व है कि वह उनके द्वारा चित्रित किये जाने वाले विराट्, सर्वकालीन

१. प० नन्ददुलारे वाजपेयी · आधुनिक साहित्य द्वितीय संस्करण, स० २०१३ वि०, पृष्ठ ४६० ।
२. वही, पृष्ठ ४६१ ।
३. वही, पृष्ठ ४६२ ।
४. वही, पृष्ठ ४६३ ।
५. वही, पृष्ठ ४५५ ।
६. वही, पृष्ठ ४५५ ।

यथार्थ जीवन की कल्पना मे सहायक-मात्र बन सके, तभी तो वाजपेयीजी ने महान् कलाकारों के विषय मे अपना यह निष्कर्ष प्रदान किया है कि वे देश-काल की सीमा भंग करने मे ही सुख मानते हैं और सार्वभौम समाज के प्रतिनिधि बनकर रहते है। सक्षेप मे साहित्य और जीवन के पूर्वापर सम्बन्ध विषयक वाजपेयीजी के विचार इस प्रकार के हैं—

'साहित्य मे मनुष्य का जीवन ही नही, जीवन की वे कामनाएँ, जो अनन्त जीवन मे भी पूरी नही हो सकती, निहित रहती है। जीवन यदि मनुष्यता की अभिव्यक्ति है तो साहित्य मे उस अभिव्यक्ति की आशा-उत्कंठा भी सम्मिलित है। जीवन यदि सम्पूर्णता से रहित है तो साहित्य उसके सहित है तभी तो उसका नाम साहित्य है, तभी तो साहित्य जीवन से अधिक सारवान और परिपूर्ण है तथा जीवन का नियामक और मार्ग-द्रष्टा भी रहता आया है।'[1]

व्यावहारिक समीक्षा और उसके विषय

१३७. जैसा कि प्रारम्भ मे ही सकेत कर दिया गया है कि वाजपेयीजी मुख्यत. आधुनिक साहित्य के समालोचक है, अत. उन्होने आधुनिक साहित्यकारो के साथ उन कृतियो का भी विशेष रूप से मूल्याकन और समीक्षण किया है जो आधुनिक युग में महत्त्वपूर्ण समझी जाती है। 'साकेत', 'कामायनी', 'कुरुक्षेत्र', 'कुणाल', 'कृष्णायन' जैसे काव्यो और 'गोदान', 'त्यागपत्र' और 'शेखर. एक जीवनी' जैसे उपन्यासो को ऐसे विवेच्य विषयो मे प्रधानता दी गई है। इस प्रकार की समीक्षाओ से जहाँ एक ओर विवेच्य रचनाओ के अन्तरग और बहिरग पक्षो का सूक्ष्म पर्यवेक्षण हुआ है, वहाँ दूसरी ओर उनके रचयिताओं के मानसिक विकास का विश्लेषण भी युग, परिस्थिति तथा आतरिक प्रेरणाओ को लक्ष्यभूत बनाकर किया गया है। इन विवेचनाओं मे विवेच्य विषय के साथ-साथ तुलनात्मक पद्धति का भी प्रयोग है, जिसके द्वारा समालोचना का स्तर अधिक प्रमाणसम्मत और व्यापक बन गया है। इस प्रकार की विवेचनाओ से पाठको को केवल समालोच्य कृति की ही जानकारी नही होती, अपितु उसके युगीन धरातल पर विकसित होने वाली अन्यान्य साहित्यिक प्रवृत्तियो की भी अभिज्ञता हो जाती है। ऐसी समालोचना मे वाजपेयीजी का दृष्टिकोण रसग्राही पाठक का ही विशेष रूप से रहा है और वे उन प्रभावो को भी अकित करते चले है जो उनके मानस पर कृतियो के अध्ययन के समय यथासमय अकित होते रहे है। इस प्रकार की विवेचनाएँ उनके सौन्दर्य-विधायक और स्वच्छदतावादी दृष्टिकोण की विज्ञापिकाएँ है, जिनमे प्रयुक्त व्याख्यात्मक पद्धतियाँ इस विषय का जीवन्त प्रमाण है कि वाजपेयीजी शास्त्रीयता के परिपालन मे ही समालोचना की परिधि नही समझते, अपितु वे उसे जीवन-दृष्टि के साथ प्रगतिशील बनाकर चलने मे ही पूर्णता का अधिकाधिक आभास पाते है। उन्होने इस प्रकार की समालोचनाओ द्वारा जहाँ एक ओर अपने मनोनुकूल साहित्य-रचनाओ के गुणो की प्रशसा तत्वाभिनिवेशिनी प्रज्ञा को आधार बनाकर की है, वहाँ दूसरी ओर उन मान्यताओ और मतवादो का तीव्र शब्दो मे खंडन भी किया है जो उन्हें वादग्रस्त अथवा साम्प्रदायिक-मात्र प्रतीत हुए है। सच तो यह है कि वाजपेयीजी को रचना तथा मीमांसा का सौंदर्य-विधायक और जीवन-निरूपक पक्ष का केवल वही स्वरूप विशेष प्रिय है जिसमे प्रचारवादी दृष्टिकोण को महत्त्व न देकर सच्ची आत्माभिव्यक्ति से साहित्य-निर्माण किया गया हो। इस प्रकार की समालोचनाओ मे वे सर्वत्र स्पष्ट और सतुलित बनकर चले हैं, जिनकी प्रेषणीयता का प्रभाव अत्यन्त व्यापक है। उक्त कृतियो के विवेचन के अन्तर्गत वाजपेयीजी ने यथाप्रसग सैद्धातिक सूत्रो की भी अवतारणा की है और उनके प्रतिमानो पर व्यावहारिक पक्ष को

---

१ प० नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य द्वितीय संस्करण, स० २०१३ वि०, पृ० ४५६।

और अधिक पुष्ट बनाया है। कई स्थलो पर विवेच्य विषय को उपशीर्षको मे विभक्त कर उन्होंने उन स्थलो की शकाओ का भी स्पष्ट समाधान किया है जिनके सम्बन्ध मे साहित्य के इतिहासकारो और मूल्यांकनकर्त्ताओ मे मतभेद है। अभिप्राय यह है कि वाजपेयीजी द्वारा लिखी गई विभिन्न कृतियो की समीक्षाएँ स्वतंत्र शीर्षको मे विवेचित होने पर भी हिन्दी-साहित्य के क्रमबद्ध विकास को ऐसी शृखलाओ में जोडती चली है जिनमे इतिहास-निर्माण की अद्‌भुत शक्ति स्वत. अतर्निहित है। अपने विषय की परिमिति के कारण उनका स्वतत्र रूप से विवेचन करने का यहाँ अवसर नही है, फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि वाजपेयीजी के इस प्रकार के विवेचन मे ऐसे अनेक सूत्र सग्रथित है जिन्हे आधार बनाकर अनेक उदीयमान आलोचको ने उनका भाष्य किया है।

'महाकवि सूरदास' : व्यावहारिक समालोचना का भव्य प्रतीक

१३८. सूर और तुलसी आधुनिक हिन्दी समालोचना के सर्वप्रिय विषय रहे हैं। समालोचना के शैशव-काल मे इनकी परिचयमूलक जीवनी और ग्रन्थो की शोध ही समालोचको की विवेचना का विषय रही थी, किन्तु कालान्तर मे उनके भावगत और कलागत पक्षों का उद्‌घाटन भी होने लगा। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका मे सूर और 'तुलसी ग्रन्थावली' की भूमिका मे तुलसी की अन्त प्रकृति की छानबीन करते हुए उनके काव्यो का विविध दृष्टियो से व्यापक विश्लेषण किया था। विश्लेषण का यह क्रम क्रमश आगे बढता गया और अनेक विश्वविद्यालयीय शोधको ने भी इनके जीवन और काव्य की अधिक से अधिक प्रामाणिक सामग्री देने की चेष्टा की जिनके अनुशीलनमूलक कार्यो पर विश्वविद्यालयो ने उन्हे उच्चतम उपाधियाँ भी प्रदान की। समालोचना के प्रसार-काल मे इस विषय को एक सौन्दर्यमूलक व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का जिन आलोचको ने प्रयत्न किया, उनमे आज के प्रमुख समालोचक प० नन्ददुलारे वाजपेयीजी का स्थान अग्रगण्य है। उन्होने 'महाकवि सूरदास' नामक अपने समालोचनात्मक ग्रन्थ में सूरदास के 'काव्य, जीवन और भक्ति' का अन्तरग विवेचन किया है। इस पुस्तक का विषय-क्रम आठ अध्यायो मे विभक्त है, जिनमे क्रमश. 'भक्ति का विकास', 'भक्ति सम्बन्धी दार्शनिक सम्प्रदाय', 'सूर की जीवनी और व्यक्तित्व', 'आत्मपरक भावभूमि', दार्शनिक पीठिका', 'सास्कृतिक और नैतिक पक्ष', 'प्रतीक-योजना' तथा अन्त मे 'काव्य-सौन्दर्य' का विश्लेषण हुआ है। वाजपेयीजी ने सूर-काव्य के विश्लेषण-पक्ष को आरम्भ करने के पूर्व आधुनिक हिन्दी अनुशीलन और उसकी सीमाओ का एक सामान्य परिचय देकर यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि आज की समालोचना अपने पूर्ववर्ती युगो से क्रमिक विकास प्राप्त करती हुई जिन समाजशास्त्रीय और मनोविश्लेषक प्रक्रियाओ मे सिमट कर चल रही है, उनके एकांगी आधार पर सूर और तुलसी जैसे महान् और प्रतिनिधि कवियों का विश्लेषण करना अशोभनीय और अनुचित प्रयास है।[1] वाजपेयीजी का यह दृष्टिकोण समीचीन है, क्योकि इन समालोचनात्मकपद्धतियो की एकांगिता तत्व-मीमांसको से अप्रकट नही है और कम से कम भारतीय चिन्तन और साहित्याराधन से तो उनका मेल-जोल बहुत कम बैठ पाता है।

१३९. वाजपेयीजी का 'भक्ति का विकास' विषयक निरूपण अत्यन्त गवेषणापूर्ण है। उन्होने विभिन्न ऐतिहासिक और दार्शनिक अनुसधानो का विवरण देकर बतलाया है कि वैदिक काल से ही भक्ति के बीजाकुर मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों द्वारा किस प्रकार प्रस्फुटित किए गए थे और वे किस प्रक्रिया मे वैदिक प्रार्थना और प्रकृति-नियामको के प्रति श्रद्धा, प्रेम और भय की सम्मिश्रित भावनाओं मे क्रमशः विकसित होने लगे थे।[2] उनके मतानुसार सगुण अवतारवाद की झलक वेदों के

१. पं० नन्ददुलारे वाजपेयी . महाकवि सूरदास : सन् १९५२ 'प्राक्कथन', पृष्ठ ११।
२. पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ' महाकवि सूरदास : सन् १९५२, पृष्ठ ३-४।

पुरुष-सूक्त मे पाई जाती है और इसी प्रकार नवधा भक्ति के सामान्य लक्षणों की भूमिका भी। वाजपेयीजी ने अपने इस विवेचन के क्रम मे ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर जीवन-दर्शन की विकसित परम्परा मे भक्ति के विकास को देखा है। वेदोत्तरकालीन उपनिषदो के विभिन्न उद्धरणो और ब्राह्मण-ग्रन्थो के विवेच्य विचार-बिन्दुओ के द्वारा उन्होने बतलाया है कि आगे चलकर रामायण और महाभारत-काल मे आकर भक्ति का जो वास्तविक विकास हो सका, उसकी प्रगति किस प्रकार अनेक मोड़ लेती हुई उन युगो की आस्थाओ के रूप मे अभिव्यक्त हुई है। वाजपेयीजी ने भारतीय तथा पश्चिमी विद्वानो की शोधो और अनुसंधानो की प्रचुर सामग्री अपने विवेचन को पुष्ट बनाने के लिए उद्धृत की है और इस प्रकार वे राम और कृष्ण की भक्ति का भारतीय जीवन मे क्रमिक प्रसार अत्यन्त सुलझी मनोवृत्ति से दिखा सके हैं। कहा जा सकता है कि भक्ति की जीवन-धारा सूक्त-काल के धरातल को पार कर और श्रीमद्‌भागवत मे अपना व्यक्तित्व बनाकर श्री रामानुज, मध्याचार्य, निम्बार्क और कल्लम आदि विभिन्न आचार्यों के विवेचन का विषय बनी, उसका सारगर्भित विवेचन वाजपेयीजी के इस निबन्ध से उपलब्ध हा जाता है। वस्तुत सूर जैसे भक्त-कवि के काव्य का विश्लेषण करने के पूर्व इस प्रकार का विवेचन अनिवार्य था, क्योंकि जब तक हम भक्ति के स्वरूप और विकास की परम्परा को न समझ ले, भक्त-कवियो के दृष्टिकोण की तात्विकता को अधिक हृदयंगम नही बना सकते।

१४०. वाजपेयीजी द्वारा लिखा गया 'महाकवि सूरदास' का द्वितीय अध्याय भक्ति के विकास को विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायो के अन्तर्गत स्पष्ट करने की सामग्री से विभूषित है। यह विवेचन पूर्णतः दार्शनिक और तात्विक है जिसमे श्री रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद का विस्तार-पूर्वक विश्लेषण कर राजा इन्द्र की उपासना-पद्धति का तत्वोद्‌घाटन किया गया है। अपने विवेचन के स्पष्टीकरण के लिए वाजपेयीजी ने अनेक तर्कसम्मत आधार भी उद्‌धृत किए है। तदुपरान्त वे मध्याचार्य के द्वैतवाद के विश्लेषण मे उतर आए है जिसमे विष्णु को सर्वोच्च परम तत्व कह कर उनके निराकार स्वरूप के विषय मे यथेष्ट विवेचन है। मध्य के द्वैतवाद की प्राय सभी प्रमुख बाते उनके विश्लेषण मे आ गई हैं, जिन पर आगे चलकर उनके द्वारा प्रतिपादित भक्ति का विकास हुआ है। इसी प्रकार इसी अध्याय मे निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद का भी प्रमुख उपादानो के साथ दार्शनिक विवेचन है। वाजपेयीजी ने सबसे अधिक जानकारी श्री बल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद की कराई है जिनका पुष्टिमार्ग महाकवि सूर के काव्य का दार्शनिक पक्ष बन कर आता है। कदाचित् इसकी आवश्यकता वाजपेयीजी को इसलिए भी प्रतीत हुई कि सूर के दृष्टिकोण का साम्य आचार्य वल्लभ के दार्शनिक सिद्धान्तो के साथ परीक्षित हो सके और सूर के जिज्ञासु पाठको को इस विषय मे अधिक उलझना न पडे कि सूर की भक्ति का तात्विक स्वरूप क्या है। वैसे तो शुद्धाद्वैतवाद का विवेचन भी अन्यान्य दार्शनिक सम्प्रदायो की भाँति अत्यधिक ऊहापोहों से सयुक्त है और उसके सूक्ष्म दर्शन की भूमिका मे अनेक प्रकार की उलझने भी हैं, किन्तु वाजपेयीजी उनके फेर मे न पडकर उसके केवल सर्वग्राह्य स्वरूप का ही निरूपण करने मे प्रवृत्त हुए हैं, जिसके द्वारा सूर की साहित्य-साधना और भक्ति-पद्धति को समझने में सुविधा हो गई है। कहा जा सकता है कि वाजपेयीजी के महाकवि सूरदास के ये प्रारम्भ के दोनो अध्याय हिन्दी-साहित्य मे निरूपित भक्ति-साधना के विश्लेषण की एक कडी हैं और आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल के महाकवि सूरदास नामक ग्रन्थ के प्रारम्भ में एतद्‌विषयक जो विवेचन हुआ है, उसकी शृंखला को पुष्ट और व्यापक बनाने का एक अग्रिम सोपान है।

१४१. वाजपेयीजी ने महाकवि सूर की जीवनी और उनके व्यक्तित्व से सम्बन्धित जो विवरण उस पुस्तक के तृतीय अध्याय मे किया है; उससे उक्त महाकवि के सम्बन्ध मे प्राप्त नवीनतम सामग्री का सम्यक् उपयोग होने के साथ-साथ उसकी जन्म-तिथि, वश-परिचय और जाति,

उसके पिता, प्रारम्भिक जीवन, जन्मान्धता, दीक्षा-समय और उसके पश्चात् का विवरण, अकबर से भेट, सूर-तुलसी-मिलन तथा अष्टछाप मे स्थापना-विषयक शोधो के प्रचुर अंश सम्मिलित हैं। यह सामग्री अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के प्रमाणो पर आश्रित है, जिसके निष्कर्ष रूप मे यही कहा जा सकता है कि वाजपेयीजी के मतानुसार सूर अपने समय के एक महान् भक्त थे और उनके द्वारा पुष्टिमार्गी भक्ति को यथेष्ट विकास प्रदान किया गया था। हाँ, आगे चलकर वाजपेयीजी ने सूर की आत्मपरक भावभूमि का जो विवेचन किया है वह अत्यन्त मौलिक और नई सूझ-बूझ से युक्त है। इस प्रकार का विवेचन हिन्दी-समालोचना की शुक्लोत्तर-प्रणाली को आगे बढाने वाला कहा जा सकता है जो इस बात का स्पष्ट संकेत है कि मनोविश्लेषणवादी समालोचक फ्रायड, युग और एडलर की सीमाओ मे बँधकर साहित्य की मनोवैज्ञानिकता का चाहे जैसा स्वेरवादी विवेचन करे, किन्तु भारतीय दृष्टि उसे एक स्वस्थ धरातल पर विवेचित करने की कैसी शक्ति रखती है। निश्चय ही वाजपेयीजी ने अपने प्रतिपादन मे यह सिद्ध करने की पर्याप्त चेष्टा की है कि सूर की अनन्य तन्मयता किस प्रकार स्वत· उनकी कविता की एक श्रेष्ठ विभूति बनकर प्रकट हुई है और उनकी कविता ने प्रचलित साहित्य-शास्त्र की पाण्डित्यवश निर्धारित की हुई सीमाओ को पार कर किस रूप मे नया विस्तार और जीवनदान दिया है।[1]

१४२. वाजपेयीजी की समालोचना मे सैद्धातिक और व्यावहारिक पक्षो का मेल है। आचार्य शुक्ल की भाँति वे भी काव्य-कला और जीवन-दर्शन के विषय मे अपनी निश्चित धारणा रखते है और अपने एक निर्धारित प्रतिमान से ही काव्यकारो और उनकी कृतियो का परीक्षण करते है। उन्होने कला को रूप और अरूप दोनो के चित्रण मे समर्थ बतलाकर उसे श्री-शोभा-सम्पन्न नारी-रूप मे देखा है जिसके मोहिनी वेश मे भावो की प्रतिमा सौन्दर्य-राशि से अलंकृत होकर प्रकट होती है।[2] वे कला की सर्वश्रेष्ठ सार्थकता इस बात मे मानते है कि उसके द्वारा पारदर्शी रसिक-जनो को तो उसकी तात्विक उपलब्धि हो ही, साथ-साथ उसका आनन्द सामान्य जन सुलभ भी हो जाय।[3] इस प्रकार अपने इस प्रतिमान मे उन्होने सूर-काव्य को भावनाओं के मार्जन और प्रक्षालन मे पूर्णतया समर्थ माना है और वे उसके आध्यात्मिक पक्ष का भी सस्तव कर सके हैं। वाजपेयीजी का यह विवेचन सूर-काव्य के अलौकिक रसत्व की अभिव्यजना करने मे भी समर्थ हुआ है और वे इसकी दार्शनिक पीठिका का निरूपण तो और भी कुशलता से कर सके हैं। वाजपेयीजी ने सूर की समालोचना मे जिस सास्कृतिक और नैतिक पक्ष का विवेचन किया है वह उसके पूर्ववर्ती अथवा अन्य समकालीन समालोचको के दृष्टि-पथ मे बहुत कम आया था और वे सूर-काव्य को केवल सौन्दर्य और कला की भूमि पर ही प्रतिष्ठित कर के देख सके थे जबकि वाजपेयीजी ने उसके उक्त धरातलो का भी स्पष्टीकरण किया। इस विवेचन का मूल दृष्टिकोण यही स्पष्ट करने का है कि सूर-काव्य मे किसी प्रकार की विलासवृत्ति अथवा अश्लील शृगारिकता के तत्त्व पाना उसके मूल दृष्टिकोण को नही समझना है, क्योकि यदि उसमे इस प्रकार की कोई अन्तश्चेतना होती तो वह भी शृगारी कवियो की भाँति भक्ति के पावन क्षेत्र मे राधा-कृष्ण के सुमिरन का बहाना बन कर प्रकट होता।[4] वस्तुतः वाजपेयीजी ने मूल प्रश्न की आधारभित्ति पर इस प्रकार की मत-प्रतिष्ठा कर अनेक विरोधियों का मुख बन्द कर दिया है, विशेष रूप से प० वेकटेशनारायण तिवारी की सूर-काव्य के शृगारपरक दृष्टिकोण का तो उसमे खडन करने का पूर्ण

१ प० नन्ददुलारे वाजपेयी महाकवि सूरदास पृष्ठ ८५-८६।
२ वही, पृष्ठ ८८।
३ वही, पृष्ठ ८८।
४. वही, पृष्ठ ११४-११५।

प्रयास है। हाँ, यह बात अवश्य है कि वाजपेयीजी को सूर-काव्य की प्रतीक-योजना और उसके दार्शनिक विवेचन की अतिरेकता पर अधिक विश्वास नही है, किन्तु साहित्य-विवेचको मे इस प्रकार के निरूपण की अधिक प्रवृत्ति-सी चल पडी है अत. उसका विश्लेषण करना भी उन्होने एक प्रकार से अपना कर्त्तव्य सा समझा है। इस प्रसंग मे उन्होने कृष्ण के चोलीबन्द तोडने, गीत, रास, गाने तथा अन्याय क्रीडाएँ करने आदि का लाक्षणिक और आध्यात्मिक अर्थ भी दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वाजपेयीजी इन प्रसंगों को न तो अध्यात्म की किसी उच्चभूमि पर प्रतिष्ठित करना ही सर्वतोभावेन समुचित समझते है और न उन्हे ऐहिक शृगारी वृत्तियो मे देखने की दृष्टि को ही। एक प्रकार से वे इन दोनो मे समन्वयपूर्ण दृष्टिकोण रखते हुए मध्यम मार्ग के अनुयायी लगते है और उनका मुख्य दृष्टिकोण सूर के भाव-पक्ष की कमनीयता को ही व्यक्त करने का रहा है

१४३ वाजपेयीजी ने सूर-काव्य के सौन्दर्य-पक्ष का उद्घाटन एक स्वतन्त्र अध्याय क रूप मे किया है। उन्होने उसके गीति-पक्ष की पृष्ठभूमि मे कृष्ण-लीला के उन मनोरम कथानको के रूप-सौन्दर्य और लीला-लावण्य की अपूर्व झलक दी है जिनका कलात्मक अभिव्यजन करने मे सूर की प्रतिभा विशेष रूप से लीन हुई थी। विशेष रूप से वे सूरसागर के दशम स्कन्ध के भाव-सौन्दर्य को प्रधान उपादान बनाकर चले है और प्रसंगगत विवेचन मे इस बात का बार-बार प्रतिपादन करते चले है कि सूर का काव्य-सौन्दर्य हमे किस प्रकार रस-निवेश की प्रत्यक्ष अनुभूति कराने मे समर्थ है। उन्होने इसी क्रम मे शुक्लजी द्वारा निरूपित राम के चरित्र मे शक्ति, शील और सौन्दर्य की पराकाष्ठा को काव्य-चरित्रो के लिए कोई तीन आवश्यक गुण नही माना है और जो आलोचक इनकी अन्धी नकल कर काव्य-परीक्षण का उन्हे मूलभूततत्व मानकर चलते हैं उनके दृष्टिकोण को भ्रातिपूर्ण सिद्ध किया है। स्पष्ट है कि वाजपेयीजी के विवेच्य विषय मे सूर की कला का उदात्त पक्ष और मानसिक धरातल भी सम्मिलित है और वे विशुद्ध काव्य-कला के समीक्षण के प्रतिमान से सूर-काव्य को तुलसी-साहित्य से किसी भी दृष्टि मे हीन-कोटि का नही समझते, क्योकि विषय की परिमितता के होने पर भी उसमे अनुभूति और सम्वेदना की तीव्रता और तन्मयता तुलसी से किसी भी रूप मे कम नही है।[1] वाजपेयीजी ने इसी काव्य-सौन्दर्य के उदघाटन से आचार्य शुक्ल के इस कथन पर भी एक छोटी-सी चुटकी ली है कि "सूर का 'वियोग वर्णन' वियोग वर्णन के लिए है, परिस्थितियो से अनुरोध मे नही।" अभिप्राय यह कि महाकवि सूरदास वाजपेयीजी की व्यावहारिक समीक्षा की एक ऐसी कृति है जिसमे विवेचन की पुनरावृत्ति अथवा पिष्टपेषण-मात्र न होकर नूतन तत्त्व-विधायिनी दृष्टि से उसका काव्य-परीक्षण हुआ है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस समालोचना-ग्रन्थ मे सूर-काव्य के परीक्षण के पूर्व भक्ति का विकास भारतीय धर्म की एक विशेष साधना के रूप मे विवेचित कर उन्होने यह स्पष्ट कर दिया है कि उसके द्वारा किस प्रकार जीवन के आत्मिक और नैतिक पक्षो मे परिपूर्णता आई थी और यहाँ का भक्ति-मार्ग ऐकातिक होता हुआ भी लोकादर्श की भूमि पर अवस्थित हो सका था। तदुपरान्त उन्होने सूर के जीवन-पक्ष की मुख्य मान्यता निर्दिष्ट की है कि जो लोग सूर के काव्य को वैष्णवमत मे दीक्षित होने के पूर्व तथा पश्चात् के आधार पर विनय और लीला को दो अशो मे विभाजित करते हैं और इन दोनो अशो मे दो भिन्न मतो या दर्शनो की छाया देखते है, वह ठीक नही है। मुझे तो ऐसा लगता है कि वैसे तो वाजपेयीजी के पूर्व भी सूर का यथेष्ट विवेचन किया गया था, किन्तु उन्होने उसके काव्य की मनोवैज्ञानिक और भावात्मक पीठिका प्रस्तुत कर यह सिद्धात विशेष रूप से निरूपित किया कि सूर की काव्य-धारा का प्रवाह एक विशिष्ट आध्यात्मिक दर्शन के समकक्ष हुआ और उनके काव्य मे काव्यगत लौकिक शृंगार भूमि न होकर अध्यात्मदर्शन की अभिव्यक्ति किस रूप मे हुई। निस्सन्देह वाजपेयीजी का

१. पं० नन्ददुलारे वाजपेयी—महाकवि सूरदास—पृष्ठ १४७।

यह निर्णय सूर-काव्य की व्याप्त महत्ता को अधिक उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित कर देता है कि उसमे जहाँ एक ओर युग की सास्कृतिक आकाक्षाओ की पूर्ति है वहाँ दूसरी ओर एक नूतन सास्कृतिक धरातल के निर्माण की प्रेरणा भी, जिसकी सीमा मे उच्चतम जीवन-मर्म की अभिव्यक्ति होती है। वाजपेयीजी ने उन आलोचको को मुँहतोड उत्तर दिया है जो सूर के काव्य पर अनैतिकता का आरोप करते है। साराश यह कि वाजपेयीजी का यह विवेचन प्रस्तुत काव्य की भूमिका पर हुआ है और उसी को प्राधान्य देकर उन्होने सूर की मनोवैज्ञानिक पीठिका का भी निर्देश किया है। इसमे इसके अतिरिक्त वाजपेयीजी को भी अन्य कोई दृष्टिकोण नही मिला और यदि मिला भी तो उसकी ओर जाना उन्होंने समीचीन नही समझा।

१४४. अन्त मे यह कहा जा सकता है कि वाजपेयीजी की यह सूर-विषयक समालोचना उनके 'सूर-सदर्भ' नामक ग्रन्थ की भूमिका का परिवर्द्धित और गम्भीर स्वरूप है और इसमे उनकी मूल-दृष्टि सूर-काव्य के सौन्दर्य-पक्ष को प्राधान्य देते हुए उसके भाव-पक्ष का विश्लेषण करने की ओर ही अधिक रही है। इसका सबसे बडा एक प्रमाण यह भी है कि सूर के शास्त्रीय और साम्प्रदायिक ग्रन्थो मे मुरली, रास आदि की जो प्रतीकात्मक व्याख्याएँ दी गई है, उनका वाजपेयीजी ने एक सामान्य परिचय देकर ही उन्हे चलता कर दिया गया है। ऐसा लगता है कि वाजपेयीजी उनको तूल देने मे अनेक प्रकार की उलझने और समस्याएँ पाते है और उनसे साहित्यिक-विवेचन मे एक प्रकार का व्यवधान सा आ जाता है, तभी तो वे उनका विवरण केवल आनुषगिक रूप से करना ही पर्याप्त समझते है। फिर भी यह कहने की कोई आवश्यकता नही प्रतीत होती कि वाजपेयीजी ने एक नये प्रतिमान से अपनी आलोचक-दृष्टि और अनुभूति के द्वारा सूर के काव्य-सौन्दर्य का अन्तरग पक्ष स्पष्ट करने की सतोषजनक चेष्टा की है और उनका निरूपण सूर-काव्य के प्रशसक समालोचक की प्रवृत्ति का तो रहा ही है। इस विवेचन मे स्वयम् वाजपेयीजी के मतानुसार यदि कोई कसर रह गई है तो वह केवल यही कि वे सूर की समसामयिक परिस्थिति का कुछ विस्तार के साथ उल्लेख नही कर सके और न सूर की काव्य-भाषा पर ही स्वतन्त्र रूप से विवेचन कर सके। इसका कारण यद्यपि वाजपेयीजी समय और स्थान का सकोच बतलाते हैं पर सम्भव है, इसके नवीन सस्करण मे इस न्यूनता की पूर्ति हो जाय। आज वाजपेयीजी के इस ग्रन्थ के पश्चात् भी सूर-विषयक अनेक समालोचनात्मक ग्रन्थ और शोध-निबन्धो का भी प्रकाशन हुआ है किन्तु उनमे वाजपेयीजी की मान्यता को कितना अधिक बढाया जा सका है, यह विषय भी समीक्षको के लिए अत्यन्त विचारणीय है। अभिप्राय यह है कि वाजपेयीजी का यह निरूपण एतद्विषयक पूर्ववर्ती रचनाओ से अधिक गम्भीर और चिन्तनपूर्ण होने के साथ उत्तरवर्ती रचनाओं के लिए भी यथेष्ट प्रेरणाप्रद रहा है जिससे वाजपेयीजी की समीक्षा-दृष्टि का भव्यतम निदर्शन प्रस्तुत हो सका है। शुक्लोत्तर-युग की प्रसारकालीन समालोचना के सैद्धातिक और व्यावहारिक विकास को सौन्दर्यमूलक स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण से परिपुष्ट बनाने वाले समालोचको की श्रेणी मे वाजपेयीजी का स्थान सदैव गण्यमान रहेगा, इसमे कोई सन्देह नही।

(६)

डॉ० नगेन्द्र

१४५. शुक्लोत्तर-युग की सौन्दर्यमूलक स्वच्छदतावादी विचारधारा तथा रसवादी परम्परा के समन्वयकारी समालोचको मे डॉ० नगेन्द्र का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनकी समालोचनाओ का क्षेत्र मुख्यत: आधुनिक हिन्दी-साहित्य ही रहा है, किन्तु उन्होने 'रीतिकाव्य की भूमिका' प्रस्तुत कर महाकवि देव और उनकी कविता का समीक्षण भी नवीन मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से किया है,

जिस पर उन्हें आगरा विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त हुई है। 'विचार और अनुभूति', 'विचार और विवेचन' तथा 'विचार और विश्लेषण' उनके समीक्षात्मक निबन्धों के सग्रह है, जिनमे सैद्धातिक और व्यावहारिक समालोचनाओ का भव्य सम्मिश्रण हुआ है। इन निबन्ध-संग्रहों द्वारा नगेन्द्रजी की विचारधारा का अध्ययन सम्यक् रूप से किया जा सकता है। उन्होने 'भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका' तथा 'भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा' लिखकर इस दिशा मे भी अभिनव पथ-प्रदर्शन किया है। सुमित्रानन्दन पंत के काव्य का समीक्षण तो सर्वप्रथम उन्ही के द्वारा आधुनिक समालोचना-विधा मे किया गया। उनकी 'साकेत . एक अध्ययन' नामक समीक्षा-कृति ने कालातर मे 'एक अध्ययनमाला' लिखने की प्रेरणा दी, किन्तु उसकी समता के अध्ययन बहुत कम प्रस्तुत किये गये। 'आधुनिक हिन्दी नाटक' मे नाटक की प्रमुख प्रवृत्तियो के साथ-साथ हिन्दी के प्रमुख नाटककारो की मानसिक चेतना का भी विश्लेषण हुआ है। 'सियारामशरण गुप्त' तथा 'आधुनिक हिन्दी-काव्य की प्रवृत्तियाँ' उनके सम्पादन-ग्रन्थ है जिनमे उनके द्वारा लिखे गये समालोचनात्मक निबन्धो का विशेष महत्व है। आचार्य विश्वेश्वर द्वारा अनूदित 'हिन्दी ध्वन्यालोक', 'हिन्दी वक्रोक्ति-जीवित' तथा 'हिन्दी काव्यालंकार' सूत्र का सम्पादन कर नगेन्द्रजी ने उक्त ग्रन्थो की जो विद्वत्तापूर्ण भूमिकाएँ लिखी है उनमे भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तो का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास दृष्टिगोचर हुआ है। उन्होने अरस्तू के काव्य-शास्त्र तथा लौंगीनुस के 'काव्य मे उदात्त-तत्त्व' का अनुवाद तथा सम्पादन प्रस्तुत कर हिन्दी समीक्षा-जगत् को इस दिशा मे कार्य करने का नवीन मार्ग दिखलाया है। उनका समीक्षण-कार्य अब भी चल रहा है जिससे भविष्य मे साहित्य-समीक्षण के और भी उत्तमोत्तम ग्रन्थो की उपलब्धि की यथेष्ट सम्भावना है। निश्चय ही उनकी समालोचनाओ मे मनोवैज्ञानिक और स्वच्छदतावादी दृष्टिकोण का जो सुन्दर समन्वय हुआ है, वह अन्यत्र कदाचित् ही उपलब्ध हो। वैसे आकाशवाणी-केन्द्रों से प्रसारित की जाने वाली उनकी वार्ताएँ भी समसामयिक साहित्यालोचन से ही सम्बन्धित रहती है जिनमे साधारणतया पुस्तकालोचन अथवा युग-विशेष की किसी सामान्य प्रवृत्ति अथवा किसी साहित्यकार अथवा कृति-विशेष का सामान्य विश्लेषण अत्यन्त सधी हुई शैली मे होता है, जिसे समीक्षात्मक दृष्टि से निश्चय ही गौरवपूर्ण माना जायगा।

सैद्धान्तिक मान्यताएँ और उनके प्रति दृष्टिकोण—'साहित्य की प्रेरणा'-विषयक विचार

१४६. साहित्य की प्रेरणा के सम्बन्ध मे अपना मन्तव्य प्रकट करने के पूर्व नगेन्द्रजी ने कवि और सुन्दरी के परिसंवाद की जो मधुर कल्पना की है, वह एतद्विषयक बौद्धिक विवेचन मे भी एक प्रकार की रसोद्रेकता उत्पन्न कर देती है। उन दोनो के बीच आचार्य की अवतारणा मानो स्वय आलोचक का ही प्रतिरूप है, जो काव्य-सृष्टि और कवि-प्रेरणा के मध्य अपना भाष्य प्रस्तुत करता हुआ उपस्थित होता है। वैसे तो हमारे प्राचीन साहित्य-शास्त्र मे भी क्रौंच-वध की कथा के अन्तर्गत महर्षि वाल्मीकि' के 'मा निषाद' श्लोक मे काव्य की प्रेरक शक्ति का अन्वेषण किया गया है, किन्तु नगेन्द्रजी ने उसके अतिरिक्त भी काव्य-प्रेरणा अथवा काव्य-प्रयोजन से सम्बन्धित अन्यान्य विचार-सरणियो का मन्थन कर जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे अत्यन्त ग्राह्य और व्यापक है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन निष्कर्षों तक पहुचने मे स्वयम् नगेन्द्रजी ने कवि-हृदय की मूल सम्वेदना की अनुभूति की है और उनके मानस मे उस अनुभूति के फलस्वरूप जो प्रतिक्रिया हुई है, वही उनके साहित्य की प्रेरणा-विषयक विचारों का सत्त्व बन गई है। कविता के जन्म के सम्बन्ध में उन्होंने जो मूल प्रेरणा मानी है वह रूढिग्रस्त न होकर लोकहृदय के अत्यधिक निकट है। वह एक ऐसा सूत्र है जिस पर किसी भी देशकाल के काव्यकार की अन्तश्चेतना को समझा जा सकता है। उनके मतानुसार "सौन्दर्य के उद्दीपन से जब जीवन के सचित अभाव अभिव्यक्ति के लिए फूट पड़ते हैं तभी तो

कविता का जन्म होता है। कविता के उद्रेक के लिए सौन्दर्य का उद्दीपन अर्थात् आनन्द और अभाव की पीडा दोनो का सयोग अनिवार्य है—केवल आनन्द या केवल पीडा कविता की सृष्टि नही कर सकती।"[1]

१४७. नगेन्द्रजी के साहित्य-प्रेरणा विषयक सूत्र मे 'काम' का भी बडा महत्त्व है। वास्तव में क्रौंच-वध की कथा मे भी उन्हे क्रौंच-मिथुन मे काम का ही संमोहन मिला है। यदि वे करुणा मे अभाव की पीडा पाते हैं तो काम में आनन्द का सम्मोह। वस्तुतः इन दोनो का सयोग ही काव्य-सृजन का मूल है।[2] यद्यपि वे भारतीय काव्य-शास्त्र मे वर्णित काव्य के यश, अर्थ, शिवेतरक्षय आदि प्रयोजनो को भी साहित्य की प्रेरणा के विषय मानते हैं, किन्तु उनके मतानुसार उन्हे काव्य की आतरिक प्रेरणा नही कहा जा सकता। इसी प्रकार काव्य-हेतुओ में भी उन्हे साहित्य की मूल प्रेरणा नही मिलती, अत वे प्राचीन काव्य-शास्त्र मे विवेचको की निर्वैयक्तिक दृष्टि के कारण काव्यकार की अन्तश्चेतना के विश्लेषण का अभाव सा देखकर इस सम्बन्ध मे आधुनिक मनोविज्ञान का ही सहारा लेना उचित समझते हैं। उन्होने अरस्तू के अनुकरण-सिद्धात से लेकर हीगेल की सौन्दर्यानुभूति विषयक विवेचना, क्रोचे की शुद्ध सहजानुभूति विषयक अभिव्यजना और फ्रायड, एडलर तथा युग के मनोविश्लेषणवाद का साराश प्रस्तुत कर अन्त मे यही निष्कर्ष निकाला है कि "काव्य के मूल में आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा है और यह प्रेरणा व्यक्ति के अन्तरग अर्थात् उसके भीतर होने वाले आत्म और अनात्म के संघर्ष से ही उद्भूत होती है। कही बाहर से जान-बूझकर प्राप्त नही की जा सकती। हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियो से होता है उनमे काम-वृत्ति का प्राधान्य है, अतएव हमारे व्यक्तित्व मे होने वाला आत्म और अनात्म का संघर्ष मुख्यतः काममय है, और चूंकि ललित-साहित्य तो मूलतः रसात्मक होता है, अतः उसकी प्रेरणा मे कामवृत्ति की प्रमुखता असदिग्ध ही है।"[3]

आत्माभिव्यक्ति और साहित्य-सर्जना।

१४८. नगेन्द्रजी ने जिस आत्माभिव्यक्ति को काव्य की मूल प्रेरणा माना है, उसके पीछे वे आत्म-रक्षण या जीवनेच्छा को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। उनकी आत्म-रक्षण की परिधि केवल व्यक्ति तक ही सीमित नही अपितु उसमे समाज, देश तथा अखिल ससार का समावेश हो जाता है।[4] उनकी मान्यता है कि जब आत्माभिव्यक्ति का ही दूसरा नाम साहित्य है तो उसके द्वारा रस या आनन्द की उपलब्धि नैसर्गिक भाव से होगी ही, क्योकि आत्माभिव्यक्ति भी तो आनन्द का कारण बनती है।[5] वे आत्माभिव्यक्ति के कारण ही साहित्य को भी वैयक्तिक चेतना मानते है, जिसके कारण साहित्य-निर्माता अपने वातावरण से प्रभावित होता हुआ भी साहित्य-सर्जना के क्षणो मे तो अन्तर्मुखी बन ही जाता है। साहित्य-निर्माण के इसी सिद्धान्त को नगेन्द्रजी ने समीक्षक पर भी घटित किया है। उनकी दृष्टि मे समीक्षा मे भी समीक्षक की आत्माभिव्यक्ति प्रधान है जिसमे भावुकता, रसिकता तथा मानसिक सतुलन अत्यन्त आवश्यक है। वे साहित्य के अन्य अगो की भाँति समालोचना मे भी साधारणीकरण को अनिवार्य मानते है क्योकि अन्ततोगत्वा वह समालोचक अर्थात् रस-ग्राही पाठक के गृहीत रस को ही तो सर्व-सुलभ करने का प्रयत्न है।[6]

१. डा० नगेन्द्र : काव्य-चिन्तन : द्वितीय बार सन् १९५१, पृष्ठ ३।
२. वही, पृष्ठ ४।
३. वही, पृष्ठ १०।
४. वही, पृष्ठ ११।
५. वही, पृष्ठ १७।
६. वही, पृष्ठ १८।

इस प्रकार नगेन्द्रजी ने साहित्य और समीक्षा के विभिन्न अंगो को लेकर अपने परिपक्व तथा परिमार्जित विचार साहित्य-जगत् के सम्मुख प्रस्तुत किए है जो उनके समीक्षा-विषयक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने मे अत्यन्त सहायक हो सकते है।

रस का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

१४९. शुक्लोत्तर-युग के समालोचको मे नगेन्द्रजी का इस दृष्टि से भी विशेष महत्त्व है कि उन्होने रस के स्वरूप को आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि मे भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वैसे तो रस-स्वरूप के सम्बन्ध मे भारतीय और पाश्चात्य ग्रन्थों में इतना अधिक विवेचन हुआ है कि उन सबका विश्लेषण स्वत· एक महान् ग्रन्थ का आकार धारण करने के लिए अपर्याप्त नही है, किन्तु नगेन्द्रजी ने उनके भाष्य मे जाना विशेष उपयोगी न समझ केवल उनकी उन सारभूत प्रवृत्तियो का ही तत्वपूर्ण विवेचन किया है, जो इस विषय मे महत्त्वपूर्ण समझी जाती है। भारतीय काव्यशास्त्र मे भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र से लेकर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ की प्रमुख मान्यताओं के विवेचन के साथ-साथ उन्होने पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रमुख स्तम्भ प्लेटो, अरस्तू, प्लोटिनस, क्रोचे, ब्रैडले, ड्यूवाय, हीगेल, एडीसन तथा रिचर्ड्स आदि विद्वानो की एतद्विषयक मुख्य धारणाओ का भी निरूपण किया है और रस-स्वरूप के प्रश्न को मनोविज्ञान की दृष्टि से तीन दृष्टिकोणों से सुलझाने की चेष्टा की है : (१) क्या काव्यानुभूति (रस) अनिवार्यत: आनन्दमयी चेतना है ? (२) क्या काव्यानुभूति अनिवार्यत. भावानुभूति से भिन्न है ? (३) क्या वह आनन्द अभौतिक और निराला है ?[१] इन प्रश्नो का उत्तर देते हुए नगेन्द्रजी ने काव्य में निष्पन्न होने वाले ऐन्द्रिय, आत्मिक, कल्पनाजन्य, सहानुभूतिजन्य तथा स्व-सापेक्ष्य इन पाँचो प्रकार के आनन्दों का तार्किक विवेचन इनके प्रमुख समर्थकों की विचारधारा के अनुसार करते हुए अन्त मे यही सिद्ध किया है कि ये सभी मत अपना-अपना. महत्त्व रखते हुए भी मनोविज्ञान की कसौटी पर पूरे नही उतरते।[२] वस्तुत: रस के स्वरूप के विषय मे उनका निजी मत यही प्रतीत होता है कि वे उक्त सिद्धान्तों की अतिवादिता मे विश्वास नही करते तथा अन्त में इसी निर्णय पर पहुँचते है कि "काव्यानुभूति मे एक ओर ऐन्द्रिय अनुभूति की स्थूलता और तीव्रता नही होती और दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूति की अरूपता नही होती और इसीलिए वह पहली से अधिक शुद्ध, परिष्कृत और दूसरी से अधिक सरस होती है।"[३]

नगेन्द्रजी के 'साधारणीकरण' विषयक विचार

१५०. नगेद्रजी ने 'साधारणीकरण' पर अपना जो विवेचन प्रस्तुत किया है, वह शास्त्र-सम्मत और मौलिक है। उसके सम्बन्ध में प्राचीन काल ही से साहित्य-शास्त्री विभिन्न दार्शनिक वादो की छाया पर अपनी जो उद्भावनाएँ प्रकट करते आ रहे है, उनका नगेन्द्रजी ने तार्किक पर्यवेक्षण कर अपना अभिमत प्रकाशित किया है। उनके मतानुसार 'साधारणीकरण' का अर्थ है 'काव्य के भावन द्वारा पाठक या श्रोता का भाव की सामान्य भूमि पर पहुँच जाना' जिसका अभिप्राय यह है कि 'यदि किसी काव्य मे दुष्यन्त की शकुन्तला के प्रति रति प्रकट की गई है तो श्रोता या पाठक उसका भावन करते हुए भाव की उस अवस्था तक पहुँच जाता है जहाँ वह रति शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त की न रहकर पुरुष की स्त्री के प्रति साधारण रति रह जाती है।'[४]

१. डा० नगेन्द्र : विचार और विवेचन : 'रस का स्वरूप' पृष्ठ २०।

२. वही पृष्ठ २६।

३. वही पृष्ठ २६।

४. डा० नगेन्द्र · विचार और विवेचन : प्रथम बार; १९४९, पृष्ठ ३०।

आचार्य शुक्लजी ने साधारणीकरण से आशय आलम्बन का साधारणीकरण लिया था, किन्तु नगेन्द्रजी अनेक युक्तियो के आधार पर उसे कवि की अनुभूति का साधारणीकरण मानते हैं, क्योकि 'कवि अथवा प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार मे ही इतनी क्षमता होती है कि वह अपनी अनुभूति को सभी लोगो की अनुभूति बना सके।' नगेन्द्रजी के मतानुसार 'कवि अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करता है जिसके द्वारा पाठक या श्रोता भी उसकी अनुभूति के साथ अपनी अनुभूति का तादात्म्य स्थापित करने मे समर्थ होते है।'[1] इससे सिद्ध है कि नगेन्द्रजी साधारणीकरण का विवेचन रचयिता की अनुभूति को प्रधानता देते हुए करना समीचीन समझते हैं, क्योकि उनके मत से 'कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके।'[2] इसी सिद्धान्त के आधार पर उन्होने विभिन्न काल के कवियो और कृतियो के कतिपय स्थलों का विश्लेषण कर साधारणीकरण के सम्बन्ध मे होने वाली भ्रान्तियो का विवेचन करते हुए लिखा है कि "भारत की अव्यक्तिगत काव्य-परम्परा के कारण साधारणीकरण के आविष्कारक भट्टनायक और अभिनवगुप्त तथा अपनी वस्तु-सीमित दृष्टि के कारण आधुनिक आलोचना मे उसके सबसे प्रबल पृष्ठपोषक शुक्लजी स्पष्ट रूप से व्यक्त नही कर पाए हैं।"[3] कहने की आवश्यकता नही कि नगेन्द्रजी ने साधारणीकरण की सामान्य शक्ति सभी लोगों मे स्वीकार कर कवि को उसकी विशेष शक्ति से सम्पन्न माना है जो अपनी समृद्ध भावशक्ति तथा सजग अनुभूतियों के कारण भाषा का भावमय प्रयोग कर मानव-सुलभ सहानुभूति को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है।

काव्यगत अव्यक्तिवाद और डा० नगेन्द्र

१५१. नगेन्द्रजी ने टी० एस० इलियट के काव्यगत अव्यक्तिवाद का विवेचन उसकी प्रमुख मान्यताओ को पूर्वपक्ष के रूप मे प्रतिष्ठित कर अत्यन्त तर्कपूर्ण तथा विवेक-सम्मत शैली मे किया है। ऐसा करते हुए उन्होने आधुनिक मनोविज्ञान तथा भारतीय साहित्य-दर्शन के शास्त्रीय पक्ष को भी अपना आधार बनाया है। यद्यपि नगेन्द्रजी तत्कालीन यूरोपीय साहित्य की अति-व्यक्तिवादी प्रवृत्तियो के उन्मूलन मे इस सिद्धान्त की महत्ता स्वीकार करते है, किन्तु तत्वनिरूपण की दृष्टि से उन्हे इसमे अनेक प्रकार की असगतियाँ प्रतीत हुई है। उनकी सर्वप्रथम आपत्ति तो यही है कि कलाकृति और रचयिता के व्यक्तित्व को निर्लिप्त मानकर चलना एक प्रकार की अति-वादिता है, क्योकि तात्विक दृष्टि से जीवनगत भाव और काव्यगत भाव मे भले ही अन्तर हो, किन्तु उन दोनो के मध्य बीज और पल्लव का सम्बन्ध अवश्य रहेगा। उनका कहना है कि 'काव्यगत भाव व्यक्तिगत भाव का साधारणीकृत रूप है और यह भौतिकभाव व्यक्तिगत अथवा अव्यक्तिगत (ऐतिहासिक आदि) सभी प्रकार के काव्यों मे मूलत कवि का अपना भाव ही होता है।'[4]

१५२. नगेन्द्रजी ने इलियट के अव्यक्तिवाद का खडन कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुतलम्' तथा भवभूति के उत्तर-रामचरित नाटक के कथा-प्रसंगो का उल्लेख करते हुए भी किया है। वे भारतीय काव्य-शास्त्र मे प्रतिपादित रस-निष्पत्ति के सिद्धात के अनुसार भी यही सिद्ध करते है कि "जब सहृदय के हृदय मे वासना-रूप से स्थित स्थायी भाव ही काव्य आदि के द्वारा उद्बुद्ध होकर

---

१. डा० नगेन्द्र विचार और विवेचन प्रथम बार १६४६, पृष्ठ ३१।

२ वही, पृष्ठ ३३।

३. वही, पृष्ठ ३४।

४. वही, पृष्ठ ६५-६६।

रस मे परिणत होता है"[1] और दुष्यत और शकुन्तला आदि पात्रो के माध्यम से जब 'कवि की अपनी विशिष्ट रति-भावना का ही साधारणीकरण होता है'[2] तो यह कैसे मान लिया जाय कि काव्यगत अव्यक्तिवाद का सिद्धात तर्कसंगत है। उन्होने इलियट की इस मान्यता के प्रति भी आपत्ति की है कि कलाकार के लिए काव्यगत भाव के भौतिक रूप का अनुभव करना आवश्यक नही है। उन्होने शेक्सपियर तथा तुलसीदास की पात्र-सृष्टि में उनके उपचेतन मन की वासनाओ की अनिवार्य प्रेरणा मानी है, जिसके कारण वे अपने पात्रो का चरित्र-निर्माण कर सके थे। उन्होने क्रोचे की सहजानुभूति के साथ भी इलियट के सिद्धान्त का किसी अश तक साम्य निर्दिष्ट कर उनका उद्गम संस्कृत तथा पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रो के मूल मे अनुसंधित कर लिया है और साहित्य मे आत्माभिव्यक्ति की सत्ता को महत्त्व देकर युक्तिसंगत विधि से अव्यक्तिवाद की न्यूनताएँ प्रदर्शित की है।

साहित्य और आत्मानुभूति

१५३. नगेन्द्रजी के सैद्धान्तिक विश्लेषण पर आधुनिक मनोविज्ञान का यथेष्ठ प्रभाव है। साहित्य की प्रेरणा, साहित्य मे आत्माभिव्यक्ति आदि निबन्धो से इसकी पुष्टि होती है। इसमे कोई सदेह नही कि काव्य, दर्शन तथा मनोविज्ञान के अलग-अलग क्षेत्र हैं किन्तु उनका अतर्सूत्र हमारे मानस मे ही अंतर्हित है अतः उनका पारस्परिक सम्बन्ध भी विच्छेद नही किया जा सकता। नगेन्द्रजी ने आत्माभिव्यक्ति को साहित्य का मूल धर्म माना है और उनके मतानुसार 'आत्मानुभूति ही वह मूल तत्त्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है।'[3] वे साहित्य का सम्बन्ध दार्शनिक अतिवादो से न मानकर जीवन से मानते हैं और आत्म का अनात्म के द्वारा अपने अभिव्यक्त करने का सतत् प्रयत्न ही उनकी दृष्टि मे जीवन हैं जिसका अभिप्राय यह है कि शब्द और अर्थ के द्वारा होने वाली आत्माभिव्यक्ति ही साहित्य है।[4] साहित्य की इस परिभाषा द्वारा नगेन्द्रजी ने साहित्यकार और उसकी कृति के पारस्परिक सम्बन्ध की भी विवेचना की है। सच तो यह है कि यदि लेखक को आत्माभिव्यक्ति का अवसर न मिले तो वह कभी भी सच्चा आत्मतोष प्राप्त कर ही नही सकता। ऐसा करने से 'लेखक के अह का सस्कार होता है और उसकी वृत्तियो मे अनेक प्रकार के गुणो का भी संचार होता है।'[5] इस कथन से नगेन्द्रजी का यह अभिप्राय नही कि लेखक की आत्माभिव्यक्ति समाज-निरपेक्ष होती है। वास्तव मे वे उसकी सामाजिक उपयोगिता यही समझते हैं कि जिस प्रकार अपनी आत्माभिव्यक्ति द्वारा लेखक आनन्दोपलब्धि करता है उसी प्रकार उसके द्वारा समाज का भी आत्मपरिष्कार होता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि उस अभिव्यक्ति मे निश्छलता अवश्य रहनी चाहिए जिससे आनन्द का विधान परिष्कृत स्वरूप मे हो सके। उनके मतानुसार अभिव्यक्त-पक्ष की निश्छलता एक ऐसा गुण है जिसमे नैतिकता तथा सामाजिकता के उन उदात्त गुणो का भी समावेश हो जाता है जो किसी विशिष्ट शास्त्र के द्योतक न होकर सौदर्य के विधायक बनते हैं। इतना ही नही, उनके मत से निश्छलता के कारण-ही अह का उन्नयन होता है जिससे महान् कवियो का जीवन जगत् के साथ तादात्म्य कर सकता है। इस प्रकार नगेन्द्रजी ने आत्माभिव्यक्ति के द्वारा साहित्य-स्वरूप का जो विवेचन किया है,

---

१. डा० नगेन्द्र · विचार और विवेचन प्रथम बार, १९४९ पृष्ठ ६५।

२. वही पृष्ठ ६५।

३. वही, पृष्ठ ५२।

४ वही पृष्ठ ५३।

५. वही, पृष्ठ ५४।

वह किसी युग-विशेष के लिए ही सीमित न होकर ऐसे साहित्य की व्याख्या उपस्थित करता है जिसका सम्बन्ध किसी विशेष समय की राजनीतिक अथवा सामाजिक नैतिकता से ही नही है, अपितु जिसमे मानवीय चेतना का चिरतन ग्रह स्पन्दित रहता है।

शृंगार-भावना और साहित्य-निर्माण

१५४. नगेन्द्रजी ने 'उत्तम प्रकृति के कामोद्रेक' को ही शृगार की सज्ञा देकर उसका मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक तथा वैज्ञानिक विवेचन किया है। आधुनिक मनोविश्लेषणवादी विचारको की भाँति काम या मिलनेच्छा को जीवन की प्रमुख प्रवृत्ति निर्दिष्ट कर उन्होने शृंगार के स्थायी भाव रति को कामाश्रित बतलाया है और लिबिडो के साथ उसका सम्बन्ध जोडा है तो आध्यात्मिक विवेचना मे वे ब्रह्म और माया तथा आत्म और अनात्म के सम्बन्ध का विश्लेषण कर आत्म-विस्तार को जीवन की मूल वृत्ति मानते है जिसकी प्राथमिक क्रिया प्रजनन है। इस प्रकार नगेन्द्रजी के अनुसार "प्रजनन द्वारा आत्म अनात्म को अधिकृत कर अपने विस्तार का ही तो प्रयत्न करता है। आत्म-विस्तार के इसी मूलगत प्रयत्न प्रजनन का सहकारी भाव शृगार या रति है।"[1] इसी प्रसग मे उन्होने जीव-विज्ञान के आधार पर भी शृगार के मूल रति-भाव को समझाया है। नगेन्द्रजी का कहना है कि 'प्रकृति का एकमात्र सत्य है, सृजन। उसकी समस्त क्रियाएँ एक इसी उद्देश्य की प्रेरणा से हो रही है। इसी नियम के अनुसार पुरुष और स्त्री के कीटाणु स्वभावत. ही एक दूसरे के पूरक रूप है, एक दूसरे से मिलने की उनमे सहज प्रवृत्ति वर्तमान है। सृजन की प्रेरणा से इन्ही दोनों पूरक कीटाणुओ का पारस्परिक आकर्षण पुरुष और नारी के चिर रहस्यमय प्रेम का आख्यान है।"[2]

१५५. शृगार-रस की उपर्युक्त तीनो दृष्टियो से जीवनगत अनिवार्यता और महत्ता का निरूपण कर नगेन्द्रजी ने भारतीय साहित्य की परम्परा मे जो विकास-विवेचन किया है वह अत्यन्त सार-गर्भित और तथ्यपूर्ण है। उसके द्वारा जहाँ हमे उनके व्यापक अध्ययन का आभास मिलता है, वहाँ इस विषय का भी बोध हो जाता है कि शृगार के प्रति नगेन्द्रजी का क्या दृष्टिकोण है। उन्होने मानव-शास्त्र के आधार पर, विश्व-प्रगति के आदिम काल से लेकर अद्यावधि शृगार तथा काम के प्रति जो सामाजिक धारणा रही है, उसका विश्लेषण, वैदिक काल, रामायण-महाभारत-काल, चन्द्रगुप्त मौर्य तथा हर्षवर्द्धन-काल, वीरगाथा-काल, भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल के साहित्य-सृजन की मूल दृष्टि को अपने सम्मुख रखते हुए किया है। इस विवेचन मे पूर्व-वैदिक काल की शुद्ध शारीरिक आवश्यकता वाली शृंगार-भावना, वैदिक काल की उसके प्रति नैतिक तथा धार्मिक दृष्टि, महाकाव्य-काल की धर्मपरक शृगार-वृत्ति, मध्ययुग की कला-सौष्ठव-पूर्ण शृगारिक प्रवृत्ति का अत्यंत विवेक-सम्मत वर्णन हुआ है। हिन्दी-साहित्य के उद्भव से लेकर आज तक हमारे काव्यकारो की जो शृगार-भावना रही है, उसका विश्लेषण भी पठनीय है। नगेन्द्रजी ने वीरगाथा-काल के शृगार को शौर्याश्रित कहा है तो भक्तिकाल के शृगार को अपार्थिव, जिसका अपना निजी शास्त्र-दर्शन है तथा जिसका आलम्बन मनुष्य न होकर भगवान है।[3] हाँ, ऐसा कहते हुए उन्होने यह बात भी स्पष्ट कर दी है कि मनोविज्ञान की दृष्टि मे पार्थिव और अपार्थिव शृगार मे कोई मौलिक भेद नही है। रीतिकालीन शृगार मे उन्होने किसी भी प्रकार की नैतिक अथवा आध्यात्मिक ग्रन्थि नही मानी है और वे उसमे स्पष्ट रूप से शारीरिक रति अथवा काम की स्वीकृति

---

१ डा० नगेन्द्र : 'विचार और विवेचन', 'शृगार रस', पृष्ठ ३६।
२ वही, पृष्ठ ४०।
३ वही, पृष्ठ ४८।

समझते है जिसमे 'शृंगार-भावना प्रेम न होकर विलास बन गई तथा प्रेमी का स्थान रसिक ने ले लिया।[1] वस्तुत नगेन्द्रजी के अनुसार यही उस युग की सबमे बडी विफलता है "जिसमे जीवन बाह्य अभिव्यक्तियो से निराश होकर घर की चहारदीवारी मे ही अपने को अभिव्यक्त कर सकता था और उस अभिव्यक्ति का एक ही माध्यम था काम। बाह्य जीवन की असफलताओ से आहत मन नारी के अगो में मुँह छिपाकर विसुध-विभोर हो जाता था।"[2]

१५६. नगेन्द्रजी ने आधुनिक काल के प्रमुख चरण द्विवेदी-युग, छायावादी-युग तथा प्रगतिवादी-युग के अन्तर्गत विकसित होने वाली शृगार-भावना का भी निरूपण किया है। उनके अनुसार 'द्विवेदी-युग का दृष्टिकोण शृंगार के प्रति ठीक वैसा ही था, जैसा गुरुकुल के छात्र का आज भी नारी के प्रति है। जीवन और काव्य के रस से वचित इस युग ने जो नारी-चित्र दिए, वे उसी के अनुकूल नैतिक दम्भ से पीडित, अक्खड और नीरस है।'[3] उन्होने छायावाद की कविताओ को मुख्यतः शृगारिक कहकर उनका जन्म उन व्यक्तिगत कुण्ठाओ से माना है जो प्राय काम के चारो ओर केन्द्रित रहती है।[4] अपने इस विश्लेषण को और अधिक स्पष्ट और मनोवैज्ञानिक बनाते हुए उन्होने लिखा है—

"स्वच्छन्द विचारो के आदान से स्वतन्त्र प्रेम के प्रति समाज का आकर्षण बढ रहा था, परन्तु सुधार-युग को नैतिकता से सहम कर वह अपने मे ही कुण्ठित रह जाता था। समाज के चेतन मन पर नैतिक आतक अभी इतना अधिक था कि इस प्रकार की स्वच्छन्द भावनाएँ अभिव्यक्ति नही पा सकती थी। वे निदान अवचेतन मे उतर कर वहाँ से अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त होती रहती थी। और यह अप्रत्यक्ष रूप था नारी का अशरीरी सौन्दर्य अथवा अतीन्द्रिय शृगार।"[5]

१५७. छायावाद के अतीन्द्रिय सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए उन्होने जो वक्तव्य दिया है, उसको उद्धृत करने का लोभ हम सवरण नही कर सकते, क्योकि उसमे उसका मनोवैज्ञानिक पक्ष अत्यन्त विचार-प्रवण है। वे लिखते है—

"छायावाद मे शृगार के प्रति उपभोग का भाव न मिलकर विस्मय का भाव मिलता है, इसलिए उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट और मांसल न होकर कल्पनामय या मनोमय है। छायावाद का कवि प्रेम को शरीर की भूख न समझकर एक रहस्यमयी चेतना समझता है। नारी के प्रति उसका आकर्षण नैतिक आतक से सहम कर जैसे एक अस्पष्ट कौतूहल मे परिणत हो गया है। इसी कौतूहल ने छायावाद के कवि और नारी के व्यक्तित्व के बीच अनेक रेशमी झिलमिल पर्दे डाल दिए है।"[6] नगेन्द्रजी ने प्रगतिवाद के अन्तर्गत शृंगार-भावना की स्थिति भी फ्रायडवादी दृष्टि से ही व्यक्त की है किन्तु उसकी ऐसी भावभूमि नही मानी है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि प्रगतिवाद ने शृगार के प्रति कोई निश्चित दृष्टिकोण प्राप्त कर लिया है। नगेन्द्र जी के मतानुसार "आज का प्रगतिवादी या तो विषयान्तर से अभी भी कुण्ठा का शिकार है अर्थात् उसकी भावना मन की रानी छोड मजदूरिन के अंगो से लिपटती हैं या फिर वह वासना से लथपथ अतिरजित वीभत्स चित्र उपस्थित कर रहा है।"[7]

वाँद-समीक्षा और डा० नगेन्द्र, 'छायावाद'—

१५८. नगेन्द्रजी ने अपने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर छायावाद की अन्त-

१. डा० नगेन्द्र : 'विचार और विवेचन', पृष्ठ ४८।
२. वही, पृष्ठ ४६।
३ वही, पृष्ठ ५०।
४. वही, पृष्ठ ५०।
५. वही, पृष्ठ ५०।
६. वही, पृष्ठ ५१।
७. वही, पृष्ठ ५१।

श्चेतना की अत्यन्त सूक्ष्म विवेचना की है और बतलाया है कि छायावाद की पृष्ठभूमि के मूल मे किन-किन प्रवृत्तियो ने अपना प्रत्यक्ष एवम् परोक्ष प्रभाव अकित किया है। वे छायावादी काव्य का अन्तरग व्यक्तिगत जीवन निर्दिष्ट कर उसी व्यक्ति-भाव को प्रसाद मे आनन्द-भाव, निराला मे अद्वैतवाद, पन्त मे आत्मरति और महादेवी मे परोक्ष-रति के रूप मे प्रकटीकृत मानते है।[1] छायावादी कवि अपने काव्य के समर्थन मे अपनी असीम वेदना और अनन्त की लालसा की चाहे कितनी ही अभ्यर्थना करे, किन्तु नगेन्द्रजी के मतानुसार उनकी सत्यता असन्दिग्ध नही है। व्यक्तिवाद के अतिरिक्त उन्होने इस काव्य के अन्तरग के रूप मे जिस शृ गारिकता को प्राधान्य दिया है, वह उनके अनुसार निश्चय ही उन कवियो की व्यक्तिगत कुण्ठाओ का ही उद्गार है, जो काम-वासना के चारो ओर केन्द्रित रहकर चलती है। इतना ही नही, छायावादी कवियो की अतीन्द्रियता भी उन्हे बहुत कम स्वीकार है। हाँ, वे उनके प्रतीक-विधान और सौन्दर्य-चित्रण के अवश्य प्रशंसक है क्योकि उनके द्वारा वे साहित्य को नूतन माधुरी प्रदान कर सके थे।[2]

१५९. नगेन्द्रजी के विवेचन मे छायावाद की आन्तरिक स्थिति का स्वरूप भी चित्रित हो गया है। वे छायावाद का मूल-दर्शन महादेवी जी के शब्दो मे 'सर्वात्मवाद' मे प्रतिष्ठित कर उसे जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण लेकर चलने वाला काव्य मानते है। उनके अनुसार 'इस वाद की विचार-पद्धति भले ही सर्वात्मवाद की स्वीकार कर ली जाय, किन्तु वह सीधी वही से प्रेरणा लेकर काव्य मे अभिव्यक्त होती है, यह नही कहा जा सकता।'[3] यही कारण है कि वे छायावाद को प्रथम श्रेणी का विश्व-काव्य नही समझते, क्योकि 'कुण्ठा की प्रेरणा प्रथम श्रेणी के काव्य को जन्म नही दे सकती।'[4] हाँ, छायावादी कवियो ने प्रकृति पर आरोप करते हुए हमे जो भाव वृत्ति एवम् अभिव्यजन-प्रणाली दी है, वह वस्तुतः मनोहर है और इस दृष्टि से इस काव्य का स्थायी महत्त्व है।[5]

प्रगतिवाद विषयक धारणा—

१६०. नगेन्द्रजी की समालोचनाओ का एक प्रमुख विषय समसामयिक साहित्य-धाराओ का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना भी रहा है। उन्होने छायावाद की तो विवेचना की ही है, किन्तु प्रगतिवाद और हिन्दी-साहित्य पर भी अपने विचार यथावसर प्रकट किए है। उनकी सर्वप्रथम मान्यता तो यही है कि आज के प्रगतिवादी जिस अर्थ और सीमा मे प्रगतिवाद का प्रयोग करते हैं, वह एकागी और दोषपूर्ण है। वस्तुत सस्कृति के अनुरूप साहित्य स्वत प्रगतिशील होता है और जिस साहित्य मे जीवन को आगे बढाने की शक्ति हो, वही प्रगतिशील है।[6] यह कहने के पश्चात् वे आज के प्रगतिवादियो की विचार-धारणा का विवेचन करने के लिए उद्यत हुए है। उन्होने बतलाया है कि आज का प्रगतिवादी आलोचक जिन यन्त्रणाओ से ग्रस्त है, उनमे मूलवर्ती प्रवृत्ति द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की है।[7] उनके अनुसार तथष्कथित प्रगनिवादी समालोचक साहित्य मे कला अथवा कल्पना का ग्रहण एकमात्र जीवन की जिस स्थूलता और भौतिकता के आधार से करते है, वह ठीक नही है। नगेन्द्रजी ने प्रगति-वाद का सैद्धान्तिक निरूपण कर यही बतलाया है कि आज के प्रगतिवाद के निर्माण की मूल

१. डा० नगेन्द्र 'विचार और अनुभूति', पृष्ठ ५४।
२ वही, पृष्ठ ५४-५६।
३. वही, पृष्ठ ५६।
४. वही, पृष्ठ ५६।
५. वही, पृष्ठ ५५।
६. डा० नगेन्द्र विचार और अनुभूति, पृष्ठ ६१।
७. वही, पृष्ठ ६१।

शक्तियाँ कौन-कौन सी है और कार्ल मार्क्स ने मुख्यत तथा डार्विन और फ्रायड ने अंशत उसे किस प्रकार की चेतना दी है।[1] उन्होने अपने सैद्धान्तिक विवेचन के क्रम मे प्रगतिवाद का इस प्रकार तात्विक विश्लेषण कर उसकी अपूर्णता पर अनेक आक्षेप भी किए है और बतलाया है कि निस्सदेह मार्क्सवाद ने हमे नूतन मार्ग-दर्शन प्रदान किया, किन्तु फ्रायड की विचारधारा भी उससे कम महत्त्वपूर्ण नही है। उन्होने पन्त को हिन्दी मे प्रगतिवाद का सर्वप्रथम लेखक कहकर तदनन्तर ही नरेन्द्र, यशपाल, नवीन, दिनकर और अचल आदि का स्थान माना है। निश्चय ही नगेन्द्र जी का यह विवेचन प्रगतिवाद के स्वरूप का यथेष्ट परिचय देने मे पर्याप्त समर्थ है।

प्रयोगवाद का स्वरूप-विवेचन

१६१ यो तो हिन्दी-काव्य की प्रयोगवादी धारा पर विभिन्न समालोचकों के विविध दृष्टि-कोण है, किन्तु नगेन्द्रजी ने यथासम्भव दुराग्रह से दूर रह कर एक विवेकशील आलोचक के रूप मे सयत विधि मे उस पर अपने विचार व्यक्त किए है। नगेन्द्रजी प्रारम्भ ही से यह मानकर चले है कि आज के प्रयोगवादी कवि और उनके समालोचक प्रयोग की परम्परा को जिस रूढि मे बन्धन-ग्रस्त बना कर चलते है, वह तात्विक दृष्टि से भ्रान्तिपूर्ण है, क्योकि प्रयोग के नाम पर किसी काव्य को सकीर्ण बनाना उसके स्वास्थ्य का लक्षण नही है। वस्तुत: नगेन्द्रजी ने आज के प्रयोगवाद का जन्म छायावाद की प्रतिक्रिया मे देखा है और वे प्रगतिवादियो के वस्तुपरक दृष्टिकोण मे काव्य की रसात्मकता की बहुत बडी कमी पाते है। नगेन्द्रजी ने प्रयोगवादियो मे भाव-पक्ष, शैली-शिल्प, छंद-विधान तथा काव्यानुभूति को अत्यन्त हल्की कोटि के माना है जिसमे प्रयोग के नाम पर काव्य की शाश्वत चेतना का उभार न्यूनाश मे रहता है। उन्होने प्रमुख प्रयोगवादी काव्यकारो के काव्याशो को उद्धृत कर उनकी 'छिछली मनोवृत्ति सिद्ध की है और परोक्ष रूप से उन्हे इस बात का परामर्श दिया है कि वे काव्य मे राग की संवेदना को महत्त्व दे न कि केवल शुष्क बौद्धिकता के प्रयोगो को। वस्तुत. नगेन्द्रजी को प्रयोगवादियो के 'अन्वेषी का दृष्टिकोण', 'उपचेतन मे उलझी हुई सवेदनाओ का यथावत् चित्रण', 'साधारणीकरण की अनुपस्थिति' तथा 'भाषा के एकातिक प्रयोग' मे किसी शक्ति के साहित्य के लक्षण नही मिलते, अत. वे जीवन की भाँति काव्य मे भी नवीनता और प्रयोग का महत्त्व मानते हुए भी इस सिद्धान्त को प्रधानता देते है कि उनके व्यामोह मे काव्य की मूल रसात्मक प्रतीति को विनष्ट करना समुचित नही है। अभि-प्राय यह है कि नगेन्द्रजी आज की प्रयोगवादी कविता के साथ बहुत कम हैं और उनका काव्य मे आत्माभिव्यक्ति का दृष्टिकोण प्रयोगवादियो के वस्तुपरक और भौतिक दृष्टिकोण के हल्केपन का अनुभव कर उन्हे काव्य की रसलीनता मे समीचीन नही जंचता।

रसवाद और नगेन्द्रजी

१६२. नगेन्द्रजी कलावादियों की भाँति साहित्य को ऐसी अतिरेकता मे नही ले जाते जहाँ उसका जीवन से सम्बन्ध ही टूट जाए। वे उसका लक्ष्य आनन्द प्रदान करना मानते है, जिससे उनका रसवादी दृष्टिकोण प्रकट होता है। काव्य का यह आनन्द कैसा हो, इसका निर्णय करने का अधि-कार नगेन्द्रजी ने सवेदनशील और संस्कृत रुचि-सम्पन्न अधिकारी उपभोक्ता को दिया है। उनके अनुसार साहित्य-पारखी को अपनी सबसे पहली कसौटी तो यही बनानी चाहिए कि कोई भी साहित्य-स्रष्टा अपनी कला-कृति मे अपने व्यक्तित्व का पूर्ण समाहार या विलीनीकरण कर सका है या नही। इस विषय मे उनकी यह धारणा अधिक महत्त्व रखती है कि 'साहित्यकार का व्यक्तित्व जितना

१. डा० नगेन्द्र : 'विचार और अनुभूति', पृष्ठ ६५।

अधिक सशक्त और प्राणवान् होगा उतना ही वह उसी का कला के रूप मे अधिक रसपूर्ण अभिव्यजन कर सकेगा।'[1] इस प्रकार उन्होने घूम फिर कर साहित्य की आत्मा को रस रूप मे ही विवेचित किया है जिसकी परीक्षा करना आलोचना का उद्देश्य होना चाहिए। कहने की आवश्यकता नही कि नगेन्द्र जी अपने रस-विवेचन मे हमारे भारतीय सिद्धान्तो के अधिक निकट है। वे रसपूर्ण रचना मे आनन्द-तत्व की स्थिति आवश्यक मानते है और उनके अनुसार कलाकार के व्यक्तित्व का पूर्ण अनुवाद ही रचना का सबसे बडा आनन्द है, किन्तु यह आनन्द मनोरजन मात्र से निश्चय ही भिन्न कोटि का समझा जाना चाहिए। वे कला-कृति के साथ अपनी अन्तर्वृत्तियो के सामजस्य मे ही सच्चा आनन्द निष्पन्न समझते है।[2]

१६४ नगेन्द्रजी ने अपनी विवेचना के प्रसग मे समालोचना के क्षेत्र मे उद्भूत एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न लिया है और वह यह है कि 'साहित्य वैयक्तिक चेतना है या सामूहिक और सामाजिक ?'[3] इसके उत्तर मे उन्होने अपने जो विचार अभिव्यक्त किये है, उनका अभिप्राय केवल यही है कि व्यक्ति यद्यपि समाज की एक इकाई है और दोनो का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, किन्तु समाज की वेदी पर उसका अस्तित्व आश्रित कोटि का कभी नही समझा जा सकता।[4] उनकी दृष्टि मे समाज तथा देश का प्रभाव व्यक्ति की चेतना पर पडना स्वाभाविक है, किन्तु उन्ही की उपज व्यक्ति को कहा जाय यह ठीक नही है। अनेक बार तो व्यक्ति के द्वारा ऐसी-ऐसी क्रान्तियाँ की जाती है जो उसकी इकाई की सर्वोपरि सत्ता का आभास देती है। उनका यह कथन वस्तुत मननीय है कि रवीन्द्रनाथ के सम्पूर्ण साहित्य का श्रेय केवल उनके सामतीय वातावरण और पूँजीवाद को देना तथा कबीर की कविता के लिए केवल उनका हीन-जाति मे जन्म होना ही इसका उत्तरदायी बतलाना केवल छिछली मनोवृत्ति का परिचय देना है।[5] वस्तुत नगेन्द्रजी की इस धारणा मे हमे सत्य का आभास मिलता है और हम भी इस विषय मे उनसे पूर्णरूपेण सहमत है।

समालोचना के अन्यान्य विषय

१६५. नगेन्द्रजी ने प्रेमचन्दजी के उपन्यास तथा उनकी साहित्यगत विचाराभिव्यक्ति पर भी विवेचन किया है। वे प्रेमचन्दजी का सबसे प्रधान गुण उनकी व्यापक सहानुभूति बतलाते है और निष्कर्ष रूप मे यही कहते है कि प्रेमचन्दजी ने अपने साहित्य मे युग-जीवन तथा युग-धर्म की तादात्म्यपूर्ण अभिव्यक्ति कर उसे सर्वांगीण जीवन के निकट रखने की चेष्टा की है। नगेन्द्रजी के अनुसार प्रेमचन्दजी का दूसरा गुण उनका अत्यन्त सरल स्वरूप और साधारण व्यक्तित्व है, यही कारण है कि वे उपयोगितावाद और नीतिवाद को अपनी साहित्य-चेतना मे सर्वत्र अनुप्राणित करते हुए चल सके है। इतना ही नही, इन्ही सिद्धान्तो के कारण उनके जीवन-दर्शन का मूल तत्व मानववाद के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ है। नगेन्द्रजी ने प्रेमचन्दजी के यथार्थ और आदर्श विषयक विचारो की भी विवेचना की है और उन्हे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का कलाकार माना है। वे प्रेमचन्दजी का मनोविश्लेषण की दृष्टि से भी विवेचन कर उन्हे कुठित वासनाओ के द्वारा साहित्य-सृष्टि करने वाले साहित्यकारो से उच्च स्थान देते है किन्तु यह सब होने पर भी नगेन्द्रजी को प्रेमचन्दजी के यथार्थ और आदर्शात्मक साहित्य मे प्रतिभा के अनिवार्य अंग तेजस्विता, गहनता,

१ डा० नगेन्द्र 'विचार और अनुभूति', पृष्ठ १३।
२ वही, पृष्ठ १४।
३. वही, पृष्ठ १५।
४ वही, पृष्ठ १६।
५ वही, पृष्ठ १७

दृढता और सूक्ष्मता के उतने अश नही मिलते जितने व्यापकता के। यही कारण है कि नगेन्द्रजी के अनुसार प्रेमचन्दजी प्रथम श्रेणी के कलाकार नही क्योंकि उनमे वे उन गुणो का कुछ अभाव पाते हैं जो जीवन और साहित्य मे अधिक महत्त्वशाली होते है।[१] उन्होने जीवन-साहित्य के विविध दृष्टिकोणो से प्रेमचन्दजी के रचना-कौशल की प्रशसा की है, किन्तु उनकी दृष्टि को केवल सामयिक समस्याओ तक ही सीमित बतलाकर उनके उपन्यासो मे जीवन के चिरन्तन प्रश्नो के कलात्मक चित्रण का अभाव पाया है जो किसी भी प्रथम श्रेणी के प्रतिभाशाली लेखक की विशेषता होनी चाहिए।

१६६. नगेन्द्रजी की समालोचना का एक प्रमुख विषय श्री सुमित्रानन्दन पत के काव्य-दर्शन का अध्ययन भी रहा है। उन्होने पतजी पर एक आलोचना-पुस्तक भी लिखी है, जिसमे उनके काव्य के अतरग और वहिरग का व्याख्यात्मक शैली मे विवेचन हुआ है। नगेन्द्रजी प्रारम्भ ही से पंतजी के सम्बन्ध मे यह मानकर चलते रहे है कि पंत के व्यक्तित्व का निर्माण ही ऐसा हुआ है कि जिसमे मार्क्सवाद की भौतिकता और द्वन्द्व को आत्मसात् करने के लिए कम अवकाश है। नगेन्द्रजी लिखित 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' की समालोचना को पढ कर पतजी के अतर्मन मे वह मतव्य जचा नही। ग्राम्या के पश्चात् पतजी ने एक प्रकार से अपनी काव्य धारा के द्वितीय मोड प्रगतिवाद का परित्याग कर जिस अरविन्द-दर्शन से उद्भूत अध्यात्मवाद की शरण ली, उसे नगेन्द्रजी एक स्वाभाविक क्रम के रूप मे स्वीकार करते है। ऐसा लगता है कि जैसे पतजी का कवि छायावाद के युगान्त के पश्चात् दिग्भ्रमित हो पुनः अपने प्रकृत क्षेत्र मे आ गया हो। नगेन्द्रजी ने पतजी के नवीन जीवन-दर्शन की व्याख्या उनकी नवीन कृतियो 'स्वर्ण-धूलि' और 'स्वर्ण किरण' के आधार पर की है, जिनकी मूल चेतना आध्यात्मिक है।[२] इस विवेचन मे नगेन्द्र जी ने पहले तो सिद्धान्त-पक्ष के रूप मे पतजी के काव्य की अन्तश्चेतना का निरूपण किया है और तदुपरान्त पतजी की नवीन कृतियो मे उसकी छानबीन की चेष्टा की है। उन्होने पतजी के अनेक काव्योद्धरण देकर उनके जीवन-दर्शन, प्रकृति-विषयक दृष्टिकोण, सामाजिक चेतना और उत्कर्ष आदि का विशद विवेचन किया है। कहा जा सकता है कि पतजी का यह विश्लेषण नगेन्द्रजी के विचार और विवेचन की एक मुख्य कडी है जिसमे पतजी का जीवन-दर्शन अपनी कलात्मकता के निरूपक मुख्य सकेतों के रूप मे व्याख्यात है।

१६७. हिन्दी मे हास्य की कमी यद्यपि नगेन्द्रजी द्वारा लिखा हुआ एक सवादमात्र है किन्तु उसमे भी उन्होने भारतीय दर्शन के तात्विक निरूपण द्वारा जो तथ्य निकाले है, वे सर्वग्राह्य कहे जा सकते हैं। यह तो प्राय सभी देशो के साहित्य मे स्वीकार किया जाता है कि हास्य का मूल तत्त्व असंगति और विकृति होता है और उसके लिए भेद-प्रतीति अनिवार्य है, किन्तु नगेन्द्रजी ने भारतीय दर्शन की मूल दृष्टि 'सदैव भेद मे अभेद देखने' तथा 'द्वैत को मिटाकर अद्वैत की स्थिति को प्राप्त करने'[३] की ओर निर्दिष्ट कर हास्य की कमी का एक ऐसा मौलिक कारण अनुसंधित कर लिया है जिसमे अन्य सभी कारणो का समाहार हो जाता है। वैसे वे देश की सुदीर्घ-कालीन पराधीनता और लोगो की मानसिक क्लाति को भी हास्य की कमी के प्रासगिक कारण मानते है किन्तु अन्तत: उन सब का सम्बन्ध जाति के सस्कारो के साथ जोडकर यही सिद्ध करते हैं कि जब तक हमारा आध्यात्मिक दृष्टिकोण अधिकाधिक व्यावहारिक नही बनता तब तक हमारे साहित्य मे हास्य की कमी दूर नही हो सकती।

१. डा० नगेन्द्र. 'विचार और विवेचन', पृष्ठ ६६।
२. वही, पृष्ठ १०४।
३. वही, पृष्ठ ७४।

१६८. 'भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा' में डा० नगेन्द्र ने 'भरत मुनि से लेकर वर्तमान हिन्दी आलोचको तक के सैद्धान्तिक वक्तव्यो का सचयन' किया है, जिससे हमारी काव्यशास्त्रीय परम्परा की एक क्रमबद्ध विवेचना का सिंहावलोकन हो जाता है। विद्वान् सम्पादक ने संस्कृत के जिन आचार्यों की मान्यताओ का इसमे संग्रह किया है, उनके हिन्दी अनुवाद के साथ-साथ सस्कृत के मूल पाठ भी दे दिये है जिनसे पाठको को उनकी सिद्धान्तगत विवेचन-प्रणाली का सम्यक् बोध हो जाता है। इसके लिए डा० नगेन्द्रजी को अथक परिश्रम करना पडा है क्योकि काव्यशास्त्र के इन विभिन्न आचार्यों के विशाल वाड्मय से रत्नकणो का चयन करना वस्तुत विशेष प्रकार की तथ्यपूर्ण मेधा का ही काम था। इस ग्रन्थ का सबसे बडा उपयोग तो यही है कि इसमे हमारी सैद्धान्तिक समालोचना की शास्त्रीय परम्परा एक ही स्थान पर संकलित होकर प्रस्तुत कर दी गई है और जो लोग संस्कृत-भाषा से अनभिज्ञ है, वे भी एक ही स्थान पर उनका सारभूत तथ्यपरक निरूपण पा सकते है। भरतमुनि के अतिरिक्त भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त, राजशेखर, धनजय, धनिक, कुतक, महिम भट्ट, भोज, क्षेमेन्द्र, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ और पडितराज जगन्नाथ इस परम्परा मे सकलित हैं जिनका क्रम ऐतिहासिक तिथियो को दृष्टि-गोचर रखते हुए है। तदनन्तर हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य केशवदास, चितामणि, कुलपति, देव, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, प्रतापसाहि के सिद्धान्त-चयन प्रस्तुत किये गये है। आधुनिक आलोचको की परम्परा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर चली है जिसमे महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्रबधु, कन्हैयालाल पोद्दार, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दार दास, पद्मसिह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र, गुलाब-राय, जयशंकर 'प्रसाद', सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पत, महादेवी वर्मा, लक्ष्मीनारायण 'सुधाशु', हजारीप्रसाद द्विवेदी, नंददुलारे वाजपेयी तथा डा० नगेन्द्र स्वयं आते है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ मे हमे भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा का क्रमबद्ध निरूपण एक ही स्थान पर मिल जाता है। निश्चय ही हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र मे अपने ढंग का यह प्रथम प्रयास है और लेखक की साधना इसमे फलवती बन सकी है।

साहित्य-समालोचना का महत्त्व

१६९. नगेन्द्रजी ने भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्रो का गम्भीर और व्यापक अध्ययन किया है, जिसका आभास हमे उनकी समालोचनात्मक कृतियो से अनायास ही हो जाता है। एक विद्वान तथा मनीषी मे जिस प्रकार का सयम और धैर्य अपेक्षित है, यह नगेन्द्रजी मे पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है। उनकी इस प्रकार की प्रवृत्ति प्रारम्भ ही से रही है जिसका वय-क्रम और अध्ययन के साथ-साथ क्रमिक विकास भी होता गया है। अपने चिन्तन और मनन के पश्चात् उन्होने जिस विषय के सम्बन्ध मे अपनी विचारणा प्रस्तुत की उसके पीछे कही पर भी शास्त्रीय आधार की उपेक्षा नही की। उनकी प्रारम्भिक कृतियो मे हमे जो एक विशेष प्रकार की जिज्ञासा अथवा ज्ञान-पिपासा मिलती है, वही क्रमश. विकसित होकर उन्हे आज ऐसी प्रौढि प्रदान कर सकी है जिसके द्वारा उनका समन्वयपूर्ण रसात्मक दृष्टिकोण क्रमश• विकसित होता गया है। आज से कई वर्ष पूर्व प्रकाशित होने वाली अपनी प्रारम्भिक समीक्षा-कृतियो मे उन्होने भारतीय और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के स्वरूप मे जिस समन्वय की झलक देखी थी, वह उनकी आजकल की प्रकाशित रचनाओं मे सुचारु रूप से अभिव्यक्त है। भारतीय और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् उन्होने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे अत्यन्त माननीय हैं। उनसे यह ध्वनित होता है कि नगेन्द्रजी कभी भी किसी मान्यता को रूढिवादी परम्परा मे अवरुद्ध कर नही चले, अपितु उन्होने हृदय और बुद्धि दोनो को उदार बनाकर सदैव ज्ञान-राशि का स्वागत करने के लिए अपना जीवन-पृष्ठ खुला रखा। उनकी इस प्रकार की समन्वयात्मक तथा नीरक्षीर-विवेचिनी प्रज्ञा का ही परिणाम है

हुए चलें तो मेरे विचार से उनमें अधिक घनत्व आ सकता है। इसी प्रकार उन्होने कई स्थानों पर अनुप्रास के फेर मे पडकर 'आप्त युग' के साथ 'प्राप्त युग' आदि शब्दो का जो प्रयोग किया है, वह भी विलक्षण है। पता नही, उनकी धुन उन्हे किन अर्थों मे वैष्णव को आदर्शवादी और शैव को यथार्थवादी कहला देती है, जब कि इस विषय मे इस प्रकार की कोई रूढि या सकीर्णता का निर्णय कर लेना सर्वथा असमीचीन है।

१७५. शान्तिप्रियजी ने अपनी आलोचनाओ मे वर्तमान साहित्य और सामयिक समस्याओ का भी विवेचन किया है। अन्य साहित्य-विवेचको की भाँति उन्हे भी आज के युग-जीवन मे अनेक प्रकार की विशेषताएँ दृष्टिगोचर हुई है। उन्होने आज के युग को साम्राज्यवाद और भौतिकवाद मे ग्रस्त बतलाकर यही निर्णय प्रदान किया है कि समाजवाद और गाधीवाद ही उसे परित्राण दे सकते है। मुझे तो ऐसा लगता है कि शान्तिप्रिय जी ने आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर गाधीवाद और समाजवाद का प्रभाव प्रदर्शित करने के लिए ही उक्त वादो पर सामान्य सकेत किए है, अन्यथा इन पर कहने के लिए तो बहुत-सी सर्व सामान्य ग्राह्य सामग्री भी उपस्थित की जा सकती थी। अच्छा होता, यदि द्विवेदीजी गाधीवाद और समाजवाद की विवेचना का क्षेत्र जीवन-दर्शन और राजनीति-विज्ञान के लिए छोड देते और उसका केवल साहित्यगत प्रभाव ही अकित करते। उनका यह वाद-विवेचन वैसा ही बन गया है जैसा उनकी अन्य कृतियो मे साधारणतया प्रदर्शित होता है अर्थात् वे हमे अपने निबन्धो के माध्यम से ज्ञान-राशि का प्रभूत स्वरूप तो अवश्य देना चाहते हैं किन्तु अपनी भावुकता और गीतमयी पद्धति मे वे स्वयं इतने अधिक बह जाते है कि वास्तविकता की आधारभूमि उनके हाथो से निकल जाती है और वे अपनी ही दृष्टि से अनेक अप्रासगिक बाते भी कह जाते हैं। इसे शान्तिप्रियजी की आलोचना का दुर्बल पक्ष कहा जाय अथवा विशिष्ट पक्ष, यह प्रत्येक पाठक की अभिरुचि और मानसिक विकास के प्रतिमान पर निर्धारित है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि अपनी कृतियो मे उन्होने अपने अनुचिंतन और कलात्मक अनुभूति का स्वरूप अंकित किया है और वे 'शास्त्रीय आलोचक के साथ सहृदय कलाकार की दृष्टि से भी साहित्य विशेषत हिन्दी साहित्य की प्रगति का अवलोकन कर सके है।

१७६ शान्तिप्रियजी की समालोचना छायावादी कवियो की उपलब्धि के बहुत निकट है। उसमे शास्त्र-पक्ष का विकास अत्यल्प मात्रा म हुआ है। उन्होने साहित्य-परीक्षण मे जिस सैद्धान्तिकता का आधार लिया है, वह विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ की भाँति अपने वैयक्तिक विकास से तो अनुप्राणित है ही, साथ ही साथ अपनी विशिष्ट शैली मे भी अद्वितीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि द्विवेदीजी का साहित्य-समीक्षण विषयक एक निजी दृष्टिकोण है जिसे वे अपनी साहित्य-समालोचनाओ मे प्रसगो की अवतारणा कर व्यक्त करने का अवसर प्राप्त कर लेते है। उनका युग-दर्शन का विवेचन इस कथन का प्रमाण कहा जा सकता है। गाधीवाद का तो उन पर इतना अधिक प्रभाव है कि वे आज की समस्त युग-समस्याओ का स्थायी निदान उसमे पाते है। उनका समाजवाद का विश्लेषण भी यथेष्ट गरिमामय है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे उसकी तात्विकता का अन्त स्पर्श बहुत कम कर सके है। वस्तुत. उनके इस विवेचन मे समालोचक के शास्त्रीय पक्ष का उद्घाटन न हो कर राजनीतिज्ञ की चेतना का अधिक अभिव्यजन है, जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि वे अपने इस द्विधात्मक व्यक्तित्व का सफल निर्वाह करने मे असमर्थ से रहे हैं।

१७७. शान्तिप्रियजी की समालोचना मे भले ही विषय का निरूपण क्रमबद्धता मे न हो, किन्तु उसमे एक कलात्मक शक्ति अवश्य है जो बिछलन बनकर भावुकजनो के हृदय मे अपना प्रसार कर ही लेती है। उसमे चाहे भावों और विचारो की कसावट अथवा ठोसता न मिले, किन्तु उसमें समालोचना के चिन्तन के तत्वकण निश्चित रूप से गुम्फित हैं। मुझे तो उनकी उद्भावनाओ

मे अपूर्व माधुर्य मिलता है। अनेक बार तो वे अपनी समालोचनाओ द्वारा केवल अर्थ-ग्रहण ही न कराकर काव्य की भाँति चित्रोपमता और बिम्ब-ग्रहण की स्थिति भी उत्पन्न कर देते है। उनके वाक्य अनेक स्थलो पर सूत्रवत् प्रयुक्त हुए हैं, जिनकी अभिव्यजना-शक्ति अत्यधिक सशक्त और प्रभावपूर्ण है। उनके विशेषणो का चयन अथवा प्रस्तुत के लिए अप्रस्तुत का सयोजन भी भव्य है। जब वे रवीन्द्र के लिए 'कवि', शरद के लिए कलाकार और गाधी के लिए 'सन्त' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उन शब्दो की अभिव्यंजना मे उन त्रिदेवो के व्यक्तित्व का पूर्ण समाहार कर देते है। वस्तुत द्विवेदीजी को रवीन्द्र, शरद और गाधी के व्यक्तित्व मे अभिन्न-भिन्नता का जीवन-दर्शन मिला है और इन तीनो मे भी रवीन्द्र के व्यक्तित्व मे वे मध्यस्थता और संतुलन की स्थिति अधिक पा सके है। द्विवेदीजी ने इन तीनो के कार्यो का जो सारभूत मूल्याकन किया है, वह अत्यन्त हृदय-हारी है। वे यह भी बतला सके है कि ये तीनो व्यक्ति किस प्रकार साहित्यिक, सामाजिक और आध्यात्मिक क्रान्ति की ओर उन्मुख रह सके है।

१७८. शान्तिप्रियजी के कुछ ऐसे निबन्ध भी है जो पूर्ण साहित्यिक न होने पर भी विशेष सामयिक है। उन्होने शरच्चन्द्र के 'शेष प्रश्न' मे कलात्मक गूढता और नारी का रूपान्तर तो पाया ही है, साथ ही साथ उन्हे उसमे मानवता की ऐसा पृष्ठभूमि भी हाथ लगी है जिसमे स्त्री-पुरुष के जीवन का सतुलन और समन्वय सम्मिलित है। हिन्दी-कविता की पटभूमि के अन्तर्गत द्विवेदीजी ने बतलाया है कि आधुनिक युग मे इसका निर्माण द्विवेदी-युग, छायावाद-युग तथा प्रगतिशील युग के तानो-बानो से हुआ है जिनमे क्रमश आदर्शवादी राष्ट्रीयता, सामाजिक स्वच्छदता और राजनीतिक यथार्थवादिता का सयोजन हे। उन्होने आधुनिक हिन्दी कविता के मार्ग-चिन्हो को पाँच कालो मे विभक्त कर उन पाँचो के लिए 'भारत-भारती', 'कामायनी', 'प्रिय-प्रवास', 'पल्लव' तथा 'मिट्टी और फूल' इन पाँच ग्रन्थो को प्रतिनिधित्व दिया है। शान्तिप्रिय जी की एतद्विषयक आलोचना मे प्रयोग-पक्ष का रूप मिलता है। उनका यह समीक्षण सौन्दर्य तथा भावपूर्ण दृष्टि से युक्त हे। इस विवेचन मे राजनीतिक, सामाजिक और सास्कृतिक प्रक्रियाओ का भी सन्निवेश है, किन्तु वे सब उनकी वैयक्तिक रुचि के अनुकूल ही विवेचित हो सके है। इसमे कोई सन्देह नही कि शान्तिप्रियजी की आलोचनाओ मे युगीन साहित्य का मूल्याकन विशेषत छायावाद और उसके कवियो का विश्लेषण कला-पक्ष की दृष्टि से अद्वितीय है। वे इन कवियो तथा उनके काल को सौन्दर्य के माध्यम से अधिक सफलता के साथ ग्रहण कर सके है। उनके समीक्षण के मध्य जो निष्कर्ष है वे अत्यन्त आकर्षक और भावपूर्ण है और उनमे उनकी सवेदना का भी अद्भुत योग है। कहना होगा, द्विवेदीजी के निर्णयो मे सूत्रो की सूक्ष्मता और अनुभूतियो की मौलिकता है। वे कुछ अशो मे एकागिता से भी मुक्त नहीं, किन्तु उनमे ऐसी मोहिनी शक्ति अवश्य हे जो एक बार विरोधी पक्ष को भी क्षण भर के लिए मुग्ध बनाये बिना नही रहती। कहा जा सकता है कि शान्तिप्रियजी ने जिस छायावाद को अपना समालोच्य विषय बनाया उसके अनुरूप ही भाषा-शैली और व्यजना का प्रयोग कर उसे एक परिष्कार प्रदान किया। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे रचनात्मक साहित्य-सृष्टि कुछ विशेष क्षणो की आत्म-झकृति है जिसमे रचयिता के व्यक्तित्व का साधारणी-करण हो जाता है, उसी प्रकार शान्तिप्रियजी की आलोचनाएँ भी किसी विशेष उमग अथवा मानसिक उल्लास मे लिखी हुई वे बौद्धिक चेतनाएं है जिनका भाव-पक्ष उन्ही के समान उभार प्रदर्शित कर उन्हे प्रेरणा देता हुआ आगे-आगे चला है और उसी की दृष्टि उनके जीवन की अनुभूति से मिल कर उन्हे समालोचना-प्रक्रिया प्रदान कर सकी है। शान्तिप्रिय जी की समालोचना का एक साहित्यगत वैशिष्ट्य तो है ही, इसमे कदाचित् ही दो मत हों, किन्तु उनके मूल्याकन की आज भी बहुत बडी आवश्यकता है। वे अपने जीवन और व्यक्तित्व की चेतना की भाति समालोचक रूप मे भी हमारी जिज्ञासा के विषय हैं और उनके साहित्यिक योग-दान का परीक्षण आधुनिक समालोचना के विकास

युग के क्रम मे अपनी वाछनीय अनिवार्यता का सर्वथा अपेक्षी है ।

१७९. जैसा कि पहले सकेत कर दिया गया है कि शान्तिप्रियजी की समालोचना का मुख्य क्षेत्र आधुनिक हिन्दी-साहित्य ही हे और उसमे भी छायावाद-युग सर्वाधिक केन्द्रवर्ती हे । अत उन्होने अपने इस विषय की सामयिकता मे जो अन्यान्य समालोचनात्मक निबन्ध लिखे हे, वे भी छायावाद के परिवेश का सस्पर्श करते हुए ही आकार ग्रहण कर सके है । उन्होने छायावाद के साथ-साथ प्रगतिवादी दृष्टिकोण के प्रति भी अपनी विचाराभिव्यक्ति की हे और बतलाया हे कि इसे हमारे आधुनिक आलोचक चाहे जिस प्रतिक्रिया का परिणाम माने, किन्तु वास्तव मे इसके निर्माण मे छायावाद का सर्वाधिक हाथ हे । वे प्रगतिवाद मे भी छायावाद की सी वेदना पाते है किन्तु उन्हे उसका आत्मविवृति का पक्ष दुर्बल और सामाजिक विश्लेषण का पक्ष अधिक सबल लगता है । वे पत, यशपाल और महादेवी के विचारो के उद्धरण देकर अपनी मान्यता को भी उन्ही के निकट सिद्ध करते हे और इस प्रकार उन्हे प्रगतिवाद मे लोक-यात्रा के युग-चिन्ह मिल जाते है । अच्छा होता, यदि शान्तिप्रियजी अपना प्रगतिवाद विषयक दृष्टिकोण प्रकट करने के पूर्व प्रगतिवादियो की विचारधारा का भी सम्यक् विश्लेषण करते और तदुपरान्त अपनी विवेचना के तत्वकणो का आयोजन करते चलते । किन्तु वे ऐसा नही कर सके जिसे हम उनके मानसिक संस्थान की दृष्टि से कोई नई बात नही मानते । बात यह है कि शान्तिप्रियजी के मानस मे नवीन ज्ञान के लिए बुभुक्षा अवश्य है, किन्तु सारा नवीन ज्ञान उन्हे मानसिक तृप्ति नही दे पाता, अत वे एक विशेष प्रकार मे ही उसे ग्रहण कर सके है । सुतराम् वे छायावादी दृष्टिकोण का जिस तल्लीनता और रसग्राहिता से निरूपण कर सके है, वैसा प्रगतिवादी दृष्टिकोण का नही ।

१८०. शान्तिप्रियजी ने हिन्दी साहित्य पर ऐतिहासिक समालोचना-पद्धति को प्रमुखता देते हुए भी कुछ समीक्षात्मक निबन्ध लिखे है, जिनमे वे इस परम्परा का निर्वाह पूर्ण सफलतापूर्वक नही कर सके है । इसका कारण यह है कि वे हिन्दी साहित्य के विवेचन मे आधुनिक साहित्य को ही अपना केन्द्र-बिन्दु बना कर चले है, जिसमे वे भारतेन्दु-युग तथा द्विवेदी-युग के सामान्य स्वरूप के विश्लेषण के पश्चात् आधुनिक साहित्य के प्रमुख रचयिताओ की कृतियो के महत्त्व-निर्धारण की ओर उन्मुख हो गये है । वैसे तो उन्होने गुप्त-बन्धु, प्रेमचन्द आदि का साहित्य-विश्लेषण भी किया है किन्तु वे बार-बार अपने प्रिय विषय छायावाद की ओर किसी न किसी प्रकार पूर्वापर सम्बन्ध जोड कर चले ही आये है । एक प्रकार से उनके इस ऐतिहासिक विश्लेषण से आधुनिक हिन्दी साहित्य का सिंहावलोकन अवश्य हो गया है । इसमे उन्होंने विषय-सामग्री देने का जितना अधिक ध्यान रखा है, उतना विषय के स्वतन्त्र प्रतिपादन का नहीं । अतः इसे उनकी समालोचना विषयक देन में कोई विशेष महत्ता नही प्रदान की जा सकती । अभिप्राय यह है कि शान्तिप्रियजी का समालोचना-साहित्य मुख्यत. आधुनिक युग की प्रधान गतिविधियो का ही निर्देशक बनकर प्रकट हुआ है, जिसमे उनकी विचार-भूमि केवल सकीर्ण परिधि मे न बंध कर कुछ वाह्य क्षेत्र मे भी सचरण कर सकी है । उनकी समीक्षाओ के विषय मे उनका यह निष्कर्ष स्वीकार करने में हमे कोई विशेष आपत्ति नही होती कि वे अपनी आलोचनाओ मे युग की सार्वजनिक विचारधाराओ का साहित्यिक विवेचन कर सके है । निश्चय ही शान्तिप्रिय जी की साहित्य-साधना मे उनकी समीक्षा-कृतियाँ अपना विशेष महत्त्व रखती है ।

(८)
आचार्य प० हजारीप्रसाद द्विवेदी

१८१ आचार्य प० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने विशेष-विशेष अवसरो पर जो अपने साहित्यिक और समीक्षात्मक निबन्ध लिखे थे, उनके सकलन उनकी विविध समीक्षा-कृतियो के रूप में प्रकाशित

हुए है। हमारी 'साहित्यिक समस्याएँ' नामक पुस्तक उनकी एक ऐसी ही रचना है जिसमे द्विवेदी जी ने सैद्धान्तिक निरूपण के साथ-साथ अपनी निजी मान्यताओं का भी विश्लेषण किया है। पुस्तक का नामकरण कदाचित् इसीलिए किया गया है कि जिन दिनो इन निबन्धो की रचना की गई थी, विश्व-जीवन एक महान् सघर्ष से गुजर रहा था जिसके कारण साहित्य-विचारको के सामने भी ऐसी अनेक समस्याओं का प्रादुर्भाव हो गया था, जिनकी पूर्व युग मे कोई कल्पना भी नही थी। यद्यपि द्विवेदी जी ने उन समस्याओं पर विशेष रूप से कोई विवेचन नही किया है, किन्तु उनके विश्लेषण मे उन समस्याओं का यत्किंचित् स्वरूप भी अभिव्यक्त हुए बिना नही रह सका है। साथ ही साथ उनकी इस पुस्तक से उन समस्याओं के यथोचित समाधान का भी एक मार्ग मिल सका है।

१८२ द्विवेदी जी ने सर्वप्रथम भारतवर्ष की भाषा-समस्या को अपनी समालोचना का विषय बनाया है। उनका कहना है कि आज जिस रूप मे इस समस्या को स्वरूप प्रदान किया जा रहा है, वह अत्यन्त हेय और घृणित है। उनके अनुसार भारत मे इस प्रकार की भाषा-विषयक समस्या पहले कभी नही रही है, जिसका मूल-प्रमाण यही है कि यहाँ के अतीत काल मे सस्कृत को ही समस्त भारत के धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा आदि विषयो की भाषा मान लिया गया था। इससे द्विवेदी जी का यह अभिप्राय तो कदापि नही है कि यहाँ भाषा विषयक समस्या का प्रादुर्भाव ही नही हुआ, क्योकि कालातर मे भगवान बुद्ध और महावीर स्वामी ने सस्कृत के स्थान पर प्राकृत लोकभाषा को अपने उपदेशो का माध्यम बनाया, किन्तु ऐसा होने पर भी संस्कृत की महत्ता कम न हुई। द्विवेदी जी ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि अंग्रेजी शासन की स्थापना के पूर्व तक संस्कृत का गौरव कम नही हुआ था, किन्तु कालान्तर मे उसे अपदस्थ कर दिया गया और तभी से हमारी भाषा-विषयक समस्या और भी उग्र हो गई। उनका मूल मन्तव्य यही है कि संस्कृत भाषा और साहित्य को अकस्थ किए बिना हिन्दी भाषा भी हमारी वर्तमान समस्या को नही सुलझा सकती, क्योकि सस्कृत भाषा-साहित्य की ज्ञान-राशि हमारी सस्कृति के अंग प्रत्यग मे रमी हुई है।

१८३. द्विवेदी जी ने प्राचीन काव्यशास्त्र के विकास का परिचय देते हुए आधुनिक हिन्दी-कविता के भविष्य पर भी अपने विचार व्यक्त किए है। उन्हे नवीन कविता की प्रवृत्तियो की स्वच्छन्दवादिता से कोई चिढ तो नही है, किन्तु वे इतना अवश्य मानते है कि उनका विकास कुछ सयमित होकर न किया गया तो निश्चय ही भविष्य धूमिल हो सकता है। वे हिन्दी भाषा की शक्ति पर भी मुग्ध है और उन्हे भारतीय साहित्य मे एक ऐसी चेतना और सप्राणता मिलती है जिसके कारण वह भारत को ही नही अपितु विश्व-जीवन को भी भव्यतम मार्ग-दर्शन करा सकता है। द्विवेदी जी का साहित्य का मूल्याकन सम्बन्धी दृष्टिकोण भी अत्यन्त उदार और प्रगतिशील है। यद्यपि उनका प्राचीन शास्त्रीयता का अध्ययन अत्यन्त गम्भीर और व्यापक है, किन्तु आज की युग-प्रगति मे वे उसकी सीमाओं से भी अपरिचित नही है। उनकी मान्यता है कि बिना नूतन साहित्यिक दृष्टिकोण को स्वीकार किए हम अपने आधुनिक साहित्य की समालोचना कर ही नही सकते और जो समालोचक अपनी रूढिग्रस्तता और सकीर्णता मे ही उलझे हुए है उनमे साहित्य के सच्चे मूल्याकन के स्थान पर समस्याओं को ही प्रश्रय दिया जाता है। द्विवेदी जी के अनुसार साहित्य-निर्माण का लक्ष्य भी अत्यन्त पावन और आदर्शपूर्ण होना चाहिए जिससे मनुष्य दैवी गुणो की उपलब्धि की ओर उन्मुख हो। उनकी विचारधारा मे वह साहित्यहीन-श्रेणी का है जो केवल वाग्विलास के सकीर्णक्षेत्र को लेकर चलता है। वे साहित्यकार की शक्ति को इतनी अद्भुत मानते है जिसके द्वारा महान् सास्कृतिक क्रान्तियाँ की जा सकती है और हमारा सामाजिक स्तर बहुत ऊँचा उठाया जा सकता है। उनका उन लोगो से कट्टर विरोध है जो साहित्य को केवल कला-कल्पना के वायवी स्वरूप के रूप मे देखते हैं और जिसमे मानवता का भव्यतम लक्ष्य नही पाते।

स्पष्ट है कि द्विवेदी का यह दृष्टिकोण साहित्य को मानवता की सामान्य भावभूमि पर लाकर प्रतिष्ठित करने वाला है।

१८४. द्विवेदी जी ने हिन्दी-प्रचार की समस्या पर अत्यन्त उदार और विवेक-पूर्ण दृष्टि से विवेचन किया है। उन्होने हिन्दी-प्रचार के अन्तर्गत हिन्दी-भाषा, साहित्य और सस्कृति इन तीनो उपकरणो को सम्मिलित किया है और उन तर्कों का खण्डन किया है जो हिन्दी-प्रचार के इन त्रिरूपाकार कार्यों मे भारत के इतर प्रान्तो को भ्रमग्रस्त बना कर हिन्दी-प्रचार के मार्ग मे अवरोध उपस्थित करना चाहते है। द्विवेदी जी के अनुसार हिन्दी-प्रचार वास्तव म भारत की सस्कृति को अधिक व्यापक बनाने मे समर्थ होगा और उसके द्वारा किसी भी प्रान्तीय भाषा का अधिकार नही छीना जायेगा। वे हिन्दी-प्रचार को समस्या के रूप मे देखने के लिए किञ्चित्-मात्र भी प्रस्तुत नही है; किन्तु इसे एक स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप मे ग्रहण करने के आकाक्षी है। इस प्रकार द्विवेदी जी के ये लेख विशुद्ध साहित्य-समालोचना की श्रेणी मे न आते हुए भी उनकी विचारधारा की अभिव्यक्ति के प्रमुख साधन बन जाते है और आज जब उनको हिन्दी-साहित्य के चोटी के विचारको मे सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त है तो उनकी आस्थाओ के स्पष्टीकरण के लिए निश्चय ही इनकी एक अनिवार्य उपयोगिता है।

१८५. द्विवेदी जी ने रस का व्यावहारिक अर्थ स्पष्ट करते हुए 'रस क्या है', इस विषय पर भी अपना शास्त्रीय विवेचन किया है। इस विवेचन मे उन्होने उन समस्त साहित्य-शास्त्रियो की विचारधाराएँ प्रस्तुत की है जो भरत मुनि के रस-निष्पत्ति विषयक सूत्र को ग्रहण कर अपनी-अपनी मान्यताएँ स्पष्ट करते चलते है। उन्होने उन परिस्थितियो का भी वर्णन किया है, जिनके कारण रस-सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तो को हीन बनाता हुआ काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ और ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने भी इसकी महिमा स्वीकार की। वस्तुत: द्विवेदी जी का यह रस-विषयक विवेचन अत्यन्त सैद्धान्तिक है और इसमे हमे साहित्य-सिद्धान्तो के विकास की एक सामान्य जानकारी भी हो जाती है।

१८६. जैसा कि पहले सकेत कर दिया गया है द्विवेदी जी शास्त्रीय समालोचक होते हुए भी अत्यन्त उदार मना है। उन्होने साहित्य-क्षेत्र मे होने वाले क्षिप्रगामी परिवर्तनो की महत्ता स्वीकार कर यही मान्यता व्यक्त की है कि वर्तमान साहित्य ने जो नया रास्ता अपनाया है, उस पर वह स्वस्थ दृष्टिकोण से बढता चले तो उसकी प्रगतिशीलता से किसी को कोई आपत्ति नही हो सकती। वस्तुतः द्विवेदी जी प्रगतिशील साहित्य के विरोधी नही, किन्तु उसके समर्थको की उस नीति के अवश्य विरोधी है जिसके द्वारा वे साहित्य की सार्वजनीनता को वर्ग, क्लास, या श्रेणी का नाम लेकर धूमिल बना देते है। साथ ही साथ उनका यह भी कहना है कि प्रगतिवाद की धुन मे अपने सहस्रो वर्षों की ज्ञान-राशियो को केवल पूंजीवादी व्यवस्था की उपज कह कर ठुकरा देना शोभनीय नही है। वे प्रगतिवाद की केवल उन रचनाओ के विरोधी है जिनमे ग्राम्य, अश्लील, जुगुप्सित या रसाभासमूलक प्रवृत्तियाँ पाई जाती है। उन्होने भविष्य के लिए समाजवादी व्यवस्था की अनिवार्यता का सकेत कर प्रगतिवादियो को व्यापक दृष्टि से सोचने की सम्मति दी है, क्योकि कोरे मार्क्सवाद से ही किसी स्थिर और शाश्वत तत्व-ज्ञान का बोध नहीं हो सकता। ये वस्तुत. अपने देश की चिन्ता-परम्परा की व्यापकता और गम्भीरता मे ही किसी नूतन मतवाद को ग्रहण करना समीचीन समझते हैं, क्योकि ऐसा करने पर ही साहित्य-निर्माण का श्रेयस्कर नूतन मार्ग प्राप्त किया जा सकता है।

१८७. वैसे तो कबीर के जीवन और काव्य-दर्शन को लेकर विभिन्न समालोचकों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों और मान्यताओ से विविध रूपो में विवेचन किया है, किन्तु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का 'कबीर' नामक ग्रन्थ कबीर के व्यक्तित्व, साहित्य और दार्शनिक विचारो की

आलोचना की दृष्टि से अद्वितीय है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि विद्वान लेखक ने प्रसगवश उन साधनाओं की भी चर्चा कर दी है जिनका कबीर के जीवन-दर्शन से सम्बन्ध रहा है। ऐसा करते हुए द्विवेदी जी ने साधन-मार्गों के ऐतिहासिक विकास की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया है। पुस्तक के परिशिष्ट मे कबीर-वाणी के २५६ पदो का संग्रह है, जिनके प्रारम्भ के सौ पद आचार्य क्षितिमोहन सेन के संग्रह से सकलित किए गए है। इनके द्वारा कबीर-साहित्य की भावभूमि तक पहुँचने मे यथेष्ट सहायता प्राप्त की जा सकती है।

१८८. इसमे कोई सदेह नही कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आधुनिक हिन्दी साहित्य के एक प्रमुख-विचारक है और उन्होने साहित्य-जगत् को मानववादी दृष्टिकोण प्रदान किया है, किन्तु समालोचक की दृष्टि से उनका व्यक्तित्व वैसा उभरा हुआ नही है जैसा आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा रामचन्द्र शुक्ल का था। बात यह है कि हजारीप्रसाद जी की प्रतिभा मे शोध-परकता और प्राचीन सस्कृति की मनन-शक्ति का प्राबल्य है, अत. वे विशुद्ध साहित्य-शैली मे बहुत कम समालोचना लिखने का अवकाश पाते है। उनका 'कबीर' नामक ग्रन्थ भी इस कथन का प्रमाण है। इसमे उन्होने साधारणतया ग्रहीत साहित्य-समीक्षा-पद्धति का अनुगमन कर अपनी शोध-प्रवृत्ति का ही प्रकाशन किया है। उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि इतर समालोचको ने कबीर को केवल जुलाहा जाति का कह कर उसके जाति-निर्णय-पक्ष से ही छुट्टी पा ली, किन्तु शोधप्रिय द्विवेदी जी को इतने से ही सतुष्टि नही हुई। उन्होने प्रस्तावना के अन्तर्गत जुलाहा जाति सम्बन्धी पौराणिक मतो का उल्लेख कर उनकी कडी आधुनिक खोजो के साथ जोड दी है और यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वयनजीवी जातियो की जो शाखा सरवाक अथवा जुगी जाति से सम्बन्धित है, वह किसी प्रकार ना हिन्दू, ना मुसलमान भाव से सम्मिलित होकर आधुनिक युग तक चली आ रही है जिसमे जन्म लेने के कारण कबीर के मानसिक धरातल का भी वैसा ही निर्माण हुआ था। इस प्रकार द्विवेदी जी का यह विवेचन कबीर की मानसिक भूमिका को हृदयगम कराने के लिए निश्चय ही एक प्रकार से कुँजी का काम देता है, जिसके आधार पर हमारी कबीर-विषयक अनेक उलझनो का समाधान सहज-भाव से हो जाता है।

१८९. द्विवेदी जी ने कबीरदास पर योगमत का प्रभाव निर्दिष्ट करते हुए 'अवधूत' शब्द का तात्विक और व्यावहारिक विश्लेषण भी, किया है। वे 'साधारण योगी' और 'अवधूत' मे अन्तर मानते है। उनके मत से कबीर का 'अवधूत' निश्चय ही विशिष्ट श्रेणी का है। उन्होने नाथ-पन्थियो के सिद्धान्त और उनका कबीर के मत पर पडने वाला प्रभाव जिस अनुशीलन और तत्व ग्राहिणी बुद्धि से व्यक्त किया है, वह हिन्दी-साहित्य मे अपूर्व है, इसमे कोई सन्देह नही। इसी प्रकार हठयोगी की साधना, निरञ्जन कौन है, योगपरक रूपक तथा उलटबाँसियाँ, ब्रह्म और माया, निर्गुण राम, वाह्याचार आदि पर भी उनके विचार मनन करने योग्य है। भारतीय धर्म-साधना मे कबीर का स्थान निर्धारित करते हुए उन्होने उनके व्यक्तित्व का जो विश्लेषण किया है, वह हमारी अनेक प्रकार की कबीर-विषयक शकाओ का समाधान करने के लिए प्रर्याप्त है, यह एक असँन्दिग्ध निर्णय है। मेरी दृष्टि से आचार्य हजारी प्रसाद जी में शोधप्रियता के साथ-साथ कारयित्री प्रतिभा भी है किन्तु 'शान्ति-निकेतन' के अधिवास और मानसिक सस्थान के गाम्भीर्य ने उन्हे जो सूझ-बूझ और ग्राहिका-शक्ति प्रदान की है, वैसी आधुनिक हिन्दी साहित्य-समालोचना मे किसी अन्य के पास है भी या नही, यह एक विचारपूर्ण विषय है। वस्तुत. द्विवेदी जी की आधुनिक समालोचनाएँ केवल पिष्ट-पेषण न होकर एक मौलिक-जीवन दृष्टि से अवश्य अनुप्राणित हैं, जिनमे उनके गम्भीर चिन्तन और गवेषणापूर्ण अध्ययन के सूत्र सर्वत्र विकीर्ण मिलते हैं।

१९०. आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के उद्भव और विकास का विवेचन अपने एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप मे किया है जिसमे छात्रोपयोगी दृष्टिकोण ही अधिक है।

यही कारण है कि वे अपनी शोधपरक और गम्भीर गवेषणा वाली शैली का प्रयोग इसमे नही कर सके है और उन्होने अत्यन्त सुबोध-भाषा मे साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियो और उसके महत्त्वपूर्ण वाह्य रूपो के मूल और वास्तविक स्वरूप का स्पष्ट परिचय-मात्र इस ग्रन्थ मे दिया है। यह बात अवश्य महत्त्वपूर्ण है कि उन्होने अद्यावधि शोध-कार्य के परिणामो का भी यथावसर उपयोग किया है जिससे ग्रन्थ की उपादेयता अधिक बढ गई है। वैसे तो उन पर भी शुक्ल-शैली का प्रभाव है और उनका विषय-निरूपण भी शुक्ल जी पर ही अधिकाशत· आधारित है किन्तु काल-विभाजन मे कुछ नवीनता अवश्य बरती गई है। उन्होने शुक्लजी के वीरगाथा-काल को हिन्दी साहित्य का आदिकाल कहना अधिक उपयुक्त समझा है और अपने समर्थन मे प्रमाण भी दिए है। इतिहास-ग्रन्थ में वैसा करने के लिए अधिक अवसर नही हो सकते थे, अत उन्होंने उसका व्यापक विश्लेषण तो अपने उन भाषणो मे किया जो 'बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्' पटना के अनुरोध पर दिए गए थे। उनके उन भाषणो का प्रकाशित रूप 'हिन्दी साहित्य का आदि काल' है जिसके अध्ययन से उनके एतद्काल-विषयक दृष्टिकोण का पता चल सकेगा।

१९१. आचार्य हजारीप्रसाद जी की समालोचनाओ का एक प्रमुख अश निबन्ध-लेखन ही है जो विभिन्न पुस्तको मे सगृहीत होकर प्रकाशित हुआ है। उसमे साहित्य-समालोचना को सास्कृतिक प्रक्रिया से ग्रहण करने का जितना प्रयत्न है, उतना उसकी विशुद्ध विधा मे नही। मानवतावादी दृष्टिकोण तो उसमे सर्वत्र परिलक्षित है। साधारण रूप से यही कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी ने समालोचना-साहित्य को कुछ नवीन मानदण्ड अवश्य दिए, किन्तु उनका प्रयोगगत प्रसार कम ही हो सका। इसका मूल कारण उनकी शोधपरक विचारधारा ही है। वैसे उन्होंने 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' लिख कर अपनी कारयित्री प्रतिभा का भी परिचय दिया है, किन्तु वे मुख्यत इतिहास के अतीत-कालीन पृष्ठों मे ही अधिक रम सके हैं। यह बात निश्चित है कि उनकी चिन्तना की एक स्वतन्त्र भूमि अवश्य रही है, जिसका प्रारम्भिक प्रस्फुटन उनकी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' नामक पुस्तक मे मिला था। मै तो आज भी उसे अपने ढग की एक ही समालोचना-कृति मानता हूँ। यदि द्विवेदी जी अपनी चिन्ता-धारा का विकास उसी को प्रौढता प्रदान करते हुए करते चलते तो हमारी साहित्यालोचन-विषयक दृष्टि मे एक नवीन प्रकार विकसित होता, पर आगे चल कर उन्होने इस ओर कम ध्यान दिया और वे दूसरी दिशा की ओर उन्मुख हो गए। वैसे उनका साहित्य-विश्लेषण का स्तर अपने ढग मे अद्वितीय है। निष्कर्ष यह है कि डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी शुक्लोत्तर-युग की प्रमुख विचारधारा के विशिष्ट समालोचक है और उनकी गणना छायावादी कवियों के समालोचक-व्यक्तित्व के साथ-साथ आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र तथा प० शान्तिप्रिय द्विवेदी जैसे सौन्दर्यमूलक स्वच्छन्दतावादी समालोचको की श्रेणी मे की जाती है। इन आलोचको द्वारा प्रसारकालीन समालोचना को शालीन उत्कर्ष एवम् वैभव प्रदान किया गया है। अब प्रसार काल-२ के अन्तर्गत शुक्लोत्तर-युग की उन प्रवृत्तियों तथा प्रमुख समालोचको की उपलब्धियो का विवेचन किया जायगा जिससे यह स्पष्ट हो सके कि वर्तमान युग की ऐसी और कौन-कौन सी प्रमुख मान्यताएँ है, जिनसे समालोचना के विकास को यथोचित सहयोग मिला है।

नवम अध्याय

आधुनिक हिन्दी-समालोचना का प्रसार-काल—२

विभिन्न प्रवृत्तियाँ और उनका सामान्य परिचय

१ पूर्व अध्याय मे शुक्लोत्तर युग की सौन्दर्यमूलक स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति और उसके प्रमुख समीक्षको का यथेष्ट विवेचन कर दिया गया है, जिससे यह स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र मे उनके द्वारा किस प्रकार विकास-पथ को उन्नयन और प्रसार प्राप्त हुआ है। वस्तुत इस प्रकार की प्रवृत्ति और समीक्षा-कृतियो से हमारा साहित्य एक प्रकार की समन्वयपूर्ण दृष्टि भी उपलब्ध कर सका है, जिसमे उसका विशुद्ध रसात्मक स्वरूप सुचारु रूप से विवेचित हुआ है। प्रस्तुत अध्याय मे प्रसार-काल की उन प्रमुख प्रवृत्तियो का स्वरूप-विश्लेषण करने का प्रयत्न किया जायगा जो सौन्दर्य-मूलक स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के साथ-साथ अपना स्वतन्त्र विकास करती चली है तथा जिन्होने साहित्य-परीक्षण के क्षेत्र मे नवीन प्रतिमान देने की चेष्टा की है। इन प्रवृत्तियो का मूल उत्स मुख्यत काव्य-साहित्य ही है, जिसका प्रभाव साहित्य के इतर अगो पर भी परिलक्षित है। सुविधा की दृष्टि से इन प्रवृत्तियो को क्रमश मनोविश्लेषणवादी प्रवृत्ति, प्रगतिवादी प्रवृत्ति तथा प्रयोगवादी प्रवृत्ति के तीन रूपो मे विभक्त किया जा सकता है, जिनका निर्माण जीवन के विभिन्न दृष्टिबिन्दुओ से हुआ है। यद्यपि इस प्रकार की प्रवृत्तियो मे स्वपक्ष-समर्थन की भावना ही अधिक है, किन्तु समीक्षा-विकास की दिशाएँ इनमे अवश्यमेव प्रदर्शित हुई है, अत ये सर्वथा उपेक्षणीय नही कही जा सकती। इन प्रवृत्तियो के समर्थक समालोचको ने अपने अध्ययन का प्रयोग जिन प्रतिमानो के आधार पर साहित्य-समीक्षण के अन्तर्गत किया है, उससे उसका एक-पक्षीय विधान तो व्यापक स्वरूप मे विवेचित हुआ है, किन्तु साहित्य के समन्वयपूर्ण पक्ष का निरूपण अल्पाशिक मात्रा मे हुआ है। ऐसी परिस्थिति मे इन प्रवृत्तियो का सामान्य विवेचन ही साधारणतया उनके दृष्टिकोण का परिचय प्रस्तुत करने मे समर्थ माना जायेगा। अत मैंने इन प्रवृत्तियो का मूल विवेच्य विषय निरूपित कर, उनके प्रमुख समालोचको के सम्बन्ध मे ही विशेषत सामान्य उल्लेख किया है, जिससे उनकी विचारधारा और समीक्षा-शैली का बोध हो सके।

(१)

साहित्यालोचन की मनोविश्लेषणवादी प्रवृत्ति

२. आधुनिक हिन्दी समालोचना के प्रसार-काल मे फ्रायड, जुग और एडलर के मनोविश्लेषण-शास्त्र ने भी एक विशेष प्रकार की समीक्षा-पद्धति को जन्म दिया है, जिसे मनोविश्लेषणवादी समीक्षा कहा जाता है। वैसे तो भारतीय रस-मीमासा के अन्तर्गत भाव, विभाव, अनुभाव और सचारी भावो को लेकर जो शास्त्रीय विवेचन हुआ है, वह भी एक प्रकार से मानव-मनोविज्ञान के मूलभूत तत्त्वो से ही सम्बद्ध है, किन्तु आधुनिक प्रणाली की मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा उससे विभिन्न स्वरूप मे सगठित हुई है। पूर्व अध्याय मे इस विषय का विवेचन कर दिया गया है कि डा० श्यामसुन्दरदास, प० रामचन्द्र शुक्ल तथा बाबू गुलाबराय आदि विद्वानो ने भी अपनी

सैद्धान्तिक विवेचनाओ के अन्तर्गत मानव-मनोविज्ञान से सम्बन्धित जो विश्लेषण किया था, वह एतद्विषयक भारतीय और पाश्चात्य मान्यताओ के समन्वित स्वरूप के कितना निकट था, अत उसके पिष्ट-पेषण से हमारा यहाँ विशेष प्रयोजन नही है । हमे तो केवल यही देखना है कि शुक्लोत्तर-युग मे प्रचलित यह नवीन समीक्षा-पद्धति किन-किन तत्वो और आधारो को लेकर अपना स्वतन्त्र निर्माण करती हुई विकसित हुई और उस पर सिग्मण्ड फ्रायड और जुग आदि मनोविश्लेषणवादी विचारको की मान्यताओ का कैसा कैसा प्रभाव है ।

३. साहित्य-समालोचना के क्षेत्र मे जिस मनोविश्लेषण-शास्त्र ने अपना प्रवेश किया है, उसके मूलभूत सिद्धान्तो का सामान्य परिचय हमारे लिए आवश्यक है । यह तो नही कहा जा सकता कि पश्चिमी जगत् मे फ्रायड के पूर्व इस दिशा मे प्रयत्न ही नही हुए थे और फ्रायड ने ही मनोविश्लेषण शास्त्र (साइको अनैलेसिस) का प्रवर्तन किया था, किन्तु इसमे भी कोई सन्देह नही कि इस आस्ट्रिया निवासी डाक्टर ने मनोविश्लेषण को केवल शारीरिक और मानसिक उपचार तक ही सीमित न रख कर उसे साहित्य और कला के व्यापक क्षेत्र मे भी प्रयुक्त किया ।[1] यद्यपि आज की विकासमान चेतना मे फ्रायड की विचारधारा अनेक दृष्टियो से एकागी और अपूर्ण सिद्ध हो चुकी है और मनोविश्लेषण-शास्त्र केवल उसी तक सीमित नही रह गया है, फिर भी यह धारणा भी असदिग्ध है कि उसके तात्विक निरूपण और कामवृत्ति विषयक दृष्टिकोण का आधुनिक मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि मे भी कम महत्त्व नही है, क्योकि बिना उसका परिज्ञान प्राप्त किये हमारे लिए इस क्षेत्र मे आगे बढना कुछ कठिन-सा है । यह कोई आवश्यक नही कि हम फ्रायड की धारणा से सहमत हो और उसी के दृष्टिकोण को ही समीचीन समझे, किन्तु उसकी एक सीमा तक आधुनिक साहित्य-सृजन की प्रेरणा मे उपादेयता अवश्य है, इसे भी अस्वीकार नही किया जा सकता ।

फ्रायड का मानस-शास्त्र और उसके प्रमुख तत्व

४ फ्रायड ने अपने मानस-शास्त्र के विवेचन के मूल में सर्वप्रथम मन के तीन स्तरो की स्थिति मानी है, जिन्हे चेतन, अर्धचेतन और अवचेतन मन की सज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। उसके मतानुसार हमारे सामाजिक जीवन का संचालन चेतन मन के द्वारा होता है, जिसकी क्रियाओ का बोध हमे स्पष्ट रूप मे सुविधापूर्वक हो सकता है, किन्तु मन की कुछ ऐसी वासनाएं भी हैं, जिन्हे सामाजिक मान्यता प्राप्त न होने के कारण चेतन मन को उनका दमन करना पडता है । ये दमित वासनाएँ जब सामाजिक बन्धन अथवा सभ्यता के निर्धारित बाह्य प्रतिमानो के कारण अभिव्यक्त नही हो पाती तो मन की दूसरी पर्त की ओर उन्मुख हो जाती है, जिसे फ्रायड अवचेतन मानता है । चेतन और अवचेतन के मध्य मे मन का तीसरा स्तर है जो अर्धचेतन कहलाता है। मन के इन तीन स्तरो की स्थिति का विश्लेषण करते हुए फ्रायड ने बतलाया है कि यदि चेतन मन को पानी के ऊपर तैरने वाले किसी शिलाखण्ड का एक चौथाई भाग मान लिया जाय तो अवचेतन की उपमा उसके उस तीन चौथाई से दी जा सकती है जो पानी से नीचे होने के कारण अज्ञेय और रहस्यपूर्ण है । अर्धचेतन इन दोनो के बीच द्वार का काम करता है। फ्रायड का विश्वास है कि सामाजिक अभिव्यक्ति मे असमर्थ बनी हुई हमारी दमित वासनाएँ यद्यपि अवचेतन में कुण्ठित कर दी जाती है, किन्तु वहाँ पर भी वे निष्क्रिय बन कर नही बैठती, अपितु अपने निष्कासन का मार्ग खोजने मे सतत आकुल रहती है । उनका यही प्रयत्न होता है कि वे किसी प्रकार अर्ध-चेतन के द्वार से निकल कर चेतन मन मे प्रवेश कर सके । चूकि जाग्रत अवस्था में सामाजिक

१. फ्रायड १९वीं सदी के प्रसिद्ध फ्रांसीसी डाक्टर शार्को का शिष्य था जिसने हिप्नोटिज्म के प्रयोग द्वारा एक नई चिकित्सा-प्रणाली निकाली थी । फ्रायड उस पद्धति का प्रयोग करने मे तो सफल नहीं हुआ, किन्तु उसने एक मनोविश्लेषक चिकित्सा-विधि अवश्य खोज निकाली ।

प्रतिबन्धो के कारण यह सम्भव नही होता, अत. सुषुप्ति अवस्था मे ही उनकी अभिव्यक्ति हो पाती है, जिसे फ्रायड ने स्वप्न या कला-सृजन की अवस्था माना है। उसके अनुसार हमारे जीवन मे चेतन और अवचेतन मन का यह सघर्ष इतना उग्र होता है जिसके कारण अनेक बार तो ऐसी अनेक मानसिक ग्रन्थियो की सृष्टि हो जाती है, जिनकी अन्तिम परिणति हमे 'न्यूरोसिस' की स्थिति मे अवस्थित कर देती है। फ्रायड का कथन है कि यदि हमारे चेतन मन पर सामाजिक और मर्यादा का बन्धन न हो तो वह अर्धचेतन के द्वार से आने वाली अवचेतन की दमित इच्छाओ के निष्कासन पर कोई प्रतिबन्ध ही न लगावे, किन्तु उनकी सामाजिकता उन्हे ऐसा करने से रोकती है। वस्तुत मन की अवचेतन गति को रोकना बडा कठिन है, अतः वह कही तो विरोध करके और कही अनजान अवस्था मे अपना निर्गमन करके ही मानती हैं। यही फ्रायड ने अपने महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का विवेचन किया है, जिसके अनुसार साहित्य और कला हमारे अवचेतन मन मे कुण्ठित वासनाओ का एक ऐसा उद्दामवर्ण उद्गार है, जो मूल रूप मे परिवर्तन करता हुआ कल्पना की क्रोड मे आत्म-संस्कार के द्वारा नवीन आकार धारण कर प्रकट होता है। इस प्रकार फ्रायड के अनुसार यह कहा जा सकता है कि साहित्य और कलाएँ हमारे चेतन और अवचेतन मन के समझौते से उत्पन्न असामाजिक और कुण्ठित यौन-इच्छाओ के उदात्तीकरण के अतिरिक्त और कुछ नही है।

मन के विभिन्न स्तर और उनके कार्य

५. फ्रायड ने अपनी विचारधारा का स्पष्टीकरण एक अन्य प्रकार से भी किया है, जिसके अनुसार पूर्व विवेचित मन का विभाजन अहं, समष्टिगत नैतिक अह और इड अर्थात् अवचेतन-प्रवाह इन तीन रूपों मे किया जा सकता है। उसका विवेचित अह चेतन की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नही है, जो सदैव समष्टिगत नैतिक अह से सामजस्य स्थापित करने के लिए प्रयत्न-तत्पर रहता है। इस सामजस्य अथवा सन्तुलन मे इड अर्थात् अवचेतन-प्रवाह बाधक बनता है। इड के अन्तर्गत मन की वे आदिम प्रवृत्तियाँ आती है, जिन्हे आजकल की सामाजिकता किसी भी रूप मे स्वीकार करना शोभनीय नही समझती। चूँकि उनका मानव-मन के साथ जन्मजात सस्कार-सम्बन्ध है, अत· उनका चाहे कितना ही दमन किया जाय, वे अपना प्रतिवर्तन प्रदर्शित किये बिना नही रह सकती। फ्रायड की तो धारणा है कि यदि उनके निर्गमन का कोई उपाय न रहे तो मनुष्य की विक्षिप्तावस्था की प्राप्ति मे कोई सन्देह ही न रहे। अत· वह चेतन मन की दमित कामनाओ का सब्लीमेशन आवश्यक समझता है और यही उसकी यह धारणा पुन प्रतिष्ठित हो जाती है कि कला और सस्कृति मनुष्य के अवचेतन मन का उदात्तीकृत अभिव्यजन है, जिसकी मूल प्रेरणा हमारी कुण्ठित काम-वासनाएँ है। वह तो यहाँ तक मान कर चलता है कि कला जीवन के सघर्ष से पलायन है और उसके क्षेत्र मे कुण्ठित काम-चेतना ही प्रतीको के रूप मे अभिव्यक्त होती है, जिसका प्रसार हम स्वप्न, काव्य-कल्पना और कला-कृतियो के छाया-चित्रो मे देखते है। और तो और, वह कला का नैतिकता, आदर्श और लोकमगल से भी कोई सम्बन्ध स्वीकार नही करता। वह काम की मूल-ग्रन्थि के विकास मे आत्म-सम्मोह, मातृरति और विजातीय रति इन तीनो की स्थिति स्वीकार कर यही प्रतिपादित करता है कि हमारे जीवन की मूल प्रेरणा कामवासना या यौन सम्बन्ध है और ज्यो-ज्यो सामाजिक नैतिकता ने उसका दमन किया है, वह अवचेतन मन की अनेक मानसिक ग्रन्थियो मे कुण्ठित होकर कला-निर्माण, स्वप्नसृष्टि, दैनिक जीवन के प्रमाद और विक्षेप आदि के रूप मे अपनी अभिव्यक्ति करती आई है। हाँ, यह बात अवश्य है कि जो विशेष श्रेणी के प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति है, वे उन्हे कला-कृतियो के रूप मे अमर और सर्वग्राह्य बना देते है और शेष सामान्य प्राणी अपने-अपने स्तर के अनुसार उसे आत्माभिव्यजन प्रदान करते है। इस प्रकार

फ्रायड का यह सारा मनोविश्लेषण कामवासना की मल भित्ति पर आधारित है, जिसने अपने समय मे निश्चित ही एक महान् क्रान्ति की थी और जिसके प्रभाव से आज भी साहित्य-ससार पूर्णतया मुक्त नही हो सका है।

मानव-स्वभाव और साहित्य-सृष्टि

६ फ्रायड का मनोविश्लेषण-शास्त्र प्रसारकालीन साहित्य-समालोचना का एक प्रमुख आधार है। उसके द्वारा रचनात्मक साहित्य की मूल-प्रेरणा का विवेचन तो किया ही जाता है, किन्तु साथ ही साथ रचनाकार की मन स्थिति भी स्पष्ट की जाती है। फ्रायड ने अपने मनोविश्लेषण-शास्त्र मे मनुष्य-स्वभाव को तीन भागो मे विभक्त किया है, जो मौलिक, गुदा-सम्बन्धी और जनेन्द्रिय-सम्बन्धी स्वभाव कहे जा सकते है। फ्रायड की मान्यता है कि मनुष्य के जीवन मे काम-प्रवृत्ति का उदय केवल उसके यौवन मे ही नही होता, अपितु उसकी उत्पत्ति बच्चे के जन्म के कुछ ही दिनो के उपरान्त हो जाती है। वह स्तनपायी शिशु मे भी काम की लिंग-मूलकता सिद्ध करता हुआ उसके मौलिक स्वभाव का आभास उस क्रिया मे पाता है, जिसमे वह माता का दूध चूसने मे एक प्रकार के आनन्द का अनुभव करता है। इसी प्रकार गुदा-सम्बन्धी स्वभाव का आभास उसे बालक के मल-त्याग की क्रिया के आनन्द मे मिलता है, जो उसके विचार से क्रमश विकसित होकर यौवन के आने पर जनेन्द्रिय मे सकेन्द्रित हो जाता है। इन तीन प्रकार की स्वभाव-प्रक्रियाओ को लेकर फ्रायड ने इस विषय का विशद विवेचन किया है कि किन-किन स्वभावो के कारण मनुष्य मे आशावादिता, अधीरता अशाति, सौन्दर्य-प्रियता, सामाजिकता, पलायनवादिता और कल्पना-शीलता आदि गुणो का प्रादुर्भाव होता है। फ्रायड का इस प्रकार कामवृत्ति को जीवन का मूल उत्स स्वीकार कर मानव-स्वभाव-निर्माण-विषयक विवेचन अत्यन्त कौतूहलवर्द्धक है और ऐसा प्रतीत होता है कि उसने शरीर-विज्ञान के स्थूल उपकरणो की भाँति मानव-जीवन को भी एक यान्त्रिक क्रिया से मापना चाहा है। ऐसा करते हुए फ्रायड ने मनुष्य की व्यापक सवेदना और आत्मानुभूति की नाप-जोख सर्वथा भौतिक दृष्टिकोण से करने का प्रयत्न किया है और उसकी यह प्रक्रिया मनुष्य को एक ऐसी आदिम अवस्था (पशुजन्य जीवन) के निकट लाकर रख देती है, जिसमे सस्कृति, नैतिकता और आचार-शास्त्र का कोई स्थान नही है। सच तो यह है कि केवल मौलिक, गुदा और जनेन्द्रिय सम्बन्धी स्वभावो से मानव-हृदय की गम्भीरता और व्यापकता की थाह लेना और उसे अलग-अलग चौखटो मे बन्द करना एक प्रकार से उपहासास्पद प्रयास ही है। वस्तुतः फ्रायड एक शारीरिक चिकित्सक था और वह मानसिक रोगो का निदान करता हुआ उनका प्रयोग साहित्य और कला के क्षेत्र मे भी करने के लिए उद्यत हो गया था। माना कि उसका निरूपण सर्वथा मिथ्याभाव पर आधारित नही है, किन्तु केवल यही आज की समीक्षा की एकमात्र कसौटी हो सकती है, ऐसा समझना न्यायसगत नही कहा जा सकता। नवीनता की झोक मे बहने वाली प्रसार-कालीन समालोचना का एक पक्ष फ्रायडवादी विचारधारा का पक्ष-समर्थन कर रचनात्मक और विचारात्मक क्षेत्रो मे जिस विशृखलता का सृजन कर रहा है वह स्थायी, साहित्य के लोक-कल्याणकारी स्वरूप के अनुकूल नही है। निस्सन्देह यह विवेचन एक प्रकार से मनुष्य को पशु मान कर ही चलता है, तभी तो उसे मनुष्य की सीमा केवल मन की अवचेतन स्थिति में ही केन्द्रित दिखलाई पडती है और वह आत्मा की उस अनन्त शक्ति तथा गुण-प्रवृत्ति की और ध्यान नही दे पाता, जिसमे उसे सर्वथा निर्मल और सात्विक माना गया है। कुछ भी हो, फ्रायड की यह विचार-धारा कम-से-कम भारतीय साहित्य की आदर्शवादी परम्परा के साथ तो न्याय करने में सर्वथा अनुपयुक्त ही कही जायगी।

फ्रायडीय अन्तर्मन और भारतीय काम-चर्या

७. फ्रायड ने जिस अन्तर्मन का विश्लेषण कर काम-वासना को साहित्य की मूल प्रेरणा निर्धारित किया है, उसका अत्यन्त सात्विक और उदात्त स्वरूप भारतीय साहित्य मे भी उपलब्ध है, जिसका आधार हमारा नैतिक और सास्कृतिक जीवन कहा जा सकता है। हमारे साहित्य-शास्त्र और दर्शन-ग्रन्थो मे भी 'काम' को जीवन मे धर्म, अर्थ और मोक्ष के समकक्ष स्थान दिया गया है जिससे स्पष्ट है कि वह भी जीवन की एक अनिवार्य फल-प्राप्ति के अन्तर्गत समाविष्ट है। वस्तुतः उसकी प्रेरणा को सृजन का मूलाधार मान कर हमारे आचार्यो ने उसका संस्तव भी कम नही किया है। अन्यान्य साहित्य की भाँति भारतीय साहित्य मे भी शृंगार-रस का जो बाहुल्य रहा है वह साहित्य के प्रमुख ध्येय आनन्द की अलौकिकता का लौकिक भावना मे ही अभिव्यंजन है। शृगार को रसराज कह कर उसकी प्रक्रिया मे समस्त रसो को ग्रहण करने का आग्रह इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। सच तो यह है कि आचार्यो के विश्लेषण मे प्रयुक्त माधुर्य, कान्ति, कोमलता और सरसता आदि गुण सौन्दर्य की मूल-भावना कामवृत्ति से ही सम्पृक्त है और साहित्य को कान्तासम्मित उपदेश कहने मे भी उसी वृत्ति का परिगुम्फन है। वामन ने तो स्पष्ट शब्दो मे 'कामोपचार बहुल-हि वस्तु काव्यस्य'' कह कर इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। भगवान श्रीकृष्ण ने भी गीता मे अपने आपको 'धर्माविरुद्ध कामोऽस्मि' कहा है। इतना ही नही, अन्य रसो के समर्थक भी अवान्तर-प्रक्रिया मे शृगार का ही समर्थन करते है। ऐसी परिस्थिति मे यह स्वतः सिद्ध है कि भारतीय विचारको की दृष्टि मे इस बात का तत्त्व-चिन्तन आने से नही बच सका था कि काम जीवन की मूल वृत्ति है और उसकी रति-भावना अन्यान्य क्षेत्रो की भाँति साहित्य-सर्जना के क्षेत्र मे भी अपना अपेक्षित महत्त्व रखती है। हाँ, यह बात दूसरी है कि फ्रायड ने जिस भौतिक प्रतिमान पर अपने मनोविश्लेषण-शास्त्र मे काम का विवेचन किया, वह आधुनिक जीवन की स्थूल दृष्टि के लिए अधिक आकर्षक था, जिसे युग की विकृति आप्त वचन मान बैठी और साहित्य-समीक्षा भी उसके प्रभाव से अनाक्रान्त नही रह सकी। कहा जा सकता है कि आदर्शनिष्ठ आचारवादियो ने जहाँ साहित्य को नीति और उपदेश की कारा मे यंत्रणा-ग्रस्त कर उसके स्वतत्र व्यक्तित्व पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगा दिया तो अन्तश्चेतनावादियो ने उसे अवचेतन मन की घुटन कह कर उसके ऊर्ध्वगामी चेतन के प्रति विद्रोह का प्रदर्शन किया। इस प्रकार दोनों श्रेणी के विचारको ने अपनी-अपनी मान्यताओ के अनुरूप वास्तविक सत्यानुसन्धान का पथ त्याग कर अपनी अतिरेकता मे साहित्य के प्रयोजन को ऐसी एकागिता पर पहुँचा दिया जिसमे उन दोनो के लिए समझौते के अवकाश बहुत कम रह गये।

एडलर् का सिद्धान्त और हीनता-ग्रन्थि

८. फ्रायड के अतिरिक्त उसके शिष्य एडलर और जुग ने भी मनोविश्लेषण-शास्त्र को लेकर उसका सगठन साहित्य और कलाओ के निर्माण के मूल में विवेचित किया है जो 'साइको अनालिसिस' न कहला कर क्रमशः 'इंडिविजुएल साइकोलोजी' तथा 'एनालेटिकल साइकोलोजी' कहलाते हैं। इस प्रकार के भिन्न नामकरण का कारण यह है कि जब फ्रायड का अपने इन दोनो शिष्यो से विरोध हो गया तो उसने उनसे साइको अनालिसिस का नाम अपने लिए सुरक्षित रखते हुए नवीन नामकरण करने का अनुरोध किया। एडलर फ्रायड का शिष्य होने के साथ-साथ उसका सहयोगी भी था और शनै शनै उसकी मान्यता फ्रायड से भिन्न कोटि की बन गई थी। उसने फ्रायड द्वारा प्रतिपादित 'लिबिडो' को काममूलक शक्ति मानने वाले सिद्धान्त का विरोध किया है। वह अपने मनोविज्ञान मे सैक्स को कोई महत्त्व नही देता और इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करता है कि 'व्यक्ति की विशिष्ट पारिवारिक अथवा सामाजिक परिस्थितियाँ ही उसकी विशिष्ट मानसिकता के निर्माण

का कारण होती है।' उसके मतानुसार नैसर्गिक रूप से प्रत्येक मनुष्य की यह इच्छा रहती है कि वह दूसरो पर विजय प्राप्त कर अपने आप को श्रेष्ठ सिद्ध करे और सर्वशक्तिमान बनने का प्रयास करे। अन्य व्यक्तियो से अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने की वासना उसमे स्वभावगत है। यदि मनुष्य मे किसी क्षेत्र मे आत्महीनता का भाव भी है, तो वह उसकी पूर्ति किसी अन्य शक्ति का विकास करते हुए करना चाहता है। एडलर के मतानुसार दूसरो पर अपनी सत्ता स्थापित करने की यह भावना मनुष्य मे बाल्यकाल से ही पाई जाती है। उसने अपने विवेचन के क्रम मे यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि बाल्यकाल ही से लेकर व्यक्ति किस प्रकार किन-किन रूपो मे अपनी प्रभु-सत्ता की स्थापना करना चाहता है। जिस प्रकार फ्रायड प्रत्येक मानसिक विकृति के मूल मे दमित काम-कुण्ठाओ को स्वीकार करता है, उसी प्रकार एडलर मानसिक वृत्तियो का मूल कारण दमित विजय-कामनाओ को मानता है। उसका कहना है कि हीनता-ग्रन्थि (इन्फीरिअरिटी काम्पलैक्स) सभी मनुष्यो मे पाई जाती है, जिसके कारण मनुष्य की जीवन-दृष्टि का निर्माण होता है। एडलर के मतानुसार कला-निर्माण और साहित्य-सृजन के मूल मे भी इसी आत्महीनता की भावना से निस्तार पाने की प्रवृत्ति है। उसका विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को समाज, व्यवसाय और प्रेमचर्या के अनुकूल बनाना चाहता है, जिसके मार्ग मे उसकी शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ अनेक बार अवरोधमूलक बन जाती हैं। उसके मतानुसार यदि व्यक्तियो को अपने विकास के लिये अनुकूल वातावरण मिलता रहे तब तो किसी प्रकार की आत्मकुठा का कोई अवकाश ही नही रहता, किन्तु अनेक बार सामाजिक प्रतिबन्ध उसकी उन्नति के मार्ग मे बाधक बन कर उसके मानस मे आत्महीनता उत्पन्न कर देते हैं। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति के मानस मे प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है और यह प्रतिक्रिया मानसिक क्षतिपूर्ति के लिए उसमे उदात्तता या उच्चता का प्रादुर्भाव करती है। साधारण व्यक्ति का मानस भी ऐसे भावो से सपीडित रहता है, किन्तु समाज के भय से वह अपनी उच्चता की भावजन्य क्रियाओं का प्रकटीकरण नही कर पाता। साहित्यकार अथवा कला-स्रष्टा के मार्ग में इस प्रकार की कोई बाधा नही आती, क्योकि वह अपनी मानसिक क्षतिपूर्ति के लिए एक ऐसे कल्पनाशील लोक का निर्माण कर लेता है, जिसमे उसे अपने अतृप्त प्रेम, दलित सम्मान और कुठित शक्ति की क्षतिपूर्ति का क्षेत्र मिल जाता है और जिसकी अभिव्यजना अपनी प्रातिभिक योग्यता से सर्वग्राह्य आनन्द का भी विधान करने मे समर्थ हो जाती है। इस प्रकार एडलर के मतानुसार कला-सृष्टि व्यक्ति की आत्म-हीनता की मानसिक क्षतिपूर्ति है। उसके अनुसार जिन लोगों मे इस प्रकार की क्षमता नही होती, वे अपने स्नायविक व्यतिक्रम के कारण विक्षिप्त भी हो सकते हैं। सक्षेप में कहा जा सकता है कि 'हीनता का बोध,' 'उससे उद्भूत क्षतिपूर्ति की आकाक्षा' तथा 'उस आकाक्षा को मूर्त बनाने के लिए शक्ति-सचयन की प्रवृत्तियाँ' ये तीन बाते ही एडलर के मनोविज्ञान की आधार-शिलाएँ है।

जुंग की मान्यता और उसका उदात्त पक्ष

९. जुग भी फ्रायड का शिष्य और सहयोगी था, जिसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण फ्रायड के मनोविश्लेषण-शास्त्र से अधिक व्यापक और गम्भीर है। उसने मानसिक स्वभावों का वर्णन अधिक विस्तारपूर्वक किया है। उसने मन की मुख्य चार क्रियाएँ ज्ञानात्मक, भावात्मक, अन्तराव-बोधात्मक और सवेदनात्मक मानी है, जिनके अनुसार मनुष्य का स्वभाव भी चार प्रकार का होता है। उन चारो स्वभावो को अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी वृत्तियो मे श्रेणीबद्ध करने से उनके आठ भेद हो जाते हैं। इन समस्त स्वभावों का व्यापक विश्लेषण करते हुए जुग ने बतलाया है कि इनके कारण मनुष्य में किस प्रकार स्वच्छन्दवादिता, सौन्दर्यप्रियता, सत्यानुरागिता, सहृदयता आदि गुणों का सचार होता है। जुग ने अपने वर्गीकरण को अधिकाधिक वैज्ञानिक बनाते हुए अपने सिद्धान्त को

ऐसी व्यवस्था मे प्रस्तुत करने की चेष्टा की है जिसके अनुसार कलाकार अथवा सृजनशील प्रतिभा वाले व्यक्ति का मानसिक विकास सुविधापूर्वक समझा जा सकता है। इसमे कोई सन्देह नही कि जुग ने अपने विश्लेषण को अधिक से अधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है किन्तु उसके वर्गीकरण मे भी मनुष्य-स्वभाव की सत्ता और इच्छा को सकेन्द्रित किया जाना सम्भव नही है क्योकि मानव-स्वभाव अनन्त संवेदनाओ से आपूरित है और उनके स्पन्दन को इस प्रकार के स्थूल विभाजन मे परिसीमित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार मानवीय स्वभाव को अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्रवृत्तियो की श्रेणियो मे भी किसी निश्चित नियम के अनुसार आबद्ध नही किया जा सकता, क्योकि ये दोनो विभेद भी केवल औपचारिक है। अत सभी दृष्टियो से जुग का विश्लेषण भी यथेष्ट महत्त्वशाली होते हुए भी अपूर्ण-सा प्रतीत होने लगता है। फिर भी यह बात अवश्य है कि जुग ने फ्रायड और एडलर की अपेक्षा अन्तर्वृत्तियो का विश्लेषण अधिक व्यापकता से किया है और वह फ्रायड की भाँति अचेतन मन को दमित वासनाओ का आगार मानता हुआ भी एक ऐसे समष्टि मन की भी कल्पना करता है जिसका दमित भावनाओ से कोई सम्बन्ध नही है। इस प्रकार जुग के मतानुसार अचेतन मन के भी दो स्तर है जिन्हे वैयक्तिक अचेतन और समस्त अचेतन कहा जा सकता है। वैयक्तिक अचेतन मन मे हमारी मूल और नैसर्गिक दमित वासनाओ का कोष रहता हैं, किन्तु समस्त मन के स्तर मे हमारे सौन्दर्य-प्रेम, नैतिकता और अन्य मानवीय स्वभाव की विशेषताओ की समष्टि होती है। जुग की मान्यताओ मे उसी मनुष्य का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से विकसित कहा जा सकता है, जो अपने वैयक्तिक और समष्टिगत अचेतन मन मे समन्वय स्थापित कर सके। ऐसा होने पर ही मनुष्य की प्रतिभा को अधिक से अधिक निखरने का अवसर मिलता है, और सच तो यह है कि हमारे समष्टि मन की अचेतनता ही हमे दैविक और आध्यात्मिक प्रेरणाएँ प्रदान करने का आधार बनती है। इस प्रकार जुग के मत से साहित्य-सृजन की मूल प्रेरणा केवल अभुक्त काम-कुण्ठाओ का ही उदात्तीकृत विस्फोट नही, अपितु समष्टि मन की अवचेतन गति है, जो दमित वासनाओ को ही व्यक्त न कर आदर्श का भी सस्थापन करती है।

साहित्यालोचन में मनोविश्लेषण-शास्त्र का प्रवेश और प्रभाव

१० फ्रायड, एडलर और जुग के मनोविश्लेषण-शास्त्र का जो पूर्व पृष्ठो मे सामान्य परिचय दिया गया, उसका सर्वप्रथम प्रयोग किसी समय पश्चिमी समीक्षा-शास्त्र मे अत्यधिक विस्तृत रूप मे हुआ था। अनेष्टि जेम्स ने हैम्लेट का मनोविश्लेषण करते हुए यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि वह अपनी एडीपस नामक ग्रन्थि की क्रियाशीलता के कारण ही किंकर्तव्यविमूढ बना रहा। इसी प्रकार डॉक्टर समरसेट ने भी अपनी आलोचना पुस्तक 'मेडनेस इन शेक्सपीरियन ट्रेजेडी' मे शेक्सपीयर के पात्रो का मनोविश्लेषण इन्ही प्रतिमानो को अपना आधार बनाकर किया है। इन विश्लेषणो का मूल आशय यही था कि किसी भी कृति की समीक्षा करने के पूर्व उसमे प्रयुक्त पात्रो के चरित्र-निर्माण की उन अवस्थाओ का ज्ञान कर लेना चाहिए, जिनके कारण उनका मानसिक विकास हुआ था। हर्बर्ट रीड ने तो अपनी मनोवैज्ञानिक समालोचनाओ मे रचनाकार की मानसिक संस्थिति का क्रियात्मक अभिव्यजन ही उनकी कृतियो के रूप मे सिद्ध किया है। इन मनोविश्लेषक समीक्षको ने नैतिकता, आदर्श तथा सुरुचि को सर्वथा उपेक्षणीय समझ कर केवल आन्तरिक यथार्थ के नाम पर कृति अथवा उसमे प्रयुक्त पात्रो का मनोविश्लेषण किया है। साथ ही साथ उनका एक उद्देश्य यह भी रहा है कि समालोच्य कृति का सम्बन्ध कृतिकार के मस्तिष्क से अवश्यमेव स्थापित करने की चेष्टा की जाय जिससे उसकी अन्तश्चेतना का बोध हो सके। पश्चिमी साहित्य-शास्त्र के अनुकरण पर हमारी आधुनिक समीक्षा के प्रसार-काल मे भी इस-प्रकार की प्रवृत्ति ने यथेष्ट स्थान बना लिया है और कुछ क्षेत्रो मे तो ऐसा समझा जाने लगा है कि यदि कोई समालोचक

अपनी समीक्षा मे मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि लेकर न चले तो वह कदापि पूर्ण और वैज्ञानिक नही कही जा सकती। इस प्रकार की प्रवृत्ति का प्रभाव काव्य की अपेक्षा कथा-साहित्य तथा गद्य-कृतियो के निर्माण तथा विश्लेषण मे अधिक देखा जाता है। अनेक बार तो ऐसा भी हुआ है कि नवीनता की ओर आकृष्ट बने हुए हमारे मनोविश्लेषणवादी समालोचको ने भारतीय साहित्य के विवेचन मे भी अपनी फ्रायडवादी मान्यताएँ घटित करने की चेष्टा की है जिससे भारतीय साहित्य की आदर्शनिष्ठा को यथेष्ट धक्का लगा है। ऐसा करते हुए उन्होने इस बात की ओर बहुत कम ध्यान दिया है कि प्रत्येक देश तथा उसके साहित्य की एक सास्कृतिक परम्परा होती है जिसको आधारशिला बना कर चलने से ही समीक्षा के भव्य दायित्व का निर्वाह हो सकता है।

११. प्रसार-कालीन समालोचना की इस मुख्य प्रवृत्ति पर फ्रायड, एडलर और जुग के मनोविश्लेषण-शास्त्र का तो इतना अधिक प्रभाव है कि उसके नाम पर साहित्य के उद्देश्य, निर्माण तथा प्रयोजन के सम्बन्ध मे ऐसी अनेक तर्कनाएँ उपस्थित की जाती हैं जिनका प्रमुख लक्ष्य साहित्य को अभुक्त काम-वासनाओ का विस्फोट सिद्ध करना होता है। इन समालोचको की दृष्टि मे साहित्यालोचन का यह एक ऐसा मौलिक और मनोवैज्ञानिक प्रतिमान है जिसका सम्बन्ध हमारे जीवन की यथार्थ और मूल वृत्तियो से बहुत अधिक है और जिसके द्वारा किसी भी देश का साहित्य एक व्यवस्थित विधि मे समीक्षित हो सकता है। कहने की आवश्यकता नही कि उनकी यह मान्यता निस्सन्देह पक्षपातपूर्ण और अवैज्ञानिक है। जिन भारतीय महर्षियो ने मानस-शास्त्र को अपनी दार्शनिक विवेचना का आधार बना कर आत्मचिन्तन के बल पर प्रकृति, पुरुष तथा आत्मा के सम्बन्ध मे तात्विक विश्लेषण किया था, वे मानस-विकृतियो को भी स्पष्ट कर सकते थे, किन्तु उन्हे उसमे जीवन का वह उदात्त पक्ष अभिव्यक्त होता हुआ नही प्रतीत हुआ जो हमे प्रेय से श्रेय की ओर ले जाने वाला हो। यही कारण है कि उन्होने इस विषय की उपेक्षा की और अपने विवेचन को आदर्शवाद की ओर ही उन्मुख रखा। यहाँ के मनीषियो का सिद्धान्त तो 'सा विद्या या विमुक्तये' था, अतः वे इस प्रकार के प्रवचनापूर्ण बन्धन के फेर मे बिलकुल नहीं पडे। यदि उन्होने जीवन के प्रमुख लक्ष्य चतुर्फलो के अन्तर्गत काम का विवेचन भी किया तो उसे बहुत ही उदात्त और आदर्शनिष्ठ स्वरूप मे रखा। इस विवेचन से स्पष्ट है कि हमारे मनीषियो की जीवन-दृष्टि भौतिकवादी पश्चिमी जगत् से सर्वथा भिन्न थी, अत उनके मूलवर्ती भावो की उपेक्षा कर उनकी साहित्य-परम्परा को इस नवीन प्रणाली की समीक्षा-पद्धति से विवेचित करना कहाँ तक समीचीन है, यह साहित्य-मनीषियो के लिए गम्भीर विवेचना का विषय है। यदि फ्रायडवादी विचारधारा से भारतीय साहित्य का समीक्षण किया जाय तो हमे अपने तपःपूत महर्षियो को उनके निर्लिप्त तथा त्यागमय जीवन के पवित्र आसन से हटा कर ऐसी श्रेणी मे लाकर रखना होगा जहाँ उनकी सारी साहित्य-सर्जना अभुक्त काम-वासनाओ का विस्फोट सिद्ध की जायगी। इसमें कोई सन्देह नही कि हमारे साहित्य मे भी शृंगार को रसराजत्व मिला, किन्तु वह विकृत न होकर विशुद्ध कलात्मक विधान मे ही था। यहाँ के साहित्यकारो ने सीताराम, राधाकृष्ण आदि के जीवन का जो सौन्दर्यमय चित्रण किया है, उसके मूल मे उनकी आदर्श-दृष्टि कही पर भी खण्डित नही हुई है। यदि ऐसा होता तो रामायण तथा महाभारत का आज भी हमारे सास्कृतिक तथा धार्मिक जीवन में इतना महत्त्व नही होता। अभिप्राय यह है कि फ्रायडवादी समीक्षा का हिन्दी-समालोचना-क्षेत्र मे प्रवेश भले ही एक नवीन घटना समझ ली जाय किन्तु उसका समन्वय सनातन रूप से चले आए भारतीय साहित्य के साथ नही किया जा सकता। वैसे तो हमारे यहाँ भी साहित्य-सृजन की मूल प्रेरणा 'स्वात· सुखाय' भावना मानी गई है, किन्तु वह मानसिक कुण्ठा अथवा घुटन का विस्फोट न होकर मन की ऐसी उल्लासमयी भावनाओ का अभिव्यंजन है जो कवि का स्वार्थपूर्ण छद्म वेश न होकर उसका ऐसा आत्म-प्रसार है जो हृदय के फफोले फोडने तक ही सीमित नही है, अपितु जिसकी अन्तर्दृष्टि विश्व-

कल्याण की भावनाओ से ओत-प्रोत है। अभिप्राय यह है कि भारतीय-साहित्य के विवेचन मे फ्रायड तथा एडलरवादी मनोविश्लेषण का प्रयोग असफल ही माना जायगा और जिन साहित्यकारो के जीवन मे यह सिद्धान्त घटित होता है वे भारतीयता के उस स्वप्न से दूर हटे हुए साधक ही माने जायेगे जिसमे जनकल्याण की उद्भावना मुखरित रहती है।

काव्य-सृजन-विषयक मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि और उसकी सीमाएँ

१२ मनोविश्लेषणवादी समालोचक काव्य-सृजन की प्रेरणा अन्तर्मन की अवचेतन अवस्था से मान कर चलते है, जिसके अनुसार उनकी विचारधारा में सामाजिक परिवेश का महत्त्व नही के बराबर है। उनकी इस प्रकार की मान्यता निश्चय ही उनके एकागी दृष्टिकोण की निर्देशिका है। बात यह है कि साहित्य हमारे मानस-लोक का उद्भव अवश्य है, किन्तु उसे ऐकान्तिक अर्थ मे केवल वैयक्तिक कुण्ठा मे ही सकीर्ण समझ बैठना उसके लोकमगलविधायक महत्त्व की उपेक्षा करना है। हमारे भारतीय साहित्य मे साहित्य के प्रयोजन को लेकर जो विवेचन हुआ है, वह यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, शिवेतरक्षय, सद्यपरनिवृत्ति और कान्तासम्मित उपदेश के जिन उपकरणो से व्याप्त है, उनमे केवल साहित्यकार की अन्तश्चेतना की ही एकात अभिव्यक्ति ही नही, अपितु उसका सम्बन्ध वाह्य परिवेश से भी है। माना कि साहित्य की मूल प्रेरणा आत्मानुभूति और आत्माभिव्यंजना है, किन्तु वह आत्मभिव्यजना केवल अपने अन्तर्मन की घुटन तक ही परिसीमित नही समझी जा सकती। मेरी दृष्टि मे साहित्य-निर्माण के उस पक्ष को सर्वथा नगण्य नही समझा जा सकता जो साहित्यकार के मानस-निर्माण मे सहयोगी बन कर उपस्थित होता है। अतः मनोविश्लेषणवादी अथवा अन्तश्चेतनावादी साहित्य-समालोचको का दृष्टिकोण अपनी एकागिता मे अप्रकट नही है। अन्ततः अन्तश्चेतनावादी साहित्यकार जिस मनोविश्लेषणशास्त्र को आधार बना कर साहित्य-चिन्ता का विवेचन करते है, वह कोई आकस्मिक अथवा अलौकिक सृजन न होकर अपनी युग-परिस्थिति से भी सम्बन्धित रहता है। गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर इस तथ्य के प्रतिपादन मे कोई शका नही होनी चाहिए कि साहित्य की सर्जना अपनी युग-दृष्टि की उपेक्षा कर नही चल सकती और महान् से महान् साहित्य-स्रष्टा को भी अपनी युगवाणी को स्वर देना ही पडता है जो चाहे युग-जीवन तक ही सिमट कर रह जाय या उसके माध्यम से चिरन्तन सत्य का आलोक विकीर्ण करे। विश्व-साहित्य के महान् स्रष्टा वाल्मीकि, कालिदास, शेक्सपीयर, तुलसी और आधुनिक काल मे रवीन्द्र और प्रसाद आदि सभी काव्यकारो की कृतियो से इस युगकालीन स्वर का सकेत अवश्य ही ध्वनित किया जा सकता है, भले ही वे अपनी चिरतनता के कारण उससे आगे बढ गये हो। इमे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि महान् प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार भी अपनी युगध्वनि का प्रभाव ग्रहण करते हुए चलते है, किन्तु उनका सास्कृतिक विधान उन्हे व्यापक स्वरूप प्रदान करने मे समर्थ होता है। इस प्रकार अन्तश्चेतनावादी समालोचको का ऐकान्तिक दृष्टिकोण साहित्य के समन्वयपूर्ण स्वरूप का विवेचन करने मे अपूर्ण और सकुचित ही सिद्ध होता है।

१३ मनोविश्लेषण शास्त्र की अन्तश्चेतनमयी प्रवृत्ति मे साहित्य-समालोचना को ग्रहण करने मे एक कठिनाई यह भी होती है कि इसके समर्थक समालोचक जिन स्थूल उपादानो पर मानव-मन का विश्लेषण करते है, वह केवल उसके ऊपरी सतह को ही छूकर रह जाता है। बात यह है कि मानव-मन की अज्ञात चेतना कोई ऐसा सामान्य विषय नही है, जिसका वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सके। फ्रायड, एडलर, और जुग आदि पाश्चात्य मनोविश्लेषणवादियो ने उसका जो कुछ विवेचन किया है, वह केवल सत्योपलब्धि का प्रयासमात्र है, पूर्ण सत्य का निदर्शन नही। फिर उसमे एकागिता और दुराग्रहिता भी तो बहुत है। दिन-प्रति दिन विकासोन्मुख होने वाला मानवीय व्यक्तित्व और अत प्रकृति का विश्लेषण उसकी अपूर्णता का आभास देता रहता है। परिस्थिति

तो यहा तक परिवर्तित हो गई है कि जो समालोचक आज से कुछ वर्ष पूर्व फ्रायड को आधुनिक युग का महान् महर्षि कह कर उसके सिद्धान्तो को आप्त-वाक्य के समान ग्रहण करते थे, वे ही आज उसकी मान्यता को शका की दृष्टि से देखने लगे है। वस्तुत फ्रायड का मानसिक मनोविश्लेषण जड़वादी अधिक है और उसमे आध्यात्मिक चेतना के उच्च धरातल के स्थान पर अवचेतन मन की विकृतियो का अधिक आग्रह है। पश्चिमी देशो के भौतिकवादी साहित्य-स्रष्टाओ के मानसिक सृजन में यह भले ही सघटित किया जा सके, किन्तु भारतीय आदर्श के अनुकूल या उससे सामजस्य स्थापित किया ही नही जा सकता। ऐसी परिस्थिति मे साहित्य समालोचना के क्षेत्र मे उसको अधिक तूल देना कदाचित् ही विशेष शोभनीय प्रयास कहा जा सके। फ्रायडवादी विचारधारा की प्रबलता के कारण साहित्य-निर्माण के क्षेत्र मे नवीन यथार्थवाद के नाम पर जो अनेक प्रकार की दुर्भावनाएँ प्रविष्ट हो रही है, उनका प्रत्यक्ष स्वरूप आज के कथा-साहित्य और काव्य-सृजन मे देखा जा सकता है। वस्तुत साहित्यादर्श का यह स्वस्थ लक्षण नही है अत आज की एक बडी आवश्यकता यह भी है कि रचनात्मक साहित्य-विधान मे जो कल्मष एकत्र हो रहा है, उसका नियमन और विध्वंस करने के लिए भी समालोचना को नवीन दिशा की ओर मोडा जाय। स्पष्ट है कि आधुनिक फ्रायडवादी समालोचको के पास उस अन्तर्दृष्टि का अभाव है और वह अन्तर्दृष्टि केवल भारतीय आदर्शों को ग्रहण करके ही प्राप्त की जा सकती है।

मनोविश्लेषणवाद और यथार्थ भावना

१४. मनोविश्लेषणवादी समालोचना का एक प्रमुख पक्ष उसका यथार्थवादी दृष्टिकोण भी है। इसके समर्थक साहित्य की सामाजिक उपयोगिता को तो तिरस्कृत करते ही है, किन्तु उसी के साथ साथ उसका सम्बन्ध व्यक्ति की मानसिक कुठाओ अथवा दमित वृत्तियों से जोड कर यथार्थवाद को अत्यन्त विकृत रूप में उपस्थित करते है। उनकी मान्यताओं का ही यह प्रतिफल है कि यथार्थ का भव्य स्वरूप अनेक बार सामाजिक आदर्शों और सवेदनात्मक कल्पनाओं से तिरस्कृत होकर केवल वासनाओ के विस्फोट मे ही विकलाग बना दिया जाता है। इसका मूर्तिमान निदर्शन मनोविश्लेषणवाद के घेरे मे लिखा जाने वाला आज का रचनात्मक और समालोचनात्मक साहित्य है। चूंकि इन अन्तश्चेतनावादी यथार्थद्रष्टाओ के विधान मे सामाजिक आदर्शों और मानवीय स्वभाव की महती आस्थाओ का कोई मूल्य नही है, अंत वे साहित्य-समालोचन के माध्यम से जी भर कर यथार्थवादी चित्रण के नाम पर अपनी मानसिक रुग्णता व्यक्त करते हैं। उनका विवेचन साहित्यालोचन के क्षेत्र मे अनेक प्रकार की समस्याओ को भी जन्म देने का कारण बना है जिनका विस्तृत विवेचन दशम अध्याय के अन्तर्गत किया जायगा।

हीनता-ग्रन्थि और साहित्य-सृजन का सम्बन्ध

१५ शुक्लोत्तर-युग की मनोविश्लेषणवादी समीक्षा की कामवासना पर फ्रायड के अतिरिक्त एडलर की विचारधारा का भी पर्याप्त प्रभाव है। एडलर ने अपने वैयक्तिक मनोविज्ञान मे जिस आत्महीनता की ग्रन्थि और क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त का विवेचन किया है, उसे लेकर पश्चिमी समीक्षा-क्षेत्र मे तो अर्नेस्टि जेम्स, डॉ० समरसेल तथा हर्बर्ट रीड आदि विद्वानों ने अपने विवेच्य साहित्यकारों और उनकी कृतियो मे उसके द्वारा निर्धारित मानसिक तत्वो के अन्वेषण की चेष्टा की ही है, किन्तु हमारी प्रसार-कालीन समालोचना पर भी उसका प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार के सिद्धान्त की उपयुक्तता और समीचीनता सिद्ध करने के लिए हमारे अन्तश्चेतनावादी समालोचको ने छायावादी और प्रगतिवादी कवियो को अपना प्रधान लक्ष्य बनाया है। छायावादी कवियो की रचना मे इस मूल भावना का अनुसन्धान करते हुए प्रसिद्ध मनोविश्लेषण-

वादी समालोचक प० इलाचन्द्र जोशी लिखते है—

"अपनी निपट अक्षमता की पूर्ति वे केवल कल्पना-लोक मे विशेषता प्राप्त करके ही नही करते रहे है बल्कि अपनी छायामयी कल्पना को क्षुधा-तृष्णा-पीडित मर्त्य लोक से दूर और अधिक दूर ले जाने की होड आपस मे लगाते रहे है।"[१]

१६ मनोविश्लेषणवादी समालोचको का छायावादियो पर तो भयंकर आक्रोश है। उन्हे काव्य के माध्यम से इस प्रकार की क्षतिपूर्ति की चेष्टा मे समाज-हित की अल्पांशिक भावना भी नही मिलती, क्योकि वे अपनी कविता मे "हवाई लोक मे ऊंची उडान भर कर मिट्टी के पुतलो पर अपनी स्वर्गीयता की जो धाक जमाते रहे है, वह भी पहलवानो के शारीरिक विकास की तरह ही पोपली है। उससे केवल उनके अहभाव के चरम विकास का पता चलता है, इसके अतिरिक्त समाज या ससार को कोई लाभ उससे नही हो सकता।"[२] इसी प्रकार इन समालोचको को छायावादी कवियो की रचना मे केवल हीनताग्रस्त व्यक्तियो की क्षतिपूर्ति की ही स्वार्थ-भावना का अभिव्यजन मिलता है जिसका अभिप्राय यह है कि वे छायावादी अथवा रोमाण्टिक कवियो के उद्गारो को क्षतिपूर्ति के मनोवैज्ञानिक नियमो के अनुसार केवल अन्तर्जगत की छायात्मक कल्पना (फैटेसी) मानते है जिसका वास्तविक जगत से कोई सम्बन्ध नही है। इन समीक्षकों का तो स्पष्ट कहना है कि हमारे अधिकाश छायावादी कवियो ने कविता इसलिए नही की कि वे दु ख दैन्य पीडित और जीवन-ज्वर से जर्जरित मानवता को विश्व-कल्याणकारी स्वस्थ सौन्दर्य से परिचित'[३] कराना चाहते थे अपितु उन्होने इसलिए कविता लिखी कि 'वे सौन्दर्य की सहज ओट मे अपने विकृत मनोभावो को व्यक्त करके अपने भीतर के दाम्भिकताजनित स्वार्थ क्लेश-युक्त फोडो को फोडना"[४] चाहते थे। इन मनोविश्लेषणवादी समीक्षको का कल्पना और भावुकता आदि शब्दो मे केवल एक प्रकार की विकृत स्वार्थभावना और मानसिक रुग्णता का आभास मिलता है, जिसका प्रमाण उन्होने अंग्रेजी के रोमाण्टिक कवि शैली, बायरन और कीट्स आदि के वैयक्तिक जीवन की दुर्बलताओ का स्पष्टीकरण करते हुए दिया है। छायावादी कवियो मे तो उन्हे भावुकता-जनित मानसिक विकार की मात्रा बहुत अधिक मिली है जिसके कारण वे समाज को इस बात की चेतावनी देते है कि वह 'छायावादियो की स्वार्थ-प्रणोदित भावुकता की यथार्थता से परिचित होकर उसके विषमय प्रभाव से हमारे भावी वशधरो की रक्षा का प्रयत्न करे और उन्हे क्षयरोग की इस मीठी और सुरस सुकुमारता के मोह से बचा कर जीवन की कठोर वास्तविकता के साथ स्वास्थ्यपूर्ण सामजस्य स्थापित करने के लिए प्रेरित करे।"[५]

१७ जैसा कि पहले सकेत किया जा चुका है कि मनोविश्लेषणवादी समालोचक छायावाद के परवर्ती प्रगतिवाद पर भी एडलर के क्षतिपूर्ति वाले सिद्धान्त की झलक देखते हैं। यद्यपि उनका प्रगतिवाद के मूल सिद्धान्तो से कोई विरोध नही है, किन्तु उन्होने उसके जिस रूप मे 'छायावादियो की शून्य साधना और मृत्तिका-संग-स्पर्श विरोधी हवाई उडान की प्रतिक्रिया'[६] मानी है वह भी उनके अनुसार समाज-कल्याण की भावना से विहीन है। कहने की आवश्यकता नही कि छायावाद के अन्यतम कवि सर्व श्री निराला और पन्त ही सबसे पहले नवीन प्रगतिवाद के प्रमुख सूत्रधार बने थे, अतः उनकी काव्य-चेतना का विश्लेषण करने मे इन मनोविश्लेषक समालोचको

१ इलाचन्द्र जोशी 'विवेचना', सवत, २००५, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ५६।

२ वही, पृष्ठ ५८।

३. वही, पृष्ठ ६१

४. वही, पृष्ठ ६२

५ वही, पृष्ठ ६४।

६. वही, पृष्ठ ६५।

को एक बहुत बडा आधार मिल गया है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि 'छायावाद की छायामयी शक्ति का प्रभाव धीरे-धीरे नष्ट होते देख कर इन्होने जनता पर धौस जमाने का एक दूसरा तरीका अख्तियार किया है। मानव-प्रेम के नाम पर उन्होने अपनी इतने दिनो से दबी हुई सहज (पशु) प्रवृत्तियो को नग्न रूप देने की उन्मुक्त सुविधा पाई है। स्त्री पुरुष के द्वन्द्व-मूलक सम्बन्ध मे सुधार का बहाना पकड कर वे निर्द्वन्द्व हो उठे है।'[1] अभिप्राय यह है कि इस पद्धति के समालोचक प्रगतिवादी भावनाओ मे सामूहिक कल्याण के स्थान पर केवल इस श्रेणी के कवियो की व्यक्तिगत महत्त्वाकाक्षाओ का ही उद्गार पाते है जिनमे समाज के विरुद्ध उनकी पुरानी प्रतिहिंसा-वृत्ति ही विस्फोट का रूप धारण कर प्रकट हुई है।

मनोविश्लेषणवाद का ग्राह्य स्वरूप और सन्तुलित विधान

१८ मनोविश्लेषणवादी समालोचको ने साहित्य-सर्जना की जिन मूलभूत प्रेरणाओ का विवेचन किया है, उन्हे सास्कृतिक तथा आदर्शपरक स्वरूप मे स्वीकार करने मे कदाचित् ही किसी को आपत्ति हो। बात यह है कि जब साहित्य-निर्माण किसी न किसी व्यक्ति के ही द्वारा होता है तो उसके व्यक्तित्व का महत्त्व स्वत ही सिद्ध हो जाता है। वह भी निश्चित् है कि व्यक्तित्व केवल व्यक्ति की बाह्य आकृति मे ही परिव्याप्त नही, अपितु उसका अन्त प्रकृति से भी घनिष्ट सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति मे व्यक्तित्व की व्यापकता अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् के उभय पक्षो को लेकर चलती है और कोई भी महान् व्यक्तित्वशाली साहित्यकार अपनी कृतियो को आकार प्रदान करता है तो उसके अन्तर्गत उसके व्यक्तित्व का पर्याप्त अंश रहता है। ससार के अनेक महान् प्रतिभाशाली साहित्यकारो ने अपने सृजन-कौशल का जो विवेचन किया है, उससे भी यही ध्वनित होता है कि उनके चेतन और अचेतन मन की सध्यवस्था मे जो एक विशेष प्रकार की अलौकिक अनुभूति होती है वह उनकी रचना की प्रेरणादात्री बन कर उन्हे सृजन के लिए नैसर्गिक भाव से उन्मुख करती रही है। सर्वश्री रवीन्द्रनाथ, कीट्स, जार्ज इलियट, डिकेन्स आदि कवियो और लेखको ने अपने साहित्य-सृजन की मूलवर्ती इस अज्ञात रहस्यपूर्ण शक्ति का सकेत अपनी कृतियो मे किया है, जिसे चाहे दैवी प्रेरणा कह दिया जाए अथवा चेतनातीत प्रज्ञा। अभिप्राय यह है कि व्यक्ति अथवा साहित्य-कार के लिए सामाजिकता की उपयोगिता रहते हुए भी उसकी अन्तश्चेतना का अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व है और ऐसी परिस्थिति मे यह अनिवार्य हो जाता है कि उनका साहित्य-समीक्षण उनमे मनोविश्लेषक तथ्य का निरूपण करता चले, किन्तु उसे किसी सकीर्णकारा मे सग्रस्त करना कदापि शोभनीय प्रयास नही कहा जा सकता।

१९. मनोविश्लेषणवादी समालोचना के प्रसार से एक लाभ अवश्य हुआ वह यह कि साहित्य-सर्जना मे मानवीय व्यक्तित्व और उसकी अन्तर्प्रवृत्ति को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा। इसके समर्थक लम्बी-चौडी तर्कनाएँ प्रस्तुत कर यह सिद्ध करने लगे कि सृष्टि के आदि काल से लेकर अद्यातन युग तक मानव-समाज जिन विकास-पथों से होकर अपने साहित्य और सस्कृति का निर्माण कर सका है, उसमे उसके अवचेतन मन की अनेक अज्ञात प्रवृत्तियो का प्रस्फुकरण है। इस प्रकार की समालोचना का मुख्य प्रतिमान यही बन गया कि जिन लोगो मे मानसिक अन्तश्चेतना की अनुभूति जितनी अधिक तीव्र होती है, वे उतनी ही कुशलता से उसका मुखर प्रतिबिम्ब साहित्य में अकित कर पाते है। इस सिद्धान्त के प्रतिपोषको के मतानुसार काव्य-सृजन मे ज्ञात चेतना की अपेक्षा अज्ञात प्रेरणा का महत्त्व अधिक है और साहित्य भी मनुष्य की स्वप्नावस्था की भाँति अन्तर्मन की अनेक वृत्तियो का रासायनिक प्रतिफल है। वस्तुतः मनोविश्लेषणवादियो ने अपना

१. इलाचन्द्र जोशी 'विवेचना' प्रथम सस्करण, २००५, पृष्ठ ६५

जो तथ्य-निरूपण किया है वह सर्वथा निराधार नही है। इसका एक प्रबल प्रमाण तो यही है कि भारतीय तथा पाश्चात्य देशो के साहित्यकारो ने अपने साहित्य-सृजन की जिन प्रेरणाओ का सकेत किया है, वह स्वात सुखाय भावना मे निश्चय ही उन तत्वो के अधिक निकट है, जिनमे साहित्य को अज्ञात चेतना की असाधारण प्रज्ञा का अभिव्यजन कहा गया है। फिर भी आधुनिक मनोविश्लेषणवादियो की अपूर्णता भी अप्रकट नही है। विचारणीय प्रश्न यह है कि आधुनिक मनोविश्लेषण जिन आधारो पर मानवीय चेतना की विवेचना करता है उसमे भारतीय योग-शास्त्र के नाडी-चक्र मे सन्निविष्ट विभिन्न ज्ञान-कोषो के प्रवेश-द्वारो और इडा, पिगला, सुषुम्ना और कुण्डलिनी चक्र आदि से सम्बन्धित साधनाओ का भी कोई सयोग मिलता है या नही ? सच तो यह है कि चेतन और अवचेतन के रहस्यो का उद्घाटन जिन क्रियात्मक अनुभूतियो के बल पर भारतीय तपस्वी कर सके थे, उसकी उदात्तता की ओर उन्मुख होना आज के मनोविश्लेषणवादियो के लिए दिवा-स्वप्न मात्र है, अत उसके प्रतिमानो को साहित्य-समीक्षण की सर्वागीण रूपरेखा मे तो ग्रहण किया ही नही जा सकता।

मनोविश्लेषणवादी समीक्षा के विषय और उनका विस्तार

२० मनोविश्लेषणवाद को प्रधानता देकर चलने वाले समालोचको ने अन्यान्य विषयो पर भी समालोचनाएँ लिखी है, किन्तु उनका प्रमुख विषय आधुनिक साहित्य ही रहा है। प्रगतिवादियो की भाँति इस प्रकार के समालोचको का क्षेत्र भी पत्र-पत्रिकाओ मे अपनी समालोचनात्मक कृतियो का प्रकाशन रहा, जिसमे उन्होने सामयिक साहित्य और उसके रचयिताओ का विवेचन किया। कालान्तर मे उनके निबन्ध ही सकलित होकर पुस्तको के रूप मे प्रकाशित हो गये। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि शुक्लोत्तर-युग की सभी प्रवृत्तियो मे छायावाद और प्रगतिवाद समालोचको के विवेचन के सब से अधिक केन्द्रवर्ती विषय बन कर आये। इन समालोचको ने साहित्य, कला, कल्पना और सौन्दर्य आदि विषयो का सैद्धान्तिक निरूपण भी किया, किन्तु वह शुक्ल-युग से भिन्न कोटि का बन कर ही उपस्थित हुआ। उसमे सैद्धान्तिकता और शास्त्रीयता का उतना अधिक आग्रह नही था, जितना सामयिक जीवन की अनुभूतियो के चित्रण का। अपने पक्ष-समर्थन मे इन आलोचको ने नवीन विचारको और उनकी मान्यताओ को अधिक महत्त्व दिया। निस्सन्देह आधुनिक हिन्दी-समालोचना-क्षेत्र मे यह एक नवीन उपलब्धि थी, फिर भी यह स्वीकार करना पडेगा कि इन समालोचको द्वारा जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये, उनमे उनके उस व्यक्तित्व का वह परिष्करण नही हो सका, जिसके कारण समालोचना को एक स्वतन्त्र और मौलिक प्रतिमान मिलता है।

२१ यो तो मनोविश्लेषणवादी समालोचना मे मनोविज्ञान की तत्व-योजना सर्वत्र रहती ही है, किन्तु उसमे अन्य विषयो का भी समावेश अवश्य रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके समकालीन युग मे समालोचना-क्षेत्र के अन्तर्गत जिस प्रकार का विचार-विधान प्रमुख विवेचको द्वारा प्रस्तुत किया जाता था उसका प्रभाव उन पर भी पडता गया और वे भी लगे हाथो अपना विश्लेषण देने मे पीछे नही रहे है। कहने की आवश्यकता नही कि इस युग मे प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला, महादेवी, जैनेन्द्रकुमार और अज्ञेय आदि विवेचना के मुख्य आधार थे, अत. इस श्रेणी के समालोचको ने भी उन पर लिखा। सैद्धान्तिक विषयो के अन्तर्गत उपन्यास, कहानी, कला, सौन्दर्य और मनोविज्ञान पर ही अधिक विवेचन किया गया। चूँकि इन समालोचको मे कथाकार और उपन्यास-लेखक भी थे, अत: वे जीवन-साहित्य का विवेचन उन्ही के परिवेश मे अधिकाशत कर सके। निष्कर्ष यह है कि आधुनिक हिन्दी-समालोचना के विकास-क्रम मे इन समालोचको द्वारा जो योगदान दिया गया, वह साहित्यालोचन को प्रौढि प्रदान करने मे असमर्थ ही रहा, यही कारण

है कि मैने उसे प्रसार के रूप मे ही अधिक देखा है जिसमे गुरुता और गहनता की अपेक्षा छिछलापन ही अधिक है। हिन्दी मे मनोविश्लेषणवाद की प्रवृत्ति को लेकर चलने वाले समालोचको मे प० इलाचन्द्र जोशी और श्री अज्ञेय प्रधान है जिनकी समीक्षा-कृतियो का विश्लेषण उनका मूल्याकन-करते समय किया जायगा। यद्यपि उन्होने अपनी अभिनव मान्यताओ का निरूपण बहुत कुछ पाश्चात्य प्रेरणाओ को लेकर ही किया है, किन्तु हिन्दी-साहित्यकारो के विश्लेषण मे एक नवीन संगठन की व्यवस्था भी दी है, जो प्रसार-काल मे विशिष्ट स्थान रखती है।

(२)

प्रसारकालीन समालोचना की मार्क्सवादी प्रवृत्ति प्रगतिवादी समीक्षा

प्रगति का प्रकृत स्वरूप और उसका साहित्यगत प्रयोग

२२ आधुनिक हिन्दी समालोचना के प्रसार-काल मे छायावाद की प्रतिक्रिया मे रचनात्मक साहित्य और समालोचना की परिधि मे जिस साहित्यिक आन्दोलन ने जन्म लिया, उसे प्रगतिवाद के नाम से अभिहित किया जाता है। यह नाम इस आन्दोलन के सूत्रधारो द्वारा दिया गया है, जो अग्रेजी के 'प्रोग्रेसिव लिट्रेचर' का शब्दानुवाद-मात्र है। इस नामकरण-सस्कार का मूल कारण यही प्रतीत होता है कि इसके प्रवर्त्तक एक ओर जहाँ अपनी मान्यताओ को छायावाद स भिन्न कोटि मे प्रतिष्ठित करना चाहते थे, वहाँ दूसरी ओर वे उसे साहित्य और जीवन की विकास-शील परिस्थिति मे ग्रहण करने के आकाक्षी थे। जहाँ तक उनके छायावाद-युग के दृष्टिकोण के स्थैर्य से आगे बढने का प्रश्न है, यह आन्दोलन कई बातो मे उससे भिन्न था किन्तु उसका नाम-करण-सस्कार जिस उद्देश्य और परिस्थिति को आधार बना कर किया गया है, वह तात्विक दृष्टि से युक्तिसगत नही है। बात यह है कि प्रगति जीवन की एक शाश्वत और नैसर्गिक प्रक्रिया है, जिसका प्रतिरूप उसके बिम्बग्राही साहित्य मे बिना झलके नही रहता। अत उसे यदि किसी वाद-विशेष की कारा मे आबद्ध कर दिया जाय तो एक प्रकार से उसकी मूल प्राणशक्ति का विध्वंस और रूढि-ग्रस्तता का प्रादुर्भाव होने की अधिक सभावनाएँ हो सकती है। तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो युग और परिस्थिति के परिवर्तन से भावधाराओं और विचार-क्षेत्रो मे भी उत्क्रान्ति उपस्थित होती है और जीवन की भाँति साहित्य-सर्जना मे भी क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ अपने स्वाभाविक रूप से अस्तित्व-पूर्ण बनती है। अत यह कहना कि छायावाद की प्रतिक्रिया मे अनुसृष्ट वाद ही वस्तुत. प्रगतिवाद है, अपनी एकागिता का परिचय देना है। सच तो यह है कि प्रत्येक युग का साहित्य अपने पूर्ववर्ती युगो की समता मे प्रगतिशील होता ही है, क्योकि वह अपनी परवर्ती परिस्थितियो की भिन्नतावश जीवन को नवीन दृष्टिकोण से विवेचित करने मे सक्रिय प्रेरणा प्रदान करने का कारण बनता है। हिन्दी-साहित्य के विभिन्न कालो मे हम जिस वीरगाथा, भक्ति-भावना और रीति-परम्परा की विकासमान प्रवृत्तियाँ पाते है, वे अपने युगो मे पूर्ववर्ती युग की अपेक्षा निश्चय ही प्रगति की प्रतीक है। इसी प्रकार आधुनिक काल मे भारतेन्दु-युग का जो नव-जागरण-सन्देश साहित्य-क्षेत्र मे प्रति-ध्वनित हुआ है, वह भी रीतिकालीन काव्य-प्रवृत्तियो की प्रतिक्रिया के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ? उसका स्वरूप-संगठन अपनी विकासोन्मुखी प्रक्रिया मे तत्व-दृष्टि से प्रगति का सूचक सिद्ध होता है। भारतेन्दु-युग के परवर्ती काल द्विवेदी-युग मे हमे जिन प्रकारो मे काव्य-विषय और वर्णन-शैली के स्वरूप प्राप्त होते है, वे उन तत्वो मे अधिकाशत विकासशील है जो भारतेन्दु-युग मे अकुरित हुए थे। इसी प्रकार द्विवेदी-युग का परवर्ती छायावाद-युग स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोह की जिन क्रियाओ से निर्मित हुआ है, वह भी एक प्रकार से प्रगति का ही चिन्ह है। जीवन की भाँति प्रगतिशीलता की यह प्रवृत्ति किसी देश-काल की सीमा मे सकीर्ण होकर नही चलती,

अपितु वह अपना विश्वजनीन सभाव रखती है। अतः छायावाद की प्रतिक्रिया को ही प्रगतिवाद की सज्ञा देना समुचित प्रतीत नही होता। यदि विवेचन की सुविधा के उद्देश्य से यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि छायावाद की प्रतिक्रिया ही प्रगतिवाद के स्वरूप मे अवतीर्ण हुई है तो फिर उसके परवर्ती स्वरूप की प्रगतिशीलता को नवीन नाम प्रदान करने का प्रश्न कालान्तर मे और जटिल बन कर उपस्थित होगा। इसके साथ एक बात यह भी है कि प्रगतिवादी विचारक जिन विचार-बिन्दुओ का सागर समेट कर अपनी मान्यताओ की व्याख्या करते है, वह भी एक विशेष प्रकार की सरणि या विचार-धारा मे ही सकेन्द्रित है। उसका काव्य के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण भी मार्क्स-वाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का ही तो साहित्यिक प्रयोग है, और यह एक निर्भ्रान्त सत्य है कि वाद के माध्यम मे सत्य का केवल अशमात्र ही ग्रहण किया जा सकता है। अत प्रगतिवाद की सज्ञा से अभिहित विचार-प्रणाली भी अंगी रूप मे स्वीकार नही की जा सकती। वस्तुतः किसी वाद या मान्यता के नामकरण का कोई वास्तविक आधार भी तो होना चाहिए। यदि थोडी देर के लिए यह भी मान लिया जाय कि छायावाद का स्थैर्य प्रगतिवाद की माग का कारण हुआ तो क्या उसका पूर्ववर्ती जीवन प्रगति परम्परा से विहीन था अथवा जिस रूप मे आज का प्रगतिवाद विवेचित हो रहा है, वही प्रगति का सच्चा लक्षण है ? ऐसी परिस्थिति मे प्रगतिवाद का नामकरण ही भ्रामक-सा लगता है, जिसकी वास्तविकता का परीक्षण अति गम्भीरतापूर्वक करने की नितान्त अपेक्षा है।

प्रगतिवादी समीक्षा का मूलाधार : मार्क्सदर्शन

२३. आज का प्रगतिवादी साहित्यालोचक जिस मान्यता को सर्वाधिक गौरव प्रदान करता हुआ आगे बढता है, वह है कार्लमार्क्स की विचारधारा। वस्तुत मार्क्सवाद अपने जिस जीवन-दर्शन पर अवलम्बित है उसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भी कहा जाता है। इसके अनुसार आत्मा और परमात्मा आदि अलौकिक सत्ताओ का कोई अस्तित्व नही है और जगत् का सारा वैभव केवल भौतिक तत्वो पर ही निर्भर रहना है। यह हीगेल के अध्यात्मवाद मे कोई विश्वास नही रखता और उसके अनुसार जड-तत्व की स्थिति चेतन की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। इतना ही नही, वह मनुष्य की चेतना का सारा आधार भौतिक और सामाजिक परिवेश को ठहराता है और उसके अनुसार किसी भी समाज-व्यवस्था का मूलाधार आर्थिक प्रतिमान पर बहुत अधिक निर्भर होता है। उसने अर्थ-व्यवस्था को तो इतनी अधिक प्रमुखता दी है कि उसे उसीके साँचे मे किसी भी देश की सास्कृतिक चेतना और कला-सृष्टि के मूल तत्व प्रदर्शित होते है। वह शोषक और शोषित वर्ग की अनिवार्यता उद्घोषित कर उनका आविर्भाव प्रत्येक देश-काल के साहित्य मे देखता है, और उसकी मान्यता मे यह क्रम तब तक नष्ट नही हो सकता, जब तक वर्गहीन समाज की स्थापना न कर ली जाय।

प्रगतिवादी समीक्षा का सामाजिक पक्ष और अतीत के प्रति दृष्टिकोण

२४. प्रगतिवादी साहित्यकार और समालोचक अपने पक्ष-समर्थन से जो सबसे बडा तर्क प्रस्तुत करते है वह है साहित्य की सामाजिकता का। इसमे कोई सन्देह नही कि छायावादी युग मे एक प्रकार की जो वैयक्तिक कुण्ठा और आत्म-परकता का अतिरेक हो गया था, उसे दूर करने मे यह दृष्टिकोण परम उपयोगी सिद्ध हुआ, किन्तु कालान्तर मे यह भी अपनी रूढिग्रस्त और एकागी प्रतिक्रिया मे वियुक्त नही रह सका। बात यह हुई कि प्रगतिवादियो की सामाजिकता भी एक विशेष प्रकार के जीवन-दर्शन से ही उद्भूत रही, अन्यथा इस तथ्य के प्रति तो कदाचित् ही कोई अपनी निषेधात्मक प्रवृत्ति प्रकट करे कि साहित्य-साधक के व्यक्तित्व-निर्माण मे सामजिक परिस्थिति और

उपकरणो का यत् किंचित् योग न रहता हो। सच तो यह है कि व्यक्ति की सामाजिकता उसके भावों के मुखर प्रतिबिम्ब साहित्य में झलक कर ही तो उसे प्राणवान बनाती है और उसके द्वारा चिरंतन भावनाओं को भी प्रश्रय मिलता है, किन्तु यह एक निर्भ्रान्त तथ्य समझा जाना चाहिए कि प्रगति की सीमा किसी विशेष प्रकार की विचारधारा से कदापि यन्त्रणाग्रस्त नही की जा सकती। वास्तविकता तो यह है कि युग और परिस्थिति के परिवर्तन का प्रभाव प्रगति-पथ का सम्बल बन कर प्रकट हुए बिना रह ही नही सकता और इस प्रकार उसका क्षेत्र निश्चय ही अत्यन्त व्यापक और महत्त्वपूर्ण बन ही जाता है। मेरे कथन का मूल मन्तव्य यही है कि प्रगति को जीवन-संभूत सवेदनाओ से अलग और किसी नवीन सिद्धान्त या मान्यता की प्रवृत्ति के झोंके मे दिग्भ्रान्त न किया जाय, अपितु उसे मतग्रहो से दूर और विशुद्ध अर्थ मे ही गृहीत किया जाय जिससे सरसाहित्य का सर्जन और सवर्धन हो सके। विश्व के प्रमुख विचारको की भी यही मान्यता है कि जिसे चिरतन भावनाओ का अभिव्यजक शाश्वत साहित्य कहा जाता है, वह वस्तुत. सबसे अधिक प्रगतिशील है, क्योकि वह देशकाल के कृत्रिम अनुबन्धो से विहीन और भावाभिव्यजनाओं मे नित्य नवीन होता है तभी तो प्रत्येक देश, युग और परिस्थिति उसका अभिनन्दन करती है। वास्तव मे साहित्य का एक स्वस्थ दृष्टिकोण होना चाहिए, जिससे वह हमारी मंगलविधायिनी शक्तियों को उन्मेषित कर हमारे मानस मे आशा और उल्लास का संचार कर सके, अन्यथा केवल आज के प्रगतिवादी दृष्टिकोण की यथार्थवादिता बनाम निराशा या आत्मकुठा उसका आत्म-हनन कर उसे कही का न रखेगी।

२५ आज के प्रगतिशील समालोचक अपने पक्ष मे मार्क्सवाद का पल्ला पकड कर बार-बार इस मत का उद्घोष करते है कि प्राचीन साहित्य रूढिग्रस्त और चेतनाहीन हो चला है, क्योकि उसमे उस युगानुरूपिणी दृष्टि का अभाव है जिसके द्वारा हम वर्तमान विश्व की प्रगति के साथ अपने कदम रखते हुए आगे बढ सकते हैं। इन विचारको की दृष्टि मे आज हमे नूतन जीवन-दर्शन की आवश्यकता है, जो परिवर्तन के क्रम को समझ कर नूतन समस्याओ के सम्पर्क मे आ सके तथा आज के वृद्धिगत ज्ञान का सम्यक् आकलन कर सके। जहाँ तक इस सैद्धान्तिक मान्यता के उदात्त स्वरूप का पक्ष है, यह समीचीन है किन्तु प्रश्न यह है कि आज के प्रगतिवाद का जीवन-दर्शन क्या इतने व्यापक और उच्च धरातल पर अवस्थित है? यदि निष्पक्ष और गम्भीर दृष्टि से मनन किया जाय तो हमे इसी निष्कर्ष की उपलब्धि होगी कि उस पर वाद या मत-विशेष के हावी होने का जितना प्रबल आग्रह है, उतना तथ्य-ग्रहण और उदार दृष्टिकोण का नही। यही कारण है कि आधुनिक प्रगतिवाद हमे केवल अपनी कतिपय युगीन समस्याओ का ही उत्तेजक वाणी मे बौद्धिक परिचय मात्र देकर रह जाता है और किसी व्यापक सत्य को ग्रहण करने की शक्ति नही प्रदान करता। अपने दृष्टिकोण की विवशतावश प्रगतिवादी विचारक अतीतकालीन साहित्य की आधुनिक युग मे अग्राह्यता निर्दिष्ट कर उसके विरोध मे कुछ भी कहे, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि देशकाल की परिधि से परे रहने वाले साहित्यकारो मे भी युग-परिवर्तन की आवश्यकताओ का सकेत मिले बिना नही रहता। प्राय: देखा जाता है कि प्राचीन साहित्यकार की वाणी से भी युग-परिवेश का अभिव्यंजन जिस सशक्त सवेदना और जीवन्त दृष्टिकोण से हुआ है, उस विधि से केवल युग-परिस्थिति का नारा लगाने वाले रचनाकार के द्वारा नही। इसका मूल कारण यह है कि आत्मानुभूति के प्रबल सम्वेग के साथ-साथ जिस प्रतिभाशाली व्यक्तित्व मे रस सवेद्य स्थिति मे भाव-ग्रहण करने की क्षमता होती है, उतनी अन्य लोगो मे नही होती। यही कारण है कि उनका साहित्य निश्चय ही उच्च और महान् हो जाता है।

प्रगतिवादी समीक्षा में युग-स्वर और सामयिकता

२६. पूर्वोक्त विवेचन का यह अभिप्राय नही है कि छायावादी साहित्य-समीक्षा के प्रतिवर्तन मे जिस प्रगतिवादी समीक्षा-पद्धति ने जीवन धारण किया है उसकी साहित्यगत कोई उपयोगिता नही है। वास्तव मे प्रगतिवाद अपने युग की एक आवश्यकता के रूप मे अवतीर्ण हुआ था और जन-भावनाओ की माँग उससे युग-वाणी का स्वर-संधान चाहती थी। इस वाद ने भले ही शाश्वत सवेदनाओं को महत्त्व नही दिया हो किन्तु उसके द्वारा कई स्वच्छन्द और एकागी प्रवृत्तियो का नियमन भी हो सका। इसने एक ओर जहाँ साहित्य-क्षेत्र मे कल्पनावाद की पलायन-भावना पर अकुश लगाया, वहाँ दूसरी ओर वासनापूर्ण शृंगारी वृत्तियो को भी रोका। यदि यह अपने विशेष प्रकार के दृष्टिकोण को कुछ अधिक लोक-व्यापक भावभूमि पर अधिष्ठित करता हुआ चलता तो उससे साहित्य की व्यापक प्रेषणीयता के उद्देश्य मे कोई कमी नही आती, किन्तु जब यह एक विशेष वर्ग का प्रचारक और समर्थक बन गया तो इसका आत्म-रस अपनी प्रवहमान जीवन-धारा को कुंठित करने का कारण बना। दूसरी बात यह भी हुई कि इसने ध्वस का जितना पक्ष लिया, उतना निर्माण का नही। अत हमारी भावी कार्य-रेखा क्या हो, उसके तत्व-कण इसमे बहुत कम आ सके। माना कि आज की युगीन प्रगति मे प्राचीन मान्यताओ और परम्पराओ का वह अतीतकालीन महत्त्व नही रहा है, किन्तु उनकी सर्वथा उपेक्षा कर नवीन निर्माण की धुन मे अपनी उपलब्ध ज्ञान-राशि को निरर्थक समझ बैठना निश्चय ही प्रमादपूर्ण मन.स्थिति का निर्देशक है। ऐसी अवस्था मे प्रगतिवाद का संकीर्ण क्षेत्र स्वत. ही प्रकट हो जाता है। एक महत्त्व-पूर्ण बात यह है कि आज के प्रगतिवादी हिन्दी-समालोचक मार्क्स, लेनिन और काडवेल आदि विचारको के सिद्धान्त-सूत्रो का आश्रय लेकर अपने मन्तव्यो का विश्लेषण करते हैं, उनमे भी वैसी सकीर्णता और एकागी दृष्टि नही है जैसी कतिपय समीक्षको ने बना रखी है। माना कि मार्क्स की एक निश्चित द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचारधारा थी, किन्तु उसे साहित्य की चिरतन प्रवृत्तियो से चिढ-सी थी, यह भी नही कहा जा सकता। लेनिन ने साहित्य और कला का जो विवेचन किया है, उसमें भी हमारी शाश्वत सवेदनाओ का स्वरूप झलकता है। सच तो यह है कि केवल रोटी का राग हमारी मानसिक क्षुधा का निवारण नही कर सकता। उसके लिए कुछ और भाव-सामग्री चाहिए और यह निश्चय है कि वह सामग्री उस प्रगतिवाद के पास नही थी जो जन-जीवन की समस्याओ का हल निकालनेका अधिकार अपने भौतिक और स्थूल दृष्टिकोण से सिद्ध करने चला था। स्पष्ट ही है कि हमारे जीवन के अभावो की पूर्ति केवल उनके प्रति आक्रोश और विध्वंसपूर्ण भावनाएँ व्यक्त करने से नही हो सकती, अपितु उसके लिए कुछ अन्य सामग्री चाहिए यदि ऐसा नही होता तो ग्रीष्म की तमतमाती धूप मे खून-पसीना एक करने वाला कृषक चैती और बिरहा गाकर अपना मानसिक आह्लादन नही करता, अथवा वैधव्य संकट से जूझती हुई भारतीय नारी अपने जीवन-यापन के लिए चक्की चलाती हुई मीरा के भजनो और सन्तो की वाणियो से अपना अधिमानसिक प्रसादन नही करती। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रगतिवादी साहित्य ने हमे हमारी दुर्बलताओ और विषमताओ से अधिक सुपरिचित कर हमे और भी भयावह परिस्थिति मे रख दिया, जिससे हमारी समस्याओ का समाधान होने के स्थान पर वे हमे और भी जटिल प्रतीत होने लगी। कहना होगा, इस परिस्थिति के सृजन मे जहाँ रचनात्मक साहित्यकार का प्रबल हाथ था, वहाँ उसकी पीठ थपथपाने वाले समालोचक ने भी उसीकी वाणी का अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दो मे समर्थन किया जिससे सत्साहित्य की शाश्वत प्रवृत्ति पर एक प्रकार की ठेस-सी लगी।

२७. आज के प्रगतिशील साहित्यकार और समालोचक अपने पक्ष मे समय-सापेक्षता के प्रबल तर्क प्रस्तुत करते है किन्तु वे तर्क तत्वत ठोस नही है। इसका कारण यह है कि वे राजनीति और अर्थ-व्यवस्था को साहित्य की नियामक शक्ति समझने की मान्यता लेकर चलते हैं

जो निश्चय ही एकपक्षीय दृष्टिकोण है। राजनीति के आकाश में विभिन्न वादो के झंझावात अपने प्रचारपूर्ण दृष्टिकोण से उठते-मिटते रहते हैं, किन्तु उनका अस्तित्व साहित्य-सर्जना की दृष्टि से स्थायी नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो राजनीतिक मंच पर भिन्न-भिन्न युगो मे प्रादुर्भूत शक्तियाँ अपने जीवन के शाश्वत चिन्ह छोड जाती, किन्तु गम्भीर विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक चेतना हमारी जीवन-चेतना का एक अंगमात्र हो सकती है, उसकी अंगी नही। अत: युग की समस्याओं और क्रान्तियों का आवेग बडी सयत विधि से ग्रहण किया जाना चाहिए। तत्वतः साहित्य को उसके विशुद्ध स्वरूप मे ग्रहण करने पर आज की प्रगतिवादी समालोचना केवल हल्के प्रचार के अतिरिक्त और अधिक नही सिद्ध होती, क्योकि उसका केवल युगीन महत्त्व है। इसका एक प्रमाण तो यही है कि अब उसके प्रतिवर्तन मे प्रयोगवाद का नवीन विधान आकार ग्रहण कर उद्भूत हो चला है। इस कठोर विरोध से मेरा आशय यह नही कि प्रगतिवाद शब्द से हमे चिढ होनी चाहिए, किन्तु यह मन्तव्य अवश्य है कि उसे व्यापक और स्वस्थ मनोभूमि मे ही ग्रहण किया जाना चाहिए। यदि हम प्रगतिवाद से यह अभिप्राय ले सके कि यह हमारे युग-परिवर्तन के अन्तर्गत प्रगतिशील चेतनाओ को पहचानने की प्रक्रिया है और उसमे जीवन-सवेदनाओ को ग्रथित कर आगे बढ़ने की एक निर्माणोन्मुख राह है तो इससे कदाचित् ही किसी को विरोध हो, किन्तु उसे केवल अपने वाद-प्रचार की दृष्टि का लक्ष्य बना कर अन्य मान्यताओं की उपेक्षा कर बैठना ठीक नही कहा जा सकता।

प्रगतिवादी समीक्षा और कलात्मक साहित्य-सौष्ठव

२८. प्रगतिवादी समालोचना के तथाकथित स्वरूप मे हमें एक अभाव और खटकता है और वह है साहित्य-सौष्ठव और कलात्मक दृष्टि की उपेक्षा का। बात यह है कि प्रगतिवादी समालोचक जनवादी परम्परा का राग अलापते हुए साहित्य में भी पूँजीवाद और वर्गवाद का तत्त्व-गुम्फन करना चाहते हैं जिसके कारण उन्हे साहित्य की शालीन और वैभवपूर्ण संस्थिति मे बुर्जुवा वृत्ति दृष्टिगोचर होती है। वस्तुतः यह दृष्टिकोण भी विवादग्रस्त है, क्योकि जब साहित्य हमारे हृदय-कोष के भाव-रत्नो का उच्छलित सवेग है तो उनके वैभव को भौतिक और आर्थिक पैमाने से मापना केवल हठवादिता है। ऐसा मानने पर तो विश्व के महान् साहित्यकारो की महत्ता निश्चय ही संदेहास्पद हो जायगी और हम अपनी उस ज्ञान-गरिमा और भाव-राशि की अवहेलना कर बैठेंगे जिससे आज की विश्व-सस्कृति के इतिहास का निर्माण हुआ है। इसी प्रकार प्रगतिवादी समालोचक सभी कृतियों मे विशेष प्रकार की जनवादी प्रवृत्तियो का अनुसन्धान करते चलते हैं, वह भी अधिक उचित नही है, क्योंकि ऐसा करना भी साहित्य की व्यापक विधा पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगाना है। सच तो यह है कि समालोचको की दृष्टि साहित्य-विवेचन के प्रसंग में जीवन के व्यापक स्वरूपो के उद्घाटन की ओर ही रहनी चाहिए; क्योकि सच्ची साहित्य-समालोचना मे प्रगतिवाद का दृष्टिकोण उस दृष्टिकोण से निश्चय ही भिन्न होता है जो राजनीतिक वादों और सामयिक व्यवस्थाओ में विद्यमान रहता है। इसमे कोई सन्देह नही कि आज विश्व-प्रांगण मे समाजवादी विचारधारा क्रमश: प्रसारित हो रही है जिसका प्रभाव साहित्य-क्षेत्र पर पड़ना नैसर्गिक है किन्तु प्रश्न यह है कि इस विचारधारा का कौन-सा पक्ष हमारी संस्कृति और परम्परा के अनुरूप कहा जा सकता है, इसकी ओर भी गम्भीरतापूर्वक ध्यान देने की आवश्यकता है। इतिहास से सिद्ध है कि हमारे देश की परिस्थिति पश्चिमी देशो के मानसिक धरातल से भिन्न कोटि की रही है और यहाँ साहित्य-सृजन की मूल-चेतना अपनी आस्थाओ मे कुछ विशिष्ट श्रेणी की ही रही है, अतः कोई आवश्यक नही कि हम मार्क्सवादी विचारधारा का ही अक्षरशः अनुवाद अपने प्रगतिवाद में भी करना चाहें, क्योंकि ऐसा करना एक प्रकार से अपनी जीवन-आस्थाओ में शंका को जन्म देना है।

प्रगतिवादी साहित्य-समीक्षा की उचित दिशा और विश्वजनीन सांस्कृतिकता

२६. जहाँ तक साहित्य मे प्रगतिवाद का प्रश्न है, रचनात्मक साहित्यकार भाव-लोक और कला-निर्माण के विकासमय पक्ष को ही प्रधानता दे और उसके काव्य-विषयो में नूतन प्राण प्रतिष्ठा करते हुए भावाभिव्यक्ति के ही अन्तर्गत नूतन छन्द-विधान, नवीन प्रक्रियाएँ और भाषा-शिल्प का आयोजन करे जो किसी सकीर्ण कारा मे आबद्ध न होकर जीवन की चिरन्तन भावना को नूतन चेतन-शक्ति प्रदान करने वाली हो, तभी साहित्य में प्रगतिवाद का स्वर अपनी समुचित दिशा प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार साहित्य के समालोचकों का भी यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे साहित्यकारों की मानसिक स्वतन्त्रता के कठघरे निर्धारित कर उन्हे वाद-विवादो मे ही न उलझा दे, अपितु समालोचना के वास्तविक उद्देश्य को बिना विस्मृत किये प्रस्तुत साहित्य का समीक्षण ऐसी सृजनशील प्रतिभा से करे जिससे साहित्य का समुचित मूल्याकन और भावी साहित्य-निर्माण का सम्यक् पथ-प्रदर्शन हो। यह अत्यन्त विक्षोभपूर्ण विषय है कि हमारे प्रगतिशील समालोचक अपने मताग्रह के पोषण मे कभी-कभी इतने अनुदार बन जाते हैं कि उन्हे सत्कवियो की उच्च-कोटि की काव्य-सर्जना भी उस दृष्टि से हेय-सी लगती है जिस दृष्टि से उनकी विचारधारा का प्रतिपादन नही हो पाता। इसका एक प्रबल प्रमाण तो यही है कि आज के कतिपय प्रगतिवादी समालोचको ने पन्त और निराला की उस प्रतिभा का अधिक संस्तव किया है जो ग्राम्या और 'कुकुरमुत्ता' जैसी कृतियो मे प्रस्फुटित हुई है जब कि उन्हे 'पल्लव' और 'गीतिका'-काल की काव्य-कृतियो मे प्रगतिवाद के स्थान पर पलायनवाद की गन्ध मिलती है। उनका यह निर्णय किसी एक अंश तक ही तर्कसम्मत और न्यायपूर्ण कहा जा सकता है; क्योकि पन्त और निराला का छायावाद का परवर्ती रूप उन्हे वास्तविक मानसिक धरातल पर अधिष्ठित करने मे असमर्थ ही रहा है। यह बात दूसरी है कि केवल अपने मतवाद के आग्रह से उन्हे महान् कह दिया जाय, जो उनकी महानता न होकर केवल अपने वाद-पक्ष की अभ्यर्थना-मात्र है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रगतिवादी साहित्य और उसकी समालोचना मे साहित्य के प्रकृत स्वरूप को ग्रहण करने की उतनी प्रवृत्ति नही है जितनी प्रचार और अपनी वाद-स्थापना की। यदि ये प्रगतिवादी साहित्यकार अपने मताग्रहो और विशेष मान्यताओ की हठवादिता को छोड़कर साहित्य की प्रगतिशीलता को व्यापक दृष्टि से देखते हुए चले तो उनसे कदाचित् ही किसी को विरोध हो।

३० प्रगतिवादी समालोचक का एक एकागी पक्ष यह भी है कि वह मार्क्सवाद की द्वन्द्वात्मक मौलिकता को इस प्रकार पकड कर बैठ जाता है कि उसे आज की विश्वव्यापी सास्कृतिक चेतना के विविध पक्षो के प्रति किसी विशेष प्रकार की सहानुभूति हो ही नही पाती। वस्तुतः साहित्य को उसके विशुद्ध और सर्वागीण स्वरूप मे न देख पाने के कारण ही वह जीवन की भौतिकता मे इतना अधिक उलझ जाता है कि उसे हृदय के भावात्मक प्रसार का साक्षात्कार ही नही होता। इस समीक्षा-प्रवृत्ति के समालोचक यदि समाजशास्त्रीय व्याख्या का भारतीय आदर्शों के अनुकूल मानदण्ड अपना कर चलते तब तो फिर भी उनसे आशा की जा सकती थी कि वे रचनात्मक साहित्य-क्षेत्र मे स्थायी क्रान्ति कर सकेगे, किन्तु ऐसा उनके द्वारा बहुत कम हो सका। उनकी विचारणा का बौद्धिक धरातल अपनी रचनात्मक अनुभूति मे एकागिता बन कर अभिव्यक्त हुआ है, जिसके कारण उनकी समीक्षा-पद्धति कुछ समय के लिए विशेष चमक दिखला कर प्रभावहीन-सी होने लगी है। स्पष्ट है कि जैसे छायावादी कविता और उसकी समालोचना क्रमशः अपने युग की विशिष्ट सम्वेदना से दूर हटती हुई कुछ समालोचको द्वारा केवल एकान्त संगीत की झंकृति-मात्र बना दी गई, वैसे ही प्रगतिवाद भी उसकी प्रतिक्रिया मे जिस भौतिक दृष्टिकोण की स्थूलता को लेकर अवतीर्ण हुआ, वह भी क्रमशः रूढ़िग्रस्त-सा बन कर अपना एकपक्षीय स्वरूप ही प्रगट कर सका। इस प्रकार इस समालोचना-प्रवृत्ति द्वारा ऐसी सार्वभौमिक प्राणसत्ता नही सचारित हो सकी

और रूढिवादी बन गया है। हमारे लिए यह तो कदापि शोभनीय नही होगा कि हम वर्तमान की ओर से आँखें मूद कर केवल अतीत के राग ही गाते रहे किंतु इस बात को भी न भुला दे कि अतीत का साहित्य भी हमे आगे बढ़ाने का जितना ठोस धरातल प्रदान कर सकता है उतना केवल कल्पना-पूर्ण भविष्य अथवा वर्तमान का चित्रण नही। प्रगतिवादियो द्वारा प्रगतिवाद को एक विशेष जीवन-दर्शन मे यंत्रणाग्रस्त बनाने का ही एक दुष्परिणाम यह भी हुआ है कि हमे अपना अतीतकालीन जीवन सर्वथा चेतनाहीन और रूढिग्रस्त-सा लगने लगा है और केवल प्रलय के गानो को ही हम काव्य का सर्वस्व समझने लगे हैं अन्यथा इस बात को स्पष्ट स्वीकार करने मे किसी भी प्रकार की कोई बाधा नही प्रतीत होती कि प्रसाद के नाटक भले ही एक प्रगतिवादी दलबन्दी की उपज न हों किन्तु उन्होने अतीत के स्वर्णिम इतिहास के आधार पर जो सास्कृतिक प्रगति का जागरण दिया है वह किसी भी प्रगतिवादी कहे जाने वाले साहित्यकार की कृतियो से कम नही है। आज प्रगति-वादी समीक्षा को इस प्रमाद से उच्च और व्यापक धरातल पर अवस्थित करने की आवश्यकता है तभी हमारे समालोचना-क्षेत्र मे चलने वाली धाँधली अथवा छोटे-छोटे विषयों पर तिल को ताड़ देने वाले मात्सर्यपूर्ण विरोध दूर किए जा सकते हैं।

सांस्कृतिक दृष्टिकोण और युगजनीन धरातल

३३. प्रगतिवादी साहित्यकार और समालोचक आज जिस तथ्य की अवहेलना कर अपनी एकागिता से चल रहे हैं वह है उनमे सास्कृतिक दृष्टिकोण की न्यूनता। सच तो यह है कि अपनी सस्कृति की उपेक्षा कर प्रगतिवाद तो क्या कोई भी वाद अपना स्वस्थ जीवन धारण कर ही नही सकता। इसका मूल कारण यह है कि संस्कृति हमारी आत्मा अथवा प्राणों का वास्तविक रक्त-संचार है और इसके द्वारा ही अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी विकास किया जा सकता है। अतः यह आवश्यक है कि आज की प्रगतिवादी समालोचना को केवल मार्क्स अथवा लेनिन की मान्यताओ पर ही आगे न बढ़ाया जाय, अपितु अपने सास्कृतिक जीवन से भी उसे ऐसी विकसित चेतना प्रदान की जाय जिसकी अमूल्य धरोहर को लेकर हमारे अतीतकालीन जीवन का क्रमिक विकास हुआ है। यह एक अत्यन्त विक्षोभपूर्ण विषय है कि आज के हिन्दी-क्षेत्र के अनेक प्रगतिवादी समालोचको को सात समुद्र पार की सस्कृति के ज्योति स्फुलिंग तो प्रदर्शित हो जाते हैं, किन्तु शताब्दियों से गंगा-यमुना के मध्यवर्गी प्रदेश मे विकसित और तपोभूत ऋषि-मुनियो के आश्रमो में उद्भूत होने वाली अमर-वाणी का सन्देह भाव-विभोर नही बनाता जिसके आलोक-स्तम्भ के द्वारा भारत के राष्ट्रीय जीवन का सर्वतोमुखी निर्माण हुआ है तथा जिसने राष्ट्रकी परतन्त्रता में भी उसके प्राणों का परित्राण किया है। वस्तुत: आज के प्रगतिवादी समालोचक अपने विचारो को इतना उदात्त बना कर चलने लगें तो हमारे सास्कृतिक और साहित्यिक जीवन की अनेक समस्याओं का अनायास ही समाधान हो सकता है।

३४. पूर्वोक्त कथन का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि हम अपने देश के अतीतकालीन साहित्य के प्रति आस्था लेकर चलना ही अपने लिए श्रेयस्कर समझें। उसका मूल मन्तव्य तो केवल इतना ही है कि हम अपने युग-परिवेश की यथार्थता से सदैव अपने आपको परिचित रखें और अपनी दृष्टि को अत्यन्त उदार और विश्वजनीन बना कर आगे बढ़ाना सीखें। महाकवि कालिदास ने तो आज से कई शताब्दी पूर्व मालविकाग्निमित्र नामक नाटक मे 'परप्रत्यय नेय-बुद्धि' वाले व्यक्तियो को मूढजनो की सज्ञा दे कर प्राचीन और नवीन से ग्राह्य और त्याज्य वस्तुओ का सार चुनते हुए आगे बढने का सत्परामर्श दिया था। हमारे प्रगतिशील आलोचक चाहे तो उस महाकाव की अमरवाणी से बहुत अधिक रत्नकणो का चयन कर सकते है। वस्तुत. सच्चा प्रगति-शील लेखक अथवा समालोचक वही है जो पूर्वाग्रह अथवा दुराग्रह की संकीर्णता का परित्याग कर

चले और जिसमें किसी प्रकार के मतवाद का मिथ्या दम्भ न हो। सच तो यह है कि उसे न केवल अपने अतीतकालीन साहित्य-राशि को ही समेट कर चलना है और न नवीनता के प्रमाद मे ही उसकी अपेक्षा करनी है, अपितु उसे युग-जीवन के साथ पद-सचार करते हुए सत्साहित्य के प्रति समादर की भावना लेकर चलना है। उसे अपनी रसानुभूति को ऐसा व्यापक और उदात्त क्षेत्र प्रदान करना है जिसमे वह साहित्य की सार्वभौम सत्ता की गुरुता समझ सके और जिसके द्वारा उसमें "शत्रोरपिगुणो वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि" वाली प्रवृत्ति का सचार हो सके। अभिप्राय यह है कि उसमें एक ऐसी रसग्राहिता होनी चाहिए जिसके द्वारा वह तत्त्वोपलब्धि मे सदैव जागरूक रह सके।

३५. जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है कि मार्क्सवादी अथवा प्रगतिवादी समालोचना का एक प्रबल पक्ष उसकी सामाजिक उपयोगिता है, अतः उसे समाजशास्त्रीय समालोचना भी कहा जाता है। इसके अन्तर्गत रचनाकार अथवा कृति का विवेचन उसके सृजन-काल की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को केन्द्रवर्ती मान कर किया जाता है। इस पद्धति का समालोचक प्रमुख रूप से इसी बात का पता लगाता है कि आलोच्य व्यक्ति अथवा विषय अपनी सामाजिकता को कितनी अधिक सशक्त वाणी दे सका है। यदि उसे कृतिकार अथवा कृति मे उसका युग-स्वर अधिक उदात्त रूप में प्रस्फुटित लगता है तो वह उन्हे श्रेष्ठ समझता है अन्यथा जीवन की सरस से सरस उद्भावना करने वाले साहित्य को भी वह सामाजिक परिवेश की अपूर्णता से लाछित कर पूर्ववर्ती साहित्य की समता में हीन-कोटि का निर्णीत कर देता है। ऐसा करना समाजशास्त्रीय समालोचक की एकागिता का सूचक है। बात यह है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसके भावो और विचारों के निर्माण मे समाज का महान् दायित्व रहता है, किन्तु केवल सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि की स्थूलता मे ही उसका चेतन अश नही पहचाना जा सकता। सच तो यह है कि व्यक्ति का उसके सामाजिक परिवेश से कही अधिक महत्त्वपूर्ण है और मुख्यतः उसके द्वारा साहित्य को एक सास्कृतिक प्रयत्न रूप में उद्भूत किया जाता है। अत. यह आवश्यक है कि साहित्य-समीक्षण के समय भी ऐसी ही उदार दृष्टि से काम लिया जाय। साहित्य को केवल एक समाजशास्त्रीय भौतिक प्रक्रिया समझने और समालोचना को उसके आर्थिक और वर्गवादी दृष्टिकोण से परीक्षण करने का एकमात्र साधन मानने से ही अनेक प्रकार के व्यवधान उपस्थित हो जाते हैं। इसमे कोई सन्देह नही कि आज के युग मे समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण आलोचना का एक व्यापक पक्ष है और उसके द्वारा ही कोई भी समालोचक युग की भाव-सम्वेदना में प्रविष्ट होकर उसका ऐतिहासिक मूल्यांकन करने के लिए प्रवृत्त होता है, किन्तु साथ ही साथ इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि समाजशास्त्रीय समालोचना मे जीवन के सूक्ष्मतर स्पन्दनों और अन्तर्जगत् की मनोहर कल्पना-छबियों की इतनी अधिक उपेक्षा कर दी जाती है जिससे अनेक बार साहित्यालोचन केवल राजनैतिक और आर्थिक दलबन्दी का अखाड़ामात्र बन कर रह जाता है। यदि हम साहित्य-समीक्षण के समय केवल स्थूल और भौतिकवादी दृष्टि लेकर ही चलते रहे तो अपने अनेक अतीतकालीन साधकों की काव्य-साधना और उद्भावक-शक्ति के साथ सच्चा न्याय नही कर सकेंगे और हमारी समालोचना निश्चय ही प्रचार का एक साधनमात्र बन जायगी। अतः समाजशास्त्रीय समालोचना का आज के युग में महत्त्व होते हुए भी उसकी अपूर्णताएँ भी अप्रकट नही हैं।

अपूर्णताएँ और अन्तर्विरोध

३६. प्रगतिवादी समालोचना के प्रतिमान की अपूर्णताएँ आज अनेक संभ्रान्त समालोचकों द्वारा उद्घाटित की जा चुकी हैं। इसका मूलाधार मार्क्सदर्शन विचार-क्षेत्र की वह जड़वादी दृष्टि है जिसका जीवन की आध्यात्मिक चेतना में कोई विश्वास नहीं है। यही कारण है कि प्रगतिवादी

समीक्षा ने साहित्य की सामाजिकता का तो पर्याप्त पक्ष लिया, किन्तु वह उस महान् सत्य की अवहेलना कर बैठी जो मानव-हृदय की चिन्तन संवेदनाओ के रूप मे पारस्परिक सौहार्द, सहयोग और स्नेह की कोमल भावनाओ से साकार बनता है। इसी प्रकार वह अपने वर्तमान की अति-वादिता मे इतनी अधिक उलझ गई कि इसे मनुष्य की आन्तरिक चेतना और कल्पनाशील प्रवृत्ति का विशेष ध्यान ही न रहा और उसकी दृष्टि मे अतीत की स्मृति और भविष्य की आशा केवल भुलावे की भ्रान्ति मात्र प्रतीत होने लगी। सच तो यह है कि तथाकथित प्रगतिवादी समालोचना ने हमें आर्थिक और सामाजिक जीवन की जडवादी व्यवस्था मे इतना अधिक ग्रस्त बना दिया कि हम इस तथ्य को भूल ही गये कि साहित्य का चरम उद्देश्य हमारे मानस मे रसानुभूति का सचार करना है और उसका साध्य केवल भौतिकता की उपलब्धि ही नही अपितु उस अधिमानसिक चेतना की उपलब्धि है जिसमे वर्गसमाज के सारे बन्धन ध्वस्त होकर केवल व्यक्ति का पावन भाव-लोक ही अमर बन सकता है।

३७. प्रगतिवादी समालोचना का एक दुर्बल पक्ष यह भी है कि इसके समालोचक मूलत: मार्क्सवादी होने पर भी परस्पर बहुत अधिक अन्तर्विरोध रखते हैं। इसका एक प्रमुख कारण तो यही है कि इस प्रणाली के प्राय सभी आलोचको मे अपने को पूर्ण ज्ञाता मान कर चलने की जो अहवादिता है, वह दूसरो के पर्वत जैसे उच्च तथा सागर जैसे गम्भीर ज्ञान को धूलि-कणिकाओ के समान वायु-वेग मे उडा देना चाहती है। इन प्रगतिवादी समालोचको की दृष्टि मे भी कम मत-वैभिन्न्यन् नही है। सबने अपने-अपने ढग से प्रगतिवादी साहित्य और समालोचना की व्याख्या की है और मार्क्स की विचारधारा को तोड-मरोड़ कर अपने पक्ष मे कर लिया है। यद्यपि प्रगतिवाद का विश्लेषण करते हुए हिन्दी समीक्षा-क्षेत्र मे कई पुस्तको का प्रकाशन हुआ है किन्तु ऐसी पुस्तको की बहुत कमी है जिसमे विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से इस वाद अथवा मान्यता का विश्लेषण किया गया हो। प्रकाशित पुस्तकों मे या तो रूस और चीन के लेखको और राजनीतिज्ञों के पारस्परिक विवाद अथवा विरोध के उद्धरण है या अपने साथी समालोचको के कथनो का कटु शब्दो मे खंडन है। किसी ने (डा० रामविलास शर्मा ने) 'प्रगतिशील साहित्य तभी प्रगतिशील है जब वह साहित्य भी है। तथा श्रेष्ठ साहित्य सदैव प्रगतिशील होता है' (प्रगति और परम्परा पृष्ठ ४६।५०) कह कर प्रगतिवाद का विवेचन किया है तो किसी ने मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का अक्षरश अनुवाद प्रगतिवाद के विवेचन मे जोड दिया है। यही कारण है कि प्रगतिवाद का स्वरूप हिन्दी समालोचना साहित्य मे अत्यन्त प्रौढ बन कर उपस्थित नही हुआ है जिसके द्वारा तथ्य ग्रहण करने वाले जिज्ञासु को अनेक बार निराश ही होना पडता है। अभिप्राय यह है कि प्रगतिवादी समीक्षा प्रसारकालीन समालोचना की एक प्रमुख प्रवृत्ति अवश्य है, पर उसका समन्वयात्मक पक्ष उभरा हुआ नही है। इस प्रकार की समीक्षा के प्रमुख समालोचक डॉ० रामविलास शर्मा, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृत राय तथा शिवदानसिंह चौहान आदि है, जिनका विवेचन यथा प्रसग किया जायगा।

(३)

प्रसारकालीन समालोचना की इतर प्रवृत्ति : प्रयोगवादी साहित्य-समीक्षा

३८. शुक्लोत्तर-युग की समालोचना को प्रसारित बनाने में प्रयोगवादी काव्य और उसकी समीक्षा ने भी अपना अपेक्षित योग दिया है। इस विशेष प्रकार की काव्य-प्रवृत्ति के समा-लोचक प्राय: वे ही कवि है, जिन्होने प्रयोगवादी काव्य को छायावाद और प्रगतिवाद की कविता से श्रेष्ठ तथा युग-जीवन के साथ चलने वाला निर्दिष्ट किया और पूर्ववर्ती काव्य में ऐसे अनेक अवरोधपूर्ण तत्त्व अनुसधित किये जिनसे उनकी दृष्टि से काव्य के प्रकृत स्वरूप का ह्रास हो गया।

इस प्रकार की विचारधारा का समालोचनागत विधान हमे 'तार-सप्तक' नामक काव्य-संग्रह मे विशेष रूप से मिलता है जिसकी 'विवृत्ति' मे अज्ञेय जी ने प्रयोगवाद के सम्बन्ध मे अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया है। 'तार-सप्तक' मे जिन सात कवियो की रचनाएं संकलित हुई है, उन्होने भी अपनी रचनाओ के पूर्व काव्य के प्रति अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया है। वस्तुत. 'तार सप्तक' की 'विवृत्ति' और उसमे संकलित कवियों का स्पष्टीकरण ही प्रयोगवाद का स्वरूप निर्दिष्ट करने का सर्वप्रमाणित घोषणा-पत्र कहा जा सकता है जिसको उपजीव्य बना कर अन्य आलोचको ने समालोचनाएँ लिखी हैं। इस प्रकार की समालोचना-प्रवृत्ति के हमे दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं। पहले रूप मे तो प्रयोगवादी कवि-समीक्षकों की अपनी उद्भावनाएँ है जिनमे प्रयोगवाद की प्रशसा मे बहुत कुछ कहा गया है और दूसरे रूप मे उन समालोचको की विवेचनाएं है जिन्होने प्रयोगवादी काव्य-समीक्षण मे अनेक प्रकार की असंगतियाँ तथा भ्रान्तियाँ पा कर साहित्य-हितचिन्तन की दृष्टि से उनके पूर्वग्रही-पक्ष का खडन किया है और साहित्य के सम्बन्ध मे चिरतन तथा उदात्त आदर्शों की प्रतिष्ठा पर बल दिया है। यद्यपि समालोचना की यह प्रवृत्ति समीक्षा-क्षेत्र मे अपना विशिष्ट स्थान नही बना सकी है क्योंकि इसकी विचार-राशि स्वत ही अत्यन्त विशृ खलित है किन्तु अधुनातन प्रसार-काल मे इसकी उपेक्षा भी नही की जा सकती है। सम्भव है, इसके प्रयोग अपने अन्वेषण-कार्य मे साहित्य का शाश्वत सौन्दर्य-विधान उपलब्ध कर सके और उनकी राह में उन समालोचको की विवेचनाएँ पथ-प्रदर्शन का कार्य कर सके जो प्रत्येक युग की कविता मे अपने पूर्ववर्ती युग से वस्तु तथा शैलीगत नवीनता को अनिवार्य समझ कर इस विशेष प्रकार की रूढिग्रस्त काव्य-परम्परा को लोक-सामान्य भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित करना चाहते है।

प्रयोगवादी साहित्य-समीक्षा का स्वरूप

३९. आजकल हिन्दी काव्य-क्षेत्र में प्रयोगवादी रचनाओ का उद्घोष अत्यन्त तार-स्वर से किया जा रहा है। इन रचनाओ के मूल मे जीवन की किस सामाजिक और मानसिक प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया है, यह तो निश्चित रूप से नही कहा जा सकता, किन्तु यह एक असदिग्ध बात है कि इसके निर्माताओं को अपनी नई सूझ-बूझ पर यथेष्ट गर्व है। एक प्रकार से प्रयोगवाद का नामकरण-सस्कार भी उन्ही के मस्तिष्क की उपज है। उन्होने साहित्य को भी एक प्रकार के प्रयोग का नाम देकर अपनी रचनाओं के प्रकृत विषयो और विचारणाओ का विवेचन अपने ही ढग से किया है। आजकल प्रयोगवादी काव्य हिन्दी-जगत् की नव्यतम प्रवृत्ति समझी जाती है और इसके रचयिता अपने-मानसिक और बौद्धिक विवेचन मे किसी भी उत्कर्ष-प्राप्त साहित्यकार की चेतना से स्वयम् को हीनकोटि का नही समझते। उनकी सम्मति मे छायावाद और प्रगतिवाद पुराने हो चुके, क्योंकि उनमें उन्हे जीवन की वह चेतना नही मिलती जो साहित्य को सजीदगी प्रदान करती है। इन प्रयोगवादा रचयिताओ ने रचनात्मक साहित्य के नाम पर अनेकानेक छोटे-बडे तथा सकीर्ण और प्रकीर्णक विषयों पर काव्य-रचनाएँ की हैं और उनके समर्थन मे असंख्य तर्क-वितर्क भी प्रस्तुत किये हैं। किसी समय ये रचनाएँ केवल पत्र-पत्रिकाओं के कलेवर-कक्ष मे अपना आकार ग्रहण कर रह गई थी, किन्तु कालानुक्रम से जब उन्हे नवीनता के नाम पर आवश्यकता से अधिक प्रोत्साहन प्रदान किया गया तो उनके निर्माता उन्हे काव्य का जीवंत स्वरूप मान बैठे। वैसे तो अनेक काव्यकारों ने विभिन्न विषयों पर प्रयोगवाद के नाम पर कविताएँ लिखी है, किन्तु उनको सर्वोपरि महत्ता श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन 'अज्ञेय' के द्वारा दी गई है। अज्ञेयजी ने 'तार-सप्तक' की सम्पादन 'विवृत्ति' में प्रयोगवाद के प्रति अपना दृष्टिकोण व्यक्त कर प्रयोगमयी समीक्षा-शैली मे उसका प्रबल संस्तव किया है। उनका विवेचन प्रयोगवाद के समर्थन में वैसा ही है जैसा छायावाद की अभ्यर्थना मे पंत जी के पल्लव का 'प्रवेश', किन्तु इन दोनों मे इतना अन्तर अवश्य रहा है कि

पंत जी ने ब्रजभाषा और मध्यकालीन साहित्य पर अनेक प्रकार के उचितानुचित व्यंग्य और प्रहार करते हुए भी उनके काव्य-गुणो की यत्किंचित् प्रशसा भी की है, जबकि अज्ञेय जी तथा अन्यान्य प्रयोगवादी समीक्षको की सहानुभूति अन्य वादो के प्रति प्राय. नही के बराबर रही है ।

समीक्षा की तर्कभित्ति और मौलिक व्यवस्था का परीक्षण

४०. प्रयोगवादी साहित्यकारो और समीक्षको के पास अपने समर्थन के विशेष तर्क हैं जिनके आधार पर उन्होने अपने मत-समर्थन की विवेचना प्रस्तुत की है और कर रहे हैं । उनके विवेचन मे परस्पर मत-वैभिन्न्य की मात्रा भी इतनी अधिक है कि उनकी मान्यताओ को किसी एक तर्कसम्मत धरातल पर अवस्थित नही कहा जा सकता । अज्ञेय जी ने 'तार-सप्तक' मे जिन प्रयोगवादियो को एक ही खूटे पर बाँधने का प्रयास किया है वे अलग-अलग रस्से तुडवा कर जैसे भागना चाहते हैं । उन्हे प्रयोगवादी काव्यकार न जाने किस अर्थ मे किसी एक स्कूल के न होने के कारण ही महान् लगते हैं और वे उन्हे राही नही, 'राहो के अन्वेषी' समझते हैं । अज्ञेय जी का विवेचन उनसे और अधिक स्पष्टीकरण चाहता है, क्योकि उसमे मनोविश्लेषणवादियो की मानसिक कुठाओ की भाँति अनेक उलझनो की गाँठे विद्यमान है । अच्छा होता यदि अज्ञेय जी उस राह का निर्देश करते जिसका अन्वेषण करने के लिए ये राही अपनी प्रयोगवादिता मे ही भटक रहे हैं । समझ मे नही आता कि हमारे प्रयोगवादी साहित्य-समीक्षक किसी नवीन सिद्धान्त या विचारणा की सृष्टि करने की धुन मे जीवन के चिरंतन सत्यो के रूप मे अभिव्यक्त साहित्य की शाश्वत परम्परा से क्यो चिढे हुए है ? माना कि जीवन मे प्रयोग का महत्त्व होता है जो हमे किसी नवीन प्रयास या नूतन निर्माण-चेष्टा के लिए प्रेरणा देने का कारण बनता है, किन्तु यह प्रयोग किसी सांस्कृतिक और पुष्ट धरातल पर भी तो अवस्थित होना चाहिए । आधुनिक साहित्य-समीक्षा मे प्रयोगवाद के नाम पर जो साहित्य-सृजन और समीक्षण आजकल हमारे सामने आ रहा है, उसकी मूलभिति किसी ठोस आधार से निश्चय ही हीन है । नवीनता के नाम पर किसी प्रवाद मे बह जाना साहित्य और जीवन-विधान का कोई उज्ज्वल लक्षण नही कहा जा सकता । वस्तुत· साहित्यकार अपने जीवन की खाद देकर साहित्य-वृन्त पर भाव-पाटल का प्रस्फुटन करता है, अत. उसको किसी प्रयोग के शुष्क मरुस्थल मे भटकाना कदाचित् ही सुवास-रस की प्राप्ति का उपादान बन सके ।

४१. वैसे तो प्रयोगवादी साहित्य-समीक्षा मे अनेक प्रकार के अस्तव्यस्त और विकीर्ण विचार व्यक्त किये गये है और उस परम्परा का आज भी अन्त नही है, किन्तु उनसे किसी मौलिक और व्यवस्थित सत्य की उपलब्धि हो, ऐसा नही प्रतीत होता । हाँ, यदि कोई तत्त्व-जिज्ञासु इनके समर्थक समालोचको के विचार-कणो का समन्वय कर किसी निश्चित धारणा पर पहुँचना चाहे तो उसे प्रकीर्ण सूत्रो के रूप मे कई प्रकार की जानकारी हो सकती है । प्रयोगवादी समीक्षको की अपने विषय मे सबसे विचित्र मान्यता तो यह है कि चूँकि आत्माभिव्यक्ति अपने मे सम्पूर्ण और निरपेक्ष नही होती, अत. किसी कवि की कृति को स्वान्त. सुखाय कहना युक्तिसंगत नही है । अच्छा होता, यदि वे प्रयोगवादी समीक्षक अपनी इस अनोखी धारणा को अपने सृजन पर ही घटित कर सतोष कर लेते, किन्तु उन्होने इस प्रतिमान से विश्व के सभी महान् साहित्यकारो को नापना चाहा है और उन्हे भी स्वानुभूति की प्रेरणा से साहित्य लिखने वाला नही माना है । आश्चर्य तो यह है कि हिन्दी के सर्वस्व और अमर कवि गोस्वामी तुलसीदास ने अपने मानस के प्राक्कथन-रूप मे 'रघुनाथ-गाथा' को किस रूप मे 'स्वान्त सुखाय' कहा है, वह भी इन प्रयोगवादियों को नही जचता । इस प्रकार उनका विवेचन जहाँ अपनी सत्ता की प्रतिष्ठा के लिए किया गया मनमाना प्रयास है, वहाँ उसका अन्य साहित्यकारो की काव्य-प्रतिभा पर भी प्रयोग वस्तुत: शुभ लक्षणो से युक्त नही कहा जा सकता । ऐसे एकागी दृष्टिकोण साहित्य-समालोचना मे विघटन लाने के कारण बनते हैं

इसी से साहित्य का सम्मिलन-भाव कुंठित कर दिया जाता है। मुझे तो ऐसा लगता है कि इन प्रयोगवादी समीक्षाओं मे नवीनता के नाम पर कुछ नूतन प्रयोग और चमत्कार दिखाने की जितनी प्रवृत्ति है, उतनी सत्साहित्य के स्वरूप निर्धारण की नही। तत्त्व की बात तो यह है साहित्य-समीक्षा का कोई न कोई जीवन-उद्‌भूत आधार अवश्य होना चाहिए और यह कोई आवश्यक नही है कि वह सर्वत्र शास्त्रसम्मत ही हो, किन्तु उसमे जीवन की चेतना के मूल तत्त्वो की उपेक्षा करना साहित्य की जीवनदायिनी शक्ति को जड़ बनाना है।

प्रयोगवादी साहित्य-समीक्षा के विभिन्न दृष्टिकोण

४२. जब हमारी दृष्टि मे प्रयोगवाद का कोई पुष्ट और व्यवस्थित स्वरूप-विधान ही नही जम पाता तो उसका तात्विक विश्लेषण किस आधार पर किया जाय, यह कम उलझन का विषय नही है। प्रयोगवादी काव्यकारो की प्रवृत्ति एवम् प्रकृति का विवेचन करते हुए अज्ञेयजी लिखते हैं "उनमे मतैक्य नही है, सभी महत्त्वपूर्ण विषयो मे उनकी राय अलग-अलग है, जीवन के विषय मे, समाज और धर्म और राजनीति के विषय मे, काव्य-वस्तु और शैली, छन्द और तुक तथा कवि के दायित्वो के प्रत्येक विषय मे उनका आपस मे मतभेद है। यहाँ तक कि हमारे जगत् के ऐसे सर्वमान्य और स्वयं सिद्ध मौलिक सत्यो को भी वे स्वीकार नही करते, जैसे लोकतन्त्र की आवश्यकता, उद्योगो का समाजीकरण, यान्त्रिक युद्ध की उपयोगिता, वनस्पति घी की बुराई अथवा काननवाला और सहगल के गानो की उत्कृष्टता इत्यादि, वे सब एक दूसरे की रुचियों, कृतियो और आशाओं, विश्वासो पर, एक दूसरे की जीवन परिपाटी पर और यहाँ तक कि एक दूसरे के मित्रो और कुत्तों पर भी हँसते है।"[1] अज्ञेय जी प्रयोगवाद के सबसे बडे समर्थक हैं और उन्होने इसके रचयिताओ के मानसिक संस्थान के विषय मे कदाचित् बडी विवेक-बुद्धि से उपर्युक्त धारणा व्यक्त की है, अत. इसी के आधार पर यदि प्रयोगवाद को समझने का प्रयास किया जाय तो भी उसमे किसी निश्चित् दृष्टिकोण की उपलब्धि नही हो सकती। उनके विवेचन से इतनी ध्वनि अवश्य निकलती है कि वे प्रयोगवादियों को विश्व के महान् मनीषियों की कोटि का समझते हैं और उनके मत-वैभिन्न्य को भी गुरुतापूर्ण कहते है। माना कि विश्व मे महापुरुष अपने विभिन्न क्षेत्रो में अलग-अलग औपचारिक दृष्टि लेकर अवतीर्ण होते है और कार्य-तत्पर बनते हैं, किन्तु अन्ततोगत्वा वे भी तात्विक दृष्टि से एक ही सत्य पर पहुँचते है, पर इन प्रयोगवादियों मे तो ऐसा भी नही है। इसी प्रकार प्रयोगवादियो को जिस अर्थ मे अन्वेषी कहा गया है, उसका अर्थ भी तो इसके समीक्षक स्पष्ट नही कर पाते। अज्ञेय जी ने भाषा-विषयक अन्वेषण को लेकर प्रयोगवादियो की जो मौलिकता निरूपित की है, वह भी चिन्त्य है। उनका यह कहना भी वजनदार नहीं है कि प्रयोगवादी रचयिता अपनी उलझी हुई सम्वेदना की सृष्टि को पाठको के पास पहुँचाने की नीयत से अपना प्रयोग करते हैं। प्रश्न है कि वह उलझी हुई सवेदना क्या है ; अज्ञेयजी के पास इसका कोई निश्चित् उत्तर नही है। वे इस प्रसग मे भी अपनी मनोविश्लेषक प्रवृत्ति का समावेश कर आन्तरिक और वाह्य संघर्ष को उलझी हुई सवेदना का कारण निर्दिष्ट करते है और आंतरिक संघर्ष के फलस्वरूप आज के मानव-मन को ऐसी यौन-कल्पनाओ से लदा हुआ बतलाते हैं जो दमित और कुंठित हो गई हैं। यहाँ तक कि अज्ञेयजी के मतानुसार तो आज के मानव की सौन्दर्य-चेतना भी इन्ही यौन-कल्पनाओं से आक्रान्त है और इसीलिए उनके उपमान भी यौन प्रतीकार्थ रखते हैं। अज्ञेय जी ने वाह्य सघर्ष का भी स्पष्टीकरण किया है और बतलाया है कि आज का प्रयोगवादी अपनी उलझी हुई संवेदना की अभिव्यक्ति मे इतना अधिक आकुल रहता है जिसका प्रतिफल ही प्रयोगवादी रचनाएँ हैं।

१. 'तार-सप्तक' की सम्पादन विवृति में अज्ञेय जी का वक्तव्य।

उनका सत्य और प्रेम आदि के विषय मे भी अलग दृष्टिकोण है। सारांश यह कि प्रयोगवाद का अभी तक कोई सुस्पष्ट रूप न तो रचनात्मक साहित्य के द्वारा ही व्यक्त हो सका है और न समालोचना-शास्त्र के रूप मे ही। उनके विवेचन के निष्कर्ष के रूप मे प० नन्ददुलारे वाजपेयी ने प्रयोगवादी काव्य की जो परिभाषा की है वह इस प्रकार है : "उलझी हुई सवेदना की अभिव्यक्ति के लिए अथवा अभेद्य क्षेत्रो मे जाने की स्वाभाविक प्रेरणावश सीधी-तिरछी लकीरो, सीधे या उलटे अक्षरो आदि का प्रयोग करते हुए कभी किसी विषय पर सहमत न होने वाले अन्वेषियो की रचना"[1]। स्पष्ट है कि वाजपेयी जी ने प्रयोगवाद की यह सामान्य परिभाषा प्रयोगवादी समीक्षकों की शब्दावली को ही लेकर निर्मित की है जिसका मूल अभिप्राय यही सिद्ध करने का है कि ये तथाकथित प्रयोगवादी अपने विषय मे चाहे जितनी अहमन्यता का विज्ञापन करें किन्तु उनका साहित्य-समालोचन किसी तात्विक आधार पर अवस्थित नही है।

अन्य मान्यताएँ और आक्षेप

४३. प्रयोगवाद के समर्थकों ने अपने पक्ष-समर्थन मे अनेक प्रकार की बातें कहीं है। यदि वे केवल प्रयोगवाद का ही संस्तव करते, तब तो फिर भी गनीमत थी किन्तु उन्होने अपने वाद की अभ्यर्थना मे जो अन्य वादो को आड़े हाथो लिया है, वह अशोभनीय है। यह एक अजीब बात है कि कोई अपने महत्त्व-प्रदर्शन के लिए दूसरो पर मनमानी छीटाकसी करे। प्रयोगवादियो ने ऐसा ही किया है। इस सम्बन्ध मे अज्ञेय जी ने जो कुछ कहा अथवा लिखा है उसका तो सामान्य परिचय दिया ही जा चुका है। उनके अतिरिक्त जो अन्य समालोचक है, उन्होने भी अनेक अतार्किक और असबद्ध चर्चाएँ अपनी समीक्षाओ के अन्तर्गत की हैं। उदाहरण के लिए श्री प्रभाकर माचवे को लिया जा सकता है। उन्होने प्रयोगवाद के समर्थन मे तो अनेक बाते लिखी ही है किन्तु उनकी चपेट मे छायावाद और प्रगतिवाद भी आने से भी नही बच सके है। उनका कहना है कि "छायावाद तो हिस्टीरिया की भाँति हिन्दी-कविता का एक मानसिक रोग है और प्रगतिवाद दमित इच्छाओं से निर्मिति होने वाला औद्धत्य की सीमा पर पहुँचा हुआ पर-पीडन-प्रेम। प्रयोगवाद इन दोनो के छोरो को मिलाने मे उपयोगी हुआ है"।[2] प्रश्न होता है कि जब प्रयोगवाद हिस्टीरिया के प्रतीक छायावाद और औद्धत्यपूर्ण प्रगतिवाद की ही उपज है तो उसमे उन्हे किस प्रकार काव्य के उदात्त गुण मिलते हैं। इसका समाधान न तो उनके पास है और न उन्हे इस बात की आशका है कि कोई उन्हे इस प्रकार की मनमानी विवेचनाओ के लिए उत्तरदायी ही बना सकता है। और तो और, प्रयोगवादी रचनाओ के छिछलेपन को वे जिस आडम्बरपूर्ण शब्दावली से भरना चाहते हैं वह और भी अधिक अशिष्ट है।[3] कठिनाई तो यहाँ तक है कि इन साहित्य-समीक्षको के पास न तो विवेचन का कोई शास्त्रीय आधार ही है और न अनुभूतिजन्य कोई तर्क ही। उन्हे तो जैसे काव्य-क्षेत्र मे प्रयोग करना अभीष्ट है, उसी प्रकार आलोचना-क्षेत्र मे भी। उनकी निम्नलिखित शब्दावली से न तो किसी तथ्य की प्राप्ति होती है और न कोई नवीनता का सुष्ठु स्वरूप ही मिलता है। जैसे: "हिन्दी मे प्रयोगशील अभिव्यजना या प्रयोगवादी कविता के मध्यमार्ग पर चलने की आवश्यकता और गुंजाइश है। हिन्दी कविता के विषयो की विविधता, व्यंग्य का तीक्ष्ण और सुरुचिपूर्ण प्रयोग, प्रकृति के सम्बन्ध में अधिक वैज्ञानिक दृष्टि आदि का विधान होना चाहिए। हमारी कविता मे पाये जाने वाले अधिकाश कल्पना-चित्र या बिम्ब बच्चो के से निरे शाब्दिक सहस्मृत या परम्प-

१. प० नन्ददुलारे वाजपेयी, 'आधुनिक साहित्य' पृष्ठ ७५।

२. प्रभाकर माचवे: 'तार-सप्तक,' वक्तव्य पृष्ठ ५१।

३. वही पृ० ५१-५२।

रागत होते है। इसके बजाय हमे राग और तान में पूरित ऐन्द्रियिक आवेगाश्रित और अभिजात मूर्त विधान करना है।"[१] स्पष्ट है आलोचक महोदय ने साहित्य के सिद्धपीठ से अपना यह निर्णय दिया है; पर प्रश्न यह है कि जिस मूर्त-विधान की वे बाते कहते है, क्या वैसा वे करते भी है? सच तो यह कि उनका यह मन्तव्य स्वत: उलझनो से आपूरित है। वे हिन्दी-कविता मे जिस प्रकार का विकास वाछनीय समझते हैं, वह क्या उनके द्वारा लाया जा रहा है अथवा सचमुच पूर्ववर्ती काव्य इतना सड गया है जिसकी चेतना सर्वथा लुप्त-सी हो चली है। मुझे तो इनके वे प्रयोग साहित्य और जीवन की शाश्वतता को खडित करने वाले से लगते है और इनके प्रचारक साहित्य-क्षेत्र मे किसी मेधावी समालोचक का अकुश न मानने के कारण ही इस प्रकार के उपक्रम मे लगे है। यदि साहित्य सृजन और समालोचना के क्षेत्र मे इस प्रकार के प्रयोग ही चलते रहे, तब तो साहित्य की अभिवृद्धि शकास्पद ही रहेगी और वाल्मीकि, कालिदास, सूर, तुलसी, भारतेन्दु और प्रसाद आदि का गौरव दिग्भ्रात बना दिया जायगा। अत आज के उत्तरदायी समालोचको का यह प्रथम कर्त्तव्य है कि वे इस प्रकार के प्रयोगो को निष्पक्ष दृष्टि से परखे और साहित्य-मन्दिर के अमररत्नो के बीच ऐसे कृत्रिम काँच के टुकड़े न लगने दे जो उनकी श्रीसम्पन्नता और गुरुता को लाछित करने वाले हो।

४४. जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, प्रयोगवादी समीक्षको का दृष्टिकोण वस्तुत: भ्रातिग्रस्त है। उनके विवेचन के द्वारा तो कदाचित् ही किसी प्रकार की तात्विक उपलब्धि हो सके। अत उनके विश्लेषण से जो कुछ टूटे फूटे तथ्य हाथ लग सके, उन्हे ही प्रयोगवादी साहित्य के उपादान समझ लेना चाहिए। इस दृष्टि से तो यही कहना समीचीन है कि प्रयोगवादी साहित्य केवल वैचित्र्य-पूर्ण और बुद्धि के अजीर्ण से उद्भूत साहित्य है जिसके रचयिता न तो अपनी वैयक्तिक अनुभूति के प्रति सच्चे है और न सामाजिक दायित्व को निभाने मे ही सक्षम। सच तो यह है कि उनकी रचनाओ को काव्य की भूमि में परिगणित करना भी एक प्रकार का दुस्साहस पूर्ण कार्य है। इसका सबसे बडा प्रमाण तो यही है कि आज का प्रयोगवादी साहित्य अपनी जीवन-शक्ति के अभाव मे स्वत: विचारको का स्नेह और सौहार्द खोता जा रहा है। उसमे वह सरसता ही नही जो मानव हृदय-सवेद्य बन सके, फिर भला ऐसे जीवन-स्पन्दनहीन साहित्य को उसके उद्भावक अपनी किस प्राण-चेतना का इंजेक्शन लगा कर कब तक जीवित रख सकेंगे, यह एक विचारणीय प्रश्न है। वस्तुत. सच्चे साहित्य-समीक्षको का यह प्राथमिक कर्त्तव्य है कि वे आज के विकासोन्मुख जगत् मे साहित्य का चिरतन महत्त्व समझे और जिन तपस्याओ और साधनाओं ने हिन्दी के मस्तक को गौरव पूर्ण बना कर विश्व-साहित्य की समता मे एक विशिष्ट स्थान प्रदान कराया है, उन पर अपनी उच्छृखलता की धूमिल छाया न पडने दें। आज हिन्दी भाषा और साहित्य को भारत का नेतृत्व करने का जो सम्मान प्राप्त हुआ है उसकी गुरुता का परिवहन हमारा यह सामयिक प्रयोगवादी साहित्य अपने निर्बल कधो पर कैसे कर सकेगा, यह हमारी आज की ज्वलन्त समस्या है। इसके निराकरण के लिए जितना जल्दी समुचित प्रयत्न किया जाय, उतना ही शोभनीय है।

४५. प्रयोगवादी साहित्य के सम्बन्ध मे मुझे उतना अधिक इसलिए भी लिखना पडा कि वह हमारी आधुनिक समालोचना का एक प्रमुख आलोच्य विषय बन रहा है और उसे आज के युगीन साहित्य की सच्ची उद्भावना का रूप दिया जा रहा है। इतना ही नही, प्रयोगवाद के नाम से प्रचलित रचनाओ की प्रशसा मे ऐसी-ऐसी बाते भी लिखी जा रही है जो केवल अपनी चमक दमक और ऐन्द्रजालिक क्रियाओ से सम्वलित-सी है। हो सकता है, प्रयोगवाद आज की एक छोटी-बड़ी या किसी भी प्रकार की आवश्यकता हो और उसमे साहित्य की अभ्युदयशीलता के तत्त्व छिपे

१. प्रभाकर माचवे, 'तारसप्तक, वक्तव्य' पृ० ५१-५२।

हुए हों, किन्तु क्या प्रयोग की वही दिशा उपयुक्त है जिसकी ओर हमारे ये प्रयोगवादी साहित्यकार बढ़ रहे है ? सच तो यह है कि प्रयोगवाद के नाम पर मिथ्या-प्रचार ने हमारे अनेक उदीयमान सुकुमार मति साहित्यकारो को भी कम दिग्भ्रांत नही बनाया है। उन्होने अपने समालोचको की विचारदृष्टि के आधार पर यही समझ रखा है कि उल्टी सीधी पक्तियो में किसी प्रकार की शब्द-अभिव्यंजना कर देना ही प्रयोगवाद के लिए पर्याप्त है, जो वस्तुत एक भ्रांत दृष्टिकोण है। ऐसा करने का परिणाम यह भी हुआ है कि प्रयोगवादी रचनाओ मे काव्य की भावात्मकता अथवा रचयिता की आत्मानुभूति का नैसर्गिक अभिव्यजन हो नही पाता और उनके रचयिता उल्टी तिरछी लकीरो या टेढे-मेढे शब्दो मे जो कुछ प्रयोग कर देते है उन्हे आप्त वाक्य समझ कर उनके प्रशंसक उन्हे आर्ष प्रयोग सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। वस्तुतः बात यह है कि प्रयोगवादी साहित्य के नाम पर आज अनेक हल्की वस्तुएँ हमारे साहित्य मे अधिकृत होती जा रही है और काव्य-हेतु और प्रयोजन लक्ष्य-भ्रष्ट हो कर 'धैर्य धन गदहा' या 'टूटी चूडी के टुकडो' मे ही सिमटने लगा है। इतना ही नहीं, अनेक बार तो जीवन-विज्ञान और मनोविज्ञान आदि की मान्यताओ का विकृत संस्थापन ही प्रयोगवादी काव्य का अतरंग बन कर उपस्थित होता है, जिससे काव्य कहा जाने वाला 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द' या 'रसात्मक वाक्य,' नष्टप्राय हो रहा है। ऐसे प्रचार से काव्य-क्षेत्र जड-वस्तुओ का अजायबघर या भावो का खिलवाड मात्र बनने लगा है जिसमे प्रयोगवादियो की वर्णित तस्वीरे अपना अभिनव प्रदर्शन करने के गर्व में अपनी पूर्वसंचित निधि को खो भी रही हैं। पता नही, वे किस प्रकार की आत्मकुठा से प्रपीडित होकर अपनी संस्कारगत भावराशि को ठुकराते हुए नई परम्परा का सूत्रपात करने के लिए उन्मुख है। मेरे विचार से, प्रयोग की वही दिशा अधिक विवेक सम्मत कही जा सकती थी, जिसमे हमारे ये, प्रयोगवादी साहित्यकार जीवन की सवेदना को प्रमुखता देकर और उसी का रस लेकर नई विचार-धाराओ और जीवन-दर्शन का अन्वेषण करते' पर ऐसा बहुत कम हो रहा है। प्रतीत होता है कि अपनी इस भूल का कुछ-कुछ आभास इनको भी होने लगा है और ये अपनी कृतियो को अपने अवचेतन की भाँति ही जीवन की भूल समझने लगे हैं, फिर भी परम्परा चल पडी है उसको परित्यक्त करने का वे लोभ-सवरण भी नही कर पाते। अस्तु, प्रयोगबादी आज के युग-जीवन की एक क्षणिक प्रतिक्रिया है जिसका आधार अत्यन्त दुर्बल है और इसी कारण वह जुगनू की चमक दिखला कर शनै-शनैः अन्धकार मे विलीन होने लगा है क्योकि उसमे जीवन के, प्रोद्‌सासित साहित्य के तत्वपुज सहन करने की शक्ति या सामर्थ्य का अभाव है। इस प्रकार की साहित्य-समीक्षा मे विशेष तत्वपूर्ण उपलब्धियो के अभाववश मैने उसका केवल सामान्य स्वरूप ही विवेचित किया है। आगे के पृष्ठो मे अब प्रसारकालीन समालोचना के प्रमुख समीक्षको का विवेचन कर उनकी मान्यताओ का स्पष्टीकरण किया जायगा। इन समालोचको मे प० इलाचन्द्र जोशी, श्री अज्ञेय, डा० रामविलास शर्मा, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि प्रधान है।

प्रसारकाल-२ के प्रमुख समालोचक और उनका विवेचन

(१)

पं० इलाचन्द्र जोशी

४६. प० इलाचन्द्र जोशी मूलत: कथाकार हैं और मानव-मनोविश्लेषण की अन्तश्चेतना को अपनी कथाओ का मूल आधार बना कर चलते हैं, अत. उनकी समालोचनाओ में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। उनके समालोचनात्मक निबन्धो के सग्रह 'साहित्य-सर्जना' 'विश्लेषण,'

'विवेचना', 'साहित्य-संतरण' (पं० गगाप्रसाद पांडेय के साथ), 'साहित्य-चिन्तन' और 'देखा-परखा' नामक पुस्तकों के रूप मे प्रकाशित हो चुके है, जिनमे उन्होने आधुनिक साहित्य की मनोविश्लेषण-वादी प्रवृत्तियों का निरूपण मुख्य रूप से किया है। उनकी समालोचनाओ का मुख्य विवेच्य विषय वाद-विश्लेषण और उपन्यास-साहित्य कहा जा सकता है, जिसकी पार्श्वभूमि मे अन्य भारतीय भाषाओं तथा पाश्चात्य साहित्यो के लेखकों का भी यथाप्रसग विवेचन हुआ है। शुक्लोत्तर-युग के अन्य वाद-समर्थक समालोचको की भाँति उनमे भी अपनी मान्यताओ के प्रति विशेष आस्था है और वे प्रगतिवादियो के दृष्टिकरणो मे रूढिवादिता और हठधर्मी की मात्रा अधिक पाते है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रगतिवाद और मनोविश्लेषणवाद के एकागी सिद्धान्तो को लेकर हिन्दी समालोचना-साहित्य में जो बहुत दिनों तक वाद-विवाद चलता रहा और जिसका आज भी अन्त नही हुआ है, उसका जोशीजी पर भी बहुत अधिक प्रभाव पडा और वे भी मार्क्सवादी दृष्टिकोण को अपूर्ण और अवैज्ञानिक सिद्ध करने के लिए उद्यत हो गये। प्रगतिवाद की आस्थाओ पर आक्रमण करते हुए वे कही-कही तो इतने अधिक असंयमित बन गये है कि उन्हे 'मूर्खतापूर्ण' तक कहने मे भी उन्हे किसी प्रकार का सकोच नही हुआ है। जोशीजी का इस प्रकार का आक्षेप अत्यन्त निमर्म और एकागी-सा है। बात यह है कि प्रगतिवाद अपने मे जितना अधिक उलझा हुआ नही है, उतना उसके समर्थको और विरोधियों ने बना दिया है। जोशी जी ने अपनी दृष्टि से भारतीय साहित्य मे प्रगतिशीलता की परम्परा का ऐतिहासिक विवेचन कर यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि इसका एक स्वाभाविक क्रम है, जिसे उनके दृष्टिकोण से ग्रहण करना समीचीन है। उन्होने प्रगतिवादी साहित्यकारो और समालोचकों को यह सम्पति दी है कि वे 'उनके नये प्रगतिवाद का अनुसरण' करें जिसमे वास्तविक वाह्य प्रगति तथा अन्तरीण प्रगति को समान समन्वयात्मक रूप से अपनाया गया है।"[2] इस प्रकार जोशी जी के अनुसार नूतन प्रगतिवाद रूढवादी प्रगतिवाद से भिन्न है, किन्तु उनकी दृष्टि भी एकपक्षीय हो सकती है, इस तथ्य की ओर उनका ध्यान कम गया है।

४७. जोशी जी को साहित्यकार की अन्तश्चेतना पर बहुत अधिक विश्वास है। उनकी विचारधारा मे फ्रायड की मान्यताओं का कही-कही इतना अधिक प्राबल्य है कि वे आदर्शपूर्ण भारतीय साहित्य को भी केवल उसी के प्रतिमान से विवेचित करने के लिए उद्यत हो गये हैं। जिन भक्त-कवियो ने राम-कृष्ण को अपना आराध्य बना कर काव्य-कला की लोकोत्तर स्थिति और ब्रह्मानन्द सहोदरता का चित्रण किया था, उनके अवचेतन पर भी वे दलित वासनाओं की ही छाया देखते है और कालिदास आदि की कृतियों में भी गलित युग-भावना के प्रति विद्रोह मानते है। उन काव्यकारो का आत्म-विश्लेषण करते हुए अपनी विवेचना के अन्तर्गत उन्होने यही सिद्ध करने का प्रयास किया है कि "इस प्रकार अपने अन्तर्मन की वासना-विस्फूरित कल्पनाओ को ब्रह्मानन्द की अलौकिक फैण्टेसी से एक रूप मे मिला कर वे लोग स्वयं मूर्खों के काल्पनिक स्वर्ग मे रहना पसन्द करते थे और जनता को भी उसी मूर्खतापूर्ण गोरख-धन्धे मे (जिसे काव्यशास्त्र विनोद का भारी भरकम नाम दिया जाता था) भरमाते रहने मे कुछ प्राप्त करते थे।"[3]

४८. इलाचन्द्र जी ने संस्कृत के साहित्यकारो के मनोविश्लेषण मे भी अभुक्त कामवासना की झलक देखी है और हिन्दी के भक्तिकाल तथा रीतिकाल को तो केवल उसी के उत्पीडन से युक्त सिद्ध किया है। उन्होने जयदेव आदि कवियों की शृगारिकता को अत्यन्त अस्वस्थ और विकृत बतलाया है और वे उसे दमित यौनवृत्ति के विकारो से ग्रस्त पागल का प्रलाप मात्र मानते हैं।[4]

१. प० इलाचन्द्र जोशी : 'विवेचना' की भूमिका, पृष्ठ १।
२. वही, पृष्ठ २।
३. वही, पृष्ठ ८।
४. वही, पृष्ठ १०।

इसी प्रकार चडीदास, विद्यापति आदि कवियों के भावोद्गार भी उन्हे स्नायु-विकारग्रस्त प्रतीत होते हैं। उन्होंने तुलसीदास को अपने युग का महान् प्रगतिशील कवि मान कर भी उनके नारी-विषयक विचारों तथा उनकी 'पूजिय विप्रशील-गुन हीना' आदि चौपाइयों मे अपना फ्रायडवादी सिद्धान्त घटित कर ही दिया है। इसी प्रकार मीरा के काव्य-गुणो की प्रशंसा करते हुए भी वे उसमे भी दमित-यौन-वृत्ति की झलक ही देखते है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अधिकाश प्रगतिवादी समालोचक देश-काल और सास्कृतिक धरातल का व्यापक दृष्टि से विचार किये बिना केवल जनवादी परम्परा मे ही प्रत्येक साहित्यकार की समीक्षा करना समीचीन समझते है, उसी प्रकार जोशी जी ने भी मनोविश्लेषणवादी समालोचक के रूप मे सर्वत्र अपने पक्ष की सामग्री का अनुसंधान करने की ही चेष्टा की है। कहने की आवश्यकता नही कि जोशी जी का यह दृष्टिकोण एकागी है, क्योंकि इससे साहित्य का सम्मिलन-भाव क्षत-विक्षत होकर अपनी मगलविधायिनी शक्ति खो बैठता है।

४६. जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है, जोशी जी ने हिन्दी-साहित्य की परम्परा में सर्वत्र यौन सम्बन्धी भावनाओ की विकृति पाई है और वे फ्रायड और एडलर की विवादग्रस्त धारणाओ को भी आर्ष प्रयोग के समान ग्रहण करते चले है, जो उन्हे बार-बार एक ही प्रतिमान से सभी प्रकार की काव्य-पद्धतियों और साहित्य-रचनाओ का समीक्षण करने के लिये प्रेरित करती हैं। इसमें कोई सन्देह नही कि हमारे जीवन और साहित्य मे यौन वृत्ति का एक प्रबल अंश है, किन्तु भारतीय चिन्ता ने उसके उच्छृंखल प्रदर्शन को पाशविकता के समकक्ष मान कर सयमित जीवन के आदर्श का जो पथ प्रदर्शित किया है, वह मानवता की मनोभूमि के अधिक निकट है। जोशी जी का इस प्रकार काम-वासनाओ का साहित्यगत अतर्भुक्त विवेचन एक विशेष श्रेणी के कलाकारो पर भले ही सगठित हो सके, किन्तु हमारे तपस्वी मनीषियो मे भी इसी प्रकार का तत्व-संधान करना भारतीय आदर्श के प्रतिकूल है। उन्होंने छायावादी और प्रगतिवादी कवियो पर अपनी मान्यताओ का जो आरोप किया है, उसका आभास उनके इस उद्धरण से मिल सकेगा :

"यौन सम्बन्धी मनोभावनाओ को छायावादी कविगण आवश्यकता से अधिक शालीनता के साथ जिस प्रकार के शब्द-जालो से ढकते जा रहे थे, उन सब आवरणों को अपरिपक्व प्रगतिवादियो ने नग्न अवस्था मे उघाडना शुरू कर दिया। जब सैक्स सम्बन्धी उन्माद कुछ ठंडा पडा तो साहित्य का एकमात्र विषय वर्ग-समस्या को हल करना बताया जाने लगा, और वह भी केवल प्रोलेटेरियन वर्ग के प्रतिदिन के जीवन के क्रियाचक्रो द्वारा।[1]"

५०. जोशीजी की समालोचनाओ से आभासित होता है कि वैसे तो वे छायावाद और प्रगतिवाद के मूल जीवन-दर्शन मे केवल अन्तर्मन की कुठा पाते है, किन्तु उन्हे छायावादी युग की एकान्तर्चिंतना से प्रगतिवादियो का बाह्य जगत् का जीवन-सघर्ष अपेक्षाकृत अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है। उन्हे प्रगतिवादियो से मूल अनुरोध यही है कि 'वे मार्क्स के सौ वर्ष पुराने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त को साहित्य-क्षेत्र मे ज्यो का त्यो आरोपित न करें।' उनका यह निर्णय किसी विशेष तथ्य-विश्लेषण के अधिक निकट न हो कर केवल यही सिद्ध करने के निमित्त है कि मार्क्स का जीवन-दर्शन अपूर्ण है और फ्रायड और एडलर का सम्पूर्ण। वस्तुत यही उनकी समालोचनाओ की एकागिता है। कालान्तर मे उन्हे अपनी इस भूल का आभास मिला तो वे स्पष्ट शब्दो में अपने आपको फ्रायडवादी कहने मे अपनी बदनामी समझने लगे।[2] साहित्य-चिन्तन पुस्तक मे

१. इलाचन्द्र जोशी : विवेचना, भारतीय साहित्य में प्रगतिशीलता की परम्परा, पृष्ठ २०।

२. "मैं फ्रायडवाद का समर्थक नही हूँ, हालाकि मेरे आलोचकों ने मेरी रचनाओं को फ्रायडवादी बता कर बदनाम कर रखा है।" साहित्य चिन्तन : 'प्रगति की नई दिशा', पृष्ठ ५८।

उनकी इस प्रकार की धारणा के अनेक स्थल मिलते हैं।

५१. जोशीजी ने विभिन्न परिस्थितियो और तिथियो मे जो अपने समालोचनात्मक निबन्ध लिखे है, उनसे उनकी विकसित चेतना का तो अनुमान हो जाता है, किन्तु ऐसी उपलब्धि नही होती, जिससे यह कहा जा सके कि उनके विचार-सूत्रो मे एक सुदृढ समन्वय है। साहित्य की प्रेरणा मे वे मनोविश्लेषणवाद और अंतर्मन की चेष्टाओ के प्रारम्भ ही से समर्थक रहे है, किन्तु छायावाद और प्रगतिवाद की रचनाओ के विषय मे उनके विचार समयानुक्रम से यत्किंचित् परिवर्तित भी होते गये है। सम्भव है, इस प्रकार का परिवर्तन उनके मानसिक विकास का ही प्रतिफल हो, किन्तु इससे उनके समालोचक-व्यक्तित्व की दृढता मे कमी अवश्य आती है। इससे मेरा यह अभिप्राय नही कि जोशी जी के लिए विकासमान विश्व के साथ न चल कर केवल पूर्वग्रही बना रहना ही समीचीन था, अपितु यह आशय अवश्य है कि यदि वे किसी भी साहित्यिक वाद के प्रति प्रारम्भ में इतना अधिक उग्र स्वर लेकर नही चलते तो अधिक अच्छा रहता और उनके विचारो का सम्यक् बोध करने मे पाठको को अधिक कठिनाई भी नही होती। पर इसके लिए जोशी जी को अधिक दोष भी नही दिया जा सकता, क्योकि उन्होंने जितनी भी समालोचनाएँ लिखी है वे सब स्फुट निबन्धो के रूप मे हैं और किसी विशेष निबन्ध मे एक ही मूलधारा का विवेचन होने के कारण कभी-कभी विरोधात्मक विचार आने भी सम्भव है। अत. उनका वास्तविक मूल्याकन करते समय उनके रचना-काल की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। इस दृष्टि से विचार करने पर जोशी जी के इस दोष का यत्किञ्चित् प्रक्षालन हो जाता है। हाँ, उनके कुछ निबन्ध ऐसे भी है जिनमे उन्होने मार्क्सवाद तथा फ्रायडवाद के अंतर्गत एक ही मूल सूत्र का सग्रथन करने का प्रयास किया है, किन्तु उसको अधिक पूर्ण बनाने के लिए जिस प्रकार की विवेचना अपेक्षित है, उसकी ओर वे कदाचित् अधिक ध्यान नही दे सके। उदाहरणार्थ उन्होने 'भारतीय साहित्य मे प्रगतिशीलता' शीर्षक निबन्ध मे यह तो अवश्य लिखा है कि 'वास्तव में मार्क्सवाद और फ्रायडवाद एक दूसरे के विरोधी न हो कर पूरक हैं,'[1] किन्तु उन दोनो की पूरक अवस्था का अभीष्ट विवेचन न होने से सामान्य पाठको के लिए वह अधिक बुद्धिग्राह्य नही बन सका है।

५२. जोशी जी ने अपनी विवेचना के अन्तर्गत बार-बार छायावाद और प्रगतिवाद की अग्राह्यता का विवरण दिया है, जिसका प्रमुख उद्देश्य उन पर अपने मनोविश्लेषणवाद का मुलम्मा चढाना प्रतीत होता है। एक समय था, जब उन्होने छायावादी काव्य और उसके रचयिताओ की बडी प्रशसा की थी और कामायनी जैसे छायावादी महाकाव्य को काव्य-क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ प्रगतिशील रचना सिद्ध किया था, किन्तु कालान्तर में उनका इस काव्यधारा के प्रति न जाने अन्तर्मन की किस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप इतना भयकर विद्वेष हो गया। कालान्तर में उन्होने अपनी समालोचनाओं मे जहाँ कही भी उसकी कठोर कुत्सा की है, वही उनका स्वर अत्यन्त उग्र और मर्मान्तिक हो गया है।[2] यहाँ तक कि वे छायावादी कवियो की उपलब्धि को "केवल अपने रुग्ण हृदयो की अलस रसावेशमयी भावनाओ के वासनोद्गारों से सारे साहित्यिक वातावरण को विषमय करने के अतिरिक्त"[3] और कुछ नही मानते। इतना ही नही, वे वर्तमान प्रगतिशीलता को 'छायावादी कविता की कलित कोमल नपुंसकत्व की ही प्रतिक्रिया मात्र" मानते हैं, "जिसमे स्वभावत: डिकेडेण्ट (गलित) कविता के आचार्य ही तथाकथित प्रगतिशीलता की उच्छृंखलता को सबसे अधिक सरगर्मी से अपना रहें है।"[4]

---

१. विवेचना पृष्ठ २२।

२. विवेचना में संकलित 'छायावादी कविता का विनाश क्यों हुआ?' शीर्षक लेख इसका ज्वलंत उदाहरण है।

३. इलाचन्द्र जोशी, विवेचना पृष्ठ ४२।

४. इलाचन्द्र जोशी, विवेचना, छायावादी कविता का विनाश क्यों हुआ? पृष्ठ ४३।

स्पष्ट है जोशी जी का यह विवेचन छायावाद और प्रगतिवाद पर एक भयकर आक्रमण, जिसमे आक्रोश का जितना अधिक तीव्र स्तर है उतना तथ्य-विवेचन का नही। सच तो यह है कि छायावाद और प्रगतिवाद हिन्दी-साहित्य मे अपने जो युग स्थापित कर चुके है, उन्हे इस प्रकार व्यग्यगर्भित वाणी द्वारा कदर्थित करना शोभनीय नही है, भले ही उनमे अनेक प्रकार की अपूर्णताएँ ही क्यो न रही हो। ऐसा लगता है कि जोशी जी इन वादो के रचयिताओ के प्रति पूर्वग्रह अथवा दुराग्रह का ही भाव अधिक रखते है, तभी तो उन्होने उनकी मौलिक उद्भावनाओ को यत्किंचित् भी महत्त्व न दे कर 'केवल विश्वकवि रवीन्द्रनाथ की कविता का उन पर भूत सवार होना' बतलाया है।[1] सम्भव है, जिन छायावादी कवियो का जोशी जी ने विवेचन किया है, उनमे कल्पना के इन्द्रजाल की झूठी चमक-दमक इतनी नही रही हो, किन्तु जोशी जी की 'विजनवती जैसी काव्य-रचना मे उनके निष्प्राण आत्मविलास तथा नि.शक्त अहम्मन्यता का यही पोपलापन वर्तमान है,' इसे स्वयम् उन्होने स्वीकार किया है।[2]

५३. जोशी जी की समालोचनाओ से प्रकट होता है कि वे फ्रायड की अपेक्षा एडलर के क्षतिपूर्ति वाले सिद्धान्त के अधिक निकट है। उन्होने सामान्यत सभी श्रेणी के कवियो को और विशेषत छायावादी कवियो को आत्महीनता की ग्रन्थि से छटपटाने के कारण ही छायामयी कल्पना का आश्रय ग्रहण करते हुए पाया है। उनका यह विश्लेषण इस बात का प्रतीक है कि जिस प्रकार छायावादी कवियो ने अपने काव्य-विश्लेषण को एक ओर अपार्थिवता की मनोभूमि पर एकातिक स्थिति प्रदान की थी, उसी प्रकार जोशी जी ने भी अपने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा उसका दूसरा छोर ढूँढ निकाला है जिसमे किसी प्रकार का सामजस्य अथवा सतुलन लाना सरल कार्य नही है। उनकी इस प्रकार काव्य-सृजन के मूल मे मनोविश्लेषणवादी प्रक्रिया की तत्त्व-योजना पश्चिमी मनोविश्लेषको से उधार ली हुई सी है जिसमे मौलिकता का समावेश बहुत कम हो सका है। यदि उनके विवेचन मे किसी प्रकार की मौलिकता है तो केवल यही कि उन्होने उसे भारतीय साहित्य पर घटित करने की चेष्टा की है। उनके पूर्व इस प्रकार का प्रयोग हिन्दी के समालोचना-साहित्य मे बहुत कम किया गया था, और सम्बर्धन तथा विकास-काल के समालोचक तो लोकादर्श की भावना मे फ्रायडवादी दृष्टि को ग्रहण करने मे एक प्रकार की विकृति भी पाते थे। ऐसी स्थिति मे शुक्लोत्तर युगीन समालोचना-साहित्य को मनोविश्लेषणवादी प्रसार प्रदान करने मे जोशी जी का नाम अवश्य लिया जायगा। यदि वे अपने मनोविश्लेषणशास्त्र को और अधिक व्यापक प्रसार दे कर भारतीय काव्य-शास्त्रो और काव्यकारो की मनोभूमिका के अधिक निकट रखते तो उनके द्वारा आदर्शनिष्ठ भारतीय वाङ्मय का भी अधिक सुन्दर विवेचन हो सकता था।

५४. जोशी जी को एडलर (आडलर) का क्षति-पूर्ति वाला सिद्धान्त इतना अधिक प्रिय है कि वे विश्व के महान् उन्नायको के जीवन मे भी उसी की प्रतिक्रिया पाते हैं। उन्होने प्रगतिवादी कवियो को भी उसी की हीनता-ग्रन्थि से प्रताडित बतला कर उनके समाज के प्रतिष्ठित नियमो को नष्ट करने के प्रयत्न को भी उसी का विकार माना है। उनका इस सम्बन्ध मे निम्निलिखित उद्धरण मेरे इस कथन का प्रमाण-स्वरूप होगा :

"आजकल हम लोग नये मतवाद के प्रचारको की कविताओ मे शोषित मानवता के प्रति जो सहानुभूतिमूलक साम्यवादी उक्तियाँ पढते है, वे घोर असाम्यवादी, आत्मकामी, अहकारी और मानव-विद्वेषी कवियो के नये अस्त्र है, जिन्हे वे देश, काल और पात्र के अनुसार अपनो

---

१ इलाचन्द्र जोशी : 'विवेचना' : 'छायावादी कविता का विनाश क्यों हुआ ?' पृष्ठ ४६।

२. वही, पृष्ठ ५१।

विजयाकाक्षा की चरितार्थता के लिये प्रस्तुत करते हैं।"[१]

५५. जोशी जी की समालोचनाओ का एक व्यावहारिक पक्ष भी है, जिसके अन्तर्गत उन्होने आधुनिक काव्य तथा कथा-साहित्य के क्षेत्र मे कार्य करने वाले कलाकारो की रचनाओ के विशेष स्थलो का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किया है। उनके कुछ समीक्षात्मक निबन्ध तो अत्यन्त साधारण कोटि के है जैसे 'उपेक्षिता उर्मिला', 'प्रसाद की काव्यधारा और उसकी परिणति' आदि; किन्तु उनमे भी उन्होने यथाप्रसग कही-कही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचारणाएँ प्रस्तुत की हैं। वे व्याख्यात्मक-पद्धति मे प्रसाद जी की काव्यधारा का क्रमिक विकास अंकित करते हुए 'कामायनी' महाकाव्य को छायावाद-युग से भिन्न कोटि का मानते है, क्योकि 'उसमे प्रसाद जी ने छायावादी कवियो की भाँति सीमित और अहंगत अन्तर्वेदना और घोर असामाजिक तथा आत्मगत भावना का परिचय नही दिया'।[२] उनकी दृष्टि मे 'कामायनी' हिन्दी-जगत् का सर्वप्रथम और सर्वोत्कृष्ट प्रगतिशील काव्य है, जिसमे कवि ने मानवात्मा की चिरन्तन पुकार को वाणी दी है। जोशी जी ने 'कामायनी' काव्य से कतिपय उद्धरण दे कर अपने मत की पुष्टि की है और उसे गेटे के 'फाउस्ट' के समकक्ष सिद्ध किया है। अपने 'कामायनी' शीर्षक स्वतन्त्र निबन्ध मे भी उन्होने कामायनी काव्य के कला-पक्ष और भाव-पक्ष से सम्बन्धित अनेक अंगो का सोदाहरण विवेचन कर उसे महान् आदर्श भावना से ओत-प्रोत माना है। इसी प्रकार प्रसाद के कथा-साहित्य और 'ककाल' के विवेचन मे उन्हे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यही लगी कि 'प्रसाद जी ने सर्व प्रथम अपने उपन्यासों द्वारा हिन्दी उपन्यास-जगत् मे ऐसे पात्रो की अवतारणा की, 'जिनका जन्म ही समाज-निषिद्ध था तथा जिनके जीवन-सघर्ष का क्रम भी सामाजिक दृष्टि से दुर्बलताओ से भरा हुआ था।'[३] इस दृष्टि से जोशी जी को प्रसाद जी प्रेमचन्द जी से अधिक सजीव लगे हैं।

५६. जोशी जी की व्यावहारिक समालोचनाओं मे विश्लेषण के साथ साथ प्रभावाभिव्यजक पक्ष भी है, जिसमे वे किसी भी समालोच्य कलाकार की समीक्षा करते हुए उन बातो की ओर भी विशेष रूप से आकृष्ट होते है जिनका उनके मानस पर प्रभाव पडा है। प्रेमचन्द जी की कला का मूल-तत्त्व विवेचित करते समय उन्होन इसी पद्धति को अपनाया है। वे प्रेमचन्द जी की रचनाओ के प्रति आस्था रखते हुए भी उनकी कला को पुरुष-प्रधान मानते है जिसमे नारी-जीवन के मधुर तथा आतरिक पक्ष का उद्घाटन नही हुआ है।[४] इसी प्रकार उन्होने प्रेमचन्दजी की रसानुभूति को भी पुष्ट और व्यापक नही माना है तथा उनकी कला मे केवल मस्तिष्क का चमत्कार पाया है। स्पष्ट है कि जोशी जी की इस धारणा का दृष्टि-बिन्दु उनका प्रेमचन्द जी से कला सम्बन्धी मतभेद है तथा वे यह मानकर चलते हैं कि 'नारी की मूल शक्ति से प्रेरित हुए बिना किसी भी यथार्थ सृजनात्मक साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा नही हो सकती।'[५]

५७ उपन्यासकार होने के कारण जोशी जी की सहज प्रवृत्ति उपन्यासों के विवेचन की ओर रही। उन्होने विश्व-साहित्य की क्रोड मे विकसित होने वाले उन्नीसवी शताब्दी तथा उसके उत्तरवर्ती उपन्यास-साहित्य का विवेचन ऐतिहासिक पद्धति की क्रमबद्धता मे किया है जिसमे प्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार टालसटाय, तुर्गनेव, डास्टाएव्सकी' चेकाफ और गोर्की आदि की रचनाओ के मूल मनोभावो का सिंहावलोकन हुआ है। इस विवेचन के अन्तर्गत उन्होंने टालसटाय के 'अन्ना

१. प० इलाचन्द्र जोशी · 'विवेचना', प्रथम सस्करण : पृष्ठ ६६।
२. वही, पृष्ठ २२।
३. वही, पृ० ४७।
४. वही, पृ० ५२-५३।
५. वही पृ० ५८-५६।

कैरिनन' नामक उपन्यास की विशेष विवेचना की है जिसने किसी समय विश्व-साहित्य मे अभिनव क्रान्ति का सूत्रपात किया था। शरत्चन्द्र के उपन्यासो मे भी उन्हे पीडित मानवता के चित्रण के जो दृश्य दृष्टिगोचर हुए है, उनकी प्रेरणा उन्होने पूर्वोक्त लेखको की कृतियो से ही स्वीकृत की है। उक्त उपन्यासकारो की कथा-वस्तु के कतिपय स्थल विवेचित कर उन्होने अपने कथन की पुष्टि भी की है। इस विश्लेषण मे उनका मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण सर्वत्र परिलक्षित है। शरद् बाबू के प्रभाव से हिन्दी-उपन्यासकारो ने अपना जो रचना-कौशल अथवा दृष्टिकोण निर्धारित किया, उसकी उन्होने एक सीमा तक ही प्रशसा की है, क्योकि उनके चरित्र-चित्रण मे उन्हे छाया-युग के सस्ते रोमास की ही झलक अधिकाशत मिली है। उनका शरद् के नारी-चित्रण की आदर्श-मयता से भी विरोध है। वे उस आदर्शवाद का खडन करते है जिसमे यथार्थ जीवन की ओर झाकने की दृष्टि न हो कर केवल कल्पना-लोक के मादक स्वप्नो की अभिव्यजना की जाती है। इस विवेचन का मुख्य आधार उन्होने शरद् बाबू की उपन्यास-कला को बनाया है और अन्तत उस कला का विरोध किया है जो 'नपुसक रोमाटिक भावुकता को बढावा देकर दमित यौन-वृत्ति से पीडित, निकम्मे और आलसी पात्रो के गुणगान' मे प्रयुक्त होती है।[1] उनके मतानुसार ऐसी कला के द्वारा समाज तथा जीवन का कोई हित-सम्पादन नही हो पाता।

५८ जैसा कि प्रारम्भ मे सकेत कर दिया गया है, जोशी जी की मूल समालोच्य चेतना मनोविज्ञान है, अतः उनके अधिकाश निबन्धो मे केवल उसी का तत्त्व-संयोजन मिलता है। उन्होने सूर और तुलसी की कृतियो से लेकर वर्तमान युग तक विकसित होने वाले हिन्दी-साहित्य मे मनो-विज्ञान का विवेचन किया है। सूर और तुलसी की काव्य-प्रशसा करते हुए भी जोशी जी उनमे 'गहरे मनोवैज्ञानिक चमत्कार नही पाते, द्विवेदी युग के अन्तर्विज्ञान के क्षेत्र मे कवियो और लेखको का जैसे दिवाला ही निकल गया।'[2] हाँ, छायावाद-युग से उसकी प्रवृत्ति मे विकास-चिन्ह प्रदर्शित हुए और द्विवेदी-युग के अवसान-काल से प्रेमचन्द द्वारा कथा-साहित्य मे वह प्रस्फुटित होने लगा। जोशी जी के अनुसार प्रेमचन्द जी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण छिछला है और उनकी कला मे जीवन के मार्मिक सत्य का भी सफल उद्घाटन कम ही हुआ है। इसी प्रकार 'भारत-भारती' को भी उन्होने कला की दृष्टि से असफल रचना माना है, भले ही उसका किसी समय अत्यधिक प्रचार क्यो न रहा हो। आधुनिक भारतीय साहित्य मे मनोवैज्ञानिक उपन्यासो का प्रारम्भ उन्होने बंकिम-चन्द्र से माना है जिनसे विकसित होती हुई यह परम्परा रवीन्द्रनाथ, शरत्चन्द्र, जैनेन्द्र, अज्ञेय तथा उनके उपन्यासो तक क्रमशः चली आई है। जोशी जी ने जैनेन्द्र की उपन्यास-कला तथा मनोविश्ले-षण विधि की प्रशंसा करते हुए उन आलोचको की घोर निन्दा की है जो जैनेन्द्र के साहित्य को समाजघाती तथा अकल्याणकारी मानते है। अज्ञेय जी की 'शेखर एक जीवनी' नामक रचना उन्हे जीवनी, उपन्यास और दर्शन के बीच की कोई ऐसी चीज लगी है जिसका मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण ऐसे अहंभाव के अधिक निकट है जिसका समाज-कल्याण से सम्बन्ध हो ही नही सकता। उन्होने अपने उपन्यासो का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अहभाव की ऐकातिकता पर निर्भय प्रहार करना बतलाया है, जो अज्ञेय जी से सर्वथा विपरीत है।[3] इस प्रकार आधुनिक युग मे साहित्यगत मनो-विज्ञान की महत्ता की प्रशसा करते हुए जोशी जी ने उन मार्क्सवादी समालोचको की निंदा की है "जो साहित्य मे प्रतिपादित किये गये मनोवैज्ञानिक सत्यो का उपहास करने पर तुले हैं और अपने सगठित साहित्यिक प्रचार-कार्य द्वारा इस उद्देश्य की सफलता के लिए पूर्ण प्रयत्न कर रहे है कि

---

१. इलाचन्द्र जोशी : विवेचना आधुनिकतम उपन्यास का दृष्टिकोण पृष्ठ ११३।

२. इलाचन्द्र जोशी विवेचना आधुनिक हिन्दी साहित्य में मनोविज्ञान' पृ० ११६।

३. वही, पृ० १२३।

साहित्य-कलाकार मनोविज्ञान को एक ताक पर रख कर अतर्जीवन के सत्यो की पूर्ण उपेक्षा करे और केवल उन राजनीतिक तथा समाजवादी तथ्यो का उद्घाटन करे जो बाह्य जीवन-चक्रो के पारस्परिक सघर्ष (श्रेणी-सघर्ष) के रूप मे परिपुष्ट होते है।"[1]

५६. जोशी जी का उपन्यास साहित्य विषयक अध्ययन अत्यन्त विस्तृत है। उन्होने पाश्चात्य देशो के प्रमुख उपन्यासकारो का अध्ययन कर कथासमीक्षण की एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त की है। उस अध्ययन से भारतीय आदर्शवाद की अपेक्षा वर्तमान यथार्थवाद के प्रति उनका अधिक झुकाव हुआ है और वे उन विचारको का विरोध करते है जो सर्वत्र आदर्श तथा धीरोदात्त नायकों की अवतारणा कथा-साहित्य मे करना चाहते है। जोशी जी ने विश्व के प्रमुख उपन्यासकारो की कृतियो के उदाहरण देकर यथार्थवाद को उपन्यास-कला के सौष्ठव का प्रतिमान माना है। विरोधी पक्ष का खंडन करते समय तो उनका स्वर अत्यन्त उग्र हो गया है। उनकी इस प्रकार की उग्रता से हमारे साहित्य मे आलोचना-प्रत्यालोचना का भी एक सुदीर्घ सिलसिला चला, जिसका ज्ञान उनके 'आलोचना मे अनाचार' शीर्षक निबन्ध से हो सकता है जिसमे उन्होने जून, सन् १६४३ के 'विशाल-भारत' मे प्रकाशित उनके उपन्यास 'प्रेत और छाया' के सम्बन्ध मे प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त द्वारा लिखी हुई आलोचना का प्रत्युत्तर दिया हे। इस निबन्ध मे स्वपक्ष-मडन और परपक्षखडन का ही दृष्टिकोण मूल रूप से झलकता है, जिसमे वैयक्तिक विरोध की भावना भी प्रस्फुटित हो गई है। उनके अन्य समालोचनात्मक निबन्धो मे 'चिरयुवा और चिरजीवी रवीन्द्रनाथ', 'प्राचीन युग का यथार्थवादी नाटक. मृच्छकटिक', 'शरत्चन्द्र की प्रतिभा', 'मानवधर्मी कवि चडीदास', 'शेक्सपीयर का हेमलेट', 'निराला जी की काव्य-प्रतिभा का मूल स्वर', 'पतजी की स्वर्ण-चेतना मे क्रान्तिकारी स्फोट', 'जीवन का महान् विश्लेषक गेटे', 'कलाकार रोमाँ रोला', 'गद्यकार महादेवी' और 'रहीम और उनकी कविता आदि प्रमुख है जिनमे व्यावहारिक समालोचना के पक्ष का प्रस्फुटन हुआ है। समीक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष से सम्बन्धित निबन्धो मे 'आधुनिकतम उपन्यास का दृष्टिकोण', 'मानवीय व्यक्तित्व और साहित्य-सर्जना', 'सात्र' का अस्तित्ववाद', 'साहित्य-कला और विरह-काव्य मे अस्पष्टता', 'रूपक-रस', 'साहित्य मे वैयक्तिक कुठा', 'कला मे सौन्दर्य का आदर्श', 'साहित्य मे प्रेमतत्व तथा विषाद-रस' आदि की गणना की जा सकती है। साराश यह है कि जोशीजी की प्रतिभा मुख्यतया आधुनिक साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियो और उनके निर्माताओ के विश्लेषण मे ही अधिक रमती रही है और वे समीक्षा-क्षेत्र मे मनोविज्ञान का अनिवार्य पक्ष उद्घाटित करने के कारण शुक्लोत्तर युग की प्रसारकालीन समीक्षा की मनोविश्लेषक-पद्धति के एक प्रमुख समालोचक है। आजकल उनकी जो वार्ताएँ अथवा समीक्षात्मक निबन्ध प्रकाशित हो रहे है उनमे फ्रायडवादी विचारधारा के स्थान पर भारतीय साहित्य की समन्वयपूर्ण दृष्टि का क्रमशः अधिकाधिक प्रभाव प्रकट होने लगा है[2] जो इस बात का प्रतीक है कि शनैः शनैः प्रसारकालीन समालोचक भी अपने अतिवाद के पथ को छोड़ कर किसी गम्भीर तथा व्यापक दृष्टिकोण की उपलब्धि के लिए प्रयास-तत्पर हैं।

(२)

श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

६०. अज्ञेय जी आधुनिक हिन्दी-साहित्य की एक नवीन शिल्प-विधि के कथाकार और मनोविश्लेषणवादी समालोचक हैं, जिनके प्रमुख समालोचनात्मक निबन्धो का संकलन 'त्रिशंकु' के

१. इलाचन्द्र जोशी : 'विवेचना' पृ० १२५।
२. प० इलाचन्द्र जोशी· विश्लेषण, 'विश्व साहित्य में मनोविज्ञान' पृष्ठ १०८।

नाम से प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक मे उनके भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे लिखे गए तथा पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित निबन्ध हैं, जिनसे उनका साहित्य-विषयक दृष्टिकोण समझने मे पर्याप्त सहायता मिलती है। पुस्तक की भूमिका से स्पष्ट है कि ये निबन्ध उनके अनेक वर्षों की साधना और अध्ययन के परिणाम है, जिनके द्वारा उन्होने अपनी साहित्य-सम्बन्धी धारणाओ को आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे सघटित करने का प्रयास किया है। वे प्रारम्भ ही से यह मान कर चले हैं कि 'आलोचना मे नया कम होता है।[1]' अत उनके इन निबन्धो मे भी अपेक्षित मौलिकता की न्यूनता मिले, तो वह स्वय लेखक की स्वीकृति के अनुसार स्वाभाविक है। फिर भी यह बात अवश्य है कि इन निबन्धो के द्वारा अज्ञेय जी ने संघर्षयुगीन साहित्य के मूल्याकन के लिए दृष्टिकोण अवश्य दिया है, जिसमे भले ही किसी बहुत व्यापक मानदण्ड का अभाव हो, किन्तु लेखक का यह कथन कि 'उनका त्रिशंकु युग-युगान्तर तक अधर मे टँगा रह सकता है'[2] दम्भपूर्ण नही कहा जा सकता। निश्चय ही इन निबन्धो के द्वारा अज्ञेय जी ने हिन्दी के साहित्यकारो और समालोचको के लिए मनन तथा चिंतन करने योग्य पर्याप्त सामग्री प्रदान की है। इन निबन्धो मे प्रमुखता तो सैद्धान्तिक पक्ष की है, किन्तु पुस्तक के परिशिष्ट के अन्तर्गत 'केशव की कविताई', 'चार नाटक', 'दो फूल', 'आधुनिक कवि महादेवी वर्मा' पर पुस्तकालोचन की विधि मे सामान्य परिचयात्मक व्यावहारिक समालोचनाएँ भी है। पुस्तक मे संकलित 'रूढि और मौलिकता' शीर्षक निबन्ध तो श्री टी० एस० इलियट के एक लेख का प्राय: भावानुवाद ही है। इसी प्रकार 'कला का स्वभाव और उद्देश्य' नामक निबन्ध मे उन्होने प्रसिद्ध मनोविश्लेषणवादी एडलर की कला-विषयक मान्यताओ का ही विश्लेषण प्रधान रूप से किया है। शेष निबन्धो मे भी उनकी अधीत विचारणा की झलक है। चूँकि इस प्रकार की समालोचनाएँ शुक्लोत्तर-युग मे एक नवीन परम्परा का श्रीगणेश करने मे कारण बनी थी, अत. अज्ञेय जी के इस संकलन का भी इस दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व है। इनके कुछ निबन्धो का स्वरूप तो विशुद्ध साहित्यिक न हो कर केवल विचार-पक्ष प्रधान हो गया है, जिनमे साहित्य के प्रतिमान-निर्धारण का एक सामान्य दृष्टिकोण मात्र है।

६१ अज्ञेय जी ने यद्यपि 'कला का स्वभाव और उद्देश्य' का विवेचन आधुनिक मनोविश्लेषणवादी दृष्टिकोण से किया है, किन्तु उनके विश्लेषण की पद्धति एक प्रकार से भारतीय समीक्षा की शास्त्रीयता के बहुत निकट है। इसका प्रमाण यह है कि उन्होने कला का विस्तृत विवेचन करने के पूर्व प्रारम्भ मे सूत्र-रूप मे उसकी परिभाषाएँ दी है और तदुपरान्त उसकी व्याख्या करने का प्रयास किया है। उनकी कला-विषयक परिभाषा तत्कालीन हिन्दी-समालोचना के क्षेत्र मे सर्वथा नूतन थी, क्योकि उन्होने उसका दृष्टिकोण विशुद्ध साहित्यिक न रख कर मनोवैज्ञानिक रखा था। उनके मतानुसार "कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है"[3] जिसका विश्लेषण उन्होने आदि-युग के मानव-समाज की कल्पना करते हुए किया है। हमारे भारतीय साहित्य मे क्रौंच-वध की कथा के आधार पर महर्षि वाल्मीकि की जिस करुणा-विगलित वाणी को काव्य-सृजन का मूल स्रोत माना जाता है, उसके प्रति आस्था रखते हुए भी अज्ञेय जी ने कला-सृजन का मूल-बिन्दु उसके भी पूर्ववर्ती युग मे ढूँढा है जब मनुष्य-समाज मे सभ्यता नाम की वस्तु का कोई विकास ही नही हुआ था और वह गुफाओ और कन्दराओ मे अन्य पशुओ का सा जीवन व्यतीत करता था। अज्ञेय जी को कला-निर्माण के आदि-स्वरूप का प्रतिपादन करने मे उस समाज

---

१. श्री अज्ञेय : 'त्रिशंकु', प्रथम सस्करण १९४५, भूमिका का प्रारम्भ, पृष्ठ ७।
२. वही, प्रकाशन के पूर्व दूसरी भूमिका पृष्ठ ८।
३. वही, पृष्ठ २३।

की कल्पना कदाचित् इसलिए करनी पडी है कि वे कला-सृजन के मूल मे एडलर की उस मान्यता का प्रतिपादन करना चाहते है जिनके अनुसार वह हमारी क्षतिपूर्ति का अतिरिक्त साधन सिद्ध होती है। अज्ञेय जी ने आदिम युग के मानव-समाज का क्रमिक विकास विवेचित कर तथा व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सूत्र-सम्बन्ध का निर्देश कर प्रथम कलाकार तथा उसकी कला का परिचय इस प्रकार दिया है—

"हमारे कल्पित कमजोर प्राणी ने हमारे कल्पित समाज के जीवन मे भाग लेना कठिन पा कर अपनी अनुपयोगिता की अनुभूति से आहत हो कर, अपने विद्रोह द्वारा उस जीवन का क्षेत्र विस्तृत कर दिया है उसे एक नई उपयोगिता सिखाई है—सौन्दर्य-बोध। पहला कलाकार ऐसा ही प्राणी रहा होगा, पहली कला-चेष्टा ऐसा ही विद्रोह रही होगी—फिर चाहे वह रेखाओ द्वारा प्रकट हुआ हो, चाहे वाणी द्वारा, चाहे ताल द्वारा, चाहे मिट्टी के लोदो द्वारा।"[१]

६२ अज्ञेय जी ने कला की परिभाषा मे प्रयुक्त समाज तथा अपर्याप्तता का विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान तथा समाज-शास्त्र की दृष्टि से किया है। वे समाज का अभिप्राय उस परिवृत्ति से लेते है जिनके साथ व्यक्ति किसी प्रकार की आत्मीयता का अनुभव करता है और अपर्याप्तता के अन्तर्गत मनुष्य की उन भावनाओ का समावेश करते है जिनकी हीनता की क्षतिपूर्ति के लिए वह क्रियाशील बनता है। इस प्रकार अज्ञेय जी के अनुसार कला निश्चय ही अपर्याप्तता की भावना के प्रति व्यक्ति का विद्रोह है जिसके स्वभाव तथा उद्देश्य के सम्बन्ध मे उन्होने निम्न-लिखित निष्कर्ष निकाले है :

"कला सम्पूर्णता की ओर जाने का प्रयास है, व्यक्ति की अपने को सिद्ध प्रमाणित करने की चेष्टा है, वह एक प्रकार का आत्मदान है, जिसके द्वारा व्यक्ति का अहं अपने को अक्षुण्ण रखना चाहता है। सच्ची कला कभी भी अनैतिक नही हो सकती। वह अन्तत एक नैतिक मान्यता (ऐथिकल वैल्यू) पर आश्रित है।"[२]

६३. अज्ञेय जी के विवेचन से स्पष्ट है कि वे कला मे आत्मदान को बहुत अधिक महत्त्व देते है। वे आत्मदान के अन्तर्गत केवल अह की सिद्धि ही नही मानते, अपितु अह की पुष्टि का भी समावेश करते है। इसका अभिप्राय यह है कि वे व्यक्ति की पूर्णता तथा स्थिति के लिए आत्मदान की अनिवार्य अपेक्षा अनुभव करते है, पर यह आत्मदान केवल नैतिक मान्यता के लिए ही न होकर स्वान्तःसुखाय भी होना चाहिए क्योकि उसका सम्बन्ध समाज के प्रतिदान से भी है। इस प्रकार अज्ञेय जी के मतानुसार कला मे आत्मदान का बडा महत्त्व है, जो सौन्दर्य की उपलब्धि के लिए भी सतत सचेष्ट रहता है।"[३]

६४. वैसे तो रूढि और मौलिकता केवल साहित्य-क्षेत्र मे ही प्रयुक्त होने वाले शब्द नही है, अपितु इनकी सत्ता राजनीति, समाजशास्त्र तथा सास्कृतिक धरातल तक व्याप्त है, किन्तु समालोचना के सैद्धान्तिक पक्ष के अन्तर्गत भी उनका यथेष्ट महत्त्व है, यह एक स्पष्ट सत्य है। विभिन्न देशो के साहित्यो मे इनके आधार पर साहित्य-विवेचन तथा मूल्याकन करने के प्रयास किए गए हैं। अज्ञेय जी ने टी० एस० इलियट को अपना आधार बना कर एतद्-विषयक विवेचना प्रस्तुत की है। उस विवेचन से स्पष्ट है कि अज्ञेय जी रूढि और मौलिकता के प्रति कोई परम्परा-भुक्त धारणा लेकर नही चले है, अपितु उन्होने विशुद्ध तात्विक दृष्टि से उनका विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार रूढि केवल प्राचीन साहित्य की अग्राह्य तथा खडनीय परिपाटी

---

१. अज्ञेय : त्रिशकु, 'कला का स्वभाव और उद्देश्य', पृष्ठ २६।
२. वही, पृष्ठ २८।
३. वही, पृष्ठ २६।

ही नही है, अपितु इसके अन्तर्गत किसी भी साहित्यकार की उस साहित्यिक चेतना तथा साधना का भी समावेश किया जा सकता है जिसके द्वारा वह प्रौढता प्राप्त करता है। इसके लिए उन्होने ऐतिहासिक चेतना का भी महत्त्व स्वीकार किया है, जिसके द्वारा प्रतिभाशाली साहित्यकार अतीत और वर्तमान का सम्बन्ध जोड कर अपनी मौलिकता प्रकट करता है। उनकी तो स्पष्ट धारणा है कि "कोई भी कला-वस्तु चाहे कितनी ही नई क्यो न हो ऐसी वस्तु नही है जो अकस्मात अपने आप घटित हो गई है। वह ऐसी वस्तु है, जो अपनी पूर्ववर्ती परम्पराओ के साथ घटित हुई है।"[1] इस प्रकार अज्ञेय जी के मत से पुरातन और नूतन तथा रूढ और मौलिक सापेक्षिक शब्द है जिनका अन्तर्सूत्र प्रत्येक कलाकार की रचना मे अनिवार्यत विद्यमान रहता है और इन दोनो के तारतम्य से ही किसी भी कला-कृति का सम्यक् मूल्याकन किया जा सकता है। अज्ञेय जी ने इस विवेचन द्वारा साहित्य-परीक्षण के लिए सुन्दर निकर्ष प्रदान किया है जिसका आशय यह है कि नवीन से नवीन साहित्य का मूल्याकन करते समय भी केवल नूतन अभिव्यक्ति को ही मौलिक न मानकर उसका अतीत-कालीन साहित्य से भी सम्बन्ध जोडना चाहिए।

६५ रूढि और मौलिकता के प्रसंग मे ही अज्ञेय जी ने इलियट की उस मान्यता का विश्लेषण किया है जिसके अनुसार वह कविता को भावो की मुक्ति मानता है तथा उसे व्यक्तित्व की अभिव्यजना न कह कर व्यक्तित्व से मोक्ष निर्दिष्ट करता है। उन्होने आलोचना का विषय साहित्यकार और कवि को न मानकर उनकी कृतियो को माना है। वे काव्य-परीक्षण के लिए मन की उस धातु की परीक्षा आवश्यक समझते है जिससे साहित्य उद्भूत होता है।[2] इसी प्रकार उन्होने रचना का समन्वय रचनाकार के मन के साथ करना आवश्यक बतलाया है। उन्होने कवि के मन की उपमा ऐसी भट्टी से दी है जिसके ताप मे विभिन्न धातुएँ पिघल कर एकरस हो जाती हैं।[3] उनके अनुसार जितना ही महान् कलाकार होगा, उतनी ही उसकी माध्यमिकता परिष्कृत होगी।[4] इस प्रकार उन्होने हमारे साहित्य-शास्त्र मे विवेचित स्थायी और सचारी भावो का भी क्षेत्र-निर्धारण कर इस बात की सम्मति दी है कि कला का रस कला मे ही ढूंढा जाय। उसका यह सारा विश्लेषण इलियट की भावधारा का ही प्रकाशन है क्योकि वह भी इस सिद्धान्त को मानता था कि रचनाकार का महत्त्व रचना करने की क्रिया की तीव्रता मे है।

६६ यह तो एक सामान्य सिद्धान्त है कि साहित्य के निर्माण मे व्यक्ति के अह के अतिरिक्त उसके वातावरण का भी पर्याप्त योग रहता है जिसने उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए एक प्रकार का उपादान प्रदान किया हो, किन्तु अज्ञेय जी ने इस विषय को भी आधुनिक मनोविज्ञान का ही एक स्वरूप दे कर स्पष्ट करने की चेष्टा की है। आज के युग-जीवन मे जिस प्रकार का सघर्षपूर्ण तथा सस्ती अनुभूतियो वाला साहित्य लिखा जा रहा है, उसका कारण अज्ञेय जी ने हमारी यान्त्रिक दृष्टि तथा उसके रूप मे ढली हुई हमारी विशेष प्रकार की मन. स्थिति को ही निर्दिष्ट किया है। उन्होने इन प्रवृत्तियो के मूल सूत्र का विवेचन करते हुए बतलाया है कि 'अपनी स्त्री का आदर्शीकरण, स्त्री के नाम से कहानियाँ छपा कर लेखिका (सस्कृत) स्त्री पाने की इच्छा-पूर्ति (विशफुलिल्मेट) आदि ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिनसे आधुनिक युग की कुण्ठा समझी जा सकती है।"[5] इस विषय मे अज्ञेय जी का तो स्पष्ट निर्णय है कि "आज का हिन्दी साहित्य अधिकाश

१. अज्ञेय . 'त्रिशकु', रूढि और मौलिकता, पृष्ठ ३२।
२. वही, पृष्ठ ३७।
३. वही, पृष्ठ २८।
४. वही, पृष्ठ ३८।
५. वही, पृष्ठ ४७।

मे अतृप्ति का, या कह लीजिए, लालसा का, इच्छित विश्वास (विशफुल थिंकिंग) का साहित्य है।"[1] अज्ञेय जी का यह निर्णय परम्परावादी समीक्षा के लिए सजग बन कर चलने की मानो एक प्रकार की चुनौती-सी थी जिसमे उस क्षेत्र मे एक नवीन विधि की भावक्रान्ति का सूत्र-पात सा हो गया। उन्होने अपनी वस्तुपरक तथा यथार्थवादी दृष्टि से मनोवैज्ञानिक आधार लेकर उपर्युक्त कथन की सत्य-सिद्धि आधुनिक साहित्य के प्रमुख साहित्यकारों की कृतियो की मूल-चेतना को लेकर की है। आधुनिक युग मे जिस प्रकार की संक्रमणशीलता का जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे आधिपत्य है, उसका विश्लेषण कर उन्होने आधुनिक साहित्य मे केवल दौर्हृद, क्लाँति तथा अतृप्ति की ही गन्ध पाई है। अपने सिद्धान्त की सार्थकता के लिए उन्होने जहाँ एक ओर प्रेमचन्द जी के साहित्य मे समाज की त्रुटियो तथा अपर्याप्तता का तत्वान्वेषण कर उनमे भी विशफुल थिंकिंग का एक हल्का-सा पर्दा खोज निकाला है तो वे दूसरी ओर जैनेन्द्र के साहित्य मे भी युग-परिवेश के कुण्ठित व्यक्ति का ही जीवन-दर्शन पाते है।[2] कमला चौधरी की कहानियो मे उन्हे अतृप्ति का मूल कारण समाज से सम्पूर्णतया पलायन का भाव दृष्टिगोचर हुआ है तो महादेवी जी को भी वे निरपवाद रूप से रहस्यवादी कवयित्री न मानकर उनमे किसी रहस्यमय इष्ट पुरुष की अलौकिक विरह वेदना के स्थान पर वे केवल घर लौटने की दोर्हृदपूर्ण मन. स्थिति ही पाते है।[3] इसी प्रकार उन्होने बच्चन, सियारामशरण गुप्त तथा प्रसाद की कृतियो मे अपना उपर्युक्त सिद्धान्त घटित किया है, जो उनके मतानुसार इन कवियो की मानसिक कुठा का ही निर्देश करता है। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि अज्ञेय जी गुण-दोष के विवेचन मे ही किसी रचना की आलोचना पूर्ण नही समझते, अपितु उनकी दृष्टि मे रचयिता की मन-स्थिति का विश्लेषण करना भी आलोचना के लिए आवश्यक है। इस प्रकार अज्ञेय जी ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षा-क्षेत्र मे एक ऐसा प्रतिमान उपस्थित किया है जो हिन्दी-समालोचना के विकास मे नूतन है तथा जिसमे रचयिता के मनस्तत्व के विश्लेषण के साथ-साथ उसकी परिवृत्ति, यथार्थवादी दृष्टिकोण तथा जीवनोद्भूत क्रिया-प्रतिक्रिया का भी पर्याप्त मात्रा मे समावेश है।

६७. अज्ञेय जी का आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र विषयक अध्ययन अत्यन्त व्यापक है और उन्होने उसको अगीभाव के रूप मे महत्त्व देकर मौलिक उद्भावनाएँ भी प्रस्तुत की हैं, किन्तु उनका स्वर अपनी विरोधो विचार-धारा के प्रति मर्यादा का उल्लघन बहुत कम कर सका है। शुक्लोत्तर युगीन छायावादी प्रवृत्तियो का विरोध करने वाले अन्य समालोचको मे जो वैयक्तिक आक्षेपो तथा कटु व्यंग्यो की प्रवृत्ति मिलती है, वह अज्ञेय जी मे कम है। वस्तुतः उन्होने तो साहित्य-समीक्षा के लिए एक दृष्टिमात्र प्रदान की है और उसी के प्रतिमान से उसका परीक्षण किया है। उन्होंने 'साहित्य और प्रगति', 'राजनीति और साहित्य' तथा 'साहित्य किसके लिए'? इन तीन प्रमुख प्रश्नो के आधार पर सक्रान्ति काल की कुछ साहित्यिक समस्याओ को भी सुलझाने का प्रयत्न किया है। उनके मतानुसार 'साहित्य मे प्रेरक शक्ति हो सकती है किन्तु वह साहित्यकार की आतरिक क्षमता का स्वयभूत फल है, कला की सामग्री को सीमित करना अनधिकार चेष्टा है, परिस्थितियों को ध्यान मे रख कर हम जैसी प्रेरणा चाहते है वह यदि साहित्यकार मे स्वभावत नही है, तो हम बलात् उसे पैदा नही कर सकते।"[4] अन्ततः वें इस सम्बन्ध मे अपना यही निर्णय देते हैं कि साहित्य को विवश करने का प्रयास निरर्थक है और उसे राजनीति का वशवर्ती बनाना तो और भी बुरा है।

---

१. अज्ञेय 'त्रिशकु' परिस्थिति और साहित्यकार, पृष्ठ ४७।
२ वही, पृष्ठ ५४।
३. वही, पृष्ठ ५६-५७।
४. वही, पृष्ठ ७०।

सच तो यह है कि राजनीति तथा किसी मत-विशेष की पुष्टि के लिए साहित्य को जोतना वे किसी भी दृष्टि मे समीचीन नही समझते और विशेष रूप से उन्हे प्रगतिवाद का सिद्धान्त तो साहित्य-सृष्टि के क्षेत्र मे सर्वथा अग्राह्य लगता है क्योकि उसका मूल सम्बन्ध राजनैतिक तथा आर्थिक क्षेत्र से है।[1] कहने की आवश्यकता नही कि अज्ञेय जी ने जिस प्रगतिवाद की रूढियो का विरोध किया है, वह हमारे समालोचना-क्षेत्र मे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को ही सत्य और चिरतन मान कर चलने लगा था, अत. उनके लिए उसका विरोध करना अनिवार्य हो गया। प्रगति के वास्तविक स्वरूप के प्रति उनके विचार इस प्रकार है :

"संघर्ष चिरंतन है, इसलिए साहित्य मे, कला मे, सघर्ष के किसी भी फल मे प्रगति नही है, केवल गति है। और वह प्रगति इसलिए नही है कि उसमे ऐच्छिक प्रेरणा नही है। प्रगतिशीलता प्रगति का वाद बनकर स्वय एक रूढि बन जाती है।···साहित्यकार के लिए प्रगतिशीलता का कोई अर्थ हो सकता है तो यही कि वह अनुभूति और परिस्थिति मे कार्य-कारण जोड़ने की वृत्ति है।"[2]

६८. प्रगतिवाद तथा छायावाद की प्रतिक्रिया मे काव्य-क्षेत्र के अतर्गत जिस प्रयोगवाद ने जन्म लिया, उसके स्वरूप-निर्णय का प्रयास भी अज्ञेय जी ने तार-सप्तक (सन् १९४३) की 'विवृत्ति' और 'पुरावृत्ति' मे किया है। इस वाद के कलाकारो का मूल-दर्शन उन्होने यह माना है कि 'ये कवि ऐसे है जो कविता को प्रयोग का विषय मानते है ; जो यह दावा नही करते कि काव्य का सत्य उन्होने पा लिया है, केवल अन्वेषी ही अपने को मानते है।'[3] अज्ञेय जी के इस कथन से स्वतः यह ध्वनित होता है कि प्रयोगवाद काव्य की कोई निर्णीत प्रणाली नही है। यह तो एक प्रकार का अन्वेषण-मात्र है, जिसका भविष्य स्वत. अनिश्चित है। 'तार-सप्तक' मे जिन सात कवियो का काव्य-सग्रह किया गया है, उनके सम्बन्ध मे भी उनका ऐसा कोई दावा नही है जो इस कथन की पुष्टि करे कि वे काव्य के किसी निश्चित स्वरूप को पा सके है अथवा किसी एक मार्ग को अपना कर चले है। उनके सम्बन्ध मे भी उनका यही कहना है कि 'सातो एक दूसरे के परिचित है, किन्तु इससे यह परिणाम न निकाला जाय कि वे कविता के किसी एक स्कूल के कवि है या कि साहित्य-जगत् के किसी गुट्ट अथवा दल के सदस्य या समर्थक है। बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नही है, किसी मजिल पर पहुँचे हुए नही है, अभी राही है, राही नही, राहो के अन्वेषी। उनमें मतैक्य नही है, सभी महत्त्वपूर्ण विषयो पर उनकी राय अलग-अलग है।"[4] कहने की आवश्यकता नही कि अज्ञेय जी का इस प्रकार प्रयोगवादी कवियो की अतश्चेतना का विश्लेषण स्वत· उसके अनिश्चित स्वरूप का प्रमाण है और उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि उनका यह प्रयोगवाद केवल एक प्रयास-मात्र है जो सफल हो भी जाय और न भी हो सके। हाँ यह बात अवश्य है कि इस प्रकार की विचारधारा का उन्मेष करने के कारण अज्ञेय जी मनोविश्लेषणवादी समालोचक होने के साथ-साथ हमारे काव्यगत प्रयोगवाद के भी पक्ष-समर्थक और मूल प्रेरक कहे जा सकते है, और उनकी समीक्षाओ मे इस वाद का विवेचन भी एक अग बन कर उपस्थित हुआ है।

६९ वैसे तो अज्ञेयजी मूलत उपन्यासकार हैं, किन्तु उन्होने प्रयोगवाद के नाम पर जो कविताएँ लिखी है, उनसे उनके काव्य-विषयक दृष्टिकोण का भी पता चलता है। वे प्रारम्भ ही

---

१. अज्ञेय : त्रिशकु · सक्रांतिकाल की कुछ साहित्यिक समस्याएँ, पृष्ठ ७६।
२. वही, पृष्ठ ७७-७८।
३. अज्ञेय . 'तार-सप्तक,' विवृत्ति और परावृत्ति प्रथम संस्करण (१९४३) पृष्ठ ५।
४. वही, पृष्ठ ५।

मे यह मान कर चले है कि 'सभी कालो के कवि एक प्रकार से प्रयोग करते चले हैं जिससे किसी विशेष दिशा मे उनकी प्रवृत्ति भिन्न होनी स्वाभाविक है' अत उन्होने भी अपने काव्य का स्वरूप एक प्रकार से प्रयोग को ही माना है।[१] नूतन रूप से प्रचलित प्रयोगवाद की भाँति उनका विश्लेषण भी अत्यन्त उलझा हुआ है। उन्होने भी प्रयोगवाद के पक्ष मे दावे तो बहुत बडे-बडे किये हैं, किन्तु वे इस धारा के कवियो की भाँति स्वत अस्पष्ट है। साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियो मे उन्हे प्राण-सचार के मार्ग का अवरोध मिला है, अत उन्होने व्यक्ति के अनुभूत को समष्टि तक पहुँचाने के लिए प्रयोगवाद को एक विधि के रूप मे स्वीकार किया है।[२] उनका यह भी मत है कि स्वान्त: सुखाय भाव से कोई भी कविता लिखी ही नही जा सकती, अत वे काव्य-प्रेरणा के रूप मे अपना यह तर्क उपस्थित करते है कि "मै स्वात सुखाय नही लिखता, अन्य मानवो की भाँति अह मुझमे भी मुखर है और आत्माभिव्यक्ति का महत्त्व मेरे लिए भी किसी से कम नही है।'[३] उन्होने आधुनिक युग के साधारण व्यक्ति को भी 'यौन-वर्जनाओ का पुज' मान कर यही निर्देश किया है कि "आज के मानव का मन यौन-परिकल्पनाओ से लदा हुआ है और वे कल्पनाए सब दमित और कुठित है। उसकी सौन्दर्य-चेतना भी इससे आक्रान्त है। उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते है।" इस प्रकार स्पष्ट है कि अज्ञेय जी का प्रयोगवाद-विषयक विश्लेषण समालोचना के क्षेत्र मे भी एक नवीन प्रयोग भले ही मान लिया जाय, किन्तु उसके द्वारा किसी विशेष प्रकार की महत्त्वपूर्ण तत्त्वोपलब्धि नही होती। यह कथन इस दृष्टि से भी अन्यथा नही समझा जाना चाहिए कि वे स्वय प्रयोग के रूप मे उसके आविष्कर्त्ताओ को केवल अन्वेषी मात्र ही मानते हैं। प्रयोगवाद को लेकर शुक्लोत्तर-युग के समालोचको ने उसका जो विश्लेषण किया है, उनकी श्रेणी में अज्ञेय जी का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(३०)

श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त

७०. प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त ने समाजशास्त्रीय समालोचना-पद्धति के द्वारा आधुनिक हिन्दी-साहित्य को एक नवीन दृष्टि से देखने की चेष्टा की है। उन्होने समय समय पर एतद्विषयक जो आलोचनात्मक निबन्ध लिखे है, उनसे उनकी विचारधारा का आभास हो जाता है। उनके निबन्धो मे कुछ तो सैद्धान्तिक है तथा कुछ ऐसे भी है जिनमे उन्होने अपने दृष्टिकोण से विविध साहित्यिक धाराओ और रचनाओ को देखने का प्रयास किया है। चूँकि उनके निबन्धो मे स्फुटता की मात्रा अधिक है, अत. उनके जो भी सकलन प्रकाशित हुए हैं उनमे तारतम्य का अभाव ही है, फिर भी उनके अध्ययन द्वारा लेखक की समालोचक-दृष्टि और व्यावहारिक समालोचनाओ का पता अवश्य चल जाता है। उनके प्राय सभी निबन्ध-सग्रह सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समालोचना से सयुक्त है, जिनमे गम्भीर गवेषणा की झलक न हो कर केवल बुकरिव्यू वाली व्यावहारिक और हलकी-फुलकी समालोचनाओ की अन्विति-मात्र है। उनकी समालोचनाओ से हिन्दी-साहित्य का ऐसा प्रौढ विश्लेषण नही हो सका है, जिसके कारण उन्हे किसी विशेष धारा का प्रवर्तक कहा जा सके।

७१. श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त कला और समाज का अपरिहार्य सम्बन्ध मानते है। वे काडवेल के अनुसार "कला की उत्पत्ति समाज से उसी प्रकार बतलाते है जिस प्रकार मोती की सीपी से।'

---

१. अज्ञेय : 'तार-सप्तक,' वक्तव्य, पृष्ठ ७५।

२. वही, पृष्ठ ७५।

३. वही, पृष्ठ ७६।

अन्यान्य समाजवादी समालोचको की भाँति उनकी मान्यता मे भी साहित्य मनुष्य की प्राचीनतम अभिव्यक्तियो मे से एक है, किन्तु वे उसका ग्रहण सामाजिकता के दायित्व से अलग किसी अहम्वाद के रूप मे नही करते। उन्होने उन लोगो की कुत्सा की है जो कला को कलाकार के अहम् से निकली हुई कह कर उसका सामाजिक यथार्थ से कोई सम्बन्ध ही मानते तथा जिनके अनुसार 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' की निरपेक्ष अभिव्यक्ति ही कला-सृजन की प्रेरणा बनती है। गुप्त जी का तो यह निश्चित मत है कि केवल पतनशील समाज मे ही कला का सामाजिक दायित्व अधिकाधिक दब जाता है। वे कला को सस्कृति का एक अभिव्यंजन कह कर उसके विकास के मूल मे सामाजिक श्रम की लम्बी कथा सिद्ध करते है और इस प्रकार उनका काडवेल की विचारधारा से यथेष्ट अंश मे साम्य है।

७२. गुप्त जी ने कला और समाज के पूर्वापर सम्बन्ध को लेकर अपनी जो विचार-अभिव्यक्ति की है उस पर निश्चय ही काडवेल, लेनिन तथा सोवियत सघ की मान्यता का भार है। माना कि कला का एक सामाजिक दृष्टि-बिन्दु है और सामाजिक परिस्थितियाँ साहित्यकार के मानस-निर्माण मे पर्याप्त सहयोग रखती हैं किन्तु उन्हे ही कला सृजन की मूल प्रेरणा सिद्ध करना उसके प्रसार और व्यक्तित्व को हीनत्व प्रदान करना है। कोई भी कलाकार जब तक सहजानुभूति और आत्माभिव्यजन की भावना से आकुल नही होगा, वह कला-सृष्टि कर ही नही सकता। उसका व्यक्तित्व समाज की एक इकाई होने पर भी अपने मे ऐसा पूर्ण रहना है जो "एकोऽहं बहुस्याम" की भावना मे प्रकटीकृत होता है। अत कला-कृतियो को सामाजिक परिस्थितियो का ही परिणाम कहना एक आशिक सत्य का ही निदर्शन है। इसी प्रकार श्री अज्ञेय आदि विचारको ने टी० एस० इलियट आदि का पल्ला पकड कर व्यक्तिवाद और अहं के विस्फोट को जिस एकांगी अतिरेकता मे कारानिबद्ध कर दिया है वह भी इस दृष्टिकोण की एक चरम सीमा है। इसमे कोई सन्देह नही कि गुप्तजी ने सामाजिक जीवन और उसकी व्यवस्था को कला-सृजन के मूल मे स्वीकार कर व्यक्तिवादियो को चुनौती दी, किन्तु वे भी अपने पक्ष-समर्थन के आग्रह मे इतने अधिक आगे बढ गये कि उनकी विचारधारा भी पूर्वग्रह-दर्शित सी हो गई। वैसे कला के सामाजिक दृष्टिकोण की बात तो आचार्य शुक्ल जी ने भी उसका लोक-जीवन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करते हुए कही थी और वे छायावादी और रहस्यवादी कवियो के उस पक्ष के निन्दक थे जो भावो की प्रेषणीयता और सामाजिक सम्बन्ध-निर्वाह से अलग पडता था, किन्तु वे कला या साहित्य को केवल राजनीति और समाजवाद की भाँति प्रचार या विचार का साधन ही नही मानते थे, अपितु उनमे एक ऐसी अनुभूति की सजीवनी शक्ति पाते थे जो उन्हे जन-सम्बद्ध बना कर अपनी रागात्मकता मे प्रभावित होती थी। अतः गुप्त जी का यह समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण शुक्ल जी की विचारधारा का एक परिवर्द्धित रूप है जिस पर सोवियतसंघ अथवा अन्यान्य आधुनिक विदेशी प्रवृत्तियो की छाया अधिक मात्रा मे है।

७३ गुप्त जी ने अपने समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से वर्ग-समाज के आधार पर कला को दो रूपो मे विभक्त किया है और वे है शासक-वर्ग की कला और लोक-सस्कृति की कला। मुझे तो यह विभाजन भी ऊपरी और व्यावहारिक सुविधा के लिए किया हुआ लगता है। वस्तुतः कला का सम्बन्ध मनुष्य की आतरिक प्रेरणा से है और उस आन्तरिक प्रेरणा मे वर्ग-समाज के सभी भाव तिरोहित होकर केवल हृदय की मुक्त दशा मे ही आकार-ग्रहण करते है। अतः राजनीतिक और आर्थिक जीवन के वर्ग-विभाजनो की भाँति हृदय की अखंडता को भी विभिन्न विभेदो मे विभक्त करना समुचित नही जान पडता है। कला को चाहे किसी वर्ग का बताया जाय, उसके मूल उद्गम की प्रेरणा मे तो मानवीय अन्तर्भावो की स्थिति रहती ही है। यह बात अवश्य है कि उनके साधन और स्वरूप मे बाह्य अन्तर अवश्य आ जाता है। अतः बाह्य दृष्टि से यह विभाजन

भले ही समुचित कहा जा सके, किन्तु तात्विक दृष्टि से इसकी अपूर्णता स्वत सिद्ध है। यदि हम आज की समाजशास्त्रीय परिभाषा और रूसी क्रान्ति की चेतना मे ही कला को ग्रहण करने लगे तो हमे अतीत कालीन गौरवपूर्ण कला-सृजन को शासनवर्ग अथवा पूँजीवाद के कठघरे मे बन्द करना होगा और इस प्रकार हम अपने विगत-वैभव को अपनी परम्परा और जीवन-सस्कृति से सर्वथा अलग कर ऐसे लोक मे फेक देगे जहाँ हमारी अर्जित सम्पत्ति के लिए कोई स्थान नही होगा। अत. गुप्त जी के विचारो से हम उस अश तक तो सहमत हो सकते है जहाँ तक कला मे लोक-संस्कृति का आविर्भाव हो, किन्तु वह लोक-सस्कृति किसी एक वर्ग-विशेष की प्रेरणा से ही निर्मित होती है, इसे यथार्थ मे नही स्वीकार किया जा सकता। हाँ, उनकी विचारधारा युग विशेष को चेतना प्रदान करने की शक्ति के रूप मे भले ही अपना ली जाय, किन्तु उस पर सार्वकालीनता और शाश्वत भावना का आरोप युक्तिसंगत नही कहा जायगा। मुझे तो ऐसा लगता है कि गुप्त जी के इस विवेचन मे कला के प्रकृत और विशुद्ध रूप को स्पष्टीकरण करने की अपेक्षा अपने प्रगतिवाद की एक सीमित प्रणाली को प्राधान्य देकर उसके स्वरूप के स्पष्टीकरण का प्रयत्न-मात्र है। इस विवेचन मे कला का स्वरूप गौण बन गया है और मार्क्सवादी दृष्टि का प्राधान्य। अतः यह विवेचन सर्वग्राही मान लिया जाये, यह कोई आवश्यक नही है।

७४ गुप्त जी ने अपने दृष्टिकोण से कला के जो रूप निर्दिष्ट किये हैं, उनका सयोजन उन्होने हिन्दी-साहित्य की परम्परा पर भी सिद्ध किया है। वे सत-कवियो की रचना मे लोक-जीवन अथवा जन-सस्कृति की कला का प्रसार पाते है तो रीतिकालीन कृतियो मे दमित जीवन की विलास-पूर्ण कला का। इसी प्रकार उन्होने आधुनिक काव्य-जगत् के रहस्यवाद, निराशावाद, व्यक्तिवाद आदि मे अभिजात-वर्ग की कला का स्वरूप देखा है तो प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में जनता का कला का। कला-विवेचन का यह भी एक दृष्टिकोण हो सकता है, किन्तु उसके क्षेत्र मे अभिजात वर्ग या जन-वर्ग का श्रेणीविभाजन अनुपयुक्त और कृत्रिम है। हाँ, उनके विवेचन को इस रूप मे ले लिया जाय कि उसने रहस्यवाद और छायावाद के रूप मे विकसित होने वाली व्यक्तिवाद की उच्छृंखलता का अवरोध करने के लिए एक विशेष समय मे अकुश का काम किया और यह विवेचन उसकी प्रतिक्रिया के रूप मे उपस्थित हुआ तब तो फिर भी ठीक है, अन्यथा इसे समालोचना का स्थायी स्वरूप मानने मे मुझे तो सन्देह ही है।

७५. यद्यपि गुप्त जी ने साहित्य-समीक्षा के सम्बन्ध में विस्तृत निबन्ध नही लिखे, किन्तु उनके लघु लेखो मे उनकी विचारधारा की अभिव्यक्ति स्वतः हो गई है। उनसे उनके व्यक्तित्व की भाँति उनकी स्पष्ट और सुलझी हुई शैली मे उनकी साहित्यालोचन-सम्बन्धी धारणाओ का अनुमान करना कोई कठिन कार्य नही है। वे मार्क्सवादी दृष्टिकोण के समर्थक हैं, इसका आभास तो हमे उनके निबन्धो के प्रत्येक विचारकण से हो जाता है। उन्होने आलोचना का मार्क्सवादी आधार स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि यह एक साहित्य-दर्शन का स्वस्थ दृष्टिकोण है और इसके द्वारा राजनीति, अर्थशास्त्र और दर्शन को तो एक नूतन पथ मिला ही है, किन्तु साहित्य को भी एक नवीन दृष्टि का बोध हुआ है। गुप्त जी के मतानुसार मार्क्सवाद ने हमारे जीवन और साहित्य मे निहित सत्य का उद्घाटन कर हमे सामाजिक जीवन की नूतन चेतना दी है जिसके धरातल पर मानव संस्कृति का भव्यतम विकास होना सम्भाव्य हैं। उन्होने अपने विवेचन-क्रम मे अन्तर्मन के नक्शों को शाश्वत मान कर चलने वाली मनोविश्लेषणवादी समालोचना को एकागी और दोषपूर्ण ठहराया है, क्योकि वह अहम् की विकृति को तो साहित्य-सृजना का मूल बिन्दु मान लेती है किन्तु उन कारणों का उद्बोध नही कराती जो इस प्रकार की मानसिक कुठाओं के पीछे सामाजिक जीवन की विवशताओ और अन्तश्चेतनाओं का आधार लिये हुए हैं। यही कारण हैं कि गुप्त जी ने अज्ञेय आदि के विवेचन की अस्वाभाविकता का भंडाफोड़ कर उनकी मान्यता को उन्ही के समान

अज्ञेय कहा है जिसकी वास्तविकता का छोर निकालना हमारे लिए किसी समस्या से कम नही।

७६. गुप्त जी की साहित्यिक आलोचनाओ मे पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, जनवाद, मार्क्सवाद आदि का विवरण बार-बार आया है। उन्हे कला और साहित्य का जनवादी परम्परा मे सिद्ध करने के लिए एक ही बात को बार-बार दोहराना पडा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी समालोचना मे युग-दृष्टि का ही प्राधान्य है, तभी वे प्राचीन मान्यताओ और मूल्यो मे नूतन सामाजिक जीवन और सस्कृति के प्रतिनिधित्व करने की शक्ति का असामर्थ्य पाते है। अच्छा तो यह होता कि गुप्त जी पहले प्राचीन साहित्य-सस्कृति के स्वरूप का विशद विश्लेषण कर उसका रूप-दर्शन कराते और तब यह सिद्ध करते कि उनमे कहाँ तक ऐसी प्राणहीनता आ गई है जो हमारे वर्तमान जीवन को चेतना देने मे अशक्त है। ऐसा करने पर उनका विवेचन अधिक ठोस और तार्किक बन सकता था, किन्तु वे ऐसा नही कर सके। वस्तुत मेरी दृष्टि से उनकी विचारधारा उनके लघु लेखो मे नवीनता के प्रति भले ही आकर्षण उत्पन्न कर दे, किन्तु उनका प्रतिपादन प्रौढ धरातलपर अल्पाश मे ही आसीन है। आज मार्क्सवाद और प्रगतिवाद को तभी विद्वद्-वर्ग मे प्रभावपूर्ण बनाया जा सकता है, जब उसका पश्चिमी दृष्टिकोण और भारतीय साहित्य-जीवन के अनुरूप ही विवेचन न किया जाय अपितु उसे व्यापक स्वरूप मे भी रखा जाय। यदि गुप्त जी इस विषय का स्वतत्र निरूपण किसी स्वतत्र ग्रन्थ के रूप मे करते तो उनका समीक्षण-प्रतिमान अधिक व्यापक बन सकता था, क्योकि वस्तुत: आज भी इस कार्य की बडी आवश्यकता है।

(४)

डा० रामविलास शर्मा

७७. डा० रामविलास शर्मा प्रगतिवाद समालोचको मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है। 'आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी-समालोचना', 'प्रेमचन्द' और 'निराला' को छोड कर उन्होने अधिकाशत फुटकर समालोचनात्मक निबन्ध लिखे है जिनका प्रकाशन कालान्तर मे पुस्तकाकार हुआ है। 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ', 'प्रगति और परम्परा', 'संस्कृति और साहित्य' उनकी प्रमुख समीक्षा-कृतियाँ है जिनमे उन्होने साहित्य का उद्देश्य और उसकी परम्परा आदि का विवेचन अपने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से किया है। निबन्धो के शीर्षको को देखने से सर्वप्रथम ऐसा आभास होता है कि इनमे लेखक ने स्वतत्र विधि से इन पर अपनी मान्यताएँ व्यक्त की होगी किन्तु वस्तुत ऐसा नही हुआ है। इनमे लेखक ने अनेक प्रमुख साहित्य-समालोचको और विचारको की समीक्षात्मक निबन्धगत विचारधाराओ को लेकर उन पर अपना विश्लेषण और निर्णय देते हुए उनकी वास्तविकता के तार्किक मूल्याकन करने का प्रयत्न किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि डा० रामविलास शर्मा का अपना एक निश्चित् जीवन-दर्शन है, जिसको कसौटी बना कर ही वे विविध विचारकों का परीक्षण करने मे कार्य-तत्पर हुए है और उस कसौटी के अनुरूप उन्हे जहाँ विवेच्य विचारको मे विचारधाराएँ मिल गई हैं उनका तो उन्होने खुल कर समर्थन किया है और शेष का खंडन। निबन्धो मे खडन-मडन अथवा वादविवाद की जितनी अधिक प्रवृत्ति मिलती है, उतनी साहित्य-समीक्षा की अनुभूतिपूर्ण व्यजना नही। खडन-मडन के बीच-बीच मे उन्होने अपने विरोधी समालोचको पर अनेक प्रकार के कठोर व्यंग्य भी किये हैं। उनकी यह समीक्षा-प्रणाली नवीनतम विचारधारा के अन्य समालोचक यथा रागेय राघव, अमृतराय, शिवदानसिंह चौहान और प्रभाकर माचवे आदि से भी मिलती-जुलती है जिसमे विरोधी जनो की कस-कस कर खबर ली जाती है। रामविलास जी ने अपनी समालोचनाओ मे तटस्थ आलोचक के रूप मे तो अपनी मान्यताएँ कम व्यक्त की है, किन्तु अधिकाशतः किसी न किसी समालोचक अथवा उसकी कृति को ही अपना लक्ष्य

बना कर उन्ही के उद्धरणो पर फबतियाँ कसते हुए उनका खडन किया है। उन्होने आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे चलने वाली प्रगतिशील साहित्य की प्रगतिवादी धारा का सामान्य निरूपण कर यह निर्देश किया है कि आज की समालोचना मे इसका कितना अधिक प्रचार है और इसके पक्ष-विपक्ष मे कितनी अधिक समालोचनाएँ प्रकाशित होती रहती है। डा० शर्मा ने कुछ प्रमुख समालोचको के प्रगतिवादी विचारो के उद्धरण देकर अन्त मे अपनी यही मान्यता स्थापित की है प्रगतिशील साहित्य अपने युग की माँग को पूरा करने वाला साहित्य है और उसकी शक्ति इस बात मे है कि वह समाज के वास्तविक जीवन के निकट रह कर चलने वाला है। उनकी मान्यता है कि आज की हिन्दी-समालोचना प्रगतिवाद के प्रति न्यायपूर्ण दृष्टि न रखने के कारण उसके अन्तर्गत जिस प्रकार की विकृति पाती है, वही हमारे प्रगतिशील साहित्य की मूल समस्या है। यदि ये समालोचक प्रगतिवाद के प्रति अपनी इस प्रकार की अरुचि अथवा मिथ्या-धारणा का परित्याग कर दे तो अनेक प्रकार की समस्याओ का समाधान हो सकता है।

७८ डा० रामविलास की समालोचना की अपनी अलग धारा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हे अपनी मान्यताओ पर अटूट विश्वास है और प्रतिपक्षी के प्रति उनके हृदय मे कोई सहानुभूति नही है। कहा जा सकता है कि उनकी समालोचना छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति को ही अधिक लेकर चली है। जिन लोगो की विचारधाराओ का उन्हे खण्डन करना होता है, उनके निबन्धो से एतद्-विषयक आवश्यक उद्धरणो का चयन कर वे उनकी छीछालेदार करने लग जाते है। अपने पक्ष-समर्थन का आवेश उस समय उनसे इतना अधिक बढ जाता है कि वे अपने विपक्षी के दृष्टि-कोण की ओर ध्यान ही नही दे पाते और उन्हे उनमे केवल दोष ही दोष दृष्टिगोचर होने लगते है। इस प्रकार की प्रवृत्ति उनकी प्राय समस्त समालोचनाओ मे मिलती है। इसमे कोई सन्देह नही कि डा० रामविलास शर्मा ने अपनी विचारणा का प्रतिमान यथेष्ट प्रबल धरातल पर अवस्थित करने का प्रयास किया है, किन्तु उनका एकपक्षीय आग्रह अनेक स्थलो पर हठवादिता का जामा पहिन कर उपस्थित हुआ है। कई अवसरो पर तो वे विरोधी समालोचको पर प्रहार करते समय अत्यन्त कठोर और निर्मम भी बन जाते है। इसे उनकी स्वभावगत असहिष्णुता कहा जाय या प्रगतिवादी दृष्टिकोण के प्रति विशिष्ट प्रकार की आस्था, यह निर्णायको के लिये विचारणीय विषय है।

७९ डॉ० रामविलास शर्मा प्रगतिवादी विचारधारा के प्रबल समर्थक है। उन्होने उन मनोविश्लेषण वादियो का भी कट्टर विरोध किया है जो साहित्य को अभुक्त काम कुठाओ का विस्फोट कह कर उसको पूर्णतया व्यक्तिपरक बना देते है। अज्ञेय जी की विचार-धारा से तो उन्हे बडी चिढ है और वे उन पर व्यक्तिगत आक्षेप करते हुए उन्हे 'साम्राज्यवाद का दोस्त' तक कह देते है। उनकी इस चिढ का एक प्रमुख कारण यह भी है कि अज्ञेय आदि ने प्रगतिवादी धारा के मार्क्सवादी दृष्टिकोण की कुत्सा की है जिसे रामविलास जी का व्यक्तित्व भला कैसे सहन कर सकता है। इसी प्रकार रामविलास जी ने प० इलाचन्द्र जोशी को भी अपनी कटु आलोचना का अभिसंधान बनाया है। 'विवेचना' की भूमिका मे जोशी जी ने अपनी फ्रायडवादी विचारधारा का निरूपण करते हुए प्रगतिवादियों की जिस एकागिता को मूर्खतापूर्ण प्रवृत्ति की सज्ञा दी है उसको लेकर शर्मा जी जोशी जी पर बरस पडे है। कहा जा सकता है कि जैसे इलाचन्द्र जी ने फ्रायडवादी मनोविश्लेषण के द्वारा केवल छायावादी कवियो को ही दमित यौन-वृत्ति के विकारो से ग्रस्त नही बतलाया है, अपितु भक्तिकालीन वैष्णव कवियो और सत-महात्माओ मे भी स्नायु विकार-ग्रस्त भावोद्गारो की अभिव्यक्ति पाकर अपनी एकागी अतिरेकता का परिचय दिया है उसी प्रकार डा० रामविलास ने भी जोशी जी के तथ्यो को सर्वथा तथ्यहीन सिद्ध कर अपनी प्रगतिवादी मान्यताओ को सर्वोच्च संस्थिति प्रदान करने का आग्रह किया है। साहित्य-

समालोचको से यह बात छिपी नही है कि जोशी जी और रामविलास जी दोनो अपने-अपने दृष्टि-कोणों मे कितने अधिक पूर्वाग्रही और हठी है ।

८० डा० रामविलास ने पत जी की विचारधाराओ का भी तीव्र शब्दो मे खण्डन किया है । उत्तरा, आधुनिक कवि तथा अन्यान्य काव्य-ग्रन्थो की भूमिकाओ मे पत जी ने अपनी जो सांस्कृतिक दृष्टि व्याख्यात की है, उसकी सत्यता पर रामविलास जी ने शका प्रकट की है । वे पत जी के प्रगतिवादी दृष्टिकोण को भी सामन्तवादी विचारधारा से संग्रस्त पाते है और उनमे जनवादी प्रवृत्ति का स्वरूप उन्हे नही मिलता । इसी प्रकार पत जी ने 'ग्राम्या' मे जिस बौद्धिक सहानुभूति के दृष्टिकोण का विश्लेषण किया है, वह भी शर्मा जी की दृष्टि मे उनकी प्रवचना मात्र है । सच तो यह है कि पत जी का व्यक्तित्व जिन सुकुमार-कल्पनाओ के राजसी तन्तुओ से निर्मित हुआ है उसके साँचे में मार्क्सवादी जन-कल्याण की प्रवृत्ति जम ही नही सकती और इसी पर अपनी आस्था रखते हुए रामविलास जी ने पत जी की गाँधीवादी विचारधारा मे मरणोन्मुख सस्कृति की ही अन्तिम झलक पाई है । इतना ही नही, पत जी ने भारतीय सस्कृति का विजय संस्तव करते हुए मार्क्सवाद की जिन अपूर्णताओ का निर्देश किया है, उनसे भी रामविलास जी असहमत है । इस प्रकार स्पष्ट है कि रामविलास जी की दृष्टि मे पतजी के व्यक्तित्व का एक ऐसा अपूर्ण पक्ष है जो अनेक प्रकार की एकागिताओ से ग्रस्त और मार्क्सवादी अभिव्यक्ति के विवेचन मे अधूरा है ।

८१ डा० रामविलास शर्मा ने आलोचना-क्षेत्र मे आचार्य शुक्ल जी का वही महत्त्व माना है जो उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचन्द जी तथा कविता के क्षेत्र मे निराला जी का है । उन्होने अपनी विवेचना के प्रसंग मे शुक्ल जी मे सामंती सस्कृति के विरोधीतत्वो का अन्वेषण कर यही सिद्ध किया है कि शुक्ल जी भारत के रूढिवाद तथा पश्चिम के व्यक्तिवाद के कट्टर विरोधी थे और उनकी साहित्यिक मान्यताएँ जनवादी परम्परा के अत्यन्त निकट है । उन्होने शुक्ल जी की समीक्षा मे सामन्ती साहित्य के विरोधी भावो का विश्लेषण करने के उद्देश्य से ही 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' नामक पुस्तक की रचना की है, जिसमे शुक्ल जी की महत्ता सिद्ध करने के साथ-साथ उन समसामयिक समालोचकों की कटुनिन्दा भी है जो शुक्ल जी मे ब्राह्मणवाद, सामन्तवाद, रूढिवाद, अथवा सम्प्रदायवाद का स्वरानुसन्धान करते हैं । कहना होगा, डा० रामविलास ने अपनी मान्यताओ की पुष्टि विशेष प्रबल शब्दो मे की है किन्तु उनका विवेचन भी एकागी बनने से नही बच सका है । यद्यपि शुक्ल जी का साहित्य के प्रति समाजशास्त्रीय तथा जनवादी दृष्टिकोण अवश्य था, किन्तु वे उसके कल्पना प्रेरित-सौन्दर्य मूलक भावपक्ष के भी कम प्रशंसक न थे । यदि डा० रामविलास अपनी सूक्ष्म तथा पैनी दृष्टि से शुक्ल जी के समीक्षण का मूल्याकन व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित कर सर्वांगीण भाव से करते तो निश्चय ही शुक्ल जी का मूल्याङ्कन अधिक न्याय-भावना से हो पाता, पर वे अपनी दलगत प्रवृत्तियो के कारण ऐसा नही कर सके । हिन्दी समीक्षा-जगत् डा० शर्मा के समीक्षक रूप से सुपरिचित है और उनकी लेखनी का प्रभाव भी किसी पर अप्रकट नही है, किन्तु उनका जो एकागी दृष्टिकोण है वह हमे कई कारणो से सर्वत्र स्वस्थ और शालीन नही लगता।

८२. डा० रामविलास मे तुलनात्मक समालोचना की प्रवृत्ति भी मिलती है । वस्तुत उनमे एक ऐसी निर्भीकता है जिसके कारण वे बडे से बडे विद्वान को भी अपने मनोनुकूल न पाकर कठोर शब्दो मे उसका खण्डन अथवा विरोध कर देते हैं । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर के सम्बन्ध मे जो पूर्ण अधिकारी से माने जाते हैं तथा जिनकी 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' और 'हिन्दी साहित्य का आदि-काल' अनुसधानपूर्ण ऐतिहासिक समालोचना के आदर्श ग्रन्थ है, उनके कतिपय निष्कर्षों का भी खण्डन

उन्होने स्पष्ट शब्दों मे किया है। शुक्ल जी पर उनकी जो दृढ आस्था है उसके वशीभूत हो कर ही उन्होने हजारी प्रसाद जी के अनेक उद्धरण देते हुए 'सत-साहित्य मे योगियो की भूमिका' के अन्तर्गत उनका खण्डन किया है। इस खण्डन मे भी उनकी वही प्रवृत्ति परिलक्षित है जो उनकी अन्यान्य आलोचनाओ मे मिलती है। उनकी विचारणा को तथ्यपरक मान्यता तो तभी दी जा सकती थी जब डा० शर्मा अपनी विवेचना का विश्लेषण कर इस विषय का सतर्क और सप्रमाण निरूपण करते कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी किन-किन कारणो से अपनी विचारधारा मे भ्रान्तिग्रस्त है और शुक्ल जी सत्य के निकट है। अच्छा हो, डा० रामविलास शर्मा अपने समालोचक' नामक पत्र के द्वारा साहित्य को समन्वयपूर्ण दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करे। वस्तुत: आज इसकी अत्यन्त अनिवार्य आवश्यकता है जिससे समालोचना के प्रसार मे गाम्भीर्य और औदात्य की सृष्टि हो सके।

अन्यान्य समालोचक

८३ आजकल हिन्दी समालोचना के प्रसार-काल मे ऐसे अनेक समालोचक आते है जिनमे किसी न किसी वाद-विशेष की मान्यताओ के प्रति विशेष प्रवृत्ति है। इन समालोचको द्वारा मौलिक प्रतिष्ठान बहुत कम हुआ है और उनमे चर्वित-चर्वण भी खूब है, अत उन पर अधिक विवेचन करने का मुझे कोई तर्कपूर्ण तथ्य नही मिलता। हाँ, प्रसार-काल के कुछ समालोचको की कुछ कृतियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं जिनमे समालोचना की नवीन प्रणाली को विकसित बनाने की चेष्टा भी हुई है। प० गगाप्रसाद पाडेय का 'महाप्राण निराला' जीवनचरितमूलक प्रणाली मे लिखा गया एक अभिनव प्रयास है। साहित्यकार बनने की धुन मे हमारे नवीन समालोचक बडे उत्साहपूर्ण शब्दो मे अपनी सर्वज्ञता का दुन्दुभिनाद भी करते है, किन्तु उनकी समीक्षा-क्षेत्र मे विशेष उपलब्धि न होने के कारण उनको मैंने विशेष महत्त्व नही दिया है। वैसे शिवदानसिंह चौहान, अमृत राय, अचल, प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती, प्रेमनारायण टण्डन आदि नवीन समालोचक पत्र-पत्रिकाओ मे यदा कदा अपनी विचारधाराओ मे अभिनव उन्मेष करने का प्रयास भी करते रहते है, किन्तु जब तक उनमे कोई विशेष परिपक्वता न मिले उनका विवेचन सम्मानार्ह नही कहा जा सकता। डा० विनयमोहन शर्मा, नलिनविलोचन शर्मा और डा० देवराज के समीक्षात्मक निबन्ध प्रसार-काल के इतर समालोचको की समता मे अधिक सयमित और विवेकपूर्ण है। अपने वाद की मान्यताओ के सकीर्ण क्षेत्र को छोड कर हमारे अन्य समालोचक भी इस ओर प्रयत्न करे तो उनसे समालोचना को वास्तविक अर्थ मे शालीन प्रसार मिल सकता है। सम्भव है, युग की पुकार उनमे कभी न कभी इस प्रकार की स्फुरणा उत्पन्न करे।

दशम अध्याय

समालोचना के विकास-पथ की समस्याएँ तथा स्वतन्त्र मान-दण्ड का विचार

विवेचन का प्रतिपाद्य विषय और उसकी उपयोगिता

१. आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे समालोचना के विकास को औपचारिक दृष्टि से चार चरणो मे विभक्त कर पूर्ववर्ती अध्यायो मे जो विवेचन किया गया, उससे यह स्पष्ट है कि प्राय: एक शताब्दी के कार्यकाल मे उसने जो प्राप्ति की है, वह यथेष्ट सतोष-जनक है, किन्तु समय-समय पर उसके विकास-पथ मे ऐसे अनेक गतिरोध भी आते रहे है, जिन्होने काल-क्रम मे समस्याओ का रूप धारण कर लिया है। इसमे कोई संदेह नही कि उन समस्याओ के निवारण के सद्प्रयत्न हमारे विभिन्न चरणो के सुधी समालोचको ने अत्यन्त गाम्भीर्य और विवेक-पुरस्सर विधान मे किए है और यह क्रम अब भी वर्तमान है, किन्तु उन समस्याओं के कारण साहित्य के नैसर्गिक विकास मे कुछ बाधा भी अवश्यमेव पडी है। प्रस्तुत अध्याय मे उन समस्याओ के प्रादुर्भाव की मूल परिस्थितियो का सामान्य विश्लेषण करते हुए इस विषय के स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया जायगा कि उन्हे प्रादुर्भूत करने मे किन-किन कारणो ने योग दिया है और वे किस प्रकार निराकृत भी होती रही है। साथ ही साथ हमारी विवेचना का एक विषय यह भी है कि उन समस्याओं का निवारण करते हुए तत्वाभिनिवेशी समालोचको द्वारा हिन्दी-समीक्षा के विकास मे किस प्रकार का स्वतन्त्र प्रतिमान निर्धारित करने मे सफलता प्राप्त की गई है। विवेचन के इसी प्रसग मे इस विषय का संकेत करना भी आवश्यक है कि प्रस्तुत अध्याय मे विकास-पथ की जिन समस्याओं का विश्लेषण किया जा रहा है, वे ऐसी सुदृढ और अवरोधपूर्ण समस्याएँ नही हैं, जिनसे समालोचना-साहित्य को निष्कृति न मिल रही हो। सच तो यह है कि हमारे समालोचकों का एक वर्ग प्रारम्भ ही से इस दिशा मे सचेष्ट है कि साहित्य का स्वरूप-विधान ऐसे उदार और विश्व-कल्याण-कारी दृष्टिकोण से निरूपित किया जाय जो इन समस्याओ के दलदल से बहुत ऊँचा हो तथा जिसका प्रतिमान किसी भी प्रकार की वर्गगत भावना से सम्पृक्त न हो कर साहित्य को उसके विशुद्ध सवेदनात्मक स्वरूप मे ही प्रतिष्ठित करता हुआ चले।

(अ)

आधुनिक युग-जीवन औरसमस्या-सृष्टि

२. आधुनिक हिन्दी साहित्य की समालोचनागत समस्याओ का विश्लेषण करने के पूर्व हमारा ध्यान सर्वप्रथम अपने युग-जीवन की ओर जाता है। वर्तमान युग ने अपनी वैज्ञानिक उन्नति और बौद्धिक विचारणा के द्वारा हमारे जीवन के विविध क्षेत्रो को इतना अधिक संघर्षमय और वैषम्यपूर्ण बना दिया है, जिसका प्रत्यालोक उसके मूर्तस्वरूप साहित्य के अग-प्रत्यगों पर दृष्टि-गोचर होना सर्वतोभावेन स्वाभाविक है। आधुनिक युग के सामान्य साहित्यकार के लिए तो अपने युग-सघर्ष की उपेक्षा कर चलना सर्वथा असम्भव सा है, किन्तु जो मानव-भावनाओं के शाश्वत उद्गाता और प्रतिभाशाली साहित्यकार है, वे भी अपने युग-जीवन और परिस्थितिजन्य संघर्ष की

उपेक्षा कर अपना रचना-निर्माण नही कर सकते। अद्यतन जीवन की विषम जटिलता और सघर्ष-सकुलता ने रचनात्मक साहित्य के साथ-साथ समालोचना-साहित्य को भी उसके वाह्य तथा आभ्यतरिक विधान मे इस प्रकार प्रभावित कर रखा है, जिसके फलस्वरूप-साहित्य समीक्षण के क्षेत्र मे विविधरूपिणी समस्याओ की सृष्टि हो गई है। इन समस्याओ का स्वरूप किसी देश-काल तक ही सीमित न होकर विश्वजनीन क्षेत्र तक परिव्याप्त है, जिसकी छाया से हिन्दी-साहित्य भी अस्पृष्ट नही रह सका है। अनेक स्थलो पर तो उसने साहित्य-समीक्षा के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षो मे ऐसी अनेक उद्भावनाओ को भी जन्म दिया है, जिनका हमारी सास्कृतिक और साहित्यिक परम्पराओ से बहुत कम सम्बन्ध है तथा जिनके वाग्जाल मे दिग्भ्रमित होने के भी अल्प अवसर नही है। इसमे कोई सदेह नही कि हमारे वर्तमान जीवन-दर्शन के निर्माण मे आधुनिक युग-चेतना का सर्वाधिक प्रभाव है, किन्तु उसके कारण हमारे जीवन-साहित्य मे जिन जटिल ग्रथियों की सृष्टि हुई है उनकी ओर उपेक्षा-भाव प्रदर्शित करना किसी भी रूप मे न्यायसगत नही है।

मौलिक चिंतन में शैथिल्य और राजनीतिक प्रभाव

३. आज के साहित्यालोचन की एक प्रमुख समस्या अधिकाश सम्लोचकों में मौलिक चिंतन का शैथिल्य तथा व्यापक दृष्टि की न्यूनता है। इसका मूल कारण यह है कि अधिकाश समालोचक बहुअधीत होने पर भी तत्वचिंतन की गौणतावश उसका सम्यक्निर्वाह अपनी समालोचना-कृतियो मे नही कर पाते। इतना ही नही, कुछ समीक्षकों ने सामान्यतया वैयक्तिक प्रभाव के अभिव्यंजन को ही समालोचना का एकान्त पक्ष समझ रखा है जिसके कारण उनकी कृतियों में स्वतन्त्र और मौलिक चिंतन के नाम पर अनेक बार स्वैरवादी विचारधाराओ की अभिव्यक्ति मिलती है जिसका वे सामान्यतया कम दुरुपयोग भी नही करते। स्वतन्त्र और मौलिक चिंतन मे आलोचको द्वारा जहाँ तथ्यपूर्ण तत्वो का उद्घाटन होना चाहिए, वहाँ 'मुडे-मुडेमतिर्भिन्ना.' की प्रवृत्ति तो अत्यधिक मात्रा मे प्रकट हो रहा है, किन्तु उसकी चिंतन-शक्ति मे शनैः शनैः शैथिल्य के लक्षण भी परिलक्षित होने लगते है जिनके कारण साहित्य और समालोचना की गरिमा को आघात पहुँचता है। इस प्रकार की समस्या को प्रादुर्भूत करने मे आधुनिक विश्व-जीवन के राजनीतिक मतभेदों का साहित्य-क्षेत्र मे अनावश्यक रूप से पदार्पण भी एक कारण है। विश्व के विभिन्न देशों में आज प्रायः ऐसा देखा जाता है कि साहित्य की सार्वभौम सत्ता राजनीतिक दलबन्दियो में ग्रस्त हो कर अपने वैशिष्ट्य को खण्ड-खण्ड कर रही है और जीवन की सवेदना तथा रसानुभूति जीर्ण-शीर्ण होकर अत्यल्प जीवी राजनीतिक प्रवादों के सम्मुख आत्म समर्पण करने के लिए विवश बनाई जा रही है। आज के राजनीतिज्ञों और राष्ट्र-सचालकों के द्विविध व्यक्तित्व के सम्मुख साहित्यकार ने जैसे अपने घुटने टेक दिए है और वह उनके इगित का मुखापेक्षी बन गया है। ऐसा लगता है जैसे उसका 'कविर्मनीषी परिभूः' स्वयम्भू' वाला व्यक्तित्व किसी अज्ञात कोने में अंतर्हित हो गया है और अब वह बिना राजनीतिक वैसाखी के खड़े होने मे असमर्थ है। फलत. साहित्य के प्रतिमान भी परिवर्तित होकर साम्राज्यवाद, प्रजातन्त्रवाद, सामंतवाद; पूँजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद और आतंकवाद के स्वर मे प्रतिध्वनित होने लगे हैं और साहित्य का परीक्षण करने में इनके बटखरों का प्रयोग प्राय. किया जाने लगा है। परिणाम यह हुआ है कि साहित्यालोचन में जीवन की व्यापकता से उद्भूत उन सिद्धान्तो की न्यूनता होने लगी है जो कि देशकालावच्छिन्न साहित्य के मानदण्ड बन सकते हैं तथा जिनके कारण रचनात्मक साहित्य को भी नूतन दिशा प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति मे हिन्दी का साहित्यालोचन भी उससे यत्किंचित्रूप मे प्रभावित हुआ ही है और आए दिन प्रगतिवादियों और प्रयोग-वादियो मे जो झगड़े चलते हैं, वे इस बात के प्रत्यक्ष

निदर्शन है कि उनका मूल दृष्टिकोण साहित्य को विशुद्ध भावात्मक संस्थिति मे ग्रहण करने का न होकर केवल अपना पक्ष समर्थित करना है, अतः इसे भी आधुनिक समालोचना की एक समस्या ही कहा जायगा।

प्राचीन और नवीन का संघर्ष तथा एकपक्षीय प्रवृत्ति

४. समालोचना-क्षेत्र की दूसरी समस्या का प्रादुर्भाव उस संघर्ष के कारण हुआ है जो प्राचीनता और नवीनता की रूढि तथा स्वच्छन्दता को पूर्वाग्रह के रूप मे ग्रहण कर हमारे जीवन को प्रभावित करते हुए चल रहा है। इस संघर्ष मे भाग लेने वाले साहित्यकार अपने पक्ष का समर्थन अत्यन्त कट्टरता के साथ करते है। आज के आलोचक के सामने एक ओर जहाँ प्राचीन साहित्य-शास्त्र की भी ऐसी प्रभूत सामग्री का अक्षय-कोष है जिसके परित्याग का वह लोभ-सवरण नही कर सकता तो दूसरी ओर अधुनातन वैज्ञानिक युग की विशिष्टता ने उसे जो नूतन विचारधारा तथा अभिनव दृष्टि प्रदान की है, वह भी उसके लिए किसी भी रूप मे उपेक्षणीय नही कही जा सकती। उस प्रकार दोनो रूपों मे उसके लिए आकर्षण विद्यमान है। जहाँ तक दोनो विचार-सरणियो से तथ्य-ग्रहण की प्रवृत्ति है, साहित्यालोचन के क्षेत्र मे वह उपादेय है, किन्तु जब दोनो पक्षो के समालोचक हठपूर्वक अपने सकीर्ण क्षेत्रो मे अवरुद्ध होकर अपना-अपना राग भिन्न-भिन्न स्वरो मे अलापने लगते है तो साहित्यालोचन मे स्वत. हो समस्योद्भव की परिस्थिति आ उपस्थित होती है। उस समय प्राचीनता के रूढिवादी समर्थक नवीनता की ग्राह्य प्रवृत्तियो से आँखे मूँद कर उसमे सर्वत्र दोषोद्भावना ही पाते है तो नवीनता के उत्साही अनुमोदक प्राचीन शास्त्र-परम्परा को सडी-गली और समय-वाह्य घोषित कर उसमे आधुनिक युग-चेतना तथा जीवन-शक्ति-समीक्षण का अभाव पाने लगते है। परिणाम यह होता है कि दोनो श्रेणी के विचारक अपने व्यापक ध्येय तथा मानवोपयोगी विचार-धारा से विमुख होकर साहित्य-सृजन एवं साहित्य-समीक्षण के मार्ग मे भटक जाते हैं जिसके कारण साहित्यालोचन के विवेकपूर्ण मनोजगत् मे एक गडबडी उत्पन्न हो जाती है। वस्तुतः ऐसी स्थिति भी समालोचना की एक समस्या बन जाती है।

निश्चित और व्यापक दृष्टिकोण की न्यूनता

५. आज की साहित्य-समालोचना के सम्मुख एक जीवन्त समस्या उसके मूल्याकन के प्रति किसी निश्चित दृष्टिकोण के अभाव की है। विज्ञान के उत्कर्ष और वैभव ने आज के मनुष्य को इतना अधिक बुद्धिवादी और भौतिकता मे आस्था रखने वाला बना दिया है कि उसका हृदय पक्ष और आध्यात्मिक भाव प्राय व्यक्तित्वहीन हो रहा है। फलतः जीवन के मुखर प्रतिबिम्ब साहित्य मे भी उसकी प्रतिच्छाया के सभी लक्षण परिलक्षित होने लगे है। बुद्धि ने अपनी व्यावसायिकता में ऐसे अनेक सम्प्रदायो को जन्म दिया है जो जीवन की अनन्तता एव अखण्डता के प्रति शंकित होकर उसे विभिन्न सम्प्रदायो के रूप मे निगडबद्ध बनाने के आकाक्षी हैं। आज जीवन वादों और सिद्धातो के वात्याचक्र मे ग्रस्त होकर अपने लिए उचित मार्ग पाने मे असमर्थ है जिससे साहित्य की प्रकृत सर्जना मे निश्चय ही एक कटुतापूर्ण व्यवधान आ गया है। अत आवश्यकता इस बात की है कि हम जीवन को सतुलन और व्यापकता प्रदान करे और उसके मूर्तस्वरूप साहित्य मे भी उसकी नित्य नूतन विकासशील विधाओ का चित्रण करते हुए उसे भी दलबदियो के वातावरण से दूर ही रखे जिससे यह पथभ्रष्ट न हो। ऐसा करने पर ही हमे उसके समीक्षण के लिए भी एक व्यापक दृष्टिकोण मिल सकता है जिसके द्वारा समालोचना की पथ-प्रशस्ति मे सुविधा हो सकती है। हाँ, यह बात अवश्य है कि ऐसा करते हुए रुचिवैचित्र्यवश हमे प्रारम्भ मे अनेक प्रकार की सकटजन्य परिस्थितियो का भी सामना करना पडे, किन्तु शनैः-शनैः एक ऐसा प्रशस्त पथ अवश्य प्राप्त किया जा सकता

है जिससे साहित्यिक समालोचना की इस विद्यमान समस्या का समाधान अत्यन्त सुविधापूर्वक हो सके। ऐसा तभी सम्भव है जब हम अपने पूर्वाग्रह अथवा दुराग्रह को तिलाजलि देकर साहित्यालोचन मे उदार तथा निष्पक्ष बनते हुए चले और उसके मूल्याकन में सच्ची सहानुभूति और सुरुचि से काम लें।

नियम-निर्धारण में कठिनाइयाँ

६. साहित्यालोचन के नियम-निर्धारण में जो अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ समय-समय पर प्रस्तुत होती चलती है वे भी एक प्रकार से आधुनिक समालोचना की समस्याओं के ही रूप हैं। बात यह है कि साहित्य और देशकाल का प्रारम्भ ही से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहा है और वह (साहित्य) युगानुरूपता से उदासीन होकर कभी भी अपना अस्तित्व नही रख सका है। फलतः युगधर्म की प्रवृत्तियो ने कभी उसे आदर्श की ओर मोडा है तो कभी उसे यथार्थ का आलिंगन करने के लिए बाध्य किया है। अनेक बार तो दोनो की एकाग दर्शिता ने उसे इतना दुविधापूर्ण बना दिया है कि उसे पथ-प्रदर्शन करने के स्थान पर स्वयं के प्रति भी अविश्वासी बनना पडा है। ऐसी स्थिति मे उसके लिए नेतृत्व करना तो दूर रहा, वह स्वय भी असहाय बन कर अपनी चिरंतन निधियों को आत्मविस्मृत कर बैठा है। निश्चय ही यह स्थिति उसे समीक्षा के उपयुक्त धरातल प्रदान करने के सर्वथा प्रतिकूल रही हे। अत साहित्यालोचन मे यह भी एक समस्या ही है कि वह जीवन की सवेदनाओ से प्रेरणा लेकर अपना स्वरूप धारण करे अथवा शुष्क सिद्धातों की जटिलता को ही अपनी धमनियो का रक्त-प्रवाह बनावे। निश्चय ही यह स्थिति भी अत्यन्त दुविधापूर्ण है अतः साहित्यालोचन के विवेचन मे इस समस्या को भी सुलझाने की परम आवश्यकता है।

यथार्थ का एकांगी आतिरेक्य

७. आजकल साहित्य के यथार्थ को लेकर भी समालोचना के क्षेत्र मे अनेकानेक प्रवाद प्रचलित हो गये है जिनका प्रतिफल समस्या का रूप धारण कर गया है। यथार्थ से अभिप्राय यदि मानव-हृदय की मूल मनोवृत्तियो के चित्रण से लिया जाय और उसमें केवल जीवन की वास्तविकता की झलक-मात्र ही प्रतिबिम्बित हो तब तक तो फिर भी ठीक है, किन्तु जब उसके द्वारा विकृत मनोभावनाओ और कुत्सित वृत्तियो का प्रसार किया जाता है तो उसका स्वरूप बिना अग्राह्य बने नही रहता। आधुनिक हिन्दी साहित्य में मनोविश्लेषण-शास्त्र के नाम पर जो प्रवृत्तियाँ उसके रचनात्मक साहित्य उपन्यास-कहानी मे विशेषत. और नाटक, काव्य आदि मे गौणतः प्राप्त होती हैं, वे इसका प्रत्यक्ष निदर्शन है। इसका प्रभाव यह हुआ है कि समालोचना-साहित्य मे भी यथार्थ के नाम पर अनेक प्रकार की भ्रातियो और मतमतातरो का प्रचलन हो गया है। फ्रायड, एँडलर और युग आदि पाश्चात्य विचारकों ने अपनी जो मनोवैज्ञानिक सरणियाँ प्रस्तुत की हैं, वे आज के यथार्थवाद के लिए आप्त वचन बन रही है और यह समझा जाने लगा है कि आज का युगधर्म केवल इन्ही के चित्रण पर निर्भर है। दुःख तो तब होता है जब आज की प्रगति का मानदड यही यथार्थ मान लिया जाता है जिसमे मनुष्य की आदर्शनिष्ठ नैतिकता और सुरुचि-सम्पन्नता को केवल काल्पनिक जगत् की भावमयी सृष्टि कह कर उसे वायुवेग मे उडा दिया जाता है। माना कि जीवन की भौतिक आवश्यकताओं का भी जीवन मे अपेक्षित महत्त्व हैं और उनकी उपेक्षा कर जीवन की गति आगे नही बढ़ सकती, किन्तु मनुष्य केवल अस्थि-चर्म का आकारमात्र ही तो नही है। उसके भीतर भी एक ऐसी चेतन शक्ति है जो सतत ऊर्ध्वमुखी पथ की ओर उन्मुख बनने के लिए सदैव आकुल रहती है। अत. जब साहित्य और जीवन दोनो ही अभिन्न अंग बन कर आते है तो जीवन की उस चेतना की ओर से आँखे मूंद कर भी हमारा वास्तविक साहित्य-सर्जन हो सकेगा, इसमें तो

मुझे सदेह ही है। आज की मनोवैज्ञानिकता और भौतिकता यथार्थ के नाम पर चाहे कितना ही एकांगी प्रचार करे किन्तु उसकी सकीर्ण दृष्टि कभी भी शोभनीय नही कही जा सकती। अत यह आवश्यक हो जाता है कि जिस प्रकार हम रचनात्मक साहित्य मे अपने भावो के परिष्करण के लिए सरल सामग्री की उपलब्धि की साधना करे, वैसे ही समालोचनात्मक साहित्य मे भी आदर्शनिष्ठ यथार्थवाद को भी विस्मृत न कर दे। ऐसा करते हुए ही हम अपने तथा साहित्यालोचन के प्रति न्याय-भावना का निर्वाह कर सकेंगे, अन्यथा साहित्य-क्षेत्र मे एक ऐसा विप्लव उपस्थित हो जायगा जो न तो साहित्य का ही सच्चा निर्माण करने देगा और न समालोचना का सुष्ठु स्वरूप ही साकार बन सकेगा। ऐसी परिस्थिति मे हमारे लिए यह विचारणीय विषय बन जाता है कि हम साहित्य-समालोचना के समुन्नत पक्ष की गौरवपूर्ण मर्यादा का ध्यान रखे और उसे उसके उस उच्च धरातल से न गिरने दे जिसमे जीवन की चेतनापूर्ण सजीव सांसो का मूल्याकन और परीक्षण बडी सतर्कता से किया जाता है। आज की हिन्दी-समालोचना की एकागी यथार्थवादिता निस्सदेह भयावह है और इसकी विकृति भी हमारे लिए एक समस्या बन गई है; जिसके निराकरण के लिए प्रयत्नशील होना हमारा प्राथमिक कर्तव्य है।

स्वतंत्र मानदंड विषयक समस्या

८ आज हमारे सामने एक अन्य समस्या हिन्दी समालोचना साहित्य के स्वतन्त्र मानदण्ड की भी है। इस क्षेत्र मे विचारको मे दो वर्ग दृष्टिगोचर होते है। एक वर्ग का तो ऐसा विश्वास है कि इस प्रकार का प्रश्न ही व्यर्थ है कि समालोचना का हिन्दी-साहित्य मे स्वतन्त्र मानदण्ड है या नही ? वे हिन्दी को विभिन्न साहित्यो की समता मे अत्यधिक सम्पन्न पाते है और उन्हे उसमे साहित्य की विविध विधाओ की इतनी प्रबल सामग्री दीख पडती है जो किसी भी साहित्य के लिए गौरवपूर्ण कही जा सकती है। यह वर्ग आवश्यकता से अधिक आशावादी है और उसकी धारणा में आत्मविश्वास का स्वर अत्यन्त प्रबल है। इसके अतिरिक्त इस विषय मे दूसरा वर्ग ठीक इससे विपरीतगामी है। उसे अपने साहित्य और समालोचना मे एकमात्र हीनता ही प्रदर्शित होती है। पूर्ववर्ती वर्ग मे यदि आशावाद की अतिरेकता है तो इसमे निराशावाद का प्राबल्य। इस वर्ग की समझ मे यह आता ही नही कि हिन्दी की भी अपनी कोई स्वतंत्र परम्परा है और उसका भी एक अनन्त विकासवादी ज्ञानकोष है। जिस साधना और तपस्या के बल पर आज हिन्दी भारत जैसे महान् राष्ट्र की राज-भाषा बनने का गौरव प्राप्त कर सकी है, उसकी आधारशिला को वे कपोल-कल्पना कह कर यों ही हवा मे उडाना चाहते है। यह वर्ग पाश्चात्य विचारधारा और भौतिक सस्कृति की चकाचौध मे अपने व्यक्तित्व को तिरोहित-सा कर बैठा है और इसके प्रतिमान इतने अधिक 'पर-प्रत्ययाश्रित है कि उसे हिन्दी के प्राचीन साहित्य-समालोचन मे रूढि और सकीर्णता ही मिलती है। इस वर्ग के लोगो की जबानी प्राय यह सुनने को मिलता है कि अभी हिन्दी मे समालोचना-साहित्य का आरम्भ ही कहाँ हुआ है और उसमे जो कुछ है वह केवल जूठन या अनुकरणमात्र है। निश्चय ही उनका यह निर्णय हमे अत्यन्त हीनकोटि का लगता है क्योकि उसके मूल मे उनके अज्ञान का थोथा दम्भ अपनी प्रेत-छाया प्रदर्शित करता हुआ प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार की धारणा से हमारा कोई हितचिंतन हो सकेगा, ऐसा सहसा नही प्रतीत होता। इन दोनो वर्गों की हठवादिता से घबराकर एक तीसरा वर्ग सामजस्यवादी दृष्टिकोण अपना कर चलता है, किन्तु इसके पास भी उस ज्ञान-गुरुता की कमी है जिसके कारण वह न्यायाधीश के पद पर आसीन होकर स्वतन्त्र व्यक्तित्व और चिन्तन के आधार पर निर्णय नही दे पाता। यह दोनो प्रकार की विचारधाराओ से चमत्कृत होकर मध्यस्थता का अभिनय करता है; किन्तु उस अभिनय मे वास्तविकता के परीक्षण का अल्प अवकाश है; अतः यह भी हिन्दी-

समालोचना की एक समस्या है कि मानदण्ड का स्वतन्त्र सस्थान किस रूप मे प्रतिष्ठित किया जाय।

पारिभाषिक शब्दों की अनिश्चित स्थिति

९. आधुनिक हिन्दी-समालोचना के सामने एक छोटा सा प्रश्न उसके पारिभाषिक शब्दो के निर्माण का है। जहाँ तक प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र-परम्परा का सम्बन्ध है, समालोचनागत पारिभाषिक शब्दावली उसके मूल रूप मे ज्यो की त्यो ग्रहण की जाती रही है, किन्तु आधुनिक युग मे जिस प्रकार की पाश्चात्य प्रणाली की समालोचना का प्रचलन हुआ है उसके लिए पारिभाषिक शब्दो का भाषा मे समकक्ष निर्माण करना प्रारभ मे एक प्रकार की समस्या ही रही है। यद्यपि डा० श्यामसुन्दरदास ने अपने 'साहित्यालोचन' के अन्त मे इस प्रकार के अग्रेजी पारिभाषिक शब्दो के हिन्दी पर्यायवाची हिन्दी पारिभाषिक शब्द दिये है जो यथेष्ट रूप में स्वीकार्य समझे जा सकते हैं, किन्तु उन्हे भी निर्विवाद रूप मे स्वीकार करने मे अनेक विचारको को आपत्ति है। इस दिशा मे आचार्य शुक्ल द्वारा किया गया कार्य अवश्य अधिक गम्भीर और महत्त्वपूर्ण है। उन्होने निश्चय ही अग्रेजी साहित्यालोचन मे गृहीत पारिभाषिक शब्दो के लिए हिन्दी मे शास्त्रीय शब्दो का विधान किया है जो प्राचीन सस्कृत-काव्य की सरणि के साथ-साथ उसकी मौलिक उद्भावनशक्ति के भी परिचायक है। किन्तु उन्हे ही पूर्ण मानने मे कई समालोचकों को संकोच का अनुभव होता है। इसका एक मूल कारण यह है कि प्रत्येक भाषा और साहित्य का एक सास्कृतिक आधार होता है और उसके निर्माण मे देशकालगत संस्कार स्वत. अपना कार्य करते चलते है, अतः उनके प्रतीक शब्द-कोष मे भी उन-उन देशो की काल-विशेष की मान्यताओ का भी कम आधार नही रहता। कई बार तो ऐसा भी देखा गया है कि एक शब्द किसी काल-विशेष मे किसी अर्थ-विशेष में प्रयुक्त होता था, वह कालान्तर मे अर्थ-सकोच, अर्थ-विस्तार, अर्थापकर्ष, अर्थोत्कर्ष अथवा अर्थातिशय करता हुआ उत्तरवर्ती युग मे अपनी मूल आत्मा की प्रकृत ध्वनि को ही खो बैठता है। जब यह कठिनाई किसी एक ही भाषा की शब्द-शक्ति के सामने उपस्थित है तो उसका अन्य भाषाओ में समकक्ष अनुवाद या पर्याय देना कोई सरल कार्य नही है। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक छोटे से शब्द मे जितनी जीवन-शक्ति अथवा व्यजना छिपी रहती है उतनी उसके बडे-से-बड़े पर्यायवाची शब्द में भी नही मिलती। अत पारिभाषिक शब्दो के निर्माण मे इस प्रकार का विशद दृष्टिकोण लेकर न चला जाय तो वह भी हमारी समस्याओ का स्वरूप बन जाता है।

१०. पारिभाषिक शब्दो की पूर्व-विवेचित समस्या के स्पष्टीकरण के लिए हम पाश्चात्य साहित्यालोचन मे प्रचलित एक ऐसे शब्द को लेते है, जिसका प्रचलन आधुनिक समालोचना का प्रधान अगभूत बन कर हो रहा है। वह शब्द है 'एस्थैटिक'। इसके लिए आजकल हिन्दी में 'सौन्दर्यशास्त्र' शब्द का प्राय सर्वत्र प्रयोग देखा जाता है। अब विचारणीय यह है कि क्या सौन्दर्य-शास्त्र शब्द मे इस शब्द की मूल ध्वनि आ सकी है? यदि इसका सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो इसमे उसके मूल भाव का अर्थ द्योतित नही है। आज के प्रचार ने भले ही हमें एस्थैटिक के पर्याय शब्द के रूप मे 'सौन्दर्य-शास्त्र' शब्द को हमारे कानो के लिए अभ्यासगम्य बना दिया हो, किन्तु एस्थैटिक का मूल यूनानी अर्थ परसैप्शान (Perception) है जिसे 'प्रत्यक्षीकरण' के रूप में हिन्दी में गृहीत किया जा सकता है। यह 'प्रत्यक्षीकरण' कालान्तर में 'सौन्दर्य के प्रत्यक्षीकरण' की ध्वनि देने लगा और आगे चल कर इसी का साधारणरूप मे 'सौन्दर्य की चेतना' के अर्थ में प्रयोग होने लगा। हिन्दी मे एक ऐसा वर्ग भी है जो इस एस्थैटिक शब्द के लिए 'कलामीमासा' शब्द का प्रयोग करता है, किन्तु वह भी एक सीमा तक ही ग्राह्य समझा जा सकता है। ऐसी स्थिति मे हमारे लिए विचारणीय प्रश्न यह है कि हम ऐसे मूल पारिभाषिक शब्दों को ले और उनके लिए यथा-सम्भव ऐसे शब्दों की खोज करे जो हमारे ज्ञान-कोष भारतीय वाङ्मय और मूलतः सस्कृत वाङ्मय

मे उपलब्ध हो। हाँ, जहाँ ऐसे व्यंजनापूर्ण शब्दो का स्वरूप हमे अपने सस्कृत की शब्दनिधि मे नही मिल सका, वहाँ उनकी नूतन सृष्टि करना भी अनुचित नही है। वाह्य रूप से इस विषय का महत्त्व अत्यन्त हीन लग सकता है, किन्तु इसे भी हिन्दी-समालोचना का एक महत्त्वपूर्ण अग स्वीकार करना होगा। पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग सूत्र-रूप मे होता है, अत उनकी मूल चेतना और अर्थ-शक्ति का पूर्ण परिचय प्राप्त कराने के लिए यथासम्भव उपयुक्त शब्दो की सृष्टि की जानी चाहिए। भिन्न-भिन्न आलोचकों द्वारा भिन्न-भिन्न रूपो मे पारिभापिक शब्दो का प्रयोग शोभनीय प्रयत्न नही है। हमे इनके लिए एक समान दिशा मे चलना होगा और तभी पारिभाषिक शब्दो के निर्माण की समस्या का समाधान हो सकेगा। इसके लिए आवश्यकता पडने पर हम अपनी अन्य समृद्ध प्रातीय भाषाओ की शब्दावली से भी शब्द ग्रहण कर सकते है। इसमे कोई मान-हानि की बात नही है। इस समस्या के निवारण के लिए विद्वानो की एक समिति की योजना भी परम उपादेय हो सकती है, जो अपनी व्यापक मति द्वारा शब्द-निर्माण के इस कार्य मे योगदान दे सके। इसी प्रकार जो शब्द हमारी भाषा शक्ति मे तादात्म्य पा गये है उनकी यथार्थता भी प्रतिपादित कर दी जाय तो भी बुरा नहीं है। उदाहरणार्थ अग्रेजी नौवल (Novel) शब्द के लिए हिन्दी मे जो 'उपन्यास' शब्द प्रचलित है वह मूलत बगला भाषा से आया है किन्तु इस शब्द को अपने मध्य रहते हुए इतना अधिक समय हो गया है कि इसका पारिभाषिक शब्दावली से निष्कासन करने की हमे कोई आवश्यकता अनुभव नही होती है। अत: इस पारिभाषिक शब्द-योजना की समस्या पर भी हमे एक बार पुन विचार करना है और इसके निवारण का अर्थ निश्चय ही हमारी समालोचना के भावी विकास के लिए कल्याणप्रद है। डा० नगेन्द्र ने 'अरस्तू के काव्यशास्त्र' तथा 'लौजाइनस के उदात्त-तत्त्व' के विवेचन मे पाश्चात्य साहित्य शास्त्रीय शब्दावली के लिए जिस प्रकार के भारतीय शब्दो का प्रयोग किया है वह इस दिशा मे शोभनीय प्रयास है।

संतुलन का अभाव और समस्योद्भावना

११. आज के साहित्यालोचन मे एकागी अतिरेकता भी एक प्रकार की समस्या बन कर हमारे सम्मुख प्रस्तुत है, जिसे सतुलन का अभाव कहा जा सकता है। बात यह है कि साहित्य की भाँति हमारा समालोचनागत दृष्टिकोण भी अपनी सीमित परिधि मे सिमट कर ऐसा बँध गया है कि हम साहित्य के सर्वागीण एव सार्वजनीन भाव को विस्मृत सा कर बैठे हैं। जिस प्रकार साहित्य के विवेचन मे विभिन्न विचारक अपनी स्वतन्त्र चेतना के अनुसार अपनी-अपनी विचार-सरणियाँ प्रस्तुत करते है, उसी प्रकार उसके समालोचक भी अपनी-अपनी रूढिग्रस्त मान्यताओ मे अलग-अलग विवेचन उपस्थित करते हुए दृष्टिगोचर होते है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योकि मानव-विचार को एक ही प्रणाली मे बाध कर रखना सम्भव नही है। इसमे कोई सदेह नही कि हमारा ज्ञान और विज्ञान अनेक प्रकार की शाखाओ और उपशाखाओ के विभाजन मे जटिल बन कर अपना प्रसार पाता रहा है किन्तु उन विकीर्ण ज्ञान-रश्मियो को सतुलित रख कर अभिव्यक्त नही किया जा सके, ऐसा विवेक-शक्ति के लिए कोई कठिन कार्य नही है। इसकी ओर ध्यान न देने से साहित्यालोचन के क्षेत्र मे भी अनेक प्रकार की जटिलताओ का सचार हो जाता है। उदाहरणार्थ प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र मे रस, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और अलंकार आदि विभिन्न सम्प्रदायो को लेकर जो सैद्धान्तिक विवेचन हुआ है, वह उनके तत्वदर्शी मीमासको के उर्वर मस्तिष्क का सुफल अवश्य है, किन्तु उनकी एकागिता भी अप्रकट नही है। इसी प्रकार पाश्चात्य देशो मे भी प्लेटो, अरस्तू, और लौजाइनस आदि की परम्परा से चल कर हम स्लेंजल, रिचर्ड्स आदि के कार्यकाल तक आते हैं, उनमे भी कुछ ऐसी ही प्रवृत्तियाँ कार्य करती हुई प्रदर्शित होती है जिनमे विविध प्रकार के वाद-विवादो का उन्मेष है। कही 'कला के लिए कला' का सिद्धान्त

प्रतिपादित किया गया है तो कही कला की उपयोगिता को 'जीवन के अनिवार्यरूप से सलग्न कर उसे आदर्शनिष्ठ बना दिया गया है। इसी प्रकार सत्य शिव सुन्दरम् की व्याख्याएँ भी अलग-अलग प्रणालियों मे हुई है। कहना होगा, आधुनिक हिन्दी-समालोचना के सैद्धान्तिक विकास में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति दिखाई पडती है। रहस्यवाद और छायावाद के युग से लेकर प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के युग तक इसी प्रकार आलोचको ने अपने-अपने ढग से विवेचन प्रस्तुत किए है जिनके फलस्वरूप अनेक स्थलो पर सतुलन का अभाव भी आ गया है। माना कि साहित्य-समीक्षण मे भी रुचि-वैभिन्न्य के सिद्धान्त की उपयोगिता है, किन्तु जहाँ आलोचक अपने पक्ष का मंडन और विरोधी पक्ष का खंडन करने के लिए ही पक्षपातपूर्ण मनोवृत्ति से उद्यत होते हैं वहाँ उनका विवेचन साहित्यालोचन के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के स्थान पर उसे और अधिक अस्तव्यस्त और उलझाने का कारण बन जाता है। इसका एक प्रमुख प्रमाण है आधुनिक युग की नवीनतम प्रवृत्तियो का स्वरूप। अज्ञेय जी ने 'समकालीन भारतीय-साहित्य' की प्रवृत्तियों के अन्तर्गत अथवा तारसप्तक की भूमिका मे जो कुछ लिखा है, अथवा प्रगतिवादी समालोचक डॉ० रामविलास शर्मा तथा श्री शिवदान सिंह चौहान आदि के बीच जो समालोचनागत कटुतापूर्ण विवाद चले है, वे इस प्रकार की समालोचनागत समस्याएँ नही तो और क्या है ? माना कि सबको विचारो की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का अधिकार प्राप्त है किन्तु उसके पीछे विद्वज्जन-सुलभ सयम का ठोस आधार अथवा तर्कसम्मत धरातल भी कम आवश्यक नही है। आधुनिक हिन्दी समालोचना मे जहाँ इस प्रकार की सामग्री मिलती है वह हमारे लिए कदापि सुग्राह्य नही कही जा सकती। वस्तुतः उसका यह स्वरूप आधुनिक समालोचना की एक समस्या ही है जिसका निराकरण केवल तभी सम्भव है जब हमारा समालोचकवर्ग अपनी दृष्टि को उदार तथा व्यापक बना कर अपने कार्य के दायित्व का निर्वाह करे।

पूर्णता का दुराग्रह और उसके परिणाम

१२. समालोचना के क्षेत्र मे एक समस्या तब उत्पन्न हो जाती है जब विभिन्न वर्गीय समालोचक अपनी-अपनी वाद-प्रणाली को पूर्ण तथा निरपेक्ष मानने की भूल कर बैठते है। उदाहरण के लिए हिन्दी साहित्य मे जो छायावादी युग चला वह केवल काल्पनिक जगत की अतीन्द्रियता को ही अधिक महत्त्व दे बैठा तो प्रगतिवादी युग ने उसके विपरीत जड़वाद को अधिक से अधिक ग्राह्य समझा। फलतः दोनों श्रेणियो के कुछ आलोचक साहित्य के सर्वसुलभ-क्षेत्र मे अधिनायकवाद की प्रवृत्ति से चलने लगे, जिसका रचनात्मक साहित्य पर भी विशेष अच्छा प्रभाव नही पडा। यह एक बडे आश्चर्य की बात है कि इन वादों के प्रवर्तक विचारकों मे उतनी कट्टरता नही थी, जितनी उनके कुछ अनुगामियों मे कालातर मे प्रस्फुटित हुई। अतः यह आवश्यक है कि ऐसी समस्याओं के निवारण के लिए समालोचक अधिक उदार दृष्टिकोण से काम ले जिससे सत्साहित्य के प्रणयन और प्रसार में कोई व्यवधान उपस्थित न हो। माना कि तर्क-बुद्धि और मानसिक स्तर की विभिन्नतावश आलोचक-समाज के प्रतिमानों मे अन्तर होना स्वाभाविक है, किन्तु ऐसी तो कोई बात नही कि वे एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता का दृष्टिकोण न रख सके। जब हम साहित्य और समालोचना को क्रमशः जीवन की सरस और बौद्धिक अनुभूति कहते हैं तो चाहे किसी प्रणाली अथवा परम्परा का अवलम्बन किया जाय, उसका मूल गन्तव्य तो एक ही सिद्ध होगा।

पाश्चात्य दृष्टिकोण का एकनिष्ठ ग्रहण

१३. आधुनिक हिन्दी समालोचना की एक समस्या यह भी है कि इसमें समालोचकों का कुछ ऐसे वर्ग भी सम्मिलित हो गए हैं जो अपनी सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्परा के

स्वस्थ दृष्टिकोण मे अनास्था रखते है तथा जिन्हे पश्चिम से आने वाले वादो की चमक-दमक अधिक विमुग्ध बना देती है। उनके मस्तिष्क मे यह बात जमती ही नही कि भारत की प्राचीन शास्त्रीयता अपने अन्तर्जीवन मे ऐसे तत्व भी गुम्फित किए हुए है जो आज के प्रतिमान भी बन सकते हैं। इसमे उनका दोष भी नही है। क्योकि एक तो उनका ऐसे वातावरण मे ही मानसिक परिपोषण हुआ है जो पश्चिम को सर्वांगीण दृष्टि से प्रगतिशील और भारत को रूढिग्रस्त मान कर चलता है और दूसरे उनका प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्र का परिज्ञान केवल सुनी सुनाई बातो पर आधारित है, अत वे अपने साथ पश्चिमी प्रतिमान रख कर हिन्दी साहित्य की समालोचना में भी प्रवृत्त होते है, जिनका सामजस्य ठीक तरह से न होने के कारण उनका कोई उचित सयोग नही बैठ पाता। परिणाम यह होता है कि जैसे नवीन साहित्यिक प्रतिमान प्राचीन साहित्य के साथ समुचित योग न पाकर उसे निरर्थक घोषित कर देते है उसी प्रकार प्राचीन शास्त्रीयता को भी नवीन साहित्य-विधि अद्‌भुत सी लगती है। फलतः समालोचना-क्षेत्र मे गडबड मच जाती है।

सर्वांगीण दृष्टि का असंयोजन

१४. समालोचना के क्षेत्र मे विभिन्न समस्याओ के उत्पन्न होने का एक कारण यह भी होता है कि कुछ समालोचक उसके प्रति जीवन की सर्वांगीण दृष्टि का निर्वाह नही कर पाते। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है कि जब हम साहित्य की परिसीमा अन्तर्जगत और बहिजगत तक परिव्याप्त समझते है तो उसके समीक्षण मे भी ऐसा ही प्रतिमान लेकर क्यो न चला जाय। यदि समालोचना को केवल अन्तर्जगत के मनोनिवेश तक सकीर्ण बना कर केवल मनोविश्लेषणवादी व्याख्या की जायेगी तो उसका बाह्य परिवेश अछूता रह जायगा, जिसके कारण युग और परिस्थिति का चित्रण नही हो सकेगा और यदि उसे केवल ऐतिहासिक प्रणाली मे ही आबद्ध कर दिया गया तो उसका अन्तरंग पक्ष विवेचित होने से छूट जायगा। ऐसी परिस्थिति मे निश्चय ही समालोचक द्वारा वे बातें नहीं कही जा सकेगी जिनसे साहित्य की भाँति समालोचना भी पूर्ण बनती है और यह भी समालोचना-क्षेत्र की समस्या का ही एक कारण होगा। अत यह आवश्यक है कि समालोचक ऐसी अपूर्ण स्थिति के प्रादुर्भाव के मूल कारण का ही नाश कर दे और साहित्य के व्यापक विधान मे समालोचना को ग्रहण करे जिससे समालोच्य कृतिकार अथवा उसकी कृति का अन्तरग और बहिरग विश्लेषण सुव्यवस्थित प्रणाली से हो सके।

समस्या-निवारण के लिए रचनात्मक दिशा-निर्देश

१५. प्रश्न होता है कि यदि हम इसी प्रकार विविध समस्याओ से अपने को आक्रात बना देंगे तो फिर हमारी प्रगति अपने लिए कौन-सा मार्ग प्राप्त कर सकेगी? इसका एकमात्र समाधान यही है कि हम किसी भी विषय मे अपने आपको इतना अधिक परमुखापेक्षी न बना दे कि हमे अपने अस्तित्व के विषय मे ही शका होने लगे। वाछनीय तो यह है कि हम रूढिगत आस्था अथवा अनास्था से अनासक्त बन कर स्वतन्त्र चिंतन से काम लें और यह निर्णय करने मे विशेष जागरूक हों कि समालोचना के स्वतन्त्र मानदण्ड पर हिन्दी मे जो प्रवाद प्रचलित हो रहे हैं उनकी वास्तविकता क्या है? ऐसी तो कोई बात नही है कि जो हिन्दी-साहित्य सहस्र वर्षों से अपना अक्षय भाव-कोष संचित करता हुआ चला आ रहा है, वह समालोचना-दृष्टि से सर्वथा पराश्रित है और ऐसा भी नही माना जा सकता कि उसमे जो कुछ है वह एकमात्र उसी के सकीर्ण आत्म विकास की ही उपज है। ऐसी स्थिति मे मुझे तो यही समीचीन प्रतीत होता है कि हिन्दी का साहित्य भारतीय जीवन के सजीव स्वरूप-संस्कृत वाङ्मय और उससे विकसित होने वाले प्राकृत और अपभ्रंश-

देशकाल से बाह्य अंतर मिले) उसी प्रकार जीवन के सरस संवेदन साहित्य की समालोचना में भी केवल वे ही सिद्धान्त अधिक उपादेय हो सकते है जो जीवन-सम्भूत और मानस-अनुभूत हो। इसका एक आभास इस रूप से भी प्राप्त किया जा सकता है कि विभिन्न वर्गीय समालोचक अपने-अपने दृष्टिकोणो से साहित्य का जो चिंतन और परीक्षण करते है उनकी मूलवर्तिनी धारा भी एक सत्य से अनुप्राणित अवश्य रहती है। बस, उस सत्य को समाहित रूप मे ग्रहण कर हमारी समालोचना भी चलने लगे तो इस समस्या का समाधान अन्वेषित किया जा सकता है।

१७. साहित्य-निर्माण की भॉति साहित्यालोचन के क्षेत्र मे भी इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि वह किसी वर्ग-विशेष की सम्पत्ति नही, अपितु जन-मानस की सम्पत्ति है। सास्कृतिक स्तर, बौद्धिक चेतना, आर्थिक सम्पन्नता आदि दृष्टिकोणो से व्यक्तियों मे अन्तर हो सकता है, किन्तु हृदय के साम्राज्य मे इस प्रकार का कोई निम्नोन्नत भाव नही। यह तो सर्वनियन्ता देवता का ऐसा पुनीत मन्दिर है जिसमे सभी साधको की पहुँच समान रूप से है; अतः उसका सृजन और समीक्षण सदैव ऐसे निर्लिप्त भाव से होना चाहिए जिसमे राजनीतिक वादो अथवा अर्थ-व्यवस्थाओ की अस्थायी वृत्तियो का बहुत कम प्रवेश हो। विश्व-साहित्य के विभिन्न कालो मे इस प्रकार के उदात्त प्रयत्न हुए है और उनमे आज भी शाश्वत बने रहने की जीवन-शक्ति है। युग-परिवर्तन और क्रान्तियो के बवण्डर आते है और ऊपर ही ऊपर निकल जाते है किन्तु उन प्रतिमानो को कोई आँच नही आती। अभिप्राय यह है कि ऐसे प्रतिमान जीवन-मूल मे ऐसा अतर्प्रवेश रखते हैं जिनको अज्ञात भाव एवम् रहस्यपूर्ण विधि से प्राण-रस मिलता है, जिसका प्रतिफल साहित्य के अकुरण और पल्लवन के रूप मे दृष्टिगोचर होता है। यदि हम ऐसे चिरंतन मानो को प्रमादवश व्यर्थ समझने की भूल कर बैठे तो जीवन-वृक्ष की जड़ें खोखली हो जायेगी, जिसके फलस्वरूप साहित्य-निर्माण और साहित्यालोचन का प्रस्फुटन भी अवरुद्ध हो जायगा। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि साहित्य-क्षेत्र मे प्रविष्ट होने वाली समस्याओ के निरोध के लिए इस दृष्टिकोण की उपेक्षा न की जाय।

१८. समालोचना के विकास-पथ की प्रमुख समस्याओ और उनके निराकरण के उपायो का विश्लेषण करना हमने इसलिए उचित समझा कि उनके द्वारा इस विषय का बोध हो सके कि समीक्षा-प्रवाह मे उनके कारण किस-किस प्रकार के अवरोध उपस्थित हो जाते हैं जिनका हमे तत्वदृष्टि से विचार किये बिना कोई ज्ञान ही नही होने पाता। इन समस्याओ का विवेचन हमारे शोध-प्रबन्ध की विकास-परम्पराओ से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध नही था, फिर भी उनका विश्लेषण करना इसलिए समीचीन प्रतीत हुआ कि उनका समालोचना-निर्माण के पथ मे ज्ञान करना आवश्यक है। इन समस्याओ के कारण हमारी गति अवरुद्ध तो नही हुई है, फिर भी कभी-कभी सकटों का सामना अवश्य करना पडता है। अब हमारे लिए यह विवेच्य विषय बन जाता है कि हम समालोचना के मानदण्ड का सामान्य स्वरूप विवेचित कर इस बात का विचार करें कि आधुनिक हिन्दी-समालोचना का कोई स्वतन्त्र मानदण्ड बन सका है या नही और यदि बन सका है तो उसका स्तर किस कोटि का है। इस विवेचन के पश्चात् ही हम उपसंहार के अन्तर्गत आधुनिक समालोचना की उपलब्धि और उसकी आवश्यकताओ का विश्लेषण करने मे अधिक समर्थ हो सकेगे।

(आ)

मानदण्ड का अभिप्रेत अर्थ और उसका स्वरूप-विधान

१९. मानदण्ड अथवा मूल्याकन मूलत साहित्य-शास्त्र के शब्द नही है, किन्तु आधुनिक समीक्षा मे इनका प्रयोग प्रायः समस्त लेखको द्वारा निस्सकोच भाव से किया जाता है। यह तो निर्विवाद रूप से नही कहा जा सकता कि साहित्य मे मूल्याकन की प्रवृत्तिका प्रादुर्भाव कब से

हुआ किन्तु इतना अवश्य निश्चित है कि यह प्रवृत्ति भी साहित्य-सर्जना की भाँति ही चिरंतन है। जिस प्रकार साहित्य अपनी जीवन्त सवेदनाओ मे नित्य नवीन और शाश्वत रहता है, उसी प्रकार उसका भावन तथा समीक्षण करने वाला मानदण्ड भी अपनी गूढ चेतना मे सदैव परम व्यापक होता है। हाँ, यह बात दूसरी है कि मानदण्ड या मूल्याकन के प्रकार या प्रतिमान युग और परिस्थिति के अनुसार अवश्य परिवर्तित होते रहते है। जीवन में चलने वाली क्रिया-प्रतिक्रियाओ की भाँति साहित्य मे भी कभी नैतिकता और आदर्शवादिता का आग्रह बढ जाता है तो कभी स्वच्छन्दवादिता और यथार्थ का दृष्टिकोण अपनी सत्ता स्थापित कर लेता है, जिसका प्रतिरूप अनेकबार समालोचना को प्रभावित करता हुआ चलता है तो कभी वह उससे प्रभावित भी होता रहता है। इस प्रकार जीवन और जगत् की प्रगतिशीलता की भाति साहित्य और समालोचना मे भी मानदण्ड का आवर्तन-प्रत्यावर्तन होता रहता है, जिसका प्रमाण भिन्न-भिन्न युगो की काव्य-कृतियो और उनके मूल्याकन के प्रयत्नो मे अन्वेषित करना कोई कठिन कार्य नही है। सच तो यह है कि परिवर्तन का यह चक्र समस्त देशकाल के साहित्यो को भी प्रभावित किये बिना नही रहता, अतः कभी-कभी साहित्य-समीक्षक के सामने इस प्रकार की एक समस्या आ जाती है कि यह साहित्य का मूल्याकन किस प्रकार के मानदण्ड को अपना आदर्श बना कर करे।

२० साहित्य-समीक्षण के मानदण्ड का स्वरूप और विधान प्रत्येक देश और काल मे भिन्न-भिन्न रहता है। एक समय था, जब प्राचीन आचार्यों ने रामायण और महाभारत-काल के महाकाव्यो के परीक्षण के लिए नायक के लिए वीरता का अनिवार्य गुण निर्धारित कर उसे उदात्त, ललित, प्रशात और उद्धत की चार श्रेणियो के अंतर्गत रखा, किन्तु आज की परिवर्तित परिस्थिति में इस प्रकार के श्रेणी-विभाग की कोई महत्ता नही रह गई है। आज सामान्य से सामान्य श्रेणी का व्यक्ति भी किसी काव्य का नायक बन सकता है, जिस पर कुलीनता के नाम से कोई आपत्ति कर ही नही सकता। यह मानदण्ड विषयक परिवर्तन विभिन्न युगों की धारणाओ और मान्यताओ की देन नही तो और क्या है? इससे यह स्पष्ट है कि साहित्य के मूल्याकन मे युग और परिस्थिति का महत्त्वपूर्ण स्थान अपने अपेक्षित स्वरूप में रहता अवश्य है। हाँ, यह बात दूसरी है कि शाश्वत और चिरतन साहित्य की भाँति समालोचना के मानदण्ड की भी कुछ ऐसी विधियाँ निर्धारित है, जिन पर किसी भी देशकाल के साहित्य का परीक्षण किया जा सकता है। ऐसे स्थायी और शाश्वत मूल्याकनो के मूल मे भी साहित्य की शाश्वत सवेदनाओ की भाँति रसात्मक अनुभूति की बौद्धिकता का अंश रहता है जो विभिन्न वाद-प्रवादो से विहीन और मताग्रहो से रहित होता है। यही कारण है कि जैसे भारत मे वाल्मीकि और कालिदास तथा पश्चिम मे होमर और शेक्सपियर आदि प्राचीन काव्यकार आज भी अपनी मौलिक उद्भावनाओ और चिरंतन प्रवृत्तियो के कारण अमर है, उसी प्रकार उनके मूल्यांकन का वह मानदण्ड भी शाश्वत और सर्वयुगीन है जो रस-प्रक्रिया जैसे काव्यानंद-निरूपक सिद्धान्त की सृष्टि कर सका है। अतएव यह स्पष्ट है कि साहित्य मे मूल्याकन या उसका मानदण्ड-निर्धारण भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिसको यथार्थ रूप से समझने के लिए एक निश्चित दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

मानदण्ड की विभिन्न विधियाँ और उनका प्रयोग

२१. साहित्य का मूल्याकन करते समय शास्त्रीय सिद्धान्तों की अपेक्षा जीवन की अनुभूति और सवेदना को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। सच तो यह है कि वही साहित्य देश-काल की परिधि से निष्क्रमित होकर अपनी सार्वभौम स्थिति प्राप्त कर सकता है जो मनुष्य की मौलिक मनोवृत्तियों पर आधारित हो और जिसमे रागात्मक तत्व का साहित्यिक उद्भावन मूर्तिमान रहे। मूल्यांकन का प्रतिमान देश और काल में होने वाले दृष्टि-प्रसार से भी अत्यधिक

सम्बन्धित है। इसका यह अभिप्राय नही की वह केवल अपनी युग-दृष्टि के रूप मे ही पूर्ण समझ लिया जाय। सच तो यह है कि साहित्य की भाँति उसका मान-दण्ड भी अपनी सास्कृतिक परम्परा और अतीतकालीन मान्यताओ से यथोचित प्रेरणा ग्रहण किए बिना नही रहता। इसका मुख्य कारण यही है कि साहित्य के मानदण्ड के निर्धारण मे इन बाह्य परिस्थितियो का भी हाथ रहता है। मानदण्ड या मूल्यांकन के प्रश्न को लेकर समालोचको मे मत-वैभिन्न्य भी बहुत अधिक है। कुछ समालोचक शास्त्रीयता के यान्त्रिक नियमो का आश्रय लेकर केवल उन्ही का साहित्य-समालोचना मे प्रयोग करना पर्याप्त समझते है तो कुछ साहित्य की भाँति समालोचना की प्रवृत्ति को भी अन्तर्मुखी सिद्ध कर केवल उसका आत्यन्तिक मनोविश्लेषण करने मे ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मानते है। इसी प्रकार कुछ समालोचको के दृष्टिकोण से साहित्य का मानदण्ड केवल इस विषय को लेकर निर्णीत होना चाहिए कि साहित्य की रचना का मूल उद्देश्य क्या रहा है और उसे अपने कार्य मे कैसी सफलता मिली है? मूल्याकन के प्रतिमान-निर्धारण मे समालोचना-जगत मे चलने वाली विभिन्न प्रणालियो का भी कम योग नही है। उदाहरणार्थ ऐतिहासिक अथवा समाजशास्त्रीय समालोचक साहित्य का सच्चा मानदण्ड यही समझते हैं कि उसका समालोचक प्रधानत. अपने युग, वातावरण, समाज और जाति विषयक मान्यताओ का उद्घाटन करे तो आज का प्रगतिवादी समालोचक साहित्य और युग का सम्बन्ध मूलत. मनुष्यो के आर्थिक, वर्गगत और सामाजिक क्षेत्रों के दृष्टि-बिन्दु से ही आँकता है। माना कि इन विभिन्न प्रणालियो की समालोचना का मूल्याकन विषयक मानदण्ड अपेक्षित सत्य से अवश्यमेव समन्वित है, किन्तु उसे सत्य की पूर्ण इकाई के रूप मे ग्रहण नही किया जा सकता। वस्तुत. साहित्य के सच्चे मूल्याकन के मानदण्ड की परिधि अत्यन्त व्यापक और गम्भीर होनी चाहिए और यथासम्भव उसे अतीत और वर्तमान की सन्धि मे सार्वभौम दृष्टि से इस प्रकार सम्पन्न बनाना चाहिए, जिससे मानवचेतना का विकास सास्कृतिक और मानसिक धरातल पर बिना किसी प्रकार के पूर्वाग्रह या दुराग्रह से विवेचित हो सके। इसके लिए आवश्यक है कि समालोचक महान् साहित्यकारो की उन जीवन-प्रेरणाओं और अनुभूतियो से भी सुपरिचित हो जिनसे वे मानव-भावनाओ को अमर वाणी प्रदान करने मे समर्थ होते है।

मानदण्ड-निर्धारण में व्यापक दृष्टि का समावेश

२२. वैसे तो युग-परिवेश के अनुसार जीवन-आस्थाओ के प्रति होने वाली क्रिया-प्रतिक्रियाओ के फलस्वरूप समालोचना के मानदण्ड भी निरन्तर बदलते रहते हैं, किन्तु आज की सामयिक परिस्थिति मे उसका निर्धारण करते समय केवल जीवन की शाश्वत वृत्तियों के मौलिक विवेचन से ही कार्य नही चल सकता। अद्यतन युग की समस्त प्रवृत्तियो के समीक्षण मे आज समाज-शास्त्र और मानस-शास्त्र दो ऐसे विषय हैं जिनके साहित्यगत यथोचित अनुपात की महत्ता का निषेध करना साहित्यालोचन के कार्य को एकागी और अपूर्ण बनाना है। बात यह है कि आज का जीवन अपनी विकासोन्मुख संस्थिति मे अत्यन्त जटिल है और उसके ऐसे अनेक अनिवार्य अंग हैं जिनका प्रभाव जीवन-चेतना की विविध प्रस्फुरण-क्रियाओ मे होता है। साहित्य भी इसका अपवाद नही है, अतः आज साहित्यालोचन के मानदण्ड का निर्धारण करते समय जीवन-संवेदना का प्रामुख्य दृष्टिगोचर रखते हुए भी हमे उक्त दोनो शास्त्रो के विभिन्न अगो के आवश्यक प्रभावो का निरूपण करने मे भी सतर्क रहना चाहिए। राजनीति, अर्थशास्त्र, प्राणी-शास्त्र और नृविकास-विज्ञान समाज-विज्ञान के ही अग है जिनका आनुषगिक प्रभाव साहित्य-सर्जना पर पडे बिना नही रहता। इसी प्रकार मानव-शास्त्र अथवा मनोविज्ञान की सहायता से साहित्यकार के मानस-लोक की उन ग्रंथियो का विश्लेषण किया जा सकता है जिनसे प्रेरित होकर किसी कृति

का निर्माण होता है। अतः यह स्पष्ट है कि समालोचना का मानदण्ड निर्धारित करते समय जीवन और जगत् की अन्तर्व्यापिनी प्रवृत्तियों का पूर्ण ध्यान रखा जाना चाहिए।

मानदण्ड के विविध आधार

२३. विश्व के विभिन्न साहित्य-क्षेत्रो के देशकाल की भिन्न भिन्न परिस्थितियों मे जिस समालोचना-शास्त्र का विकास हुआ है, उसे साहित्य-मीमासकों ने विभिन्न मानदण्डो से आकार प्रदान किया है। प्राच्य विचारको मे भरत मुनि रस-सिद्धान्त के अनुसार काव्य की प्रेरणा मनुष्य के भावो या अन्तर्वेगो से मान कर उसी की कसौटी पर साहित्य का मूल्याकन करना समीचीन समझते हैं तो भामह, उद्भट, दण्डी तथा रुद्रट का झुकाव आलकारिता को काव्य की कसौटी बना कर चलने की ओर विशेष है। वामन के अनुसार 'विशिष्ट पद रचना-युक्त रीति' ही काव्य की आत्मा है तो ध्वनिकार और मम्मट व्यंजना को ही काव्य का सर्वस्व समझते है जिसमे वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारोत्पादक होता है। वक्रोक्तिजीवितकार ने तो वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवन निर्दिष्ट किया है। इन शास्त्रकारो ने अपने विवेचन के प्रसग मे काव्य से आनन्द की उत्पत्ति निर्णीत कर उसके सौन्दर्य-पक्ष को भी नही भुलाया है जो घूम फिर कर आज के सौन्दर्य-शास्त्र अथवा कला-मीमासा विषयक (एस्थैटिक) सिद्धान्त के बहुत अनुरूप प्रतीत होता है। पश्चिमी विचारको ने भी इसी प्रकार अपने ढग से साहित्य-समीक्षण के प्रतिमान निर्धारित किए है। जे० ए० स्मिथ यदि आलोचक के लिए प्रधान शर्त किसी कृति के विशेष व्यक्तित्व का उद्घाटन करने मे मानते हैं तो एबरक्राम्बी इस बात पर जोर देते हैं कि कोई साहित्य-कृति अपने रचयिता की अन्त-प्रेरणाओं को अपने माध्यम से किस सीमा तक व्यक्त कर सकी है। भारत की भाँति पश्चिम के आदर्शवादी आलोचकों का दृष्टिकोण किसी कृति में अलौकिक अथवा पार्थिव सौन्दर्य का उद्घाटन करने की ओर ही मुख्य रूप से रहा है। इतना ही नही, एलैक्जैंडर, लिट्स तथा पोप आदि अन्यान्य आलोचको ने भी अपने अपने दृष्टिकोण से समालोचना के मानदण्ड निर्धारित किए है जिनसे यह ध्वनित होता है कि उन सब के मार्ग अलग-अलग है किन्तु सब का लक्ष्य एक ही रूप के उद्घाटन की ओर रहा है।

हिन्दी-समालोचना के मानदण्ड का प्रश्न

२४. हिन्दी-साहित्य मे समालोचना का स्वतन्त्र मानदंड वस्तुतः एक जागरूक प्रश्न है, जिसकी जटिलता का विश्लेषण किए बिना उसका स्वरूप-विधान किया ही नही जा सकता। आधुनिक विचारको में एक श्रेणी के कुछ व्यक्ति इस विषय में जहाँ प्रशसात्मक उक्तियाँ करते नही अघाते कि आज के हिन्दी साहित्य का सबसे पुष्ट अग उसकी समालोचना है तो दूसरी श्रेणी के समालोचक समालोचना को केवल अगुलियों पर गिनी जाने वाली कुछ संस्कृत तथा कुछ अग्रेजी समीक्षा-पुस्तकों की उद्धरणीमात्र समझते हैं। निश्चित है कि प्रथम श्रेणी के विचारको का दृष्टि-कोण आवश्यकता से अधिक आशावादी है तो द्वितीय श्रेणी के विचारकों की मान्यता निराशा की अतिरेकता को लिए हुए चली है। ऐसी स्थिति में हमारे सामने वस्तुतः यह समस्या आकर उपस्थित हो जाती है कि हम समालोचना का आधुनिक हिन्दी साहित्य मे किस प्रकार प्रतिमान निर्णय करें। मुझे तो इन दोनों प्रकार के विचारकों में प्रथम श्रेणी के विचारकों का मत अधिक युक्तिसगत और आधारपूर्ण प्रतीत होता है, क्योकि विरोधी विचारको की दृष्टि के अनुसार हिन्दी-समालोचना का स्तर केवल कुछ ही पुस्तकों के अनुवाद तक ही सीमित करना समीचीन नही है। यह तो प्रत्येक विचारक को स्वीकार करना ही होगा कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य में समालोचना साहित्य का सबसे पुष्ट अंग न होने पर भी इतना समृद्ध अवश्य है कि उसे अंग्रेजी

तथा संस्कृत के कुछ ही ग्रथों का अनुवादमात्र नही कहा जा सकता। इसमे कोई सन्देह नही कि आधुनिक हिन्दी-समालोचना विविध साहित्यो के ज्ञान-क्षेत्र से अपेक्षित सामग्री ग्रहण करती हुई आगे बढी है, किन्तु उसका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी है जिसके ज्वलत सत्य का कदापि निषेध नही किया जा सकता।

मानदण्ड की उपजीव्य सामग्री

२५. प्रश्न होता है कि जब हम आधुनिक हिन्दी-समालोचना के स्वतन्त्र मानदण्ड की बात कहते है तो पहले यह सोचे कि क्या आधुनिक हिन्दी-समालोचना के स्वरूप-सगठन मे ऐसी कोई बात है या नही ? इसके लिए सर्वप्रथम हमे इस विषय पर ध्यान देना होगा कि समालोचना की मूल प्रेरणाएँ क्या है और उसे किस ज्ञान-राशि से अपने उद्भव का आधारकोष मिला है ? इस प्रश्न पर मतव्य प्रकट करने के पूर्व हमारी दृष्टि भारत के प्राचीन सस्कृत साहित्य-शास्त्र और आधुनिक युग के पश्चिमी समीक्षा-शास्त्र की ओर जाती है, जहाँ से उसे अपने प्रवर्तन मे मूलाधार की उपलब्धि हुई है। सच तो यह है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे समालोचना की जो प्रवृतियाँ आई है उनमे सस्कृत के अलकार, रस, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि विभिन्न सम्प्रदायो का भी यथेष्ट प्रभाव है। माना कि सस्कृत मे इन समीक्षा-सिद्धान्तो को लेकर जितना विश्लेषण हुआ है उसका अर्द्धांश भी हिन्दी-साहित्य मे उपलब्ध नही है, किन्तु फिर भी यह स्वीकार करना ही पडेगा कि हिन्दी के समालोचना-शास्त्र ने उनसे यथोचित विचार-सामग्री प्राप्त कर अपना स्वतन्त्र विधान भी किया है। इसी प्रकार रीतिकाल के आचार्य कवियो ने जिन लक्षण ग्रथो का निर्माण किया है, वे सस्कृत साहित्य के अलकार और रस-शास्त्र के उपजीवी होने पर भी कई दृष्टियो से मौलिक भी हैं। आधुनिक साहित्य मे पश्चिमी साहित्य-शास्त्र की क्रोड मे विकसित होने वाली समालोचना के अंकुर भी यत्किंचित् रूप मे हिन्दी की प्रकृति का अनुसरण करते हुए ही चले है। इसमें कोई सन्देह नही कि आज का काव्य-कला का विवेचन पश्चिमी साहित्य का यथेष्ट अंशो मे अनुकरण मात्र है, किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर उसकी स्वतन्त्र सत्ता भी परखी जा सकती है। प० रामचन्द्र शुक्ल, डा० नगेन्द्र तथा प० नन्द दुलारे वाजपेयी की समन्वयपूर्ण समालोचना-प्रणाली से इस सत्य की यथार्थता समझी जा सकती है।

ऐतिहासिक अनुक्रम से स्वतन्त्र मानदण्ड-विषयक विवेचन

२६ आधुनिक हिन्दी साहित्यगत समालोचना के स्वतन्त्र मानदड का विकास ऐतिहासिक अनुक्रम से समझना अधिक सुविधाजनक है। एतदर्थ आवश्यक होगा कि हम भारतेन्दु युग की साहित्य-चेतना से लेकर अद्यतन युग की विकासमान प्रवृत्तियो को अपने दृष्टिपथ मे रखें जिन्होंने साहित्य-मीमासक की बोधवृत्ति मे लहर उत्पन्न कर उसे परीक्षण के प्रतिमान भी प्रदान किए हैं। इसी प्रसग मे हमारे लिए यह जानना भी आवश्यक है कि मानदण्ड की स्वतन्त्रता से क्या अभिप्रेत अर्थ उपलब्ध होता है। वैसे तो साहित्य-समालोचना मे स्वतन्त्र प्रतिमान से अभिप्राय केवल यही लिया जाना चाहिए कि उसका अपना कोई निजी व्यक्तित्व अथवा दृढ दृष्टिकोण है या नही, किन्तु ऐसा करते हुए इस तथ्य की भी उपेक्षा नही की जा सकती कि साहित्य मे आदान-प्रदान का संसर्ग अनादिकाल से चला आ रहा है जिसको दृष्टिगत रखते हुए ही हम अपना स्वतन्त्र विकास कर सकते हैं। स्वतन्त्र मानदण्ड से हमारा यह अभिप्राय भी है उसमे सैद्धान्तिक, व्यावहारिक अथवा अभिव्यक्ति-पक्ष की स्वतन्त्रता है या नही ? साथ ही साथ इससे यह आशय भी ध्वनित होता है कि हमारा साहित्य-समीक्षण किस प्रकार अपना गठन स्वतन्त्र-विधि से करता चला जा रहा है ? इसमे यह तथ्य भी अनुस्यूत है कि हमारी हिन्दी-समालोचना ने जो कुछ

विकास किया है वह स्वस्थ परम्परा को भी ग्रहण करने वाला है या केवल अपनी उपजीव्य-सामग्री का अनुवादमात्र है ? सच तो यह है कि यदि कोई साहित्य-समीक्षक केवल पराश्रित बन कर अपना मौलिक विवेचन नही कर पाता अथवा वह सत्यानुभूत तथ्यो की छीछालेदर कर उन्हे स्वेच्छापूर्वक विकृत स्थिति मे उपस्थित करता है तो वह स्वतन्त्र विकास की स्थिति भयावह और हानिकारक बन जाती है। इसी प्रकार स्वतन्त्र मानदण्ड की धुन मे किसी एकागी सिद्धान्त-प्रतिपादन की ओर प्रवृत्त हो जाना भी वाछनीय नही है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि स्वतन्त्र दृष्टि के निर्माण मे अपनी परम्परा-प्राप्त संस्कृति भी यथेष्ट सहयोग प्रदान करती है और उसके तत्वकरण भी हमे नूतन अभिव्यक्ति देने के लिए प्रेरणा देते है। इतना ही नही, अनेक बार तो युग-क्रान्ति के उपकरण भी साहित्य-समालोचना को स्वतन्त्र दृष्टि से परखने के लिए वाध्य बना देते है। इन सब तथ्यो का महत्त्व स्वीकार करते हुए ही आधुनिक हिन्दी समालोचना के मानदण्ड की स्वतन्त्रता का स्वरूप अवगत किया जा सकता है।

२७. सर्व प्रथम आधुनिक काल के प्रथम उत्थान-चरण भारतेन्दु-काल को लेते हैं जो साहित्य-समालोचना की भाँति हमारे जीवन की अनेक विधाओं में नवीन उत्क्रान्ति का सूत्र सस्थापक बन कर आया है। इस युग की मूल प्रवृत्ति रचनात्मक साहित्य-निर्माण की ओर जितनी अधिक रही, उतनी उसके समालोचनात्मक स्वरूप की ओर नही। अत इस युग में समालोचना का कोई निश्चित मानदण्ड ही नही बन सका, फिर भला उसके स्वतन्त्र वैशिष्ट्य की परिस्थिति ही कैसे आती ? भारतेन्दु युग के प्रमुख समालोचक भारतेन्दु जी, प्रेमघन जी और बालकृष्ण भट्ट, आदि ने अपने पत्र-सम्पादन के साथ समालोचना को भी एक प्रमुख स्तम्भ बना कर इस क्षेत्र में कार्य किया था, किन्तु उसमे स्वतन्त्र प्रौढि का कोई लक्षण नही है। और तो और, इस युग की समालोचना अधिकतर परिचयमूलक या पुस्तकालोचन के रूप मे ही रही, अतः उसमे स्वतन्त्र प्रतिमान की दृष्टि का उन्मेष बहुत कम हुआ। इस युग के आलोचकों ने या तो अपनी वैयक्तिक अभिरुचि की धुन मे किसी काव्य-कृति की समीक्षा में गुण-दोष-कथन की शैली को अपनाया या प्राचीन समालोचना-ग्रन्थो के आधार पर उन्ही से मिलती-जुलती अधूरी या अधकचरी बातें कही। अत विचार और अभिव्यक्ति इन दोनों पक्षों की दृष्टि से भी इस युग की समालोचना मे स्वतन्त्र रूप-निर्माण का कोई विधान नही आ सका। इतना अवश्य है कि एतद युगीन समालोचना रीतिकाल की लक्षण-परम्परा वृत्ति और नायिका-भेद निरूपणी अलंकार-वादिता को छोड़कर नवीन आलोक के साथ अपना स्वर-संधान करने के लिए उन्मुख हो रही थी, जिसका प्रस्फुटन कालान्तर मे द्विवेदी-युग मे हुआ। अतः भारतेन्दु कालीन समालोचना की स्वतंन्त्र सत्ता का विवेचन इस तथ्य को बिना विस्मृत किए ही किया जाना चाहिए।

२८. द्विवेदी-युग आधुनिक हिन्दी-समालोचना का द्वितीय चरण है जिसकी सारी मान्यताएँ आचार्य द्विवेदी और उनकी 'सरस्वती' पत्रिका के परिवश मे आवर्तन-प्रत्यावर्तन करती हुई चलती रही हैं। इस युग के विचारकों की दृष्टि मे विस्तार और सुधार की भावनाओं का प्रस्फुटन होने लगा था, जिसका प्रभाव समालोचना पर भी परिलक्षित हुआ। जहाँ तक समालोचना के स्वतन्त्र प्रतिमान का प्रश्न है, यह युग अपने पूर्ववर्ती युग की अपेक्षा अधिक अवकाश पा सका। बात यह थी कि आचार्य द्विवेदी जी तथा उनके समकालीन गुण्यमान समालोचक मुख्यतः प्राचीन सस्कृत-साहित्य और पाश्चात्य अंग्रेजी साहित्य-शास्त्र की विभिन्न विधाओं से अवगत थे और उनका समावेश हिंदी-साहित्य की अभावपूर्ण स्थिति में भी करना चाहते थे। विश्व-विद्यालियो की उच्चतम परीक्षाओ मे हिन्दी-भाषा और साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था होने के कारण भी साहित्य-मनीषी उसके रचनात्मक और आलोचनात्मक दोनों ही क्षेत्रों को नूतन विषयों से पूर्ण बनाने के आकांक्षी थे। आचार्य द्विवेदी जी ने गद्य और पद्य के लिए एक

ही भाषा का सस्थापन कर भाषा-सुधार-आन्दोलन को जन्म दिया और रचनात्मक साहित्य को भी अनेक नूतन दिशाएँ दिखलाई। ऐसा करने मे उनका मानसिक सस्थान, सास्कृतिक और सुधारवादी दृष्टिकोण तथा नैतिकता की अभिरुचि तो कारण थे ही, साथ ही साथ उनका भारतीय भाषा-साहित्यो का अध्ययन और पाश्चात्य साहित्य-सरणि का अवबोध भी कम सहयोगी न था। उनके द्वारा हिन्दी समालोचना के नूतन प्रतिमान-निर्धारण का कार्य भी सम्पन्न हुआ। यह उन्ही के प्रयत्नो का सुफल था कि हिन्दी का साहित्यालोचन संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थ, नायक-नायिका-भेद-चित्रण तथा रीतिकालीन वाह्याडम्बर समालोचना की परिधि को लाँघ कर जन-कल्याण और लोक-हृदय की भावभूमि के निकट प्रस्तुत हुआ। द्विवेदी जी ने सस्कृत-कवियो की चर्चा के साथ-साथ साहित्य-स्वरूप-विधायक नवीन सैद्धान्तिक उद्भावनाएँ भी की। इस प्रकार उनके द्वारा साहित्यालोचन का एक स्वतन्त्र प्रतिमान निर्धारित हुआ जो विभिन्न साहित्य-ग्रन्थो से उपजीव्य सामग्री प्राप्त करके भी हिन्दी-साहित्य के लिए निश्चय ही मौलिक और स्वतन्त्र दृष्टि से सम्पन्न था। उसके अध्ययन-अन्वलन से हिन्दी-समालोचना के विकास-तन्तु सहज भाव से दृष्टिगोचर किए जा सकते है।

२९. द्विवेदीजी के समकालीन जो अन्यान्य समालोचक थे; उन्हे वास्तविक पथप्रदर्शन तो द्विवेदीजी द्वारा ही मिला था अतः उनमे आलोचना का स्वतंत्र प्रस्फुरण तो बहुत अधिक नही हुआ, फिर भी उनसे समालोचना-साहित्य को जो विकास मिला उसमे स्वतत्र मानदंड के निर्माण के लिए अवकाश अवश्य रहा। मिश्रबन्धुओ ने जिस समालोचना-पद्धति को जन्म दिया वह एक ओर रीतिकालीन परम्परा और सस्कृत की आचार्यपद्धति के बहुत निकट थी तो दूसरी ओर उसमे पाश्चात्य साहित्यालोचन के भी भास्वर कण थे। उनके 'हिन्दी नवरत्न' मे कवियो का जो श्रेणिगत समीक्षण हुआ है, उससे हमे विद्वान-लेखको की नई सूझ-बूझ का भी पता चलता है। उनका 'मिश्रबन्धु-विनोद' भी ऐतिहासिक-प्रणाली मे लिखा गया एक प्रारम्भिक किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रयत्न है। उनके विवेचन और विश्लेषण मे उनकी एक अन्तर्दृष्टि की आभा भी है जो उस युग को देखते हुए महिमामय है। कवियो की विवेचना मे व्याख्यात्मक प्रणाली का प्रयोग करते हुए मिश्रबन्धुओ ने साहित्यालोचन के क्षेत्र मे निश्चय ही एक अभूतपूर्व क्रान्ति की है। समालोच्य-कवियो के श्रेष्ठ छन्दो का सचयन कर उन्होने जिस अक-प्रणाली का प्रयोग किया है, वह हिन्दी-समालोचना के क्षेत्र में एक नवीन विधान अवश्य कहा जा सकता है, भले ही उसकी अवैज्ञानिकता और अपूर्णता आज सिद्ध हो चुकी हो। अभिप्राय यह है कि हिन्दी-समालोचना के स्वतत्र प्रतिमान के निर्माण और विकास के अन्तर्गत मिश्रबन्धुओं की कृतियो को एक ऐसी कडी अवश्य माना जायगा जो कालान्तर मे विकसित न होने पर भी अपना स्थायी महत्त्व रखती है।

३०. मिश्रबन्धुओ के समकक्ष प० पद्मसिंह शर्मा ने जिस तुलनात्मक प्रणाली का आश्रय लेकर बिहारी और देव के काव्यो का विवेचन अपनी बहुज्ञता प्रदर्शित करते हुए किया, उसका भी हिन्दी-समालोचना के स्वतंत्र मानदड निर्माण मे विशेष हाथ है। एक प्रकार से शर्माजी ने ही तुलनात्मक पद्धति का विशद विश्लेषण किया और बिहारी की बहुज्ञता को निरूपित करते हुए उन्हे सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, उर्दू-फारसी आदि साहित्यो के उच्चतम रचयिताओ के समकक्ष रखा। माना कि शर्माजी की समालोचनाएँ गम्भीर और तत्त्वदर्शिनी कम थी, किन्तु उनमें भी रचनात्मक साहित्य की भाँति जिस सरसता और जिन्दादिली का समावेश हुआ, वह समालोच्य कवियों की रचनाओ के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने मे परम सहायक था। प० पद्मसिंह शर्मा के तुलनात्मक समीक्षण का ही यह परिणाम था कि आगे चल कर कवियों की पारस्परिक समता की परम्परा चल निकली, जिसका सबल और निर्बल स्वरूप भी साहित्यलोचन के क्षेत्र मे प्रकट हुए बिना नही रह सका। और तो और; इस तुलनात्मक पद्धति का दुरुपयोग भी खूब हुआ। कई

नौसिखिए समालोचक देश-काल का बिना विचार किये और भाव-धारा का साम्य परखे तुलना के नाम पर ऐसे दो कवियो को भिडाने लगे जिनके मानसिक संस्थान मे आकाश-पाताल का अन्तर था। साहित्य-हित-चिन्तन की दृष्टि से यह अच्छा नही हुआ। फिर भी यह एक ध्रुव सत्य है कि इस प्रकार की तुलनात्मक प्रणाली से हिन्दी-समालोचना के क्षेत्र में भी कवियो की काव्य-विशेषताओ के उद्‌घाटन की एक नई चाल चल निकली, जिसमे भाव-माधुर्य और काव्य-सौन्दर्य का विवेचन बडी तन्मयता से किया जाता था। पूर्ववर्ती काल मे इस प्रकार की परम्परा बहुत कम थी, अत मेरी दृष्टि से पद्मसिंहजी शर्मा द्वारा अपनी तुलनात्मक पद्धति के माध्यम से हिन्दी-समालोचना के स्वतन्त्र मानदड का निर्माण करने में भी पर्याप्त सहयोग प्रदान किया गया। निश्चय ही 'सूर सूर तुलसी ससी' की तुलनात्मक-पद्धति के सूत्रों का वास्तविक भाष्य उनकी समालोचनाओ द्वारा हमारे साहित्य-जगत् मे आया। अत. उनके समीक्षा-कार्य का भी समालोचना के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के निर्माण मे अत्यधिक महत्त्व है।

३१. आधुनिक हिन्दी समालोचना के स्वतत्र मानदड का प्रतिष्ठापन यदि वास्तविक अर्थ मे जिनकी प्रौढ कृतियो द्वारा हुआ वे है हिन्दी समालोचना-जगत के सर्वस्व आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल। सच तो यह कि शुक्लजी अपनी मौलिक मान्यताओं और समर्थ विवेचनाओ द्वारा हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र मे अद्‌भुत आलोक विकीर्ण करते हुए इस प्रकार प्रोद्‌भासित है जिनसे साहित्यालोचन के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षो को वास्तविक प्रश्रय मिला है। उन्होने भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रो का अध्ययन कर रस और मनोविज्ञान के सामजस्य मे जो सुलझी हुई दृष्टि प्रदान की है, वह उनकी मौलिकता का ज्वलंत उदाहरण है। वे हमारे हिन्दी-साहित्य के एकमात्र ऐसे समालोचक हैं जिनके द्वारा अन्य समीक्षको ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष के सन्तुलित संगठन और अपेक्षित संयोजन का सार प्राप्त किया है। वास्तव मे शुक्लजी के द्वारा ही समालोचना के शास्त्रीय, ऐतिहासिक, व्याख्यात्मक और स्वच्छन्दतावादी पक्षों को विशुद्ध मूर्तिमत्ता प्राप्त हुई है। यदि यह कह दिया जाय कि हिन्दी समालोचना का वास्तविक, प्रतिमान शुक्लजी द्वारा ही निर्मित हुआ तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। उनकी समालोचनाओं के महत्त्व का विश्लेषण उनके युग के साथ स्वतंत्र रूप से कर दिया गया है। यहाँ केवल इस विषय का सामान्य संकेत-मात्र करना है कि शुक्लजी ने समालोचना के स्वतंत्र मानदंड के निर्धारण मे जो अपूर्व योगदान दिया है वह अद्‌भुत और अपूर्व है। उसकी उपेक्षा कर अपने अध्ययन की दिशा में विकासोन्मुख बनना किसी भी अध्येता के लिये सभव नही है।

३२. आचार्य शुक्ल के पश्चात् रचनात्मक साहित्य की भाँति समालोच्य साहित्य मे भी कलामीमासक, सौष्ठवपूर्ण, समाजशास्त्रीय, मनोविश्लेषक तथा प्रभाववादी पद्धतियो का जो उन्नयन हुआ है, वह भी हिन्दी-समालोचना के स्वतत्र प्रतिमान का निदर्शन है। निष्पक्ष एवं उदार दृष्टि से देखने पर इनका महत्त्व भी प्रतिष्ठित हुए बिना नही रहना है। यद्यपि इस प्रकार का निरूपण पश्चिमी जगत् से होता हुआ अन्यान्य भारतीय साहित्यों की भाँति हिन्दी साहित्य में भी आया है, किन्तु उसकी आज साहित्यालोचन के क्षेत्र मे एक स्थायी सत्ता बन चुकी है, इसमे कोई सन्देह नही। समालोचना के प्रतिमान को प्रौढ बनाने मे उसके महत्त्व को कम नही किया जा सकता। इस प्रकार के प्रतिमान ने हमें वर्तमान साहित्य-निर्माताओं के साथ-साथ प्राचीन-काव्यकारों की कृतियो के समीक्षण के लिए भी अनेक अभिनव और युगानुवर्ती मानदंड प्रदान किये हैं। यद्यपि इन प्रतिमानों मे सब की परीक्षा सम्यक् विधि से नहीं की जा सकी है और उनमे अनेक प्रतिमान असन्तुलित और अपूर्ण भी हैं, फिर भी उनका समालोचना के स्वतंत्र व्यक्तित्व के निर्माण में अवश्य हाथ है। इन प्रतिमानो के द्वारा हमारा समालोचना-साहित्य कितना अधिक आगे बढ़ सका है, इसका विवेचन यथास्थान कर दिया गया है। यहाँ तो हमारा मूल मन्तव्य केवल यही प्रतिपादित

करने का है कि इन विचार-पद्धतियो और भावधाराओ का आधुनिक हिन्दी-साहित्य के समालोचनात्मक विधान का निर्माण करने मे जो अपूर्व सहयोग है उसको कभी हीन-दृष्टि से नही देखा जा सकता।

३३. समालोचना के स्वतत्र प्रतिमान के निर्धारण मे उन विद्वानो को भी अत्यधिक श्रेय है, जिन्होने प्राचीन और नवीन की अभिसधि मे समालोचना-क्षेत्र का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विश्लेषण किया है। वस्तुत युग-दृष्टि को देखते हुए हिन्दी-समीक्षा के लिए इस प्रकार की आवश्यकता भी थी। डा० नगेन्द्र, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० रामकुमार वर्मा, बाबू गुलाबराय आदि के प्रयत्न इस दिशा मे श्लाघ्य है। इन विद्वानो ने हिन्दी समालोचना के स्वतन्त्र अस्तित्व और रूप-निर्माण का समर्थन कर उसके रचनात्मक साहित्य के अनुरूप ही समालोचना का प्रतिमान जिन विकास-स्रोतो से ग्रहण किया है, उसका निर्माण संस्कृत साहित्य-शास्त्र, रीतिकालीन काव्य-परम्परा और अग्रेजी साहित्यालोचन के विविध रूप-तंत्रों से हुआ है। आज का साहित्यिक वाद-समीक्षण भी हिन्दी समालोचना का नूतन विषय है। इस प्रकार के प्रयत्न प्राचीन काल मे नही किये गये थे। इसी प्रकार कवियो और काव्यधाराओ का विशद् और व्यापक विश्लेषण करने की परम्परा भी हिन्दी साहित्य मे आधुनिक युग की ही देन है, जिस पर भले ही पश्चिमी साहित्य की छाया हो किन्तु उसके द्वारा हमारे समालोचना-साहित्य के स्वतंत्र प्रतिमान का निर्माण अवश्य हुआ है। आजकल विभिन्न विश्वविद्यालयो मे अनुसधाताओ द्वारा शोधविषयक जो कार्य किया जा रहा है, वह भी हमारी समालोचना के स्वतत्र प्रतिमान के विकास का ही परिचायक है। प० रामनरेश त्रिपाठी, डा० माताप्रसाद गुप्त, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल आदि अनेक विद्वानो ने पाठालोचन के द्वारा भी हमे समालोचना का एक स्वतन्त्र प्रतिमान दिया है। अभिप्राय यह है कि आधुनिक काल में समालोचना-क्षेत्र के अन्तर्गत जिन-जिन प्रणालियों और शैलियो मे हमारी समालोचना पद्धति विकसित हुई है और हो रही है, उसकी आधार शिला निश्चय ही उसके स्वतत्र व्यक्तित्व की ही परिणति है। इन तथ्यो से मुझे तो यही प्रतीत होता है कि आधुनिक युग मे हिन्दी साहित्य ने निश्चय ही अपना एक स्वतंत्र प्रतिमान निर्धारित किया है जो प्राचीन और नवीन की अभिसंधि मे अपना निजी वैशिष्ट्य रखता है। यह भी एक असंदिग्ध बात है कि समालोचना-शास्त्र के विभिन्न अगो मे अभी तक पर्याप्त प्रौढता का समावेश नही हुआ है और इस ओर अब भी यथेष्ट मात्रा मे ध्यान देने की आवश्यकता है, फिर भी अपनी सौ वर्ष की प्रगति में आधुनिक हिन्दी साहित्य-समीक्षा ने जो विकासमान दिशाएँ प्राप्त की है, वे निश्चय ही उसके गौरव के अनुकूल रही है। समालोचना के स्वतत्र प्रतिमान को और अधिक पूर्ण बनाने के लिये विद्वानो को इस बात का ध्यान रखना होगा कि वे हिन्दी साहित्य के विकास और निर्माण की स्वतंत्र प्रकृति की महत्ता स्वीकार करे और उसी के अनुकूल अपना साहित्यालोचन आगे बढ़ावे जिससे उनकी स्थिति पराश्रित सी न हो। वस्तुतः हिन्दी समालोचना का भविष्य केवल ऐसा करने से ही बन सकेगा।

एकादश अध्याय

उपलब्धि और आवश्यकताएँ

(उपसंहार)

१. जीवन, साहित्य और समालोचना के मूलभूत तत्वो को लेकर आधुनिक युग-चेतना की पृष्ठभूमि मे विकसित होने वाली हिन्दी-समालोचना का पूर्ववर्ती अध्यायो मे ऐतिहासिक अनुक्रम से जो क्रमबद्ध विश्लेषण किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि साहित्य की इस विधा के लिए आधुनिक युग मे विकास करने के जितने अनुकूल अवसर उपलब्ध हुए है, उतने पूर्ववर्ती युगो की रूढिगत धारणाओ और सकुचित जीवन-दृष्टि मे कदापि सम्भव नही थे। वस्तुत: वर्तमान युग की विचारधारा और ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओ से हमारी जीवन-प्रक्रिया प्रारम्भ ही से इतनी अधिक अभिभूत रही है कि व्यक्ति की विचार-धाराओ और मान्यताओं के तटस्थ निर्माण की कल्पना, आज की संवर्धित ज्ञानराशि की उपेक्षा कर, किसी भी प्रकार मे नही की जा सकती। अद्यतन युग-सघर्ष और भौतिक दृष्टिकोण ने हमारे परम्परागत आस्तिक चिन्तन और आध्यात्मिक प्रस्फुरण पर एक प्रकार की अर्गला सी लगा दी है, जिसके कारण हमारे जीवन का अपार्थिव प्रतिमान उनके प्रति अनेक बार अन्तर्विद्रोह भी कर उठता है। आज के जीवन-परीक्षण के मान दण्ड बहुत कुछ अर्थ-व्यवस्था और राजनीतिक प्रवादो से अनुप्रेरित हैं, जिनकी प्रभुसत्ता के समक्ष साहित्य की मंगलविधायिनी शक्ति पद-परित्यक्ति के लिए अनेक बार बाध्य बनाई भी जाती है। कह नही सकते, युग की प्रसव-वेदना भविष्य मे किस विचार-प्रसू को जन्म दे, किन्तु अद्यतन युग ने समालोचना के विकास के लिए जिस परिवेश अथवा आवेष्टन की अवतारणा की है, वह ज्ञान-विज्ञान की भाँति साहित्य-क्षेत्र मे भी विकासमान रहेगी, इसमें कोई सन्देह किया ही नही जा सकता। यह बात दूसरी है कि इसका विधान कालक्रम से साहित्य को सम्मिलन-भाव से ग्रहण करता हुआ चले अथवा आधुनिक वाद-प्रवादो के झंझावातों में उलझा कर क्षत-विक्षत कर दे।

२. पूर्व पृष्ठों के अन्तर्गत आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे होने वाले समालोचना के विकास को उसके विभिन्न चरणों मे निक्षिप्त कर प्रमुख समीक्षको के योगदान का मूल्यांकन करते हुए जिस विधान मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है उससे यह भी स्पष्ट है कि उस पर आधुनिकता का जितना अधिक भार है उतना पुरातनता अथवा शास्त्रीयता का नही। हमने अपने विवेचन में यह भी स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि आधुनिक युग और उसके प्रतीक जीवन-दर्शन की वे कौन कौन सी मूल चेतनाएँ हैं, जिनसे प्रेरणा लेकर हमारा आधुनिक साहित्य अपना स्वरूप-विधान कर सका है तथा जिसके समानान्तर समालोचना ने भी अपना निर्माण किया है। साथ ही साथ हमने इस विषय का भी विवेचन कर दिया है कि आधुनिक हिन्दी-समालोचना के वे कौन कौन से मूल स्रोत हैं, जिनसे उसको यथासमय जीवन-धारण करने में शक्ति और पुष्टि मिली है। आधुनिक समालोचना के प्राय: एक शताब्दी तक परिव्याप्त विकास के इतिहास को अधिकाधिक सुबोध और वैज्ञानिक बनाने की भावना से हमने उसके विकास-निर्देशक चार चरण-प्रवर्तन, सम्वर्धन, विकास और प्रसार-निर्धारित करते हुए प्रत्येक चरण की सामान्य प्रवृत्तियों और प्रमुख समालोचकों की कृतियो का विश्लेषण और विवेचन कर यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि इन चारों

चरणों का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षा के विकास क्रम में क्या महत्त्व है और प्रवर्तन काल से लेकर प्रसार-काल पर्यन्त उन्होने वाह्य तथा आभ्यतरिक शक्तियो से प्रेरणा और उपलब्धि प्राप्त कर किन मान्यताओ और प्रणालियो मे अपना नैसर्गिक क्रम बनाए रखा है। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी साहित्य की समालोचना का पूर्व विवेचन उसके अन्तर्संगठन और वाह्य विधान का विश्लेषण करने मे कदाचित् पर्याप्त समर्थ कहा जा सकता है। (पर्याप्त इसलिए कि पूर्णता तो किसी मे हो ही नही सकती, क्योकि उसके आगे विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है) अत. उपसहार मे अब हमारे लिए यही कार्य शेष रह जाता है कि हम उसकी अद्यावधि उपलब्धि का सारभूत विवेचन कर उसके साथ ही साथ इस विषय का भी सामान्य संकेत करते चले कि हमारी अद्यतन आवश्यकताएँ क्या है और उनकी पूर्ति के लिए किस प्रकार के प्रयत्न होने चाहिए।

रचनात्मक साहित्य द्वारा उपलब्धि

३. आधुनिक हिन्दी साहित्य मे समालोचना को समृद्ध बनाने मे रचनात्मक साहित्य ने भी पूर्ण सहयोग दिया है। पूर्ववर्ती युगो मे हिन्दी का रचनात्मक साहित्य केवल पद्य-भाग तक ही सीमित था और उसमे सामान्यतया काल-विशेष की एकागी प्रवृत्तियो का ही प्रस्फुटन होता था, किन्तु आधुनिक युग मे उसकी भाव-सृष्टि और विचार-चेतना मे भी प्रसार हुआ। इस काल मे साहित्य केवल वीरगाथा, भक्ति, रीति और शृगार के सकीर्ण क्षेत्रो मे ही यन्त्रणाग्रस्त नही रहा, अपितु उसे जीवन की व्यापकता मे अधिष्ठित होने का भी अवसर मिला। गद्य-साहित्य के प्रसार से साहित्य के विभिन्न अगो मे विकास होने लगा और पद्य-काव्य के साथ-साथ नाटक, कहानी, उपन्यास, निवन्ध, जीवनी तथा समालोचनाएँ भी लिखी जाने लगी। भारतेन्दु-युग से लेकर आज तक साहित्य की इन विभिन्न प्रक्रियाओ मे ऐसे अनेकानेक विधानो और प्रकारो के अन्तर्गत साहित्य-निर्माण किया गया है, जिनके समानान्तर उनका भावन करने के लिए समालोचना-साहित्य भी सृजित हुआ है। इस समालोचना-साहित्य ने अनेक बार रचनात्मक साहित्य का पथ-प्रदर्शन भी किया है और कई बार उससे अपना स्वरूप-गठन करने के लिए प्रेरणा भी ली है। साहित्य-क्षेत्र मे ऐसी परिस्थितियाँ भी आई हैं जब दोनो मे सघर्ष-जन्य वातावरण के कारण विभिन्न मतमतान्तर भी उत्पन्न हो गए है। फिर भी सब मिला कर यही कहना समुचित प्रतीत होता है कि रचना और समालोचना अधिकाशत एक दूसरे के पूरक बन कर ही चले है। इसका एक प्रबल प्रमाण इन दोनो का वर्तमान समृद्ध स्वरूप है। यदि ऐसा न होता तो इनका इस प्रकार समानुवर्ती विकास कदापि नही हो सकता था।

सैद्धान्तिक पक्ष का विकास

४. हमारे पूर्व विवेचित विवरण से यह भी स्पष्ट है कि आधुनिक युग मे हिन्दी-साहित्य की समालोचना-विधा के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक—दोनो पक्षो मे अपेक्षित विकास हुआ है। इसका सैद्धान्तिक पक्ष सस्कृत काव्यशास्त्र, रीतिकालीन अलंकार-शास्त्र और नायिका-भेद तथा पाश्चात्य साहित्य-समीक्षण इन तीनो से यथोचित सामग्री ग्रहण कर परिपुष्ट हुआ है जिससे उसका एक स्वतन्त्र विधान भी बन सका है। इसके सिद्धान्त-पक्ष मे न जाने कितने प्रकार से काव्य, साहित्य, नाटक, उपन्यास, कहानी और निबन्ध आदि साहित्य के विभिन्न अगो का विश्लेषण हुआ है। यहाँ तक कि समालोचनाओ की भी आलोचना की गई है। जीवन और साहित्य का पूर्वापर सम्बन्ध मानकर भी साहित्य-समीक्षकों ने अपने विचारो का विस्तार किया है। इसी प्रकार कला, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, अलकार, रीति और औचित्य सम्प्रदायो का विश्लेषण भी हमारे साहित्य मे हुआ है। पश्चिमी साहित्य-शास्त्र मे प्रचलित ऐसे अनेक साहित्यिक वाद-प्रवाद है जिनका विवेचन भी

हमारे सैद्धान्तिक पक्ष के अन्तर्गत किया गया है। रिपोर्ताज और रेखाचित्र, एकांकी और भाव-नाट्यो पर भी समालोचनाएँ लिखी गई है। ऐसे प्रयत्न भी किये गये है जिनमें पश्चिम और पूर्व की विचार-दृष्टियो मे समन्वय स्थापित किया जा सके। सैद्धान्तिक पक्ष-निरूपण की शैली में भी समालोचकों ने अपने व्यक्तित्व और वैशिष्ट्य की भाँति कितने ही प्रकार की विविधताएँ लाने की चेष्टाएँ की है। युग-जीवन के विकास के साथ-साथ हमारे साहित्य-शास्त्रियो के ज्ञान मे जैसे-जैसे वृद्धि होती गई है, उन्होंने समालोचना के अंग को पुष्ट बनाने के प्रयत्न किये है। पाश्चात्य देशो मे प्रचलित ऐसी अनेक समालोचना-प्रणालियाँ हैं, जिन्हे आधुनिक हिन्दी-समालोचना ने ग्रहण किया है। साहित्य-समीक्षण के अनेक प्रकार के मानदण्ड आज हमारे सामने विद्यमान है। ज्ञान-विज्ञान की अनन्त शाखाओ से भी अपेक्षित जीवन-रस ग्रहण कर हमारी समालोचना आगे बढी हैं। अब उसका सैद्धान्तिक पक्ष केवल साहित्य को भावमयी सृष्टि समझ कर ही उसका विवेचन नही करता, अपितु उसका व्यावहारिक जीवन के विविध पक्षों के साथ अटूट सम्बन्ध मानता हुआ उनकी प्रतिच्छाया भी साहित्य के अन्तर्गत देखना अनिवार्य समझता है। इसके अतिरिक्त साहित्य को राष्ट्र-जीवन की एक महान् शक्ति समझ कर भी उसकी विवेचनाएँ हुई है। अभिप्राय यह है कि आधुनिक हिन्दी समालोचना का सैद्धान्तिक पक्ष अत्यन्त व्यापक और विकासोन्मुख है, जिसमें उसके प्रवर्तन-काल की साधारण मान्यताओं से लेकर आधुनिक काल की जटिलतम समस्याओं के समाधान अन्वेषित करने की चेष्टा भी प्रतिफलित है।

इतर प्रांतीय साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन

५. हमारा आधुनिक समालोचना-साहित्य निश्चय ही अपने विकास का वैज्ञानिक क्रम लेकर चला है। एक समय था जब इसकी परिव्याप्ति केवल पुस्तक-परिचय अथवा विज्ञापन-वृत्ति तक ही सीमित थी, किन्तु अब उसमे अनेक प्रकार के उपयोगी विषयों का समाहार भी किया जाने लगा है। अब उसमे केवल उसी के साहित्यागो का एकपक्षीय अध्ययन नहीं किया जाता, अपितु इतर प्रातीय साहित्यो के साथ उसके तुलनात्मक अध्ययन की ओर समालोचकों की प्रवृत्ति हुई है। इसका एक कारण यह भी है कि आज हिन्दी-भाषा को राष्ट्र-भाषा का जो गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है, उसके फलस्वरूप हमारे अन्य प्रातीय साहित्यकार भी उसका अध्ययन करने के लिए जिज्ञासातुर रहते हैं और उन्हे उसमे जहाँ अपने साहित्य के साथ साम्य दृष्टिगोचर होता है, वे दोनो के तुलनात्मक अध्ययन में प्रवृत्त हो जाते है। इस दिशा मे विद्वानों ने स्वेच्छापूर्वक भी समीक्षण किया है और कुछ लोगो ने शोधपरक भावना के वशीभूत होकर भी अपनी योग्यता प्रदर्शित की है। बगला, मराठी, गुजराती, तेलगू और उर्दू आदि विभिन्न भाषा-साहित्यों के साथ तुलनात्मक समालोचनाएँ भी हुई हैं, जिनके द्वारा सबसे बडा लाभ यह हुआ है कि एक ही राष्ट्र मे विकसित होने वाले विभिन्न भाषा-साहित्यों के मूल में जो अखण्ड एकता अथवा भावनाओ में जो एकतार सामरस्य है, उसका उद्घाटन विशेष रुचिप्रद विधि में हो सका है। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि संस्कृत और अग्रेजी साहित्यो को लेकर तो हिन्दी-साहित्य के साथ सामान्य तुलानात्मक प्रवृत्ति समालोचना के प्रवर्तन काल मे भी थी, किन्तु इतर प्रांतीय साहित्यों के साथ तुलनात्मक दृष्टिकोण लेकर समालोचना लिखने की प्रवृत्ति अद्यतन है। हाँ, इसके साथ ही अंग्रेजी और सस्कृत साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के विषय में क्रमशः गम्भीरता का संचार भी होता गया है।

विशिष्ट विषयों का व्यापक विवेचन

६. आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे समालोचना के प्रधान अंगो पर तो समीक्षण-कार्य हुआ

ही है, किन्तु इसके साथ-साथ छोटे-छोटे विषयो को लेकर उनकी गहराई तक जाने की चेष्टाएँ भी की गई है। ऐसा करने मे विश्व-विद्यालयो के शोधप्रबन्ध अधिक सहायक रहे है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि किसी समय साहित्य-समीक्षण के अंतर्गत नारी, प्रकृति, प्रेम, सौन्दर्य, राष्ट्र-भावना, शृगार, नीति आदि का केवल सामान्य निर्देश ही रहता था, किन्तु आज इन विषयो को विभिन्न कालो के साथ स्वतन्त्र रूप से सम्बद्ध बना कर भी अध्ययन अनुशीलन किया गया है। किसी ने हिन्दी-काव्य मे प्रकृति चित्रण लिखा है तो कोई हिन्दी-काव्य मे राष्ट्र-भावना का अन्वेषण करने के लिए उन्मुख हुआ है। इसी प्रकार नीति और शृगार को लेकर भी समालोचनात्मक ग्रन्थ लिखे गये है। इस प्रकार की शोधपूर्ण समालोचनाओ मे तथ्यपरकता के साथ-साथ सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मीमासा की प्रवृत्ति भी उपलब्ध होती है। इसी श्रेणी के और भी ऐसे अनेक विषय है जिन पर कार्य किया जा रहा है तथा आगे भी किये जाने की सम्भावनाएँ है। यह भी हमारी आधुनिक समालोचना के विकास का एक मुखर पक्ष है। इतना ही नही, केवल छन्दों, ध्वनि, अलंकारो तथा सर्हित्यागो की विभिन्न शिल्प-विधियो को लेकर भी समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किये गये है।

साहित्येहासों द्वारा उपलब्धि

७. आधुनिक हिन्दी साहित्य मे इतिहास-ग्रन्थो की रचना द्वारा भी उसकी समालोचना हुई है। एक समय था जब साहित्य के इतिहास लिखने का तात्पर्य केवल कवियो की जीवनी; उनकी उपलब्ध कृतियो का विवरण तथा कतिपय काव्यो के उद्धरणो का उल्लेख करना ही पर्याप्त समझा जाता था, किन्तु युग के साथ-साथ इस विधा मे भी समालोचना ने विकास किया है। वैसे तो पडित रामचन्द्र शुक्ल ने सर्वप्रथम वैज्ञानिक और व्यवस्थित दृष्टि से अपना हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत किया, किन्तु उनके अनतर भी अनेक साहित्येतिहास लिखे गये, जिनसे हमारे समालोचना-साहित्य का विकास हुआ है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि बाबू श्यामसुन्दर दास ने साहित्य-धाराओ को प्रधानता देते हुए उनका विकास प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक अकित किया, तो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' मे भारतीय चिंता का स्वाभाविक क्रम मे विकास विवेचित कर इतिहास-रचना को नूतन दृष्टि प्रदान की। इतना ही नही, साहित्य के विभिन्न कालों की लेकर भी इहिास-ग्रन्थ प्रस्तुत किये गये है जिनकी शाखाओ और प्रशाखाओं मे भी समालोचना का विकास अतर्निहित है।

उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि डा० नगेन्द्र ने 'रीति काल की भूमिका' प्रस्तुत की तो डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने सास्कृतिक दृष्टि से आधुनिक साहित्य की भूमिका का विश्लेषण किया। दोनो ही विद्वानो को अपने-अपने विषयो पर क्रमश आगरा तथा प्रयाग विश्वविद्यालयों ने डी० लिट् की उपाधियाँ प्रदान की है। इसी प्रकार आधुनिक काव्य-धारा, आधुनिक उपन्यास, आधुनिक हिन्दी नाटक, आधुनिक कथा-साहित्य आदि पर भी समालोचनात्मक ग्रन्थ लिखे गये हैं। इनके साथ-साथ इन विषयो से सम्बन्धित छोटे-छोटे खण्डो पर भी समालोचनात्मक कार्य हुआ है। डा० लक्ष्मीनारायणलाल ने आधुनिक हिन्दी कहानियो की शिल्प-विधि का विकास विवेचित किया है तो डा० देवराज उपाध्याय ने 'आधुनिक कथा साहित्य और मनोविज्ञान' पर अपना शोध-प्रबन्ध लिखा है। शोधकर्ता समालोचको का एक वर्ग एक विशेष प्रकार की काल-सीमा मे भी अध्ययन के विविध पक्षो का उद्घाटन करने मे दत्तचित्त रहा है। अब भी इसी प्रकार उपन्यास, नाटक, निबन्ध, काव्य और समालोचना के क्षेत्र मे और भी कार्य किये जाने की आवश्यकता है जिसकी ओर हमारा अनुसन्धाता वर्ग ध्यान दे रहा है। उसके द्वारा भी समालोचना की अभिवृद्धि की सभावनाएँ बहुत है। हिन्दी-आलोचना, हिन्दी-महाकाव्य, हिन्दी-गद्य, हिन्दी-नाटक, हिन्दी-एकाकी, हिन्दी-गीति आदि के

उद्भव और विकास को लेकर भी समालोचनात्मक शोध-कार्य किये गये है और अब साहित्य की शिल्पविधि का समीक्षण करने की ओर भी समालोचक-अनुसन्धाताओ का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ है।

काव्यकारों और कृतियों के समीक्षण का व्यापक विधान

८. आधुनिक हिन्दी-समालोचना मे कवियो को लेकर भी अनेक समीक्षा-पुस्तकों की रचनाएँ हुई हैं। प्रारम्भ मे तो विभिन्न कवियो का केवल सामान्य परिचय ही दिया जाता था, किन्तु कालातर मे समालोचना के विकास के साथ-साथ उनके विश्लेषण मे भी प्रौढि आती गई। शुक्ल जी ने समालोचना के तृतीय उत्थान के अन्तर्गत कवियो की अन्तः प्रवृत्ति की छानबीन करते हुए समालोचना के जिस विकास का संकेत किया है, वह इस क्षेत्र मे एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। इन कवियो मे प्राचीन, मध्यकालीन और नवीन सभी श्रेणी के कवियो का समावेश किया जा सकता है। सूर, तुलसी, देव, बिहारी, भूषण और केशव पर तो बहुत कुछ लिखा गया, किन्तु ऐसे अन्य कवियो पर भी समीक्षाएँ प्रस्तुत की गईं जिनका पूर्ववर्ती युगो में कोई महत्त्व नही था। स्मरण रखने की बात है कि जायसी को काव्य-क्षेत्र मे महिमामय स्थान प्रदान करने मे आचार्य शुक्ल जी ने सर्वप्रथम प्रयास किया। इसी प्रकार संत-कवि दरिया, कबीर, दादू, नानक, भिखारीदास, सुन्दरदास, बाँकीदास आदि कवियो की ग्रन्थावलियो का प्रकाशन और समीक्षण भी हुआ है। आधुनिक काल के कवियों मे छायावादी और रहस्यवादी कवि विभिन्न समालोचको को विशेष प्रिय रहे है। द्विवेदी-युग के कवियो मे मैथिलीशरण गुप्त और हरिऔध अधिक सम्मान पा सके है। इसी प्रकार वीरगाथा-काल के कवियो मे चन्दबरदाई, नरपति नाल्ह आदि पर भी समालोचनाएँ लिखी गई है। आजकल सूफी कवियों की ओर समालोचकों का ध्यान विशेष है। 'अष्ट-छाप' के कवियों के साथ-साथ अकबर के दरबारी कवि, रीवाँ के राजदरबारी कवि, रसखान, घनानन्द, तानसेन आदि का भी अध्ययन हुआ है। समालोचकों ने रहीम, मझन और जगनिक की परीक्षा भी की है। कहने का अभिप्राय यह है कि आदि काल से लेकर वर्तमान काल तक विभिन्न काव्यधाराओं के ऐसे अनेक कवि है जिन पर समीक्षापूर्ण ग्रन्थ लिखे गये है। ये ग्रन्थ निश्चय ही हमारी समालोचना के विकास के प्रयत्न है; पर इस कार्य को अब भी पूर्ण नही कहा जा सकता। अभी तो सूर तुलसी पर भी उनके भाव पक्ष और कला पक्ष से सम्बन्धित ऐसे अनेक विषय हैं, जिन पर समालोचनाएँ लिखी जानी अवशिष्ट है। साथ ही साथ कवियों की कृतियों का स्वतन्त्र अध्ययन भी किये जाने की आवश्यकता है। उनके काव्य-ग्रन्थो के प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत कर पाठालोचन के कार्य को भी आगे बढाने की ओर भी हमें ध्यान देना है। हमारे साहित्य में अब भी ऐसे अनेक काव्यकार है, जिनका विवरण शोध-विषयक सामग्रियों में तो आया है किन्तु जिनके जीवन और काव्य का समीक्षण अब भी अवशिष्ट है। समालोचकों को इस ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। हमारे ग्राम्य-साहित्य मे ऐसे कवियों की संख्या भी कम नही है, जिनकी प्रतिभा से उद्भूत मौखिक साहित्य अब भी चल रहा है अथवा जिनका प्राचीन साहित्य तहखानों में बन्द होकर अब भी सड़ रहा है, उनके पुनरुद्धार की भी बहुत बडी आवश्यकता है। अच्छा हो, यदि हमारे जनवादी परम्परा के समालोचक साहित्य के इस उपेक्षित अंग को प्रकाश में लाने की चेष्टा करें जिससे इस बात का भी पता चल सके कि वे जिस जन-परम्परा का साहित्य में वैशिष्ट्य ढूंढते हैं वह केवल कॉडवेल, इलियट और मार्क्स आदि की पदावलियो का ही केवल कथनमात्र के लिए ही पक्ष-समर्थन है अथवा उनमें वस्तुतः सच्चे जनवादी साहित्य के उद्धार की भी लगन है। अब केवल शुक्ल जी मे जनवादी परम्परा का अन्वेषण करने अथवा सूर और तुलसी को सामन्तवादी कवि सिद्ध करने की चेष्टा से काम नही चलेगा। वस्तुतः इस दिशा मे रचनात्मक कार्य करने की आवश्यकता है, जिसके द्वारा हमारा समालोचना-

साहित्य इस क्षेत्र मे भी और अधिक समृद्ध हो सके।

पूर्वोक्त उपलब्धि की एक दुर्बलता की ओर सकेत

६. हाँ इसी प्रसग मे इस बात का सकेत करना भी अपरिहार्य है कि आजकल कवियो के काव्य-विवेचन को लेकर जो समालोचनात्मक साहित्य प्रस्तुत किया जा रहा है उसमे अधिकाशतः मौलिक चिन्तन की न्यूनता और पिष्टपेषण की अधिकता है। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारे नवोदित समालोचक पुस्तक-रचना द्वारा या तो सस्ती प्रसिद्धि चाहते हैं या उन्हें किसी न किसी प्रकार पाठ्यक्रम में स्वीकृत करा कर अर्थोपार्जन करने की लालसा रखते हैं। उनमें साहित्य-सेवा की वह लगन नही मिलती जो आज तक की उपलब्धि को आगे बढाने वाली हो। आये दिन विभिन्न प्रकाशकों द्वारा एतद् विषयक विज्ञापन देखने को मिलते है, जिनकी नामावली तो अत्यन्त भव्य और आकर्षक होती है, किन्तु जिनमे मौलिक तथ्य का अंश बहुत कम रहता है। विक्षोभ तो उस समय और अधिक होता है जब इस प्रकार के प्रयास हमारे कुछ ऐसे साहित्य-मनीषी और समालोचक भी करते हैं, जिन्होने विश्वविद्यालयो की उच्चतम उपाधियाँ प्राप्त करने के पश्चात् मानो साहित्य-समालोचना के क्षेत्र मे केवल परम्पराभुक्त विवेचन को ही दूसरे शब्दो मे घुमा फिरा कर कहने का अधिकार ले लिया हो। ऐसे बहुत कम समालोचक हैं जिनकी लेखनी से डॉक्टरेट और साहित्य-वाचस्पति की उपाधियो की प्राप्ति के पश्चात् अधिक गाभीर्यपूर्ण चिन्तन का विकास हुआ हो। न जाने कवियो पर प्राचीन कवि, मध्यकालीन कवि और अर्वाचीन कवि के कितने ही अध्ययन प्रकाशित हो गए और अब तो मूल्याकन-मालाएँ भी निकाली जा रही है, जिनका दृष्टिकोण किसी गम्भीर वृत्ति की समालोचना को लेकर निर्मित हुआ हो, ऐसा नही प्रतीत होता। एक ओर जब हम अपने साहित्य समालोचना के क्षेत्र को अभिवृद्धि की ओर उन्मुख देखते है और दूसरी ओर इस प्रकार का चर्वित-चर्वण कोटि का साहित्य भी पाते है तो निश्चय ही हमारे उल्लास को ठेस लगती है। इसी प्रकार कुछ अपवादो को छोड कर शोध-प्रबन्धो मे भी या तो पिष्टपेषण अथवा आकार-वृद्धि का ही दृष्टिकोण प्रमुख है या बडी-बडी पाद-टिप्पणियो अथवा उद्धरणो द्वारा अपने विस्तृत अध्ययन का विज्ञापन करने की प्रवृत्ति ही रहती है। इसके द्वारा हमारी मौलिक चिन्तना मे व्याघात पहुँचता है। इसमे कोई सन्देह नही कि अपने ज्ञान को परिपुष्ट और व्यापक बनाने के लिए अधिक से अधिक अध्ययन की अपेक्षा रहती है किन्तु उसे चिन्तन और मनन के पश्चात् अपने व्यक्तित्व के साथ सम्मिश्रित बनाकर भी तो चलना चाहिए। आज आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल को साहित्य-समालोचना का जो सार्वभौम आधिपत्य मिला हुआ है उसका प्रमुख कारण उनका केवल विस्तृत और गम्भीर अध्ययन ही नही, प्रत्युत उनका आत्म-चिन्तन और व्यक्तित्व भी है, जो ज्ञानराशि को पचाकर और उसे अपने वैशिष्ट्य का रंग दे कर अधिकाधिक विश्वासपूर्ण शब्दों मे अभिव्यक्त कर सका है। आज शुक्ल जी की अपेक्षा अधिक व्यापक अध्ययन करने वाले समालोचक भी विद्यमान है और उनके युग से समालोचना-साहित्य विकसित भी हुआ है, किन्तु अब भी उनके समकक्ष स्थान का कोई सुयोग्य अधिकारी हमे दृष्टिगोचर नही होता, जिसका प्रमुख कारण उसमें शुक्ल जी के समान ज्ञान-चर्वण की मेधा की न्यूनता ही है। अभिप्राय यह है कि समालोचना के क्षेत्र मे कवियो आदि को लेकर पुस्तक-रचना द्वारा संख्या-वृद्धि करने को ही समालोचना के विकास तथा अपनी प्रतिभा के प्रसार का कारण नही समझा जाता, अपितु उसमे मौलिक दृष्टि भी आवश्यक होती है। यह आवश्यक नही कि मौलिकता का समावेश कोई अनोखी अथवा अनहोनी अवतारणा करके ही किया जाय, किन्तु यह अवश्य है कि अपने चिन्तन और मनन के पश्चात् किसी साहित्यकार अथवा उसकी कृतियो के अध्ययन से जो पूर्वाग्रह-रहित नवीन उपलब्धि हो, उसे निष्पक्ष भाव से समीक्षित किया जाय। वस्तुत. मौलिकता का क्षेत्र अत्यन्त

विस्तृत है और उसमे विषय के साथ-साथ अभिव्यक्ति और भाषा-शैली की मौलिकता भी समाविष्ट है, इसका ध्यान रख कर ही समीक्षा करने वाले समालोचकों द्वारा समीक्षा-साहित्य को अग्रिम विकास प्रदान किया जा सकता है।

संस्कृत के काव्यशास्त्रों के अनुवादों द्वारा उपलब्धि

१०. आधुनिक हिन्दी समालोचना मे प्राचीन सस्कृत-साहित्यशास्त्र के अनेक महत्त्वपूर्ण समीक्षा-ग्रंथो के भी अनुवाद प्रस्तुत किये गये है। प्रारम्भ मे उन ग्रन्थो के जो अनुवाद प्रकाशित हुए थे, उनमें 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' वाली प्रवृत्ति ही अधिक थी। उनमे अनुवाद की शक्ति का स्वस्थ पक्ष भी न था और पाठको को अनुवादक की अपूर्ण अभिव्यजना और भाषा-विषयक दुर्बलता से अनेक बार अर्थ का अनर्थ भी हस्तगत होता था, किन्तु कालान्तर में इस प्रकार की त्रुटि का परिहार हुआ। समालोचना के प्रसार काल मे जो अनुवाद प्रस्तुत किये गये, वे कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। उनमे यथाप्रसग टिप्पणियो का भी संयोजन है। डा० नगेन्द्र के सम्पादन मे सस्कृत के वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि आदि विभिन्न सैद्धान्तिक विवेचनाओं के प्रमुख ग्रन्थो के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो चुके है तथा डा० सत्यव्रतसिंह और और डा० भोलाशंकर व्यास ने भी इस ओर प्रयत्न किया है। इन अनुवादो के पूर्व विद्वान्-सम्पादको ने समालोचनात्मक भूमिकाओं का सयोजन कर उन अनुवाद-ग्रन्थो की महत्ता और अधिक बढा दी है; पर यह कार्य अभी तक पूर्ण नही कहा जा सकता। ऐसे अनुवादो से संस्कृत से अनभिज्ञ हिन्दी-पाठकों को तो लाभ होता ही है, किन्तु इस विषय की कभी-कभी न्यूनता रह जाती है कि उनका संघटन हिन्दी-साहित्य पर किस प्रकार किया जाय। यदि इन अनुवाद-ग्रथो द्वारा इस दिशा मे भी प्रयत्न होने लगे तो इनमे विशेष प्रकार की भव्यता आ सकती है। अच्छा हो, यदि पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के ग्रंथों के भी उसी प्रकार अनुवाद प्रस्तुत किये जायँ। उनसे हमारे समालोचना-साहित्य के सैद्धान्तिक पक्ष की श्रीवृद्धि में बहुत कुछ सहयोग मिल सकेगा। इस दिशा मे भी नगेन्द्रजी से बहुत अधिक आशा है क्योंकि वे 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' तथा लौजानस का 'काव्य मे उदात्तत्व' तो प्रस्तुत कर ही चुके हैं। सम्भव है, इसी प्रकार की अन्य कृतियो का प्रकाशन भी उनके द्वारा शीघ्र ही किया जाय। वस्तुत: उनके अनुवाद-ग्रन्थो की विद्वत्तापूर्ण भूमिकाएँ हमारे समालोचना-साहित्य के गौरव-सवर्धन का अत्यन्त उज्ज्वल पक्ष है।

साहित्यिक आयोजनों और सम्मेलनो का उपलब्धि में सहयोग

११. आधुनिक हिन्दी-साहित्य की समालोचना-विधा मे विविध सम्मेलनों और सभापतियों के भाषणों द्वारा भी अभिवृद्धि हुई है, क्योकि उनमें कुछ न कुछ तो साहित्य का विश्लेषण रहता ही है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, नागरी-प्रचारिणी-सभा काशी तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों की हिन्दी-परिषदे आदि के तत्त्वावधानो मे जिन सभापतियो, स्वागत समिति के प्रधानो तथा साहित्य-परिषदो के अध्यक्षो ने अपने जो अभिभाषण दिये है, उनसे भी तत्कालीन साहित्य की गतिविधि का सामान्य परिचय हमारे सामने आता है। यह भी समालोचना के विकास का एक अंग कहा जा सकता है। इन भाषणों मे कुछ भाषण तो इतने अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए है कि उनका समालोचना-क्षेत्र मे एक स्थायी महत्त्व बन गया है, जैसे पं० रामचन्द्र शुक्ल का वह भाषण जो उन्होंने इन्दौर हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की साहित्य परिषद के अध्यक्षपद से दिया था। वह भाषण 'चिंतामणि' के द्वितीय भाग मे 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' शीर्षक समालोचनात्मक निबध के रूप मे प्रस्तुत किया गया है, जिसमे तत्कालीन साहित्य-विधाओं और प्रवृत्तियों का विश्लेषण अत्यन्त युक्तिसंगति और तार्किकता के साथ हुआ है। उस भाषण में शुक्लजी ने भारतीय साहित्य

पर विविध स्वरूपो मे सघटित होकर पडने वाले पश्चिमी प्रभाव का विवेचन साहित्य का सामान्य स्वरूप और क्षेत्र निर्धारित करते हुए किया है। उस भाषण का इतना अधिक महत्त्व है कि हमारे समालोचना-साहित्य के लिए वह एक संदर्भ-ग्रथ बन गया है। इसी प्रकार अन्य भाषणो का भी यथाप्रसंग महत्त्व है।

समालोच्य ग्रन्थों की भूमिकाओं का सहयोग

१२. हिन्दी-समालोचना की अभिवृद्धि का एक अग विभिन्न विद्वानो द्वारा लिखी गई काव्य-साहित्य के ग्रथो की भूमिकाएँ, प्रस्तावनाएँ तथा आमुख आदि है। यह परम्परा भी आधुनिक युग की साहित्य-चेतना से ही जीवन धारण करती हुई विशेष रूप से प्रचलित हुई है। अतः इसमे भी समालोचना के अगो का विकास अनुसन्धित करना सहज सम्भव है। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग तथा हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने जिन ग्रथो का प्रकाशन किया है, उनके भूमिका-भाग हमारे लिए अत्यन्त उपादेय है। इस क्षेत्र मे डा० श्यामसुन्दरदास, डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल, प० रामचन्द्र शुक्ल के नाम विशेष गण्यमान है। इन समालोचको ने प्राचीन कवियो के ग्रथो के प्रामाणिक पाठ तो प्रस्तुत किये ही है, साथ ही साथ उनके प्रारम्भ मे भूमिकाएँ जोड कर उनके काव्य-साहित्य का भी व्यापक विश्लेषण किया है। इस क्षेत्र मे शुक्ल जी का काम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके विवेचन द्वारा न केवल समालोच्य साहित्यकारो के जीवन की प्रामाणिक सामग्री ही प्रस्तुत की जा सकी है, अपितु उनकी कृतियो का विश्लेषण भी व्यापक विधान मे हुआ है। तुलसी, जायसी और सूर के सम्बन्ध मे शुक्ल जी ने जो कुछ लिखा है, वह मेरे इस कथन का प्रमाण होगा। उन भूमिकाओ का केवल भूमिकाओ के रूप मे ही नही, अपितु स्वतन्त्र समालोचना ग्रन्थो के रूप मे भी महत्त्व है। जिस जायसी के काव्य-सौष्ठव का परिचय किसी समय हमारे साहित्य-जगत् को बहुत कम था, उसका भव्य निदर्शन आचार्य शुक्ल जी की भूमिका द्वारा प्रस्तुत होकर हमारे सामने आया है। कहना होगा, उनका यह प्रयास श्लाघ्य है। खेद की बात है कि आगे चल कर इस प्रकार की भूमिकाएँ बहुत कम लिखी गईं। आजकल डा० नगेन्द्र के सम्पादन मे सस्कृत के जिन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो का प्रकाशन हो रहा है उनमे इस प्रकार की प्रवृत्ति की एक अभिनव दिशा अवश्य दृष्टिगोचर होने लगी है। नगेन्द्र जी ने अपनी भूमिकाओ द्वारा प्राचीन सस्कृत साहित्य-शास्त्र का विश्लेषण कर उनका पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का भी प्रयास किया है। इसी प्रकार कुछ भूमिकाओ द्वारा हमें समालोचको का दृष्टिकोण भी समझने मे सहयोग मिलता है। इस क्षेत्र मे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का कार्य महत्त्वपूर्ण है। उनकी प्रायः समस्त समालोचना-पुस्तको की भूमिकाएँ उनकी समालोचना-विषयक मान्यताओ के साथ-साथ समालोच्य विषय की एक सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत कर देती है, जिन्हे उनकी समालोचना-निधि की कुजी कहा जा सकता है। अभिप्राय यह है कि समालोचना की विधा को आकार-प्रकार की एक अभिनवता तथा शैली-विधा की विशिष्टता प्रदान करने मे इन भूमिकाओ का भी महत्त्व स्वीकार किया जाना चाहिए। वैसे तो आजकल सामान्य से सामान्य विषय की पुस्तको पर भी भूमिकाएँ लिखने की प्रवृत्ति चल पडी है किन्तु उनमे सर्वत्र समालोचना साहित्य का विकास ढूंढना अनुचित होगा, क्योकि केवल कुछ ही विद्वानो द्वारा इस दिशा मे सफल कार्य हुआ है।

हस्तलिखित ग्रंथों की शोध और समालोचनात्मक उपलब्धि

१३. वैसे तो प्राचीन हस्तलिखित ग्रथो की खोज का प्रमुख क्षेत्र साहित्य-विषयक अनुसधान है, किन्तु उनके द्वारा भी हमारी समालोचना की अभिवृद्धि मे परोक्ष विधि से सहयोग अवश्य

मिला है। इस दिशा मे नागरी प्रचारिणी सभा-काशी द्वारा किये गये कार्य का विशेष महत्त्व है। सभा ने समय-समय पर जो अपनी रिपोर्टें तथा विवरण-पत्र प्रकाशित किये है, उनमे अतीतकालीन साहित्य की अपार निधि का उद्घाटन हुआ है। इन शोधपूर्ण विवरणो ने हमारे साहित्य-अध्येताओं को अनुसधित काव्यकारो के ग्रंथो और जीवनियो का गम्भीर तथा व्यापक अध्ययन करने की प्रेरणा दी है। 'पृथ्वीराज-रासो', 'बीसलदेव-रासो', 'आल्हखंड' तथा 'खुमान-रासो' आदि अनेक ग्रंथों का कालान्तर मे जो समालोचनात्मक अध्ययन हुआ तथा जिनमे रचयिताओ का प्रामाणिक जीवन-परिचय तथा ग्रंथ-समीक्षण प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई, वह उसी शोध-विषयक विवरण का ही प्रतिफल था। आज भी इन शोध-सामग्रियों मे ऐसी व्यापक अर्थराशि भरी पड़ी है जिसको लेकर समालोचना-साहित्य के विकास मे आगे बढने का पर्याप्त कार्य हो सकता है। इस दिशा में राजस्थान के शोधकर्ताओं ने भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। महामहोपाध्याय पं० गौरीशकर हीराचन्द ओझा, पं० रामकर्ण आसोपा, पं० सूर्यकरण पारीक, प्रो० नरोत्तमदास स्वामी, श्री अगरचन्द नाहटा, डा० मोतीलाल मेनारिया तथा डा० कन्हैयालाल सहल आदि के द्वारा इस ओर भव्य प्रयास किये गये हैं। अन्य प्रान्तों ने भी इस प्रकार की शोध-सामग्री द्वारा हिन्दी साहित्य-समालोचना की अभिवृद्धि मे अपना हाथ बटाया है। यह शोध विषयक कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और उसको निरन्तर गति से आगे बढ़ाने की आवश्यकता है, क्योंकि इसके द्वारा एक ओर जहाँ हमारे प्राचीन साहित्य के अनेक अनुपलब्ध ग्रथो का प्रकाशन होगा, वहाँ उनकी विवेचना द्वारा समालोचना-साहित्य के सवर्धन मे भी सहयोग मिलेगा। हमारे शोधकर्ताओ को इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है और जो लोग हिन्दी मे शोध-कार्य के लिए विषयों की न्यूनता पाते है, उन्हे तो इनकी ओर अवश्य उन्मुख होना चाहिए। इसके द्वारा हमारा वह लोक-साहित्य भी प्रकाश मे आ सकेगा जिसमे हमारी जन-संस्कृति की अजस्र धारा का प्रवाह चिरतन काल से होता आया है। हाँ, यह बात अवश्य है कि इसके लिए समय, प्रतिश्रम और अर्थ-व्यय की भी बहुत अपेक्षा है। कदाचित् इन्ही कठिनाइयो के कारण हमारे अनेक शोधकर्ता इस विषय की महत्ता को समझते हुए भी इसमें अपना हाथ डालने मे सकोच करते है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासनो द्वारा प्रस्थापित साहित्य-अकादमियों का कर्त्तव्य है कि वे इस कार्य की महत्ता का अनुभव करे और हमारे शोधकर्ताओ को ऐसे अवसर दे जिनसे लाभ उठाकर वे हमारी राष्ट्रभाषा के भण्डार को प्राचीन सामग्री का परिशोधन करते हुए और भी अधिक भव्य बनाने मे सहायक हो सके।

अंग्रेजी साहित्य-समालोचना द्वारा उपलब्धि

१४. अंग्रेजी साहित्य-शास्त्र की छाया पर बने हुए समालोचनात्मक ग्रंथ तथा उनके अनुवाद भी हमारे साहित्यालोचन की वृद्धि के कारण हैं। डा० श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन', श्री लीलाधर गुप्त का 'पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त' तथा डा० एस० पी० खत्री का 'आलोचना-इतिहास और सिद्धान्त' इस क्षेत्र मे किये गये सैद्धान्तिक निरूपण के सुन्दर प्रयत्न हैं। अरस्तू के काव्यशास्त्र के अनुवाद का विवरण पहले आ चुका है। साथ ही साथ अंग्रेजी साहित्यालोचन के इतिहास भी लिखे गये है। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने फ्राँसीसी विद्वान गार्सां द तासी लिखित 'इस्तवार द ला लितरात्यूर ऐंदुई ऐंदुस्तानी' का अनुवाद 'हिन्दुई साहित्य का इतिहास' के नाम से प्रकाशित कर बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। अभी तक साहित्य-जगत् तासी के उक्त इतिहास-ग्रथ के नाम से ही परिचित था, किन्तु इसके द्वारा उसे इस विषय का भी ज्ञान हो सकेगा कि हिन्दी साहित्य का बहुत प्राचीन इतिहास जिस फ्राँसीसी विद्वान् ने लिखा, वह इस विषय में अपना कितना गम्भीर अतर्प्रवेश रखता था। वार्ष्णेय जी का यह कार्य हिन्दी समालोचना-साहित्य के ऐतिहासिक विधान-विषयक गौरव का कारण है। उन्होंने आधुनिक हिन्दी साहित्य से सम्बन्धित

शोध के नाम पर जो कुछ सामग्री प्रदान की है, वह अत्यन्त प्रौढ और तथ्यपरक है। वस्तुत. शोध-कार्य की वैज्ञानिक विधि को उनके समान समझने वाले विद्वान् हमारे साहित्य मे बहुत कम है। पर इस दिशा मे अब भी बहुत अधिक कार्य होने की आवश्यकता है, क्योकि आज हिन्दी-समालोचना को जिन पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तो ने घेर रखा है, उन्हें जब तक उनके मूल ग्रथों के अनुवादो से नही समझा जायगा तब तक इस ओर हमारा ज्ञान अपूर्ण ही रहेगा। उदाहरण के लिए क्रोचे का अभिव्यंजनावाद 'शुक्ल-युग' से ही हमारी सैद्धान्तिक समीक्षा के साथ बराबर जुडा हुआ चला आ रहा है और उस पर विभिन्न विद्वानो ने अपना मत-निर्धारण अनेक ऊहापोहो के पश्चात् करने का प्रयास भी किया है किन्तु उसमे इटली भाषा मे लिखे गये मूल ग्रथ का हिन्दी-अनुवाद न होने से हमे उन विद्वानों की मान्यताओ को ही उनके प्रति बनी हुई अपनी श्रद्धा के अनुसार सत्याश के रूप मे ग्रहण करना पडता है। अतः आज हमारी समालोचना की यह भी एक सामयिक आवश्यकता है कि इस ओर भी प्रयत्न किया जाय। इसकी पूर्ति के लिए विभिन्न विदेशी भाषाओ का ज्ञान होना हमारे लिए आवश्यक है। अभी तक हम लोगो ने साहित्य का एतद्विषयक महत्त्व पूर्णतया नही समझा है। इस दिशा मे हमे पश्चिम से प्रेरणा लेनी चाहिए। वहाँ के साहित्यो मे अन्य भाषा-साहित्यो के प्रमुख ग्रंथो के अनुवादो का कितना अधिक महत्त्व है, यह वहाँ की ग्रंथ प्रकाशन-सूची से जाना जा सकता है। वेद, उपनिषद् गीता, रामायण और महाभारत के अतिरिक्त और भी ऐसे अनेक ग्रंथ हैं, जिनके अनुवाद ससार की विभिन्न भाषाओ मे प्रस्तुत किये जा चुके है; यहाँ तक कि संस्कृत के सैद्धान्तिक समीक्षा से सम्बन्धित भरत मुनि के 'नाट्य-शास्त्र', मम्मट के 'काव्य प्रकाश' आदि के अनुवाद भी प्रस्तुत किये गये हैं किन्तु हमारे यहाँ क्विण्टिलियन, सुकरात और टालसटाय आदि यूनानी, रोमी तथा अन्य यूरोपीय देशो के साहित्य-समीक्षको और दार्शनिक विचारकों की कृतियो के कितने अनुवाद उपलब्ध है। वस्तुतः यह एक गम्भीर और विचारणीय विषय है। जिस मार्क्सवाद और फ्रायडवाद का समर्थन हमारी साहित्य-समीक्षा मे इनके समर्थक समालोचक बडी-बडी दम्भपूर्ण उक्तियो से करते हैं, उनके सिद्धान्तो के भी आज तक प्रामाणिक अनुवाद प्रस्तुत नही किये गये। इस सम्बन्ध में उनका जो विवेचन भी है, वह पल्लवग्राही पाडित्य अथवा उन विषयो मे चञ्चु-प्रवेश-मात्र से अधिक नही है। यदि इस ओर लगन तथा अध्यवसाय के साथ कार्य किया जाय तो हमारी समालोचना के अतर्गत चलने वाली अनेक प्रकार की भ्रातियो का निराकरण हो जायगा और हम यह उपलब्धि कर सकेंगे कि इन वाद-प्रवादो को हमारी सांस्कृतिक भूमिका पर पनपने के लिए कितना अधिक अवसर मिल सकता है। निश्चय ही हिन्दी-समालोचना की अभिवृद्धि मे यह एक रचनात्मक कार्य होगा।

शोध-कार्यों द्वारा उपलब्धि और उसका विकास

१५. जैसा कि पूर्व विवेचन के सामान्य संकेतो से यह स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना को विकसित बनाने मे शोध-कार्यों और अनुशीलनो ने भी महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है। आधुनिक युग के प्रारम्भ में जो शोध-कार्य अथवा अनुशीलन किये गये, वे प्राचीन भाषा और साहित्य को प्रकाश में लाने के अतिरिक्त प्राचीन कवियो की परिचयात्मक जीवनी और उनकी रचनाओं के विवरण से सम्बन्धित थे। 'शिवसिंह-सरोज', ग्रियर्सन का इतिहास तथा 'मिश्रबन्धु-विनोद' आदि ग्रथ इसी प्रकार के प्रयत्नों के फल हैं। इन अनुशीलको का मुख्य दृष्टिकोण हिन्दी साहित्य के अंधगर्भ मे छिपे हुए देदीप्यमान रत्नो को साहित्य-परीक्षकों के सम्मुख रखने का था अतः उनमें अधिकाशतः समीक्षा के तत्त्व-बिन्दु न होकर केवल प्राप्त सामग्री का सकलन-मात्र ही रहा। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना के पश्चात् हिन्दी शब्द-सागर के प्रकाशन का आयोजन और हिन्दी साहित्य के इतिहास का लेखन पूर्वोक्त शोधो से अधिक व्यापक धरातल पर

प्रतिष्ठित होकर आया और साहित्य-समालोचना की प्रगति होने लगी। इस प्रगति में उन विद्वान्-मनीषियों का तो हाथ था ही जो हिन्दी भाषा और उसके साहित्य को विश्व-साहित्य की समता में सक्षम और निष्पन्न बनाने के प्रबल आकांक्षी थे, किन्तु उनके साथ-साथ विश्वविद्यालयों के हिन्दी-प्रेमी स्नातकों का भी इस कार्य में बड़ा सहयोग रहा। हिन्दी विषय में एम० ए० की उपाधि प्राप्त कर इन जिज्ञासुओं ने साहित्यानुशीलन और शोध-कार्य के प्रति अपनी अभिरुचि प्रदर्शित की और वे बहुत अशों में पी-एच० डी०, डी० फिल, डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त करने के सम्मोहन से आकृष्ट होकर अपनी कुछ निजी प्रेरणा से भी साहित्यानुसधान के कार्य में प्रवृत्त हुए। इन अध्येताओं ने अपने अनुसधान के लिए जो विषय चुने, वे प्राचीन अनुपलब्ध साहित्य को प्रकाश में लाने से तो सम्बन्धित थे ही, किन्तु उसके साथ-साथ उनमें विषय को समीक्षात्मक प्रणाली से प्रतिपादित करने की प्रवृत्ति भी थी। विश्वविद्यालयों से शोध-कार्य के लिए स्वीकृत जो ग्रथ प्रकाशित हुए है उनमें आधुनिक समालोचना-साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंश समाविष्ट है। इस ओर सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयत्न काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी-साहित्य के प्रथम डी० लिट० स्वर्गीय डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ने किया जिनका शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी-काव्य मे निर्गुण धारा' के नाम से अंग्रेजी से हिन्दी मे रूपान्तरित होकर प्रकाशित हुआ। उनके अनन्तर अन्य विश्वविद्यालयों के अनुशीलक विद्वानों ने प्राचीन तथा मध्यकालीन कवि और काव्यों तथा आधुनिक साहित्य-प्रवृत्तियों को लेकर अनेक शोध-प्रबन्ध लिखे जिनमें हमारे साहित्य-समीक्षण की प्रमुख सामग्री का संचयन है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य का क्रमबद्ध और वैज्ञानिक इतिहास उपस्थित करने में डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का अत्यधिक महत्त्व है। विद्वानों के इन प्रयत्नों में विषय-प्रतिपादन और मूल्यांकन के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण है। सिद्ध-साहित्य, वीरगाथा-काल, अपभ्रंश-युग, भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल की शाखाओं-प्रशाखाओं का यथेष्ट विवेचन उन जिज्ञासुओं की शोध-कृतियों द्वारा हमारे समीक्षा-शास्त्र की प्रमुख सामग्री बन सका है। इनके अतिरिक्त इन अनुशीलनकर्ता विद्वानों द्वारा भावी विकास के अनेक पथ-चिन्ह भी मिले हैं। कहा जा सकता है कि आधुनिक समालोचना के रूप का विकास पर्याप्त अश मे इन शोधकों की देन है। ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि ये शोध-प्रबन्ध पूर्व-प्राप्त सामग्री की पुनरावृत्ति से युक्त नहीं है, किन्तु यह भी निर्भ्रान्त सत्य है कि इनके रूप मे समालोचना को निश्चय ही अभिपुष्टि मिली है। विभिन्न विश्वविद्यालयों में शोध के लिए अधिकृत विषयों की सूची देखने से पता चलता है कि यदि इन पर सुनिश्चित मनन और गम्भीर गवेषण से कार्य किया गया तो हमारे साहित्य का प्राचीन, मध्ययुगीन और नवीन स्वरूप प्रचुर मात्रा मे अनुसंधित होकर प्रकाश मे आ सकता है। इस कार्य मे इस बात की सावधानी रखने की भी बड़ी आवश्यकता है कि विश्वविद्यालयों मे यथासम्भव इस प्रकार का पारस्परिक सम्पर्क-अन्वय स्थापित किया जाय जिससे तथाकथित शोध-समितियाँ समयानुसार आदान-प्रदान कर इस विषय की अभिज्ञता रखती रहे कि शोध के लिए कौन-कौन से विषय अधिकृत या स्वीकृत हो चुके है। ऐसा करने से जहाँ एक ओर पुनरावृत्ति की सम्भावना कम रहेगी, वहाँ दूसरी ओर इस बात का भी अवकाश नहीं होगा कि भावी शोधकों को नवीन विषयों के लिए नूतन दिशा की प्राप्ति न हो। यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य है जिसकी पूर्ति के लिए आज के अनुशीलन और समीक्षण को विशेष सतर्कता से कार्य करना है।

वाद-समीक्षा : उपलब्धि का एक आवश्यक अंग

१६. आधुनिक हिन्दी-समालोचना की अभिवृद्धि मे वाद-समीक्षा भी एक महत्व पूर्ण विषय रहा है। वैसे तो प्राचीन संस्कृत साहित्य-शास्त्र में भी अलंकार, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य आदि विभिन्न दृष्टिकोणों को लेकर काव्य-विवेचन किया गया था, किन्तु आधुनिक युग में समीक्षा-

गत वादों की परम्परा उनसे भिन्न रूप धारण कर प्रकट हुई है। इन वर्तमान वादों के सृजन और प्रवर्द्धन मे पाश्चात्य ढंग की समालोचना का बडा हाथ है। यद्यपि इस प्रकार की वाद-प्रणाली हिन्दी-साहित्य मे प्रायः चालीस वर्ष से कुछ समय कम से ही रही है, किन्तु उसने अपनी प्रक्रिया-प्रणाली से सारे हिन्दी साहित्य को आच्छादित कर रखा है। इन वादो मे कुछ तो विशुद्ध साहित्यिक प्रवाद है और कुछ समाज-शास्त्र, राजनीति और अर्थ-शास्त्र की क्रोड मे विकसित होने वाले है। इन वाद-प्रवादो पर पश्चिमी दर्शन और जीवन-धारा का भी बड़ा प्रभाव है और ये यत्किंचित सामग्री प्राचीन भारतीय साहित्य से भी लेते चले है। और तो और, वादो की यह परम्परा अपना इतना अधिक प्राधान्य स्थापित किए हुए है कि किसी भी समालोचक के लिए उनसे पूर्ण मुक्त होकर अपनी बात कहने का बहुत कम अवकाश रहता है। इन वादो का मूल प्रवर्तन या तो किसी विशिष्ट श्रेणी के जीवन-दर्शन की मान्यता को लेकर हुआ है या किसी नूतन अभिव्यंजन-शैली को ग्रहण कर अपना रूप धारण करता रहा है। उदाहरणार्थ छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद का सम्बन्ध यदि विशेष प्रकार की जीवन-आस्था से रहा है तो अतिवस्तुवाद या प्रयोगवाद मुख्यतः शैलियो से सयुक्त होकर व्यक्त हो रहे है। इसी प्रकार अभिव्यंजनवाद, राष्ट्रवाद, मनोविश्लेषणवाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद, कलावाद और उपयोगितावाद आदि अनेकानेक वादो के स्वर साहित्य-जगत् मे सुनाई पड रहे है जिनमे जीवन की अनुभूति का भी यथोचित सयोग मिलता है।

प्रश्न होता है कि इस प्रकार साहित्य-क्षेत्र मे वादो का प्रचलन कहाँ तक समीचीन है? इसका उत्तर विभिन्न दृष्टिकोणो से दिया जा सकता है। आलोचको का एक वर्ग साहित्य-समीक्षण मे किसी भी प्रकार की वादग्रस्तता को सर्वथा अग्राह्य समझता है और उसका भावन केवल जीवन की विशुद्ध अनुभूति से ही करना चाहता है तो दूसरा वर्ग आज के जीवन की जटिलता और कार्य-संकुलता के कारण वाद-सृष्टि की अनिवार्य आवश्यकता मानता है। इस द्वितीय प्रकार के समालोचको का कहना है कि आज की बौद्धिकता के विश्लेषण के हेतु वादो का अवतरण होना स्वाभाविक है, क्योकि न जाने कितने प्रकार की विचार-धाराएँ आधुनिक युगीन मानव के मस्तिष्क मे क्रियमाण रहती है जिनकी विवेचना केवल वादो के आधार पर ही की जा सकती है। उनके कथन का मूल आशय यह है कि वाद एक प्रकार की जीवन-दर्शन विषयक मान्यता है जिसका अस्तित्व स्वीकार न करना असम्भव-सा है और वस्तुत यही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा आज के युग की सास्कृतिक और साहित्यिक प्रक्रियाओ को समझा जा सकता है। ऐसी परिस्थिति मे यह नैसर्गिक हो गया है कि वादो अथवा विशिष्ट श्रेणी की मान्यताओ का विश्लेषण जीवन के अन्यान्य क्षेत्रो की भाँति साहित्यालोचन के क्षेत्र मे भी किया जाय, किन्तु इस बात का अवश्य ध्यान रहे कि वादो के दलदल मे जीवन की उस व्यापक सहानुभूति को नष्ट न कर दिया जाय जिसके मेरुदण्ड पर साहित्य-सृजन का भव्य शिलान्यास होता है। ऐसा करने पर ही हमे वादो के विवेचन से कुछ उपलब्धि भी हो सकती है अन्यथा भयंकर अनर्थ की सम्भावनाएँ होनी अत्यन्त स्वाभाविक है। अतः यह मानते हुए भी वाद-समीक्षा द्वारा हमारे आधुनिक समालोचना-साहित्य की वृद्धि हुई है, हमे उनमे समुचित संतुलन लाने का प्रयत्न करना है। यह एक ऐसी आवश्यकता है जिसकी पूर्ति न होने के कारण हमारे अनेक साहित्य-जिज्ञासु इनके सम्मोहन मे फँसकर आज भी इतस्ततः भटकते रहते है।

स्फुट विवेचनात्मक निबन्धों द्वारा उपलब्धि और उनका विकास

१७. आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे समालोचना का जिन जिन रूपो मे विकास हो रहा है। उनमे स्फुट विवेचनात्मक निबन्धो का भी प्राधान्य है। कहा जा सकता है कि आज के युग-

जीवन की संकुलता और अनवकाश ने जिस प्रकार प्रबन्ध-काव्यो के स्थान पर मुक्तक तथा गीति-रचना और नाटको के स्थान पर एकाकी के प्रचार के अधिक अवसर उत्पन्न कर दिए हैं, उसी प्रकार आलोचना-क्षेत्र मे भी समीक्षात्मक निबन्धो की प्रमुखता बढ रही है। आजकल प्राय: सभी समालोचक इसी स्फुट प्रवृत्ति की ओर अधिक उन्मुख है और सैद्धान्तिक समालोचना के नाम पर जो वस्तु-सामग्री सामने आ रही है, उसमे अधिकांशत: या तो उनके पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित अथवा अभिभाषणो के रूप मे व्यजित समीक्षात्मक निबन्धों के संग्रह है या उनकी भूमिकाओं, प्रस्तावनाओं अथवा मस्तवपूर्ण प्राक्कथनो के संकलन है। इस प्रकार आधुनिक निबन्ध-साहित्य का प्रचुर अंश आलोचनात्मक निबन्धो के अगोपांगों से निर्मित है। ऐसा तो नही कहा जा सकता कि इन निबन्धों के द्वारा हमारा समीक्षा-ज्ञान आगे नही बढा है अथवा उनसे नवीन विधाएँ और विचारधाराएं नही मिली हैं, किन्तु यह भी एक निर्भ्रान्ति सत्य है कि कुछ चोटी के समीक्षको को छोड़ कर अन्य निबन्धकारो की रचनाओ तथा विषय प्रतिपादन मे मौलिकता के स्थान पर पुनरावृत्ति की मात्रा ही अधिक है। उनके प्राय: विचार-विवेचन के विषय भी अधिक विकसित और प्रौढ नही हो सके है। यदि विकास के रूप मे कोई बात कही जा सकती है तो केवल यही कि इन लेखक-समालोचको ने अपने अपने दृष्टिकोण से साहित्य के सैद्धान्तिक पक्ष पर ही अधिक लिखा है और उसमे यदि समीक्षा का व्यावहारिक रूप भी मिलता है तो वह अधिकाशत: परिचयमूलक समालोचना का ही स्वरूप है। आधुनिक हिन्दी-समालोचना के विकास-क्रम मे यह बात वस्तुत: विचारणीय है कि इस प्रकार के स्फुट निबन्धों के सकलनो के प्रकाशन से हिन्दी समालोचना क्या विकास की कोई प्रौढि पा सकी है या वह एक ही स्थान पर अवरुद्ध होकर केवल कहने के लिए ही धाराओं की विरलता और सख्या-वृद्धि का ही स्वांग भर रही है। इन संकलनो को देख कर कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि यदि आधुनिक हिन्दी-समालोचना के प्रकार और वैशिष्ट्य का विश्लेषण किया जाय तो उसे कुछ ही विषयो मे सीमाबद्ध किया जा सकता है। यह हमारे जीवन और साहित्य के निकट बने हुए समालोचना-साहित्य के विकास के लिए विशेष गौरवपूर्ण लक्षण नही हैं। आज की समालोचना मे इस बात की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि हम उसे अधिक से अधिक प्रेरणार्थक, निष्पक्ष और व्यापक धरातल पर अवस्थित करें, जिससे सत्साहित्य के परीक्षण का विधान तो हो ही, साथ ही साथ नवीन साहित्य को भी एक चिरन्तन तथा शाश्वत दृष्टिकोण की ऐसी उपलब्धि हो सके जिसके द्वारा उसके प्राणो में व्यापक चेतना और प्रसार मे अधिक बल-सम्बल का संयोजन हो। आज के सुधी समालोचको का यह प्राथमिक कर्तव्य है कि वे अपने अध्ययन को अधिकाधिक व्यापक और प्रौढ़ बना कर साहित्य को व्यापक विधि से ग्रहण करें और उसे पूर्वी तथा पाश्चात्य कटघरो से बाहर निकाल कर तथा अपनी युग-चेतना का खाद देकर ऐसे रूप में अवस्थित करें जिसका मूल स्वरूप जीवन् की चिरन्तनता हो किन्तु जिसका विकास आधुनिक युग-जीवन की विधाओं से भी समाविष्ट होकर अपना भावी स्वरूप धारण कर सके।

भाषा के इतिहासों द्वारा उपलब्धि

१८. आधुनिक हिन्दी समालोचना के विकास का एक अंग भाषा के इतिहास से भी सम्बन्धित है। वैसे तो इस प्रकार के साहित्य की गणना विशुद्ध समालोचनात्मक प्रवृत्ति में नहीं की जा सकती, किन्तु भाषा और साहित्य का पूर्वापर अन्तरंग सम्बन्ध है, इस दृष्टि से भाषा के इतिहास भी हमे भाषा-निर्माण और विकास के प्रति अपना आलोचनात्मक दृष्टिकोण देते है। अत: इसे भी सिद्धान्तत: समालोचना का ही एक अंग माना जा सकता है। भारतेन्दु-काल से हिन्दी की उत्पत्ति और विकास को लेकर इस प्रकार के इतिहास प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें भाषा-साहित्य के साथ साहित्य के कतिपय रचयितामों के कार्यों के मूल्यांकन का भी प्रयत्न रहा है।

द्विवेदी-युग मे तो भाषा की स्थिरता और अनस्थिरता को लेकर समालोचना-क्षेत्र मे एक आन्दोलन भी चल पडा था। समालोचना के इस अग को विकसित बनाने मे भाषा-विज्ञान की नवीन शोधों ने भी सहयोग दिया है। हिन्दी-भाषा के स्वतन्त्र अस्तित्व को लेकर हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी के सघर्ष में विभिन्न-भाषा शास्त्रियो ने अपनी जो विचार-सरणियाँ उपस्थित की है, वे भी हमारे एतद् विषयक समालोचना-साहित्य का संवर्धन करने मे सहायक हुई है। शुक्ल-युग तक तो इस प्रकार के आन्दोलन का विशेष जोर था किन्तु अब उसमे बहुत कुछ मथरता आ गई है जिसका प्रमुख कारण अब हिन्दी को राष्ट्रभाषा के स्थान पर अधिष्ठित करने के प्रति राष्ट्र के कर्णधारों का सामूहिक दृष्टिकोण है। अब भी यदा-कदा प्रातीय भाषाओ को लेकर हिन्दी भाषा-साहित्य की समृद्धि पर आक्रमण किये जाते है, किन्तु हिन्दी के विशाल क्षेत्र पर उनका कोई परिवर्तनकारी प्रभाव नही होता। भाषा-विवेचन के क्षेत्र मे डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के साथ-साथ डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० बाबूराम सक्सेना, डा० उदयनारायण तिवारी, प० चन्द्रबली पाण्डेय, और पं० किशोरीदास वाजपेयी आदि विद्वानो ने भाषा-विषयक समीक्षण मे महत्त्वपूर्ण कार्य किये है। आज हमारे सामने केवल हिन्दी भाषा के विकास के इतिहास ही प्रस्तुत नही है अपितु उसकी विभिन्न शाखाओ के रूप मे प्रतिफलित होने वाली विभाषाओ के उद्भव और विकास की शोध-सामग्री भी विद्यमान है। भोजपुरी, अवधी, ब्रज, मैथिली, राजस्थानी और खडी बोली भाषाओ के उद्भव और विकास पर यथेष्ट विवेचन हो चुका है, किन्तु इस कार्य को और भी आगे बढाने की आवश्यकता है; क्योकि हिन्दी के सम्पर्क मे आने वाली बुदेलखण्डी, बघेली तथा राजस्थानी की विभिन्न बोलियों के विकास का विश्लेषण करने का कार्य अभी शेष है। साथ ही साथ इस विषय की भी वाछनीयता है कि इन विभिन्न भाषाओं के विकास का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया जाय जिससे यह पता चल सके कि इनके विकास का पारस्परिक अन्तर्सम्बन्ध किस युग मे किस प्रकार का रहा है। यह एक अत्यन्त गम्भीर और विचारपूर्ण विषय है जिसके लिए विशेष परिश्रम और वैज्ञानिक दृष्टि की आवश्यकता है। ऐसा होने पर हमारी समालोचना का अभिव्यक्ति (भाषा) विषयक विकास हो सकेगा जिसके द्वारा समालोचना के इस उपेक्षित अंग मे नूतन चमत्कृति आ सकेगी। यदि इसी के साथ-साथ इतर प्रान्तीय भाषाओं के ध्वनि, रूप और अर्थमूलक साम्य का विवेचन भी हिन्दी-भाषा के विकास के तारतम्य विधान के साथ किया जा सके तो यह भी अपनी गुरुता मे महान् होगा।

रचना, शैली और उसके विकास की आवश्यकता

१६. आधुनिक हिन्दी समालोचना मे विभिन्न लेखको की रचना-शैली और उनके विकास का भी समीक्षण करने की आवश्यकता है। वैसे तो यह कार्य अत्यन्त हल्का-सा प्रतीत होता है, किन्तु पश्चिमी देशों मे इसको विशेष महत्त्व दिया गया है। जब हम शैली को ही व्यक्तित्व का स्वरूप मानते है तो इस विषय की नितान्त अनिवार्यता है कि उसके गठन और निर्माण के अंगों का भी विश्लेषण किया जाय। इस विषय मे अभी तक हिन्दी-समालोचना मे बहुत कम कार्य हुआ है। साहित्यकारो की समालोचना के अन्तर्गत शैली का निरूपण करते हुए केवल बँधी बधाई शब्दावली में उसे सरल, सुबोध अथवा क्लिष्ट कह कर छुट्टी ले ली जाती है, किन्तु उसका विवेचनात्मक विश्लेषण नही होता। जिस हिन्दी साहित्य का विकास प्रायः एक सहस्र वर्षों की चेतना का अक्षय भंडार सजोये हुए है, उसके प्रमुख रचनाकारों का भी शैली-विषयक विवेचन अपने वैज्ञानिक विधान में हमें उपलब्ध नही है। गद्य और पद्य की न जाने ऐसी कितनी विधाएँ है जिनको लेकर, श[illegible] विकास का अध्ययन किया जा सकता है। चूँकि इस क्षेत्र मे अभी तक हिन्दी साहित्य मे बहुत कम काम हुआ है, अतः इसके प्रतिमानो के प्रति आश्वस्त न होने के कारण समालोचको को इस कार्य में कम खतरे भी नहीं लगते, किन्तु केवल इस प्रकार की भयावह परिस्थिति की आशंकाओं

में रहने से भी काम नहीं चलेगा। हमारे साहित्य-समालोचकों को साहित्य का केवल भावुक प्रणाली में ही निरूपण न कर इस उपेक्षित विषय की शुष्क धमनियों में भी अपनी विचारधारा का रक्त-संचार करना है, तभी इसकी सम्पूर्ति हो सकती है। आज हिन्दी मे पद्य और गद्य-शैली के विकास पर ऐसी बहुत कम पुस्तके है जिनमे इस प्रकार का निरूपण हुआ हो। इस कार्य की सफलता मे हमारे प्राचीन काव्य-शास्त्र का रीति-सिद्धान्त तथा पश्चिम के अरस्तू और लौजाइनस आदि के समीक्षा ग्रथ भी सहायक बन सकते है।

जीवन और व्यक्तित्व के विश्लेषण द्वारा उपलब्धि

२०. आधुनिक हिन्दी समालोचना मे प्रमुख साहित्यकारो के जीवन और व्यक्तित्व-विकास को लेकर भी उनके युग के अध्ययन प्रस्तुत किये गये है। इस क्षेत्र मे आधुनिक साहित्य पर अधिक काम हुआ है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के युग को लेकर विश्व-विद्यालयो के शोध-प्रबन्ध भी प्रकाशित किये गए है। इसी प्रकार प्राचीन और मध्यकालीन युगो का भी अध्ययन हुआ है जैसे रीतिकाल की भूमिका मे देव और उनकी कृतियों का अध्ययन तथा तुलसी-दास और उनका युग-विश्लेषण आदि। पर उस क्षेत्र में अब भी कार्य करने की आवश्यकता है। बात यह है कि यद्यपि आजकल इस प्रकार के युग-विश्लेषण की अनेक समालोचनात्मक पुस्तके प्रकाशित होती है, किन्तु उनमे किसी नवीन तथ्य का उद्घाटन बहुत कम होता है। कुछ समालोचक युग-विशेष का अध्ययन करने मे अपनी मनोविश्लेषणवादी अथवा जनवादी परम्परा ही ढूंढने फिरते है, तो कुछ समालोचको का दृष्टिकोण विशुद्ध सौन्दर्य-मूलक होने के कारण साहित्य को युग-जीवन से भिन्न एक निराली अभिव्यक्ति ही मान कर चलने का रहता है। परिणाम यह होता है कि युग-विश्लेषण मे न्याय-भावना का निर्वाह नही हो पाता। इस प्रकार कुछ समालोचकों ने केवल वस्तु-संकलन की विषय सूची-प्रस्तुत करने मे ही युग-विश्लेषण का सर्वस्व मान रखा है। ऐसा भी देखा जाता है कि हमारे कुछ उदीयमान समालोचक केवल पूर्ववर्ती समीक्षकों द्वारा विवेचित युग-आस्थाओ का एक मात्र अनुकरण कर उन्ही की लीक पीटते रहते है और कुछ समालोचक पश्चिमी देशों में विकसित होने वाली युग-प्रवृत्तियो का अस्वाभाविक सम्बन्ध हमारे देश की सास्कृतिक और साहित्यिक प्रवृत्तियो के साथ जोड कर चलते है जिससे 'कही की ईंट और कही का रोड़ा भानमती ने कुनबा जोड़ा' वाली कहावत ही चरितार्थ होती है। इसका एक प्रमाण यह है कि पश्चिम देशो के राज्य-संघर्ष और औद्योगिक क्रांतियो का विकास वहाँ जिन जिन परिस्थितियों में हुआ, वे हमारे देश की अवस्था से भिन्न रही, किन्तु उनके समर्थनकर्ता समालोचक अपने देश की मिट्टी से उनका अविच्छेद्य सम्बन्ध जोड ही देते हैं। कहने की आवश्यकता नही कि हमारे देश मे मिल-मालिको और किसान-जमीदारों का सघर्ष उस रूप मे कभी नही रहा जिस रूप मे पश्चिमी देशो मे रहा है; फिर भी लाल झंडा और मजदूरों की दयनीयता पर न जाने कितने प्रकार का रचनात्मक साहित्य लिखा गया, जिसकी संपुष्टि उसके अनुमोदक समालोचनात्मक साहित्य ने भी की। अभिप्राय यह है कि इस क्षेत्र में भी बहुत अधिक सोच समझ कर कार्य करने की आवश्यकता है जिससे साहित्यिक व्यक्तित्वो और प्रवृत्तियों का विश्लेषण केवल देश-काल की संस्कृति और साहित्य-धाराओं को प्रामुख्य देकर किया जाय न कि उसे किसी विदेशी आन्दोलन अथवा एकदेशीय राजनीति, समाज-नीति आदि का अंग बनाकर ही साहित्य-समालोचना के क्षेत्र की पूर्णता समझ लिया जाय। हर्ष की बात है कि हमारे सुधी समालोचकों का ध्यान इस ओर गया है और वे साहित्यकारो के व्यक्तित्व को लेकर भी तत्कालीन युगों के अध्ययन की ओर अधिक व्यापक दृष्टिकोण से दत्तचित्त हुए हैं जो हमारी समालोचना के विकास का एक सुष्ठु उपक्रम है। 'कालिदास और उनका युग' 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' आदि की भाँति हमें अपने हिन्दी-साहित्य में भी साहित्यकारों को प्रधानता देते हुए कार्य

करने की आवश्यकता है और 'तुलसीदास और उनका युग' जैसे अध्ययनो को और अधिक व्यापक तथा वैज्ञानिक बनाना है। ऐसा करने पर हमे समालोचना के क्षेत्र मे निश्चय ही एक नवीन उपलब्धि हो सकेगी।

युग-प्रवृत्तियों का अध्ययन और उपलब्धि में सहयोग

२१. आधुनिक हिन्दी समालोचना मे विभिन्न युगो के कवियो और लेखको के जीवन तथा उनके साहित्य मे एक तारतम्य अन्वेषित करते हुए उनकी कृतियो का समालोचन भी हुआ है। यह भी हमारे समालोचना-साहित्य की एक उपलब्धि है। इसके द्वारा हमे विवेचित साहित्यकारों की जीवन-साहित्य विषयक प्रभूत सामग्री का सकलन मिल जाता है। आजकल हिन्दी शोध-कार्य करने वाले जिज्ञासुओं का इस ओर विशेष ध्यान है। इस कार्य मे उन्हे सुविधा भी रहती है और अधिक मीमासा अथवा उलझन का भी सामना नही करना पडता। वस्तुत. यह प्रयत्न भी बुरा नही है, किन्तु इस कार्य को भी एक समीक्षात्मक और सतुलित दृष्टिकोण से परीक्षित करते हुए सचालित करने की आवश्यकता है। पश्चिमी देशो मे इस दिशा मे विभिन्न दृष्टियो से विश्लेषण हुआ है जिनका अध्ययन करते हुए हमे अपने देश की मान्यताओ के अनुरूप उनमे कोई ऐसा स्वस्थ विधान निकलना चाहिए, जिससे व्यक्ति और साहित्य का अतरग सम्बन्ध अधिक निकटता से सिद्ध किया जा सके। इसी दिशा मे पडित गंगाप्रसाद पाण्डेय ने 'महाप्राण निराला' नामक पुस्तक की रचना कर एक दिशा-निर्देश किया है, किन्तु वे भी कई स्थलो पर विवेचन मे तटस्थ न रह कर भाव-प्रवाह मे अपना बौद्धिक संतुलन अधिक नही रख सके है। इसमे कोई सदेश नही कि कृतिकार और रचना के साथ समालोचक भी कई स्थलो पर रसग्राही पाठक बन कर भाव-प्रवण भी हो जाता है किन्तु उसके समालोचना विषयक प्रमुख दृष्टिकोण का महत्त्व तो सर्वत्र रहना ही चाहिए। कहना होगा, इस प्रकार की समालोचना-विधो मे प्राचीन और नवीन कवियो के अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के आधार पर प्राप्त सामग्री भी सहायक हो सकती है, जिससे तथ्य-चयन करने की प्रवृत्ति जिस समालोचक मे जितनी अधिक होगी, वह उतनी ही सफलता से यह कार्य सम्पन्न कर सकेगा। डा० श्यामसुन्दरदास ने अपनी जो आत्म-कहानी लिखी है वह भी इस प्रकार की परम्परा को विकसित बनाने मे सहायक हो सकती है। इसी प्रकार हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित आधुनिक-कविमाला मे किया गया आधुनिक कवियो का आत्म-विश्लेषण भी हमारे इस प्रकार के अध्ययन को वैज्ञानिक बनाने मे सहयोग दे सकता है। हाँ, जो अतीतकालीन साहित्यकार है उनके जीवन-साहित्य के समालोचन मे हमे अपना नवीन दृष्टिकोण लेकर ही चलना होगा।

अभिनन्दन-ग्रन्थ और समालोचना-वृद्धि

२२. आजकल विभिन्न साहित्यकारो की सेवाओ का सम्मान करने की भावना से जिन अभिनन्दन-ग्रंथो का प्रकाशन हो रहा है, उनमे भी समालोचना के विकास के तत्त्व कण न्यूनाधिक मात्रा में संवलित है। चूँकि इस प्रकार के अध्ययनो का एक दृष्टिकोण अभिनन्दित साहित्यकार की कृतियों का मूल्याकन भी होता है, अत उसमे समालोचना-तत्त्वो के विविध स्वरूपो का विकास भी समाविष्ट रहता है। इस प्रकार के आयोजनो मे प्राय: वे ही व्यक्ति भाग लेते है जो अभिनन्दनीय साहित्यकार के जीवन से विशेष सम्बन्ध रखने वाले अथवा उनके साहित्य के मर्मज्ञ होते है। अत. उनके निष्कर्षों में अधिक प्रामाणिकता मिलनी स्वाभाविक है। हाँ, साधारणतया उनकी समालोचनाएँ सस्तव पूर्ण ही रहती है, अत. अनेक बार उसका दूसरा पक्ष दब सा जाता है। साधारणतया जीवित साहित्यकारो का ही अभिनन्दन किया जाता है, अतः इस परिधि मे केवल सीमित संख्या के साहित्यकार ही आ सकते है। खेद की बात है कि कभी-कभी

साम्प्रदायिक मतभेद और वर्गगत मान्यताओ के कारण किसी सामान्य श्रेणी के साहित्यकार को भी विशेष महत्ता दे दी जाती है तो कभी विशिष्ट श्रेणी के साहित्यकार भी उस अभिनन्दन से वंचित रह जाते है। इसका एक प्रमाण यह भी है कि हमारे अनेक लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार और उनकी कृतियाँ उनके जीवन-काल मे वह सम्मान और अभिनन्दन नही प्राप्त कर सकी जो अपने परवर्ती काल मे प्राप्त कर सकी। अत: अभिनन्दन के पुनीत कार्य मे अधिक उदारमना बन कर चलने की आवश्यकता है, जिससे साहित्यकार के व्यक्तित्व और कृतित्व-विश्लेषण के साथ-साथ उसका समुचित समीक्षण भी होता चले। जो दिवगत साहित्यकार है उनके लिए यही उचित होगा कि उनके साहित्य के मर्मज्ञ समालोचको द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों से उनके साहित्य-परिश्रम के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन कराते हुए उनके संकलन प्रस्तुत किये जायँ, जिससे उनके कार्यों का मूल्याकन और अधिक विशद विचारभूमि पर किया जा सके। अच्छा हो, इस प्रकार के समीक्षण-कार्य मे हमारे समालोचक केवल अपनी पुरानी मान्यताओं की ही पुनरावृत्ति नही करे, अपितु अपने ज्ञान, प्रतिभा और अनुभूति के विकास का सयोजन भी उनके साथ करते चलें। ऐसा करने पर भी हमारी समालोचना को अग्रिम विकास का एक आधार मिल सकता है। इससे एक लाभ यह भी होगा कि विविध साहित्यकारो की समालोचना के जिज्ञासु पाठकों को इतस्तत नही भटकना पडेगा और वे एक ही स्थान पर अपने अभीप्सित साहित्यकार के सम्बन्ध मे यथेष्ट जानकारी कर सकेगे। हमारे समालोचना-साहित्य मे सुमित्रानन्दन पत, महादेवी वर्मा, जयशंकरप्रसाद, निराला तथा रामचन्द्र शुक्ल जैसे लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकारो का इस प्रकार का अध्ययन हुआ है, किन्तु इस परम्परा को और अधिक आगे बढ़ाने और निष्पक्ष रखने की आवश्यकता है। अच्छा हो, इस प्रकार के अध्ययनो का सम्पादन तथा भूमिका-लेखन ऐसे विद्वानो द्वारा किया जाय जो सर्वांगीण दृष्टि से अधीत साहित्यकार का समन्वयपूर्ण और निष्पक्ष मूल्याकन करने की क्षमता रखने वाले हो।

आकाशवाणी द्वारा सामयिक सहयोग

२३. भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् आकाशवाणी की भाषा-विषयक नीति मे परिवर्तन होने के कारण हिन्दी-साहित्य की प्रगति पर विशेष अवसरों पर विद्वान् समालोचकों द्वारा भी जिन समालोचना मूलक वार्ताओ का प्रसार किया जाता है, उन्हें भी समालोचना के विकास का एक सुन्दर साधन बनाया जा सकता है; किन्तु इस दिशा में सन्तोषपूर्ण कार्य नही हो रहा है। इसका एक कारण तो यह है कि हमारे आकाशवाणी के केन्द्र-सचालकों को इस विषय का कम ज्ञान है कि वे ऐसे कौन से विषय हैं जिन पर समालोचनात्मक साहित्य के प्रसार की आवश्यकता है और दूसरी बात यह है कि आकाशवाणी के माध्यम से गम्भीर साहित्य-समीक्षण का कार्य किये जाने की सम्भावनाएँ भी बहुत कम है। फिर भी यह बात अवश्य की जा सकती है कि हमारे समालोचक अपनी वार्ताओं के ऐसे विषय अवश्य चुनें जिनमें प्राचीन, मध्यकालीन अथवा नवीन साहित्य के किसी एक विशिष्ट अग के भी किसी विशेष विधान पर निर्धारित समय में कोई नवीन बात कही जा सके। ऐसे विषयों को यथासम्भव रुचिप्रद भी बनाया जा सकता है और श्रोताओ के मन मे समालोचनाओं के प्रति बनी हुई शुष्कता अथवा उदासीनता की भावना भी दूर की जा सकती है। इस प्रकार की समालोचनाएँ सतही साहित्य (लाइट लिट्रेचर) की भाँति अपना एक सामान्य महत्त्व भी रख सकती हैं। समसामयिक पुस्तको का यथासमय जो समालोचन आकाशवाणी द्वारा प्रसारित किया जाता है, वह भी हमारी हल्की-फुल्की समालोचनाओ को एक नवीन दिशा प्रदान कर सकता है। क्या आवश्यकता है कि समालोचना का एकमात्र क्षेत्र केवल गम्भीर दार्शनिक और शास्त्रीय विवेचना से ही सम्बद्ध रहे। मेरी समझ में जब साहित्य के रचनात्मक विधान में

भी इस प्रकार की प्रवृत्ति दिखलाई पड रही है तो समालोचना के अन्तर्भूत भी इस प्रकार का विश्लेषण किया जा सकता है, किन्तु इस सामान्य कार्य का दायित्व और भी गुरुत्वपूर्ण है। ऐसा न हो कि समालोचना का एकमात्र रूप केवल प्रचार ही बना दिया जाय। मेरे कथन का आशय यह है कि रेडियो-वार्ताओ, साहित्यिक आयोजनों तथा विशेष अधिवेशनो पर समयोचित विषयों का निरूपण आवश्यक है, किन्तु उनकी सुबोधता और सरलता केवल अभिव्यक्तिगत ही रहे न कि वह तथ्यहीन साहित्य ही बन जाय। अच्छा हो, यदि इस प्रकार की वार्ताओ के प्रकाशन की भी समुचित व्यवस्था होती रहे, जिससे साधारण साहित्य-पाठको को भी अपने साहित्य की समालोचनात्मक विधा का समयोचित ज्ञान होता रहे। ऐसा होने पर हिन्दी को राष्ट्रभाषा के सुयोग्य पद पर आसीन होने के उपयुक्त गुणो की सर्वांगीण वृद्धि में भारत-सरकार द्वारा भी सहायता मिल सकेगी। भारत-सरकार के सूचना एव प्रसारण मन्त्रालय के प्रकाशन द्वारा इस प्रकार के कुछ प्रकाशन भी हुए है जैसे 'हिन्दी का भावी रूप', 'तुलसीदास: विश्लेषण' आदि। किन्तु अब भी इस दिशा मे और अधिक व्यापक और मौलिक प्रयत्न किये जाने की आवश्यकता का अनुभव हम बहुधा कर रहे है।

विभिन्न साहित्यिक-संस्थाओं का योगदान

२४. आज हिन्दी साहित्य जगत् मे ऐसी अनेक सस्थाएँ हैं जो हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि का मूलमन्त्र लेकर अपना कार्य-प्रसार कर रही है। इनमे नागरी प्रचारिणी सभा काशी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग तथा हिन्दुस्तानी अकादमी प्रयाग तो बहुत पुरानी है, किन्तु और भी ऐसी अनेक साहित्यिक सस्थाएँ हैं जो उपर्युक्त सभाओ और सम्मेलनो से सम्बद्ध होकर कार्य कर रही हैं। कुछ संस्थाएँ स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हुई भी कार्य-तत्पर हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय की हिन्दी साहित्य-परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग की हिन्दी अनुसन्धान परिषद् की भांति अन्य विश्वविद्यालयो के हिन्दी-विभागो से सम्बन्धित ऐसी परिषदे है जिनका एक अग समालोचना साहित्य की अभिवृद्धि भी है। इन सस्थाओ द्वारा शोध-कार्यों का निरीक्षण और प्रकाशन भी किया जाता है। इस दिशा में वाराणसी और लखनऊ, दिल्ली विश्वविद्यालयो ने भी कार्य किया है, जिसकी सफलता का अधिकाश श्रेय उनके उत्साही सचालको को है। इन परिषदो द्वारा प्रकाशित समालोचनात्मक ग्रन्थो और शोध-प्रबन्धो से भी हमारे समालोचना-साहित्य की अभिवृद्धि हुई है। इस दिशा मे अब भी ठोस और गम्भीर कार्य करने की आवश्यकता है। अब भी विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत ऐसे अनेक शोध-प्रबन्ध है जिनके प्रकाशन न होने से समालोचना-जगत् को अपेक्षित लाभ नहीं हुआ है। उनका शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशन बिना किसी सकोच के होना चाहिए, जिससे उनके द्वारा समालोचना और शोध-साहित्य की अभिवृद्धि और उपलब्धि का मनन, चिंतन और मूल्यांकन करने का सुअवसर साहित्य-विचारको और जिज्ञासुओ को भी मिल सके। इस कार्य के लिए यह भी उचित होगा कि इस प्रकार की संस्थाओ मे परस्पर अन्तरंग सम्बन्ध-सूत्र स्थापित हों, जिससे इस बात का भी पता चलता रहे कि किन-किन स्थानो पर किस-किस प्रकार का शोधपरक समालोचनात्मक अध्ययन हो रहा है। इससे एक लाभ यह भी होगा कि विषयो की पुनरावृत्ति की कम सम्भावना रहेगी और यदि पुनरावृत्ति भी हुई तो भी उसके दृष्टिकोण और प्रतिपादन मे मौलिकता का समावेश करने का अवसर हमारे अनुसन्धाता प्राप्त कर सकेंगे। यदि केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों द्वारा स्थापित साहित्य-अकादमियाँ भी भारतीय साहित्य की अभिवृद्धि के साथ-साथ उसके समालोचना-साहित्य की तुलनात्मक उपलब्धि और आवश्यकताओ को भी अपने साहित्य-संवर्धन का एक अग बना कर चलने लगे तो इस दिशा मे और भी अधिक ठोस और व्यापक कार्य किया जा सकता है।

उपलब्धि को प्रगतिशील बनाने के अन्यान्य सुझाव

२५ आधुनिक हिन्दी समालोचना मे इस विषय में भी कार्य करने की बड़ी गुंजाइश है कि हमारे प्राचीन और नवीन ग्रन्थों के कला और भाव-पक्ष के विविध अंगों को लेकर विश्लेषण किया जाय। साथ ही साथ उनका ऐतिहासिक धरातल पर इस विषय मे भी विश्लेषण हो कि वे ग्रंथ अपने युग की भावनाओं का कहाँ तक नेतृत्व कर सके हैं। उनके पात्रों के मनोविश्लेषण तथा उनसे उपलब्ध संस्कृति-विषयक मान्यताओं का भी विवेचन इसके अन्तर्गत आ सकता है। यहाँ तक कि उनकी भाषा को लेकर भी शोध के स्वतन्त्र विषय चुने जा सकते हैं। पश्चिमी देशों मे शेक्सपियर पर विविध दृष्टिकोणों से लिखे गये ऐसे अनेक समालोचनात्मक ग्रंथ उपलब्ध हैं, जिनकी संख्या सहस्रों तक पहुँच चुकी है। किन्तु हिन्दी भाषा और साहित्य के सर्वस्व रामचरितमानस, सूरसागर और कामायनी जैसे काव्यों पर ऐसे कितने ग्रंथों का प्रकाशन हुआ है जो उनके विविध दृष्टि-बिन्दुओं से किये गये अध्ययन के सूचक हैं! हमारे कुछ समालोचकों को तो कुछ ऐसा लगता है कि उन पर इतना अधिक लिखा जा चुका है कि अब उन पर और क्या लिखा जाय, किन्तु यह दृष्टिकोण संकुचित है। मानस-संघ, सतना से स्वामी अवधकिशोर-दास ने रामचरितमानस मे महाराज जनक तथा रामचरित मानस मे श्री मिथिलाधाम जैसे ग्रंथों का प्रकाशन किया है, किन्तु उनका विवेचन समालोचनात्मक न होकर केवल वर्णनात्मक है। साहित्य-समालोचकों को इस प्रकार विविध विधियों द्वारा ऐसे ग्रंथों के अध्ययन को पूर्ण बनाने के लिए विशद निरूपण करना चाहिए। जिस रामचरितमानस को हम हिन्दी साहित्य का शिरोमणि और उसके रचयिता को साहित्य-रत्नमाला का सुमेरु कहते हैं, उनकी भाषा पर भी कोई ऐसा स्वतन्त्र और प्रामाणिक ग्रंथ उपलब्ध नहीं है जिसमे उसके आभ्यन्तरिक और ब्राह्य संघटन को लेकर विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया हो। (अभी कुछ दिनों पूर्व तुलसी की भाषा शीर्षक एक शोध-प्रबन्ध इस विषय मे प्रकाशित हो चुका है।) हाँ, इस ओर अभी डा० प्रेमनारायण टंडन का 'सूर की भाषा' विषयक शोध-ग्रंथ अवश्य प्रकाशित हुआ है जिस पर उन्हें लखनऊ विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की है। इसी प्रकार अन्य साहित्यकारों के भाषा-विषयक शोध-कार्य करने की भी आवश्यकता है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार के विवेचन को बहुत अधिक अनावश्यक अवैज्ञानिक तूल भी दिया जाय जैसा कि डा० प्रेम नारायण टंडन के उक्त ग्रंथ में कई स्थानों पर हुआ है; किन्तु अध्ययन की वैज्ञानिकता और प्रांजलता की दृष्टि से ऐसे अध्ययनों मे यदि तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति का भी यथावसर प्रयोग किया जाता रहे तो इस कार्य मे अधिक सफलता प्राप्त की जा सकती है।

पारिभाषिक साहित्यशास्त्र की आवश्यकता

२६. आधुनिक हिन्दी-समालोचना को प्रौढ़ि प्रदान करने के लिए साहित्यशास्त्र के एक पारिभाषिक प्रामाणिक शब्द-कोष की भी आवश्यकता है। यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण विषय है जिसकी ओर हमारे विद्वान समालोचक-वर्ग का ध्यान शीघ्रातिशीघ्र आकर्षित होना चाहिए। यद्यपि इस दिशा में डा० श्यामसुन्दरदास और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने श्लाघनीय कार्य किए हैं, किन्तु उनका वह कार्य युग-विशेष के लिए जितना महत्त्वशाली था उतना अब नहीं रहा है। बात यह है कि उनके पश्चात् भी हमारी साहित्य-समालोचना जिन-जिन विचारधाराओं से संघर्ष लेकर जिस विधान में उपलब्धि कर सकी है, उसमें पाश्चात्य साहित्यालोचन के अनेक सैद्धान्तिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। उन शब्दों के लिए भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा भिन्न-भिन्न पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया जाना अनेक बार साहित्य-जिज्ञासुओं के मार्ग में व्यवधान उपस्थित करता है। अतः यथासम्भव उसके लिए निर्णीत एक प्रामाणिक शब्दावली अवश्य होनी चाहिए। यह कोई आवश्यक

नहीं कि उसके लिए केवल संस्कृत साहित्यशास्त्र से ही पदावली ग्रहण की जाय, क्योंकि अनेक बार ऐसा भी देखा गया है कि प्रत्येक भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति अन्य भाषाओ की समता मे अपना वैशिष्ट्य रखती है। अतः यदि हमे अपने सस्कृत साहित्य-शास्त्र और अन्य प्रान्तीय भाषा-शास्त्रों में उनके अनुकूल शब्द-योजना मिल सके तो उसे ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा उनके मूल शब्दो को भी अपनी प्रकृति के अनुसार स्वीकार कर लेने मे भी कोई अपकर्ष विधायक बात नही समझनी चाहिए। ऐसा करने पर हमारी राष्ट्रभाषा का तो गौरव बढेगा ही, साथ ही साथ साहित्यालोचन के शब्द-कोष में ऐसे अनेक रत्नो का सचयन भी हो सकेगा जिसमे हमारी भाषा-शक्ति अपने भावी विकास के भी पद-चिह्न प्राप्त कर सकेगी।

निष्कर्ष और निर्णय

२७. हम यह स्वीकार करते है कि आधुनिक हिन्दी समालोचना मे विषयों का चर्वित चर्वण भी बहुत हो रहा है और आए दिन जिन पुस्तको का प्रकाशन हो रहा है उनमे अधिकांशतः केवल सख्या-वृद्धि अथवा परिमाण-वृद्धि के रूप मे ही है, किन्तु इससे हमे निराश होने की आवश्यकता नही। प्रत्येक देश के साहित्य मे ऐसे युग आते हैं जब मौलिक चिंतन कुछ शिथिल पड़ जाता है किन्तु अनागत के लिए उसका उपयोग भी कम नही होता। हमारे भाषा-साहित्य मे भी इस प्रकार की जो प्रवृत्ति प्रदर्शित हो रही है उसके मूल मे भी अनेक आतरिक और बाह्य चेतनाओ के सक्रांत कारण है जिनका समाधान पा लेना किसी एक व्यक्ति या क्षण के वश की बात नही। हिन्दी समालोचना की भी कुछ ऐसी ही स्थिति हो रही है, किन्तु गम्भीरता से निरीक्षण करने पर यह भी आभासित हो सकेगा कि हमारे साहित्य-चिंतको और मनीषियो का ध्यान अपनी इस दुर्बलता की ओर अवश्यमेव गया है। इसका एक प्रत्यक्ष प्रमाण यह भी है कि इस शैथिल्य और पिष्टपेषण की प्रवृत्ति के समानान्तर ही समालोचना-साहित्य का एक प्ररोहमान पादप जीवन-रस की खाद पाकर अपने स्वतन्त्र विकास के लिए प्रस्फुटित होने लगा है, जिसमे आज की विश्व-सस्कृति के भाव सुमनों के फलीभूत होने की बहुत अधिक आशा है। हम आशा करते हैं कि साहित्य-समालोचना के इस महान् यज्ञ मे हमारे तपःपूत साहित्य-मनीषी अपनी साधना का दिव्य हव्य प्रदान करेंगे जिसमे वैयक्तिक विद्वेष और स्वार्थवृत्ति का कल्मष नष्ट होकर ऐसा पावन परिवेश बन सकेगा जिसके विशुद्ध वायु-मण्डल मे साहित्य-सरिता का प्रवाह विदग्ध हृदयो को अपूर्व शान्ति का अनुभव करा सकेगा। ऐसा होने पर ही साहित्य-समालोचना के पावन उद्देश्य की सफलता क्रियात्मक बन सकेगी।

समालोचना की भावी दिशा क्या हो

२८. हिन्दी-समालोचना की एक वह भी स्थिति थी जब वह केवल पुस्तक-परिचय और विज्ञापन-वृत्ति के अन्तर्गत ही अपना सर्वस्व पा चुकी थी। उस समय मुख्यतः दोषोद्भावना अथवा वैयक्तिक प्रहार ही समालोचना का मूल प्रयोजन समझा जाता था, किन्तु अब वह परिस्थिति नही रही है। आज का युग नवीन करवट ले चुका है और जीवन तथा साहित्य के प्रतिमानो को विशाल भावना और मानवीयता की दृष्टि से परखा जाने लगा है। आज हिन्दी-साहित्य अपनी साधना के बल पर विश्व के अनेक लब्धप्रतिष्ठ साहित्यो की श्रेणी मे आ गया है और देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् तो उसके अध्ययन-अध्यापन और अनुसधान की व्यवस्था अतर्राष्ट्रीय विधान मे की जा रही है। ऐसी स्थिति मे हिन्दी साहित्य-सेवियो के कधो पर कितना बडा उत्तरदायित्व आ गया है, उसकी गम्भीरता उन्हें समझनी है। आज हमें अपने दृष्टिकोण मे उदारता लानी है। अब केवल भाषा की अस्थिरता जैसे विवादो-प्रतिवादो मे अपना अधिक समय नही खोना है, क्योकि वह भी एक युग की पुकार थी जो अपना युग-माहात्म्य रखती हुई समाप्त हो गई। आज पूर्व में

नवीन अरुणोदय हो रहा है और विश्व की आँखे उसकी ओर लगी हुई है। देखे, मानवता के निर्माण हेतु होने वाले महान यज्ञ मे हमारे साहित्य-सेवी कितना श्रेय लेते है। यदि वे उचित दिशा मे अपना कर्तव्य-पालन कर सके तो निस्सन्देह विश्व-संस्कृति के साथ-साथ हमारे देश का भी कल्याण हो सकेगा। हमारी साहित्य-समालोचना को भी ऐसी ही शक्ति अर्जित करनी है और इसी मे विश्व-मानवता का भव्य स्वप्न देखना है।

साहित्यालोचन का आदर्श

२६. भारतीय साहित्यालोचन के प्रतीक-प्रतिमान दुर्बल नही हैं, उनमे विश्व-साहित्य का विवेचन करने की क्षमता है। सैद्धान्तिकता के स्वरूप की तो उनमे चरम परिणति है। यही उसकी विशिष्ट मौलिकता है। उसे हमे आज अपनी हिन्दी-समालोचना के प्रयोगपक्ष के भीतर उतारना है। साथ ही साथ उसके अमूल्य और अक्षय कोष से ऐसे रत्न-कणों का भी चयन करना है जिनसे हिन्दी-समालोचना के स्वतन्त्र प्रतिमान-निर्माण मे भी सहायता मिल सके। इसके लिए कठोर परिश्रम और अनवरत उद्योग की आवश्यकता है। साथ ही हमे आज की वैज्ञानिक और भौतिक उन्नति मे सास लेने वाले युग की गति का भी परीक्षण करना है। आज का विश्व जिस एकत्वपूर्ण सस्कृति का स्वप्न देख रहा है, उसके तत्वो का सयोजन भी हमें अपने साहित्य मे करना है। ऐसा करने के लिए विशेष प्रकार की शक्ति और प्रतिभा अनिवार्य है, पर साधना में सिद्धि का निवास है, सफलता के इसी मूलमन्त्र को मान कर हम चलते रहे तो निश्चय ही विजय-श्री हमे वरण करेगी। उस समय हम अपने रचनात्मक साहित्य के द्वारा आत्म-शक्ति का विकास करते हुए उसके विचार-पक्ष का भी संतुलन रख सकेंगे जो हमे जीवन के प्रति एक स्वस्थ और अभ्युदयपूर्ण दृष्टि-कोण देने में समर्थ होगा। ऐसा होने पर ही हम कह सकेंगे कि हमारा भी अपना स्वतन्त्र साहित्या-लोचन है जिसके लिए हमें पराश्रित होने की कोई आवश्यकता नही, अपितु जिसमें स्वत. ऐसी शक्ति है कि जिसके माध्यम से विश्व का कोई भी साहित्य समीक्षित किया जा सकता है। उसमें प्राणो का स्पदन है, नीरव क्रन्दन नहीं, उसमे विकास की विधा है, ह्रास की विधा नही। पर अभी यह हमारे लिए अर्द्ध-स्वप्न है। देखें, हमारी आस्तिक बुद्धि मे हमारा निरतर किया जाने वाला उद्योग कब ऐसी ईश्वरीय प्रेरणा का प्रस्फुरण करता है जब हम अपने उस दूरवर्ती कर्तव्य-स्थल तक पहुँच सके।

समीक्षा-ग्रन्थ-सूची

अकारादिक्रम से

(क)

हिन्दी के ग्रन्थ

अम्बिकादत्त व्यास — गद्य-काव्य-मीमांसा—नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण, १८९७ ई० ।

अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी — हिन्दी पर फारसी का प्रभाव—हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९३७ ई० ।

अमरनाथ झा — विचार-धारा—किताब-महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९४८ ई० ।

अमृतराय —
१. नई समीक्षा—हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, बनारस, प्रथम संस्करण, सम्वत् २००० वि० ।
२. साहित्य में संयुक्त मोर्चा, हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण ।

अयोध्यासिंह उपाध्याय —
१. रस-साहित्य तथा मीमांसा—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, काशी, प्रथम संस्करण, १९५६ ।
२. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास—पुस्तक भंडार, लहेरिया-सराय, प्रथम संस्करण, सम्वत् १९९७ वि० ।

इन्द्रनाथ मदान —
१. प्रेमचन्द : एक विवेचना—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५९ ।
२. हिन्दी कलाकार—हिन्दी भवन, लाहौर, प्रथम संस्करण, १९४६ ।

इलाचन्द्र जोशी —
१. देखा-परखा—राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९५७ ।
२. विवेचना—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, सम्वत् २००५ वि० ।
३. विश्लेषण—शारदा प्रकाशन, भागलपुर, प्रथम संस्करण, १९५४ ई० ।
४. व्यक्ति और कलाकार, अशोक प्रेस पटना, प्रथम संस्करण ।
५. साहित्य-चिन्तन—अजंता प्रेस, पटना, प्रथम संस्करण, १९५५ ।
६. साहित्य-संतरण—साहित्य-भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५३ ई० ।
७. साहित्य-सर्जना—छात्र हितकारी पुस्तकमाला, प्रयाग, प्रथम संस्करण, ई० १९४० ।

उदयभानुसिंह — महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग विश्व-विद्यालय, लखनऊ, प्रथम सस्करण, सम्वत् २००८ वि० ।

एस. पी खत्री —
१. आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त—राजकमल प्रकाशन दिल्ली, प्रथम सस्करण ।
२. हास्य की रूपरेखा—हिन्दी प्रचारक पुस्तकमाला, काशी, प्रथम सस्करण. १९५५ ई० ।
३ काव्य की परख—साहित्य भवन, प्रयाग, प्रथम सस्करण ।
४. नाटक की परख—साहित्य भवन, प्रयाग, १९४८ ई० ।

ओमप्रकाश — हिन्दी अलंकार-साहित्य—एस० चन्द एण्ड कम्पनी, दिल्ली, १९५५ ई० ।

कन्हैयालाल पोद्दार — काव्य-कल्पद्रुम—(दोनों भाग), गंगा-पुस्तक-माला, लखनऊ, सम्वत् १९९३ वि० ।

कन्हैयालाल सहल —
१. आलोचना के पथ पर—आत्माराम एण्ड सस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५५ ई० ।
२. दृष्टिकोण—आत्माराम एण्ड संस, प्रथम संस्करण, १९५१ ई० ।
३ कामायनी-दर्शन—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५२ ई० ।
४. वाद-समीक्षा—आत्माराम एण्ड संस, प्रथम संस्करण ।
५ विवेचन—साहनी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५३ ई० ।
६. समीक्षायण—आत्माराम एण्ड सस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५५ ई० ।
७. साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव—साहित्य-सदन, चिरगांव, झांसी, सम्वत् २०१० वि० ।

कमल कुलश्रेष्ठ — हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य—मानसिंह प्रकाशन, अजमेर, प्रथम संस्करण, सम्वत् २०१० वि० ।

किरणकुमारी गुप्त — हिन्दी काव्य मे प्रकृति-चित्रण—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण ।

कृष्णबिहारी मिश्र — देव-बिहारी—गंगा-पुस्तक-माला, लखनऊ, प्रथम संस्करण, सम्वत् १९७७ वि० ।

कृष्णशंकर शुक्ल —
१. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास—हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, सम्वत् १९९३ वि० ।
२. केशव की काव्यकला—साहित्य ग्रंथमाला, काशी, प्रथम संस्करण सम्वत् १९९० वि० ।
३. कविवर रत्नाकर—विद्या भास्कर बुक डिपो, बनारस, सम्वत् १९९२ वि० ।

कृष्णानन्द गुप्त — प्रसाद जी के दो नाटक—गंगा-पुस्तक-माला, लखनऊ, प्रथम संस्करण ।

केसरी नारायण शुक्ल —
१. आधुनिक काव्य-धारा—नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, काशी, प्रथम सस्करण ।
२. आधुनिक काव्य-धारा का सांस्कृतिक स्रोत—नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, काशी, प्रथम सस्करण ।

३ किंजल्क—वाणी-वितान, ब्रह्मनाल, काशी, प्रथम संस्करण।
४. भारतेन्दु के निबन्ध—सरस्वती मन्दिर काशी, सम्वत् २००७ वि०।
५. रूसी साहित्य—सरस्वती मन्दिर-काशी, १९५१ ई०।

गंगाप्रसाद अग्निहोत्री
समालोचना—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सम्वत् १८९६ वि०।

गंगाप्रसाद पाण्डेय
१. आधुनिक कथा-साहित्य—प्रमोद पुस्तकमाला, इलाहाबाद।
२. छायावाद और रहस्यवाद—रामनारायणलाल, इलाहाबाद।
३ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य—इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, १९४४ ई०।
४. महाप्राण निराला—साहित्यकार संसद, प्रयाग, १९४९ ई०।

गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'
१ आलोचक-प्रवर रामचन्द्र शुक्ल—रामनारायणलाल, इलाहाबाद।
२ गुप्तजी की काव्यधारा—छात्र-हितकारी पुस्तकमाला, प्रयाग, १९३६ ई०।
३ महाकवि हरिऔध—रामनारायणलाल, प्रयाग, १९३४ ई०।

गुलाबराय
१ आलोचक रामचन्द्र शुक्ल—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, १९५१ ई०।
२ अध्ययन और आस्वाद—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, संवत् २०१४ वि०।
३ काव्य के रूप—प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, संवत् २०१४ वि०।
४ प्रसाद की कला—साहित्यरत्न भंडार, आगरा, १९३८ ई०।
५ भाषा-भूषण—(स०) साहित्यरत्न भंडार, आगरा।
६. साहित्य-समीक्षा—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, १९५१ ई०।
७. सिद्धांत और अध्ययन—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।
८ हिन्दी काव्य-विमर्श—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।
९ हिन्दी नाट्य-विमर्श—मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, लाहौर, १९४० ई०।
१० हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास—साहित्यरत्न भंडार, आगरा, १९५१ ई०।

चतुरसेन शास्त्री
हिन्दी भाषा और उसका साहित्य—गौतम बुक डिपो, दिल्ली, १९४७ ई०।

जगन्नाथप्रसाद शर्मा
१. कहानी का रचना-विधान—हिन्दी प्रचारक, काशी, १९५५ ई०।
२. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—नन्दकिशोर ब्रदर्स, काशी।
३. हिन्दी गद्य के युगनिर्माता—नन्दकिशोर ब्रदर्स, काशी।
४. हिन्दी गद्य-शैली का विकास—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

जयशंकर 'प्रसाद'
काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—भारती भंडार, प्रयाग।

जैनेन्द्रकुमार
१. साहित्य का श्रेय और प्रेय—पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली।
२. सोच-विचार—पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली।

दशरथ ओझा
१. समीक्षा-शास्त्र—राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, संवत् २०१० वि०।
२. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास—राजपाल एण्ड संस, दिल्ली।

देवराज
१ आधुनिक समीक्षा—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
२ छायावाद का पतन—वाणी-मन्दिर, छपरा, १९४८ ई०।

३ साहित्य-चिंता—गौतम बुकडिपो, दिल्ली, १९५० ई०।

देवराज उपाध्याय
१ आधुनिक कथा-साहित्य और मनोविज्ञान—साहित्य भवन लिमिटेड प्रयाग, १९५६ ई०।
२ रोमाण्टिक साहित्य शास्त्र—आत्माराम एण्ड सस, दिल्ली।

देवीदत्त शुक्ल
द्विवेदी-मीमांसा—इण्डियन प्रेस, प्रयाग, प्रथम सस्करण।

धर्मवीर भारती
१. प्रगतिवाद : एक समीक्षा—साहित्य-भवन लिमिटेड, प्रयाग, १९४९ ई०।
२. सिद्ध साहित्य—किताब महल, प्रयाग, सन् १९५५ ई०।

धीरेन्द्र वर्मा
१. परिषद्-निबन्धावली भाग—१ तथा भाग २।
२. विचारधारा—साहित्य-भवन लिमिटेड, प्रयाग, १९४५ ई०।

नन्ददुलारे वाजपेयी
१. आधुनिक साहित्य—भारती भडार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, सम्वत् २०१३ वि०।
२. जयशकर 'प्रसाद'—भारती भडार, प्रयाग, प्रथम सस्करण, सम्वत् १९९७ वि०।
३. नया साहित्य : नये प्रश्न—विद्या मन्दिर, काशी, प्रथम संस्करण सम्वत् २०१२ वि०।
४ प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन—हिन्दी भवन, जालन्धर।
५. महाकवि सूरदास—आत्माराम एण्ड सस, दिल्ली, १९५२ ई०, प्रथम सस्करण।
६ सूर-संदर्भ—इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९५१ ई०।
७ हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सम्वत् १९९९ वि०।

नगेन्द्र
१. अरस्तू का काव्यशास्त्र—भारती भडार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, सम्वत् २०१४ वि०।
२. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ—गौतम बुक डिपो, दिल्ली, १९५१ ई०।
३. आधुनिक हिन्दी नाटक—साहित्यरत्न भंडार, आगरा, प्रथम संस्करण, सम्वत् १९९९ वि०।
४. आधुनिक हिन्दी-साहित्य—द्वितीय भाग (सं०), प्रदीप कार्यालय, मुरादाबाद, प्रथम संस्करण, १९४६ ई०।
५. काव्य-चिन्तन—नव भारती प्रकाशन, मेरठ, १९५१ ई०।
६. भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९५३ ई०।
७. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका—ओरियण्टल बुक डिपो, दिल्ली, १९५५ ई०।
८. भारतीय नाट्य साहित्य—(स०), सेठ गोविन्ददास हीरक-जयन्ती समारोह नई दिल्ली।
९. भारतीय वाङ्मय—साहित्य-सदन, चिरगांव, सम्वत् २०१५ वि०।
१०. रीति-काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—गौतम बुक डिपो, दिल्ली, १९४९ ई०।

११. विचार और अनुभूति—प्रदीप कार्यालय, मुरादाबाद, प्रथम संस्करण, सम्वत् १९९१ वि०।
१२ विचार और विवेचन—गौतम बुकडिपो, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९४९ ई०।
१३. विचार और विश्लेषण—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
१४. साकेत एक अध्ययन—साहित्यरत्न भंडार, आगरा, प्रथम संस्करण, १९५० ई०।
१५. सियारामशरण गुप्त—(स०) गौतम बुक डिपो, दिल्ली।
१६. सुमित्रानन्दन पंत—साहित्यरत्न भंडार, आगरा, प्रथम संस्करण, संवत् १९९५ वि०।

नामवरसिंह
१ आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ—किताब महल, प्रयाग, १९५४ ई०।
२ इतिहास और आलोचना—साहित्य प्रकाशन, काशी, १९५६ ई०।
३ छायावाद—सरस्वती प्रेस, बनारस, १९५५ ई०।
४ हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग—साहित्य-भवन लिमिटेड, प्रयाग, १९५२ ई०।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी
१. और कुछ—नन्दकिशोर ब्रदर्स, काशी।
२. कुछ—इंडियन प्रेस, प्रयाग।
३ विश्व-साहित्य—गंगा-पुस्तक-माला, लखनऊ।
४ साहित्य-शिक्षा—हिन्दी ग्रंथ-रत्नाकर बम्बई, १९३० ई०।
५ हिन्दी कथा-साहित्य—हिन्दी ग्रंथ-रत्नाकर, बम्बई।
६ हिन्दी साहित्य-विमर्श—हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता, संवत् १९८० वि०।

पद्मसिंह शर्मा
१ पद्म-पराग—भारती पब्लिशर्स लिमिटेड, पटना, सम्वत् १९८६ वि०।
२ हिन्दी : उर्दू : हिन्दुस्तानी—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, १९३२ ई०।
३. बिहारी की सतसई—भूमिका तथा भाष्य।

परशुराम चतुर्वेदी
१ उत्तरी भारत की संत-परम्परा—भारती-भंडार, प्रयाग, संवत् २००८ वि०।
२. नव-निबंध—लोक सेवक प्रकाशन, काशी।
३ सांस्कृतिक साहित्य की रेखाएँ—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
४. हिन्दी काव्य-धारा मे प्रेम-प्रवाह—किताब महल, प्रयाग, १९५४।

पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
१. मकरन्द—अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ।
२. हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

प्रकाशचन्द्र गुप्त
१ आधुनिक हिन्दी साहित्य—आलोक प्रकाशन, बीकानेर, १९५०।
२. नया हिन्दी साहित्य—एक दृष्टि, सरस्वती प्रेस काशी, १९४६।
३. साहित्य-धारा—हिन्दी प्रचारक पुस्तकमाला काशी, १९५५ ई०।
४. हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा—किताब-महल प्रयाग, १९५३ ई०।

प्रभाकर माचवे
१. व्यक्ति और वाङ्मय—साहनी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण।

२. संतुलन—आत्माराम एण्ड सस, दिल्ली, प्रथम सस्करण, १९५४।
३ समीक्षा की समीक्षा --साहनी प्रकाशन दिल्ली, प्रथम सस्करण।
४. हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ—राजकमल प्रकाशन, प्रथम सस्करण।

प्रभुदयाल मित्तल — १. सूर-निर्णय—अजंता प्रेस, बम्बई, प्रथम सस्करण।

प्रेमनारायण शुक्ल — हिन्दी साहित्य में विविध वाद -पद्मजा प्रकाशन, कानपुर, प्रथम सस्करण।

प्रेमशकर — प्रसाद का काव्य—भारती भंडार, प्रयाग, सम्वत् २०१२ वि०।

फतहसिंह — १ कामायनी-सौन्दर्य—मोहन न्यूज एजेंसी, कोटा, १९५३ ई०।
२. साहित्य और सौन्दर्य---भारती मन्दिर, खुर्जा।

बलदेव उपाध्याय — १. सस्कृत वाङ्मय—शारदा मन्दिर काशी, १९५१ ई०।
२. भारतीय साहित्य-शास्त्र भाग १-२- प्रसाद परिषद, काशी, संवत् २००५, २००७ वि०।

बालकृष्ण भट्ट — १ भट्ट निबंधमाला भाग १, तथा भाग २ नागरी प्रचारिणी सभा, काशी सवत् २००४ वि०।
२ भट्ट निबंधावली- (सं० देवीदत्त शुक्ल), हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
३ साहित्य-सुमन - गगा-पुस्तक-माला, लखनऊ।

बालमुकुन्द गुप्त — १. गुप्त निबंधावली-- भारतमित्र प्रेस, कलकत्ता, सम्वत् १९९६ वि०।
२ बालमुकुन्द निबंधावली - (सं० झाबरमल्ल शर्मा तथा बनारसीदास चतुर्वेदी), गुप्त स्मारक-प्रकाशन समिति, कलकत्ता, सम्वत् २००७ वि०।

भगवतशरण उपाध्याय — नूरजहाँ महाकाव्य : अध्ययन—पुस्तक भंडार, पटना।

भगवत् स्वरूप मिश्र — हिन्दी आलोचना, उद्भव और विकास—साहित्य-सदन, देहरादून, १९५२ ई०।

भगवानदीन, लाला — १ बिहारी और देव—साहित्य-भूषण प्रकाशन काशी, १९२६ ई०।
२. अलंकार-मंजूषा—विद्या प्रचारक बुक डिपो, गया, १९१६ ई०।

भगीरथ मिश्र — १. अध्ययन—लखनऊ विश्वविद्यालय, सम्वत् २००५ वि०।
२. काव्य-शास्त्र— विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर, १९५७ ई०।
३. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, विश्वविद्यालय लखनऊ, प्रथम सस्करण, सम्वत् २००५ वि०।

भोलानाथ — आधुनिक हिन्दी-साहित्य—हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय।

मन्मथनाथ गुप्त — १. प्रगतिवाद की रूपरेखा—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, सन् १९५५।
२. प्रेमचन्द और उनका साहित्य—अवतारचन्द कपूर, दिल्ली।
३. साहित्य-कला-समीक्षा—साहनी प्रकाशन, दिल्ली।
४. हिन्दी साहित्य की नवीन धाराएँ—(सं०) पब्लिकेशंस डिवीजन, दिल्ली, १९५५ ई०।

महावीर अधिकारी — (स) जयशकर प्रसाद : जीवन-दर्शन कला और कृतित्व—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, १९५५ ई०।

महावीर प्रसाद द्विवेदी — १. आलोचनांजलि, इण्डियन प्रेस, १९२८ ई०।
२. कालिदास और उनकी कविता—राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर, जबलपुर सम्वत् १९७७ वि०।

३. कालिदास की निरंकुशता—इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९११ ई० ।
४. नैषध चरित-चर्चा—हरिदास एण्ड कम्पनी, कलकत्ता, १९१६ ई० ।
५. रसज्ञ-रजन—साहित्यरत्न भडार, आगरा ।
६. लेखाजलि—हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता, सम्वत् १९८५ वि० ।
७. विक्रमांकदेव चरित-चर्चा—इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९०७ ई० ।
८. विचार-विमर्श—भारती भडार, काशी, सम्वत् १९८१ वि० ।
९. संचयन—(सं० प्रभात शास्त्री) साहित्य सघ, प्रयाग, सं० २००६ वि०
१० समालोचना-समुच्चय—रामनारायणलाल, प्रयाग, १९३० ई० ।
११. साहित्य-संदर्भ—गंगा-पुस्तक-माला, लखनऊ, सवत् १९८५ वि० ।
१२. साहित्य-सीकर—तरुण भारत ग्रन्थावली, प्रयाग, १९४८ ई० ।
१३ सुकवि-संकीर्तन—गगा-पुस्तक-माला, लखनऊ, प्रथम सस्करण ।
१४. हिन्दी कालिदास की आलोचना—झाँसी, १९०१ ई० ।

मिश्रबन्धु
१ साहित्य-पारिजात—गगा-पुस्तक-माला, लखनऊ ।
२ हिन्दी नवरत्न—गगा पुस्तकमाला, लखनऊ ।
३ मिश्रबधु विनोद—चार भाग, गंगा-पुस्तक-माला, लखनऊ ।

मुशीराम शर्मा 'सोम'
१. भारतीय साधना और सूर साहित्य—साधना मन्दिर, कानपुर सम्वत् २००६ वि० ।
२. सूर-सौरभ—साधना मन्दिर, कानपुर, सम्वत् २००६ वि० ।

मोहनवल्लभ पत
आलोचना-शास्त्र—भा० भा० लिमिटेड, दिल्ली, संवत् २००९ वि० ।

रमाकान्त त्रिपाठी
हिन्दी गद्य मीमासा—हिन्दी साहित्य माला, कानपुर, १९२९ ई० ।

रवीन्द्रसहाय वर्मा
हिन्दी काव्य पर आग्ल प्रभाव—पद्मजा प्रकाशन, कानपुर, प्रथम सस्करण, सम्वत् २०११ वि० ।

रांगेय राघव
१. काव्यकला और शास्त्र—विनोद पुस्तक भंडार, आगरा, प्रथम सस्करण १९५५ ई० ।
२ काव्य, यथार्थ और प्रगति—विनोद पुस्तक भंडार, आगरा, प्रथम सस्करण, सम्वत् २०१२ वि० ।
३ प्रगतिशील साहित्य के मानदंड—सरस्वती पुस्तक-सदन, आगरा, प्रथम संस्करण, १९५४ ई० ।
४. सगम और सघर्ष, किताब महल इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, सन् १९५३ ई० ।

रामकुमार वर्मा
१. कबीर का रहस्यवाद—साहित्य-भवन लिमिटेड, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९३८ ई० ।
२ साहित्य-शास्त्र—राजकिशोर प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सस्करण, १९५५ ई० ।
३. साहित्य-समालोचना—साहित्य-मन्दिर, प्रयाग, प्रथम संस्करण, सवत् १९८७ वि० ।
४. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—रामनारायणलाल इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९३८ ई० ।

रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'
१. आलोचना-समुच्चय—हिन्दी भवन लाहौर, प्रथम सस्करण १९३९ ।

१९५१ ई० ।
२. काव्य में अप्रस्तुत योजना—ग्रंथमाला-कार्यालय, पटना, प्रथम संस्करण, सवंत् २००५ वि० ।
३. काव्य-विमर्श—ग्रथमाला-कार्यालय, पटना, प्रथम संस्करण, १९५१ ई० ।
४. काव्यालोक (द्वितीय उद्योत)—ग्रथमाला-कार्यालय, बाँकीपुर, प्रथम संस्करण, सम्वत् २००१ वि० ।

रामधारीसिंह 'दिनकर'
१. अर्द्धनारीश्वर—जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, १९५२ ई० ।
२. काव्य की भूमिका—उदयाचल प्रकाशन, पटना, १९५८ ई० ।
३. पत, प्रसाद और मैथिलीशरण - उदयाचल प्रकाशन, पटना, १९५८ ई० ।
४ मिट्टी की ओर—उदयाचल प्रकाशन, पटना, प्रथम सस्करण, १९४६ ई० ।
५. रेती के फूल—अजता प्रेस, पटना, प्रथम सस्करण, १९५४ ई० ।

रामनाथ 'सुमन'
कवि प्रसाद की काव्य-साधना—छात्र हितकारी पुस्तकमाला, प्रयाग, प्रथम सस्करण, १९३८ ई० ।

रामविलास शर्मा
१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना—विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, प्रथम सस्करण, सम्वत् २०१२ वि० ।
२ प्रगति और परम्परा—किताब महल, प्रयाग, प्रथम सस्करण, १९४८ ई० ।
३ प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ—विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, प्रथम सस्करण, १९५४ ई० ।
४. प्रेमचन्द और उनका युग—मेहरचन्द मुशीराम, दिल्ली, प्रथम सस्करण, १९५२ ई० ।
५. भारतेन्दु युग—विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, प्रथम सस्करण, सन् १९५१ ई० ।
६. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—विद्या धाम, दिल्ली, प्रथम सस्करण, १९५५ ई० ।
७. भाषा, साहित्य और संस्कृति—किताब महल, १९५४ ई० ।
८. विराम चिन्ह—विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, प्रथम संस्करण, १९५४ ई० ।
९ स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य—हि० प्र० पु०, काशी, प्रथम सस्करण, १९५६ ई० ।
१०. लोक-जीवन और साहित्य—विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, १९५५ ई० ।
११. संस्कृति और साहित्य—किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९४९ ई० ।

रामशंकर शुक्ल 'रसाल'
१. अलकार-पीयूष, पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध—रामनारायणलाल पब्लिशर्स, प्रयाग, १९२९-३० ई० ।
२. आलोचनादर्श—इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, प्रथम संस्करण,

१९३८ ई० ।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामदयाल अग्रवाल, प्रयाग, प्रथम संस्करण, सन् १९३९ ई०

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' — ४. समाज और साहित्य—मातृभाषा मन्दिर, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९५० ई० ।

राहुल सांकृत्यायन — हिन्दी-काव्यधारा—किताब महल, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९४५ ई० ।

लक्ष्मीनारायणलाल — हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९५३ ई० ।

लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु' — १. काव्य में अभिव्यंजनावाद—जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता, तृतीय संस्करण, संवत् २००७ वि० ।

२. जीवन के तत्त्व और सिद्धान्त—जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता, द्वितीय संस्करण, १९५० ई० ।

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय — १. आधुनिक हिन्दी साहित्य—हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, १९४१ ई० ।

२. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, १९५२ ई० ।

३. फोर्ट विलियम कालेज-

४. निबन्ध-नवनीत—विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर, प्रथम संस्करण, १९५७ ई० ।

५. भारतेन्दुजी की विचारधारा—साहित्य कार्यालय, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९४८ ई० ।

६. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९५१ ई० ।

७. साहित्य-चिंतन—राज० प्रेस बम्बई, प्रथम संस्करण, सन् १९४९ ई० ।

८. हिन्दी साहित्य का इतिहास—भार्गव पुस्तक भवन, लखनऊ, १९५२ ई० ।

९. हिन्दुई साहित्य का इतिहास (अनुवाद) ।

ललिताप्रसाद सुकुल — १. साहित्य-जिज्ञासा—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, संवत् २००९ वि० ।

२. इन से—हिन्दी प्रचारक पुस्तक-माला, प्रथम संस्करण, १९५७ ई० ।

लीलाधर गुप्त — पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९५२ ई० ।

विजयेन्द्र स्नातक — समीक्षात्मक निबन्ध—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९५७ ई० ।

विनय मोहन शर्मा — १. कवि 'प्रसाद' आंसू तथा अन्य कृतियाँ—प्रतिभा प्रकाशन, नागपुर १९५२ ई० ।

२. दृष्टिकोण—नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बनारस, १९५१ ई० ।

३. साहित्यावलोकन—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, १९५२ ई० ।

४. हिन्दी को मराठी संतों की देन—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् १९५७ ई० ।

विश्वनाथप्रसाद मिश्र
१. बिहारी की वाग्विभूति—हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, संवत् १९९३ वि०।
२. वाङ्मय-विमर्श—हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, संवत् १९९९ वि०।
३. हिन्दी का सामयिक साहित्य—सरस्वती मन्दिर, काशी, संवत् २००८ वि०।
४. हिन्दी मे नाट्य साहित्य का विकास—साहित्य सेवक कार्यालय, काशी, प्रथम सस्करण सम्वत् १९८६ वि०।

विश्वेश्वर आचार्य व्याख्याकार
१. काव्यालकार-सूत्रवृत्ति—(आचार्य वामन कृत) सपादक डा० नगेन्द्र।
२ हिन्दी ध्वन्यालोक—संपादक डा० नगेन्द्र।
३. हिन्दी वक्रोक्ति-जीवितम्—सपादक डा० नगेन्द्र।

व्रजरत्नदास
१ खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास—हिन्दी साहित्य-कुटीर, बनारस, संवत् १९९८ वि०।
२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९४८ ई०।
३. हिन्दी नाट्य साहित्य—हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, सम्वत् १९९५ वि०।
४. हिन्दी उपन्यास-साहित्य—हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, सम्वत् २०१३ वि०।

शम्भूनाथसिंह
१. छायावाद-युग—सरस्वती मन्दिर, बनारस, प्रथम संस्करण, १९५२ ई०।
२. हिन्दी महाकाव्य का विकास—हिन्दी प्रचारक पुस्तक मन्दिर, वाराणसी, १९५६ ई०।

शचीरानी गुर्टू
१ कलादर्शन—साहनी प्रकाशन, दिल्ली, १९५६ ई०।
२ हिन्दी के आलोचक—आत्माराम एण्ड सस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५५ ई०।

शांतिप्रिय द्विवेदी
१. आधान—हि० प्र० पु० वाराणसी, प्रथम सस्करण, १९५७ ई०।
२ कवि और काव्य—इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, प्रथम सस्करण, १९३६ ई०।
३ ज्योति-विहग—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संवत् २००८ वि०।
४. युग और साहित्य—इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९४१ ई०।
५. साकल्य—विद्या मन्दिर प्रेस, वाराणसी, १९५५ ई०।
६. साहित्यिकी—ग्रन्थमाला कार्यालय, बांकीपुर, १९३८ ई०।
७. सचारिणी—इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९४१ ई०।
८. सामयिकी—ज्ञान-मंडल लिमिटेड, काशी, सवत् २००१ वि०।

शिवदानसिंह चौहान
१. आलोचना के मान—रण० प्रि०, दिल्ली, प्रथम सस्करण, १९५८ ई०।
२ प्रगतिवाद—प्रदीप कार्यालय, मुरादाबाद, १९४६ ई०।
३. साहित्य की परख—इण्डिया पब्लिशर्स, प्रयाग, १९४८ ई०।
४. साहित्य की समस्याएँ—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, १९५९ ई०।

५. साहित्यानुशीलन—आत्माराम एण्ड सस, दिल्ली, १९५५ ई० ।
६. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष—रग० प्रि०, दिल्ली, १९५४ ई० ।

शिवनाथ
१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—सरस्वती मन्दिर, बनारस, द्वितीय सस्करण, सम्वत् २००५ वि० ।
२. आधुनिक हिन्दी साहित्य की आर्थिक भूमिका—काशी विद्यापीठ, बनारस, प्रथम संस्करण ।
३. हिन्दी आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियाँ—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५३ ई० ।

श्यामसुन्दरदास
१. गोस्वामी तुलसीदास—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, प्रथम सस्करण, १९३१ ई० ।
२. मेरी आत्म कहानी—इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९४१ ई० ।
३. रूपक-रहस्य—इण्डियन प्रेस, प्रयाग, सवत् २००६ वि० ।
४. साहित्यालोचन—इण्डियन प्रेस, प्रयाग द्वितीय संस्करण, सम्वत १९९४ वि० ।
५. हिन्दी भाषा और साहित्य—इण्डियन प्रेस, प्रयाग, सवत् १९८७ वि०, प्रथम संस्करण ।

श्रीकृष्णलाल
१. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—हिन्दी-परिषद् विश्वविद्यालय प्रयाग, प्रथम सस्करण सवत् १९९९ वि० ।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'
१. आधुनिक हिन्दी साहित्य—अभिनव भारती ग्रन्थमाला, कलकत्ता, प्रथम सस्करण, १९४० ई० ।
२. त्रिशकु—सरस्वती प्रेस, बनारस, १९४५ ई० ।

सत्येन्द्र
१. कला, कल्पना और साहित्य—साहित्य-रत्न-भंडार, आगरा, प्रथम संस्करण, सवत् २००७ वि० ।
२. गुप्तजी की कला—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा, सवत् १९९४ वि० ।
३. प्रेमचन्द और उनकी कहानी-कला—साहित्य रत्न भंडार, आगरा ।
४. ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन—साहित्य-रत्न-भंडार, आगरा, १९४९ ई० ।

सावित्री सिन्हा
अनुसन्धान का स्वरूप—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, १९५४ ई० ।

सीताराम चतुर्वेदी
समीक्षा-शास्त्र—अखिल भारतीय विक्रम परिषद सवत् २०१० वि० ।

सुधीन्द्र
१. साहित्य-समीक्षाजलि—विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, १९५३ ई० ।
२. हिन्दी कविता मे युगान्तर—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, १९५० ई० ।

सुमित्रानन्दन पंत
गद्य-पथ—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९५३ ई० ।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला
१. चयन—बिहार ग्रन्थमाला कुटीर, पटना, संवत् २०१४ वि० ।
२. चाबुक—कला मन्दिर, प्रयाग ।
३. पंतजी और पल्लव—गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ, १९४९ ई० ।
४. प्रबन्ध-पद्म—गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ, सम्वत् १९९१ वि० ।

५. प्रबन्ध-प्रतिमा—भारती-भंडार, प्रयाग, संवत् १९९७ वि० ।
६. रवीन्द्र-कविता-कानन—हिन्दी पुस्तक, बनारस, १९५४ ई० ।

सोमनाथ गुप्त
१. पूर्व-भारतेन्दु नाटक साहित्य—हिन्दी भवन, प्रयाग, १९५८ ई० ।
२. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—हिन्दी भवन, प्रयाग, १९५१ ।

हजारीप्रसाद द्विवेदी
१. अशोक के फूल—सस्ता साहित्य मडल, नई दिल्ली, १९४८ ई० ।
२. कबीर—हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९४२ ।
३. कल्पलता—ज्ञान मंडल बनारस, संवत् २००७ वि० ।
४. नाथ सम्प्रदाय—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग १९५० ई०
५ विचार और वितर्क—सुषमा-साहित्य-मन्दिर, जबलपुर ।
६. साहित्य का साथी—राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति, वर्धा, १९४९ ई० ।
७ साहित्य का मर्म—विश्वविद्यालय, लखनऊ, १९५२ ई० ।
८. सूर साहित्य—हिन्दी साहित्य समिति, इन्दौर, प्रथम संस्करण, सम्वत् १९९३ वि० ।
९. हमारी साहित्यिक समस्याएं—हरेन्द्र प्रकाशन, भागलपुर, १९४४ ई० ।
१० हिन्दी साहित्य—अत्तरचन्द कपूर एण्ड सस, दिल्ली, १९५२ ई० ।
११. हिन्दी साहित्य का आदिकाल—राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति, पटना, संवत् २००९ वि० ।
१२. हिन्दी साहित्य की भूमिका—हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, प्रथम संस्करण, १९४० ई० ।